संस्कृति के चार अध्याय

लेखक

रामधारीसिंह दिनकर

भूमिका-लेखक

श्री जवाहरलाल नेहरू

राजपाल एण्ड सन्ज़
कशमीरी गेट, दिल्ली

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१ ९ ५ ६

मूल्य
पन्द्रह रुपए

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
१०, दरियागंज, दिल्ली

समर्पण

सामासिक संस्कृति की साकार प्रतिमा
राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी
के पुनीत कर-कमलों में

पूज्यवर !

हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़-चीन,
शक-हूण-दल, पाठान-मोगल एक देहे होलो लीन।

नई दिल्ली
२६ जनवरी, १९५६

विनीत
दिनकर

प्रस्तावना

मेरे मित्र और साथी दिनकर ने, अपनी पुस्तक के लिए जो विषय चुना है, वह बहुत ही मोहक और दिलचस्प है। यह ऐसा विषय है जिससे, अक्सर, मेरा अपना मन भी ओत-प्रोत रहा है और मैंने जो कुछ लिखा है, उस पर इस विषय की छाप आप से आप पड़ गई है। अक्सर मैं अपने आप से सवाल करता हूँ, भारत है क्या? उसका तत्त्व या सार क्या है? वे शक्तियाँ कौन-सी हैं जिनसे भारत का निर्माण हुआ है तथा अतीत और वर्त्तमान विश्व को प्रभावित करने वाली प्रमुख प्रवृत्तियों के साथ उनका क्या सम्बन्ध है? यह विषय अत्यंत विशाल है, और उसके दायरे में भारत और भारत से बाहर के तमाम मानवीय व्यापार आ जाते हैं। और मेरा ख्याल है कि किसी भी व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं है कि वह इस संपूर्ण विषय के साथ अकेला ही न्याय कर सके। फिर भी, इसके कुछ खास पहलुओं को लेकर उन्हें समझने की कोशिश की जा सकती है। कम से कम, यह तो सम्भव है ही कि हम अपने भारत को समझने का प्रयास करें, यद्यपि, सारे संसार को अपने सामने न रखने पर भारत-विषयक जो ज्ञान हम प्राप्त करेंगे, वह अधूरा होगा।

संस्कृति है क्या? शब्दकोष उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि "संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं, उनसे अपने आपको परिचित करना संस्कृति है।" एक दूसरी परिभाषा में यह कहा गया है कि "संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।" यह "मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि" है। यह "सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना" है। इस अर्थ में, संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। फिर, संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं। और इसमें कोई संदेह नहीं कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित कर लिये हैं।

इस नक्शे में भारत का स्थान कहाँ पर है? कुछ लोगों ने हिन्दू-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति और ईसाई-संस्कृति की चर्चा की है। ये नाम मेरी समझ में नहीं आते, यद्यपि, यह सच है कि जातियों और राष्ट्रों की संस्कृतियों पर बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनों का असर पड़ा है। भारत की ओर देखने पर मुझे लगता है, जैसा कि दिनकर ने भी जोर देकर दिखलाया है, कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व, मोहंजोदड़ो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान् सभ्यता तक पहुँचता है। दूसरी ओर, इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत

ही गहरी छाप है जो भारत में मध्य एशिया से आये थे। पीछे चलकर, यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आने वाले तथा फिर समुद्र की राह से पश्चिम से आने वाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार, हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में समन्वयन तथा नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत योग्यता थी। जब तक इसका यह गुण शेष रहा, यह संस्कृति जीवित और गतिशील रही। लेकिन, बाद को आकर इसकी गतिशीलता जाती रही जिससे यह संस्कृति जड़ हो गई और उसके सारे पहलू कमजोर पड़ गये। भारत के समग्र इतिहास में हम दो परस्पर विरोधी और प्रतिद्वंद्वी शक्तियों को काम करते देखते हैं। एक तो वह शक्ति है जो बाहरी उपकरणों को पचाकर समन्वय और सामञ्जस्य पैदा करने की कोशिश करती है, और दूसरी वह जो विभाजन को प्रोत्साहन देती है; जो एक बात को दूसरी से अलग करने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। इसी समस्या का, एक भिन्न प्रसंग में, हम आज भी मुकाबिला कर रहे हैं। आज भी कितनी ही बलिष्ठ शक्तियां हैं जो केवल राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक एकता के लिए भी प्रयास कर रही है। लेकिन, ऐसी ताकतें भी हैं जो जीवन में विच्छेद डालती हैं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव को बढ़ावा देती हैं।

अतएव, आज हमारे सामने जो प्रश्न है वह केवल सैद्धांतिक नहीं हं, उसका संबंध हमारे जीवन की सारी प्रक्रिया से है और उसके समुचित निदान और समाधान पर ही हमारा भविष्य निर्भर करता है। साधारणतः, ऐसी समस्याओं को सुलझाने में नेतृत्व देने का काम मनीषी करते है, किन्तु, वे हमारे काम नहीं आये। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो इस समस्या के स्वरूप को ही नहीं समझते। बाकी लोग हार मान बैठे हैं, वे विफलता-बोध से पीड़ित तथा आत्मा के संकट में ग्रस्त हैं और वे जानते ही नहीं कि जिन्दगी को किस दिशा की ओर मोड़ना ठीक होगा।

बहुत से मनीषी मार्क्सवाद और उसकी शाखाओं की ओर आकृष्टहुए और इसमें कोई संदेह नहीं कि मार्क्सवाद ने ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण उपस्थित करके समस्याओं पर सोचने और उन्हें समझने के काम मे हमारी सहायता की। लेकिन, आखिर को, वह भी संकीर्ण मतवाद बन गया और जीवन की आर्थिक पद्धति के रूप में उसका चाहे जो भी महत्त्व हो, हमारी बुनियादी शंकाओं का समाधान निकालने में वह भी नाकामयाब है। यह मानना तो ठीक है कि आर्थिक उन्नति जीवन और प्रगति का बुनियादी आधार है; लेकिन, जिन्दगी वहीं तक खत्म नहीं होती, वह आर्थिक विकास से कहीं ऊँची चीज है। इतिहास के अन्दर हम दो सिद्धांतों को काम करते देखते है। एक तो सातत्य का सिद्धांत है और दूसरा परिवर्त्तन का। ये दोनों सिद्धांत परस्पर विरोधी-से लगते हैं, परन्तु, ये विरोधी हैं नहीं। सातत्य के भीतर भी परिवर्त्तन का अंश है। उसी प्रकार, परिवर्त्तन भी अपने भीतर सातत्य

का कुछ अंश लिये रहता है। असल में, हमारा ध्यान उन्हीं परिवर्तनों पर जाता है जो हिंसक क्रांतियों या भूकम्प के रूप में अचानक फट पड़ते हैं। फिर भी, प्रत्येक भूगर्भ-शास्त्री यह जानता है कि धरती की सतह में जो बड़े-बड़े परिवर्त्तन होते हैं, उनकी चाल बहुत धीमी होती है और भूकम्प से होने वाले परिवर्त्तन उनकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ समझे जाते हैं। इसी तरह, क्रांतियाँ भी धीरे-धीरे होने वाले परिवर्त्तन और सूक्ष्म रूपान्तरण की बहुत लम्बी प्रक्रिया का बाहरी प्रमाण मात्र होती है। इस दृष्टि से देखने पर, स्वयं परिवर्त्तन एक ऐसी प्रक्रिया है जो परम्परा के आवरण में लगातार चलता रहता है। बाहर से अचल दीखने वाली परम्परा भी, यदि जड़ता और मृत्यु का पूरा शिकार नहीं बन गई है, तो धीरे-धीरे वह भी परिवर्त्तित हो जाती है।

इतिहास में कभी-कभी ऐसा भी समय आता है जब परिवर्त्तन की प्रक्रिया और तेजी कुछ अधिक प्रत्यक्ष हो जाती है। लेकिन, साधारणतः, बाहर से उसकी गति दिखायी नहीं देती। परिवर्तन का बाहरी रूप, प्रायः, निस्पंद ही दीखता है। जातियाँ जब अगति की अवस्था में रहती हैं, तब उनकी शक्ति दिनोंदिन छीजती जाती है, उनकी कमजोरियाँ बढ़ती जाती हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी रचनात्मक कलाओं और प्रवृत्तियों का क्षय हो जाता है तथा, अक्सर, वे राजनीतिक दृष्टि से गुलाम भी हो जाती हैं।

संभावना यह है कि भारत में संस्कृति के सबसे प्रबल उपकरण आर्यों और आर्यों से पहले के भारतवासियों, खास कर, द्रविड़ों के मिलन से उत्पन्न हुए। इस मिलन, मिश्रण या समन्वय से एक बहुत बड़ी संस्कृति उत्पन्न हुई जिसका प्रतिनिधित्व हमारी प्राचीन भाषा संस्कृत करती है। संस्कृत और प्राचीन पहलवी, ये दोनों भाषाएँ एक ही माँ से मध्य एशिया में जनमी थीं, किन्तु, भारत में आकर संस्कृत ही यहाँ की राष्ट्रभाषा हो गई। यहां संस्कृत के विकास में उत्तर और दक्षिण, दोनों ने योगदान दिया। सच तो यह है कि आगे चलकर संस्कृत के उत्थान में दक्षिण वालों का अंशदान अत्यन्त प्रमुख रहा। संस्कृत हमारी जनता के विचार और धर्म का ही प्रतीक नहीं बनी, वरन्, भारत की सांस्कृतिक एकता भी उसी भाषा में साकार हुई। बुद्ध के समय से लेकर अब तक संस्कृत यहां की जनता की बोली जाने वाली भाषा कभी नहीं रही है, फिर भी,सारे भारतवर्ष पर वह अपना प्रचुर प्रभाव डालती ही आयी है। कुछ दूसरे प्रभाव भी भारत पहुँचे और उनसे भी विचारों और अभिव्यक्तियों को नई दिशाएँ प्राप्त हुईं।

काफी लम्बे इतिहास के अन्दर, भूगोल ने भारत को जो रूप दिया, उससे वह एक ऐसा देश बन गया जिसके दरवाजे बाहर की ओर से बन्द थे। समुद्र और महाशैल हिमालय से घिरा होने के कारण बाहर से किसी का इस देश में आना आसान नहीं था। कई सहस्राब्दियों के भीतर, बाहर से लोगों के बड़े-बड़े झुण्ड भारत आये, किन्तु, आर्यों के आगमन के

बाद से कभी ऐसा नहीं हुआ, जबकि बाहरी लोग बहुत बड़ी संख्या में भारत आये हों। ठीक इसके विपरीत, एशिया और यूरोप के आर-पार मनुष्यों के अपार आगमन और निष्क्रमण होते रहे; एक जाति दूसरी जाति को खदेड़कर वहां खुद बसती रही और इस प्रकार जनसंख्या की बुनावट में बहुत बड़ा परिवर्त्तन होता रहा। भारत में, आर्यों के आगमन के बाद, बाहरी लोगों के जो आगमन हुए, उनके दायरे बहुत ही सीमित थे। उनका कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ा, किन्तु, उससे यहां की बुनियादी जनसंख्या के स्वरूप में कोई बड़ा परिवर्त्तन नहीं आया। लेकिन, फिर भी, याद रखना चाहिए कि ऐसे कुछ परिवर्त्तन भारत में भी हुए हैं। सीथियन और हूण लोग तथा उनके बाद भारत आने वाली कुछ अन्य जातियों के लोग यहां आकर राजपूतों की शाखाओं में शामिल हो गए और यह दावा करने लगे कि हम भी प्राचीन भारतवासियों की संतान हैं। बहुत दिनों तक बाहरी दुनिया से अलग रहने के कारण, भारत का स्वभाव भी और देशों से भिन्न हो गया। हम ऐसी जाति बन गये जो अपने आप में घिरी रहती है। हमारे भीतर कुछ ऐसे रिवाजों का चलन हो गया जिन्हें बाहर के लोग न तो जानते हैं और न समझ ही पाते हैं। जाति-प्रथा के असंख्य रूप भारत के इसी विचित्र स्वभाव के उदाहरण हैं। किसी भी दूसरे देश के लोग यह नहीं जानते कि छूआछूत क्या चीज है तथा दूसरों के साथ खाने-पीने या विवाह करने में, जाति को ले कर, किसी को क्या उज्र होना चाहिए। इन सब बातों को लेकर हमारी दृष्टि संकुचित हो गई। आज भी भारतवासियों को दूसरे लोगों से खुलकर मिलने में कठिनाई महसूस होती है। यही नहीं, जब भारतवासी भारत से बाहर जाते हैं तब वहां भी एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से अलग रहना चाहते हैं। हममें से बहुत लोग इन सारी बातों को स्वयंसिद्ध मानते हैं और हम यह समझ ही नहीं पाते कि इन बातों से दूसरे देश वालों को कितना आश्चर्य होता है, उनकी भावना को कैसी ठेस पहुँचती है।

भारत में दोनों बातें एक साथ बढ़ीं। एक ओर तो विचारों और सिद्धांतों में हमने अधिक से अधिक उदार और सहिष्णु होने का दावा किया। दूसरी ओर, हमारे सामाजिक आचार अत्यन्त संकीर्ण होते गये। यह विभक्त व्यक्तित्व, सिद्धांत और आचरण का यह विरोध, आज तक हमारे साथ है और आज भी हम उसके विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। कितनी विचित्र बात है कि अपनी दृष्टि की संकीर्णता और आदतों और रिवाजों की कमजोरियों को हम यह कहकर नजर-अन्दाज कर देना चाहते हैं कि हमारे पूर्वज बड़े लोग थे और उनके बड़े-बड़े विचार हमें विरासत में मिले हैं। लेकिन, पूर्वजों से मिले हुए ज्ञान एवं हमारे आचरण में भारी विरोध है और जब तक हम इस विरोध की स्थिति को दूर नहीं करते, हमारा व्यक्तित्व विभक्त का विभक्त रह जायगा।

जिन दिनों जीवन अपेक्षाकृत अधिक गतिहीन था, उन दिनों सिद्धांत और आचरण

का यह विरोध उतना उग्र दिखायी नहीं देता था। लेकिन, ज्यों-ज्यों राजनीतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों की रफ्तार तेज़ होती गई, इस विरोध की उग्रता भी अधिक से अधिक प्रत्यक्ष होती आयी है। आज तो हम आणविक युग के दरवाजे पर खड़े हैं। इस युग की परिस्थितियां इतनी प्रबल हैं कि हमें अपने इस आन्तरिक विरोध का शमन करना ही पड़ेगा। और इस काम में हम कहीं असफल हो गए तो यह असफलता सारे राष्ट्र की पराजय होगी और हम उन अच्छाइयों को भी खो बैठेंगे जिन पर हम आज तक अभिमान करते आये हैं।

जैसे हम बड़ी-बड़ी राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं का मुकाबला कर रहे हैं, वैसे ही, हमें भारत के इस आध्यात्मिक संकट का भी सामना करना चाहिए। भारत में औद्योगिक क्रांति बड़ी तेजी से आ रही है और हम नाना रूपों में बदलते जा रहे हैं। राजनीतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों का यह अनिवार्य परिणाम है कि उनसे सामाजिक परिवर्त्तन उत्पन्न होते हैं; अन्यथा न तो हमारे वैयक्तिक जीवन में समन्वय रह सकता है, न राष्ट्रीय जीवन में। ऐसा नहीं हो सकता कि राजनीतिक परिवर्त्तन और औद्योगिक प्रगति तो हो, किन्तु, हम यह मानकर बैठे रह जायँ कि सामाजिक क्षेत्र में हमें कोई पविर्त्तन लाने की आवश्यकता नहीं है। राजनीतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों के अनुसार समाज को परिवर्तित नहीं करने से हम पर जो बोझ पड़ेगा, उसे हम बर्दाश्त नहीं कर पायेंगे, उसके नीचे हम टूट जायेंगे।

ईसा के जन्म के बाद की पहली सहस्राब्दी और उससे पहले के भारत की जो तस्वीर हमारे सामने आती है वह उस तस्वीर से भिन्न है, जो बाद को मिलती है। उन दिनों के भारतवासी बड़े मस्त, बडे जीवन्त, बड़े साहसी और जीवन के प्रति अद्भुत उत्साह से युक्त थे तथा अपना संदेश वे विदेशों में दूर-दूर तक ले जाते थे। विचारों के क्षेत्र में तो उन्होंने ऊँची से ऊँची चोटियों पर अपने कदम रखे और आकाश को चीर डाला। उन्होंने अत्यंत गौरवमयी भाषा की रचना की और कला के क्षेत्र में उन्होंने अत्यंत उच्च कोटि की कारयित्री प्रतिभा का परिचय दिया। उन दिनों का भारतीय जीवन घेरों में बन्द नहीं था और न तत्कालीन समाज में ही जड़ता या गतिहीनता की कोई बात थी। उस समय एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, समग्र भारतवर्ष में सांस्कृतिक उत्साह भी लहरें ले रहा था। इसी समय, दक्षिण भारतवर्ष के लोग दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर गये और वहां उन्होंने अपना उपनिवेश स्थापित किया। दक्षिण से ही बौद्ध मत का सन्देश लेकर बोधि-धर्म चीन पहुँचा। इस साहसिक जीवन की अभिव्यक्ति में उत्तर और दक्षिण दोनों एक थे और वे परस्पर एक दूसरे का पोषण भी करते थे।

इसके बाद, पिछली शताब्दियों का समय आता है, जब पतन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। भाषा में कृत्रिमता और स्थापत्य में सजावट की भरमार इसी पतनशीलता के प्रमाण

हैं। यहां आकर हमारे विचार पुराने विचारों की आवृत्ति बन जाते हैं और कारयित्री शक्ति दिनोंदिन क्षीण होने लगती है। शरीर और मन, दोनों की साहसिकता से हम भय खाने लगते हैं तथा जाति-प्रथा का और भी विकास होता है एवं समाज के दरवाज़े चारों ओर से बन्द हो जाते हैं। पहले की तरह बातें तो हम अब भी ऊँची-ऊँची करते हैं, लेकिन, हमारा आचरण हमारे विश्वास से भिन्न हो जाता है।

हमारे आचरण की तुलना में हमारे विचार और उद्गार इतने ऊँचे हैं कि उन्हें देख-कर आश्चर्य होता है। बातें तो हम शांति और अहिंसा की करते हैं, मगर, काम हमारे कुछ और होते हैं। सिद्धांत तो हम सहिष्णुता का बघारते हैं, लेकिन, भाव हमारा यह होता है कि सब लोग वैसे ही सोचें, जैसे हम सोचते हैं, और जब भी कोई हम से भिन्न प्रकार से सोचता है, तब हम उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। घोषणा तो हमारी यह है कि स्थितप्रज्ञ बनना अर्थात् कर्मों के प्रति अनासक्त रहना हमारा आदर्श है, लेकिन, काम हमारे बहुत नीचे के धरातल पर चलते हैं और बढ़ती हुई अनुशासनहीनता हमें व्यक्ति और समाज, दोनों ही रूपों में नीचे ले जाती है।

जब पश्चिम के लोग समुद्र के पार से यहां आये, तब भारत के दरवाज़े एक खास दिशा की ओर फिर से खुल गये। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता बिना किसी शोर-गुल के धीरे-धीरे इस देश में प्रविष्ट हो गयी। नये भावों और नये विचारों ने हमपर हमला किया और हमारे बुद्धिजीवी अंगरेज बुद्धिजीवियों की तरह सोचने की आदत डालने लगे। यह मानसिक आन्दोलन, बाहर की ओर वातायन खोलने का यह भाव, अपने ढंग पर अच्छा रहा, क्योंकि इससे हम आधुनिक जगत् को थोड़ा-बहुत समझने लगे। मगर, इससे एक दोष भी निकला कि हमारे ये बुद्धिजीवी जनता से विच्छिन्न हो गये क्योंकि जनता विचारों की इस नयी लहर से अप्रभावित थी। परम्परा से भारत में चिन्तन की जो पद्धति चली आ रही थी, वह टूट गयी। फिर भी कुछ लोग उससे इस ढंग से चिपके रहे,जिसमें न तो प्रगति थी, न रचना की नयी उद्भावना और जो पूर्ण रूप से नयी परिस्थितियों से असंबद्ध थी।

पाश्चात्य विचारों में भारत का जो विश्वास जगा था, अब तो वह भी हिल रहा है। नतीजा यह है कि हमारे पास न तो पुराने आदर्श हैं, न नवीन, और हम बिना यह जाने हुए बहते जा रहे हैं कि हम किधर को या कहां जा रहे हैं। नयी पीढ़ी के पास न तो कोई मान-दण्ड है, न कोई दूसरी ऐसी चीज़, जिससे वह अपने चिन्तन या कर्म को नियंत्रित कर सके।

यह खतरे की स्थिति है। अगर इसका अवरोध और सुधार नहीं हुआ तो इससे भया-नक परिणाम निकल सकते हैं। हम आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में संक्रांति की अवस्था से गुजर रहे हैं। संभव है, यह उसी स्थिति का अनिवार्य परिणाम हो। लेकिन, आणविक युग में किसी भी देश को अपना सुधार करने के लिए ज्यादा मौके नहीं दिये जायेंगे;

और इस युग में मौका चूकने का अर्थ सर्वनाश भी हो सकता है।

यह संभव है कि संसार में जो बड़ी-बड़ी ताकतें काम कर रही हैं, उन्हें हम पूरी तरह नहीं समझ सकें, लेकिन, इतना तो हमें समझना ही चाहिए कि भारत क्या है, और कैसे इस राष्ट्र ने अपने सामासिक व्यक्तित्व का विकास किया है। उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू कौन-से हैं और उसकी सुदृढ़ एकता कहां छिपी हुई है। भारत में बसने वाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और सारे विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारत आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते तो फिर हम भारत को भी समझने में असमर्थ रहेंगे और यदि हम भारत को नहीं समझ सके तो हमारे भाव, विचार और काम, सब के सब, अधूरे रह जायेंगे और हम देश की कोई ऐसी सेवा नहीं कर सकेंगे जो प्रभावपूर्ण और ठोस हो।

मेरा विचार है कि दिनकर की पुस्तक इन बातों को समझने में एक हद तक सहायक होगी; इसलिए मैं उसकी सराहना करता हूँ और आशा करता हूँ कि इसे पढ़कर अनेक लोग लाभान्वित होंगे।

नई दिल्ली,
३० सितम्बर, १९५५

लेखक का निवेदन

एक समय मैं इतिहास का विद्यार्थी अवश्य था, किन्तु, जबसे कविता और निबंध में लगा, तब से इतिहास के साथ मेरा संपर्क एक प्रकार से छूट-सा गया। तब सन् १९५० में मैं उच्च वर्गों के छात्रों को साहित्य पढ़ाने के लिए कालेज भेजा गया। वहाँ साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि समझने के क्रम में मुझे इतिहास की पुस्तकें फिर से उलटनी पड़ीं और धीरे-धीरे मैं फिर से इतिहास की गहराई में उतरने लगा। मेरी पहली जिज्ञासा यह थी कि हमारा आधुनिक साहित्य हमारे प्राचीन साहित्य से किन-किन बातों में भिन्न है और इस भिन्नता का कारण क्या है। कारण की खोज करता हुआ मैं ढूंढ़-ढूंढ़ कर १९वी शती के सांस्कृतिक जागरण का हाल पढ़ने लगा। फिर जिज्ञासा कुछ और विस्तृत हो गई और मन ने जानना चाहा कि भारतीय संस्कृति का संपूर्ण इतिहास कैसा रहा है।

लगभग दो वर्षों के अध्ययन के पश्चात् मेरे सामने यह सत्य उद्भासित हो उठा कि भारतीय संस्कृति में चार बड़ी क्रांतियाँ हुई हैं और हमारी संस्कृति का इतिहास उन्हीं चार क्रांतियों का इतिहास है। पहली क्रांति तब हुई जब आर्य भारतवर्ष में आये अथवा जब भारतवर्ष में उनका आर्येतर जातियों से संपर्क हुआ। आर्यों ने आर्येतर जातियों से मिलकर जिस समाज की रचना की वही आर्यों अथवा हिंदुओं का बुनियादी समाज हुआ और आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों के मिलन से जो संस्कृति उत्पन्न हुई वही भारत की बुनियादी संस्कृति बनी। इस बुनियादी भारतीय संस्कृति के लगभग आधे उपकरण आर्यों के दिए हुए हैं और उसका दूसरा आधा आर्येतर जातियों का अंशदान है।

दूसरी क्रांति तब हुई जब महावीर और गौतम बुद्ध ने इस स्थापित धर्म या संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह किया तथा उपनिषदों की चिंताधारा को खींचकर वे अपनी मनोवांछित दिशा की ओर ले गये। इस क्रांति ने भारतीय संस्कृति की अपूर्व सेवा की, किन्तु, अन्त मे इसी क्रांति के सरोवर में शैवाल भी उत्पन्न हुए और भारतीय धर्म तथा संस्कृति में जो गदलापन आ गया वह इन्हीं शैवालों का परिणाम था।

तीसरी क्रांति उस समय हुई जब इस्लाम, विजेताओं के धर्म के रूप में, भारत पहुँचा और इस देश में हिंदुत्व के साथ उसका संपर्क हुआ। और चौथी क्रांति हमारे अपने समय में हुई जब भारत में यूरोप का आगमन हुआ तथा उसके संपर्क में आकर हिन्दुत्व एवं इस्लाम, दोनों ने नवजीवन का अनुभव किया।

इस पुस्तक में इन्हीं चार क्रांतियों का संक्षिप्त इतिहास है। पुस्तक का उचित नाम

कदाचित्, 'भारतीय संस्कृति के चार सोपान' होना चाहिए था, किंतु, वह नाम मन में आकर फिर लौट गया और मुझे यही अच्छा लगा कि इस पुस्तक को मैं 'संस्कृति के चार अध्याय' कहूँ ।

पुस्तक लिखते-लिखते मुझे इस बात का पूरा विश्वास हो गया कि भारत की संस्कृति आरम्भ से ही सामासिक रही है । उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, देश में जितने भी हिंदू बसते हैं उनकी संस्कृति एक है एवं भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी सामासिक संस्कृति की ही विशेषता है । तब हिंदू और मुसलमान हैं जो देखने में अब भी दो लगते हैं, किन्तु, उनके बीच भी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है जो उनकी भिन्नता से कहीं प्रबल है । दुर्भाग्य की बात है कि हम इस एकता को पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ रहे हैं । यह कार्य राजनीति नहीं, साहित्य के द्वारा संपन्न किया जाना चाहिए । इस दिशा में साहित्य के भीतर कितने ही छोटे-बड़े प्रयत्न हो चुके हैं । वर्त्तमान पुस्तक भी उसी दिशा में एक लघु प्रयास है ।

इस प्रसंग में केवल एक बात है जिसका उल्लेख मुझे अत्यन्त शोक के साथ करना पड़ता है । चौथे अध्याय में जहाँ मैंने मुस्लिम जागरण का हाल लिखा है, वहाँ मुस्लिम सांप्रदायिकता के साथ मैंने मुस्लिम राष्ट्रीयता की भी चर्चा की है और यह आशा प्रकट की है कि सांप्रदायिकता के कारण देश का विभाजन हो गया, किन्तु, राष्ट्रीयता की जो भावना हिन्दुओं और मुसलमानों में उतनी स्पष्ट रही है, वह आगे चलकर हिंदू-मुस्लिम एकता को मजबूत बनायेगी । इस प्रसंग में मैंने उर्दू के कवि **जोश मलीहाबादी** की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और उनकी कविताओं को अपनी स्थापना का बड़ा आधार माना था । किंतु, यूरोप से लौटने पर मैंने यह देखा कि जोश, मानो, मुझे ही झुठलाने को भारत छोड़कर पाकिस्तान चले गये । यह इतिहास की अनहोनी घटना है । किंतु, अब तो इसे व्यक्ति की असमर्थता कहकर ही टालना होगा । मेरा विश्वास है, मुसलमानों के भीतर भारतीय राष्ट्रीयता की जो धारा फूटी थी, वह आज भी मौजूद है और वह अपना काम करती जायगी ।

यह पुस्तक विद्वानों का उच्छिष्ट चुनकर तैयार की गई है, किंतु, इसे मैंने विद्वानों और विशेषज्ञों के पढ़ने के लिए नहीं लिखा है । असल में, यह उनके काम की चीज है जो खोजपूर्ण ग्रंथों का सामना नहीं करना चाहते, जो भारतीय संस्कृति को समझना तो चाहते हैं, किंतु, जिनके पास सैकड़ों ग्रंथों के व्यूह में जाने का अवकाश नहीं है तथा जो अनुसंधान और खोज की नीरस भाषा से भी घबराते हैं । संक्षेप में, इसके मुख्य पाठक जन-साधारण होंगे, ऐसी मेरी कामना है । इसके आकार को देखकर उन्हें घबराना नहीं चाहिए । जिस अथाह विषय का इस पुस्तक में आख्यान है, उसके लिए ऐसी-ऐसी सौ जिल्दें भी शायद ही

काफी हों। संस्कृति का विषय अपार है। एक व्यक्ति के लिए तो यह संभव ही नहीं है कि अपने सारे जीवन में भी वह उसके साथ पूरा न्याय कर सके। मैंने जो इस काम में हाथ डाला वह इस कारण नहीं कि मैं इतिहास की सेवा करना चाहता था, बल्कि, इसलिए कि स्वतंत्रता के बाद से देश में संस्कृति के नारे बड़े जोर से चलने लगे हैं, किंतु, जनसाधारण के सामने ऐसी सामग्री का, प्रायः, अभाव है जिससे वह यह समझ सके कि भारत की संस्कृति क्या है, कैसे-कैसे वह बढ़ती आई है और आगे वह कौन रूप ले सकती है।

इस पुस्तक की अधिकांश सामग्री अंगरेजी की पुस्तकों से ली गई है, किन्तु दुर्भाग्यवश, अंगरेजी में भी कोई पुस्तक ऐसी नहीं है जिसमें भारतीय संस्कृति के संपूर्ण इतिहास की झाँकी एक ही जिल्द में करा दी गई हो। और अंगरेजी में कोई ऐसी पुस्तक होती भी तो उससे उन पाठकों का तो काम नहीं ही चलता जिनके लिए मैंने यह ग्रंथ लिखा है।

इस पुस्तक को मैं इतिहास नहीं, साहित्य का ग्रंथ कहता हूँ। फिर भी, पूरी संभावना है कि इसकी प्रामाणिकता पर प्रहार होंगे और विद्वानों के पास उठने-बैठने वाले लोग कहेंगे कि अमुक स्थापना केवल अनुमान पर आधारित है और लेखक की अमुक उक्ति केवल अर्ध-सत्य है। किन्तु, इसके बाद भी, कट-छँटकर जो बच रहेगा वह काफी प्रामाणिक होगा और हमारे देश का उतने से भी कल्याण होगा। अर्ध-सत्य और अनुमान चाहे जितने हों, किंतु, जो प्रतिमा इस पुस्तक में खड़ी की गई है वह निर्जीव नहीं है। मेरी आशा है कि पाठक जब इस पुस्तक को हाथ में लेंगे, हमारी सामासिक संस्कृति की प्रतिमा उनसे अंत तक बात करती चली जायगी।

मेरा अपना क्षेत्र तो काव्य है एवं मेरे साहित्यिक जीवन का यश और अपयश मेरे काव्य पर निर्भर करता है। किंतु, जिस परिश्रम से मैंने यह पुस्तक लिखी है, उस परिश्रम से मैंने और कुछ नहीं लिखा। मैंने पाठकों से यह कभी भी अनुरोध नहीं किया कि वे मेरी किसी भी कृति को पढ़ें। किन्तु, इस ग्रंथ को एक बार देख जाने का अनुरोध मैं सब से करता हूँ।

मेरे जानते यह ग्रंथ अभी भी अपूर्ण है। किंतु, पाँच वर्ष तक परिश्रम करते-करते मैं कुछ थक गया हूँ और अब इसे पाठकों के पास इस आश्वासन के साथ भेज रहा हूँ कि कुछ थोड़ी अपूर्णता अगले संस्करण में दूर कर दूंगा। यों, अपूर्णता तो ऐसी पुस्तकों का नित्य धर्म है।

रामधारीसिंह दिनकर

आर्यकुमार रोड, पटना—४
५ जनवरी, १९५६

विषय-सूची

दूसरा अध्याय

[प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह]

तीसरा अध्याय

[हिन्दू-संस्कृति और इस्लाम]

चौथा अध्याय

[भारतीय संस्कृति और यूरोप]

संस्कृति के चार अध्याय

एई महामानवेर सागर-तीरे

आज से कोई पचास वर्ष पूर्व कवि-गुरु श्री रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक कविता में कहा था,

हे मोर चित्त, पुण्य तीर्थे जागो रे धीरे,
एई भारतेर महामानवेर सागर-तीरे।
केह नाहि जाने, कार आह्वाने, कत मानुषेर धारा
दुर्वार स्रोते एलो कोथा हते, समुद्रे हलो हारा।
हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़-चीन,
शक-हूण-दल, पाठान-मोगल एक देहे हलो लीन।
रणधारा वाहि, जयगान गाहि, उन्माद कलरवे
भेदि मरु-पथ, गिरि-पर्वत यारा एसेछिलो सबे।
तारा मोर माझे सवाई विराजे केहो नहे नहे दूर,
आमार शोणिते रयेछे ध्वनित तारि विचित्र सूर।

आशय इसका यह है कि भारत देश महामानवता का पारावार ह। ओ मेरे हृदय ! इस पवित्र तीर्थ में श्रद्धा से अपनी आँखें खोलो। किसी को भी ज्ञात नहीं कि किसके आह्वान पर मनुष्यता की कितनी धाराएँ दुर्वार वेग से बहती हुई कहाँ-कहाँ से आयीं और इस महासमुद्र में मिलकर खो गयीं। यहाँ आर्य हैं, यहाँ अनार्य हैं, यहाँ द्रविड़ और चीनी वंश के भी लोग हैं। शक, हूण, पठान और मोगल, न जानें कितनी जातियों के लोग इस देश में आये और सबके सब एक ही शरीर में समा कर एक हो गये। समय-समय पर जो लोग रण की धारा बहाते हुए एवं उन्माद और उत्साह में विजय के गीत गाते हुए रेगिस्तान को पार कर एवं पर्वतों को लाँघ कर इस देश में आये थे, उनमें से किसी का भी अब अलग अस्तित्व नहीं है। वे सब के सब मेरे भीतर विराजमान हैं। मुझ से कोई भी दूर नहीं है। मेरे रक्त में सबका सुर ध्वनित हो रहा है।

यह भारतीय एकता की अद्भुत अनुभूति की कविता है। यह भारत में बसने वाली सभी जातियों के साथ एकात्म होने का भाव है। भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से जो रक्त-मिश्रण होता आया है, यह कविता उसकी स्मृति और अनुभूति को ताजा बनाती है। सत्य ही, भारतीय आर्यों, द्राविड़ों, मंगोलों, शकों, हूणों, और तुर्कों की नृवंशीय विशेषताएँ

विलुप्त हो चुकी हैं। अब तो, प्रायः, प्रत्येक भारतवासी कुछ आर्य भी है, कुछ द्रविड़ भी, कुछ मंगोल और कुछ शक या हूण भी।

कवि एक ही युग में जीता हुआ अपने अन्य समकालीन बन्धुओं की अपेक्षा कुछ अधिक जीवित और चैतन्य होता है। इसलिए, उसे कुछ ऐसी बातें भी सुनायी दे जाती हैं, जिन बातों तक औसत मनुष्य के कान नहीं पहुँच पाते। किन्तु, कवि की अनुभूति जब कविता बनकर प्रकट हो जाती है, तब उसके सहारे अन्य सहृदय लोग भी इस अनुभूति तक पहुँच सकते हैं और तब उनके मुख से अनायास यह अभिनन्दन फूट पड़ता है कि कवि की यह बात कैसी अनूठी, किन्तु, कितनी सत्य है!

रवीन्द्रनाथ को जिस महामानवता की अनुभूति हुई, वह काल्पनिक नहीं, अस्तित्वपूर्ण है। जो भी भारतवासी निश्छलता के साथ अपनी आँखें मूँद कर इस बात का ध्यान करेगा कि वह कौन है, आर्य या अनार्य, द्रविड़ या मंगोल, शक या हूण, वह निश्चयपूर्वक केवल इतना ही जान सकेगा कि इस जिज्ञासा का कटा-छँटा कोई एक समाधान नहीं है। जो देश अनेक जातियों एवं अनेक वंशों के मनुष्यों की मिलन-भूमि रहा हो, साधारणतः उसका कोई भी निवासी यह दावा नहीं कर सकता कि उसके रक्त में किसी अन्य जाति का रक्त नहीं मिला है। इसी प्रकार, हम जिस धर्म में विश्वास करते हैं, जिस संस्कृति को मानते हैं तथा जिन विचारों को हम राष्ट्रीय अथवा जातीय कह कर जोर से अपनाये हुए हैं, उनके उत्स का भी कोई एक नाम नहीं है। यह आग्रह बिलकुल निस्सार है कि हिन्दुओं का सारा धर्म और सारी संस्कृति वेदों से निकली है। यह अभिमान व्यर्थ है कि जो जातियाँ आज वनों में रहती हैं अथवा जो सवर्ण समाज के जूतों के पास बैठी हुई हैं, उनके बाप-दादों से आर्यों ने कोई भी ज्ञान अथवा धर्म का कोई भी उपकरण उधार नहीं लिया। आर्यों के आने से पूर्व, भारत असभ्य था तथा धर्म और सभ्यता यहाँ आर्यों ने फैलायी, यह भी मिथ्या अहंकार है, क्योंकि, सभ्यता में द्रविड़ जाति के लोग आर्यों से बढ़े-चढ़े थे और शरीर से हार कर भी, संस्कारों के द्वारा उन्होंने आर्यों को प्रभावित किया।

और आर्य ही इस देश के अन्तिम विजेता अथवा आगन्तुक रहे हों, यह बात तो है ही नहीं। बुद्धदेव से कुछ पूर्व ईशान कोन से यहाँ मंगोल-जाति के लोगों का आना आरंभ हुआ, जो संस्कृत-साहित्य में किरात नाम से अभिहित किये गये हैं। मौर्य-वंश के पतन (ई० पू० १८०) के बाद, वायव्य कोन से भारत में यूनानियों का आना शुरू हुआ। फिर उसी मार्ग से झुण्ड के झुण्ड यूची, शक और आभीर जातियों के लोग आने लगे, जिन्होंने सिंध, पंजाब और मथुरा में अपने राज्य स्थापित किये। शक और कुषाण राज्यों के बिखरने के बाद, वायव्य दिशा का द्वार एक बार फिर उन्मुक्त हो गया एवं गर्दभिल्ल, यवन और वाह्लीक जातियों के लोगों से पश्चिमोत्तर भारत पूरी तरह पट गया। गुप्त राजाओं के समय

और उनसे पूर्व यहाँ हूणों का आगमन हुआ एवं हूणों के बाद इस देश में कुछ तुर्क भी आये, जो तब तक मुसलमान नहीं हुए थे। किन्तु, आज इनमें से किसी का भी पता नहीं है। "जो लोग रण की धारा बहाते तथा विजय के गान गाते" एक समय यहाँ उत्साह में झूमते हुए आये थे, वे इस देश के विशाल मानव-समुद्र में विलीन हो गये। अब उनके कोई निशान बाकी नहीं हैं।

उनमें से प्रत्येक की कोई न कोई भाषा रही होगी, उनमें से प्रत्येक का कुछ न कुछ धर्म रहा होगा एवं उनमें से प्रत्येक की कुछ अपनी आदतें रही होंगी, अपने भाव, विचार रीति और रिवाज भी रहे होंगे। यदि वे जातियाँ वीर थीं तो वीरता की बहुत सारी कहानियाँ उनके साथ आयी होंगी; यदि वे जातियाँ धार्मिक थीं तो अनेक प्रकार के देवी-देवता और धार्मिक विश्वास उनके साथ आये होंगे। लिखित या अलिखित, उनका कुछ साहित्य रहा होगा; उनके कुछ गान रहे होंगे, उनका कुछ नृत्य और मनोविनोद भी रहा होगा। किन्तु, इनमें से किसी भी वस्तु या विचार का अब कोई अलग अस्तित्व नहीं है। मुसलमानों के आगमन के पूर्व तक इस देश में जितनी भी जातियों के लोग आये, सब हिन्दू हो गये, सब के सब भारतीय हो गये। भारतीय जनता न तो शुद्ध आर्य-वंश की है और न द्रविड़-वंश की। वह उन सभी जातियों की सन्ततियों का समुदाय है, जो समय-समय पर इस देश में आयीं और यहीं बस गयीं।

इसी प्रकार, जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह आदि से अन्त तक न तो आर्यों की रचना है और न द्राविड़ों की, प्रत्युत्, उसके भीतर अनेक जातियों का अंशदान है। यह संस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई है एवं उसके भीतर अनेक ओषधियों का रस समाहित है।

समन्वय का एक उदाहरण चींटियाँ भी उपस्थित करती हैं, जब वे अनेक प्रकार के अनाजों के कणों को एक स्थान पर एकत्र कर देती हैं। किन्तु, यह समन्वय वास्तविक समन्वय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनेक अनाजों के दाने एक बरतन में एकत्र किये जाने पर भी अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं। भारत में संस्कृतियों का जो समन्वय हुआ है वह इससे कहीं ऊँचा, महीन और बारीक है। भारत में समन्वय की प्रक्रिया चींटियों की प्रक्रिया नहीं, मधुमक्खियों की प्रक्रिया रही है। चींटियाँ अनाज के कणों को एकत्र तो कर देती हैं, किन्तु, उनका एक-दूसरे में विलय नहीं नहीं कर पातीं। किन्तु, मधुमक्खियाँ अनेक फूलों से रस जमा कर उसे ऐसा रूप दे देती हैं कि कोई एक फूल वहाँ सबसे ऊपर नहीं बोलता। भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों के योग से बना हुआ मधु है और यद्यपि, उसके ऊपर आर्यों का लेबुल बहुत स्पष्ट है, किन्तु, आर्यों का महत्त्व उतना ही है, जितना मधु-निर्माण में मधुमक्खियों का।

भारतवासियों में परम्परा से एक विश्वास चला आता है कि भारत परमात्मा का सबसे प्यारा देश है और सभ्यता का आरम्भ पहले-पहल इसी देश में हुआ था। किन्तु, इतिहासवाले कहते हैं कि सभ्यता का आरम्भ यहाँ भले ही हुआ हो, किन्तु, सभ्यता रचने वाले लोग यहाँ बाहर से आकर बसे थे। इस क्रम में कहा जाता है कि सबसे पहले यहाँ नीग्रो जाति के लोग आये थे जो असभ्य थे। फिर औष्ट्रिक या आग्नेय जाति के लोग आये, जो नीग्रो की अपेक्षा अधिक उन्नत अवस्था में थे। इन दोनों जातियों के बाद, यहाँ द्रविड़ जाति के लोग आये, जिन्होंने इस देश में नगर-सभ्यता की नींव डाली और उनके बाद, आर्य आये जिनके नेतृत्व में आर्य, भारतीय अथवा हिन्दू-संस्कृति की यहाँ नींव पड़ी। आर्यों के बाद भी, भारत में विदेशी जातियों का आगमन अवरुद्ध नहीं हुआ, किन्तु, जो जातियाँ आयीं वे अलग नहीं रहकर आर्यों के समाज में ही सम्मिलित होती चली गयीं।

आर्यों ने जाति की जो प्रथा चलायी थी, वह अब तो निन्दित और त्याज्य अवश्य हो गयी है, किन्तु, विभिन्न देशों से आने वाले लोगों को एक समाज के भीतर बिठाने में इस प्रथा ने, एक समय, बड़ा काम किया था। जाति-प्रथा का एक पक्ष सांस्कृतिक भी है। इसी से जिस जाति को ऊँची संस्कृति तक जाने की कामना होती है, वह आज भी क्षत्रियत्व या ब्राह्मणत्व का दावा करने लगती है। अतएव, बाहर से आने वाले जिस जनसमूह का, जो सांस्कृतिक स्तर था, आर्यों के यहाँ उसे उसके अनुरूप स्थान अनायास मिल गया। इस प्रकार, ईशान कोन से आने वाले मंगोल हिन्दू-समाज में प्रविष्ट हो गये; वायव्य कोन से आने वाले यूनानी हिन्दू या बौद्ध हो गये। भारतीय यूनानी राजा मिलिन्द बड़ा ही पंडित बौद्ध था। एक अन्य भारतीय यूनानी राजा हेलियोडोरस वैष्णव था और अपने को परम भाग-वत कहता था। भारत के शक राजे बड़े ही उत्साही शैव थे। रुद्रदमन, जयदमन आदि क्षत्रिय राजे भी विदेशी थे, किन्तु, हिन्दुत्व, भारतीयता और संस्कृत-भाषा के लिए उनमें अपार उत्साह था। हूणों को विक्रमादित्य ने मार भगाया सही, किन्तु भागने वाले हूण शासक अथवा राजनीति के ही लोग थे। बाकी हूण इसी देश में रह गये और आगे चल कर वे राजपूत-जाति में ले लिये गये।

अंगरेजी में जिसे "रेस थियरी" या नृवंश-सिद्धान्त कहते हैं, वह भारतवासियों की आँखों को कभी दिखाई ही नहीं पड़ा था। "यह हमारे वंश (रेस) का होने के कारण हमारा अपना है, और वह अन्य नृवंश का होने के कारण पराया", यह भाव भारत में कभी पनपा ही नहीं। भारतवासियों की दृष्टि सदैव सांस्कृतिक एकता पर थी। जिसने भी भारतीय संस्कृति को अपनी संस्कृति और भारत को अपना देश मान लिया, वह विदेशी होता हुआ भी भारतीयों के द्वारा सादर स्वीकृत किया गया। आज की दृष्टि से देखें तो भारतीय जनता अनेक नृवंशों से निकली हुई नाना जातियों का पुंज दीखेगी। किन्तु, नृवंशीय प्रभेदों

से होने वाली क्षति को यहाँ सांस्कृतिक एकता ने पूर्ण कर रखा है। इसीलिए, कहा जाता है कि भारत नाम किसी जाति का नहीं, प्रत्युत्, एक विशाल संस्कृति का है। भारत के लोग इसलिए एक नहीं हैं कि वे एक ही नृवंश की संतान हैं, वरन्, इसलिए कि उनकी संस्कृति एक है, जीवन को देखने की उनकी दृष्टि एक है एवं प्रश्नों और समस्यायों पर विचार करने का उनका ढंग भी एक है।

भारत की यह सांस्कृतिक एकता, मुख्यतः, दो कारणों से उत्पन्न हुई। पहला कारण तो भारत का भूगोल है, जिसने उत्तर और पूरब की ओर पहाड़ों से तथा दक्षिण और पश्चिम की ओर समुद्रों से घेर कर भारत को स्वतन्त्र भू-भाग का रूप दे दिया है। दूसरे, इस एकता का एक प्रमुख कारण हिन्दू-धर्म भी है, जो किसी भी विश्वास-विशेष के लिए दुराग्रह नहीं करता, जो सहिष्णुता, स्वाधीन चिन्तन एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता का संसार में सबसे बड़ा हामी रहा है। ईश्वर को मानो या न मानो, उपासना साकार की करो या निराकार की, अनेक देवताओं में विश्वास रखो या फिर किसी भी देवता को मत मानो, किन्तु, यदि तुम हिन्दू रहना चाहते हो तो हिन्दू-समाज से तुम्हें कोई भी नहीं निकालेगा। इतनी स्वतंत्रता अपने अनुयायियों को संसार के किसी भी धर्म ने नहीं दी थी। एक यह भी कारण हुआ कि बाहर के जो लोग हिन्दू होना चाहते थे, वे आसानी से हिन्दू हो गये। यही नहीं, उनके अपने विश्वास और रीति-रिवाज भी धीरे-धीरे सभी हिन्दुओं के विश्वासों और रीति-रिवाजों में समा गये जिससे आगन्तुकों को कभी यह अनुभव ही नहीं हुआ कि उन्होंने अपना धर्म और समाज छोड़कर किसी अन्य धर्म या समाज में प्रवेश किया है। इसका एक अन्यतम परिणाम यह हुआ कि ज्यों-ज्यों विदेशी जातियाँ हिन्दू-समाज में प्रवेश पाती गयीं, हिन्दू-संस्कृति का रूप त्यों-त्यों अधिक से अधिक समृद्ध होता गया। यहाँ तक कि आज समस्त संसार में केवल भारतीय संस्कृति ही ऐसी संस्कृति है जिसमें अधिक से अधिक संस्कृतियों का रंग मिला हुआ है, जो अधिक से अधिक भिन्न जातियों की मानसिक एवं आध्यात्मिक एकता का प्रतिनिधित्व कर सकती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में होने वाले हिन्दुत्व के सांस्कृतिक महाजागरण के समय से ही भारतवासियों के भीतर एक प्रकार का रहस्यात्मक विश्वास सुगबुगा रहा है कि, हो न हो, संसार का आध्यात्मिक नेतृत्व फिर से भारत के हाथ आने वाला है। और स्वतन्त्रता के बाद से तो भारत से बाहर के लोग भी, यदा-कदा, यह सोचते दिखायी देने लगे हैं कि, शायद, भारत के पास, सचमुच ही, कोई संदेश है, जिससे अखिल भूमंडल का कल्याण हो सकता है।

किन्तु, सोचने की बात है कि यह दुर्बल, दरिद्र और अशिक्षित देश आज की दुनिया को कौन-सा नेतृत्व दे सकता है। ले-देकर हमारे पास कुछ प्राचीन ज्ञान की बातें हैं। सो,

ज्ञान से मनुष्य का कल्याण नहीं होता। कल्याण उसका आचरण की शुद्धता से होता है और अपार ज्ञानराशि के उत्तराधिकारी होते हुए भी भारतवासियों ने अपने आचरण बिगाड़ रखे हैं। गीता और उपनिषदें हमारे पास हैं, किन्तु, उनके उपदेशों पर चलने की हम में शक्ति नहीं रही। शास्त्र और पुराण भी हमें भली-भाँति उपलब्ध हैं, किन्तु, जिस सत्य के चारों ओर हमारे शास्त्र और पुराण चक्कर काटते हैं,उस सत्य तक पहुँचने की राह, शायद, हम भूल गये हैं। केन्द्र में स्थित सत्य का स्वरूप हमारी आँखों से ओझल हो गया है। दिखाई देती हैं केवल कठिनाइयाँ जिन्हें पार किये बिना हमें वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो सकता। एक ही ब्रह्म फैल कर अनेक हो गया है, यह सूक्ति तो हमें याद है, किन्तु, आचरण हमारा ठीक इसके विपरीत हो गया है। हिन्दू रूढ़ियों से इतने ग्रस्त हैं कि अब उनका व्यक्तित्व ही खंडित हो गया है। एक साँस में तो वे "एकोऽहम् बहु स्याम:" की दुहाई देते हैं, किन्तु, दूसरी ही साँस में वे मनुष्य-मनुष्य में भेद करने लगते हैं, एक मनुष्य को जन्म से ही श्रेष्ठ और दूसरे को अधम बताने लगते हैं। यह वह हिन्दुत्व नहीं है, जिसकी नींव आर्यों ने डाली थी अथवा जिसके अधीन अनेक देशों से आने वाली जातियाँ यहाँ एक हुई थीं।

दु:ख की बात है कि नवीन भारत नवीन विश्व को कुछ भी देने के योग्य नहीं रहा। नवीन विश्व को भी यदि कुछ पाना है, तो वह प्राचीन भारत से ही प्राप्त कर सकता है। सच तो यह है कि भारतीय ज्ञान की गौरव-शिखाएँ, गीता और उपनिषद्,नये संसार को मिल चुकी हैं और नया विश्व उन्हें समझने और साधने की चेष्टा भी कर रहा है। किन्तु, इससे भी एक बड़ी वस्तु है, जिसे भारत नये संसार को दे सकता है।

संसार की पीड़ाओं का आध्यात्मिक निदान यह है कि अभिनव मनुष्य अति भोगवादी हो गया है। वह अपनी रोटी दूसरों के साथ बाँट कर नहीं खाना चाहता। उसे पूरी रोटी केवल अपने लिए चाहिए, बल्कि, बस चले तो वह दूसरों की भी रोटियाँ छीनकर बेच डालेगा और जो पैसे मिलेंगे, उनसे और नहीं तो, घूंट भर शराब ही पी लेगा। बुद्ध से पहले, उपनिषदों के आलोकपूर्ण काल में, भारत को अतिभोगवाद की यंत्रणाओं का कहीं न कहीं आभास मिला था और इसी कारण, एक ऋषि ने चेतावनी देते हुए घोषणा की थी, "तेन त्यक्तेन भुंजीथा:" भोग भी त्याग के साथ करो।

किन्तु, संसार की पीड़ा का कारण इतना ही नहीं है। विश्व की एकता की बाधा, केवल इसी बात को लेकर नहीं है कि दुनिया में त्यागी कम और स्वार्थमय भोग वाले लोग अधिक हैं। प्रत्युत्, विश्व की एकता की मुख्य बाधा तो यह है कि संसार में अनेक नृवंशों के लोग हैं जो आपस में एक-दूसरे से नहीं मिलते,जिनके धर्म अलग-अलग हैं, जिनके दर्शन और विचार भिन्न-भिन्न हैं, जिनकी आदतें और आचारों में कोई समानता नहीं है और जो विभिन्न वादों के फेरे में पड़ कर एक-दूसरे का मस्तक फोड़ रहे हैं। इतनी विभिन्नता वाली

दुनिया किसी एक संस्कृति के अनुशासन में कैसे लायी जा सकती है ? कौन है जो अपने धर्म को छोड़कर सिर्फ एकता के लिए किसी दूसरे धर्म को स्वीकार करेगा ? कौन है जो अपने विचारों और मतवादों को छोड़कर सिर्फ इसलिए दूसरों के विचारों को स्वीकार कर लेगा कि दुनिया में विग्रह और मार-काट का नहीं, बल्कि, शान्ति और सद्भावना का साम्राज्य हो ?

प्रश्न बहुत ही जटिल है, किन्तु, यही वह स्थल है जहाँ भारत का उदाहरण संसार का सहायक हो सकता है। भारत में जितनी जनताएँ मिलीं, वे एक मत की नहीं थीं। भारत में जितने भी धर्म मिले, वे एक ही प्रकार के धर्म नहीं थे। भारत में जितने विचारों के बीच समन्वय हुआ, वे सभी विचार परस्पर समान ही नहीं थे और भारत में जितनी संस्कृतियों के मिश्रण से राष्ट्रीय या सामाजिक संस्कृति उद्भूत हुई, वे संस्कृतियाँ भी परस्पर अवि-रोधिनी नहीं थीं। किन्तु, फिर भी भारत ने इन विभिन्न विचारों, मतों, धर्मों और संस्कृतियों के बीच पूरा सामंजस्य बिठा दिया और इन्हीं विभिन्नताओं का समन्वित रूप हमारा सबसे बड़ा उत्तराधिकार है।

विश्व की भावी एकता की भूमिका भारत की सामासिक संस्कृति में है। जैसे भारत ने किसी भी धर्म का दलन किये बिना अपने यहाँ धार्मिक एकता स्थापित की; जैसे भारत ने किसी भी जाति की विशेषता को नष्ट किये बिना सभी जातियों को एक सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध किया; जैसे भारत ने किसी भी भाषा की गरिमा घटाये बिना संस्कृत को अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की भाषा बनाकर देश की भाषागत कठिनाइयों का समाधान निकाला; कुछ उसी प्रकार, हम संसार के सभी देशों, सभी जातियों एवं सभी विचारों के बीच एकता स्थापित कर सकते हैं। बड़े पैमाने पर जैसी समस्या आज विश्ववादियों के सामने खड़ी है, छोटे पैमाने पर कुछ वैसी ही समस्या थी, जिसका समाधान भारतवर्ष ने निकाला था।

किन्तु, क्या कारण है कि जिस समस्या का समाधान भारत में सुगमता से प्राप्त हो गया, उस समस्या को सुलझाने में सारा संसार विफल हो रहा है ? इस प्रश्न का निदान हमें भारतीय संस्कृति के मूल में मिलेगा। वैदिक काल से लेकर महात्मा गाँधी के समय तक दृष्टि दौड़ा जाइये, भारतीय संस्कृति की जो एक विशेषता हमेशा उसके साथ मिलेगी, वह उसकी अहिंसाप्रियता है। वस्तुतः, संस्कृतियों के बीच सात्विक समन्वय का काम अहिंसा के बिना चल ही नहीं सकता। तलवार से हम मनुष्य को पराजित कर सकते हैं, उसे जीत नहीं सकते। मनुष्य को जीतना, असल में, उसके हृदय पर अधिकार पाना है और हृदय की राह समरभूमि की लाल कीच नहीं, सहिष्णुता का शीतल प्रदेश है, उदारता का उज्ज्वल क्षीर समुद्र है। अनन्तकाल से भारत अहिंसा की साधना में लीन रहा है। यह साधना कभी-कभी आत्मघातिनी भी सिद्ध हुई, किन्तु, भारत तब भी अपने परम धर्म से नहीं डिगा और भारतीय

अहिंसा का अर्थ केवल रक्तपात से ही बचना नहीं, वरन्, उन सभी बातों से बचना रहा है जिनसे किसी को भी क्लेश पहुँचता हो। रक्तपात यदि आत्मरक्षा के लिए किया जाय, किसी ऐसे युद्ध में किया जाय जो हम पर जबर्दस्ती थोपा जाता है, तो भारतीय संस्कृति उसे हिंसा नहीं मानती। ऐसे रक्तपात की उपेक्षा करने का उपदेश स्वयं भगवान् कृष्ण ने दिया है। किन्तु, समस्त भारतीय साहित्य में कहीं भी वह पाप क्षम्य नहीं बताया गया जो कटु वचन कहकर दूसरों को कष्ट पहुँचाने से होता है, जो वाणी में तर्क ही नहीं, आँखों में अंगारे भर कर शास्त्रार्थ करने से होता है; संक्षेप में, जो उस मनुष्य का पाप है, जिसका विश्वास है कि मैं जो कहता हूँ वह ठीक है, बाकी सब गलत है।

भारत की अहिंसा-साधना जैन-धर्म में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची और जैन धर्म में भी अहिंसा का उच्चतम शिखर अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ। कितने बड़े थे वे लोग जिन्हें यह दिखलायी पड़ा कि केवल रक्तपात करना, कटु वचन कहना अथवा दूसरों का अनिष्ट सोचना ही हिंसा नहीं है,प्रत्युत्, जब हम यह आग्रह कर बैठते हैं कि जो कुछ हम कह रहे हैं, वही सत्य है,तब भी हम हिंसा ही करते हैं। इसलिए, अनेकान्तवादियों ने यह धर्म निकाला कि सत्य के पहलू अनेक हैं। जिसे जो पहलू दिखायी देता है वह उस पहलू की बात कहता है और जो पहलू दूसरों को दिखाई देते हैं, उनकी बातें दूसरे लोग कहते हैं। इसलिए, यह कहना हिंसा है कि "केवल यही ठीक है।" सच्चा अहिंसक मनुष्य इतना ही कह सकता है कि "शायद, यह ठीक हो।" क्योंकि सत्य के सभी पक्ष सभी मनुष्यों को एक साथ दिखाई नहीं देते।

अनेकान्तवाद नाम, यद्यपि, जैनों का दिया हुआ है, किन्तु, जिस दृष्टिकोण की ओर यह सिद्धान्त इंगित करता है, वह दृष्टिकोण भारत में आरम्भ से ही विद्यमान था। यदि यह विद्यमान नहीं रहता तो भारत में इतनी विभिन्न जातियाँ एक मानवता के अंग बनकर एकता की छाया में शान्ति से नहीं जीतीं। तब, शायद, भारत का भी वही हाल होता जो यूरोप का रहा है। भारत और यूरोप (रूस को छोड़कर) आकार में बहुत कुछ समान हैं और दोनों ही महादेशों में भाषा एवं जातिगत भिन्नताएँ भी बहुत हैं; फिर भी, भारत में ये भिन्नताएँ एक समाधान पर आ गई हैं, मानों, अनेक नदियों ने एक ही समुद्र में अपना विलय खोज लिया हो। किन्तु, यूरोप के बित्ते भर-भर के देश परस्पर मारकाट और भयानक रक्तपात मचाते रहे हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? और तो और, राष्ट्रीयता का जो भाव भारत की एकता में दृढ़ता लाने का कारण हुआ, ठीक उसी के कारण यूरोप के देश परस्पर और भी दूर हो गये।

किन्तु, एक दूसरी दृष्टि से देखने पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं दीखती। अहिंसाप्रियता के कारण जो तत्व भारत में अमृत बरसाता है, हिंसाप्रियता के कारण यूरोप

में वही जहर बन गया है। वर्त्तमान विश्व की कठिनाई यह नहीं है कि उसके कई देशों ने अणु और उद्जन बम निकाल रखे हैं, बल्कि, यह कि ये देश जब आपस में विचार-विनिमय करने को बैठते हैं तब उनकी वाणी में तर्क हो या न हो, किन्तु, आँखों में गुस्से की मशाल अवश्य होती है। संसार अपनी जलती हुई देह को क्षीरोदक से शीतल करने को बेचैन है, किन्तु, तन को शीतल करने से पहले उसे मन को शीतल करना चाहिए और मन की शीतलता की राह दुराग्रह के त्याग में है, दूसरों को झुठलाने की क्रूरता से बचने में है। सत्य की राह पर आये बिना शान्ति नहीं मिलती। और सत्य की राह पर आये हुए आदमी की सबसे बड़ी पहचान यह है कि वह किसी भी अवस्था में दुराग्रह या हठ नहीं करता। गाँधीजी हठी प्रह्लाद को अपना आदर्श मानते थे, किन्तु, सच्ची बात यह है कि स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के वे मूर्तिमान अवतार थे। सन् १९४२ ई. में लुई फिशर ने उनसे कहा कि "अमेरिका इस लड़ाई में अपना धन-जन झोंके जा रहा है, किन्तु, आन्दोलन छेड़ कर आप युद्धोद्योग में बाधा पहुँचाना चाहते हैं। क्या ऐसी स्थिति में यह संभव है कि अमेरिका वाले आपके काम की प्रशंसा करें?" गाँधी जी चौंक कर बोले, "फिशर, तुम अपने प्रेसिडेण्ट से कहो कि वे मुझे आन्दोलन छेड़ने से रोक दें। मैं, मूलतः, समझौतावादी मनुष्य हूँ क्योंकि मुझे कभी भी ऐसा नहीं लगता कि मैं ठीक हूँ।" अपने मतों पर एक तरह का हलका सन्देह और विरोधियों के मतों पर भी विरल श्रद्धा, अनेकांतवादी की यह मामूली पहचान है।

सहिष्णुता, उदारता, सामासिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसा, ये एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। असल में, यह भारतवर्ष की सबसे बड़ी विलक्षणता का नाम है जिसके अधीन यह देश एक हुआ है और जिसे अपनाकर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवादी वह है जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवादी वह है जो दूसरों के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है जो अपने पर भी संदेह करने की निष्पक्षता रखता है। अनेकान्तवादी वह है जो समझौतों को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्षवर्धन अनेकान्तवादी थे, जिन्होंने एक धर्म में दीक्षित होते हुए भी सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्तवादी था, क्योंकि सत्य के सारे रूप उसे किसी एक धर्म में दिखाई नहीं दिये एवं सम्पूर्ण सत्य की खोज में वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहंस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे, क्योंकि हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की साधना की थी। और गाँधीजी का तो सारा जीवन ही अनेकान्तवाद का उन्मुक्त अध्याय था।

किन्तु, पूर्व इसके कि हम विश्व का नेतृत्व करने का मनसूबा बाँधें, आवश्यक यह है कि हम अपने आपको पहचान लें। संसार को एक करने के पहले भारत को एक रहना चाहिए। संसार को यह सिखाने से पहले कि शास्त्रार्थ में आँखें लाल कर लेना पाप है, हमें

अपने आप से यह पूछना चाहिए कि कहीं आँखें लाल करके बहस करने का रोग हमें भी तो नहीं पकड़ रहा है।

ऐसा हम इसलिए कहते हैं कि भारत की सामासिक संस्कृति का सारा दारोमदार अहिंसा पर है, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की कोमल भावना पर है। यदि अहिंसा नीचे दबी और असहिष्णुता एवं दुराग्रह का विस्फोट हुआ तो वे सारे ताने-बाने टूट जायेंगे जिन्हें इस देश में आने वाली बीसों जातियों ने हजारों वर्ष तक मिल कर बुना है।

कूपमण्डूकता अहंकार की वस्तु नहीं हो सकती। शोभा उदार बन कर जीने में है, न कि ऐसी कोई बात कहने या करने में जिससे सत्य लांछित होता हो अथवा दूसरोंको क्लेश पहुँचाता हो। सबसे अलग रहकर कूपमण्डूककी तरह जीने वाले समाजकी भी कोई संस्कृति होती होगी, किंतु, निस्संदेह, वह संस्कृति, स्वभाव से ही, अत्यन्त सीमित और संकीर्ण होगी। संस्कृति का स्वभाव रहा है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। जो जाति केवल देना ही जानती है, लेना कुछ भी नहीं, उसकी संस्कृति का एक दिन, निश्चय ही, महत्व घट जाता है। इसके विपरीत, जिस जाति के सांस्कृतिक दरवाजे बराबर खुले रहते हैं, उसके सरोवर का जल कभी नहीं सूखता। उसमें सदा ही स्वच्छ जल लहराता रहता है और नये-नये कमल के फूल खिलते रहते हैं। कूपमण्डूकता और दुनिया से रूठ कर अलग हो बैठने का भाव संस्कृति को ले डूबता है। संस्कृतियों का सर्वाधिक विकास पारस्परिक सम्पर्क से होता है। पहले एक भाषा में "शेली" और "कीट्स" पैदा होते हैं, तब दूसरी भाषाओं में रवीन्द्र और पन्त जन्म लेते हैं। पहले एक देश में बुद्ध पैदा होते हैं, तब दूसरे देश में ईसा-मसीह का जन्म होता है। अगर मुसलमान इस देश में नहीं आये होते तो सूफी कविता, उर्दू भाषा और मोगल-कलम की चित्रकारी यहाँ नहीं खिली होती। अगर यूरोप से भारत का सम्पर्क नहीं हुआ होता, तो विज्ञान का प्रचार यहाँ देर से होता और ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, थियोसाफी-समाज और रामकृष्ण तथा विवेकानन्द का जन्म होता या नहीं, यह संदिग्ध है।

विभिन्न जातियों, विभिन्न भाषा-भाषियों और विभिन्न मतावलंबियों के बीच रक्त-मिश्रण एवं सांस्कृतिक समन्वय के उदाहरण कुछ अन्य देशों (जैसे मैक्सिको और प्राचीन यूनान) में भी उपलब्ध हैं, किन्तु, वैसे नहीं जैसे भारत में। संसार में कुल मिला कर गोरे, गेहुएँ, काले और पीले, ये चार रंग के लोग हैं और इन चारों रंगों का भरपूर मिश्रण भारतीय जनता में हुआ है। भाषा की दृष्टि से देखें, तब भी, सभी प्रमुख भाषा-परिवारों की संततियाँ इस देश में एक साथ जी रही हैं। और धर्म की दृष्टि से तो सारा भारत, आरम्भ से ही, संसार के सभी प्रमुख धर्मों की सम्मिलित भूमि रहा है। तिरुवंकुर के भारतवासी इंगलैंड वालों से पहले क्रिस्तान हुए थे एवं मोपलों के बीच इस्लाम, शायद, तभी पहुँच गया था जब हजरत

मोहम्मद स्वर्गीय नहीं हुए थे। इसी प्रकार, जरथुस्त्र के अनुयायी भी दसवीं सदी से भारत में बसे हुए हैं। जब अरब के मुसलमानों ने ईरान पर अधिकार कर लिया और वहाँ की जनता में वे अपने धर्म का प्रचार करने लगे, तब पारसी ईरान से भाग कर भारत चले आये। जब रोमनों के अत्याचार से फिलस्तीन के यहूदी-मन्दिर टूटने लगे, तभी कुछ यहूदी लोग भी अपने धर्म को बचाने के लिए भारत भाग आये और तब से वे दक्षिण भारत में आनन्द के साथ रह रहे हैं। अतएव, ईसाइयत, इस्लाम, यहूदी और पारसी धर्मों का भारत पर उतना ही अधिकार है जितना हिन्दुत्व या बौद्ध धर्म का।

ऐसा लगता है, मानों, विश्व की एकता को सम्भव बनाने के लिए, प्रकृति ने भारत-भूमि में एकता का प्रयोग किया हो। यदि भारत की सामासिक संस्कृति सत्य है तो एक दिन विश्व-संस्कृति एवं विश्व-मानवता की कल्पना भी सत्य होगी। भारत ने मार्ग बता दिया है। वह सत्य और अहिंसा का मार्ग है।

अगले अध्यायों में हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि यह सामासिक संस्कृति किस प्रकार जन्मी और किस प्रक्रिया से बढ़ती आयी है।

——:o:——

प्रथम अध्याय

(भारतीय जनता की रचना और हिन्दू-संस्कृति का आविर्भाव)

भारतीय जनता की रचना

मनुष्य पहले-पहल कहाँ उत्पन्न हुआ, यह प्रश्न मनोरंजक तो है, लेकिन, इसका ठीक-ठीक उत्तर अबतक निश्चित नहीं किया जा सका है। बाइबिल को अपना धर्मग्रंथ माननेवाले लोगों का ख्याल है कि आदमी पहले-पहल सीरिया में जन्मा था। इसी तरह, पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, बर्मा, अफ्रीका और उत्तरी ध्रुव के पास के प्रांत, इन सारे भूभागों के बारे में समय-समय पर अटकल लगायी गयी है कि, हो न हो, आदमी इन्हीं में से किसी एक देश में सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ होगा। एक अन्दाजा यह भी है कि आदमी, चूंकि, प्रधानतः, लोमहीन प्राणी है, इसलिए, उसकी उत्पत्ति किसी गर्म देश में हुई होगी। इस विचार के लोग अफ्रीका, भारतवर्ष अथवा उससे भी दक्षिण-पूर्व के भागों को आदि मनुष्य का जन्मस्थान मानते हैं। एक अनुमान यह है कि आदमी दक्षिण भारत में जन्मा होगा। एक दूसरा अनुमान यह है कि भारत-समुद्र में पहले जो बड़ा स्थल-भाग था, आदमी वहीं जन्मा था। अफ्रीका के पक्ष में एक दलील यह दी जाती है कि वहाँ चिंपंजी और गोरिल्ला बन्दर बहुतायत से पाये जाते हैं। इसके सिवा, अफ्रीका में बहुत-सी हड्डियाँ भी पायी गयी हैं जिनके बारे में यह अनुमान है कि वे आदि मानवों की हड्डियाँ होंगी।

इतिहास-कांग्रेस के ग्वालियर वाले अधिवेशन में (दिसम्बर, १९५२ ई०) सभापति के पद से भाषण देते हुए डाक्टर राधाकुमुद मुखर्जी ने यह मत स्थिर किया था कि आदि मनुष्य पंजाब और सिवालिक की ऊँची भूमि पर विकसित हुआ होगा, इस बात के प्रमाण मिलते हैं। मुखर्जी महोदय का मत यह दीखता है कि मनुष्य भारत में ही उत्पन्न हुआ था और इसी देश में उसकी सभ्यता भी विकसित हुई। पंजाब में हिमालय के पास मनुष्य का आदि जन्म, फिर सिन्धु की तराई में कृषि-सभ्यता का विकास और सिन्धु के पठार में भारत की प्राचीनतम सभ्यता का अवशेष पाया जाना, ये सारी बातें आपस में एक-दूसरे को पुष्ट करनेवाली हैं और अजब नहीं कि अध्ययन और खोज करने पर मुखर्जी महोदय का अनुमान सत्य ही प्रमाणित हो।

इंग्लैंड के एक वैज्ञानिक, मिस्टर डारविन ने जब से यह सिद्ध कर दिखाया कि आदमी बन्दर से बढ़कर आदमी हुआ है, तब से, विकासवाद के सिद्धांत पर यह मानने की प्रथा चल पड़ी है कि मनुष्य के पूर्वज बन्दर की ही योनि से निकले थे। लेकिन, सभी पंडित अभी यह मानने को तैयार नहीं हैं कि आदमी, निश्चितरूप से बन्दर से ही विकसित हुआ है। फिर भी, जो लोग विकासवाद के सिद्धांत को पूर्णरूप से

मान चुके हैं, उनका ख्याल है कि एप, गिब्बन, ओरंगउत्तान और चिपंजी, बन्दरों की इन्हीं चार जातियों का विकास मनुष्य के रूप में हुआ है। और जिन पंडितों का ऐसा विश्वास है, वे घूम-फिर कर अफ्रीका को ही मनुष्य के जन्म का आदि स्थान मानना चाहते हैं। लेकिन, कुछ दूसरे पंडितों का विचार है कि आदमी जिस जीव से बढ़कर आदमी हुआ है, वह बन्दर तो नहीं था, हाँ, वह बन्दरों के समान ही कोई अन्य स्थलचारी जीव था। एक दूसरा अनुमान यह भी है कि आदमी शुरू से ही आदमी था और उसकी पैदाइश एक साथ अनेक देशों में हुई।

इस अनिश्चय के बीच अधिकांश पंडित यह मानते हैं कि भारत में जो भी लोग मौजूद हैं, उनके पूर्वज इस देश में अन्य देशों से आये थे और अन्य देशों से आकर ही उन्होंने आपस में मिश्रित होकर इस देश में उस जन-समूह की रचना की जिसे हम भारतीय जनता कहते हैं। और भारत की मिट्टी पर अनन्त काल से कितनी विभिन्न जातियों, कितने प्रकार के लोगों का समागम होता रहा है, यह किस्सा भी काफी मजेदार है। अगर ईसाइयों और मुसलमानों को छोड़ दें, तब भी इस देश में एक के बाद एक, कमसे-कम, ग्यारह जातियों के आगमन और समागम का प्रमाण मिलता है, जिन्होंने इस देश को ही अपना देश मान लिया और जिनका एक-एक सदस्य यहाँ की संस्कृति और समाज में भली-भाँति पच-खप कर आर्य अथवा हिन्दू हो गया। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़, आर्य, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण, मंगोल और मुस्लिम आक्रमण के पूर्व आने वाले तुर्क, इन सभी जातियों के लोग कई झुंडों में इस देश में आये और हिन्दू-समाज में दाखिल होकर सब के सब उसके अंग हो गये। असल में, हम जिसे हिन्दू-संस्कृति कहते हैं, वह किसी एक जाति की देन नहीं, बल्कि, इन सभी जातियों की संस्कृतियों के मिश्रण का परिणाम है।

आदमी की नस्ल पहचानने वाले शास्त्र

हजारों वर्षों से एक ही भू-भाग में, एक ही तरह की जलवायु तथा एक ही सामाजिक ढाँचे और एक ही आर्थिक पद्धति के भीतर जीते रहने के कारण भारतीय समाज के सभी लोगों के रूप-रंग, वेश-भूषा, रहन-सहन, भाव-विचार और जीवन-विषयक दृष्टिकोण में जो अद्भुत एकता आ गई है, उसे देखते हुए एक नस्ल के लोगों को दूसरी नस्ल के लोगों से अलग करने का काम अस्वाभाविक और जरा मुश्किल भी मालूम होता है। लेकिन, तब भी ऐसी कुछ कसौटियाँ मौजूद हैं जिनके आधार पर बिलगाव किया जा सकता है। दुनिया में जितनी भी जातियाँ बसती हैं, उनकी मूल-नस्लों की पहचान भाषा और शरीर के गठन को देखकर की जाती है और इस विषय का अध्ययन अब अलग-अलग शास्त्रों के रूप में विकसित हो गया है जिनके प्रयोग से मानव-जाति के बहुत पुराने इतिहास की रचना में बहुत सहायता मिली है। भाषा का अध्ययन करने वाले शास्त्र को भाषा-विज्ञान अथवा Phi-

lology कहते हैं। साहित्य से सम्बद्ध रहने के कारण, इस विषय के जानकार अब काफी लोग हो गये हैं। किन्तु, रूप-रंग और कद-ढाँचे की कसौटी पर भी मनुष्यजाति का अध्ययन एक दूसरे शास्त्र के द्वारा किया जाता है, जिसे मानुपमिति (Anthropometry) या जनविज्ञान (Anthropology) कहते हैं। भाषा-भेद को देखकर मनुष्य की नस्ल का पता लगाना अपेक्षाकृत कुछ सरल कार्य हो गया है; मगर, रंग-रूप और शरीर के ढाँचे को देखकर आदमी के मूल-खान्दान का पता लगाना उतना आसान नहीं है, क्योंकि जल-वायु के प्रभाव और विवाहादि के द्वारा रक्त के मिश्रण के कारण, इस क्षेत्र में बड़ी-बड़ी उलझनें पैदा हो जाती हैं; फिर भी, जनविज्ञान ने जो कसौटियाँ बनायी हैं उन पर आदमी की नस्ल की पहचान बहुत दूर तक सही-सही कर ली जाती है।

जनविज्ञान की पहली कसौटी रंग की है। जन-विज्ञानियों का एक साधारण विश्वास है कि गोरे रंग के लोग आर्य वंश के हैं और जिनका रंग पक्का काला है, वे आर्येतर हैं अथवा आर्यों और आर्येतर जातियों के बीच जो वैवाहिक मिश्रण हुआ है, उसका उन पर काफी प्रभाव है। खोपड़ी की लम्बाई-चौड़ाई देखकर भी नस्ल की पहचान की जाती है। इसी तरह, नाक की ऊँचाई, चौड़ाई,उसका खड़ा या चिपटा होना भी आदमी की नस्ल को इंगित करता है; फिर आदमी का कद या डील, उसके मुँह या जबड़े का आगे बढ़ा या न बढ़ा होना भी उसकी नस्ल की पहचान है।

जनविज्ञान ने संसार की सभी जातियों को, मुख्यतः, तीन नस्लों में बाँट रखा है। डाक्टर राधाकुमुद मुखर्जी का कहना है कि पहली नस्ल गोरे लोगों की है, जिन्हें हम कौके-सियन कहते हैं, दूसरी नस्ल के वे लोग हैं, जिनका रंग पीला होता है और जो मंगोल जाति के हैं (चीनी, तिब्बती आदि) तथा तीसरी नस्ल उन लोगों की है, जिनका रंग काला होता है और जो इथोपियन परिवार के हैं। कौकेसस रूस से दक्षिण, प्रायः एशिया-यूरोप के बीच का भूभाग है और इथोपिया अफ्रीका में है। यह विभाजन, मुख्यतः, रंगों के आधार पर किया गया है, क्योंकि रंग की दृष्टि से संसार में तीन प्रकार के लोग हैं—गोरे, काले और पीले; बाकी रंग इन्हीं रंगों में से किसी-न-किसी की कम या ज्यादा छाँह लिये हुए हैं और वे, अक्सर, दो रंगों के मिश्रण से अथवा जलवायु के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। भारतीय जनता में इन तीनों रंगों के प्रतिनिधि मौजूद हैं और रंगों की दृष्टि से भी भारतीय मानवता विश्वमानवता का अद्भुत प्रतीक मानी जा सकती है।

जनविज्ञान की कसौटी और भारतीय जनता

एक दूसरी दृष्टि से विचार करने पर भारतवर्ष में चार प्रकार के लोग मिलते हैं। एक तरह के वे लोग हैं जिनका कद छोटा, रंग काला, नाक चौड़ी और बाल घुँघराले होते हैं। इस जाति के लोग,अक्सर, जंगलों में बसते हैं। ये ही लोग उन आदिवासियों की संतान

हैं जो आर्यों और द्राविड़ों के आगमन के पूर्व इस देश में आकर बसे थे और जो, शायद, जंगली जीवन के आदी होने के कारण ही, अबतक भी शहरों से दूर जंगलों में ही रहने में सुख मानते हैं।

एक दूसरी तरह के लोग हैं जिनका कद छोटा, रंग काला, मस्तक लंबा, सिर के बाल घने और नाक खड़ी और चौड़ी होती है। रंग और कद में ये, प्रायः, आदिवासी लोगों से थोड़ी समानता रखते हैं, किन्तु, ये उनसे बिलकुल भिन्न हैं। विंध्याचल के नीचे, सारे दक्षिण भारत में इन्हीं लोगों की प्रधानता है। ये द्रविड़ जाति के लोग हैं जिनके पूर्वज आर्यों से भी पूर्व, इस देश में आये थे और जिन्होंने पहले-पहल भारत में नगर-सभ्यता की नींव डाली थी।

तीसरी जाति के लोगों का कद लंबा, वर्ण गेहुँआँ या गोरा, दाढ़ी-मूँछ घनी, मस्तक लंबा तथा नाक पतली और नुकीली होती है। ये आर्यजाति के लोग हैं। आरंभिक आर्यों के जिस रंग-रूप का वर्णन पुराने साहित्य में मिलता है, वह अब बहुत-कुछ बदल गया है। कारण, शायद, यह है कि भारत की जलवायु उष्ण है और कहा जाता है कि उष्णता से रंग काला पड़ जाता है; फिर द्राविड़ों और आदिवासियों के साथ उनका जो वैवाहिक मिश्रण हुआ है, उसके चलते भी आर्यों का पहले का रंग अब फीका पड़ गया है।

एक चौथे प्रकार के लोग बर्मा, आसाम, भूटान और नेपाल में तथा उत्तर प्रदेश, पंजाब, बंगाल और काश्मीर के उत्तरी किनारे पर पाये जाते हैं। इनका मस्तक चौड़ा, रंग काला-पीला, आकृति चिपटी तथा नाक चौड़ी और पसरी हुई होती है। इनके चेहरे पर दाढ़ी-मूँछ भी कम उगती है। ये मंगोल जाति के लोग हैं जो भारत में तिब्बत और चीन से उस समय आये जब आर्य यहाँ पुराने हो चुके थे और जब नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़ और आर्य जातियों की संस्कृतियों के मेल से भारत में आर्य या हिन्दू-सभ्यता की नींव भली-भाँति डाली जा चुकी थी।[1]

इस प्रकार, अत्यन्त प्राचीनकाल में आर्य, द्रविड़, आदिवासी और मंगोल, इन चार जातियों को लेकर भारतीय जनता की रचना हुई थी। हम जिन्हें आदिवासी कहते हैं, उनके बीच नीग्रो और औष्ट्रिक नामक उन दोनों जातियों के लोग शामिल हैं जो जातियाँ द्राविड़ों से पूर्व इस देश में आई थीं। नीग्रो और औष्ट्रिक जातियों के मिश्रण से बने हुए लोग मुंड

---

१. इन्डो-एशियन कलचर (एप्रिल, १९५४ ई०) में प्रकाशित अपने एक निबन्ध में डा. सुनीतिकुमार चटर्जी ने यह अनुमान लगाया है कि मंगोल जाति के लोग आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में बस चुके थे क्योंकि किरात नाम आर्यों के प्रारंभिक साहित्य में ही मिलने लगता है। सिन्धु-सभ्यता में भी किरातों के निशान हैं, यह अनुमान भी उन्होंने लगाया है।

या शबर भी कहे जाते हैं। इसी प्रकार, मंगोल जातिवालों का भी प्राचीन नाम किरात है।

भाषा की कसौटी और भारतीय जनता

भाषा की दृष्टि से देखने पर इस देश में "७६.४ फी सदी आर्यभाषी, २०.६ फी सदी द्रविड़-भाषी तथा ३ फी सदी शबर-किरात-भाषी हैं।" (जयचंद्र)। मंगोल जाति के लोगों की भाषा तिब्बती-चीनी परिवार की भाषा है, यद्यपि, उस पर आर्य-भाषाओं का भी बहुत प्रभाव है। द्रविड़-परिवार की भाषाएँ तमिल, मलयालम्, कन्नड़ी और तेलुगु हैं। इन भाषा-भाषियों का क्षेत्र सिमटकर दक्षिण चला गया है। इन भाषाओं के अनेक शब्द और प्रयोग आर्य-भाषाओं में आ गये हैं और संस्कृत के भी बहुत-से शब्द द्रविड़ भाषाओं में मिल गये हैं, लेकिन, तब भी दक्षिण भारत की ये चार भाषाएँ दक्षिण में ही प्रचलित हैं। दक्षिण भारत से बाहर, दो-एक जगहों पर ही इनके निशान मिलते हैं, जो इस बात के यादगार हैं कि द्रविड़ लोग कभी भारत-भर में फैले हुए थे। उदाहरणार्थ, बलूचिस्तान की ब्राहुई भाषा द्रविड़ भाषा है और बिहार के आदिवासियों की ओराँव जाति जो भाषा बोलती है वह भी द्राविड़ी से मिलती-जुलती है। आदिवासियों के बीच, और भी कई बोलियाँ प्रचलित हैं, जो वर्गीकरण की दृष्टि से औष्ट्रिक अथवा आग्नेय भाषा-समूह में रखी जाती हैं।

हिन्दी, उर्दू, बँगला, मराठी, गुजराती, उड़िया, पंजाबी, असमी, गुरखाली आदि भाषाएँ आर्य-भाषाएँ हैं जो संस्कृत के प्रभाव से उत्पन्न हुई हैं। भारत से बाहर, आर्य-भाषाओं का संबंध हिन्द-जर्मन-भाषा-समूह से है। कहते हैं, हिन्द-जर्मन-भाषाएँ बोलने वाले लोग किसी समय एक ही जगह रहते थे और उसी कबीले की भाषा से संसार की समस्त आर्य भाषाएँ निकली हैं। "प्राचीन पारसी, यूनानी, लातीनी, केल्ट, त्यूतनी या जर्मन और स्लाव, आदि भाषाओं के साथ हमारी संस्कृत का बहुत निकट का संबंध था और वह नाता उनके आजकल के वंशजों के साथ भी चला आता है। लातीनी प्राचीन इटली की भाषा थी और अब इटली, फ्रान्स और स्पेन में उसकी वंशज भाषाएँ मौजूद हैं। प्राचीन केल्ट की मुख्य वंशज आजकल की गैलिक अर्थात् आयरलैंड की भाषा है। जर्मन, ओलन्देज (डच), अंग्रेजी, डेन, स्वीडिश, आदि भाषाएँ जर्मन या त्यूतनी परिवार की हैं। आधुनिक रूस तथा पूर्वी यूरोप की भाषाएँ स्लाव परिवार की हैं। इन सब भाषाओं का परिवार आर्यवंश कहलाता है।" (जयचंद्र)। हिन्द-जर्मन-परिवार की भाषाओं में जो समानता है, उसी से यह अनुमान किया गया है कि, प्रायः, समस्त यूरोप के लोग उसी परिवार से निकले हैं, जिस परिवार के भारतवासी आर्य थे और भारतीय आर्यों का ऋग्वेद केवल भारतीय आर्यों की ही नहीं, बल्कि, विश्वभर के आर्यों की सबसे प्राचीन पुस्तक है। १९ वीं सदी में जब इस सत्य का प्रचार हुआ, तब विश्वभर के अनेक विद्वान् संस्कृत का अध्ययन करने लगे और इसी अध्ययन के परिणामस्वरूप आर्यवंश के विस्तृत इतिहास की रचना की जाने लगी। संस्कृत को सभी

आर्यों की मूल भाषा सिद्ध करते हुए मैक्समूलर ने लिखा था कि संसार-भर की आर्यभाषाओं में जितने भी शब्द हैं, वे संस्कृत की सिर्फ पाँच सौ धातुओं से निकले हैं।

विभिन्न भाषाओं के आधार पर भारत में जातियों की जो नस्लें पहचानी गई हैं, उनका उल्लेख करते हुए सुप्रसिद्ध भाषातत्त्वज्ञ डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है कि भारतीय जनता की रचना जिन लोगों को लेकर हुई है, वे, मुख्यतः, तीन भाषाओं में विभक्त किये जा सकते हैं, अर्थात्, औष्ट्रिक अथवा आग्नेय, द्राविड़ी और हिन्द-यूरोपीय (हिन्द-जर्मन)। नीग्रो से लेकर आर्य तक जो भी लोग इस देश में आये, उनकी भाषाएँ इन भाषाओं के भीतर समाई हुई हैं। असल में, भारतीय जनता की रचना आर्यों के आगमन के बाद ही पूरी हो गई और जिसे हम आर्य या हिन्दू-सभ्यता कहते हैं, उसकी नींव भी तभी बाँध दी गई। आर्यों ने भारत में जातियों और संस्कृतियों का जो समन्वय किया, उसीसे हमारे हिन्दू-समाज और हिन्दू-संस्कृति का निर्माण हुआ। बाद को, मंगोल, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण और तुर्क, जो भी आये, उन्हें इस समन्वय में दस्तंदाजी करने की हिम्मत नहीं हुई और वे समर्पण के भाव से इस समन्वय के सामने सिर झुकाते और उसमें विलीन होते चले गये। इस स्थिति को देखते हुए श्री जयचंद्र विद्यालंकार ने एक सूक्ति कही है कि "भारतवर्ष की जनता, मुख्यतः, आर्य और द्राविड़ नस्लों की बनी हुई है और उसमें थोड़ी-सी छौंक शबर और किरात (मुंड और तिब्बतबर्मी) की है।" सच तो यह है कि रक्त, भाषा और संस्कृति, सभी दृष्टियों से भारत की जनता अनेक मिश्रणों से युक्त है।

समन्वय अर्थात् विविधताओं के भीतर से एकता को जन्म देने का भाव भारत का स्वभाव रहा है। राष्ट्रीयता की भावना ने यूरोप को खंड-खंड कर दिया, किन्तु, भारत में वही भावना विभिन्न प्रान्तों को परस्पर समीप लाने का कारण हुई। आज के समान, प्राचीन काल में भी भारत में विभिन्न जातियाँ विद्यमान थीं, जिनकी अलग-अलग भाषाएँ थीं, अलग-अलग संस्कृतियाँ और धर्म थे, अलग-अलग रस्म-रिवाज और अलग-अलग सोचने के ढंग थे। किन्तु, इन सारी विभिन्नताओं को भारत ने एक ही खरल में घोंट दिया और एक ऐसा रस तैयार कर दिया जिसमें सभी ओषधियों का स्वाद तो है, किन्तु, वह सबसे भिन्न भी है। समन्वय की यह प्रक्रिया इतनी सम्पन्न रही कि जातिगत गणना (Race Theory) के लिए यहाँ कोई अवकाश नहीं रह गया। संभव है, आरंभ में आर्य एक जाति का नाम समझा जाता रहा हो, किन्तु, कुछ ही दिनों बाद, आर्य किसी जाति का नाम न होकर आचरण और स्वभाव की श्रेष्ठता का पर्याय बन गया। आर्यों की भाषा उत्तर भारतभर की भाषा हो गई एवं दक्षिण में भी उसका आदरणीय स्थान बन गया। तब से, आर्य हों या द्रविड़, सभी हिन्दुओं के धर्म और संस्कृति की भाषा संस्कृत रही है और इसी के माध्यम से उत्तर और दक्षिण के महान् चिंतकों ने अपने ऊँचे से ऊँचे विचारों को व्यक्त किया है।

पहला अध्याय

नीग्रो जाति-विषयक अनुमान

अटकल और सबूत से जो बात अभी तक सामने लायी जा सकी है, उसके आधार पर, साधारणतः, यह समझा जाता है कि भारत में पहला आगमन नीग्रो जाति का था। यह जाति भारत में अरब-ईरान के किनारे-किनारे चल कर पश्चिम से और, संभवतः, अफ्रीका से आयी थी। इसकी एक शाखा भारत से निकलकर आस्ट्रेलिया भी गयी जहाँ उसके वंशज अबतक मौजूद हैं। भारत से आस्ट्रेलिया जाते हुए रास्ते में इण्डोनेशिया, पोलीनेशिया और मलेनेशिया में भी इस जाति की टुकड़ियाँ रह गयीं। मलाया, फिलिपाइन, न्यूगिनी और अंडमन में भी जो नीग्रो हैं, वे भारत से ही गये हुए हैं। लेकिन, भारत में नीग्रो लगभग खत्म हो चुके हैं। अनुमान यह है कि या तो वे अपने पीछे आने वाले आग्नेय लोगों के द्वारा मार डाले गये अथवा उनमें मिलकर एक हो गये और उनकी अपनी अलग सत्ता नहीं रह गयी। अब इनके थोड़े-से निशान दक्षिण भारत की आदिम जातियों में अथवा आसाम की नागा जाति में बचे हुए हैं।

इतिहासकार इस जाति के लोगों को प्राचीन प्रस्तर-कालीन मनुष्यों में गिनते हैं। शायद, नीग्रो जाति के लोग खाद्य-सामग्रियों का संचय करते थे, उन्हें उपजाते नहीं थे। उनकी भाषा का भी नमूना अब सिर्फ अंडमन में ही शेष है। बाकी जगहों पर वे अपने पड़ोसियों की ही भाषाएँ, कुछ बिगड़े रूपों में बोलते हैं।

नीग्रो जाति के बाद, आग्नेय, आग्नेय के बाद, द्रविड़ और द्रविड़ के बाद आर्य जाति के आने के बाद, इस देश में सांस्कृतिक समन्वय का काम शुरू होता है। किंतु, नीग्रो और आर्य, इन दो जातियों के बीच समय की काफी दूरी पड़ती है। इसलिए, आर्यों ने हमें जो सभ्यता दी, उस पर नीग्रो सभ्यता का कहाँ, क्या प्रभाव है, यह आसानी से जाना नहीं जा सकता। फिर भी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का अनुमान है कि बादुड़ शब्द (जिसका प्रयोग बंगाल और बिहार में एक प्रकार के चमगादड़ के अर्थ में होता है) नीग्रो भंडार का होगा। नीग्रो जाति असभ्य होती हुई भी बड़ी साहसी रही होगी, अन्यथा, नावों के सहारे वह भारत-समुद्र की सैर करने की हिम्मत नहीं करती।

औष्ट्रिक या आग्नेय जाति का आगमन

सुनीति बाबू का ख्याल है कि हिन्दुस्तान की जनसंख्या का एक प्रमुख भाग औष्ट्रिक जाति की देन है। इनका औष्ट्रिक या आग्नेय नाम इसलिए पड़ा कि ये लोग भारत और यूरोप के अग्निकोण में पाये जाते हैं। इस वंश के लोग मादागास्कर और विन्ध्यमेखला से लेकर प्रशान्त महासागर के ईस्टर द्वीप तक फैले हुए हैं। इनका भारत में आगमन नीग्रो जाति के बाद हुआ और इस जाति के लोग पूरब और पश्चिम की ओर से भी भारत में होकर

कई बार गुजरे थे। इस क्रम में, नीग्रो और मंगोल जातियों के साथ इनका वैवाहिक मिश्रण हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। भारतवर्ष के कोल और मुंडा जाति के लोग, आसाम, बर्मा और हिन्दचीन की मौन-खमेर जाति, निकोबर द्वीप के निकोबरी तथा इंडोनेशिया, मलेनेशिया और पोलीनेशिया के बहुत-से काले लोग इसी औष्ट्रिक वंश की मिश्रित संतान हैं। असल में, काश्मीर से लेकर प्रशान्त महासागर के पूर्वी द्वीप-समूह तक जो भी पक्के काले और वनवासी लोग हैं, उन्हें औष्ट्रिक जाति का ही उत्तराधिकारी समझना चाहिए।

आग्नेय जाति कोई स्वतंत्र जाति थी अथवा वह द्राविड़ों की ही किसी शाखा से निकली थी, इस विषय में भी कभी-कभी प्रश्न उठाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, अन्नमलाय यूनिवर्सिटी के श्री रत्नस्वामी ने अपनी पुस्तक 'इंडिया फ्राम द डान' में यह विचार व्यक्त किया है कि आग्नेय लोग (वनवासी जातियाँ) भी द्राविड़ों की ही संतान हैं। इनके पूर्वज कभी इस देश के शासक थे जिसका प्रमाण यह है कि मारवाड़ के राजा राज्याभिषेक के समय किसी भील के अँगूठे से रक्त लेकर उसका तिलक लगाते हैं। कुछ ऐसी ही प्रथा जयपुर में भी प्रचलित है और क्योंझर (उड़िस्सा) के राजा का राजतिलक भी भेंरिया जाति के लोग संपन्न करते हैं। दक्षिण में, तंजोर जिले के तिरुवरुर मन्दिर के शैव-उत्सव के समय जिस हाथी पर शिवजी की मूर्त्ति निकलती है उसी पर चवढरिया (चँवर डुलाने वाला) के रूप में परिया जाति के लोग चढ़ाये जाते हैं।

अब तो केवल कोल और मुंडा जाति की ही भाषा ऐसी भारतीय भाषा है जो औष्ट्रिक परिवार की समझी जाती है तथा असम और बर्मा की भी केवल मौन-खमेर भाषा ही औष्ट्रिक है। किन्तु, जब आर्य यहाँ आये थे, तब औष्ट्रिक भाषा इस देश में खूब प्रचलित थी और उस भाषा के अनेक शब्दों ने आर्य-भाषा में प्रवेश पा लिया। विशेषतः, वन और वन-जन्तु (Flora and Fauna) संबंधी आर्य-भाषाओं में ऐसे कितने ही शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति औष्ट्रिक धातुओं से बतलायी जाती है।

केवल वनवासी ही नहीं, गाँवों के पास रहने वाली अनेक निम्न जातियों के लोगों का जो अत्यन्त विशाल समुदाय है (जैसे डोम, भुइयाँ, मुसहर आदि) वह आग्नेय भंडार से आया है। उनमें से कुछ ही हैं जिन्होंने अपनी भाषा को कायम रखा है। बाकी लोगों ने अपने मालिकों की भाषा सीख ली है अथवा कंजरों के समान कुछ घुमक्कड़ जातियाँ भी हैं जिनकी भाषा में अनेक भाषाओं का मिश्रित रूप है।

जब आर्य आये, आग्नेय लोग सिन्धु की तराई में भी विद्यमान थे। आर्यों ने उन्हीं का नाम निषाद रखा तथा उनके काले रंग और चिपटी नाक की हँसी भी उड़ायी। ईसा से लगभग १५०० वर्ष पूर्व ही, उत्तर भारत के बहुत-से आग्नेय लोग आर्य हो गये, यद्यपि बौद्धकाल में भी चांडालों की बस्ती और उनकी स्वतंत्र भाषा के जीवित होने के प्रमाण

मिलते हैं। इन चार हजार वर्षों के मिश्रण और समन्वय के बाद भी, हमारे देश में जो भी वनवासी जातियाँ हैं, सम्भावना यही है कि वे आग्नेय खान्दान की हैं और उनकी भाषाओं का भी कुछ-न-कुछ सम्बन्ध आग्नेय भाषा-समूह से है।

द्रविड़ जाति का आगमन

जैसे पंडितों में इस बात को लेकर मतभेद है कि आर्य, मूलतः, भारतवासी थे अथवा भारत में वे बाहर से आये, वैसे ही,यह बात भी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि द्रविड़ इस देश के मूल-निवासी हैं अथवा इस देश में वे किसी और देश से आये हैं। आर्य और द्रविड़, दोनों प्रकार के लोग, इस देश में अनन्तकाल से रहते आये हैं और हमारे प्राचीनतम साहित्य में भी इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ये दोनों जातियाँ बाहर से आयीं अथवा इन दोनों के बीच कभी लड़ाइयाँ भी हुई थीं। आर्यों का संघर्ष दास और असुर जाति के लोगों से हुआ था,[1] इसका थोड़ा-बहुत प्रमाण है, किन्तु, ये दास और असुर कौन थे, इस विषय में हमारे पास सुनिश्चित प्रमाण नहीं हैं। जाति या रेस (Race) के सिद्धान्त हमारे देश में अंगरेजों के आगमन के बाद प्रचलित हुए, अन्यथा इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि आर्य और द्रविड़ जाति के लोग एक-दूसरे को विजातीय समझते थे। मैथिल, गौड़, कान्यकुब्ज, आदि की तरह, द्रविड़ शब्द भी यहाँ भौगोलिक अर्थ देनेवाला था। अतएव, जाति के अर्थ में आर्य और द्रविड़ शब्दों के चलन को बिल्कुल अर्वाचीन मानना चाहिए।

पीछे की ओर दृष्टि डाल कर इतिहास की अतल गहराइयों में जाने पर भी हम यही देखते हैं कि आर्य और द्रविड़ नाम से अभिहित किये जानेवाले भारतवासियों का धर्म एक है, संस्कार एक है, भाव और विचार एक हैं तथा जीवन के विषय में उनका दृष्टिकोण भी एक ही है। शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन और बौद्ध, ये आर्य भी थ और द्रविड़ भी। इसी प्रकार, साहित्य-रचना में भी,शैली और भाव में,इन दोनों प्रकार के लोगों में पूरी समानता मिलती है। इसके सिवा, उत्तर और दक्षिण में जो प्राचीन मन्दिर और मूर्त्तियाँ, बाजे और संगीत मिलते हैं, उनमें स्थानीय विशेषताएँ तो हैं, किन्तु, जाति या संस्कार-गत भेद बिलकुल नहीं हैं। भेद है तो सिर्फ यह कि द्राविड़ों की अपेक्षा आर्यों में गौरवर्ण वाले लोग अधिक हैं तथा जो लोग द्रविड़ भाषाएँ बोलते हैं, वे दक्षिण में रहते हैं। बिहार में ओरांव जाति की भाषा और बलूचिस्तान में ब्रहुई जाति की बोली, उत्तर भारत में ये दो ही बोलियाँ हैं जिनका द्रविड़ भाषा-समूह से साम्य है। यदि इस बात पर विचार करें कि आर्यों के साहित्य में धर्म

---

१. आरंभ में दास शब्द का अर्थ निन्दित नहीं था। असुर शब्द भी पहले शक्तिशाली के अर्थ में प्रयुक्त होता था। अवेस्ता में असुर देवता को कहते थे जिससे पारसियों का अहुर (ईश्वर) शब्द निकला है।

का जो रूप वर्णित है, संस्कृति की जो व्याख्या विद्यमान है, उसका वास्तविक प्रमाण कहाँ है, तब तो उसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अब हमें द्राविड़ों में ही मिलेंगे और इस अनुमान के लिए बहुत बड़ा आधार निकल आयेगा कि यदि द्राविड़ भारत के आर्यपूर्व निवासी हैं, तो हिन्दू-संस्कृति भी अधिकांश में आर्यों से पूर्व की वस्तु है। हिन्दुत्व की दीक्षा द्राविड़ों को आर्यों से मिली, किन्तु, गुरु तो उसे पूरी पवित्रता से जुगा नहीं सका, हाँ, शिष्य उसे भली भाँति जुगाए हुए है, यह अनुमान उतना प्रबल नहीं होगा जितना यह अनुमान कि द्राविड़ों के बीच प्रचलित धर्म को आर्यों ने अपने भीतर पचा लिया तथा जनता में प्रचलित धर्म तो द्रविड़ मूल का रहा, हाँ, आर्यों ने उसके दार्शनिक पक्ष का विकास अवश्य किया है। और यदि मध्यकालीन हिन्दुत्व को लें तब तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि इस हिन्दुत्व का दर्शन-पक्ष भी आर्यों से अधिक द्राविड़ों का निर्माण है।

आर्यों और द्राविड़ों का सांस्कृतिक मिश्रण इतनी सघनता से हुआ कि उनके विलगाव का प्रयत्न कठिन है। मुख्य कठिनाई यह दीखती है कि जब से हमें लिखित प्रमाण मिलने लगते हैं, इन दोनों जातियों के पारस्परिक मिश्रण की प्रक्रिया उसके पहले ही सम्पन्न हो चुकती है। अतएव, आर्य कहाँ से आये और द्राविड़ कौन थे, इस सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाता है, उसे, मुख्यतः, अनुमान ही अनुमान मानना चाहिए।

महंजोदरो (सिंध), हरप्पा (पंजाब) तथा नाल (बलूचिस्तान) की खुदाइयों में जिस सभ्यता के अवशेष मिले हैं, उनके सम्बन्ध में अभी तक भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सभ्यता आर्यों की थी अथवा द्राविड़ों की या दास और असुरों की। केवल अनुमान है कि यह सभ्यता आर्यपूर्व भारतीय सभ्यता रही होगी। इस अनुमान पर यह दूसरा अनुमान लगाया जाता है कि तब यह सभ्यता द्राविड़ों की ही रही होगी और उन्हीं के बीच दास और असुर जातियाँ रही होंगी जिनसे आर्यों की मुठभेड़ हुई थी। किन्तु, सिन्धु-सभ्यता तथा सुमेर-सभ्यता में समानता पायी गयी है। इसलिए, विद्वानों का तीसरा अनुमान यह है कि, हो न हो, द्राविड़ों के पूर्वज इस देश में पश्चिमी एशिया से आये थे, जहाँ सुमेर-सभ्यता के प्रमाण मिलते हैं। इसी अनुमान की पुष्टि में यह कहा जाता है कि जब द्राविड़ बलूचिस्तान के दर्रों से भारत में प्रवेश करने लगे, तब उनकी एक टोली बलूचिस्तान में छूट गयी। ब्रहुई बोली और ब्रहुई जाति द्राविड़ों की इसी टोली की यादगार है। किन्तु, कुछ दूसरे विद्वान यह भी कहते हैं कि संभव है कि सुमेर-सभ्यता वालों के पूर्वज भारत से ही पश्चिम की ओर गये हों और उन्हीं की टोली बलूचिस्तान में छूट गयी हो। अब कुछ अन्य विद्वानों ने, जिनमें डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी और केनेडी प्रमुख हैं, यह अनुमान चलाया है कि द्राविड़ों के पूर्वज, असल में, भूमध्यसागर के किनारे रहते थे और वहीं से ये लोग भारतवर्ष में आये। ईसा से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व ये लोग भूमध्य सागर से

भारत की ओर चले। रास्ते में इनकी शाखाएँ ईराक और ईरान में भी रह गयीं, जिन्होंने कदाचित्, सुमेर-सभ्यता की नींव डाली। जो लोग भारत पहुँचे, उन्होंने महंजोदरो आदि के पास सिन्धु-सभ्यता की स्थापना की। यही कारण है कि सुमेर एवं सिन्धु सभ्यताओं में इतना साम्य दीखता है।

किन्तु,यह सोच कर आश्चर्य होता है कि यदि द्राविड़ पंजाब तक फैले हुए थे तो आज द्रविड़ भाषाएँ सिमटकर विंध्य के दक्षिण में ही क्यों सीमित हैं ? क्या आर्यों और द्राविड़ों के बीच इतनी भयंकर लड़ाइयाँ हुईं कि एक-एक करके सभी द्राविड़ विंध्य के दक्षिण चले गये और उत्तर में अपनी भाषाओं का उन्होंने कहीं कोई निशान भी नहीं छोड़ा ? इस विस्मय से एक अन्य अनुमान निकला है कि भारत में आर्य पहले आये और द्राविड़ बाद को। जब आर्य-धर्म भली भाँति स्थापित हो चुका,तब द्राविड़ लोग समुद्र की राह से आये तथा पश्चिम-दक्षिण में बस गये। उन्होंने विंध्य के उत्तर जाने की कभी चेष्टा ही नहीं की। हाँ, भारत के कटि-प्रदेश पर जो मराठे लोग हैं,उनके यहाँ विवाहादि की रस्मों में थोड़ा द्रविड़ प्रभाव जरूर है। बाकी सारी की सारी द्रविड़-संस्कृति दक्षिण में ही सीमित है। इन लोगों के मतानुसार, द्राविड़ों का भारत में आगमन ई. पू. ५०० में हुआ होगा।[१]

यह नया अनुमान अभी प्रयोग में है, किन्तु, इसके सत्य माने जाने की कोई आशा नहीं है, क्योंकि यदि द्राविड़ों का आगमन आर्यों से पूर्व नहीं माना जाय तो उत्तर और दक्षिण में प्रचलित ऐतिहासिक परंपराओं में कोई मेल ही नहीं बैठेगा।

अब सभी इतिहासकार मानने लगे हैं कि द्रविड़-जाति प्राचीन विश्व की अत्यन्त सुसभ्य जाति थी और भारत में भी सभ्यता का वास्तविक आरंभ इसी जाति ने किया था। जब द्रविड़ इस देश में आये, यहाँ आग्नेय जातिवालों की प्रधानता थी और कुछ नीग्रो जाति के लोग भी वर्तमान थे। अत:,अनुमान किया जाता है कि नीग्रो और आग्नेय लोगों की बहुत-सी बातें पहले द्रविड़ सभ्यता में आयीं और पीछे द्रविड़-आर्य मिलन होने पर आर्य-सभ्यता में भी। द्राविड़ों ने इस देश में कृषि का विकास किया, सिंचाई के लिए नदियों को बाँधने की प्रथा चलायी, बड़े-बड़े मन्दिरों और भवनों का निर्माण किया तथा नगर-सभ्यता की नींव डाली। वे समाज की मातृ-मूलक व्यवस्था के भी प्रवर्त्तक हुए और शैव तथा शाक्त धर्म तथा भक्तिवाद का भी उन्हीं ने विकास किया।

आर्यों का आगमन

आर्यों की जाति बड़ी ही पराक्रमी थी। सभ्यता में आर्य, शायद द्राविड़ों से नीचे थे; क्योंकि किसी खास जगह पर जम कर कुछ सदियों तक रहने का उन्हें सुयोग नहीं मिला था।

---

१. दे० इंडो-एशियन कलचर (जनवरी, १९५४ ई०) में प्रकाशित क्रिस्ताफ वौन फुएरर हैमेन्दोर्क का निबन्ध।

किन्तु, उनमें मेधा, भावुकता और वीरता कूट-कूट कर भरी थी। वे भारत में आकर द्राविड़ों और औष्ट्रिकों पर विजयी हुए और विजय पाने के बाद उन्होंने समाज का एक ऐसा ढाँचा खड़ा किया जिसमें सभी जातियाँ आसानी से अपनी-अपनी जगह बनाकर बैठ गयीं और आर्यों के नेतृत्व में सांस्कृतिक समन्वय का वह अद्‌भुत कार्य आरंभ हुआ, जिस पर हम आज भी आश्चर्य करते हैं और जिसका परिणाम हमारा यह पुरातन भारतीय अथवा हिन्दू-समाज है।

आर्यों का आदि स्थान

पश्चिम के, प्रायः, सभी बड़े विद्वानों का कहना है कि आर्य भारत में बाहर से आय थे और उनका आदि निवास-स्थान कहीं मध्य एशिया में या उसके पास था। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का विचार था कि आर्य पहले उत्तरी ध्रुव के पास रहते थे। डाक्टर अविनाशचंद्र दत्त आर्यों का आदि निवास-स्थान काश्मीर और पंजाब बतलाते हैं। डाक्टर गंगानाथ झा का कहना है कि आर्यों का मूल निवास-स्थान ब्रह्मर्षि देश था। श्री डी० एस० त्रिवेद कहते हैं कि उनका आदि निवास देविका नदी के किनारे मुलतान में पड़ता था और श्री एल० डी० कल्ला हिमालय की उपत्यका और काश्मीर को आर्यों का आदि निवास-स्थान बतलाते हैं। श्री संपूर्णानन्द जी वर्मा अविनाशचंद्र दत्त की खोजों को सही मानते हैं और उनका भी विचार है कि आर्य काश्मीर और पंजाब में ही रहते थे। डाक्टर राजबली पाण्डेय आर्यों के आदि निवास-स्थान को मध्य देश कहते हैं, जिससे उनका तात्पर्य उत्तर प्रदेश और बिहार से है।

आर्यों का मूलस्थान भारत से बाहर था, यह अनुमान, इसलिए प्रचलित हुआ कि उत्तरी भारत से लेकर पश्चिम में आयर्लेण्ड तक बोली जाने वाली ,प्रायः, सभी प्रमुख भाषाओं के शब्दों से संस्कृत शब्दों की समानता पायी गयी है। इससे यह समझा जाने लगा कि अवश्य ही आयर्लेण्ड से लेकर भारत तक के आर्य लोग एक ही वंश से निकले हैं और बहुत प्राचीन काल में वे किसी एक ही स्थान में रहते थे। किन्तु, जब उन्हें जीवन-यापन में कठिनाई होने लगी तब वे उस मूल स्थान को छोड़ कर अन्यत्र चल दिये। उनकी एक शाखा यूरोप की ओर गयी और दूसरी भारत की ओर आयी। भारत की ओर आने वाली शाखा की ही एक टुकड़ी ईरान में रह गयी। यही कारण है कि भाषा और स्वभाव की एकता ईरानी और भारतीय आर्यों में अब भी अधिक है, क्योंकि इनके पूर्वज यूरोप की ओर जाने वाली शाखा से बिछुड़ने के बाद भी काफी दिनों तक एक साथ रहे थे। नीचे के थोड़े-से उदाहरणों से यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि संस्कृत शब्दों की जो समानता फारसी के साथ है, वही समानता यूरोपीय भाषाओं के शब्दों के साथ नहीं है।

संस्कृत	लैटिन	अंगरेजी	फारसी
पितृ (पितर)	पैटर	फादर	पिदर
मातृ (मातर)	मैटर	मदर	मादर
भ्रातृ (भ्रातर)	फ्रैटर	ब्रदर	बिरादर
मेघ	—	—	मेग़
शृगाल		—	शग़ाल

जो लोग यह मानते हैं कि आर्य भारत के ही निवासी थे, वे उपर्युक्त स्थितियों से संगति मिलाने को बहुधा यह कह बैठते हैं कि ईरान के पारसी और यूरोप के आर्यों के पूर्वज, ये सभी लोग भारत से ही पश्चिम की ओर गये और अपनी भाषा अपने साथ लेते गये। किन्तु, इस अनुमान को मानने में यह बाधा है कि भारत धनधान्य से पूरित देश था। जो लोग बाहर से यहाँ आये, वे यहीं बस गये ; देश छोड़कर बाहर जा बसने का उन्होंने नाम नहीं लिया। फिर आर्य ही इतनी बड़ी संख्या में देश छोड़कर बाहर क्यों चले गये ?

आर्य भारत में बाहर से नहीं आये, यह अटकल इसलिए लगायी जाती है कि आर्यों के प्राचीन साहित्य, वेद में किसी ऐसे स्थान या किसी ऐसी वस्तु का उल्लेख नहीं मिलता, जिसका संबंध सिर्फ मध्य एशिया अथवा किसी ऐसी जगह से हो जो भारत से बाहर है। विदेश से आने वाली जाति अपने देश की याद सदियों तक किया करती है। लेकिन, आर्य हमेशा सप्तसिन्धु की याद करते हैं, जिससे यह मालूम होता है कि वे सप्तसिन्धु को ही अपना देश मानते थे। लेकिन, इस अनुमान को मान लेने में कठिनाई यह है कि अगर आर्य यहीं के निवासी थे, तो उनके साहित्य से यह बात क्यों जाहिर होती है कि सप्तसिन्धु के किनारे उन्हें शत्रुओं से सामना करना पड़ा था, दस्युओं और निषादों से उन्हें लड़ाई लड़नी पड़ी थी और देश में आगे बढ़ने में उन्हें काफी मशक्कत हुई थी ? फिर इस बात का क्या जवाब है कि फारस और यूरोप की भाषाओं में संस्कृत शब्दों की भरमार है ? फारसी की बनिस्बत यूरोप की आर्य-भाषाओं में संस्कृत के शब्द कुछ कम जरूर हैं, लेकिन,उसका कारण यह है कि आर्यों की यूरोप जाने वाली शाखा मूल-खान्दान से पहले अलग हुई और ईरान वाली शाखा बाद को। कुछ जीव-जन्तु-सम्बन्धी (फ्लोरा-फाउना) बातों से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि आर्य यहाँ बाहर से ही आये हैं। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद में सिंह का तो उल्लेख है, मगर बाघ का नहीं है, मृगहस्ती का तो जिक्र आया है, लेकिन, हाथी का नहीं आया है। हाथी और बाघ, ये भारत के खास जीव हैं जो मध्य एशिया में नहीं होते। इस पर से यह अटकल लगायी जाती है कि चूँकि वैदिक आर्य भारत के खास जानवरों से परिचित नहीं हैं, इसलिए उनका बाहर से आना ही ज्यादा स्वाभाविक मालूम होता है। ऋग्वेद की रचना पंजाब में हुई थी, यह, प्रायः, स्वीकृत मत हो गया है। यह भी ठीक है कि जो लोग आर्यों

को इसी देश के वासी मानते हैं, उनका भी विचार है कि वे कांश्मीर के आसपास रहते होंगे। लेकिन, काश्मीर तो खुद मध्य एशिया की दक्षिणी सीमा के समान है। सम्भव है, आर्य मध्य एशिया से ही भारत आते रहे हैं और उनका आना तब शुरू हुआ हो जब ऋग्वेद की रचना नहीं हुई थी। ऋग्वेद के रचना-काल तक आते-आते वे अपने मूल-निवास की बातें भूल गये और सप्तसिन्धु को ही अपना देश मानने लगे।

ऋग्वेद का रचना-काल

ऋग्वेद आर्यों का ही नहीं, समस्त विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसके काल-निर्णय का प्रश्न भी इतना विलक्षण है कि कोई तो इसे पचहत्तर हजार वर्ष पुराना मानता है और कोई ईसा से सिर्फ दो सौ वर्ष पूर्व की चीज। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान जैकोबी ने ऋग्वेद के बाद रचित कल्पसूत्रों का रचनाकाल ईसा से ४७०० वर्ष पूर्व और ऋग्वेद का रचनाकाल लगभग ६५०० साल पूर्व माना है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ब्राह्मण-ग्रन्थों का रचना-काल ईसा से ४५०० वर्ष पूर्व माना था। उनके मत से "सारे मंत्र एक साथ नहीं बने। ऋषियों और उनके वंशधरों ने, समय-समय पर, हजारों वर्षों में मंत्र बनाये। इस तरह, कुछ ऋचाएँ दस हजार वर्षों की हैं, कुछ साढ़े आठ हजार वर्षों की और कुछ सात-साढ़े-सात हजार वर्षों की। सभी प्राचीनतम ऋचाएँ ऋग्वेद की ही हैं।" (हिन्दी ऋग्वेद)। इस सम्बन्ध में, सबसे उत्साहयुक्त दृष्टि डा. अविनाशचन्द्र दत्त की है जो ऋग्वेद को पचास से पचहत्तर हजार वर्ष पुराना मानते हैं। पं. रामगोविन्द त्रिवेदी का मत है कि "ऋग्वेद में ऐसे अनेकानेक मंत्र हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद का निर्माणकाल १८ हजार वर्ष से लेकर ५० हजार वर्ष के बीच का है।" मैक्स मूलर के मतानुसार, ऋग्वेद ईसा से १२००-१००० वर्ष पूर्व बना था। इसके विपरीत, विण्टरनिज़ का मत है कि ऋग्वेद की रचना ईसा से २५०० वर्ष पूर्व हुई थी।

श्री जयचंद्र विद्यालंकार ने, प्रायः, विंटरनिज़ के मत को स्वीकार किया है। वेदों का एक नाम श्रुति भी है,जिससे यह अनुमान होता है कि वेदों की रचना मौखिक ही हुआ करती थी और मौखिक ही लोग उन्हें याद भी रखते थे। जब मंत्रों की संख्या बहुत हो गयी तब उन्हें संहिताओं में विभाजित करना आवश्यक हो गया। श्री जयचंद्रजी का विचार है कि वेदों को संहिताओं में लिख डालने की बात लोगों को तभी सूझी होगी जब लेखन-कला का आविष्कार हुआ होगा। भारत में लेखन-कला का प्रचलन ईसा से १८०० वर्ष पूर्व हुआ और संहिताएँ भी तभी से लिखी जाने लगीं। लेकिन, वेद जिन संहिताओं में हमें अभी मिलते हैं, उनका संपादन कृष्णद्वैपायन व्यास ने किया जो महाभारत-काल में जीवित थे। महाभारत का युद्ध ईसा से १४०० साल पूर्व हुआ था और उससे चार सौ साल पूर्व लेखन-कला का चलन हुआ। उससे भी सात सौ वर्ष पूर्व से वेदों की रचना होती आ रही थी। इस प्रकार,

हम यह कह सकते हैं कि ऋचाएँ ई. पू. २५०० से बनने लगीं और ई. पू. १८०० अर्थात् सात सौ वर्ष तक बनती रहीं। ई. पू. १८०० के आसपास लेखन-कला फैली और वेद संहिताओं में लिखे जाने लगे तथा वेद-व्यास-कृत संहिताओं का निर्माण ई. पू. १४०० में हुआ।

लेखन-कला का आदि प्रमाण भारत में सिंधु-घाटी की खुदाई में मिला है। किन्तु, महंजोदरो और हरप्पा की लिखावट अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। अनुमान है कि लेखन-कला का आरंभ भी भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व ही हो चुका था एवं महंजोदरो में जिस लिपि के निशान मिले हैं, उसीको देखकर आर्यों ने लिखना सीखा। कृष्णद्वैपायन व्यास से कोई दो सौ वर्ष पूर्व हिरण्य-नाभकौशल्य ने पहले-पहल सामवेद-संहिता लिखवाई थी, यह मत भी प्रचलित है।

आर्य इस देश में कई दलों में आये थे तथा एक दल और दूसरे दल के आने के बीच समय की काफी दूरी भी पड़ी थी। आर्यों का जो पहला दल भारत में आया, वह पूरब की ओर बढ़ता-बढ़ता मगध पहुँच गया। पहले दल के इन्हीं आर्यों ने मगध में व्रात्य-सभ्यता को जन्म दिया। जब वेदों की रचना करने वाले आर्य भारत आये और यहाँ वे बस गये तब उन्होंने देखा कि उनके भाई जो पहले आये थे और आकर मगध में बस गये थे, वे बहुत-सी बातों में उनसे भिन्न हो गये हैं। इसलिए, आर्यों ने अपने साहित्य में मगध के व्रात्यों की निन्दा आरंभ की। पूरब और पश्चिम के आर्यों के बीच का यह तनाव दिनोंदिन बढ़ता ही गया; क्योंकि मगध में आर्य या ब्राह्मण धर्म की नींव कभी भी ठीक से जम नहीं पायी और बुद्ध तथा महावीर ने जब ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के खिलाफ बगावत की, तब इन विद्रोही नेताओं को, सब से पहले, आश्रय मगधवालों ने ही दिया।

पारसी जाति

फारस (सं. पारस) से आने के कारण पारसी लोगों का यह नाम पड़ा, अन्यथा धर्म से वे जरथुस्त्री हैं, क्योंकि वे जरथुस्त्र के द्वारा प्रवर्त्तित धर्म को मानते हैं। भारत में पारसियों की संख्या कुल एक लाख के लगभग होगी, फिर भी, इस जाति के लोगों ने भारत की, विशेषतः नवीन भारत की, बहुत अच्छी सेवा की है। लेकिन, दुःख की बात है कि भारतीय संस्कृति पर जो पुस्तकें लिखी जाती हैं, उनमें इस जाति का उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में किया जाता है। यह, शायद, इसलिए कि पारसी लोग अत्यन्त शान्तिप्रिय हैं और भारतीय समाज में उन्होंने कभी कोई विक्षोभ उत्पन्न नहीं किया। साथ ही, उनकी संख्या भी नगण्य है।

किन्तु, पारसी लोगों का एक अन्य दृष्टिकोण से बहुत बड़ा महत्त्व है। वास्तव में, वे इस सत्य के प्रमाण हैं कि किसी समय भारतीय आर्य ईरान में भी थे और पारसी जाति, यद्यपि, बहुत विलंब से भारत आई, किन्तु, वह उन्हीं आर्यों की संतान थी, जो ईसा

से तीन-चार हजार वर्ष पूर्व भारत आ चुके थे।

आर्य जब भारत आ रहे थे, तब उनकी एक शाखा ईरान में रह गई थी। इस शाखा के लोग भी भारतीय आर्यों के समान प्रकृति के दिव्य तत्त्वों (सूर्य, अग्नि, चंद्रमा, वायु, जल आदि) की पूजा करते थे। किन्तु, उन्हें यह ज्ञात था कि इन सभी दृश्यतत्त्वों के परे कोई एक सूक्ष्म और सर्वोच्च अदृश्य तत्त्व (ईश्वर) है, जिसे वे अहुर (असुर) कहते थे। अवेस्ता इस जातिका प्राचीनतम ग्रन्थ है,जिसकी भाषा ऋग्वेद की भाषा से मिलती-जुलती है। ऋग्वेदमें जिन उच्च गुणोंका नाम ऋत कहा गया है, उन गुणोंके लिए अवेस्ता में अशा शब्द का प्रयोग है। ऋतसंपन्न व्यक्ति ही भारत में ऋषि कहलाता था। अवेस्ता में अशा गुण से संवेत व्यक्ति को रतु कहते थे, जो बहुत कुछ ऋषि शब्द का ही पर्याय था।

इस जाति में भी भारतीय आर्यों के समान चार जातियों या वर्गों का विधान था, जिनके नाम अवेस्ता में १. आथ्रवन (=ब्राह्मण), २. रथैस्तार (=क्षत्रिय), ३. वास्त्र्योष (=वैश्य) और ४. हुतोक्ष (=शूद्र, दास) हैं। जैसे भारतीय आर्यों में द्विजों का उपनयन-संस्कार प्रचलित है, वैसे ही, पारसियों में भी नवजोत (=नवजन्य) संस्कार पुराने समय से चला आता है। फर्क यह है कि जहाँ द्विज यज्ञोपवीत धारण करते हैं, वहाँ पारसी लोग कुस्टी (मेखला), पवित्र कुरता और टोपी पहनते हैं।

कालक्रम में, दोनों जातियों (अथवा शाखाओं)की भाषा में भेद पड़ने लगा। अहुर (असुर) पारसियों के यहाँ तो ईश्वरवाचक बना रहा, किन्तु, भारतीय आर्य उसका अर्थ दानव करने लगे। बदले में पारसियों ने भी देव शब्द का अर्थ अपनी भाषा में दानव कर दिया। पुराने संस्कार धुँधले पड़ गये एवं नई परिस्थितियों में देवताओं के भी रूप परिवर्तित हो गये। अवेस्ता से मालूम होता है कि पारसी लोग भी इन्द्र, नासत्य, विधातृ आदि देवताओं को जानते थे, किन्तु, उनके यहाँ ये नाम देवोंके नहीं, दानवों के हो गये। तब भी दोनों शाखाओं में माओंघा (मास, चांद्रमास) मिथ्र (मित्र) यिम (यम) आदि एक ही अर्थ में पूजित होते रहे हैं।

फिर ऐसा हुआ कि ईरानी शाखा के आर्यों में धीरे-धीरे कुरीतियाँ प्रविष्ट हो गईं एवं धर्म का रूप कलुषित हो गया। तब पृथ्वी ने गौ का रूप धारण कर (आर्यों की पौराणिक कथाओं के ही समान) अहुर से परित्राण के निमित्त प्रार्थना की और अहुर मज़्द ने मानवों के उद्धार के लिए पृथ्वी पर जरथुस्त्र (अर्थ, कनकाभ) को भेजा।

जरथुस्त्र की वाणी ही गाथा कहलाती है, जो शुद्ध संस्कृत नाम है। गाथाएँ पाँच हैं और इन्हीं गाथाओं पर जरथुस्त्री धर्म आधारित है। डाक्टर तारापोरवाला का कथन है कि भाषा और भाव, दोनों ही दृष्टियों से गाथा और ऋग्वेद के आरंभिक मंत्र समान हैं एवं दोनों में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। उनका यह भी दावा है कि गाथा के मंत्र ऋग्वेद

के मंत्रों की भाषा में आसानी से बदले जा सकते हैं, जैसे प्राकृत के श्लोक लौकिक संस्कृत के श्लोक में बदल दिये जाते हैं। तारापोरवाला साहब ने गाथा और ऋग्वेद के पारिभाषिक शब्दों में भी समानता दिखलाई है। ऋग्वेद में जो सोम है, वह गाथा में होम हो गया है। वेद में जो सर्वतत् (संपूर्णता) है, वह गाथा में हौर्वतत् हो गया है तथा शक्ति के अर्थ में क्षात्र शब्द का प्रयोग गाथा और वैदिक संस्कृत, दोनों में मिलता है।

जरथुस्त्र ने सारे जीवन और जगत् को पुण्य और पाप के बीच चलने वाले भीषण द्वन्द्व के रूप में देखा और इसी केन्द्रीय विचार पर उन्होंने अपना मतवाद खड़ा किया। भारत से बाहर उस समय जो भी आर्य थे, वे सब जरथुस्त्र के धर्म के नीचे आये हुए थे। कहते हैं ईसाइयत और इस्लाम में भगवान और शैतान की जो कल्पना उदित हुई, वह, स्पष्ट, ही जरथुस्त्र धर्म की देन थी। जरथुस्त्र के अहुर मज़्द ही भगवान और अहिर्मन ही शैतान है।

जरथुस्त्र-धर्म में दीक्षित ईरानियों ने ही ईरान में वह उन्नतिशील साम्राज्य स्थापित किया था, जो रोमन साम्राज्यका जवाब था। ई. पू. ३३१ में सिकन्दर ने ईरानी राज्य पर चढ़ाई की थी और सन् ६५१ ई. में अरब के नये मुसलमानों ने। पिछली चढ़ाई के दिनों में ईरानी साम्राज्य विलास में डूबा हुआ था। अतएव, वह अरब के मुसलमानों के प्रहारों के आगे टिक नहीं सका। ईरानी हारे और, प्रायः, दो-तीन सौ वर्ष में सब के सब मुसलमान हो गये। फिर ईरानी संस्कृति ने अरबों पर ऐसा धावा किया कि पारसी, ईरानी या फारसी भाषा ही इस्लाम की भाषा हो गई और इस्लाम को लोग ईरानी संस्कृति का पर्याय मानने लगे।

इसी मुसलमानी आक्रमण से घबरा कर अपने धर्म की रक्षा करने वाले कुछ पवित्र पारसी लोग सन् ९३६ ई. में ईरान से भाग कर भारतवर्ष चले आये और यहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे। पारसी अग्निपूजक होते हैं, जैसा कि आरंभ में सभी आर्य थे। भगवान जरथुस्त्र को परमात्मा ने ही अग्नि दी थी जो तब से ले कर ईरान छोड़ने के समय तक ईरान में जल रही थी। यह अग्नि भी पारसी लोग अपने साथ भारत ले आये और उसे बम्बई से अस्सी मील उत्तर उदवाद नामक स्थान में मन्दिर बना कर स्थापित कर दिया। यह अग्नि आज भी जल रही है।

इतिहास में भी कितना उलट-फेर होता है। इस्लाम के आगमन के बाद, बहुत-सी ऐसी बातें और बहुत-से ऐसे नाम भारत पहुँचे जिन्हें लोग भ्रम के कारण ही इस्लाम से संबद्ध मानते हैं। वस्तुतः, वे उन ईरानियों के नाम हैं जो मुसलमान नहीं, जरथुस्त्रवादी थे। शाहपुर और न्यायी नौशेरवाँ ईरान के बादशाह थे, किन्तु, वे मुसलमान नहीं थे। शीरीं और फरहाद, ये भी जरथुस्त्र धर्मावलंबी प्रेमी हुए हैं। शीरीं ईरान के बादशाह खुसरू परवेज़ की पत्नी थी और फरहाद उसी देश का मूर्त्तिकार।

जब पारसी लोग भारत पहुँचे, गुजरात के राजा यादव राणा ने उनका प्रेम से स्वागत किया और तब से ये वीर, धर्मप्राण लोग भी सचाई से भारतवासियों के साथ रहे हैं।

आने को तो मुसलमान भी भारत में आठवीं सदी में आये और पारसी उससे भी बाद, किन्तु, भारत और ईरान का संबंध इससे कहीं पुराना था। जब आर्य इस देश में नये-नये आये थे, उस समय भारत और ईरान की सीमाएँ मिली हुई थीं एवं धर्म और रीति-रिवाज में भी दोनों देशों के लोग एक थे। धर्म में विभिन्नता तब हुई जब जरथुस्त्र ने अपना नया धर्म चलाया। मौर्यों से पूर्व, गान्धार और भारत के कुछ अन्य पश्चिमोत्तर भाग ईरानी साम्राज्य के अंग थे। मौर्यों के समय में, ईरानी राज्य के ही कुछ भाग भारत में मिला लिये गये। तक्षशिला में ईरान के विद्यार्थी नहीं आते रहे होंगे, यह मानने की बात नहीं है। मौर्यों के बाद, शकों के शासन में भी ईरान और भारत के कुछ भूभाग एक राज्य के अन्तर्गत थे। भविष्य पुराण में कथा है कि श्रीकृष्ण के पुत्र, साम्ब को जब कुष्ट हो गया, तब उन्होंने चंद्रभागा नदी के तीर पर एक सूर्य-मन्दिर बनवाया, जिसके लिए उन्हें वहाँ कोई पुरोहित नहीं मिला। निदान, पौरोहित्य के निमित्त उन्होंने शकद्वीप से मग जाति के ब्राह्मण बुलवाये जो जरशब्द या जरशस्त के अनुयायी थी। सर चार्ल्स इलियट[१] का अनुमान है कि ये ब्राह्मण ईरान के मागी (MAGIS) रहे होंगे और जरशब्द या जरशस्त नाम जरथुस्त्र का है।

विभिन्न जातियों का मिश्रण

हिन्दू-समाज पहले जिन अनेक जातियों के मेल से बना था, ऊपर का विवरण, उसका एक कच्चा खाका मात्र है। नीग्रो कौन हैं, इसका अब पता नहीं चलता। ऊँचे समाज से जो लोग अलग जी रहे हैं, उन्हीं में नीग्रो और औष्ट्रिक जातियों के निशान होंगे, यह भी केवल अनुमान-ही-अनुमान है। इसी तरह, द्राविड़ों के पूर्वज भी कई दलों में आये थे, लेकिन, उनकी पारस्परिक भिन्नता अब पता लगाने की चीज नहीं रह गई है। और आर्यों के भी तीन-चार दलों के आपसी भेद अब खत्म हो चुके हैं। खुद आर्य और द्रविड़ लोगों के बीच शादी-संबन्धों से इतना अधिक मिश्रण हो चुका है कि 'मैं जरूर आर्य हूँ और तुम जरूर द्रविड़ हो', ऐसी कसम खाने की गुंजाइश बहुत कम रह गई है। पाँच-छह हजार वर्षों की एक साथ की जिन्दगी कुछ थोड़ी नहीं होती। इतने दिनों में तो लोहा भी बदल कर मिट्टी और मिट्टी भी बदल कर पत्थर बन जाती है।

वनवासी जातियाँ, यद्यपि अपना अस्तित्व अलग रखे हुए हैं, मगर, समन्वय का प्रभाव उन पर भी पड़ा है। एक साधारण गलती यह की जाती है कि जो जातियाँ जंगलों में बसती हैं, उन्हें हम आँख मूँदकर नीग्रो अथवा औष्ट्रिक वर्ग में डाल देते हैं। मगर,कौन कह सकता है कि जंगली जातियों में से सब-की-सब नीग्रो या आग्नेय वंश की ही हैं तथा उनका

---

१ हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म—जिल्द, ३।

आर्यों या द्राविड़ों से कोई संपर्क नहीं हुआ है ? छोटा नागपुर के ओराँव जो भाषा बोलते हैं, वह द्रविड़-परिवार की भाषा से मिलती है। इसके विपरीत, मुंडा जाति की भाषा औष्ट्रिक परिवार की भाषा है। लेकिन, भाषा-भेद होने पर भी उनकी संस्कृतियों में कोई भेद नहीं है। भाषा-भेद से तो यही अनुमान लगाया जा सकता है कि ओराँव लोगों के पूर्वज द्रविड़ रहे होंगे और मुंडा जाति के आग्नेय। लेकिन, एक ही प्रकार का जीवन अपनाने के कारण, एक ही तरह से प्रकृति के कोप और वरदान के अधीन रहने के कारण, उनके बीच एक तरह की सांस्कृतिक एकता उत्पन्न हो गई है, उनके पारस्परिक भेद कम हो गये हैं और समानता की मात्रा बढ़ गई है।

यही हाल अन्य जातियों का भी हुआ होगा। ऊपरके विवरण से जो बात सामने आती है वह यह है कि सबसे पहले भारत में नीग्रो जाति के लोग आये थे और उनके बाद औष्ट्रिक या आग्नेय जाति के लोग। आज भारत के वनों में जो जातियाँ रहती हैं, वे, मुख्यतः, इन्हीं दो जातियों की सन्तानें हैं। तब कई दलों में रोमसागर के पास से मेडिटेरेनियनी लोग आये जिन्होंने भारत में द्रविड़-सभ्यता की स्थापना की। उनके बाद, तीन या चार दलों में आर्य आये। आर्यों का पिछला दल (नार्डिक) बड़ा ही कुशल और चिन्तनशील था। इसी के आगमन के बाद, भारत में विभिन्न जातियों की संस्कृतियों के बीच समन्वय का क्रम आरम्भ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप, आर्य या हिन्दू-संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ।

हिन्दू नाम

हिन्दू शब्द हमारे प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता है। भारतवर्ष में, इसका सबसे पहला उल्लेख ईसा की आठवीं सदी में लिखे गये एक तंत्रग्रंथ में है, जहाँ इस शब्द का प्रयोग धर्मावलम्बी के अर्थ में नहीं किया जाकर एक गिरोह या जाति के अर्थ में किया गया है। डाक्टर राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार, भारत के बाहर इस शब्द का प्राचीनतम उल्लेख अवेस्ता में और डेरियस (५२२-४८६ ई. पू.) के शिलालेखों में प्राप्त है तथा वे यह भी कहते हैं कि "हिन्दू शब्द विदेशी है तथा संस्कृत और पालि में इसका कहीं भी प्रयोग नहीं मिलता। इस शब्द का जो इतिहास है, उसके अनुसार, यह किसी धर्म का वाचक नहीं माना जा सकता, बल्कि, इसका वास्तविक अर्थ भारत का कोई भी निवासी ही हो सकता है।" भारतवर्ष का हिन्दू नाम विदेशियों का दिया हुआ है। सातवीं सदी में इत्सिंग नामक एक चीनी यात्री भारतवर्ष आया था। उसने लिखा है कि मध्य एशिया के लोग भारतवर्ष को हिन्दू कहते हैं, यद्यपि, यहाँ के लोग अपने देश को आर्यदेश कहते हैं। असल में, बात यह हुई कि मध्य एशिया और पश्चिमी जगत् के लोग भारतमें पश्चिमोत्तर मार्ग से आते थे। सिंधु नदी भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के पास पड़ती थी और उधर से आने वाले लोग उसी नदी से इस देश की पहचान करते थे। उनमें से ईरान और उसके पास वाले लोग 'स'

का सही उच्चारण नहीं कर सकने के कारण सिन्धु को हिन्दु कहने लगे और यूनान वाले लोग 'स' और 'द' का सही उच्चारण नहीं कर सकने के कारण हिन्दू को इण्डो कहने लगे। इस प्रकार, आर्यावर्त का नाम हिन्दू-हिन्दुस्थान और इण्डो-इण्डिया चल पड़ा।

भारत में सभ्यता का आरम्भ

ऐसा लगता है कि औष्ट्रिक या आग्नेय जाति के लोग आरम्भ से ही आनन्दी, अन्धविश्वासी और भीरु थे। आज के आदिवासियों के ही समान, वे थोड़ी कमाई से ही संतुष्ट होकर जीने के अभ्यासी थे। इसलिए, वे संचय बढ़ाकर बड़े ग्राम या नगर बसाने की ओर प्रवृत्त नहीं हुए। वे जो वनों में जा बसे, उसका कारण सिर्फ यही नहीं था कि द्राविड़ों या आर्यों ने उन पर अत्याचार किया और वे नगरों से निकल कर वनों में चले गये, बल्कि, यह भी कि वन में रह कर कृषिकर्म द्वारा जीवन-निर्वाह करके जिन्दगी को सरल-सीधे ढंग से गुजार देने की उन्हें आदत पड़ गई थी।

लेकिन, जब द्रविड़ जाति के लोग इस देश में आने लगे, उन्होंने ग्राम और नगर बसाना आरम्भ कर दिया। महंजोदरो और हरप्पा की खुदाई में जिस सभ्यता के निशान निकले हैं, वह सभ्यता नगर-सभ्यता थी और उस सभ्यता के लोग स्नानागार तथा नालियों की पद्धति को भी अपने लिए आवश्यक समझते थे। अभी तक यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह सभ्यता द्राविड़ों की थी या नहीं। लेकिन, अनुमान है कि वह उन दिनों की सभ्यता थी जब आर्य इस देश में नहीं आये थे। अतएव, अनुमान लगाया जाता है कि द्राविड़ों को छोड़ कर वह सभ्यता किसी और की नहीं रही होगी। अगर यह अनुमान गलत नहीं हो तो हमें मानना चाहिए कि आर्यों के पूर्व, द्राविड़ों ने इस देश में नगर-सभ्यता का विकास कर लिया था। इसका एक प्रमाण यह भी है कि आर्य अपने देवता इन्द्र को पुरन्दर कहते थे। पुरन्दर का अर्थ है, पुरों यानी नगरों का नाश करने वाला। अवश्य ही, नगरों के ये अधिपति द्राविड़ थे, जिनके खिलाफ लड़ने और जिनके नगरों का विध्वंस करने के कारण आर्यों ने अपने सबसे बड़े देवता को पुरन्दर नाम दिया।

अभी हाल तक लोग यह मानते थे कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारतवर्ष असभ्य था और आर्यों ने ही इस देश को सभ्य बनाया। लेकिन, अब यह बात नहीं मानी जाती है। सच तो यह है कि जब रोम ने यूनान पर चढ़ाई की तब यूनान हार तो गया, मगर, सभ्यता का पाठ रोमनों ने यूनानियों से ही पढ़ा। इसी प्रकार, भारतवर्ष में भी हारे हुए द्रविड़ों ने विजयी आर्यों को सभ्यता की शिक्षा दी। आर्यों की जाति बड़ी ही तेजस्वी और वीर थी; किन्तु, जिस समय वह भारत पहुँची, उस समय तक वह एक तरह की घुमक्कड़ जाति थी, जिसे किसी निश्चित भूभाग में काफी दिनों तक बस कर गाँव या नगर बसाने का अवसर नहीं मिला था, लेकिन, द्रविड़ जाति भारत में बस कर अपनी सभ्यता का बहुत दूर तक विकास

कर चुकी थी और धर्म, सदाचार तथा पूजा-पाठ एवं देवी-देवताओं की बहुत-सी ऐसी कल्पनाएँ जो आगे चल कर आर्य-संस्कृति का अंग हो गईं, द्राविड़ों के ही बीच काफी दूर तक पनप चुकी थीं। द्रविड़ और आर्य सभ्यताओं के बीच यह सम्मिश्रण कैसे हुआ, यह अगले प्रकरण में बताया जायगा।

भारत में आनेवाली अन्य जातियाँ

आरंभ में नीग्रो, नीग्रो के बाद औष्ट्रिक, औष्ट्रिक के बाद द्रविड़ और द्रविड़ के बाद आर्य, पुराने जमाने में भारत में, बाहर से आनेवाली जातियों का यही क्रम रहा था। मगर, बाहर से आनेवालों में सबसे आखिरी गिरोह आर्यों का ही रहा हो, यह बात नहीं है। कदाचित् बुद्धदेव के समय के पास ही मंगोल लोग भारत में आये। ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भारत पर सिकन्दर की चढ़ाई हुई। मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद, पश्चिम से यूनानियों का बड़ा दल इस देश में आया। ईसा से, प्रायः, एक सौ वर्ष पूर्व युची और शक जातियों के लोग हिन्दुस्तान आये। चौथी शताब्दी में यहाँ हूणों का बहुत बड़ा दल आया। शायद, ईसा से एक-दो सौ वर्ष पूर्व आभीर जाति भी इस देश म आकर बस गयी थी। यह उन जातियों का विवरण है, जो मुसलमानों के पूर्व इस देश म आकर बसी थीं। मगर, जब मुसलमान इस देश में आये, तब यहाँ केवल हिन्दू जाति का ही निवास था। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़ और आर्य, मंगोल, यूनानी, युची, शक और आभीर तथा हूण और तुर्क, इनका कहीं कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा था। और सबके सब हिन्दू समाज के चार वर्णों में बँटकर भलीभाँति पच-खप चुके थे। कई प्रकार की ओषधियों को कड़ाह म डाल कर जब काढ़ा बनाते हैं, तब उस काढ़े का स्वाद हरएक ओषधि के अलग-अलग स्वाद से सर्वथा भिन्न हो जाता है। असल में, उस काढ़े का स्वाद सभी ओषधियों के स्वादों के मिश्रण का परिणाम होता है। भारतीय संस्कृति भी इस देश में आकर बसनेवाली अनेक जातियों की संस्कृतियों के मेल से तैयार हुई है और अब यह पता लगाना बहुत मुश्किल है कि उसके भीतर किस जाति की संस्कृति का कितना अंश है। चूँकि काढ़ा औंटने का काम आर्यों ने किया, इसलिए, भारतीय संस्कृति पर आर्यों के नाम का लेबुल साफ पढ़ा जा सकता है। लेकिन, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ओषधियाँ आर्यों ने अनेक जातियों से लीं और सबका उन्होंने उचित मात्रा में परिपाक किया।

हिन्दू-संस्कृति की पाचनशक्ति

हिन्दू-संस्कृति की पाचनशक्ति बड़ी ही प्रचंड मानी जाती है। इसका कारण, शायद, यह है कि जब आर्य इस संस्कृति का निर्माण करने लगे, तब उनके सामने अनेक जातियों को एक संस्कृति में पचाकर समन्वित करने का सवाल था, जो उनके आगमन के पहले से ही

इस देश में बस रही थीं। अतएव, उन्होंने आरंभ से ही हिन्दू-संस्कृति का ऐसा लचीला रूप पसन्द किया, जो प्रत्येक नई संस्कृति से लिपटकर उसे अपनी बना सके। नीग्रो से लेकर हूणों तक, इस देश में आनेवाली सभी जातियाँ इसी लचीलेपन के कारण हिन्दू-समाज में खप गईं। कालक्रम में, हिन्दू-धर्म के भीतर से ही उसके विरुद्ध एक प्रचंड सांस्कृतिक विद्रोह उठा जिसे हम बौद्धधर्म के नाम से जानते हैं। किन्तु, धीरे-धीरे वह विद्रोह भी लौटकर उसी धर्म में समा गया, जिससे उसका जन्म हुआ था। हिन्दू-संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों को पीकर अपनी ताकत बढ़ाई है—यहाँ तक कि इस्लाम, जो अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रखने का मंसूबा लेकर चला था, वह भी भारत में आकर कुछ परिवर्त्तित हो गया। यद्यपि, मुसलमान धर्म के मामले में अपनी सत्ता को स्वतन्त्र रख सकने में बहुत दूर तक कामयाब हुए, लेकिन, संस्कृति की दृष्टि से वे भी अब भारतीय हैं।

हिन्दू या भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को लोग बड़े विस्मय से देखते हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर डाडवेल ने लिखा है कि "भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है, जिसमें अनेक नदियाँ आ-आकर विलीन होती रही हैं।" मुसलमानी आक्रमण से पूर्व जो तुर्क लोग इस देश में आये थे, उनका क्या हाल हुआ, इसका रहस्य बतलाते हुए एक अन्य इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है कि "इन विदेशी लोगों ने भी अपने पहले आने वाले शकों और युचियों के समान ही, हिन्दू-धर्म की पाचन-शक्ति के सामने अपने घुटने टेक दिये और बड़ी ही शीघ्रता से वे हिन्दुत्व में विलीन हो गये।" आर्यों और द्राविड़ों के मिलन से भारतीय संस्कृति ने जो रूप धारण किया, यह उसी की ताकत थी कि इस समन्वय के बाद जो भी जातियाँ इस देश में आयीं, वे भारतीय संस्कृति के समुद्र में, एक के बाद एक, विलीन होती चली गयीं। जैसा कि श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है—"ईरानी और यूनानी लोग, पार्थियन और बैक्ट्रियन लोग, सीथियन और हूण लोग, मुसलमानों से पहले आने-वाले तुर्क और ईसा की आरंभिक सदियों में आने वाले ईसाई, यहूदी और पारसी, ये सब-के-सब एक के बाद एक, भारत में आये, और उनके आने से समाज ने एक हल्के कंपन का भी अनुभव किया; मगर, अन्त में जाकर वे सब-के-सब भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में विलीन हो गये। उनका कहीं कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा।" एक अन्य विचारक मिस्टर सी. ई. एम. जोड ने लिखा है कि "मानवजाति को भारतवासियों ने जो सबसे बड़ी चीज वरदान के रूप में दी है, वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार के विचारों के बीच समन्वय स्थापित करने को तैयार रहे हैं। और सभी प्रकार की विविधताओं के बीच एकता कायम करने की उनकी लियाकत और ताकत लाजवाब रही है।" मिस्टर जोड ने भारत की इस अपूर्व क्षमता की जो प्रशंसा की है, वह इसलिए कि संसार के सामने आज जो सबसे बड़ा सवाल पेश है

वह यह है कि दुनिया की अनेक जातियों, अनेक वादों और विचारों तथा अनेक संस्कृतियों के बीच समन्वय स्थापित करके हम विश्व-संस्कृति का निर्माण कैसे कर सकते हैं। स्पष्ट ही, संसार को उसी मार्ग को अपनाना पड़ेगा जिस मार्ग पर चलकर भारतवर्ष अपने यहाँ की विभिन्न संस्कृतियों के बीच एकता या मेल बिठाता रहा है। इसीलिए मिस्टर जोड ने भारत की इस योग्यता को विश्व-मानवता के लिए सबसे बड़ा वरदान कहा है।

अनेक संस्कृतियों और जातियों के मिलन से भारतीय संस्कृति में जो एक प्रकार की विश्वजनीनता उत्पन्न हुई है, वह संसार के लिए, सचमुच, वरदान है और पिछले दो सौ वर्षों से सारा संसार उसका प्रशंसक रहा है। १९ वीं सदी में अपनी अपूर्व भारत-भक्ति से सारे यूरोप को चौंका देनेवाले मैक्समूलर ने एक जगह लिखा है कि "अगर मैं अपने-आपसे यह पूछूँ कि केवल यूनानी, रोमन और यहूदी भावनाओं एवं विचारों पर पलनेवाले हम यूरोपीय लोगों के आन्तरिक जीवन को अधिक समृद्ध, अधिक पूर्ण और अधिक विश्वजनीन, संक्षेप में, अधिक मानवीय बनाने का नुस्खा हमें किस जाति के साहित्य में मिलेगा, तो बिना किसी हिचकिचाहट के मेरी उँगली हिन्दुस्तान की ओर उठ जायगी।" इसी प्रकार, बीसवीं सदी के अद्भुत चिन्तक और विश्वमानवता के अपूर्व उपासक स्वर्गीय रोमाँ रोलाँ ने लिखा है कि "अगर इस धरती पर कोई एक ऐसी जगह है जहाँ सभ्यता के आरम्भिक दिनों से ही मनुष्यों के सारे सपने आश्रय और पनाह पाते रहे हैं तो वह जगह हिन्दुस्तान है।"

यह विश्वजनीनता, विभिन्न जातियों को एक महाजाति के साँचे में ढालने का यह अद्भुत प्रयास और अनेक वादों, विचारों और धर्मों के बीच एकता लाने का यह निराला ढंग सभी युगों में भारतीय समाज की विशेषता रहा है। आगे के प्रकरणों में हम देखेंगे कि यह महान् कार्य हमारे देश में किस प्रकार चलाया गया था और उसमें हमें कैसी सफलता प्राप्त हुई।

आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का मिलन

जिसे हम हिन्दू-धर्म या हिन्दू-संस्कृति कहते हैं, उसका आरंभ कब और कैसे हुआ, यह बड़ा ही पेचीदा सवाल है और उसके समझने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि हम इस विषय में अपना दिमाग साफ कर लें कि जिसे हम हिन्दू-जाति कहते हैं, उसमें कौन-कौन से लोग शामिल हैं। जैसा कि पिछले प्रकरण में दिखलाया गया है, उसमें आर्य, द्रविड़, औ-ष्ट्रिक और नीग्रो तथा तिब्बत-बर्मी, सभी जातियों के लोग हैं तथा उसके भीतर वे लोग भी समाये हुए हैं, जो आर्यों के आगमन के बाद और मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व इस देश में अनेक दलों में आये थे। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि मूल हिन्दूजाति की रचना का काम आर्यों के यहाँ बस जाने के बाद ही पूरा हो गया और आर्यों के बाद जो भी लोग इस देश में आये, वे आँख मूँदकर हिन्दू बनते चले गये।

औष्ट्रिक (आग्नेय), द्रविड़, आर्य और नीग्रो, इन संस्कृतियों एवं जातियों के लोग आपस में एक होकर हिन्दू कब हुए, इस विषय में पंडितों में बहुत मतभेद है। सुनीति बाबू का अनुमान है कि भारतीय आर्य अथवा हिन्दू जाति की रचना ई० पू. १५०० से लेकर ई. पू. १००० के बीच हुई होगी। श्री एफ. डब्ल्यू. टॉमस ने अपनी पुस्तक (इंडियनिज़्म एण्ड इट्स एक्स्पेंशन) में कहा है कि "भारतीय मनुष्य का उदय उस समय हुआ, जब इस देश में वैदिक काल बीत रहा था।" श्री टामस का अनुमान सही मालूम होता है क्योंकि लौकिक संस्कृत के बहुत-से शब्दों के बारे में पंडितों का विचार है कि वे द्रविड़ शब्द-भंडार से आये हुए हैं।* और चूंकि लौकिक संस्कृत में ये शब्द अत्यन्त प्राचीन काल से ही मिलने

---

*उन्नीसवीं सदी में यह खोज चली थी कि संस्कृत में द्रविड़ भाषा के शब्द लिये गये हैं या नहीं। डाक्टर एच. गुन्डर्ट (जर्मन ओरियंटल सोसायटी के जर्नल में), डाक्टर आर. कॉडवेल (काम्पेरेटिव ग्रामर आव् ड्रेविडियन लैंग्वेजेज में) तथा रेवरेंड एफ. किटेल (कन्नड़-इंगलिश डिक्शनरी, प्रकाशित १८९४ ई.) ने सिद्ध किया कि द्रविड़-धातुओं से बने अनेक शब्द संस्कृत में तत्सम के रूप में गृहीत हुए हैं। रेवरेंड किटेल ने अपने कोष में ऐसे ४०० से ऊपर संस्कृत शब्द गिनाये हैं। उनमें से कुछ शब्द ये हैं :—कक्ष (काँख), कुंतल (सिर के बाल), गंड (गाल), पक्ष (बगल), भाल (ललाट), एन (हरिण), कीर, कुक्कुट, कोकिल, गरुड, गर्दभ, मर्कट, मीन, एरंड, चिंचा (इमली), पुष्प, मुकुल (कली), वेणु, वृहि (चावल), कनक, कंचन, तीर(तट), नील, खल (दुष्ट), पंडित, पिशाची, भील, मल्ल(पहलवान), मन्दिर (घर), नीबी, कुठार, ओदन (भात), अलम्(यथेष्ट),

लगते हैं, अतएव, यह सोचना ठीक है कि समन्वय की सघन प्रक्रिया वैदिक काल में ही आरंभ हो गई होगी और लौकिक संस्कृत के उदय के समय वह इतनी परिपक्व रही होगी कि आर्य और आर्येतर शब्दों में विभाजन करने का अवकाश ही नहीं रह गया होगा।

जाति-प्रथा का जन्म

मगर, आर्यों ने हिन्दू-जाति की रचना कैसे की, कैसे उन्होंने अनेक जातियों के लोगों को हिन्दू-समाज में संगठित कर दिया, यह इतिहास अभी ठीक से नहीं लिखा गया है और प्रामाणिक विवरण के अभाव में हम, ज्यादातर, अनुमान और कल्पना के आधार पर ही इस संगठन के काम का थोड़ा अन्दाजा लगा सकते हैं। ऐसा लगता है कि आर्य जब इस देश में आये, उसके पहले ही, उनके भीतर चतुर्वर्ण की भावना विकसित हो चुकी थी। मनुष्य को चार जातियों में बाँटने की भावना, शायद प्राचीन विश्व में अच्छी समझी जाती थी, यद्यपि भारत को छोड़कर अन्यत्र इसके प्रयोग का पक्का प्रमाण नहीं मिलता। यूनान के दार्शनिक प्लेटो या अफलातून ने अपनी पुस्तक रिपब्लिक में मनुष्यों की चार जातियों का उल्लेख किया है और आर्यों की ईरानी शाखावाली जाति को भी इस तरह के बँटवारे की बात मालूम थी।* लेकिन, जाति की प्रथा व्यवहार में कैसे आई, इसका ठीक-ठीक विवरण अभी तैयार नहीं किया जा सका है।

डाक्टर भगवतशरण उपाध्याय ने अपनी पुस्तक "भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण" में लिखा है कि ऋग्वेद के "पुरुष-सूक्त" में जो यह कहा गया है कि अमुक वर्ण ब्रह्मा के अमुक अंग से निकला है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि पुरुष-सूक्त से वर्ण-व्यवस्था का आरम्भ होता है। वर्णव्यवस्था का आरम्भ तो उसके बहुत पूर्व ही हो चुका होगा। पुरुषसूक्त में केवल उसका उल्लेख आया है। भगवतशरणजी का यह मत है कि जाति-प्रथा का विकास आर्यों ने भारत में आने के पूर्व ही कर लिया होगा। "आर्य देशान्तरों को लाँघते हुए भारत पहुँचे तो, निस्संदेह, उन्होंने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी होंगी, जिनमें से अनेक में वे विजयी भी हुए होंगे। उस समय के युद्धों की एक परम्परा थी, विजितों को तलवार के घाट उतार देना अथवा उन्हें बन्दी करके दास बना लेना। "दास" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद

कठिन, कलंक, कलुष, केयूर, पुस्तक, पूजा, बल, बलि, माया, मार (बाधा), माला, रात्रि, वलक्ष (उज्ज्वल), वीचि (तरंग), वेला (बाग,सीमा), तोय, कारा आदि।

*अवेस्ता में इन जातियों के नाम १—अथ्रवन (ब्राह्मण) २—रथएस्तार (क्षत्रिय) ३—वास्त्र्योश (वैश्य) और ४—हुतोक्ष (शूद्र) मिलते हैं।

ने किया है और खूब किया है। † इसलिए, कुछ अंश में तो यहाँ तक मानना पड़ेगा कि आर्यों के तीन वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—उनके भारत-प्रवेश के पूर्व निर्मित हो ही चुके थे। कुछ आश्चर्य नहीं कि शूद्रों का भी एक अंश उनके साथ ही भारत में प्रविष्ट हुआ हो, यद्यपि उनका अधिकांश, निस्संदेह, भारतीय युद्धों के परिणामस्वरूप ही जन्मा।"

इसके विपरीत, पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी अपनी पुस्तक (मध्यकालीन धर्म-साधना) में लिखते हैं कि "वैदिक साहित्य में इस प्रथा (जाति-प्रथा) के कुछ मूल-बीज जरूर वर्त्तमान हैं, परन्तु, उस युग में यह प्रथा धर्म और समाज का इतना जबर्दस्त अंग, निश्चय ही, नहीं बनी थी। समस्त वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और धर्म-गृह्य-श्रौत सूत्रों में, शायद ही, कहीं जाति शब्द का व्यवहार आधुनिक अर्थ में हुआ हो। यहाँ यह इशारा नहीं किया जा रहा है कि वैदिक साहित्य में बराबर आनेवाले चार वर्णों के नाम को ही जाति-प्रथा का मूल रूप माना जाय, क्योंकि वर्ण और जाति को समानार्थक नहीं माना जा सकता। परन्तु, यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वर्णव्यवस्था जाति-भेद के बहुत से लक्षणों के जटिल होने के लिए उत्तरदायी जरूर है।"

जिसे वेद वर्णाश्रम कहते हैं, वह जातिगत नहीं होकर गुण-कर्म-विभाग का पर्याय था। ऐसे वर्णाश्रम के पक्ष में तो स्वामी दयानन्द भी थे और महात्मा गाँधी भी। गीता में स्वयं भगवान ने कहा है, "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः।" जातिप्रथा की निन्दा वर्णाश्रम के कारण नहीं, प्रत्युत ऊँच-नीच और स्पृश्यास्पृश्य का भेद बढ़ाने के कारण है। इस सम्बन्ध में, आचार्य क्षितिमोहन सेन का मत है कि "भारतवर्ष के बाहर भी अनेक आर्य जातियाँ नाना देशों में बसी हुई हैं, परन्तु, कहीं भी इस प्रकार का जातिभेद उनमें नहीं पाया जाता। प्रश्न यह है कि एकमात्र भारतवर्षीय आर्यों में ही यह जातिभेद कहाँ से आ गया।" ‡ लेखक का यह भी कथन है कि "ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द कम ही आया है। जहाँ आया है, वहाँ भी ज्ञानी या पुरोहित के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। क्षत्रिय शब्द का उल्लेख

---

†डा. सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार (इंडो-एशियन कलचर, जुलाई, १९५४) है कि दास और दस्यु, ये, मूलतः, दो जातियों के नाम थे जो ईरान में बसती थीं। प्राचीन यूनानी में दास को दहाइ (Dahai) और प्राचीन ईरानी में दस्यु को दह्यु कहते थे। दास और दस्यु के निन्दित अर्थ बाद को प्रचलित हुए, जैसे यूरोप में स्लाव (रूस की एक जाति) शब्द स्लेव (Slave) का अर्थ देने लगा। शूद्र नाम भी, मूलतः, दक्षिणी पंजाब में बसने वाली एक जाति का था। किन्तु, समाज में आर्यों का प्राधान्य हो जाने पर ये लोग समाज के निम्न स्तर के अधिकारी माने जाने लगे।

‡ भारतवर्ष में जातिभेद

भी बहुत ज्यादा नहीं है। और वैश्य तथा शूद्र का तो एकमात्र उल्लेख पुरुष-सूक्त के मन्त्र में ही है।"

आचार्य ने अन्यत्र यह भी लिखा है कि "नाना कारणों से जान पड़ता है कि जिसे जातिभेद कहते हैं, वह चीज आर्य लोग भारतवर्ष में आकर चारों ओर के बाहरी प्रभाव में पड़कर स्वीकार करने को बाध्य हुए थे। किन्तु, यह मानने में भी जानें कैसा एक संकोच होता है कि इतनी बड़ी बात बाहरी प्रभाव से स्वीकृत हुई थी। फिर भी, आलोचना करने पर हम देखेंगे कि वर्त्तमान हिन्दू-धर्म में बाहर से आये हुए मतों और आचारों का परिमाण कम नहीं है।" "पुराणों को देखने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिव, विष्णु आदि की पूजा कितने विरोधों के भीतर से हिन्दू-ससाजमें प्रविष्ट हुई थी, फिर भी, उसका प्रभाव कितना गंभीर और व्यापक है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि भारतीय आर्यों ने अच्छी-बुरी बहुत-सी बातों का इस देश में आने के बाद संग्रह किया था। जातिभेद उन्हीं में से एक है।"

एक अनुमान यह है कि जाति-प्रथा का आश्रय आर्यों ने इसलिए लिया कि जब वे इस देश में आकर बस गये तब यहाँ अनेक जातियों के लोग बस रहे थे और आर्यों को ऐसा मालूम हुआ कि विभिन्न जातियों की रचना के द्वारा वे इन तमाम लोगों को एक समाज में समेट कर बाँध सकते हैं। यहाँ द्रविड़ जाति के लोग थे जो धर्म-कर्म और सभ्यता-संस्कृति में बहुत ऊँचे थे, मगर, आर्यों से वे लड़ाई में हार गये थे। तब औष्ट्रिक और शायद, नीग्रो जाति के भी लोग थे, जिनका अधिकांश जंगलों में अथवा गाँवों से बाहर या उनके किनारों पर बसता था और इन लोगों की सभ्यता भी अविकसित थी। और इन सबके ऊपर आर्य थे जो अपने को विजयी समझते थे और जिन्हें अपनी संस्कृति और मेधा पर नाज था। फिर, बहुत-से ऐसे लोग भी रहे होंगे जो इन जातियों के बीच वैवाहिक मिश्रण से उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार, उन दिनों भारत में ऐसे लोगों की भरमार थी, जिनमें से कुछ तो पूर्ण-रूप से सभ्य और कुछ केवल अर्ध-सभ्य, कुछ धनी और कुछ गरीब थे; कुछ ऐसे थे जो ऊँची बातें समझ सकते थे और कुछ ऐसे भी जिन्हें ऊँची बातों से कोई सरोकार नहीं था। साथ ही, इनमें से प्रत्येक जाति के पास अपनी कथा-कहानियाँ, अपने देवी-देवता, अपने रस्म-रिवाज और अपने धर्म थे। इन्हीं नाना प्रकार के लोगों को एक समाज में बाँधने का भारी काम आर्यों के आगे था, जिसे पूरा करने के लिए उन्होंने जाति-प्रथा का आश्रय लिया।

जातियों का जो रूप हम आज देखते हैं, वह आरंभ में नहीं था। फिर भी, आज हम जो कुछ देखते हैं, उससे भी यह अन्दाजा लगाना कठिन नहीं है कि जातियाँ सिर्फ पेशों या व्यवसायों पर ही नहीं बनी हैं, उनके भीतर सभ्यता और संस्कृति के अनेक स्तर भी छिपे हुए हैं। ऊँची जाति की संस्कृति ऊँची और नीची जाति की संस्कृति नीची होती है, क्योंकि

ऊँची जातिवालों के पुरखे कुछ अधिक धनी थे, उन्हें पढ़ने-लिखने और महीन काम करने का मौका कुछ अधिक मिला था। इसलिए, उनके खान्दान में ऊँची संस्कृति की परम्परा चल पड़ी। इसी प्रकार, एक ही जाति में कुछ गोत्रों के लोग अपने को औरों से अधिक ऊँचा समझते हैं। अछूत जातियों में भी कुछ लोग कम अछूत और कुछ लोग ज्यादा अछूत समझे जाते हैं। असल में, समाज के भीतर संस्कृतियों के जो ऊँचे-नीचे अनेक धरातल है, उन धरातलों पर भी जातियों का विभाजन देखा जा सकता है।

आर्यों ने जातिवाद का आश्रय इसलिए लिया कि उन्हें इस देश के अनेक वर्गों और लोगों को एक ही समाज के अन्दर, अपनी-अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुसार, उचित स्थानों पर बिठाना था। असल में, जातिवाद के रूप में आर्यों ने समाज के भीतर एक "गैलरी" खड़ी कर दी, जिसमें नीचे से ऊपर तक सभी श्रेणियों के लोग अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार आसानी से बैठ सकते थे।

एक तरह से सोचिये तो आर्यों की यह बड़ी ही सूक्ष्म नीति थी, क्योंकि जाति की गैलरी में निचली सीढ़ी पर बैठे हुए लोग बराबर यह चाहते होंगे कि किसी तरह वे ऊपर वाली सीढ़ी पर पहुँच जायँ तो बड़ा अच्छा हो। और जो व्यक्ति या परिवार ऊपर पहुँचने की लियाकत दिखलाता था, वह ऊपरवाली जाति में पहुँच भी जाता था। हारी हुई जाति के लोग विजयी जाति के लोगों के पास तभी पहुँचते हैं, जब वे विजयी जाति की संस्कृति की नकल करें। जब मुसलमान इस देश के राजा हुए तब दरबारों में सिर्फ उन्हीं हिन्दुओं की इज्जत होती थी जो फारसी जानते थे, जो रहन-सहन और पहनावे-ओढ़ावे में मुसलमान मुलतानों की नकल करते थे। यही हाल अंगरेजों के जमाने में भी था, क्योंकि अंगरेज उन्हीं हिंदुस्तानियों को आगे बढ़ कर अपनाते थे जो अंगरेजी में बोल सकते थे तथा जिनका पहनावा-ओढ़ावा भी अंगरेजों के समान था। आर्य इस देश में विजेता बनकर आये थे और जो बात मुसलमानी या अंगरेजी राज्य के जमाने में यहाँ देखने में आयी, वह थोड़ी-बहुत मात्रा में आर्यों के आगमन के समय भी रही होगी। अगर भारत का आर्यीकरण आर्यों का ध्येय रहा हो, तो जाति की प्रथा ने इसमें भी उनकी भरपूर सहायता की होगी, क्योंकि जातिवाद का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था और पुरोहित की मंजूरी के बिना जाति बदलना कठिन होता होगा। जो लोग आर्यों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन और उनके सामाजिक आचार आदि को सीख लेते थे, जाति की गैलरी में उनकी तरक्की आसानी से हो जाती थी। यह बात इससे भी सिद्ध है कि सुयोग्य द्राविड़, आरंभ से ही, ब्राह्मण मान लिये गये थे और, आरंभ से ही, उनमें से अनेक लोग केवल द्राविड़ों के ही नहीं, आर्यों के भी पुरोहित का काम करने लगे थे। जातिप्रथा के चालू करने में आर्यों का यह उद्देश्य नहीं था कि वे द्रविड़, औष्ट्रिक अथवा नीग्रो समाज की छूत से बच सकें, बल्कि, यह कि इन तमाम जातियों के

लोगों को वे आर्य सभ्यता में रँगना चाहते थे और जो भी उनकी सभ्यता सीख लेता था, समाज में उसकी उन्नति आसानी से हो जाती थी। यह प्राचीन संस्कार आज भी हिन्दू-समाज में अपना काम कर रहा है और हम आये दिन देखते ही रहते हैं कि जो हीन जातियाँ ऊपर उठना चाहती हैं, वे अखाद्य खाने और अपेय पीने की आदत तथा अन्य कुरीतियों को छोड़ कर जनेऊ धारण कर लेती हैं तथा कोशिश करने लगती हैं कि समाज उनकी गिनती द्विजों में कर ले।

आरंभ में जाति-परिवर्त्तन पर कड़ी रोक नहीं थी, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने लिखा है कि "जातपाँत की ठीक जात-पाँत के रूप में स्थापना दसवीं शताब्दी ई० में आकर हुई है और उसके बाद भी, मिश्रण पूरी तरह बन्द नहीं होगया। शहाबुद्दीन गोरी के समय तक हम हिन्दू जातों में बाहर के लोगों को सम्मिलित होते देखते हैं। सन् ११७८ ई० में गुजरात के नाबालिग राजा मूलराज द्वितीय की माता से हार कर गोरी की मुस्लिम सेना का बहुत बड़ा अंश कैद हो गया था। उन कैदियों का दाढ़ी-मूंछ मुँड़वा कर विजेताओं ने सरदारों को तो राजपूत में शामिल कर लिया था और साधारण सिपाहियों को कोलियों, खाँटों, बाब्रियों और मेड़ों में।"*

आचार्य क्षितिमोहन सेन लिखते हैं कि "पुराने जमाने में इतना बँधेज नहीं था। कलि के पहले आसवर्ण विवाह भी चलता था और शूद्र के हाथ से पक्वान्न भी ब्रह्मण लोग ग्रहण करते थे। कलियुग में यह निषिद्ध कैसे हुआ ? शाम शास्त्री कहते हैं कि बौद्ध और जैन धर्म का वैराग्य-प्रधान मत और कृच्छ्राचार ही इसके कारण हैं। ऊँचे वर्ण के लोगों ने जीवहिंसा छोड़ी, शूद्रों ने नहीं छोड़ी, इसीलिए, इनके हाथ का अन्न निषिद्ध हुआ। राजा राजेन्द्र लाल मित्र कहते हैं कि बौद्ध पड़ौसियों के अनुरोध से हिन्दुओं ने गोमांस खाना छोड़ा।" (भारतवर्ष में जाति-भेद)

जाति की प्रथा ने हिन्दू-समाज की सेवा इसी रूप में की है। इस प्रथा का उद्देश्य ही भारतीय संस्कृति के ढाँचे में यहाँ आनेवाली हरएक जाति को कस लेना था। मंगोल, यूनानी, शक, आभीर, युची और हूण तथा मुस्लिम आक्रमण के पहले आनेवाले तुर्क, जातिप्रथा के जन्म के बाद जो भी लोग इस देश में आये, उन्हें भारतीय समाज के अन्दर पचाने में सबसे अधिक योगदान इसी प्रथा ने दिया, क्योंकि इस देश में यह समस्या ही नहीं थी कि नवागन्तुक जाति के लोग समाज में कहाँ पर रखे जायँ। जातियों की श्रेणियाँ अनेक थीं और वे दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही थीं। अतएव, नवागन्तुक लोगों में से हरएक को अपनी वैयक्तिक अथवा पारिवारिक संस्कृति के अनुसार जाति के ढाँचे में उपयुक्त स्थान आसानी से मिल जाता था।

---

*इतिहास-प्रवेश

अन्तर्जातीय विवाह

अन्तर्जातीय विवाह की बात सुनकर आज का औसत हिन्दू नाक-भौं सिकोड़ने लगता है, किन्तु, प्राचीन काल में ऐसी बात नहीं थी। जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य) थे, उनके बीच तो अन्तर्जातीय विवाह चलता ही था, द्विज और शूद्र के बीच भी विवाह पर रोक नहीं थी। हाँ, ऐसे विवाहों से उत्पन्न होने वाली संतानों को समाज में कुछ निम्न पद अवश्य दिया जाता था। किन्तु, धर्मशास्त्रकार इन संतानों को समाज से बाहर नहीं समझते थे। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न होनेवाली संतानों की जातियाँ क्या हों, इस विषय में धर्मशास्त्र बराबर चिन्तन करते रहे एवं समय-समय पर जो निर्णय शास्त्रकारों ने दिये, उनसे भी जाति की संख्या में बहुत वृद्धि हुई। उदाहरणार्थ, धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण या क्षत्रिय पिता तथा शूद्र माता से उत्पन्न संतान नापित कहलाती है; द्विज पिता और शूद्र माता की संतान उग्र कहलाती है; वैश्य-क्षत्रिय से उत्पन्न पिता और शूद्र-वैश्य से उत्पन्न माता की संतान करन होती है; शूद्र पिता और ब्राह्मण माता से उत्पन्न संतान शूनिक, निषाद या व्रात्य कहलाती है। महामहोपाध्याय श्री वी.पी. काणे ने अपने "धर्मशास्त्रों का इतिहास" नामक ग्रन्थ में तथा श्री शैलेन्द्र नाथ सेन गुप्त ने पश्चिमी बंगाल की १९५१ ई० वाली जनगणना रिपोर्ट में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न होने वाली जातियों का सुस्पष्ट वर्गीकरण किया है। श्री सेनगुप्त ने ऐसी २०९ जातियों की गणना की है, जो आर्येतर जातियाँ थीं और जिनका आर्य-समाज में प्रवेश प्रतिलोम या अनुलोम विवाहों के द्वारा हुआ है।

यह अवस्था ई. पू. १००० या उससे बाद की है। यदि इस काल से और पीछे चल तो महाभारत के समय विवाहों में और भी उदारता बरती जाती थी एवं आर्येतर नारियाँ आर्यों के गृह में पूर्ण आदर का स्थान आसानी से प्राप्त कर लेती थीं। स्वयं कृष्णद्वैपायन व्यास का जन्म सत्यवती या मत्स्यगंधा की कुक्षि से हुआ था, जो, कदाचित्, दास जाति की कन्या थी। भगवान् कृष्ण की माता देवकी असुर वंश की (कंस की बहन) कन्या थी, यद्यपि, कृष्ण के पिता वसुदेव आर्य-क्षत्रिय थे। भीम ने हिडिम्बा नाम की राक्षसी (आर्येतर) से विवाह किया था। अर्जुन का एक ब्याह उलूपी से हुआ था, जो नागजाति की कन्या थी। श्रुतश्रवा ऋषि के पुत्र सोमश्रवा "नागकन्या के गर्भ से उत्पन्न महातपस्वी, स्वाध्यायसंपन्न और तपोवीर्यसंभूत थे। जरत्का रुऋषि का जब कहीं ब्याह नहीं हो सका तब नागराज वासुकि (आर्येतर) ने अपनी बहन का ब्याह उनके साथ कर दिया। इसी दंपति के पुत्र आस्तीक हुए, जिन्होंने जनमेजय से अनुरोध किया था कि वे नागों का नाश नहीं करें। नाग जाति की कन्याएँ अतीव रूपवती हुआ करती थीं और बहुधा आर्य उनसे प्रसन्नतापूर्वक ब्याह करते थे। आर्यसमाज में नागों से विवाह की प्रथा इतनी अधिक प्रचलित हो गई थी

कि ऐसे विवाहों से उत्पन्न संतान, अनायास, पिता की जाति में मान ली जाती थी। जरत्कारु के समान, मन्दपाल ऋषि ने भी अन्यत्र विवाह की संभावना नहीं देख कर एक तिर्यक्-कन्या (आर्येतर) से ब्याह किया था जिसकी कुक्षि से चार पुत्र जन्मे और चारों ब्रह्मवेत्ता हुए। और तो और, जिस वीर के नाम पर हमारा देश भारत कहलाता है, दुष्यन्त का वह यशस्वी पुत्र भरत भी किसी आर्य कन्या नहीं, अपितु अप्सरा की बेटी (शकुन्तला) की कोख से जन्मा था। और भगवान् बुद्ध के विषय में यह अनुमान है कि उनके वंश में भी आर्य और मंगोल रक्त का मिश्रण था।

अनुलोम-क्रम से असवर्ण विवाह महाभारत युग में खूब प्रचलित था। आरंभ के पौराणिक युग तक भी वह निन्दित नहीं हुआ। निन्दा इसकी पिछले पौराणिक काल में आकर होने लगी। पहले उच्च वर्णवालों को अपनी जाति से नीचे की जातियों में से कन्या लेने में कोई आपत्ति नहीं थी। जब आपत्ति की बात सामने आई, तब पहले उन्होंने शूद्र कुल को छोड़ा और पीछे वैश्य एवं क्षत्रिय कुलों को भी।

नारी रत्न मानी जाती थी और रत्नों का संचय कुठौर से भी करना आर्यों के यहाँ सत्कर्म माना जाता था। वेदों की कई ऋचाएँ नारियों की रचनाएँ हैं; फिर यह कैसे हुआ कि नारी और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं रहा? इस सम्बन्ध में विचार करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि "जब आर्य लोग इस देश में आये होंगे तब, स्वभावतः ही, उनके साथ स्त्रियों की संख्या कम रही होगी। इसी लिए, आर्येतर जाति की कन्या ग्रहण करने में उन्हें आपत्ति नहीं रही होगी। अन्त में, इन आर्येतर जाति की स्त्रियों की संख्या ही अधिक हो उठी होगी और उनकी प्रवृत्ति भी पतिकुल के यज्ञ-यागादि की अपेक्षा पितृकुल की पूजा-पद्धति की ओर ही अधिक रही होगी। इसीलिए, वे स्वयं भी, शायद, यज्ञादि कृत्यों में विशेष उत्साहशीला नहीं रही होंगी। इसलिए, अन्त में, स्त्री और शूद्र को एक श्रेणी में डाल दिया गया होगा।"*

आर्यों को अपने रक्त की पवित्रता को बनाये रखने का ध्यान अवश्य था, किन्तु, रक्त की पवित्रता बची नहीं। अन्तर्जातीय विवाहों के द्वारा आर्य और आर्येतर रक्त का काफी सम्मिश्रण हुआ और इसी सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप, आर्यों व द्राविड़ों का वांशिक भेद निःशेष हो गया। दोनों जातियाँ घुल-मिल कर एक हो गई; उनका धर्म एक हो गया; उनके विचार एक हो गये; उनका साहित्य और कला एक हो गई। यद्यपि, वे भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते रहे, किन्तु, संस्कृत के व्यापक प्रचार के कारण, उनमें भाषागत एकता भी आ गई। संसार में सर्वत्र नारियाँ संस्कृति की पालिका समझी जाती हैं, किन्तु, भारत में उन्होंने सांस्कृतिक समन्वय को भी संभव बना दिया।

---

*संस्कृति-संगम

आज तो जाति-प्रथा में केवल दोष ही दोष रह गये हैं, मगर, जब यह प्रथा जारी हुई थी, उस समय इस देश को एक करने तथा यहाँ बसनेवाली अनेक जातियों को एक समाज के अन्दर लाने में इस प्रथा ने जबर्दस्त सहायता पहुँचायी थी। जिस समस्या के मुकाबिले, आर्यों ने जाति-प्रथा का शास्त्र निकाला, वैसी ही समस्याएँ कुछ और देशों में भी खड़ी हुई। लेकिन, वहाँ जो समाधान निकाले गये, वे क्रूर और अमानुषिक थे। जब कोई जाति, अपने से भिन्न किसी अन्य जाति पर विजयी होती है तब उसके सामने यह सवाल आता है कि हारी हुई जाति से क्या सलूक किया जाय। कहीं-कहीं तो लोग हारी हुई जाति के सदस्यों को मार ही डालते हैं। अमेरिका और आस्ट्रेलिया में जब यह समस्या खड़ी हुई तब गोरों ने कालों को चुन-चुन कर मार डाला और स्वयं निष्कंटक होकर उन देशों में बस गये। आज भी, दक्षिण अफ्रीका में जो गोरे और काले की समस्या पेश है, वह बहुत कुछ वैसी ही है, जैसी आर्यों के आने के बाद इस देश में उठी होगी। और आज भी अफ्रीका की सरकार उस समस्या का समाधान दमन और अत्याचार से ही करना चाह रही है। लेकिन, भारत में आर्यों ने जिस नीति से काम लिया, वह तलवार से अधिक गौरवपूर्ण और उससे कहीं कार-गर भी सिद्ध हुई।

समन्वय की प्रक्रिया

भारत की अन्य जातियों ने आर्यों के द्वारा चलायी गयी जाति-प्रथा को स्वीकार कर लिया, यह हमारे देश में संस्कृति-समन्वय का पहला कदम था। इससे इतना हुआ कि आर्य, द्रविड़, औष्ट्रिक और नीग्रो, तथा सभी मंगोल खान्दानों के लोग एक समाज के सदस्य होगये, जिसका नाम आगे चलकर हिन्दू-समाज पड़ गया। लेकिन, समन्वय की बातें यहीं नहीं रुकीं और न यही हुआ कि आर्यों ने अपनी संस्कृति बाकी लोगों पर लाद दी। आर्य अपनी संस्कृति का प्रचार करने को उत्सुक थे, यह ठीक है, लेकिन, सभी जातियों का जब एक समाज हो गया तब सबकी आदतें, सब के रस्म-रिवाज और सबके धर्म एक-दूसरे को प्रभावित करने लगे तथा इस प्रभाव से आर्य भी नहीं बच सके। बल्कि, अचरज तो यह है कि आर्य जिन बातों पर खास तौर से जोर देते थे, वे बातें पोथियों और पंडितों तक ही सीमित रह गयीं और विशाल जनता ने, अधिकांश में, उन बातों को अपना लिया जो बातें द्रविड-समाज में प्रचलित थीं अथवा जो रिवाज अन्य आर्येतर जातियों के लोगों में चले आ रहे थे। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति का आज जो रूप है, उसके भीतर प्रधानता उन बातों की नहीं है, जो ऋग्वेद में लिखी मिलती हैं, बल्कि, हमारे समाज की बहुत-सी रीतियाँ और हमारे धर्म के बहुत-से अनुष्ठान ऐसे हैं जिन का उल्लेख वेदों में नहीं मिलता। और जिन बातों का उल्लेख वेदों में नहीं मिलता उनके बारे में विद्वानों का मत है कि या तो वे आर्येतर सभ्यता की देन हैं अथवा उनका विकास आर्यों के आने के बाद आर्य

और आर्येतर दोनों संस्कृतियों के मेल से हुआ है। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का तो यहाँ तक कहना है कि हिन्दू संस्कृति का आधे से अधिक उपादान आर्येतर संस्कृतियों से आया है, आधे से कम ही ऐसा है, जिसे हम, शुद्धतः, आर्य-संस्कृति की देन कह सकते हैं।[१]

इस देश की प्राचीनतम संस्कृति का ज्ञान हमें, प्रधानतः, दो सूत्रों से होता है। एक तो है ऋग्वेद, जो वेदों में सबसे प्राचीन है और जो केवल भारत का ही नहीं, सारे संसार का प्राचीनतम ग्रंथ है। दूसरा प्रमाण महंजोदरो और हरप्पा हैं। ये दोनों स्थान पंजाब और सिन्ध में हैं और वहाँ जो खुदाई हुई, उसमे बहुत-सी ऐसी सामग्रियाँ हाथ लगी हैं, जिनसे मालूम होता है कि जब आर्य यहाँ नहीं आये थे, तब भी इन जगहों पर बहुत बड़ी सभ्यता मौजूद थी। यह सभ्यता किस की थी, इसका ठीक निर्णय अभी नहीं हो पाया है, लेकिन, अनुमान है कि यह द्राविड़ों की सभ्यता रही होगी।

विद्वानों ने हिन्दू-संस्कृति का अब तक जो अध्ययन किया है, उसमें उनका तरीका यह रहा है कि वे हिन्दू-धर्म के किसी एक रूप को लेकर पीछे की ओर चलने लगते हैं और जाते-जाते वेदों में उसका मूल खोजते हैं। किन्तु, वेदों में हमारी संस्कृति के कई रूपों के केवल बीज ही मिलते हैं।[२] इन बीजों का विकास कैसे हुआ, यह कथा अधूरी रह जाय, अगर हम यह विश्वास करके नहीं चलें कि आर्य-संस्कृति के बहुत-से बीजों का विकास द्रविड़ संस्कृति के संपर्क में आकर हुआ। यही कारण है कि ऋग्वेद में जिस तत्त्व के बीज हैं, महंजोदरो और हरप्पा की खुदाई में उनसे मिलते-जुलते प्रमाण उपलब्ध होते हैं। क्योंकि सिन्धु-सभ्यता के लक्षण द्रविड़-समाज में थे और वे वहीं से आर्यों में आये।

केवल वेदों से हिन्दू-धर्म के विकास की सारी समस्याएँ हल नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, शिव की पूजा हिन्दू-समाज में जिस रूप में प्रचलित है, शिव का वह रूप वेद में नहीं मिलता। वेद के रुद्र-शिव प्रकृति के उग्र रूपों (आँधी, तूफान, बाढ़, बिजली,

---

१. "हिन्दुत्व ने कुछ गिने हुए सिद्धांतों में कट्टरता से विश्वास करने के बदले, अत्यन्त व्यापक उदारता का विकास किया। आदिवासी जनता के पास जो अनेक देवी-देवता थे तथा बाद को जो देवता दूसरी जातियों के साथ आर्यवृत्त में बाहर से आये, उन सब को हिन्दुत्व ने स्वीकार कर लिया एवं, कालक्रम में, उसने यह भी सिद्ध कर दिखाया कि ये देवीदेवता हिन्दुत्व के ही हैं।"—डाक्टर राधाकृष्णन (हिन्दू विउ आव् लाइफ)

२. "प्राचीन काल में भी दर्शन, धर्म और संस्कृति के मूल उपकरणों की खोज लोग वेदों के मंत्रद्रष्टा ऋषियों की वाणी में करते थे और यह बात गलत भी नहीं थी क्योंकि बाद को विकसित होने वाली सारी भारतीय आध्यात्मिकता के बीज अथवा पहली अभिव्यक्तियाँ वेदों में उपलब्ध हैं।" —महर्षि अरविन्द

वज्रपात, महामारी, भूकम्प आदि) की कल्पना पर आधारित हैं। किन्तु, वे भाँग और धतूरा क्यों खाने लगे, गजाजिन और मुंडमाल क्यों पहनने लगे, श्मशान की धूल अंगों में क्यों लगाने लगे, बैलों की सवारी क्यों करने लगे, साँपों को शरीर में क्यों लिपटाने लगे और उनके नाम पर लिंग की पूजा क्यों चल पड़ी, इन शंकाओं का समाधान हमें वेदों में नहीं मिलता है। अतएव, शिव-भावना के विकास की कथा को समझने के लिए हमें आर्यों के समाज से बाहर द्रविड़ और औष्ट्रिक समाजों की ओर देखना ही पड़ता है। इसी प्रकार, उमा की, परमेश्वरी के रूप में कल्पना, उपनिषद् में मिलती है। सिर्फ यही समझ में नहीं आता कि उनके चामुंडा, काली आदि कराल रूपों की कल्पना कैसे चल पड़ी। साँपों की पूजा, भूत, प्रेत और पिशाच का भय, नाना प्रकार के टोटमे और ऐसी ही अन्य अनेक बातें हिन्दू-धर्म में कई हजार साल से चिपकी हुई हैं जिनका मूल हम वेद में नहीं पाते तथा जिनके बारे में यह अनुमान है कि वे आर्येतर-समाज से, प्रधानतः, औष्ट्रिक और नीग्रो संस्कृतियों से, आकर हिन्दू-धर्म में मिल गयी हैं।

आर्यों की जाति भावुक और प्रकृतिपूजक थी। उसके प्रधान देवता अग्नि, इन्द्र, वरुण, पूषण, सोम, ऊषा और पर्जन्य थे। यह कैसे हुआ कि वेदों के इन देवताओं की पूजा रुक गई और हिन्दू-समाज के प्रधान देवता विष्णु और शिव बन बैठे तथा उनके नेतृत्व में तैंतीस करोड़ देवता आ जुटे? और जैसे ऋग्वेद के थोड़े-से देवताओं की जगह पर हिन्दू-धर्म में तैंतीस करोड़ देवताओं को स्थान मिल गया, वैसे ही, हिन्दू-समाज में ऐसे सैकड़ों व्रत, आचार, अनुष्ठान और रिवाज भी चल पड़े जिनका उल्लेख वेदों में नहीं मिलता है। इसी प्रकार, वेदों के बाद, जब पुराणों का जमाना आया, तब पुराणों में अद्भुत कथाओं और कहानियों का अम्बार लग गया। ये कथाएँ और कहानियाँ केवल आर्यों के मस्तिष्क की उपज नहीं थीं, बल्कि, द्रविड़, औष्ट्रिक एवं नीग्रो समाज में तथा बाद को आनेवाली मंगोल, यूनानी, शक, आभीर आदि जातियों के यहाँ दन्तकथाओं के रूप में जो कहानियाँ प्रचलित थीं वे आर्यों के साहित्य में भी घुस पड़ीं और ऋषियों ने, आवश्यकतानुसार, उन्हें जब-तब कुछ नया रूप भी दे दिया। इसका एक प्रमाण यह भी है कि बहुत ज्यादा कहानियाँ ऐसी हैं जो किसी-न-किसी रूप में दक्षिण के प्राचीन साहित्य में भी मिलती हैं तथा जिनका समावेश बौद्ध जातकों में भी पाया जाता है। अगर वनवासी लोगों की दन्तकथाओं का संग्रह किया जाय तो उनसे भी इस अनुमान का समर्थन मिल सकता है।

यह समन्वय कैसे संभव हुआ, इसका एक कारण तो यह है कि एक समाज का सदस्य हो जाने पर लोगों के रीति-रिवाज आपस में एक-दूसरे पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकते। दूसरे, आर्यों का उद्देश्य अन्य जातियों के संपर्क से बचना नहीं, बल्कि, उनके समाज में आर्य-संस्कृति का प्रचार करना था और वे लोगों की अपनी सांस्कृतिक विरासत

को एकदम तोड़ना नहीं चाहते थे। अगर आर्य इस मिश्रण को रोकना भी चाहते तो, शायद, नहीं रोक सकते थे। क्योंकि शादी-विवाह के द्वारा जब आर्येतर स्त्रियाँ आर्यों के घर आने लगीं तब उनके साथ कुछ पैतृक देवता और धार्मिक रिवाज भी आर्यों के घरों में प्रवेश पाने लगे। इस प्रकार, आर्यों के यहाँ बहुत-से ऐसे रिवाज आ गये जिन्हें आर्य दिल से पसंद नहीं करते थे। साथ ही, जब आर्य और द्रविड़ का संघर्ष मिट गया, तब द्रविड़ राजे और पंडित भी आर्यों से एकाकार हो गये और उनके बीच कोई बड़ा भेद नहीं रह गया, फिर जो आर्य स्त्रियाँ द्राविड़ों के घर गईं, उनके साथ आर्य-संस्कार भी द्राविड़ों के परिवारों में पहुँचे और धीरे-धीरे आर्यों और द्राविड़ों के बीच वे बातें प्रमुखता पाने लगीं जो उनकी विभिन्नता को घटाने और उनकी एकता को बढ़ानेवाली थीं। कालक्रम में, यह संबंध इतना प्रगाढ़ होगया कि सारे देश में आर्य और द्राविड़ एक-से दिखाई देने लगे और उनका रस्म-रिवाज, इतिहास-पुराण, साहित्य और संस्कृति, सब-कुछ एक हो गया। आर्य बहुत मात्रा में द्राविड़ और द्राविड़ बहुत मात्रा में आर्य हो गये और इन्हीं दोनों जातियों ने मिलकर उस संस्कृति, जाति या समाज का निर्माण किया, जिसे हम हिन्दू-समाज कहते हैं। विदेशियों ने हमें जो हिन्दू नाम दिया, हमारी एकता उस नाम से भी बढ़ी है, क्योंकि अब हम संसार में आर्य या द्राविड़ नहीं, बल्कि हिन्दू नामक एक ही नाम से विख्यात हैं। यह समझना निरी मूर्खता है कि हिन्दू-संस्कृति के मानी आर्य-संस्कृति के होते हैं और आर्य-संस्कृति वह संस्कृति है जो सिर्फ वेदों से निकली है। वेद में जो कुछ था वह भारतीय जनता की संस्कृति के समुद्र में ठीक उसी तरह डूब गया, जैसे आर्य-द्रविड़ संस्कृतियों के मिलन से उत्पन्न हिन्दू-संस्कृति के समुद्र में आर्यों के बाद इस देश में आनेवाली अनेक जातियों की संस्कृतियाँ विलीन हो गयीं। ऋग्वेद, शायद, केवल आर्यों का ही ग्रन्थ था, लेकिन, उसके बाद, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों और दर्शनों का जो निर्माण हुआ, उनके पीछे केवल आर्य ही नहीं, द्रविड़ संस्कृति का भी जबर्दस्त प्रभाव काम करता था और इस विशाल हिन्दू-साहित्य पर द्राविड़ों का भी उतना ही अधिकार है, जितना आर्यों का।

विंध्य के उत्तर को हम, सामान्यतः, आर्य एवं उसके दक्षिण को द्रविड़ देश कहते हैं। आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों के मिलन के बाद भी, आरंभ में, हिन्दुत्व का नेतृत्व उत्तर भारत के हाथ रहा। लेकिन, शंकराचार्य (आठवीं सदी) के समय से यह नेतृत्व, निश्चित रूप से, दक्षिण चला गया और तब से हिन्दू-धर्म के प्रधान नेता, दार्शनिक और महात्मा, अधिकतर, दक्षिण में ही उत्पन्न होते रहे हैं।

भौगोलिक एकता का भाव

द्रविड़ भाषाएँ सिमटकर दक्षिण में क्यों रह गईं, इसका सुनिश्चित कारण अब तक जाना नहीं जा सका है। भाषाएँ अनेक हों तो एकता के बढ़ने में कठिनाई होती है। जातियाँ

अनेक हों तब भी एकता को अनुकूल वातावरण नहीं मिलता। ये दोनों दोष भारत में विद्यमान थे। किन्तु, संस्कृत के प्रचार ने भाषा-भेद वाली कठिनाई दूर कर दी। उत्तर के सभी लोगों ने संस्कृत को अपनी भाषा मान लिया एवं दक्षिण के पंडितों की भी भाषा संस्कृत हो गई। साथ ही, संस्कृत हिन्दू-संस्कृति की भाषा बन गई एवं सारे देश के चिन्तक संस्कृत में ही साहित्य रचने लगे। संस्कृत और हिन्दू-संस्कृति के अनुशासन के नीचे, विभिन्न जातियों एवं विभिन्न भाषाओंवाला यह महादेश पूर्ण रूप से एक हो गया।

आरंभ से ही हमारे तीर्थ देश के किसी एक भाग में नहीं, प्रत्युत्, सर्वत्र स्थापित होने लगे। रामकथा में प्रसिद्ध स्थान (पंचवटी, रामेश्वरम्, आदि) उत्तर और दक्षिण, दोनों भागों की धार्मिक जनता के द्वारा पवित्र गिने जाने लगे। देश की एकता की अभिवृद्धि कृष्ण-कथा से अधिक रामकथा को लेकर हुई है। रामेश्वरम्, बालाजी, विष्णु-कांची, आदि तीर्थ रामाश्रयी वैष्णवों के कारण प्रख्यात हुए और उत्तर की जनता उनकी ओर बहुत कुछ उसी भाव से देखने लगी, जैसे मुसलमान मक्का अथवा ईसाई जेरूसलेम की ओर देखते हैं। इसी प्रकार, दक्षिण की धार्मिक जनता भी राम और कृष्ण के उत्तरवाले लीलास्थलों पर जाकर अपने जीवन को धन्य बनाने के लिए, आरंभ से ही, उत्सुक रहती आई है।

उत्तर को आर्यों का देश और दक्षिण को द्रविड़ों का देश समझने का भाव यहाँ कभी भी नहीं पनपा, क्योंकि आर्य और द्रविड़ नाम से दो जातियों का विभेद यहाँ हुआ ही नहीं था। समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण वाला भूभाग यहाँ हमेशा से एक देश माना जाता रहा है। पुराणों में भारत की यह भौगोलिक एकता स्पष्ट रूप से वर्णित है।

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्तति।

(वायुपुराण)

धर्म और संस्कृति के अधीन एकता प्राप्त करने वाले इस देश के धार्मिक व्यक्ति आज भी स्नान के समय भारत की विभिन्न नदियों का नाम एक साथ लेते हैं :—

गंगा च यमुना चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदा सिंधु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधं कुरु।

यही नहीं, प्रत्युत्, देश की मोक्षदायिका नगरियों की सूची में भी उत्तर और दक्षिण, दोनों भूभागों की नगरियाँ सम्मिलित हैं, जिनका धार्मिक भाव से नामोच्चार उत्तर और दक्षिण, दोनों भागों की जनता करती है :

अयोध्या-मथुरा-माया-काशी-कांची-अवन्तिका।
पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैते मोक्षदायिका।

इस धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता का प्रभाव भारत की राजनीति पर भी पड़ा। यह ठीक है कि आवेश में आकर प्रान्तों के क्षत्रिय राजे बहुधा अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने को केन्द्रीय सत्ता से विद्रोह कर उठते थे। किन्तु, उससे अधिक सत्य यह बात है कि भारत के राजाओं के सामने चक्रवर्ती-पद पाने का उद्देश्य सबसे बड़ा था। चक्रवर्ती सम्राट् कहलाने के लिए यहाँ अश्वमेध के घोड़े छोड़े जाते थे अथवा अकारण पड़ोस के राजाओं से युद्ध ठान लिया जाता था। किन्तु, इन लड़ाइयों का उद्देश्य केवल धन या प्रभुता की ही वृद्धि नहीं था। कुछ यह कारण भी था कि सारे भारत को एक राज्य के अधीन लाने की प्रेरणा देश के भूगोल की सबसे बड़ी शिक्षा थी। भारत की प्राकृतिक सीमा के बाहर जाकर अन्य देशों पर आक्रमण करने की बात यहाँ के राजाओं को कभी सूझी ही नहीं। कदाचित् ऐसे आक्रमणों को यहाँ के राजे हिंसा समझते थे और ऐसी हिंसा में वे पड़ना नहीं चाहते थे। किन्तु, देश के भीतर अधिक से अधिक भागों को अपने बस में लाकर बड़ी से बड़ी राजनीतिक एकता की सृष्टि करने का भाव हमारे सभी बड़े राजाओं में मौजूद रहा है।

तीर्थों को लेकर भारतवासी सारे देश में घूमते थे। शास्त्रार्थ अथवा नये विचारों का प्रचार करने को सभी भागों के संस्कृत विद्वान् सारे भारत में भ्रमण करते थे। सारे देश के श्रेष्ठ साहित्य की भाषा संस्कृत थी। पीछे, जब देश भाषाओं का समय आया, तब भी विभिन्न-भाषाओं में भारत की वही मानस-धारा प्रवाहित होने लगी, जो संस्कृत में बहती थी। अतएव, जाति और भाषागत भिन्नताएँ चूर-चूर हो गईं और सारे देश का हृदय एवं मस्तिष्क सिमट कर एक हृदय और एक मस्तिष्क हो गया।

समन्वय के कुछ उदाहरण

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, यह सिद्ध करना अत्यंत कठिन है कि हिंदू-संस्कृति की कौन-सी बात द्रविड़ सभ्यता से आयी है और कौन-सी बात आर्य-सभ्यता से। किन्तु, बहुत-से लक्षण ऐसे मिलते हैं, जिनसे हम कुछ अनुमान लगा सकते हैं। हमारे देवी-देवताओं में से अनेक ऐसे हैं जिनके विकास में केवल आर्य ही नहीं, द्रविड़ एवं अन्य आर्येतर कल्पनाओं का भी हाथ है और हमारे व्रतों और अनुष्ठानों में से भी कइयों का विकास दोनों ही सभ्यताओं के योग से हुआ है। नीचे जो थोड़े-से उदाहरण दिये जा रहे हैं, उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

शैव धर्म

विद्वानों में यह मत प्रचलित हो गया है कि शैव धर्म द्रविड़ संस्कृति की देन है। ऐसा मानने का मुख्य कारण यह है कि ऋग्वेद में 'बाण की तरह चमकते आनेवाले' जिस रुद्र का उल्लेख ह, वे रुद्र मरुतों के स्वामी हैं और उनका ठीक-ठीक मेल हिन्दुओं की आज की

शैव भावना से नहीं बैठता। आर्य बड़े ही भावुक और प्रकृति-पूजक लोग थे। उन्होंने प्रकृति के प्रिय और रमणीय रूपों पर, जैसे ऊषा देवी की कल्पना की थी, उसी प्रकार, प्रकृति के भयानक रूपों पर उन्होंने रुद्र की कल्पना उतारी। यजुर्वेद के शतरुद्रीय अध्याय में रुद्र के साथ शिव और गिरीश का भी उल्लेख मिलता है और उसके बाद, श्वेताश्वतरोपनिषद् में रुद्र की कल्पना बहुत-कुछ ब्रह्म का स्थान ले लेती है। लेकिन, ये शैव भावना की सीढ़ियाँ हैं, जो आर्य और आर्येतर-संस्कृतियों के मिलन के बाद बढ़ती गई हैं। विचारने की मुख्य बात यह है कि महंजोदरो और हरप्पा की खुदाई में शिव की मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस देश में शिव की पूजा प्रचलित थी। फिर यह बात भी है कि शिवपुराण में यह स्पष्ट कथा आती है कि ऋषियों ने शिव पर क्रोध किया और उन्हें शाप दे डाला, जिससे उनके लिंग के नौ टुकड़े हो गये। शिवपुराण के आधार पर ही, हिन्दू शिव का प्रसाद खाना निषिद्ध मानते हैं। एक कथा यह भी है कि दक्ष-प्रजापति के यज्ञ में शिव को स्थान नहीं दिया गया था। इन सारी बातों से विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि आर्यों के यहाँ शिव-भावना की स्वीकृति जरा विलंब से हुई है और, आरंभ में, समाज के धार्मिक नेता इस बात के लिए तैयार नहीं थे कि लोग शिव को आर्य-देवता के रूप में ग्रहण करें। संभवतः, जब आर्यों का द्राविड़ों के साथ विवाह-संबंध होने लगा, तब द्रविड़ स्त्रियों के साथ शिव की भावना आर्यों के घरों में पहुँची और, यद्यपि, आर्य पंडित और पुरोहित इस भावना के प्रसार को अनेक उपायों से रोकना चाहते थे, तथापि गृहों में नारियों की प्रधानता होने के कारण, आर्य-परिवारों में भी यह भावना बढ़ती ही गई। अब तो नर-नारी, दोनों ही, शिव की भक्ति बड़ी ही श्रद्धा से करते हैं, किन्तु, तुलना करने पर आज भी यह देखा जा सकता है कि शिव की पूजा नरों से अधिक नारियों में प्रचलित है।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपनी पुस्तक "संस्कृति-संगम" में इस विषय का बहुत ही विशद विवेचन किया है। स्कन्द-पुराण, लिंग-पुराण, वामन-पुराण, कूर्म-पुराण, शिव-पुराण और पद्म-पुराण से उद्धरण और हवाले देकर उन्होंने यह बतलाया है कि कैसे शिवजी अश्लील व्यभिचारियों की तरह आचरण करते थे, कैसे उनके आचारों को देखकर मुनि-पत्नियाँ काम-मोहित हो जाती थीं और कैसे मुनिगण शिवजी पर कुपित होकर मुष्टि-प्रहार करते थे, उन्हें अपशब्द कहते थे और शाप देते थे।[1] इन उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है

१. "महादेव नग्न वेश में नवीन तापस का रूप धर कर मुनियों के तपोवन में आये। (वामन-पुराण, ४३ अध्याय, ५१-६२ श्लोक)। मुनिपत्नीगण ने देख कर उन्हें घेर लिया (वही ६३-६९ श्लोक)। मुनिगण अपने ही आश्रम में मुनि-पत्नियों की ऐसी अभव्य कामातुरता देखकर "मारो, मारो" कह कर काष्ठ-पाषाण आदि लेकर दौड़ पड़े :—

कि मुनि-पत्नियों में शिव की पूजा के लिए अदम्य उत्साह था और मुनिगण, यद्यपि, अपनी पत्नियों को शिव से अलग रखना चाहते थे, किन्तु, इस कार्य में उन्हें सफलता नहीं मिलती थी। आचार्य जी लिखते हैं, "मुनि-पत्नियों का शिव-पूजा के प्रति जो यह उत्साह दिखाई पड़ता है उसका कारण पुराणों में उनकी कामुकता बताई गई है। पर यही क्या वास्तविक व्याख्या है ? संभवतः, उन दिनों मुनि-पत्नियाँ अधिकतर आर्येतर शूद्र-कुलोत्पन्ना थीं : इसीलिए, वे अपने पितृ-कुल-देवता की पूजा करने के लिए इतनी व्याकुल थीं। यही व्याख्या अधिक युक्तियुक्त जान पड़ती है।"

शिव-संबंधी कल्पना का विकास औष्ट्रिक और नीग्रो संस्कृतियों की भी देन है, यह बात डाक्टर भंडारकर भी मानते हैं। उनका कहना है कि रुद्र-शिव का संबंध, आरंभ में, जंगली जातियों से भी रहा होगा या यह भी संभव है कि जंगली जातियों के बीच प्रचलित देवताओं के भी गुण बाद को चल कर रुद्र-शिव की कल्पना में आ मिले। शिव का भाँग-धतूरा खाना और श्मशान में वास करना तथा उनके साथ शव, सर्प, खप्पर एवं हाथी के चमड़े का संबंध, ये सारी बातें जंगली लोगों के ही संस्कार से आयी होंगी जो सर्पपूजक रहे होंगे तथा जिनके देवता भी जंगली गुणों से युक्त रहे होंगे। हाथी के चमड़े (गजाजिन) वाली बात खुद में एक प्रमाण है ; क्योंकि हाथी मध्य एशिया में नहीं होते। फिर यह कैसे संभव है कि मध्य एशिया से आनेवाले आर्यों ने भारत में आने से पहले ही अपने देवता के लिए गजाजिन के लिबास की कल्पना कर ली ? डाक्टर सुनीति कुमार चटर्जी एक और नया

क्षोभं विलोक्य मुनयः आश्रमे तु स्वयोषिताम्।
हन्यतामिति संभाष्य काष्ठपाषाणपाणयः ।

(वामन-पुराण ४३।७०)

यह कह कर उन्होंने शिव के भीषण ऊर्ध्व लिंग को निपातित किया :—

पातयन्तिस्म देवस्य लिंगमूर्ध्वं विभीषणम्।

(वही ७१)

कूर्म-पुराण, उपरिभाग, ३७ अध्याय में कथा है कि पुरुष वेषधारी शिव नारी वेशधारी विष्णु को लेकर सहस्र मुनिगण-सेवित देवदारु-वन में विचरण करने लगे। उन्हें देख कर मुनि-पत्नियाँ कामार्त्त होकर निर्लज्ज आचरण करने लगीं (१३-१७ श्लोक)। मुनिगण मारे क्रोध के शिव की अतिशय निष्ठुर वाक्य से भर्त्सना करने और अभिशाप देने लगे :—

अतीव परुषं वाक्यं प्रोचुर्देवं कपर्दिनम् ।
शेपुश्च शर्पैर्विविधैः मायया तस्य मोहिताः।"

(कूर्म-पुराण ३७।२२)

प्रमाण देते हैं कि द्रविड़ लोग भारत में रोमसागर (मेडिटेरेनियन) के पास से आये थे तथा संभवतः, शिव एवं शक्ति-विषयक दार्शनिक भाव भी वे वहीं से साथ लाये थे। द्राविड़ों का मूल निवास कहीं एजियन समुद्र के पास पड़ता था जहाँ सिंह पर चढ़नेवाली देवी माता और साँढ़ पर चढ़नेवाले देव पिता की कल्पना पहले से ही प्रचलित थी। यहाँ भी यह बात ध्यान में आती है कि महंजोदड़ो में जो शिव की मूर्त्ति और बैल की प्रतिमा मिली है, उसका संबंध द्राविड़ों की शिवपूजा से अवश्य रहा होगा।

धर्मानन्द कोसाम्बी ने शैव-धर्म के विकास पर एक विचित्र दृष्टिकोण से विचार किया है। उनका ख्याल है कि वेद के रुद्र और बाद के शिव एक ही हैं। हाँ, जब इन्द्र की पूजा प्रचलित थी, तब शिव नहीं पूजे जाते थे। यजुर्वेद के समय आते-आते स्थिति बहुत बदल गई और एक ही रुद्र ब्राह्मणों को कई रूपों में दिखाई दने लगे। यजुर्वेद की तैत्तरीय संहिता से उद्धरण देकर उन्होंने बताया है कि कैसे ऋषि रुद्र को "चोरों का, डाकुओं का, ब्रात्यों का अधिपति" समझते थे; फिर आश्वलायन गृह्य सूत्र से उद्धरण देकर उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि रुद्र की प्रसन्नता के लिए उन दिनों शूलगाव यज्ञ करने की भी प्रथा थी जिसमें ऊँचे स्कन्धवाले बैलों की बलि दी जाती थी। उनका कहना है कि वेदकाल से लेकर शकों के समय तक महादेव अत्यन्त क्रूर देवता थे। महादेव से महेश्वर वे पाणिनि के समय बने और तभी से अहिंसक भी। श्वेताश्वतरोपनिषद् के बारे में उनका ख्याल है कि इसकी रचना श्वेताश्वतर नाम के किसी पंडित ने शक राजाओं की प्रसन्नता के लिए की थी, क्योंकि ये राजे कट्टर शैव थे।

सबसे विचित्र बात यह है कि लिंग-पूजा का आविर्भाव कोसाम्बी जी जैन और बौद्ध श्रमणों की दुर्दान्त काम-भावना से मानते हैं। जब अविवाहित बच्चे श्रमण बनाये जाने लगे और स्त्रियों का स्पर्श तक उनके लिए वर्जित कर दिया गया, तब इन तरुण संन्यासियों की प्रवृत्ति वाम-मार्ग की ओर हुई। "हस्तस्पर्शादि न कर केवल नग्न स्त्री को देखने से कोई नियम-भंग नहीं होता था और काम-भावना, अंशतः, तृप्त भी हो जाती थी। इसी तरह से, यह लिंगपूजा भी निकली होगी।"

किन्तु, यह निरी कपोल-कल्पना है। लिंग-पूजक तो आर्यों के आगमन के पूर्व ही, इस देश में वर्त्तमान थे, जिन्हें आर्यों ने "शिश्नदेवा" कहा है। अवश्य ही, ये शिश्नदेवा आर्येतर जाति के लोग रहे होंगे। हाँ, विविध आचार-बन्धनों से त्रस्त श्रमणों को वाम-मार्ग की ओर जाने की प्रेरणा लिंगपूजा से मिली हो, यह हो सकता है।

कार्त्तिकेय और गणेश

शिव की पूजा के साथ द्राविड़ों का अधिक पुराना और निकट का संबंध है, इस अनुमान का एक आधार यह भी माना जा सकता है कि जबकि उत्तर भारत में मुख्य-रूप से शिव

और उमा की ही पूजा प्रचलित है, तब दक्षिण में शिव के पूरे परिवार की पूजा का बड़ा ही व्यापक प्रचार है और शिव तथा उमा के साथ वहाँ कार्त्तिकेय और गणेश की पूजा भी बड़े ही उत्साह से की जाती है। उत्तर भारत में कार्त्तिकेय की मूर्त्ति सिर्फ विजयादशमी के अवसर पर दुर्गा के साथ बनायी जाती है और गणेश, अक्सर, शुभ और लाभ के बीच दूकानों पर विराजा करते हैं, लेकिन, दक्षिण के मन्दिरों में दोनों भाइयों की बड़ी-बड़ी विशाल मूर्त्तियाँ देखने में आती हैं, जिनकी बनावट से वीरता टपकी पड़ती है। दक्षिण में कार्त्तिकेय-विषयक अनेक धार्मिक कथाएँ भी प्रचलित हैं और उनके नाम भी अनेक हैं। कार्त्तिकेय, षडानन और स्कन्द के अलावे, कार्त्तिकेय का एक नाम सुब्रह्मण्यम् भी दक्षिण में खूब प्रचलित है।

पण्डितों का विचार है कि द्राविड़ों के यहाँ यौवन, युद्ध और वीरता के एक अलग देवता थे, जिनका नाम मुरुकन था। कालक्रम में यही शिवजी के पुत्र कुमार स्कन्द हो गये, जिनका चरित उत्तर के हिन्दू सिर्फ पुराणों में पढ़ते हैं, किन्तु, दक्षिण में जो उत्साह के साथ सत्कृत और पूजित होते आ रहे हैं।

गणेश की कल्पना भी आरम्भ में विघ्नेश के रूप में चली थी और जैसा कि मनुष्य की देह पर हाथी का मस्तक लगाये हुए उनका भयानक रूप है, वैसे ही, लोग उन्हें डर कर ही पूजते थे। कहते हैं, जब बौद्ध धर्म की महायान-शाखा का जन्म हुआ, ये विघ्नेश ज्यों-के-त्यों उसमें आ विराजे और प्रत्येक अनुष्ठान के आरम्भ में उनकी प्रसन्नता के लिए पूजा की जाने लगी। किंतु, धीरे-धीरे ब्राह्मणों ने उन्हें विघ्नहर बना डाला और विघ्नहर-रूप में ही वे हमारे पौराणिक धर्म के साथ रहे हैं। एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उत्तर भारत में गणेश की मूर्तियाँ, प्रायः, खिलौनों के समान छोटी होती हैं, जबकि दक्षिण के मन्दिरों में गणेश की बड़ी-बड़ी विशाल और भयानक मूर्त्तियों के दर्शन होते हैं। गणेश के गजमस्तक होने की बात पर विचार करें तब तो स्पष्ट ही गणेश की कल्पना शुद्ध भारतीय मालूम होगी, क्योंकि आर्य जिस देश से यहाँ आये थे, उस देश में हाथी होते ही नहीं हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि गणेश की ॐ-मयी व्याख्या सातवीं सदी में ज्ञानेश्वरजी ने की और महाराष्ट्र में शारदा गणेश जी की पत्नी मानी जाती हैं, यद्यपि, दक्षिण भारत में गणेशजी को लोग अविवाहित और ब्रह्मचारी ही मानते हैं।

कार्त्तिक पर अब तक अनुसन्धान का कोई काम नहीं हुआ है। किन्तु, गणेश के सम्बन्ध में डा. संपूर्णानन्दजी वर्मा ने जो विद्वत्तापूर्ण पुस्तक लिखी है, उससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि गणेश केवल अवैदिक ही नहीं, आर्येतर देवता हैं। यजुर्वेद में जो यह मंत्र आता है कि—"**गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे, प्रियाणान्त्वा प्रियपतिं हवामहे, निधीनान्त्वा निधिपतिं हवामहे वसोमम। अहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम्।**"

उसे देख कर पंडितों को भ्रम होता था कि हो न हो, गणेश की कल्पना भी बीज-रूप में, वेद में विद्यमान थी। किंतु, अब यह बात निश्चित हो गई है कि "इस मंत्र में अश्वमेध के अश्व को गणपति कहा गया है।" संपूर्णानन्दजी लिखते हैं, "वेदों में तो गणेश जी हमको नहीं मिले,परंतु, पुराणों में उनकी सर्वत्र चर्चा है। तंत्रों में तो उनके ऐसे-ऐसे विग्रह देखने को मिलते हैं, जिनके सामने चकित रह जाना पड़ता है।....पुराणों की रचना गुप्तकाल के लगभग मानी जाती है। कुछ तंत्र-ग्रन्थ अथवा तंत्र-ग्रन्थों का कुछ अंश भी लगभग उतना ही पुराना है। जब पुराणों में गणेश जी की पूजा का विधान है तो ऐसा मानना ही चाहिए कि उनकी रचना के पहले यह पूजा स्थापित हो चुकी थी। अतः, ऐसा मानना अयुक्त नहीं जँचता कि विक्रम की पाँचवीं या छठी शती में भारत गणपतिपूजन से परिचित था। बुद्धदेव के समय गणपति देव-सूची में थे या नहीं, यह कहना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि बुद्धदेव ने ब्रह्मा, इन्द्र तथा कुछ और देवों के नाम लिये हैं, परन्तु, गणेश का नाम नहीं लिया है। तीर्थंकर, वर्द्धमान महावीर का भी, प्रायः, वही समय था। उन्होंने भी गणेश का नाम नहीं लिया है। प्रश्न यह है कि श्रुतिकाल के पीछे और पुराण-निर्माण-काल के पहले, गणेशजी कहाँ से आकर देवश्रेणी में सम्मिलित हुए ?"

इसका उत्तर यह है कि "आर्य लोग गणेश का अस्तित्व नहीं जानते थे। जब वे पूर्व की ओर बढ़े (स्मरण रहे कि संपूर्णानन्दजी आर्यों का मूलनिवास सप्तसिन्धु देश मानते हैं) तो उनका अनार्यों से संपर्क बढ़ा और बहुत-से अनार्य आर्य बस्तियों में बस गये। विजित पर तो विजेता की संस्कृति का रंग चढ़ा ही, परन्तु, विजेता भी अछूता नहीं बच सका। उसकी संस्कृति और आचार-विचार पर अनार्य प्रभाव पड़ कर रहा। विद्वानों के विरोध करते रहने पर भी निम्न कोटि के लोगों ने कुछ नये देव-देवियों को अपनाया। ऐसे देवदेवी असभ्य, जंगली लोगों में सर्वत्र पूज्य हैं। इनकी आकृति पशुपक्षियों की-सी होती है या प्रेत-पिशाच-जैसे मुँह और दाँत होते हैं। आज भी, बहुत-से गाँवों में ऐसे ग्रामदेवों की मिट्टी या लकड़ी की मूर्त्तियाँ देख पड़ती हैं। प्रायः, सभी क्रूरकर्मा होते हैं। भाँति-भाँति की पूजा करके इनको शान्त किया जाता है। अपने अनार्य पड़ोसियों से आर्यों ने नाग, गधे पर सवार होनेवाली शीतला और कुत्ते पर चढ़नेवाले भैरव के साथ मूषवाहन, हस्तिमुख विनायक को भी लिया।......विनायक विघ्नकर्त्ता थे, अच्छे कामों में भी बाधा डालते थे। इसलिए, प्रत्येक शुभ कर्म के आरम्भ में उनको मानना पड़ता था।" जब आर्यों ने उन्हें ग्रहण किया, उनका रूप बदलने लगा और वे विघ्नेश से विघ्नहर बन गये। "जब देव हो गये तब उनकी पूजा की पद्धति भी बनी, ढूँढ़-ढाँढ़ कर दो एक वेद-मंत्र भी उनको दिये गये और उनके नाम पर एक उपनिषत् की भी रचना की गई।" धीरे-धीरे, वे बौद्ध धर्म में भी प्रवेश पा गये और उसी के साथ भारत से बाहर भी पहुँचे जहाँ उनके अत्यन्त विचित्र

ध्यान प्रचलित हो गये। भारत में तो वे घर-घर पूजित हैं ही।

गणपति कोई विरूप देवता थे, जिन्हें इस देश की जनता पूजती थी। आर्यों ने या तो इन देवता का प्रताप देखकर अथवा इनके भक्तों को प्रसन्न करने के लिए इन्हें स्वीकार कर लिया। आचार्य क्षितिमोहन सेन पिछले भाव को ही प्रधान मानते हैं। उनका कहना है कि "अनेक अनार्य देवताओं को आर्य लोग अस्वीकार नहीं कर सके। आसपास के चतुर्दिक् प्रचलित प्रभाव को रोक रखना असंभव है। प्राचीन आर्यगण भी समझ सके थे कि गणचित्त को प्रसन्न किये बिना (इस देश में) वास करना कठिन है। इसीलिए, सब यज्ञों में पहले गणदेवता गणपति की पूजा की व्यवस्था की गई।" (संस्कृति-संगम)।

शिव के आर्य और द्रविड़ नाम

शिव-सम्बन्धी आर्य और द्रविड़ नामों की तुलना से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि शिव की कल्पना, अधिकांशतः, आर्येतर कल्पना है और, मुख्यतः, वह द्रविड़ संस्कार से आयी है। सुनीति बाबू के मतानुसार, शिव का तमिल नाम सिवन् है, जिसका अर्थ लाल या रक्त वर्ण होता है। प्राचीन काल में, शिव का एक आर्य नाम भी 'नील-लोहित' मिलता है जिसके भीतर शिव की गरलपान वाली कथा का संकेत है। इसी प्रकार, संस्कृत के शंभु शब्द की तुलना तमिल के 'सेम्बु' शब्द से की जाती है, जिसका तमिल में अर्थ ताँबा या लाल धातु होता है। इसलिए, अनुमान है कि द्राविडों के यहाँ जो ताम्रवर्ण के प्रतापी देवता थे, वही आर्यों के मरुत-स्वामी रुद्र से मिल गये तथा औष्ट्रिक जातिवालों के पास जो अनेक जंगली देवता थे उनके भी गुण धीरे-धीरे आकर रुद्र-शिव की भावना के साथ जुड़ने लगे। इस तरह, बहुत काल के बीत जाने पर शिव का रूप अत्यन्त विकसित हो गया और उसके एक छोर पर तो आर्यों की रुद्र-संबन्धी दार्शनिक भावना प्रतिष्ठित हुई, जिसे आर्य और द्रविड़, दोनों जातियों के शिष्ट वर्ग ने अपनाया और दूसरे छोर पर शिव के पारिवारिक रूप, उनके अवढर और दयालु होने की बात तथा उनके योगेश्वर, भूतेश और फक्कड़ एवं अघोर होने की कथाएँ आ जुड़ीं, जिनसे जन-साधारण को सन्तोष मिलने लगा।

वैष्णव धर्म

शैव धर्म के भीतर द्रविड़ प्रभाव के जितने प्रमाण मिलते हैं, वैष्णव धर्म के भीतर उस प्रभाव के उतने अधिक प्रमाण नहीं मिलते। मगर, यहाँ भी कई शंकाएँ हैं, जिनका समाधान केवल यह मान लेने से नहीं हो सकता कि वैष्णव मत में सब-का-सब सिर्फ आर्यों का दिया हुआ है। उदाहरण के लिए, पंडितों को यह शंका होती है कि गौरवर्ण के आर्यों ने काले रंग के विष्णु की कल्पना क्यों की। यह ठीक है कि ऋग्वेद में विष्णु शब्द का

उल्लेख मिलता है, मगर, वह 'सूर्य' के अर्थ में है* । तो जो देवता सूर्य के समान उज्ज्वल और चमकीला था, वह काला कैसे बन गया ? इससे भी बड़ी शंका की बात यह है कि गोपाल कृष्ण का उल्लेख आर्यों के प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता और राधा का उल्लेख, जो वैष्णव धर्म में इतनी पूजित हैं, वैष्णव मत के अत्यन्त प्रमुख पुराण, श्रीमद्भागवत में नहीं है । अगर वैष्णव धर्म आर्यों का बिल्कुल अपना आविष्कार होता तो इस धर्म के सभी पहलुओं के बीज आरम्भ के आर्य-साहित्य (वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि) में अवश्य मिलते । मगर, बात वैसी नहीं है । इसलिए, यह मानना अधिक युक्तिसंगत है कि यह धर्म भी द्रविड़, आभीर आदि अनेक जातियों की धार्मिक कल्पनाओं के योग से विकसित हुआ है ।

वैष्णव धर्म को अवैदिक मानते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि जिस भृगु ने लिंगधारी शिव को शाप दिया था, उसी ने विष्णु के वक्षस्थल पर भी पदाघात किया । "जान पड़ता है, भृगुगण खूब निष्ठावान् वैदिक थे । वैष्णव धर्म प्राचीनतर वैदिक के उस पदाघात से लांछित हो कर हमारे देश में प्रतिष्ठित हुआ । इन्द्र के बाद होने के कारण ही विष्णु का नाम "उपेन्द्र इन्द्रावरजः" (अमरकोष) पड़ा । इन दोनों ही नामों का अर्थ है इन्द्र का परवर्त्ती ।" इस प्रसंग में, इस बात पर भी ध्यान गये बिना नहीं रह सकता कि भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है कि उन्होंने इन्द्रपूजा का विरोध किया था और इन्द्र के नाम पर अर्पित पकवानों को वे स्वयं ही खा गये थे ।

डा. सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि आर्यों के सूर्यवाचक देवता विष्णु भारत में आकर द्राविड़ों के एक आकाश-देव से मिल गये, जिनका रंग, द्राविड़ों के अनुसार, आकाश के ही सदृश नीला अथवा श्याम था । तमिल भाषा में आकाश को 'विन्' भी कहते हैं, जिसका विष्णु शब्द से निकट का सम्बन्ध हो सकता है ।

डा. भण्डारकर के अनुसार, प्राचीन काल में वैष्णव धर्म, मुख्यतः, तीन तत्त्वों के योग से उत्पन्न हुआ था । पहला तत्त्व तो यह विष्णु नाम ही है, जिसका वेद में उल्लेख, सूर्य के अर्थ में, मिलता है । दूसरा तत्त्व नारायणधर्म का है, जिसका विवरण महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान में है । और तीसरा तत्त्व वासुदेव-मत का है । यह वासुदेव मत वसुदेव नामक एक ऐतिहासिक पुरुष (समय ६०० ई० पू०) के इर्द-गिर्द विकसित हुआ था । इन्हीं तीन तत्त्वों ने एक होकर वैष्णव धर्म को उत्पन्न किया । लेकिन, उसमें कृष्ण के ग्वाल रूप की कल्पना और राधा के साथ उनके प्रेम की कथा बाद में आयी और ये कथाएँ, शायद, आर्येतर जातियों में प्रचलित थीं ।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने अपनी "बदरीनाथ" नामक पुस्तक में विवरण

---

*द्वारकापुरी का कृष्ण-मन्दिर प्राचीन काल में सूर्यमन्दिर था, यह बात लेखक ने द्वारका में बसनेवाले पंडितों से सुनी है ।

दिया है कि बहुत प्राचीन काल में नर नामक अपने मित्र के साथ नारायण ऋषि बदरीनाथ में रहते थे और नारद उन दोनों की सेवा करते थे। इसी कारण, बदरीनाथ को नारदीय क्षेत्र भी कहते हैं। नारद ने यहीं पांचरात्र-मार्ग का प्रवर्त्तन किया, जिसके आराध्य नारायण ऋषि थे। यही मार्ग विकसित होकर वैष्णव धर्म हुआ, जिसमें वासुदेव और संकर्षण, लक्ष्मी और नारायण, राम और सीता तथा कृष्ण और राधा की पूजा की जाती है। पुराणों में यह भी कथा आई है कि जब सहस्रकवच नामक दैत्य देवताओं को बहुत त्रास देने लगा तब उसका वध करने के लिए स्वयं विष्णु ही नारायण और नर के रूप में अवतीर्ण हुए थे। द्वापर में नारायण तो कृष्ण हुए और नर अर्जुन।

श्री परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान (उत्तर भारत की संत परंपरा में) है कि उपनिषदों के युग में जो यज्ञ-विरोधी आन्दोलन उठे, उनमें सबसे अधिक प्रचार भक्ति-साधना का था। "उपनिषदों में कहा गया मिलता है कि आत्मा की उपलब्धि किसी बलहीन को नहीं होती और न वह उपदेशों से, अध्ययन से अथवा मेधा से ही साध्य है। वह जिस किसी को स्वयं वरण कर लेता है, वही उसे पाने में समर्थ हो जाता है और उसी के समक्ष वह अपने स्वरूप को प्रकट वा प्रदर्शित भी करता है। अतएव, आत्मा द्वारा वरण किये जाने के पूर्व उसे प्रार्थना या सेवा से प्रसन्न कर लेना परमावश्यक समझा गया। और इस प्रकार, एक मात्र हरि में एकाग्र भाव के साथ भक्ति करनेवाली साधना का भी 'एकान्तिक धर्म' के रूप में उदय हुआ। इसकी पूजन-पद्धति 'सात्वत-विधि' कहलाने लगी, जिसके प्रधान अंग भक्ति, आत्मसमर्पण एवं अहिंसा के भाव थे और जिसे अपना कर प्रचार करने वालों में वासुदेव-कृष्ण जैसे महान् व्यक्ति की भी गणना की जाती थी। इस कारण, आगे चलकर इसका नाम भी "वासुदेव-धर्म" पड़ गया और हरि का स्थान, क्रमशः, वासुदेव कृष्ण ने ग्रहण कर लिया। अन्त में, विक्रम संवत् के पूर्व, तीसरी शताब्दी तक इसकी विधि "पांचरात्रपद्धति" में परिणत हो गई और इसका नाम "भागवत-धर्म" के रूप में परिवर्त्तित हो गया।"

कृष्ण नाम की प्राचीनता

कृष्ण नाम के साथ गाय, चरवाहा, खेती और किसानी की कथाएँ देखकर तथा यह देखकर कि उनके भाई बलराम हल लेकर चलते हैं, पश्चिम के विद्वानों ने यह अनुमान लगाया था कि पहले कृष्ण फसल और वनस्पति के देवता रहे होंगे। मगर, भारतीय पंडित इस अनुमान को नहीं मानते। कृष्ण नाम बहुत प्राचीन है। पाणिनि (चौथी सदी ई० पू०) ने एक जगह कृष्ण और अर्जुन का उल्लेख धार्मिक नेता के रूप में किया है।† मेगस्थ-

† "वासुदेवार्जुनाभ्याम् वुन्" (४-३-९८) इस सूत्र का अर्थ यह है कि वासुदेव में जिनकी भक्ति है, उन्हें वासुदेवक और अर्जुन में जिनकी भक्ति है, उन्हें अर्जुनक कहते

नीज (ई० पू० तीसरी सदी) कहता है कि मथुरा और कृष्णपुर में कृष्ण की पूजा होती थी। महानारायण उपनिषद (ई० पू० २००) का प्रमाण है कि कृष्ण उस समय विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे। पतंजलि (ई० पू० १५० के लगभग) के भाष्य में भी वासुदेव का उल्लेख आर्य जाति के देवता के रूप में मिलता है। बेस नगर शिलालेख (ई० पू० तृतीय या द्वितीय सदी) से मालूम होता है कि भागचन्द्र महराज के समय हेलियोदोर ने वासुदेव की पूजा के लिए गरुड़ध्वज के रूप में उसे स्थापित किया था। इस लेख में वासुदेव को देवों का देव कहा गया है।

कृष्ण ऐतिहासिक पुरुष हैं, इसमें सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं दीखती और वे अवतार के रूप में पूजित भी बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। उनका सम्बन्ध फसल और गाय से था, यह भी विदित बात है। प्राचीन ग्रन्थों में उनके साथ जो प्रेम की कथाएँ नहीं मिलतीं, उससे भी यह प्रमाणित होता है कि वे कोरे प्रेमी और हल्के जीव नहीं, बल्कि देश और धर्म के बड़े नेता थे। अवश्य ही, गोपाल-लीला, रास और चीरहरण की कथाएँ तथा उनका रसिक-रूप बाद के भ्रांत कवियों और आचारच्युत भक्तों की कल्पनाएँ हैं, जिन्हें इन लोगों ने कृष्ण-चरित में जबर्दस्ती ठूँस दिया। "शकों के ह्रास-काल में, जिस प्रकार, महादेव का रूपान्तर लिंग में हुआ, उसी प्रकार, गुप्तों के अवनति-काल में वासुदेव का रूपान्तर व्यभिचारी गोपाल में हुआ।" (कोसाम्बी)।

प्राचीनतम भारतीय साहित्य और शिल्प में श्रीकृष्ण की श्रृंगार-लीलाओं का प्रमाण नहीं मिलता, इस विषय की विशद विवेचना करते हुए पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने अपनी पुस्तक "मध्यकालीन धर्म साधना" में लिखा है कि "श्री कृष्णावतार के दो मुख्य रूप हैं। एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं, वीर हैं, राजा हैं, कंसारि हैं। दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपी-जन-वल्लभ हैं, "राधाधर-सुधापान-शालि-वनमालि" हैं। प्रथम रूप का पता बहुत पुराने ग्रन्थों से चल जाता है। पर, दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन है। धीरे-धीरे यह दूसरा रूप ही प्रधान हो गया और पहला रूप गौण। विद्वानों ने अश्वघोष की निम्नलिखित पंक्ति में गोपाल कृष्ण का सबसे पुराना प्रामाणिक उल्लेख बताया है—"ख्यातानि कर्माणि च यानि सौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः।" कालिदास ने "गोपवेषस्य विष्णोः" की चर्चा की है। महाभारत के सभापर्व (६८ वें अध्याय) में द्रौपदी ने वस्त्राकर्षण के समय भगवान् को जिन नामों से पुकारा, उनमें "गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय" भी है। परन्तु, कुछ लोग इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं। परन्तु, हरिवंश में तो कृष्ण गोपाल की चर्चा में लगभग बीस अध्याय लिखे गये हैं। किन्तु, श्रीकृष्ण के दुष्ट-दमन-रूप का प्राधान्य उसमें बना हुआ है। उनके जीवन की मुख्य घटनाएँ हरिवंश में निम्नलिखित हैं—"शकट-वध, पूतना-वध, दामबंध, यमलार्जुन-भंग, वृकदर्शन, वृन्दावन-प्रवेश, धेनुकवध, प्रलम्बवध, गोवर्धन-

धारण, हालीसक-क्रीड़ा, वृषभासुर-वध, केशिवध आदि। विष्णु-पुराण में भी लगभग ये ही बातें हैं। भागवत में अनेक अन्य प्रसंगों को जोड़ा गया है।" आगे द्विवेदी जी कहते हैं, "मूर्त्ति-शिल्प में भी आरंभ में शृंगार-लीलाओं का उतना प्राधान्य नहीं दीखता। कहा जाता है कि ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी से पहले की कोई भी मूर्त्ति या उत्कीर्ण भित्ति-चित्र श्रीकृष्ण-चरित से सम्बद्ध नहीं मिला है। मथुरा में श्रीकृष्ण के जन्म का उत्कीर्ण चित्र प्राप्त हुआ है, जो सम्पूर्ण नहीं है। चौथी शताब्दी से श्रीकृष्ण-लीला की प्रमुख कथाएँ बहुत लोकप्रिय हो गयी थीं, ऐसा जान पड़ता है। मन्सोर मन्दिर के टूटे हुए दो द्वार-स्तम्भ प्राप्त हुए हैं, जिनमें गोवर्धन-धारण, नवनीत-चौर्य, शकटभंग, धेनुक-वध और कालिय-दमन की लीलाएँ उत्कीर्ण हैं। विद्वानों का मत है कि इसका निर्माण-काल ईस्वी सन् की चौथी या पाँचवीं शताब्दी होगा। संभवतः, चौथी शताब्दी की एक और गोवर्धनधारी मूर्त्ति मथुरा में प्राप्त हुई है। महाबलीपुरम् में भी गोवर्धनधारी की उत्कीर्ण मूर्त्ति मिली है। ऐसा जान पड़ता है कि गोवर्धन-धारण श्रीकृष्णचरित की सर्वप्रिय लीला उन दिनों रही होगी।.... इस प्रकार, शिल्प और साहित्य, दोनों की गवाही से यही पता चलता है कि आरंभ में श्रीकृष्ण की वीर-चर्चा ही प्रधान थी।"

राधा नाम पर विचार

वैष्णवों के तीन प्रसिद्ध पुराण हरिवंश, विष्णुपुराण और भागवत हैं। लेकिन, इनमें से किसी में भी राधा नाम का उल्लेख नहीं है। भागवत में कथा आयी है कि कृष्ण ने सभी गोपियों को छोड़कर एक गोपी से अलग मुलाकात की। बस, भक्तगण इसे ले उड़े, और उसी गोपी को राधा मानने लगे। पंडितों का यह भी विचार है कि कृष्ण-चरित के साथ बाललीला की कथा पहले शुरू हुई, राधा तथा अन्य गोपियों के साथ उनकी प्रेमलीला की कहानियाँ बहुत बाद आई हैं।*

*"विष्णु-पुराण में गोपियों के प्रेम की चर्चा है, पर भागवत-पुराण में वह बहुत विस्तृत रूप में है। रास-पंचाध्यायी भागवत का सार कहा जाता है। इस पुराण में राधा का नाम नहीं आता। गाथा-सप्तशती में, पंचतंत्र में और ध्वन्यालोक में "राधा" का नाम आया है, पर, कृष्ण की सर्वाधिक प्रिया गोपी के रूप में उसका नाम भागवतोत्तर साहित्य में ही अधिक है।.... ब्रह्मवैवर्त-पुराण में राधा प्रमुख गोपी है। रा. ब. योगेशचन्द्र राय का अनुमान है कि ब्रह्मवैवर्त-पुराण १६ वीं शताब्दी में पश्चिम बंगाल में लिखा गया और उसके लेखक को गीतगोविन्द से परिचय था।... पद्म-पुराण में वृन्दावन की नित्य लीला की चर्चा है। राधा का नाम आता है, पर, यह पुराण बहुत पुराना नहीं कहा जा सकता और जिस अंश में राधा-कृष्ण के नित्य विहार की चर्चा है, वह तो, निस्संदेह, परवर्त्ती है।"—हजारी प्रसाद द्विवेदी (मध्य-कालीन धर्मसाधना)

राधा का नाम कैसे चला, यह गहरे विवाद का विषय है। नारद पांच-रात्र-संहिता में लिखा है कि एक ही भगवान पुरुष और स्त्री रूप में प्रकट होते हैं। संभव है, इस दार्श-निक कल्पना से ही बाद के कवियों ने, जैसे शिव के साथ पार्वती और विष्णु के साथ लक्ष्मी हैं, वैसे ही, कृष्ण के साथ एक जोड़ी मिलाने के लिए राधा की कल्पना कर ली हो। लेकिन, यह राधा नाम आया कहाँ से ? और फिर यह क्यों हुआ कि बालक कृष्ण के साथ युवती राधा की अनमेल जोड़ी मिला दी गयी ? भागवत संप्रदाय और माध्व सम्प्रदाय, ये राधा को नहीं मानते हैं। असम में भी वैष्णवों के बीच राधा की पूजा का चलन नहीं है। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "मध्यकालीन धर्मसाधना" में यह भी लिखा है कि प्रेम-विलास और भक्ति-रत्नाकर के अनुसार,"नित्यानन्द प्रभु की छोटी पत्नी जाह्नवी देवी जब वृन्दावन गयीं तो उन्हें यह देखकर बड़ा दुख हुआ कि श्रीकृष्ण के साथ राधा नाम की मूर्ति की कहीं पूजा नहीं होती थी। घर लौटकर उन्होंने नयान भास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्त्तियाँ बनवायीं और उन्हें वृन्दावन भिजवाया। जीव गोस्वामी की आज्ञा से ये मूर्तियाँ श्रीकृष्ण के पार्श्व में रखी गयीं और तब से श्रीकृष्ण के साथ राधिका की भी पूजा होने लगी।"

दूसरी ओर, जो भी संप्रदाय भागवत के बाद वाले पुराणों को मानते हैं, वे राधा को भी स्वीकार करते हैं। इसलिए, यह बहुत संभव दीखता है कि आर्यों के वैष्णव-धर्म में कृष्ण की बाल-लीला और राधा से उनके प्रेम की कल्पना किसी आर्येतर जाति से आई हो। इस सम्बन्ध में एक मत यह है कि बाल-लीला की कल्पना आभीर-जाति के किसी बाल देवता से मिली है और राधा द्रविड़-समाज में कोई प्रेम की देवी रही होगी। कालक्रम में ये दोनों कथाएँ वासुदेव-धर्म से आ मिलीं और,धीरे-धीरे, बदल कर कृष्ण का वह रूप हो गया जिसे हम आज देखते हैं। इस अनुमान को एक समर्थन तो इस बात से भी मिलना चाहिए कि राधावाद के प्रचारक निम्बार्क महाराज दक्षिण के ही थे और उत्तर भारत में फैलने के पहले कृष्ण-भक्ति के सिलसिले में राधा-भक्ति का भी प्रचार दक्षिण में ही हुआ, जिसके प्रचारक आलवार भक्त थे। दक्षिण की भगतिन ऑन्दाल, जो मीरा से बहुत पहले हुई, अपने-आपको राधा मानती थी। इसके बिपरीत, डा० फरकोहार यह कहते हैं कि "कोई आधार नहीं मिलने से अनुमान यही होता है कि राधा की कल्पना भागवत की खास गोपी को लेकर वृन्दावन में उठी और वहीं से वह सर्वत्र फैली है।"

रामोपासना

राम-कथा का मूल स्रोत क्या है तथा यह कथा कितनी पुरानी है, इस प्रश्न का सम्यक् समाधान अभी नहीं हो पाया है। इतना सत्य है कि बुद्ध और महावीर के समय जनता में राम के प्रति अत्यन्त आदर का भाव था, जिसका प्रमाण यह है कि जातकों के अनुसार, बुद्ध अपने पूर्वजन्म में एक बार राम होकर भी जन्मे थे और जैन-ग्रंथों में तिरसठ महा-

पुरुषों में राम और लक्ष्मण की भी गिनती की जाती थी। इससे यह अनुमान भी निकलता है कि राम बुद्ध और महावीर, दोनों के बहुत पहले से ही समाज में आदृत रहे होंगे। विचित्रता की बात यह है कि वेद में रामकथा के अनेक पात्रों का उल्लेख है। इक्ष्वाकु, दशरथ, राम, अश्वपति, कैकेयी, जनक और सीता, इनके नाम वेद अथवा वैदिक साहित्य में अनेक बार आये हैं। किन्तु, विद्वानों ने अब तक यह स्वीकार नहीं किया है कि ये नाम, सचमुच, रामकथा के पात्रों के ही नाम हैं। विशेषतः, वैदिक सीता के सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि वह शब्द लांगलपद्धति (खेत में हल से बनायी हुई रेखा) का पर्याय है, इसीलिए, उसे इन्द्रपत्नी और पर्जन्यपत्नी भी कहते थे।[१] सीता खेत की सिरोर (हलरेखा)[२] का नाम था, इसका समर्थन महाभारत से भी होता है, जहाँ "द्रोणपर्व के जयद्रथ-वध के अन्तर्गत ध्वजवर्णन नामक अध्याय में (७.१०५) कृषि की अधिष्ठात्री देवी, सब बीजों को उत्पन्न करनेवाली सीता का उल्लेख हुआ है।" हरिवंश के भी द्वितीय भाग में दुर्गा की एक लम्बी स्तुति में कहा गया है कि "तू कृषकों के लिए सीता है तथा प्राणियों के लिए धरणी (कर्षुकानां च सीलेति भूतानां धरणीति च)। इस से पंडितों ने यह अनुमान लगाया है कि रामकथा की उत्पत्ति के पूर्व ही, सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में वैदिक साहित्य में पूजित हो चुकी थी। पीछे, जब अयोनिजा सीता की कल्पना की जाने लगी तब उस पर वैदिक सीता का प्रभावे स्वाभाविक रूप से पड़ गया।

रामकथा का उद्गम खोजते-खोजते पंडितों ने एक अनुमान लगाया है कि वेद में जो सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी थीं, वे ही बाद में अयोनिजा कन्या बन गयीं, जिन्हें जनक ने हल चलाते हुए खेत में पाया। राम के सम्बन्ध में इन पंडितों का यह मत है कि वेद में जो इन्द्र नाम से पूजित था, वही व्यक्तित्व कालक्रम में विकसित होकर राम बन गया। इन्द्र की सबसे बड़ी वीरता यह थी कि उसने वृत्रासुर को पराजित किया था। राम-कथा में यही वृत्रासुर रावण बन गया है। ऋग्वेद (मंडल १, सूक्त ६) में जो कथा आयी है कि पणियों ने गायों को छिपा कर गुफा में बन्द कर दिया था और इन्द्र ने उन गायों को छुड़ाया,

---

१—रामकथा नामक पुस्तक में फादर कामिल बुल्के ने पारस्कर गृ. सू. से एक मंत्र (२-११-४) उद्धृत किया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है :—"इन्द्रपत्नी सीता का मैं आवाहन करता हूँ जिसके तत्त्व में वैदिक और लौकिक (दोनों प्रकार के) कार्यों की विभूति निहित है। वह (सीता) सब कार्यों में निरंतर मेरी सहायता किया करे। स्वाहा।"

२—"इन्द्र सीता को ग्रहण करे, पूषा (सूर्य) उसका संचालन करे। वह पानी से भरी (सीता) प्रत्येक वर्ष हमें धान्य प्रदान करती रहे।" (ऋग्वेद मंडल ४, सूक्त ५७ मंत्र ६) रामकथा में उद्धृत।

उस से पंडितों ने यह अनुमान लगाया है कि यही कथा विकसित होकर राम-कथा में सीताहरण का प्रकरण बन गयी है।

किन्तु, ये सारे अनुमान, अंततः, अनुमान ही हैं और उनसे न तो किसी आधार की पुष्टि होती है, न किसी समस्या का समाधान ही। रामकथा के जिन पात्रों के नाम वेद में मिलते हैं, वे निश्चित रूप से, रामकथा के पात्र हैं या नहीं, इस विषय में संदेह रखते हुए भी, यह मानने में कोई बड़ी बाधा नहीं दीखती कि रामकथा ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। अयोध्या, चित्रकूट, पंचवटी, रामेश्वरम्, अनन्तकाल से ये स्थान रामकथा से संपृक्त माने जाते रहे हैं। क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि दाशरथि राम, सचमुच, जन्मे थे और उनके चरित पर ही वाल्मीकि ने अपनी रामायण बनायी ? इस संभावना का खण्डन यह कहने से भी नहीं होता कि वाल्मीकि ने आदि रामायण में केवल अयोध्या-काण्ड से युद्धकाण्ड तक की ही कथा लिखी थी; बालकाण्ड और उत्तर काण्ड बाद में अन्य कवियों ने मिलाये।

अनेक बार पंडितों ने यह सिद्ध करना चाहा है कि रामायण बुद्ध के बाद रची गयी और वह महाभारत से भी बाद की है। किन्तु, इससे समस्याओं का समाधान नहीं होता। भारतीय परम्परा, एक स्वर से, वाल्मीकि को आदि कवि मानती आयी है और यहाँ के लोगों का विश्वास है कि रामावतार त्रेता में हुआ था। इस मान्यता की पुष्टि इस बात से होती है कि महाभारत में रामायण की कथा आती है, किन्तु, रामायण में महाभारत के किसी भी पात्र का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार, बौद्ध ग्रन्थ तो रामकथा का उल्लेख करते हैं, किन्तु, रामायण में बुद्ध का उल्लेख नहीं है। रामायण के एक संस्करण में जाबालि-वृत्तांत के अन्तर्गत बुद्ध का जो उल्लेख मिलता है (यथा हि चौरः स तथा हि बुद्धः) उसे अनेक पंडितों ने क्षेपक माना है। यह भी कहा जाता है कि सीता के अहिंसा के विरुद्ध भाषण तथा राम के शान्त और कोमल स्वभाव की कल्पना के पीछे "किंचित् बौद्ध प्रभाव" (फादर बुल्के, रामकथा) है। किन्तु, यह केवल अनुमान की बात है। अहिंसा की कल्पना बुद्ध से बहुत पहले की चीज है। बुद्ध ने सिर्फ उस पर जोर दिया है। बुद्ध के पहले के हिन्दुत्व में ऐसी कोई बात नहीं थी जो रामायण की रचना में बाधक होती। रामायण प्राङ् बौद्ध काव्य है, इस निष्कर्ष से भागा नहीं जा सकता।

रामायण का काल-निर्णय

(१) परंपरा मानती है कि वाल्मीकि और राम समकालीन थे; किन्तु, यह समय कब था, इसका ठीक पता नही चलता। श्री चिन्तामणि वैद्य का मत है कि ऋग्वेद के दशम मंडल में जिस राम का उल्लेख है, वे, वास्तव में, दाशरथि रामचन्द्र ही थे। दशम मंडल का रचना-काल अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने ई० पू० १५०० वर्ष माना है, तिलक

जी ने ई० पू० ४००० वर्ष और याकोबी ने भी, लगभग, इतना ही। अतः, वाल्मीकि का समय पाश्चात्यों के अनुसार, ईसा से १५०० वर्ष पूर्व और भारतीयों के अनुसार तीन से चार हजार वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। रामायण में बहुत अधिक क्षेपक हैं और ये क्षेपक भी कब से आ रहे हैं, इसका निश्चय करना कठिन है। इस स्थिति का भी यही समाधान हो सकता है कि रामायण की रचना मूल-रूप में तभी हुई होगी जब कि लिपि का आविष्कार नहीं हुआ था और बहुत काल तक लोग उसे कंठस्थ ही रखते आये होंगे। इसका अर्थ यह है कि रामायण, प्रायः, उन दिनों रची गई होगी जब वेदों की रचना समाप्त हो रही होगी। क्योंकि लिपि का आविष्कार संहिताओं के काल में हुआ था। वैदिक भाषा से रामायण की भाषा में जो भिन्नता दीखती है, उसका कारण, कदाचित्, यह है कि आदि कवि ने जान बूझ कर लौकिक संस्कृत की अछूती भाषा-शैली का उपयोग किया और उसी के अनुसार नये ढंग से रचना की। यह भी कि कालक्रम में भाषा में कुछ परिवर्तन भी हुए होंगे। लौकिक संस्कृत किसी वैयाकरण का आविष्कार नहीं कही जा सकती। वैदिक के पार्श्व में लौकिक का पहले से ही अस्तित्व रहा होगा। वाल्मीकि ने पहले-पहल लौकिक संस्कृत में काव्य-रचना की, अतएव, वे संस्कृत भाषा के आदि-कवि माने गये। यह बहुत कुछ वैसा ही उदाहरण है जैसा विद्यापति का संस्कृत और प्राकृत को छोड़कर मैथिली में लिखना तथा अमीर खुसरो का खड़ी बोली में काव्य आरम्भ करना।

(२) बौद्ध और जैन ग्रन्थों में राम का जो आदरपूर्वक उल्लेख किया गया है, उसका भी कारण यही होगा कि रामायण के चलते राम तब तक अत्यन्त आदरणीय चरित के रूप में प्रख्यात हो चुके होंगे।

(३) बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०) की कल्पना-मंडतिका में सर्वसाधारण में रामायण के वाचन का उल्लेख है।

(४) अश्वघोष के बुद्ध-चरित से यह विदित होता है कि वह वाल्मीकि-रामायण से परिचित और प्रभावित था।

(५) दशरथजातक में वाल्मीकि का एक श्लोक पालि रूप में पाया जाता है।

(६) महाभारत के वन-पर्व में जो रामोपाख्यान है, वह वाल्मीकि-रामायण का ही संक्षिप्त रूप है। महाभारत से यह भी सूचित होता है कि उसकी रचना के समय राम ईश्वरत्व प्राप्त कर चुके थे और उनसे सम्बद्ध स्थान तीर्थ माने जाते थे। शृंगवेरपुर और गोप्तार का उल्लेख इसी रूप में मिलता है।

(७) पाटलिपुत्र को अजातशत्रु ने बसाया था जो, प्रायः, बुद्ध का समकालीन था। किन्तु, पाटलिपुत्र का उल्लेख रामायण में नहीं है। अतएव, रामायण बुद्ध से पहले की रचना है।

(८) बुद्ध के समय कोशल का राजा प्रसेनजित् था और उसकी राजधानी श्रावस्ती में थी। लेकिन, रामायण में श्रावस्ती लव की राजधानी बतायी गयी है। अयोध्या का नाम भी बौद्ध ग्रन्थों में साकेत मिलता है। इससे यह अनुमान निकलता है कि रामायण उस समय रची गयी, जब अयोध्या उजड़ी नहीं थी, न उसकी राजधानी हटा कर श्रावस्ती ले जायी गयी थी, न कोसल-जनपद को साकेत कहने का रिवाज ही चला था।

(९) रामायण में विशाला और मिथिला, इन दो राज्यों के उल्लेख हैं, किन्तु बुद्ध के समय केवल वैशाली का अस्तित्व था।

राम-कथा की व्यापकता

रामायण और महाभारत, भारतीय जाति के दो महाकाव्य हैं। महाकाव्यों की रचना तब संभव होती है, जब संस्कृतियों की विशाल धाराएँ किसी संगम पर जाकर मिलने वाली होती हैं। भारत में संस्कृति-समन्वय की जो प्रक्रिया चल रही थी, ये दोनों काव्य उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। रामायण में इस प्रक्रिया के पहले सोपान हैं और महाभारत में उसके बाद वाले। रामायण की रचना तीन कथाओं को लेकर पूर्ण हुई। पहली कथा तो अयोध्या के राजमहल की है, जो पूर्वी भारत में प्रचलित रही होगी; दूसरी रावण की, जो दक्षिण में प्रचलित रही होगी; और तीसरी किष्किंधा के वानरों की, जो वन्य जातियों में प्रचलित रही होगी। आदि कवि ने तीनों को जोड़कर रामायण की रचना की। किन्तु, उससे भी अधिक सम्भव यह है कि राम, सचमुच ही, ऐतिहासिक पुरुष थे और, सचमुच ही, उन्होंने किसी वानर-जाति की सहायता से लंका पर विजय पायी थी। हाल से, यह अनुमान भी चला है कि हनुमान नाम एक द्रविड़ शब्द "आण-मन्दि" से निकला है जिसका अर्थ "नर-कपि" होता है। यहाँ फिर यह बात उल्लेखनीय हो जाती है कि ऋग्वेद में भी "वृषाकपि" का नाम आया है। वानरों और राक्षसों के विषय में भी अब यह अनुमान प्रायः, ग्राह्य हो चला है कि ये लोग प्राचीन विन्ध्य-प्रदेश और दक्षिण भारत की आदिवासी आर्येतर जातियों के सदस्य थे; या तो उनके मुख वानरों के समान थे, जिससे उनका नाम वानर पड़ गया अथवा उनकी ध्वजाओं पर वानरों और भालुओं के निशान रहे होंगे।

रामायण में जो तीन कथाएँ हैं, उनके नायक, क्रमशः, राम, रावण और हनुमान् हैं और ये तीन चरित तीन संस्कृतियों के प्रतीक हैं जिनका समन्वय और तिरोधान वाल्मीकि ने एक ही काव्य में दिखाया है। सम्भव है, यह बात सच हो कि "राम, रावण तथा हनुमान के विषय में पहले स्वतन्त्र आख्यान-काव्य प्रचलित थे और इनके संयोग से रामायण काव्य की उत्पत्ति हुई है।"* जिस प्रकार, आर्य और आर्येतर जातियों के धार्मिक संस्कारों से

* रामकथा-का० बुल्के

शैव धर्म की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार, वैष्णव धर्म की रामाश्रयी शाखा में भी आर्येतर जातियों के योगदान हैं।

रामावतार

कृष्णाश्रयी वैष्णव धर्म की विशेषता यह थी कि उसमें कृष्ण विष्णु पहले माने गये, उनके सम्बन्ध की कथाओं का विस्तृत विकास बाद में हुआ। राम-मत के विषय में मुख्य बात यह है कि राम-कथा का विकास और प्रसार पहले हुआ, राम विष्णु का अवतार बाद में माने गये। भंडारकर साहब ने तो यहाँ तक घोषणा कर दी थी कि विष्णु के अव-तार के रूप में राम का ग्रहण ग्यारहवीं सदी में आकर हुआ। किन्तु, अब यह मत खण्डित हो गया है। अब अधिक विद्वान् यह मानते हैं कि ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व वासुदेव-कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे। और उनके अवतार होने की बात चलने के बाद, बाकी अवतार भी विष्णु के ही अवतार माने जाने लगे; तथा उन्हीं दिनों राम का अवतार होना भी प्रचलित हो गया। वैसे, अवतारवाद की भावना ब्राह्मण-ग्रंथों में ही उदित हुई थी। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि प्रजापति ने (विष्णु ने नहीं) मत्स्य, कूर्म और वराह का अवतार लिया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी प्रजापति के वराह रूप धरने की कथा है। बाद में, जब विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध हो गयी तब मत्स्य, कूर्म और वराह, ये सभी अवतार उन्हीं के माने जाने लगे। केवल वामनावतार के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वामन आरम्भ से ही विष्णु के अवतार माने जाते रहे हैं। वामन के त्रिविक्रम रूप का उल्लेख ऋग्वेद के प्रथम मंडल, द्वितीय अध्याय के बारहवें सूक्त में है।

रामकथा के विकास पर रेवरेण्ड फादर कामिल बुल्के ने जो विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया है, उसके अनुसार वेद में रामकथा-विषयक पात्रों के सारे उल्लेख स्फुट और स्वतन्त्र हैं। रामकथा-सम्बन्धी आख्यान-काव्यों की वास्तविक रचना वैदिक काल के बाद, इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं के सूतों ने आरम्भ की। इन्हीं आख्यान-काव्यों के आधार पर वाल्मीकि ने आदि-रामायण की रचना की। इस रामायण में अयोध्याकांड से लेकर युद्धकांड तक की ही कथावस्तु का वर्णन था और उसमें सिर्फ बारह हजार श्लोक थे। किन्तु, इस रामायण का समाज में बहुत प्रचार था। कुशीलव उसका गान करके और अभिनेता उसका अभिनय दिखाकर अपनी जीविका कमाते थे। "काव्योपजीवी कुशीलव अपने श्रोताओं की रुचि का ध्यान रखकर रामायण के लोकप्रिय अंश को बढ़ाते भी थे।" इस प्रकार, आदि-रामायण का कलेवर बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों रामकथा का यह मूल-रूप लोकप्रिय होता गया, त्यों-त्यों जनता को यह जिज्ञासा होने लगी कि राम कैसे जन्मे? सीता कैसे जन्मी? रावण कौन था? आदि-आदि। इसी जिज्ञासा की शान्ति के लिए बालकांड और उत्तरकाण्ड रचे गये। इस प्रकार, राम की कथा "रामायण (राम-अयन अर्थात् राम का

पर्यटन) नहीं रहकर पूर्ण रामचरित के रूप में विकसित हुई। इस समय तक रामायण नरकाव्य ही रहा और राम आदर्श क्षत्रिय के रूप में भारतीय जनसाधारण के सामने प्रस्तुत किये गये। इसका आभास भगवद्गीता के उस स्थल से मिलता है, जहाँ कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि शस्त्र धारण करने वालों में मैं राम हूँ—रामः शस्त्रभृतामहम्।

रामचरित ज्यों-ज्यों लोकप्रिय होता गया, त्यों-त्यों उसमें अलौकिकता भी आती गयी। अन्ततः, ईसा के सौ वर्ष पूर्व तक आकर राम निश्चित रूप से विष्णु के एक अवतार हो गये। किन्तु, यह कोई निश्चयात्मक बात नहीं है। क्योंकि राम की बोधिसत्व के रूप में कल्पना ई०पू० प्रथम शती के पूर्व ही की जा चुकी थी। इसलिए, सम्भव है, अवतार भी वे पहले से ही माने जाते रहे हों।

किन्तु, बाद के साहित्य में तो राम की महिमा अत्यन्त प्रखर हो उठी तथा उत्तर और दक्षिण भारतवर्ष की संस्कृति दिनों-दिन राममयी होती चली गयी। बौद्ध और जैन साहित्य को छोड़कर और सभी भारतीय साहित्य में राम विष्णु के अवतार के रूप में सामने आते हैं। हाँ, बौद्ध धर्म के साथ रामकथा का जो रूप भारत से बाहर पहुँचा, उसमें वे विष्णु के अवतार नहीं रहे, न उनके प्रति भक्ति का ही कोई भाव रहा।

राम को लेकर समन्वय

भारत में संस्कृतियों का जो विराट समन्वय हुआ है, रामकथा उसका अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीक है। सबसे पहले तो यह बात है कि इस कथा से भारत की भौगोलिक एकता ध्वनित होती है। एक ही कथासूत्र में अयोध्या, किष्किंधा और लंका, तीनों के बँध जाने के कारण, सारा देश एक दीखता है। दूसरे, इस कथा पर भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में रामायणों की रचना हुई जिनमें से प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में अत्यन्त लोकप्रिय रही है तथा जिनके प्रचार के कारण भारतीय संस्कृति की एकरूपता में बहुत वृद्धि हुई है। संस्कृत के धार्मिक साहित्य में रामकथा का स्थान,अपेक्षाकृत, कम व्यापक रहा, फिर भी, रघुवंश, भट्टिकाव्य, महावीर-चरित, उत्तर रामचरित, प्रतिमा नाटक, जानकीहरण कुन्दमाला, अनर्घराघव, बालरामायण, हनुमन्नाटक, अध्यात्म-रामायण, अद्भुत रामायण, आनन्द-रामायण, आदि अनेक काव्य इस बात के प्रमाण हैं कि भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों के कवियों पर वाल्मीकि-रामायण का कितना गम्भीर प्रभाव पड़ा था। जब देश-भाषाओं का काल आया, तब देश-भाषाओं में भी रामचरित पर एक से एक उत्तम काव्य लिखे गये और आदिकवि के काव्यसरोवर का जल पीकर भारत की सभी भाषाओं ने अपने को पुष्ट किया। "कंबन-कृत तमिल रामायण (१० वीं श० ई०),. तेलगू द्विपाद रामायण (१२ वीं० श०ई०), मलयालम रामचरितम् (१४ वीं०श०ई०) कन्नड़ी तोरावे रामायण (१६ वीं श० ई०), बँगला कृत्तिवासी रामायण (१५ वीं० श० ई०), हिन्दी रामचरित

मानस (१६ वीं० श० ई०), उड़िया बलराम दास रामायण (१५ वीं० श० ई०), और मराठी भावार्थ रामायण (१६ वीं० श० ई०)",[१] यह तालिका अगणित रामकाव्यों को छोड़कर बनायी गयी है, किन्तु, फिर भी इससे यह बात सरलता से सिद्ध हो जाती है कि रामकथा ने इस देश की संस्कृति की कितनी गंभीर सेवा की है और कैसे इस कथा को लेकर सारा देश, लगभग, एक ही आदर्श की ओर उन्मुख रहा है। इसके साथ अगर तिब्बत, सिंहल, खोतान, हिन्दचीन, श्याम, ब्रह्मदेश, काश्मीर और हिन्देशिया में प्रचलित राम-काव्यों की सरणी मिला दें तो, सचमुच ही, यह मानना पड़ेगा कि "रामकथा न केवल भारतीय, वरन्, एशियाई संस्कृति का भी एक महत्वपूर्ण तत्व बन गयी" थी।

रामकथा की एक दूसरी विशेषता यह है कि इसके माध्यम से शैव और वैष्णव मतों का विभेद दूर किया गया। आदि रामायण पर शैवमत का कोई प्रभाव नहीं रहा हो, यह सम्भव है, किन्तु, आगे चलकर रामकथा शिव की भक्ति से एकाकार होती गयी। राम का युद्धारम्भ के पूर्व रामेश्वरम् में शिव की प्रतिष्ठा करना तथा हनुमान का एकादश रुद्र का अवतार माना जाना यह बतलाता है कि वैष्णव एवं शैव मतों की दूरी को यहाँ के कवि कम करना चाहते थे और यह उचित भी था, क्योंकि शैव मत आर्येतर मत था तथा रामकथा के भी अनेक अंश आर्येतर संस्कृतियों से आये थे। काल-क्रम में, रामकथा का ऐसा विकास और विस्तार हुआ कि शैव और वैष्णव मतों की भिन्नता, बिल्कुल, जाती रही। राम एक ऐसे चरित्र हैं जो ब्राह्मण-धर्म में विष्णु के अवतार, बौद्ध धर्म में बोधिसत्व तथा जैन धर्म में आठवें बलदेव के रूप में प्रतिष्ठित हुए तथा आगे चलकर जिनकी भक्ति में शिव-भक्ति भी लय हो गयी।

भक्ती द्राविड़ ऊपजी

भारतीय भक्ति-मार्ग का बीज, कहते हैं, वेदों में भी था। किन्तु, ऐसा लगता है कि यह बीज तब विकसित हुआ जब आर्य आर्येतर जातियों से मिले। विशेषतः, राममत के सम्बन्ध में यह बात बहुत संभाव्य दीखती है। रामभक्ति का आरम्भिक पुष्ट प्रमाण उत्तर में नहीं, दक्षिण के आलवार सन्तों में मिलता है। त्रावणकोर के कुलशेखर आलवार (नवीं शती ई० का पूर्वार्द्ध) की रचनाओं का पाँचवाँ अंश रामावतार से सम्बन्ध रखता है 'जिसमें इष्टदेव राम के प्रति अत्यन्त कोमल एवं गंभीर भक्ति प्रदर्शित की गई है।'[२] यह भी ध्यान देने की बात है कि रामानन्द रामवाद का प्रचार करने के पूर्व दक्षिण में रह आये थे।

यहीं यह बात भी विचार में लाने योग्य है कि वैष्णव-मत में भक्ति की जो प्रधानता

१ रामकथा-का० बुल्के
२ श्री परशुराम चतुर्वेदी (वैष्णव धर्म)

है, वह, मुख्यतः, द्राविड़ों की देन है। आर्यों का आरम्भिक धर्म कर्मकाण्ड और यज्ञ तक ही सीमित था। उनके आरम्भिक साहित्य से उनकी भावुकता का तो प्रमाण मिलता है, मगर, इसका प्रमाण नहीं मिलता कि वे भक्त भी थे। भक्ति, असल में, आर्यों के पूर्व ही इस देश में थोड़ी-बहुत विकसित हो चुकी थी और आर्यों का ध्यान उसकी ओर तब गया जब वे कर्मकाण्ड से कुछ थकने-से लगे। आगे चलकर जब इस देश में भक्ति की बाढ़ उमड़ी तब उसकी प्रधान धारा भी दक्षिण से ही आयी जिसे आज भी सन्त-महात्मा बड़ी ही श्रद्धा से याद करते हैं।

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट कियो कबीर ने, सात द्वीप, नौ खण्ड।

उत्तर भारत में जब वैष्णव भक्तों का जमाना आया, उसके पहले ही दक्षिण के आलवार सन्तों में भक्ति का बहुत-कुछ विकास हो चुका था और वहीं से भक्ति की लहर उत्तर भारत में पहुँची। यह भी ध्यान देने की बात है कि आरंभ में भक्ति को प्रमुखता देने वाले रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभाचार्य, प्रायः सभी, महात्मा दक्षिण में ही जन्मे थे। उत्तर में मीरा का जब जन्म हुआ, उसके बहुत पहले दक्षिण में ओन्दाल नाम की प्रसिद्ध भगतिन हो चुकी थी जो कृष्ण को अपना पति मानती थी और जिसके बारे में मीरा की ही तरह यह कथा प्रचलित है कि वह कृष्ण के भीतर विलीन हो गयी।

पद्मपुराण के उत्तर खंड में एक कथा है जो श्रीमद्भागवत में भी दुहराई गई है। इस कथा में भक्ति नारद से कहती है कि मेरा जन्म द्रविड़ देश में हुआ, कर्नाटक देश में मैं बड़ी हुई, महाराष्ट्र देश में कुछ काल वास किया और गुजरात में आकर मैं बूढ़ी हो गई।

उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धि गता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।

(पद्मपुराण, उत्तर खंड)

कुछ लोगों का विचार है कि भक्ति के बीज वेद में भी थे। इसे मान लेने पर भी यह बात खंडित नहीं होती कि जनता के बीच भक्ति का प्रचलन पहले द्रविड़-देश में हुआ। विचार कर देखिये तो ज्ञान की अपेक्षा भक्ति और निराकार की अपेक्षा साकार जनता को सदैव अधिक प्रिय रहा है। आर्य धर्म का झुकाव निराकार की ओर था, साकार की ओर उसे इस देश की जनता ने मोड़ा। आर्य धर्म ज्ञान के धरातल पर था। उपनिषदों के कर्त्ता ऋषि और महावीर तथा गौतम, ये शुद्ध आर्य परम्परा में पनपे थे। किन्तु, इस देश की जनता का प्यार भक्ति पर था, इसीलिए, बौद्ध मत को महायान का रूप लेना पड़ा और शंकर का अद्वैतवाद निष्कंटक नहीं रह सका।

आरंभ से ही, भारतीय समाज में पंडितों और जनसाधारण के बीच एक द्वन्द्व रहा

है। जनता तो इस देश की केवल आर्य भांडार की नहीं थी। उसमें द्रविड़ भी थे और आग्नेय जातियों के लोग भी। इन लोगों के बीच जो विश्वास प्रचलित था, वह पीछे चलकर आर्य-वंशी जनता के द्वारा भी अपना लिया गया। फिर द्वन्द्व आर्य और आर्येतर के बीच नहीं, प्रत्युत् पंडित और जनता के बीच रह गया। पंडित प्रत्येक बार जनता के विश्वास की उपेक्षा करना चाहते थे और प्रत्येक बार जनता के सामने उन्हें झुकना पड़ता था। यह प्रक्रिया ज्यों-ज्यों आगे बढ़ी, इस देश के सभी लोगों का रस्म-रिवाज तथा आचार और विश्वास एक होता गया। द्राविड़ बहुत अंशों में आर्य और आर्य बहुत अंशों में द्राविड़ बनते चले गये। यहाँ तक कि आज दोनों के बीच किसी प्रकार का भी विलगाव नहीं चल सकता। हद तो यह है कि अब आर्य-सभ्यता के असली थातीदार द्रविड़ लोग ही रह गये हैं और द्राविड़ों के जो विश्वास और रिवाज थे, वे आर्यों के घर-घर में इस प्रकार फैल गये हैं, मानों, ये उनके अपने ही रिवाज और विश्वास हों।

यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि विष्णु, नारायण और वासुदेव, वैष्णव धर्म के ये तीन अंग, संभवतः, आर्यों की देन हैं। बाकी इस धर्म में जो प्रेम की विह्वलता और भक्ति की प्रधानता है, वह द्राविड़ों से आयी है तथा उसके कुछ अंश आभीरों एवं दूसरी जातियों की भी देन हैं। कृष्ण का गोपियों के प्रति प्रेम, उनकी चीरहरण-लीला, उनका सोलह हजार नारियों का एक पति होना, आदि रसीली बातें ऐसी हैं जो आभीर और दूसरी जातियों में प्रचलित रही होंगी और वहीं से वे वैष्णव धर्म में आ मिली हैं। मुख्य बात तो यह है कि हिन्दू-धर्म में, शायद ही कोई वस्तु हो, जो शुरू से आखिर तक केवल आर्य या केवल द्रविड़ मूल की समझी जा सके।

हिन्दू-संस्कृति का रचयिता

असल में, हजरत ईसा ने जैसे ईसाइयत को और हजरत मुहम्मद ने जैसे इस्लाम को जन्म दिया, हिन्दू-धर्म ठीक उसी प्रकार, किसी एक पुरुष की रचना नहीं है। यही कारण है कि अगर आप किसी हिन्दू से यह पूछ दें कि तुम्हारा धर्मग्रन्थ कौन-सा है, तो वह सहसा कोई एक नाम बता नहीं सकेगा। इसी प्रकार, अगर आप उससे यह प्रश्न करें कि तुम्हारा अवतार, मुख्य धार्मिक नेता, नबी या पैगम्बर कौन है, तब भी किसी एक अवतार या महात्मा का नाम उससे लेते नहीं बनेगा। और यही ठीक भी है। क्योंकि हमारा धर्म न तो एक महात्मा से आया है और न किसी एक सम्प्रदाय से।

सच तो यह है कि हिन्दू-धर्म किसी एक विश्वास पर आधारित नहीं है। प्रत्युत् वह अनेक विश्वासों का समुदाय है। जिस प्रकार, भारतीय जनता की रचना उन अनेक जातियों को लेकर हुई जो समय-समय पर इस देश में आती रहीं, उसी प्रकार, हिन्दुत्व भी इन विभिन्न जातियों के धार्मिक विश्वासों के योग से बना है। यह भी है कि शिक्षित व्यक्ति

हिन्दू-धर्म के दार्शनिक पक्ष में विश्वास करता है, किन्तु, जो अशिक्षित हैं उनमें अंधविश्वासों और रूढ़ियों के लिए भी मोह है; फिर भी, अपढ़ से अपढ़ हिन्दुओं में भी एक प्रकार की दार्शनिकता पायी जाती है जो इस देश की छह हजार साल पुरानी संस्कृति का परिणाम है।

जब आर्य यहाँ आये, उसके पहले ही सभ्यता का विकास यहाँ हो चुका था और धर्म तथा संस्कृति के अनेक अंग रूप-ग्रहण कर चुके थे। आर्यों ने इन सब को लेकर आर्य-धर्म का संगठन किया। इसके बाद भी जो जातियाँ भारतवर्ष में आयीं, वे, यद्यपि, भारतीय संस्कृति के समुद्र में विलीन हो गयीं, फिर भी, हमारी संस्कृति को उनकी भी कुछ-न-कुछ देन है। यह देन कभी तो हमारे धर्म में चिपक गयी, कभी हमारी पोशाक में और कभी हमारे खान-पान अथवा रहन-सहन के दूसरे ढंगों में। हिन्दुओं ने उनको भी अपना पूज्य अवतार मान लिया जो किसी समय हिन्दू-धर्म के खिलाफ बगावत करने को उठे थे। हमारे दर्शनों में नास्तिक दर्शनों की भी संख्या काफी है और समाज में उनका भी आदर है। हमारे आदि कवि ने रावण का भी उल्लेख, अक्सर, महात्मा विशेषण के साथ आदरपूर्वक किया है। ये सारी बातें बतलाती हैं कि इस देश में, आरंभ से ही, धर्म के विषय में बड़ी ही सहिष्णुता और उदारता बरती गई है। हिन्दू-संस्कृति ने अपने को कूप-मण्डूक नहीं बनाया और इसे जहाँ से भी कोई अच्छी चीज मिलने वाली थी, उसे इसने आगे बढ़कर स्वीकार कर लिया। यही कारण है कि हिन्दू-धर्म में हम विश्व के तमाम धर्मों के असली तत्त्वों का निचोड़ पाते हैं। यही नहीं, बल्कि, भारतवर्ष के लम्बे इतिहास में जब भी कोई अद्भुत धार्मिक चिन्तन किया गया, हिन्दुत्व ने उसे प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया। इसलिए, अब हमारी संस्कृति वही नहीं है जो वेदकालीन आर्यों की थी, और शुद्ध-शुद्ध वह भी नहीं जिसकी रचना आर्यों और द्राविड़ों ने मिल कर की थी। आर्यों और द्राविड़ों के मिलने के बाद भी, अनेक जातियाँ इस देश में आयीं और उन सबने हमारी संस्कृति को कुछ-न-कुछ अंशदान दिया है। हमारे अपने देश में बुद्ध और महावीर के नेतृत्व में प्रबल धार्मिक विद्रोह हुए और उन विद्रोहों की भी कुछ-न-कुछ छाप हमारे धर्म और संस्कृति पर मौजद है।

अनेक जातियों के देवी-देवताओं के आ मिलने के कारण, बहुदेववाद हिन्दुत्व का अनिवार्य अंग बन गया। अतएव, सब हिन्दू किसी एक देवता को नहीं पूजते हैं। अनेक देवी-देवताओं के आने से उनके माहात्म्य की भी अनेक कथाएँ पुराणों में आ मिलीं, जिस से पुराण भी किसी एक दिशा में इंगित करने में असमर्थ हैं। जिन विभिन्न नृवंशों की संततियों को लेकर हिन्दू-जाति की रचना हुई, उनके विभिन्न उपासना-मार्ग भी हिन्दुत्व के अपने अंग बन गये, अतएव, हम नहीं कह सकते कि हिन्दुत्व की अपनी उपासना-पद्धति

कौन-सी है। इस स्थिति को देख कर ही लोकमान्य तिलक ने धर्म की यह नवीन परिभाषा बनायी थी, जो व्यंग्यवत् दीखने पर भी व्यंग्य नहीं, सत्य है।

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता।
उपास्यानामनियमं एतद्धर्मस्य लक्षणम्।

वेदों को प्रमाण मानना, साधनों की अनेकता में विश्वास रखना तथा उपासना में किसी एक देवता का नियम नहीं रखना, यह धर्म का लक्षण है।

आग्नेय जाति की देन

जिस हिन्दू अथवा भारतीय संस्कृति के हम सभी लोग भक्त हैं, उसकी नींव पड़े हजारों वर्ष हो गये। अब यह पता लगाना बहुत कठिन है कि इस संस्कृति के उत्थान में किस जाति ने क्या योगदान दिया था; फिर भी, अनुमान के बल पर, इस योगदान की खास-खास बातों का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, चन्द्रमा को देखकर तिथि गिनने का रिवाज आग्नेय सभ्यता की देन है एवं पूर्ण चन्द्र के लिए 'राका' और नये चाँद के लिए 'कुहू', ये शब्द भी आग्नेय भाण्डार से आये हैं। कहते हैं, चावल की खेती भी यहाँ उसी जाति के लोगों ने शुरू की थी और पुनर्जन्म की कल्पना भी फसल को देखकर उन्होंने ही आरंभ की थी जो आगे चलकर आर्य चिंतकों के द्वारा विकसित की गई। पत्थर के खण्डको देवता मानने की प्रथा भी यहाँ उसी जाति ने चलायी थी। और तो और, सुनीति बाबू का अनुमान है कि 'गंगा' शब्द भी आग्नेय शब्द-भाण्डार से आया है। आग्नेय परिवार की जो अनेक भाषाएँ भारत से लेकर दक्खिनी चीन तक फैली हुई हैं, उनमें से कोई तो नदी को गंग कहती है, कोई खोंग और दक्खिनी चीन की आग्नेय भाषाओं में नदी के लिए 'कियांग, कंग या घंघ' शब्द चलता है। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि अनेक ग्रामों की जनता में आज भी गंगा शब्द नदी शब्द का पर्याय माना जाता है। मध्य भारत और मालवा से बिहार तक में ऐसे बहुत-से गाँव हैं, जहाँ के लोग किसी भी नदी में नहाने को गंगा नहाना कहते हैं। असल में, इस अनुमान के लिए बहुत बड़ा आधार है कि हमारी निम्न कोटि की जनता का विशाल समुदाय आग्नेय भाण्डार से आया है और उसके भीतर जो अन्धविश्वास, रूढ़ि-प्रियता, भीरुता और अन्य विचित्र-विचित्र आदतें हैं, वे सब-की-सब आग्नेय सभ्यता की यादगार हैं। पक्षी-पालन और हस्तिपालन का समारंभ भी भारत में इसी जाति के लोगों ने किया था।

कथा-किवदन्तियों का जो विशाल भाण्डार हिन्दू-पुराणों में जमा है, उसका भी बहुत बड़ा अंश आग्नेय सभ्यता से आया हुआ है। किसी-किसी पंडित का अब यह भी अनुमान होने लगा है कि स्वयं राम-कथा की रचना करने में आग्नेय जाति के बीच प्रचलित कथाओं से सहायता ली गयी है तथा पंपापुर के वानरों और लंका के राक्षसों के सम्बन्ध

में जो विचित्र कल्पनाएँ रामायण में मिलती हैं, उनका आधार आग्नेय लोगों की ही लोक-कथाएँ रही होंगी। किंवदन्तियाँ और लोक-कथाएँ पहले देहाती लोगों के बीच फैलती हैं और बाद में चलकर साहित्य में भी उनका प्रवेश हो जाता है। आर्य, द्रविड़ और आग्नेय वंश के लोग जब आपस में मिले होंगे तब परस्पर उनकी लोक-कथाएँ भी एक-दूसरे के घर में प्रवेश पाने लगी होंगी। पंडितों का कहना है कि बौद्ध जातकों में जो कथाएँ हैं वे भी लोक-कथा के स्तर से उठकर साहित्य में पहुँची हैं और फिर वहाँ से उन्होंने पुराणों में प्रवेश किया है। यही कारण है कि पुराणों और जातकों की कितनी ही कथाएँ एक-समान लगती हैं अथवा उनमें थोड़ा ही फेर-फार है। यह भी हुआ कि वीरों और देवी-देवताओं की बहुत-सी ऐसी कथाएँ जो द्रविड़ और आग्नेय समाजों में प्रचलित थीं, आर्यों के आगमन के बाद भी जीवित रहीं। बाद में चलकर जब समन्वय की प्रक्रिया गहरी हो गयी, तब ये कथाएँ आर्य भाषा में पहुँच गयीं और उनका उपयोग आर्य वीरों एवं आर्य देवी-देवताओं का गौरव बढ़ाने के लिए किया जाने लगा।

देवर और देवरानी तथा जेठ और जेठानी की प्रथा भी, शायद, आग्नेय लोगों से आयी है। सिन्दूर का प्रयोग और अनुष्ठानों में नारियल और पान रखने के रिवाज भी, सम्भवतः, आग्नेय रिवाजों के यादगार हैं। आग्नेय जाति के लोग देवता के सामने बलिदान किये गये पशु का रक्त मस्तक में लगाना शुभ मानते थे। वही रिवाज सिन्दूर लगाने में बदल गया।

सिन्दूर के विषय में आचार्य क्षितिमोहन सेन का भी यह मत है कि यह उपकरण आर्यों ने आर्येतर जातियों से लिया। "विवाहादि के अवसर पर सिन्दूर एक अपरिहार्य पदार्थ है। इसके बिना विवाह पूर्ण ही नहीं होता। किन्तु, सुरेन्द्र मोहन भट्टाचार्य के पुरोहित-दर्पण के कई स्थान उलट कर देखने से ही पता चल जायगा कि यह सिन्दूर का आचार भी आर्यों ने किसी आर्येतर जाति से ही ग्रहण किया था। सिन्दूर का न तो कोई वैदिक नाम है और न सिन्दूर-दान का कोई मंत्र। . . . . . सिन्दूर, मूलतः, नाग लोगों की वस्तु है। उसका नाम भी नाग-गर्भ और नागसंभव है। शंख और कंबु, आदि नाम भी वेद-बाह्य हैं।"

पूजा और होम

सामान्य नियम यह मालूम होता है कि आर्यों की अपनी देन, अधिकांश में, दर्शन और विचारों तक ही सीमित रह गयी। जनता के दैनिक जीवन के कार्य और धार्मिक अनुष्ठान एवं जनता के लिए रचे गये आगमों या पुराणों में, अधिकतर, वे ही बातें हैं जो या तो द्रविड़ समाज में प्रचलित थीं अथवा जो आग्नेय समाज से आर्य-संस्कृति में आ मिलीं। उसका एक साधारण उदाहरण पूजा और होम है। यह मानी हुई बात है कि हवन का यज्ञों में बहुत बड़ा स्थान था और यह प्रथा अवश्यमेव आर्यों के साथ आयी थी। लेकिन, पूजा का उल्लेख वेदों में नहीं मिलता। पूजा में पुष्प, दीप, अक्षत और चन्दन का महत्व

होता है। पूजा शब्द को देखकर लोगों ने पूज् धातु का अनुमान कर लिया था, लेकिन, पंडितों को यह जान कर विस्मय होता था कि यह पूज् धातु प्राचीन संस्कृत अथवा हिन्द-जर्मन परिवार की अन्य भाषाओं में क्यों नहीं मिलता। किन्तु, अब एक विद्वान् ने इस समस्या का समाधान यह कहकर कर दिया है कि पूजा शब्द द्राविड़ी पू का पर्याय है, जिसका अर्थ पुष्प होता है। इस पू को अगर दूसरे द्राविड़ी शब्द जे (करना) से मिला दें तो पूजा के स्थान पर पूजे शब्द बनेगा जिसका अर्थ पुष्पकर्म होगा। पंडितों का अनुमान है कि आर्यों का हवन पशु-कर्म था, किंतु, द्राविड़ों का पूजे पुष्पकर्म। कालक्रम में, यह पुष्पकर्म भी आर्यों के यहाँ गृहीत हो गया। कारपेंटर ने पूजा शब्द की व्युत्पत्ति द्रविड़ धातु पुसु से बतलायी है जिसका अर्थ लेपन होता है। लेपन से हम चन्दन-लेपन या सिन्दूर-लेपन का भी अर्थ ले सकते हैं। लेकिन, सुनीति बाबू का मत है कि ऐसा अर्थ करने पर इस प्रथा को, मूलतः, औष्ट्रिक या आग्नेय मानना होगा।

बात चाहे जो हो, लेकिन, इस अनुमान के लिए बहुत बड़ा आधार मिल जाता है कि पूजा की प्रथा आर्यों की अपनी चीज नहीं है। वह या तो द्रविड़ अथवा औष्ट्रिक जाति की देन है। और यहाँ भी यह देख कर विस्मय होता है कि आर्यों का होम तो सिमट कर पंडितों और पुरोहितों तक ही रह गया, मगर, पूजा घर-घर में फैल गयी। यह भी स्मरण रखने की बात है कि आर्यों के प्राचीन धर्म में हवन और पशु-हिंसा की प्रधानता थी, लेकिन, पत्र, पुष्प, फल और तोय से पूजा करने की विधि का महत्त्व पहले पहल गीता में उद्घोषित हुआ जबकि आर्य और द्रविड़ मिलकर एक हो चुके थे।

कुछ स्फुट उदाहरण

आर्येतर जातियों से आर्यों ने इतनी अधिक बातें ली हैं कि उनकी ठीक से गिनती नहीं की जा सकती। और यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि आर्य यदि भारत में बाहर से आये तो वे थोड़ी ही संख्या में आये होंगे। बाद को यह देश जिन आर्यों से भर गया, वे तो विदेशी नहीं, स्वदेशी लोग ही रहे होंगे जिनका आर्यीकरण हुआ होगा। किन्तु, आर्यीकरण की प्रक्रिया मनुष्य की आदतों और रस्म-रिवाजों अथवा धार्मिक विश्वासों को कहाँ तक मिटा पाती होगी ? निदान, जो लोग आर्यवृत्त में आये, वे अपने सभी विश्वासों को साथ लेते आये। यही कारण है कि हिन्दू-संस्कृति में हम आर्य और आर्येतर, दोनों ही प्रकार के उपकरणों का ऐसा सम्मिश्रण देखते हैं जो बिलकुल स्वाभाविक दीखता है, और जिसमें विलगाव करने का कोई रास्ता नहीं मिलता। चीजें कैसे-कैसे बढ़ीं, यह जानना आसान नहीं है। किन्तु, विद्वानों को इसका थोड़ा-बहुत आभास अवश्य मिल जाता है कि कौन-सी वस्तु आर्य-भाण्डार की और कौन आर्येतर भाण्डार की है।

क्षिति बाबू के मतानुसार "देवी-पूजा और तंत्र-मत भी वैदिक मत के पास बाहर

से आ कर खड़े हुए हैं। असल वैदिक मतवादी आचार्यगण उसे शास्त्र और सदाचार के विरुद्ध ही समझते रहे हैं। मूल आर्य-भूमि से, क्रमशः, दूर जाकर इन वस्तुओं के साथ आर्य लोगों का परिचय हुआ था। इच्छा से हो या अनिच्छा से, इन मतों का ग्रहण करने के सिवा, उनके पास कोई चारा नहीं था।"

शास्त्रानुसार, ग्राम-देवता की पूजा निषिद्ध है। ग्राम देवता और देवियों के पूजकों को मनु ने नाना स्थानों पर पतित कहा है। किन्तु, गाँवों में अब ब्राह्मण भी भूत-प्रेत और ग्राम-देवता की पूजा करते हैं। अवश्य ही, यह प्रेत-पूजा आग्नेय सभ्यता की देन रही होगी। आरम्भ में इन देवताओं के पुरोहित भी शूद्र ही रहे होंगे। किन्तु, आमदनी का रास्ता देख कर ब्राह्मणों ने उन्हें अपदस्थ कर दिया।

यही नहीं, अब तो आर्य वृक्षों को भी पूजते हैं और नदियों को भी। तुलसी, वट, अश्वत्थ (पीपल) और बेल, ये वृक्ष पवित्र माने जाते हैं। नदियों में अस्थियाँ नहीं बहाई जायँ तो आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। कहीं-कहीं पीपल के पेड़ से घंट बाँधने का भी रिवाज है। ये बातें वेद में तो नहीं थीं। फिर आर्यों ने इन्हें लिया कहाँ से ? उत्तर स्पष्ट है कि ये रिवाज आर्येतर लोगों में रहे होंगे। "जिन देवताओं से संबद्ध माने जा कर तुलसी, वट, अश्वत्थ, विल्वादि वृक्ष पवित्र माने गये हैं, उन देवताओं का आदिम परिचय वेद-विरुद्ध "देवता" के रूप में ही मिलता है। धीरे-धीरे वृक्षों की पूजा भी, निश्चय ही, आर्यों ने आर्य-पूर्व भारतीयों से ग्रहण की होगी। बहुत संभव है, नदी की पूजा भी उन्होंने वहीं से ग्रहण की हो।"*

होली या वसन्तोत्सव-जैसे बहुत-से उत्सव भी आर्येतर जातियों की देन हैं। इन उत्सवों का मदिरा, नशा, अपशब्द और अश्लीलता से संबद्ध होना ही बतलाता है कि उनका आरंभ अर्धसभ्य समाज में हुआ होगा। "इनका प्रचलन भी नीची श्रेणियों में ही अधिक है। इसीलिए, बहुत-से लोग इन्हें शूद्रोत्सव कहते हैं। होलिका-दाह के लिए जो आग जलाई जाती है, वह अनेक स्थानों पर अन्त्यज के घर से मँगाई जाती है।"*

हिन्दू-समाज में आज जिन देवताओं, तीर्थों और उत्सवों का प्रचार है, उनमें से अधिकांश आर्येतर मूल के हैं। ध्यान देने की बात तो यह है कि आर्यों का चिन्तन हमेशा थोड़े लोगों में रहा। बाकी अपार जनता आर्येतर उपकरणों का आनन्द उत्साह से लेती रही है। होली या वसन्तोत्सव इसका सब से उज्ज्वल प्रमाण है।

---

* संस्कृति-संगम।

द्वितीय अध्याय

(प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह)

बुद्ध से पहले का हिन्दुत्व

हिन्दुत्व का स्वभाव है कि वह जितना ही परिवर्त्तित होता है, उतना ही अपने मूल स्वरूप के अधिक समीप पहुँच जाता है। पार्श्वनाथ और वर्द्धमान महावीर ने हिन्दुत्व म जो सुधार किये वे, प्रायः, धीरे-धीरे, एवं एक प्रकार की निःशब्दता के साथ आये। किन्तु, बहुत कुछ वैसा ही सुधार महात्मा बुद्ध और उनके शिष्यों ने यथेष्ट कोलाहल के साथ किया और उनकें सुधारों के परिणामस्वरूप, हिन्दू-धर्म का रूप परिवर्त्तित भी हुआ। किन्तु, वह इतना परिवर्तित नहीं हुआ कि उसका आज का रूप बुद्ध से पहलेवाले रूप से बिलकुल भिन्न हो जाय। वैदिक आर्य यज्ञ के प्रेमी थे, किन्तु, आज भी यज्ञ जहाँ-तहाँ होते रहते हैं। वैदिक आर्य ऊषा,इन्द्र, सूर्य और अग्नि,आदि को देवता मानते थे, किन्तु, आज भी ऐसे नैष्ठिक हिन्दू विद्यमान हैं जिनके हृदय में इन देवताओं के लिए श्रद्धा और भक्ति है। वैदिक आर्यों का विश्वास था कि स्वर्ग में भी आत्मा इसी जीवन के समान सुख और आनन्द भोगती है। और आज भी ऐसे हिन्दुओं की कमी नहीं जो स्वर्ग में सुख पाने के लिए धरती पर दान दें।

आज से तीन-चार हजार वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का जो रूप था, आज भी,मूलतः, वह वैसा ही है। मिश्र, बेबिलोन, और यूनान में भी प्राचीन सभ्यताएँ उठी थीं। किन्तु, काल ने उन्हें ध्वस्त कर दिया। केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जिसका अतीत कभी मरा नहीं, वह बराबर वर्तमान के रथ पर चढ़कर भविष्य की ओर चलता रहा है। भारत का अतीत कल भी जीवित था, आज भी जीवित है और आगे भी जीवित रहेगा।

किन्तु, एक बात है जिसमें काफी अन्तर आ पड़ा है : और वह बात यह है कि नास्तिकों एवं भौतिकवादियों को छोड़कर आज ऐसे हिन्दू कम हैं जो परलोक का भय नहीं मानते हों। यह वैदिक काल की भावना से भिन्न भावना है। वैदिक ऋषि नास्तिक या भौतिकवादी तो नहीं थे, किन्तु,मृत्यु से डरने की बात उन्हें नहीं सूझी थी,न उनमें यही भाव जगा था कि स्वर्ग के साथ-साथ कहीं कोई नरक भी हो सकता है जहाँ आत्मा को यातनाए झेलनी पड़ सकती हैं। वस्तुतः, आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वैदिक ऋषियों ने अधिक नहीं सोचा था। इन सिद्धान्तों के बीज कोई खोजे तो वेदों में खोज सकता है। किन्तु, इनका विकास आगे चलकर उपनिषदों में ही हुआ-सा लगता है। आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है जो मरणोपरान्त परलोक को जाती है, इस सिद्धान्त का आभास वैदिक ऋचाओं

में मिलता है, किन्तु, आत्मा का आवागमन क्यों होता है, इसकी विचिकित्सा वेदों में नहीं मिलती। वेदों का वातावरण आनन्द और उल्लास का वातावरण है। उसमें भय अथवा शोक की छाया नहीं है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वैदिक जनता इसी संसार पर भूली हुई थी और उसे जीवनोपरान्त आनेवाले जीवन का ध्यान ही नहीं था। ध्यान था और ऋषियों ने कभी-कभी इस रहस्य पर विचार भी किया है। किन्तु, इसे हम विचार ही कहेंगे, भय या चिन्ता नहीं। अपनी समस्त सीमाओं के साथ सांसारिक जीवन वैदिक ऋषियों का प्रेय था। प्रेय को छोड़कर श्रेय की ओर बढ़ने की आतुरता उपनिषदों के समय जगी जब मोक्ष के सामने गार्हस्थ्य निःस्सार हो गया एवं जब लोग जीवन से आनन्द लेने के बदले, उससे पीठ फेर कर संन्यास लेने लगे। हाँ, यह भी हुआ कि वैदिक ऋषि जहाँ यह पूछकर फिर शान्त हो जाते थे कि "यह सृष्टि किसने बनायी ?" और "कौन देवता है जिसकी उपासना करूँ ?" वहाँ उपनिषदों के ऋषियों ने सृष्टि बनानेवाले के सम्बंध में कुछ सिद्धान्तों का निश्चय कर दिया और उस "सत्" का भी पता पा लिया जो पूजा और उपासना का, वस्तुतः, अधिकारी है। वैदिक धर्म का पुराना आख्यान वेद और नवीन आख्यान उपनषदें हैं।

वैदिक वाङ्मय

काव्य-मीमांसा के लेखक राजशेखर ने माना है कि वेद तीन ही हैं; ऋक्, यजुष् और साम। अथर्वण चौथा वेद है। किन्तु, उसमें अधिक अंश इन्हीं तीन वेदों के हैं। इसके सिवा, उसमें मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटन, आदि विद्याओं का ही वर्णन है। सामवेद में ऋग्वेद के ही गेय मंत्रों का प्राधान्य है। यजुष् गद्य में है। यज्ञों में मंत्र और गीत गाये जाते थे तथा यजुषों का पाठ होता था।

वेदों का सारा सम्बन्ध यज्ञों से था। यज्ञ की विधियाँ लिखी जाने लगीं। इस प्रकार, एक नया वाङ्मय उत्पन्न हुआ, जिसका नाम ब्राह्मण पड़ा। ब्राह्मण प्रत्येक वेद के मिलते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ, यह नाम ही निर्देश करता है कि इन ग्रन्थों की रचना ब्राह्मण, पुरोहित यज्ञ आदि के कारण हुई होगी। आर्यों का प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञ था। यज्ञों की विधियाँ समझाने तथा उनके अनुष्ठानों का निर्धारण करने को ब्राह्मण-ग्रन्थ बने। यज्ञ में प्रत्येक वेद के मंत्र पढ़े जाते थे, इसलिए, वेदी के पास प्रत्येक वेद के विशेषज्ञ बैठा करते थे।* अतएव, यज्ञ के विषय में प्रत्येक वेद की कहाँ क्या उपयोगिता है, इसे समझने के लिए प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण बन गये। ब्राह्मण, मुख्यतः, कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं, और स्मरण

---

*मंत्र का नाम पहले ब्रह्म था। पीछे ब्रह्मा उसे कहने लगे, जो वेदी के समीप बिठाया जाता था। और भी पीछे चल कर ब्रह्म सृष्टि के अध्यक्ष का वाचक हो गया।

रखना चाहिए कि वैदिक काल में कर्म का अर्थ यज्ञ समझा जाता था।

जब कर्मकाण्ड बहुत बढ़ गया, तब उसकी विपुलता के विरुद्ध यह जिज्ञासा उठी कि सच्चा धर्म क्या है। यज्ञ में पशु-हिंसा करना और यह मानना कि मरनेके बाद भी मनुष्य को वे ही सुख मिलते हैं, जो जीवन में प्राप्य हैं, इस सिद्धान्त में ऋषियों को स्थूलता दिखाई देने लगी और वे किसी ऐसे सूक्ष्म धर्म की खोज करने लगे जिसमें भोग नहीं, वैराग्य प्रधान हो। इस चिन्तन से फिर एक नया वाङमय उत्पन्न हुआ, जिसे **आरण्यक** या **उपनिषद्** कहते हैं।

वेदांग

यज्ञों में वेदों का जो गायन होता था, उसमें कहीं तो अशुद्धि होती थी, कहीं पाठ-भेद से विकृति आ जाती थी, कहीं पाठ और गायन, दोनों में विविधताएँ भर जाती थीं। इन अशुद्धियों को दूर करने तथा पठन और गायन में होनेवाली विविधताओं में व्यवस्था लाने के लिए निम्नलिखित शास्त्र उत्पन्न हुए जो वेदांग कहे जाते हैं। ये वेदों के अंग इस-लिए माने गये कि इनका सम्बन्ध वेदों के उच्चारण, उनके गान तथा अर्थबोध से है।

१. **शिक्षा**—यह आजकल का फोनेटिक्स या उच्चारण-शास्त्र था। सामवेद की शिक्षा का नाम नारद-शिक्षा है और यजुर्वेद की शिक्षा का नाम याज्ञवल्क्य-शिक्षा। इसी प्रकार, पाणिनीय शिक्षा भी है।

२. **छन्द**—छन्द-शास्त्र वेद के गायन को नियमित करने के लिए बना था। अब इसका एक ही ग्रन्थ "पिंगल" मिलता है, जिसमें वैदिक और लौकिक, दोनों छन्दों का वर्णन है।

३. **निरुक्त**—वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति करने के लिए यह शास्त्र निकला था। निघंटु नामक एक ग्रन्थ में कठिन वैदिक शब्दों की तालिका थी। उसी पर यास्क मुनि ने (समय ई० पू० ७००) भाष्य बनाया, जो निरुक्त के नाम से प्रसिद्ध है। यास्क ने ही पहले-पहल यह घोषणा की कि शब्द धातुओं से निकले हैं।

४. **व्याकरण**—पाणिनि की अष्टाध्यायी ईसा से ५०० वर्ष पूर्व बनी। पाणिनि से पूर्व गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भरद्वाज आदि वैयाकरण हो चुके थे, किन्तु, उनके ग्रन्थ अब नहीं मिलते। पाणिनि से पूर्व के वैदिक व्याकरण को प्रातिशाख्य कहते थे। शौनक-प्रातिशाख्य और कात्यायन-प्रातिशाख्य अब भी मिलते हैं।

शिक्षा, छन्द, निरुक्त और व्याकरण,असल में, ये ही चार वेदांग हैं, जिनका सम्बन्ध वेद के भाषाविषयक विज्ञान से है। किन्तु, दो और विद्याओं को मिलाकर वेदांग छह समझे जाते हैं।

५. **ज्योतिष**—यह आर्यों का एकमात्र भौतिक शास्त्र है। जयचन्द्र जी का कहना है कि अब वैदिक ज्योतिष का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

६. **कल्पसूत्र**—जिस प्रकार, वेदों के कर्मकाण्ड-पक्ष के नियमन के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण हुआ, उसी प्रकार, ब्राह्मण-ग्रन्थों की व्याख्या के लिए कल्पसूत्र बने। कल्पसूत्रों में, व्याजान्तर से, आर्यों का सामाजिक जीवन चित्रित है। कल्पसूत्र दो प्रकार के हैं। एक तो **श्रौतसूत्र**, जिनमें आर्यों के यज्ञों का वर्णन है तथा जिनसे भारतीय यज्ञपद्धति का मूलस्वरूप जाना जा सकता है। दूसरा **स्मार्तसूत्र** जिसके दो भेद हैं। (१) **गृह्यसूत्र** में षोडश संस्कारों का वर्णन है। और (२) **धर्मसूत्र** में राजा तथा प्रजा के धर्म, धार्मिक नियमों और वर्णाश्रम विधान का वर्णन है।*

उपनिषदें

वैदिक साहित्य में, इनके बाद, उपनिषदों का स्थान आता है। मुक्तिक उपनिषद के अनुसार, सभी उपनिषदों की संख्या १०८ है, किन्तु, पंडित इनमें से सबको समान महत्त्व नहीं देते। ऐतिहासिक दृष्टि से वे ही उपनिषदें महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं, जिनकी रचना बुद्धदेव के आविर्भाव के पहले हो चुकी थी। उपनिषदों की रचना बहुत बाद तक होती रही, यह असंदिग्ध बात है और इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अल्लोपनिषद् (अल्ला की उपनिषद्) की रचना अकबर के समय में हुई। इन १०८ उपनिषदों में प्रमुख कौन-कौन मानी जायँ, इस विषय में सामान्य मत यह है कि शंकराचार्य ने जिन उपनिषदों की टीका लिखी है, वे सबसे प्रमुख हैं। शंकराचार्य ने जिन उपनिषदों की टीका लिखी, उनके नाम हैं— (१) ईश (२) केन, (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुंडक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक और (११) नृसिंहपूर्वतापनी। इनके सिवा, शंकराचार्य ने पाँच-छह अन्य उपनिषदों से भी उद्धरण दिये हैं। श्री रामानुजाचार्य ने उपनिषदों की टीका तो नहीं लिखी, किन्तु, उन्होंने भी, प्रायः, इन्हीं उपनिषदों का हवाला दिया है।

उपनिषदें वेदों के बाद बनीं या उनके साथ ही, इस बात पर भी विवाद है। अनुमान यह है कि उपनिषदों की भी रचना पहले मौखिक ही की गयी थी और लिखी वे भी पीछे

---

*इन्हीं सूत्रों से, बाद में, स्मृतियाँ निकलीं। कालक्रम में, वेद विस्मृति और विकृति की धूलों के नीचे दब गये थे। १४वीं सदी में वेदों का उद्धार सायण ने किया। सायण विजयनगर राज्य में रहते थे। इन्हीं के भाष्य के प्रकाश में हम वेदों को आज देख और समझ सकते हैं। मैक्समूलर और राममोहन राय ने भी वेदों की सेवा इसी भाष्य के आधार पर की। सूत्रशैली का जन्म वेदांगों के जन्म के, प्रायः, साथ ही हुआ। अनुमान है कि धर्मसूत्रों की रचना ई० पू० ५०० से ३०० वर्ष तक होती रही। किन्तु, ये ग्रन्थ बहुत दिनों में बने, अतएव, उनमें इस अवधि से पहले की भी बातें मिलती हैं।

ही गयी हैं* । इसलिए, कभी-कभी वे वैदिक संहिताओं में भी सम्मिलित मिलती हैं । ईशोपनिषद् यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है; छान्दोग्य सामवेद के एक ब्राह्मण के अन्तर्गत मिलता है और बृहदारण्यक शतपथब्राह्मण का एक भाग है । उपनिषद् शब्द का अर्थ कोई-कोई पंडित "पास बैठना" लगाते हैं (उप=निकट; निषद्=बैठना) जिस से यह अनुमान लगाया गया है कि शिष्य गुरु के पास बैठकर वेद का तत्त्व समझा करते थे । इस शिक्षण के सिलसिले में जो ज्ञान निकला, वही उपनिषद् में संचित है ।

वेदों और उपनिषदों की विचारधारा

अपने देश में एक परम्परा है कि जब भी हम किसी वस्तु के इतिहास की खोज करते हैं तब उसके मूल, उत्स, जड़ या बीज की खोज वेदों में जरूर करते हैं । भारत में नाटक का विकास कैसे हुआ, इसकी खोज करते-करते हम वेदों के संवाद-सूक्तों में नाटकों का बीज देखते हैं । वैष्णव-धर्म का उत्स हम वेद में प्रयुक्त विष्णु (सूर्य के अर्थ में प्रयुक्त) शब्द में देखते हैं तथा शैव-धर्म की जड़ हमें वेदों की रुद्र-भावना में मिलती है । और यह ठीक भी है, क्योंकि वेदों में बीज-रूप में जो चिन्तन है, उनका सम्यक् विकास आगे के साहित्य में मिलता है ।

इस प्रकार देखने पर, हम उपनिषदों को वेदों के विकास की कड़ी कहेंगे । यूरोपीय विद्वानों ने वेदों पर तो थोड़ी भी श्रद्धा नहीं दिखलायी, किन्तु, उपनिषदों पर वे एक समय (उन्नीसवीं शती में) टूट पड़े । किन्तु, उपनिषदें कोई आकस्मिक वस्तु नहीं थीं । असल में, वेदों में जो बातें थीं, उन्हीं पर विचार करते-करते ऋषियों ने उपनिषदों की रचना की ।

वेदों में हम जिस धर्म का बखान पाते हैं वह प्रकृति के तत्त्वों को सजीव माननेवाले भावुक मनुष्य का धर्म है । इन्द्र, वरुण, अग्नि और सविता, ये सभी वैदिक देवता ऐसे हैं, जिनका रूप और चमत्कार हम थोड़ा-बहुत चर्मचक्षु से भी देख सकते हैं । वेदकालीन मनुष्य का विश्वास था कि प्रकृति की प्रत्येक शक्ति एक देवता के अधीन काम करती है और उस देवता की पूजा करने से मनुष्य का कल्याण होता है । अतएव, अधिकांश में, वैदिक आर्य देवताओं की स्तुति करते हैं कि उनके (आर्यों के) बैल मोटे हों, घोड़े बलवान हों, फसल की उन्नति हो और शत्रुओं पर उन्हें विजय मिले । यही नहीं, बल्कि, स्वर्ग की कामना भी वे इसी भाव से करते हैं कि स्वर्ग में भी उन्हें उसी प्रकार का उत्तम सुख मिले जिस प्रकार के सुखों का भोग इस पृथ्वी पर उपलब्ध है ।

---

*केनेथ सौंडर्स का विचार (ए पैजेंट आव् एशिया नामक ग्रन्थ में) है कि उपनिषदों की रचना ई० पू० ९०० से ई०पू० ७०० तक हुई है । लेखन-कला का प्रचलन उससे बहुत पूर्व ही हो चुका था ।

बहुदेववाद

प्रकृति के प्रत्येक रूप में एक देवता की कल्पना करते रहने के कारण, वैदिक आर्य बहुदेववादी हो गये थे, यह बात वैदिक साहित्य से प्रमाणित होती है। ऋग्वेद ३३ देवताओं का अस्तित्व मानता है। शतपथ-ब्राह्मण में भी ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य तथा आकाश और पृथ्वी, इन ३३ देवताओं का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी ११ प्रयाजदेव, ११ उपयाजदेव और ११ अनुयाजदेव, ये ३३ देवता हैं। ऋग्वेद के दो मंत्रों में ३३३९ देवताओं का उल्लेख है। किन्तु, सायणाचार्य ने लिखा है कि देवता तो ३३ ही हैं, केवल उनकी महिमा दिखाने के लिए ३३३९ देवताओं का उल्लेख कर दिया गया है।

किन्तु,इन विभिन्न देवों को पूजते रहने पर भी,आर्य यह मानते थे कि ये सभी देवता, मूलतः, एक ही हैं। निरुक्तकार का कहना है कि "तत्तत्कर्मानुसार विभिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी देव एक ही हैं।" यास्क ने उदाहरण दिया है "नरराष्ट्रमिव" अर्थात् व्यक्ति रूप से भिन्न होते हुए भी, जैसे, असंख्य मनुष्य राष्ट्ररूप एक हैं, वैसे ही, विविध रूपों में प्रकट होने पर भी देवों में एक ही परमात्मा ओत-प्रोत है। इन्हीं परमात्मा को याज्ञिकों और ब्राह्मण-ग्रन्थों ने **प्रजापति** कहा है। सभी देवता इन्हीं प्रजापति के विशिष्ट अंग माने गये हैं।

वैदिक संहिताओं में सबसे अधिक (कोई साढ़े तीन हजार) मंत्र **इन्द्र** के सम्बन्ध में हैं। इन्द्र का सबसे बड़ा पराक्रम यह था कि उन्होंने वृत्रासुर का वध किया, जो आर्यों का प्रचण्ड शत्रु था। इन्द्र ने वज्र द्वारा शम्बरासुर के ९९ नगरों को नष्ट किया, शरत् नामक असुर की सात पुरियों को विध्वस्त किया, इसीलिए, उनका नाम **पुरन्दर** पड़ा।

अग्निदेव के सम्बन्ध में वैदिक संहिताओं में कोई ढाई हजार मंत्र हैं।

इन्द्र और अग्नि के बाद, सोम के सम्बन्ध में वेद में सर्वाधिक मंत्र मिलते हैं। सोम एक पेय द्रव्य था, जिसमें आर्यों को देवत्व के दर्शन हुए थे। मंत्रों में आया है,! "सोम ! तुम्हें पीकर अमर होंगे,अनन्तर प्रकाशमान स्वर्ग में जायँगे और देवों को जानेंगे"; "सोम मदकर, स्वादुतम, रसात्मक, अरुणवर्ण और सुखकारी हैं;" "सोम लोहे से पीसे जाकर और ३२ सेर वाले कलश से युक्त होकर अभिश्रवण स्थान में बैठते हैं"; "सोम पर्वत से उत्पन्न और मद के लिए अभिषुत हैं;" "सोम के शोधक मेषचर्म और गोचर्म हैं।"

अश्विनीकुमारों के सम्बन्ध में भी वेद में बहुत-से मंत्र हैं। अश्विनीकुमार दो थे, और दोनों वैद्य थे, इस कारण, उनकी पूजा होती थी। मंत्रों में आया है,"वृद्ध कलि-नामक स्तोता को तुमने यौवन से युक्त किया था। तुम लोगों ने लँगड़ी विश्वपला को लोहे का चरण देकर उसे गति-समर्थ बना दिया था।" विश्वपला खेल-ऋषि की पत्नी थी, जो युद्ध में भी जाती थी।

यास्क का मत है कि वायु आर्यों के अत्यन्त प्राचीन देवता हैं। "मरुतों के प्रभाव से द्यावा-पृथ्वी चक्र की तरह घूमने लगी थीं।"

अश्विनीकुमारों की तरह, ऋभुगण भी शिल्पी और वैद्य थे और इनकी पूजा भी आर्य श्रद्धा से करते थे। इसी प्रकार, मित्र, वरुण, ऊषा और पूषा, इनकी स्तुति में भी अनेक मंत्र हैं। यास्क ने निरुक्त में पूषा का अर्थ सूर्य किया है। मंत्र में आया है, "प्रकाशमान, पूषन्, कृष्ण को दान देने के लिए प्रेरित करो और उसके हृदय को कोमल करो।"

यमराज और पितरों के सम्बन्ध में भी वेद में अनेक मंत्र हैं। कहा गया है, "यम के ही पास सारा मानव-समुदाय जाता है"। "जिस पथ से हमारे पूर्वज गये हैं, उसी पथ से सारे जीव जायँगे।" "जहाँ हमारे पितामहादि गये हैं, उसी प्राचीन मार्ग से हे मृत पितः, जाओ।" "श्मशान-घाट के पिशाचादिको, यहाँ से हटो, दूर जाओ।" "साधु-स्वभाव पितर देवों के साथ हवि भक्षण करते थे और इन्द्र के साथ रथ पर चढ़ते थे।" "जो पितर जलाये गये हैं, और जो नहीं जलाये गये हैं, वे सब स्वर्ग में स्वधा के साथ आनन्द करते हैं।"

वेदों में परमात्मा की कल्पना बहुत सुस्पष्ट तो नहीं मिलती है, किन्तु, इस कल्पना की नींव "नासदीय सूक्त"-जैसे सूक्तों में अवश्य पड़ चुकी थी। "सर्वप्रथम केवल परमात्मा थे। वे सब के अद्वितीय अधीश्वर थे। उन्होंने पृथ्वी और आकाश को यथास्थान स्थापित किया।" "परमात्मा से सभी देव उत्पन्न हुए।"

उपनिषदों में जो सूक्ष्म चिन्तन मिलता है, उसका मूल **नासदीय सूक्त** में था। इस सूक्त को लोकमान्य तिलक ने मनुष्य-जाति की सबसे बड़ी स्वाधीन चिन्ता कहा है, वह ठीक ही है। ऐसा लगता है कि जिन प्रश्नों को लेकर उपनिषदें जूझीं और जिन्हें लेकर चिन्तक आज भी जूझ रहे हैं, उन सभी प्रश्नों के बीज इस सूक्त में निहित थे। इस सूक्त में आया है, "सृष्टि के प्रथम, अन्धकार से अन्धकार ढका हुआ था। सभी कुछ अज्ञात और सब जलमय (वा अविभक्त) था। अविद्यमान वस्तु के द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से वही एक तत्व उत्पन्न हुआ"। "प्रकृत तत्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करे? यह सृष्टि किस उपादान-कारण से हुई? किस निमित्त-कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुईं? देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं? कहाँ से सृष्टि हुई, यह कौन जानता है? ये नाना सृष्टियाँ कहाँ से हुईं? किसने सृष्टियाँ कीं और किस ने नहीं कीं, यह सब वे ही जानें जो इनके स्वामी परम धाम में रहते हैं। **हो सकता है कि वे भी यह सब नहीं जानते हों।**"

उतने प्राचीन काल में, ऐसा प्रचण्ड चिंतन! सोचकर हृदय निस्तब्ध रह जाता है। उपनिषदों के समय भारत में जो बौद्धिक व्यग्रता आरंभ हुई, उसके कारण नासदीय सूक्त में मौजूद थे, इसमें कोई संदेह नहीं।

अवतारों की कल्पना तो वेद में नहीं मिलती, हाँ, "विष्णु के वामनावतार की कथा का अंकुर ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में पाया जाता है। . . . परलोक वा देवयान और पितृयान का विवरण जिन सूक्तों में है, उन्हीं में आत्मा और पुनर्जन्म का भी कथन है। अन्यत्र भी है। १२३२।३ में कहा गया है, "व्यक्ति का एक अंश जन्म-रहित और शाश्वत है।" एक अन्य मंत्र में जीवात्मा को कर्मफल-भोक्ता बताया गया है।

ये सारे विचार वैदिक युग में अंकुरित हो चुके थे, किन्तु, धर्म के नाम पर अत्यन्त विशाल वृक्ष यज्ञों का ही था और यज्ञ ही आर्यों का प्रधान कर्म था। "विश्व की उत्पत्ति का स्थान यज्ञ है।" "सभी कर्मों में श्रेष्ठ कर्म यज्ञ है।" "यज्ञ के कर्मफल से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।" "वृष्टिकामो यजेत" (वर्षा चाहने वाला यज्ञ करे।) ऐसे वाक्य वेद में बहुत होंगे। यज्ञ आर्यों का मुख्य धर्म था और यज्ञ में पशु-हिंसा जोर से की जाती थी। इसलिए, आर्य-धर्म के विरुद्ध उठने वाली क्रान्ति का मुख्य लक्ष्य यज्ञ हुआ।*

ऋग्वेद में जिस समाज का चित्र है, वह समाज अत्यन्त सुखी और संपन्न था और कहीं भी यह संकेत नहीं मिलता कि उस समाज से लोग तनिक भी असन्तुष्ट थे। यह संसार दुःख का आगार है अथवा जीवन नश्वर और क्लेशपूर्ण है, इस भावना पर ऋग्वेद ने कहीं भी जोर नहीं दिया है। यह सच है कि मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाले जीवन की बड़ाई वैदिक ऋषि भी उत्साह से करते हैं, किन्तु, उनका यह भाव नहीं है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन दुःखी है, इसलिए, भाग कर उसे स्वर्ग में समा जाना चाहिए।

उलटे, वे इस जीवन को सुन्दर तथा सुखपूर्ण मानते थे और विश्वास करते थे कि देवता अगर अनुकूल रहें तो मनुष्य पुण्य के रास्ते पर चल कर अपनी जिन्दगी बहुत ही आनन्द के साथ बिता सकता है। मनुष्य में जो पाप हैं और जिनके कारण वह दुःख में पड़ता है, उनका वर्णन भी ऋग्वेद में नहीं मिलता। असल में, वैदिक साहित्य (संहिता-भाग) उद्दाम आशावाद से ओत-प्रोत है और निराशा की उसमें कहीं गन्ध भी नहीं मिलती। उसका सबसे प्रधान स्वर यह है कि यह जिन्दगी आनन्द से जीने योग्य है और देवताओं को प्रसन्न रखकर हम मर कर भी एक ऐसा लोक प्राप्त कर सकते हैं, जहाँ आनन्द-ही-आनन्द होगा। वेद में इस लोक का वर्णन है, इस जीवन के बाद मिलने वाले स्वर्ग का वर्णन है, किन्तु, वैदिक ऋषि नरक के बारे में मौन हैं। वे कोई ऐसी बात नहीं करते, जिससे मनुष्य को भय हो, उसका उत्साह दबे अथवा जीवन में उसका आनन्द कम हो जाय।

लेकिन, यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वैदिक काल के भारतीय भोगवाद में बिल्कुल

---

*इस प्रकरण के सारे उद्धरण पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी के 'हिन्दी ऋग्वेद' और उसकी भमिका से लिये गये हैं। —लेखक

अन्धे हो रहे थे और इन्द्र, वरुण तथा अग्नि के जो दृश्य रूप हैं उनसे ऊपर उठ कर सूक्ष्म परम सत्ता को वे नहीं देख पाये थे। वे जानते थे कि सृष्टि का स्वामी कोई एक ही शक्ति है और उसी का प्रकाश सूर्य, अग्नि, वरुण और इन्द्र में झलकता है। किन्तु, वे जब जिस देवता की स्तुति करते थे, तब उसी को सृष्टि का स्वामी मान लेते थे और उसकी प्रशंसा इस प्रकार करने लगते थे, मानों, वही देवता सर्वशक्तिमान् हो। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि मरने के बाद वे केवल उसी लोक की कामना करते थे जिस लोक में उन्हें सांसारिक सुखों के समान सुख और दैहिक भोगों के समान भोग मिल सकें। शतपथ-ब्राह्मण में यजुर्वेद का एक मंत्र आता है, जिसमें ऋषि प्रार्थना करते हैं कि "हे अग्नि! तुम व्रतपति हो; मैं व्रत करूँगा; ऐसी शक्ति दो कि यह व्रत सिद्ध हो; क्योंकि मैं अनृत (असत्य) को छोड़ कर सत्य को प्राप्त करना चाहता हूँ।" स्पष्ट ही, यह इशारा स्वर्ग नहीं, स्वर्ग से किसी ऊँची स्थिति की ओर है।

ऐसा लगता है कि ऐसी ही सूक्ष्म स्थिति की कल्पना से मोक्ष की कल्पना उद्भूत हुई होगी और जब मोक्ष की धुँधली कल्पना ऋषियों के सामने आयी, तभी उन्होंने ज्ञान-मार्ग पर सोचना आरंभ किया। ज्ञान और कर्म, वेदों में ये दोनों ही मार्ग हैं। कर्मकाण्ड की प्रधानता संहिता और ब्राह्मण में है, जो यज्ञ को मनुष्य का प्रधान कर्म मानते थे,और जिनका विश्वास था कि यज्ञ करने से ही देवता प्रसन्न होते हैं, जिनकी कृपा से मनुष्य को इस जीवन में विजय और मरने के बाद स्वर्ग मिलता है। किन्तु, वेदों में जो ज्ञान-मार्ग की स्फुट बातें जहाँ-तहाँ विकीर्ण थीं, उन्हीं को लेकर उपनिषदों का विकास हुआ; फिर भी, वेदों के प्रभुत्व के समय ज्ञान और कर्म के बीच झगड़ा नहीं बढ़ा, क्योंकि उपनिषदें भी वेद के प्रमाण पर चलती हैं, और यह भी कहती हैं कि यज्ञ से सुख और स्वर्ग जरूर मिलते हैं, किन्तु, दोनों नाशवान् हैं। अतएव, मनुष्य को सच्चे सुख के लिए कुछ और करना चाहिए। उपनिषदों ने सच्चे सुख की जो कल्पना की वह मोक्ष का सुख था, वह जीवन और मृत्यु से छुटकारा पाने का सुख था। इस सुख के सामने, स्वर्ग-सुख को उपनिषदों ने हीन बताया और इसी प्रकार, लोग स्वर्ग के सामने लौकिक जीवन को भी हीन मानने लगे। अतएव, भारतीय दर्शन में निराशावाद की एक हल्की परंपरा का आरंभ उपनिषदों में ही होता है और यही परंपरा उपनिषदों के पूर्ण विकास के युग में आकर पुष्ट और जैन तथा बौद्ध दर्शनों में जाकर प्रचंड हो उठी। संहिताओं और ब्राह्मणों में हम वैराग्य और संन्यास की बात नहीं पाते, यद्यपि वानप्रस्थ-धर्म का आख्यान ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध है। लेकिन, उपनिषदों में वैराग्य और संन्यास, दोनों, हमारे सामने बार-बार आते हैं।

वैदिक भारतीय यज्ञों के बड़े प्रेमी थे। उनका सारा जीवन ही यज्ञमय था। वे वर्षा के लिए यज्ञ करते थे, महामारी से बचने के लिए यज्ञ करते थे, शत्रुओं पर विजय पाने के

लिए यज्ञ करते थे, पशुओं की तन्दुरुस्ती के लिए यज्ञ करते थे और परलोक में सुख पाने के लिए यज्ञ करते थे। जीवन में यज्ञ की इसी व्यापकता के कारण, उस समय के भारतीय समाज में पुरोहितों और ब्राह्मणों का महत्व अत्यधिक बढ़ गया और यज्ञों की विधियों को निर्धारित करने के लिए जो ग्रन्थ बने उनका नाम ही ब्राह्मण पड़ गया। जैसा कि इस वर्णन से समझा जा सकता है, वैदिक भारतीयों के यज्ञ का उद्देश्य सांसारिक सुखों की वृद्धि था और ऐसे ही सुख वे स्वर्ग में भी पाना चाहते थे। इसके साथ ही, यज्ञों में पशु-हिंसा भी बहुत होती थी। इन सारी बातों के कारण यज्ञ बहुत ही स्थूल समझे जाने लगे, कर्मकाण्ड ऋषियों को काफी नहीं जँचने लगा और वे सोचने लगे कि धर्म का यह स्थूल रूप घटना चाहिए और मनुष्य को इससे ऊपर उठ कर किसी सूक्ष्म धर्म की खोज करनी चाहिए।

समाज में जो बातें व्यापक रूप से प्रचलित रहती हैं, उनमें अगर दोष हों तो वे दोष पहले दो-चार या दस-बीस आदमियों को ही दिखायी देते हैं और पहले ये ही लोग उनके खिलाफ सोचने और बोलने भी लगते हैं। यह आलोचना धीरे-धीरे बढ़ती है और जब वह खूब बढ़ जाती है तब सारा समाज उस पर ध्यान देने लगता है। यही धर्म या समाज में क्रान्ति है। मगर, स्मरण रहे कि इस आलोचना के बीज समाज के हृदय में पहले से ही वर्तमान रहते हैं।

वेदों ने यज्ञ का प्रतिपादन किया था और लोगो को यह शिक्षा दी थी कि अगर हर तरह से सुखी, संपन्न और विजयी रहना चाहते हो तो देवताओं की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करो। यही नही,बल्कि, अगर मरने के बाद भी सुख भोगने की इच्छा हो तो स्वर्ग प्राप्त करने के लिए यज्ञ करो। यह एक प्रकार का भोगवादी उपदेश था जिसे समाज ने बड़े ही उत्साह से ग्रहण किया था। लेकिन, वेदों के ऋषि यही तक नही रुके थे; ऊँची-ऊँची बातें सोचते हुए उन्होंने जब-तब यह भी संकेत किया था कि स्वर्ग से ऊपर भी कोई अवस्था हो सकती है। इसके सिवा, निरी सांसारिकता से ऊपर उठकर उन्होंने यह भी विचार किया था कि यह सृष्टि कहाँ से निकली है तथा इसका मालिक कौन है। जब ऋषियों में से कुछ लोगों को यज्ञ अयथेष्ट मालूम होने लगे, तब उनका ध्यान वेद के उन अंशों पर गया जिनमें स्वर्ग से ऊपर की स्थिति की ओर इशारा किया गया था, जिनमें यह प्रश्न उठाया गया था कि सृष्टि की रचना कैसे हुई और इसका अध्यक्ष कौन है। इसी चिन्ता से उपनिषदों का जन्म हुआ। असल में, उपनिषदें वेद के उन स्थलों की व्याख्या हैं जिनमें यज्ञों से अलग हट कर ऋषियों ने जीवन के गहन तत्त्वों पर विचार किया है।

उपनिषदों की विशेषताएँ

उपनिषदें वेद का अनादर नहीं करतीं, मगर, वे मानती हैं कि वेदों ने यज्ञ के जो

रास्ते बताये उनसे मनुष्य को केवल नश्वर सुख ही प्राप्त हो सकते हैं। स्वर्ग के विषय में भी उपनिषदें यह मानती हैं कि स्वर्ग-सुख का भोग जीव तभी तक कर सकता है जब तक उसका पुण्य शेष हो। पुण्य के समाप्त होते ही, उसे फिर से जन्म लेना पड़ता है और फिर उसकी मृत्यु होती है, जो दुःख है।

उपनिषदों के अनुसार, मनुष्य का सच्चा ध्येय मोक्ष या मुक्ति प्राप्त करना है। और मुक्ति है जन्म और मृत्यु के बन्धनों से छुटकारा। मनुष्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे फिर से जन्म लेना नहीं पड़े, क्योंकि जन्म लेने से ही जीव को अनेक क्लेश भोगने पड़ते हैं।

सृष्टि के विषय में उपनिषदों का यह मत है कि वह क्षिति, जल, पावक, गगन और वायु, इन पाँच तत्त्वों से बनी हुई है। इन पाँच तत्त्वों का स्वामी महत्तत्त्व है जिसमें ये पाँचों तत्त्व विद्यमान रहते है। काल पाकर यह महत्तत्त्व (जिसे हम प्रकृति का मूलतत्त्व भी कह सकते है) फैलने लगता है। महत्तत्त्व के इसी फैलाव को हम सृष्टि का जन्म, रचना और विकास कहते है। फिर एक समय आता है जब यह फैलाव सिमटने लगता है और सिमट कर वह महत्तत्त्व मे केन्द्रित हो जाता है। सिमटने की इसी प्रक्रिया को सृष्टि का विनष्ट होना या प्रलय कहते हैं। इस बात को समझाने के लिए उपनिषदों में मकड़े की जाली की उपमा दी गई है। मकड़े के भीतर से जाली निकल कर चारों ओर छा जाती है। यही सृष्टि का बनना है। फिर वह जाली सिमट कर मकड़े के भीतर चली जाती है, यही सृष्टि का विनष्ट होना है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह मकड़ा प्रकृति है या ब्रह्म। यानी सृष्टि की रचना ब्रह्म करता है या वह आप-से-आप होती है। इस प्रश्न का उत्तर उपनिषदों ने दो प्रकार से दिया है। एक तो यह कि यह मकड़ा ब्रह्म ही है और उसी के भीतर से सृष्टि प्रकट होती है। दूसरा यह कि मकड़ा, असल में, प्रकृति के मूल तत्त्व अथवा महत्तत्त्व की उपमा है। ब्रह्म सृष्टि की रचना नही करता। सृष्टि इस महत्तत्त्व से निकलती है और उसी में वापस भी चली जाती है।

इन्ही दो प्रकार के उत्तरों से आगे चल कर अपने यहाँ द्वैतवाद और अद्वैतवाद के सिद्धान्त निकले। जिन्होंने यह माना कि महत्तत्त्व तो जड़ है, उससे चेतन सृष्टि कैसे निकल सकती है, इसलिए, सृष्टि की रचना ब्रह्म ने की है, वे द्वैतवादी हुए। इसके विपरीत, जिनके सामने यह प्रश्न आया कि सृष्टि में अच्छे लोग भी है और बुरे लोग भी, पाप भी है और पुण्य भी, सुख भी है और दुःख भी, फिर यह कैसे माना जाय कि पाप, दुःख और दुराचार भी ब्रह्म से ही निकले हैं और ब्रह्म में भी दुःख और पाप का निवास है,[1] उन्होंने

---

१. इस शंका का समाधान परमहंस रामकृष्ण यह कह कर करते थे कि विष सर्प के मुख में रहने पर भी सर्प को असर नहीं करता। इसी प्रकार, दुःख और पाप भी ब्रह्म में हैं,

अद्वैतवादी मार्ग पकड़ा और यह कहा कि ब्रह्म निराकार, निर्विकार और चेतन है। उसमें किसी प्रकार की भी इच्छा नहीं होती (क्योंकि इच्छा का होना भी विकार है) इसलिए, न तो सृष्टि रचने की उसे इच्छा हुई और न उसने सृष्टि की रचना की। सृष्टि प्रकृति के मूलतत्त्वों से (महत्तत्त्व से) निकली है और वह उसी में समा भी जाती है। जब यह प्रश्न अद्वैतवादियों के सामने आया कि तब सृष्टि में हम चेतना क्यों देखते हैं, तब उन्होंने यह कहा कि चेतन-स्वरूप केवल ब्रह्म है, किंतु, उस चेतना से व्याप्त रहने के कारण हमें जड़ प्रकृति भी चेतन दिखायी देती है।

यह ध्यान देने की बात है कि प्राचीन भारत में इसी अद्वैतवाद का जोर था। द्वैतवाद का उत्थान तब हुआ जब भक्ति की लहर उठी और लोग यह मानने लगे कि भगवान हमारी प्रार्थना सुन कर हमारे पापों को क्षमा कर देते हैं तथा हमें मुक्ति भी देते हैं।

उपनिषदें या वेदान्त, यद्यपि, द्वैतवाद के पक्ष की भी दलीलें उपस्थित करते हैं, लेकिन, परंपरा से हम उन्हें अद्वैतवादी मानते आये हैं, क्योंकि, इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि आदि दृश्य देवताओं से हटाकर मनुष्यों का ध्यान निराकार ब्रह्म की ओर उपनिषदें ही ले गई और उपनिषदों ने ही इस बात को जोर से घोषित किया कि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्ग पाना नहीं (क्योंकि पुण्य के क्षीण होने पर जीव को स्वर्ग से भी लौटना पड़ता है); बल्कि, जीवन और मृत्यु के बंधन से छूटकर मोक्ष पाना अथवा ब्रह्म में लीन हो जाना है। वेदों में प्रतिपादित मुख्य धर्म यज्ञ था; उपनिषदों में आकर वह गौण हो गया और मुख्यता आत्मविद्या तथा तप को दी जाने लगी।[२]

उपनिषदों का विचार है कि जैसे आकाश सर्वत्र फैला हुआ है (आदमी, जानवर, पर्वत, नदी, वृक्ष, पत्थर, यहाँ तक कि एक-एक अणु के बाहर ही नहीं, बल्कि, उसके भीतर भी आकाश है,) उसी प्रकार, ब्रह्म भी सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। आत्मा और परमात्मा को उपनिषदें एक मानती हैं। जब कुम्हार एक घड़ा बनाता है तब आकाश का एक खंड उस घड़े में भी व्याप्त हो जाता है। घड़ा शरीर है और घड़े के भीतर व्याप्त आकाश

किन्तु, ब्रह्म पर उनका प्रभाव नहीं है। —लेखक

२. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥

(मुंडकोपनिषत्)

भावार्थ—अठारह प्रकार के जो यज्ञ कहे गए हैं वे, वस्तुतः, छोटी-छोटी कमजोर नावों के समान हैं (जिनसे समुद्र के पार जाना असंभव है)। इन यज्ञों को जो व्यक्ति श्रेय मान कर उनका अभिनन्दन करता है वह मूढ़ है और वह फिर-फिर वृद्धत्व और मरण को प्राप्त होता है।

ही आत्मा है। जब घड़ा फूट जाता है (यानी जब आदमी का शरीर छूट जाता है) तब उसमें बँधा हुआ आकाश फिर बड़े आकाश में मिल जाता है। जिस घड़े का आकाश कर्म की गँध से दूषित है उस आकाश-खंड (आत्मा) को फिर किसी दूसरे घड़े में समाना पड़ेगा (यानी पुनर्जन्म लेना पड़ेगा)। मगर, जिस घड़े का आकाश निर्मल है (अर्थात् जिस मनुष्य की आत्मा निर्मल है) उस घड़े के फूट जाने पर उसका आकाश फिर घड़े में वापस नहीं आता (अर्थात् निर्मल मनुष्य की आत्मा पुनर्जन्म के बन्धन में नहीं पड़ती)।

उपनिषदें कहती हैं कि कर्मफलवाद का सिद्धांत सही है। मनुष्य जैसा कर्म करता है उसे वैसा फल अवश्य भोगना पड़ता है। इसलिए, मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्म को सुधारे। कर्म के सुधरने से मनुष्य का अगला जन्म अच्छा होगा और उस जन्म में भी जब वह अच्छे कर्म करेगा तब उसका फिर अगला जन्म और भी अच्छा होगा। इस प्रकार, जन्म-जन्मान्तर तक साधना करते-करते उसकी मुक्ति हो जायगी अर्थात् वह जन्म-मरण के बन्धन से छूट जायेगा।

ये सारी बातें उपनिषदों के निचोड़ के रूप में उपस्थित की जा रही हैं। असल में, उपनिषदों में सारी बातें सुलझा कर एक स्थान पर रखी नहीं गई हैं। उपनिषदों की बहुत-सी बातें परस्पर-विरोधी हैं। उपनिषदें कभी तो ब्रह्म को निर्विकार कहती हैं और कभी यह कहती हैं कि उसीने सृष्टि की रचना की; वे कभी तो आत्मा और परमात्मा में अभेद मानती हैं और कभी यह कहती हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् और आत्मा सीमित है, परमात्मा आनन्दस्वरूप और आत्मा दुःख से जर्जर है। आत्मा और परमात्मा एक हैं, आत्मा और परमात्मा अलग-अलग हैं तथा आत्मा और परमात्मा अलग भी हैं और एकाकार भी, ये तीन तरह के मत हैं और तीनों का समर्थन उपनिषदों में खोजा जा सकता है। आगे चलकर इन्हीं तीन प्रकार की बातों से तीन मतवाद चले जिनमें से अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक शंकराचार्य, द्वैतवाद के मध्वाचार्य और विशिष्टाद्वैतवाद के रामानुजाचार्य हुए।[1]

मगर, यह ध्यान रखना चाहिये कि दर्शन के इन विभिन्न वादों में से कोई भी ऐसा नहीं है जो किसी एक ऋषि या दार्शनिक का आविष्कार हो। उपनिषदों में ऋषियों ने

---

१ "वेदान्तसूत्रों में मायावाद का विकास नहीं देख पड़ता। पहले-पहल शंकराचार्य के गुरु (गोविन्दाचार्य) के गुरु गौड़पाद की कारिकाओं में माया का कुछ वर्णन मिलता है जिसे शंकराचार्य ने बहुत विकसित कर दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा स्थान दे दिया। एक तरह से, वे ही अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य थे। उन्होंने प्रस्थानत्रयी (वेदान्तसूत्र, उपनिषदों और गीता) का अद्वैत-प्रतिपादक भाष्य लिखकर दार्शनिक मंडली में इस सिद्धांत का बहुत प्रचार किया। ··शंकराचार्य-प्रतिपादित वेदान्त ही आजकल का वेदान्त है।"
गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति)

अपनी जो अनेक अनुभूतियाँ लिखी थीं, उन्हीं अनुभूतियों का विकास हिन्दू-दर्शन के अनेक वादों में हुआ है। हिन्दुओं के यहाँ फिलासाफी का नाम और कुछ नहीं होकर 'दर्शन' है, यह स्वयं अर्थपूर्ण बात है। हम दर्शन उस विद्या को कहते हैं जो सोचकर नहीं, देखकर लिखी गई थी। और हमारे सभी दर्शनों का मूल, सारा उपनिषत्साहित्य ही ऋषियों के देखकर ही लिखने का परिणाम है। ज्ञान के अनेक साधनों में से एक जबर्दस्त साधन 'सहज ज्ञान' भी है। सहज ज्ञान में प्रमाणों की जरूरत नहीं होती, तर्क और दलील देने की आवश्यकता नहीं होती। सहज ज्ञान से प्राप्त होनेवाला ज्ञान मनुष्य के मन की आँखों के आगे बिजली-सा कौंध उठता है। सहज ज्ञान से हम जो भी अनुभूति प्राप्त करते हैं, उसकी सचाई को हमारी सभी इन्द्रियाँ ग्रहण कर लेती हैं,मानों, वह, सचमुच ही, आँखों देखी हुई बात हो। ऊँची कविता सहज ज्ञान से लिखी जाती है, ऊँची कला का निर्माण सहज ज्ञान से किया जाता है और दर्शन में भी उच्चतम सत्य बराबर सहज ज्ञान से ही उपलब्ध होते हैं। बुद्धि और प्रयोग से जो सत्य बहुत दिनों के बाद प्राप्त होता है, सहज ज्ञान से वही सत्य तुरन्त पकड़ में आ जाता है। भारत और यूरोप यें यह भेद है कि जब यूरोप की पद्धति वैज्ञानिक थी और उसने प्रयोग तथा बौद्धिक छान-बीन के बिना किसी भी बात को स्वीकार नहीं किया, तब भारत के मनीषियों का मार्ग, प्रधानतः, सहज ज्ञान का मार्ग रहा। इसीलिए, सभ्यता के बाहरी उपकरण बढ़ाने के बदले, भारत में बराबर इस बात पर जोर दिया जाता रहा है कि अपनी आत्मा को शुद्ध करो, अपनी दृष्टि को बाहर से फेर कर अन्तर्मुखी बनाओ तथा एकान्त और समाधि का सेवन अधिक करो, क्योंकि सहज ज्ञान के ये ही मार्ग हैं।

उपनिषदों में जो विरोधी बातें मिलती हैं, उनका भी कारण यही है कि ऋषि सहज ज्ञान के बल पर जब जो कुछ देखते, तब उसी को लिख देते थे। उपनिषदों को हम हिन्दू-धर्म का पद्धतिबद्ध दर्शन नहीं मान सकते। वे हिन्दू-धर्म की अनुभूतियों के कोष हैं जिनमें ऋषियों की अनुभूतियाँ ठीक उसी रूप में दर्ज मिलती हैं, जिस रूप में वे उन्हें प्राप्त हुई थीं। उपनिषदों को आधा दर्शन और आधा काव्य कहना चाहिए।

एक दूसरी दृष्टि से देखने पर, हम यह भी कह सकते हैं कि उपनिषत्कारों का उद्देश्य दर्शन की रचना करना नहीं, बल्कि, अनेक उपायों से उस समाज का ध्यान धर्म के सूक्ष्म तत्त्वों की ओर ले जाना था, जिस समाज के लोग धर्म के बाहरी आचारों में उलझे हुए थे, पशुहिंसा और यज्ञवाद को अपना परम धर्म मान रहे थे और पृथ्वी से लेकर स्वर्ग तक जो केवल भोगों के लिए ही बेचैन थे। इस समाज के सामने,उपनिषदों के द्वारा जो आदर्श उपस्थित किया जा रहा था वह यह था, कि जीवन का सच्चा सुख भोग में नहीं,त्याग में है, कि सारी सृष्टि के ब्रह्ममय होने से किसी भी मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी

अन्य मनुष्य को दुःख दे या किसी भी जीव की हिंसा करे, कि मनुष्य की असली समस्या जन्म-मरण की समस्या है और इस समस्या का समाधान मोक्ष है ।

मंत्र, ब्राह्मण और उपनिषद् युग

हिन्दुत्व का आरम्भ ऋग्वेद की आरम्भिक ऋचाओं में हुआ जिनमें ऋषि प्रकृति के रूपों में देवत्व की झाँकी देखते हैं। यह अनुसंधान किसी धार्मिक कवि का अनुसंधान है जो प्रकृति के रमणीय और भयानक, दोनों रूपों से प्रभावित होता है और सोचता है कि अवश्य ही, ये किसी प्रच्छन्न शक्ति के खेल हैं। इसी प्रच्छन्न शक्ति को वह इन्द्र, वरुण, मरुत, अग्नि या और कोई नाम दे देता है । अनुसंधान जितना ही बढ़ता गया, प्रकृति के नये-नये रूपों को देखकर वैदिक कवि जितने ही चकित होते गये,उसी परिमाण में, नये-नये देवताओं की कल्पना भी उभरती गई। किन्तु, ये कवि कहीं रुके नहीं। वे बराबर इन विभिन्न रूपों के बीच एकता खोजते गये, अन्विति का पता लगाते गये । अन्त में, वे इस बात पर आये कि एक ही शक्ति है जो प्रकृति के नाना रूपों में दिखाई पड़ती है और जो प्रकृति के पीछे भी अवस्थित है। मंत्रकाल में, कदाचित्, ऋषि यहीं तक पहुँचे थे। इस प्रच्छन्न शक्ति का परमात्मा नाम उपनिषत्काल में आ कर चला ।

मंत्रकाल की दूसरी प्राप्ति ऋत का सिद्धांत थी। जिस प्रकार,ऋषियों को यह अनुभव हुआ कि प्रकृति के विभिन्न रूप किसी एक ही शक्ति की लीलाएँ हैं, उसी प्रकार, वे इस अनुभूति पर भी पहुँचे कि प्रकृति नियमविहीन नहीं है, उसके सभी रूपों के भीतर कोई शृंखला अनुस्यूत है, कोई नियम चल रहा है, जिससे ऋतुएँ बदलती हैं और दिन-रात होते रहते हैं । ऋतु की इसी कल्पना से, आगे चलकर, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के सिद्धांत उत्पन्न हुए ।

मंत्रकाल में कुछ और सिद्धांतों ने प्रचार पाया। विद्वानों का मत है कि पितृ-ऋण ऋषि-ऋण और देव-ऋण की कल्पना इसी युग की उपज है। चार वर्ण और चार आश्रम की प्रथा भी मंत्रयुग में ही जन्मी । अतएव, वर्णाश्रम-धर्म की कल्पना उतनी ही प्राचीन मानी जाती है जितना प्राचीन ऋग्वेद है ।

मंत्रयुग के बाद, ब्राह्मणों का युग आता है । पुनर्जन्म और कर्मफलवाद का प्रत्यक्ष विवरण ब्राह्मण-ग्रंथों में भी नहीं मिलता, यद्यपि, ब्राह्मणों से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज यह मानता था कि मरने के बाद जीव परलोक में वास करता है और लोक में उसने जैसे कर्म किये हैं, परलोक में उसे वैसे ही फल मिलते हैं। ब्राह्मण-युग में वैदिक देवताओं में से, प्रायः, प्रत्येक की पूजा प्रचलित थी,यद्यपि,प्रजापति सबसे श्रेष्ठ एवं जगत् के रचयिता माने जाने लगे थे। विष्णु मंत्रयुग में सूर्य के पर्याय थे। किन्तु, ब्राह्मणों में आकर वे यज्ञदेव हो गये । इस प्रकार,उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती आ रही थी। ब्राह्मण-काल में ही,शिव

आविर्भूत होते हैं, एवं वेद के रुद्र के साथ वे तुरन्त एकाकार हो उठते हैं। बहुत-से आयतर प्रभाव ब्राह्मण-युग तक आर्यधर्म में प्रविष्ट हो जाते हैं एवं यहाँ से आगे जो विकास होता है उसमें आर्य और आर्येतर चिह्न अलग-अलग नहीं दिखाई पड़ते।

ब्राह्मण-काल में पुरोहितों की शक्ति खूब बढ़ी। यदि लेखकों को दृष्टिगत रख कर विचार किया जाय तो यह कहना अयुक्तियुक्त नहीं होगा कि वेदों के कर्त्ता कवि थे, ब्राह्मणों के पुरोहित और उपनिषदों के रहस्यवादी सन्त। पुरोहितवादी प्रभावों के विस्तार के कारण,ब्राह्मण-काल वैदिक धर्म की अवनति का काल था। इस अवनति के बाद, हिन्दुत्व का जो अपरिमेय उत्थान हुआ, उसका आख्यान हमें उपनिषदों में मिलता है। तभी से उपनिषदें हिन्दुत्व का आधार-भूत ग्रन्थ रही हैं और उन्हें समझे बिना हिन्दुत्व को समझना असंभव माना जाता रहा है।

उपनिषदों के काल में आकर यज्ञ का स्थान ज्ञान ले लेता है और प्रजापति का स्थान ब्रह्म। इसी युग में आकर कर्म का अर्थ विस्तृत हो जाता है। अब कर्म का अभिप्राय केवल यज्ञ नहीं हो कर वे सारे कृत्य हो जाते हैं जिनके कारण मनुष्य को पुनर्जन्म लेना पड़ता है। जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद इसी युग में पूर्णरूप से स्थापित हो गये और तब से वे केवल हिन्दुत्व ही नहीं, बौद्धमत और जैनमत के भी आधार रहे हैं। उपनिषदों ने मोक्ष को संसार का समाधान बतलाया और यह कहा कि मोक्ष का मार्गज्ञान है। यह सिद्धान्त भी बौद्धों और जैनों ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया। ज्ञान की, इस युग में, इतनी महिमा बढ़ी कि वर्णाश्रम और यज्ञवाद, दोनों बहुत पीछे छूट गये। जाबाला-पुत्र सत्यकाम को ब्रह्मविद्या का अधिकारी मान कर उपनिषद् के ऋषि ने, मानों, यह खुली घोषणा की है कि ब्राह्मण-अब्राह्मण का भेद व्यर्थ है। मनुष्य जन्म से नहीं, शील से महान् होता है—यहाँ तक कि जारज-संतान भी यदि सत्यवादी है तो उसे ब्राह्मण के सभी अधिकार मिलने चाहिए। भक्ति का प्रमाण उपनिषदों में नहीं के बराबर है। किन्तु, बहुत कुछ वैसी ही साधना हम उपासना में देख सकते हैं, जो ध्यान और समाधि का रूप लेती है। यही ध्यान और समाधि बौद्ध साधना में भी प्रमुख हुई।

उपनिषदों में मूर्त्ति-पूजा का प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु, महामहोपाध्याय काणे ने धर्मशास्त्रों का जो इतिहास लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि ईसा से पांच सौ वर्ष पूर्व, समाज में ऐसे पुरोहित थे जो मन्दिरों में प्रतिमा-पूजन करवाते थे। उनका विचार है कि प्रतिमा-पूजन के प्रचलन के साथ ही,श्रौत-सूत्रों का महत्त्व घटने लगा, क्योंकि उनका विषय यज्ञ था और इसी काल से गृह्य-सूत्र प्रधानता पाने लगा। श्री डी० एस० शर्मा का विचार है[१] कि जब यज्ञ-धर्म निर्जीव हो गया और उपासना की ओर लोगों का ध्यान

१. द रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म।

जाने लगा,तभी मूर्ति-पूजा का प्रचलन हुआ होगा। मेरा अनुमान है कि भक्ति और प्रतिमा-पूजन की कोई प्रथा आर्यों के पूर्व से ही इस देश में विद्यमान थी। आरम्भ में, आर्य इस प्रथा की ओर उन्मुख नहीं हुए। किन्तु, जब उनका अपना भाव उपासना की ओर जाने लगा, तभी प्रतिमा-पूजन की प्रथा चल पड़ी होगी। यदि यह बात ठीक हो तो मानना होगा कि भक्ति का आरंभ ई० पू० ५०० के लगभग हो चुका था क्योंकि प्रतिमा-पूजन के साथ भक्ति का थोड़ा-बहुत पुट स्वभावतया आ जाता है।

उपनिषदों का प्रभाव

आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वेद में जो हल्की-महीन कल्पनाएँ थीं, उपनिषदों में आकर उनका विपुल विकास हो गया और भारतवासी यह मानने लगे कि धर्म का जो असली सूक्ष्म तत्त्व है वह यज्ञवाद और पशुहिंसा से उपलब्ध नहीं हो सकता। सारी सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त है और जड़-चेतन सबके भीतर एक ही सत्ता निवास करती है। इस मत के प्रचार से हिंसा की भावना ढीली होने लगी और लोग यह मानने लगे कि मनुष्य के समान ही, पशु-पक्षी और पेड़-पौधे भी हिंसा नहीं, प्रेम और आदर के अधिकारी हैं। चूंकि मोक्ष का सिद्धांत निरूपित करने में बार-बार जीवन की दुःखपूर्णता की चर्चा की गयी, इसलिए, समाज में एक प्रकार का निराशावाद फैलने लगा और लोग जीवन में उस उत्साह को खोने लगे जो उत्साह वेदकालीन भारतवासियों की विशेषता थी। उपनिषदों ने संन्यास और वैराग्य की भावना को भी प्रेरित किया। अतएव, पहले जहाँ लोग सांसारिक सुखों के भोग के लिए डट कर परिश्रम करने में आनन्द मानते थे, वहाँ अब वे गृहस्थाश्रम को छोड़कर, असमय ही, वैराग्य और संन्यास लेने लगे।[१] वैदिक सभ्यता कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी जो सोचता कम, काम अधिक करता था; जिसे नरक की चिन्ता नहीं, हमेशा स्वर्ग का ही लोभ था, जो जीवन को दुःखों का आगार नहीं, सुख और आनन्द का साधन मानता था। मगर, उपनिषदों ने दिमाग के अनेक दरवाजे खोल दिये और आदमी अनेक सवालों के चक्कर में पड़ गया। यह सृष्टि क्या है? जीव सान्त है या अनन्त? जन्म के पहले क्या था? मरने के बाद क्या होगा? क्या जिन्दगी मरने के साथ ही खत्म हो जायगी? या मरने के बाद भी हमें स्वर्ग मिलेगा? अगर हाँ, तो इसका प्रमाण क्या है? इन सवालों की हल्की-पतली झाँकी वेदों में भी प्रच्छन्न थी, लेकिन, वेदकालीन मनुष्य इन प्रश्नों के चंगुल में नहीं पड़ा था। उपनिषदों

---

१. स्वामी विवेकानन्द वेदांत के प्रबल समर्थक थे। किन्तु, एक बार अमेरिका में एक सभा में उन्होंने भी विनोद करते हुए कहा कि "संन्यास के विरुद्ध एक बात मुझे भी सूझती है कि यह सभी सुयोग्य व्यक्तियों को समाज से अलग कर लेता है।" —लेखक

ने आदमी को कुरेद-कुरेद कर उसे ऐसे सवालों के हवाले कर दिया जिन का आखिरी जवाब उसे आज तक नहीं मिला है।

बौद्धिक कोलाहल के अन्य प्रमाण

बौद्ध साहित्य से भी यह विदित होता है कि बुद्ध के समय और उनके ठीक पूर्व, इस देश में वैरागियों और संन्यासियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। उन दिनों, समाज में, प्रायः, दो प्रकार के लोग थे। एक तो वे, जो यज्ञ मात्र को मान कर वैदिक धर्म का पालन करते थे, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा और सम्मान देते थे तथा विभिन्न देवताओं को पूज कर संतुष्ट रहते थे। किन्तु, जो लोग इस धर्म से संतुष्ट नहीं होते, वे संन्यासी हो जाते थे और हठयोग की क्रिया से देह-दंडन करने में सुख मानते थे। साधुओं में उन दिनों योग का व्यापक प्रचार था तथा यह माना जाता था कि हठयोग के द्वारा मनुष्य आत्मा की उपलब्धि कर सकता है। स्वयं गौतम जब घर से निकले, तब पहली बात उन्हें यही सूझी कि योग करके आत्मज्ञान प्राप्त करें। योग-विषयक विश्वास उन दिनों इतना प्रबल था कि गौतम निरन्तर छह वर्ष तक योग करते ही रहे। किन्तु, जब छह वर्षों में भी उन्हें इष्टोपलब्धि नहीं हुई, तभी उन्होंने योग का त्याग किया। बुद्ध के समय, भारतवर्ष में श्रमणों की कोई ६३ संस्थाएँ वर्त्तमान थीं, जिन में से छह तो बहुत ही प्रमुख संस्थाएँ थीं। अवश्य ही, ये संस्थाएँ बहुत पहले से आ रही होंगी। "दीर्घ निकाय" के सामँफल सुत के अनुसार इन छह संघों में एक का आचार्य पूरण काश्यप था जो यह मानता था कि मनुष्य जो कुछ भी करे वह पाप का भागी नहीं होता है। "तीक्ष्ण धार के चक्र से भी अगर कोई इस संसार के सब प्राणियों को मार कर ढेर लगा दे, तो भी उसे पाप न लगेगा। गंगा नदी के उत्तर किनारे पर जा कर भी कोई दान दे या दिलवाये, यज्ञ करे या करवाये तो भी कुछ पुण्य नहीं होने का। दान, धर्म, संयम, सत्य-भाषण, इन सबसे पुण्य की प्राप्ति नहीं होती।" पूरण काश्यप के इस वाद को **अक्रियवाद** कहते थे।

दूसरे संघ का आचार्य मंक्खलि गोसाल था। उसका कहना था कि प्राणी के पवित्र या अपवित्र होने में न कुछ हेतु है, न कारण। बिना हेतु और कारण के ही, प्राणी पवित्र और अपवित्र होते हैं। बल, वीर्य, पराक्रम और पुरुषार्थ, ये कुछ भी नहीं हैं। सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य हैं। नियति, संगति और स्वभाव से वे चालित होते हैं। अस्सी लाख महाकल्पों के फेरे में पड़े बिना किसी के भी दुःख का नाश नहीं होता। मंखलि गोसाल के इस मत को दैववाद कहते थे।

तीसरे संघ का प्रमुख अजित केस कंबल था। वह कहता था कि चार भूतों से मिल कर मनुष्य बना है। मरने पर ये चारों (क्षिति, जल, पावक, वायु) तत्त्व अपने-अपने स्थान में समा जाते हैं। मृत्यु के बाद, कुछ भी अवशेष नहीं रहता। पंडित और मूर्ख, दोनों का,

मरने के बाद, उच्छेद हो जाता है। केस-कंबल के इस मत को उच्छेदवाद या जड़वाद कहते थे।

चौथे संघ का आचार्य प्रबुद्ध कात्यायन था जिस का मत बहुत कुछ गीता में प्रतिपादित मत से मिलता है। वह कहता था, "जो तेज शस्त्रों से दूसरे का सिर काटता है, वह खून नहीं करता, सिर्फ उसका शस्त्र उन तत्वों के अवकाश (रिक्त स्थान) में घुसता है जिन तत्वों से जीव निर्मित है।" इस मत को **अकृततावाद** कहते थे।

पाँचवें संघ का आचार्य जैन साधु निगंठ नाथपुत्त था जो ऊपर लिखे चारों यामों का प्रतिपादन करता था।

छठे संघ का आचार्य संजय बेलठ्ठिपुत्त था। वह कहता था, परलोक है या नहीं, यह मैं नहीं समझता; परलोक है, यह भी नहीं; परलोक नहीं है, यह भी नहीं। अच्छ या बुरे कर्मों का फल मिलता है यह मैं नहीं मानता; नहीं मिलता है यह भी नहीं मानता। तथागत मृत्यु के बाद रहता है या नहीं रहता, यह मैं नहीं समझता; वह रहता है, यह भी नहीं, नहीं रहता है, यह भी नहीं।" इस वाद को **अनिश्चिततावाद** कहते थे।

इन छह मतों में एकता नहीं थी, किन्तु, एक बात में ये सब के सब एक थ। इन सभी संघों के साधु घर छोड़ कर वैरागी हुए थे, समाज में प्रचलित हिंसापूर्ण यज्ञों से विरत हो कर संसार छोड़ आये थे। अतएव, वे सब के सब चाहते थे कि हिंसापूर्ण यज्ञ बन्द हों और मनुष्य किसी अधिक गंभीर धर्म का आचरण करना सीखे।

१. जैन धर्म

विद्रोह, बगावत या क्रान्ति कोई ऐसी चीज नहीं होती जिसका विस्फोट अचानक होता हो। घाव फूटने के पहले बहुत काल तक पकता रहता है। विचार भी, चुनौती लेकर खड़े होने के पहले, वर्षों तक अर्धजाग्रत् अवस्था में फैलते रहते हैं। वैदिक धर्म पूर्ण नहीं है, इसका प्रमाण उपनिषदों में ही मिलने लगा था और, यद्यपि, वेदों की प्रामाणिकता में उपनिषदों ने संदेह नहीं किया, किन्तु,वैदिक धर्म के काम्य,स्वर्ग को त्याज्य बताकर वेदों की एक प्रकार की आलोचना उपनिषदों ने ही शुरू कर दी थी। वेद सबसे अधिक महत्त्व यज्ञ को देते थे। और यज्ञों की प्रधानता के कारण, समाज में ब्राह्मणों का स्थान बहुत प्रमुख हो गया था। इन सारी बातों की समाज में आलोचना चलने लगी और लोगों को यह संदेह होने लगा कि मनुष्य और उसकी मुक्ति के बीच में ब्राह्मण का आना, सचमुच ही, ठीक नहीं है। आलोचना की इसी प्रवृत्ति ने बढ़ते-बढ़ते आखिर को ईसा से छह सौ वर्ष पूर्व तक आकर हिन्दुत्व के खिलाफ खुले विद्रोह को जन्म दिया जिसका सुसंगठित रूप जैन और बौद्ध धर्मों में प्रकट हुआ।

विद्रोह के कारण

जैन और बौद्ध धर्मों के रूप में हिन्दुत्व के ख़िलाफ विद्रोह क्यों उठा, इसका थोड़ा-बहुत आभास पिछले अध्याय में मिलेगा, जहाँ यह बतलाया गया है कि वैदिक धर्म के स्थूल रूप की आलोचना क्यों शुरू हुई और क्यों उपनिषदों ने यज्ञ और स्वर्ग को गौण ठहराया। ऐसा लगता है कि जिन दिनों उपनिषदों की रचना हो रही थी, उन दिनों भारत के चिन्तकों का दिमाग बहुत जोर से खौल रहा था। सृष्टि का अन्तिम सत्य क्या है, इस बात का पता लगाने में वे बहुत ही मशगूल थे। और केवल भारतवासी ही नहीं, संसार के कुछ अन्य देशों में भी कई बड़े-बड़े चिन्तक इसी काल में पैदा हुए। उदाहरण के लिए, यही वह समय था जब चीन में लाव-जी और कन्फ्यूसियस का जन्म हुआ तथा यूनान में पिथेगोरस और ईरान में पारसी-धर्म के पैगम्बर, जरथुस्त्र[१] भी इसी काल में जन्मे। फिलस्तीन के भी दो पैगम्बरों, जिरेमिया और इजकिल का यही समय माना जाता है।

उपनिषदों एवं बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के अध्ययन से यह अनुमान आसानी से होने लगता है कि ई० पू० छठीं शताब्दी के आसपास का काल भारत में बौद्धिक बेचैनी,

---

१. जरथुस्त्र के सम्बन्ध में एक मत यह है कि वे ई० पू० १००० के आसपास हुए हैं।

शंका और मानसिक कोलाहल का काल था। जीवन यहीं तक है या इससे आगे भी? मरने के बाद क्या होता है? सृष्टि कैसे बनी? यह आप-से-आप चलती है अथवा इसका कोई नियन्ता और नियामक भी है? ये और ऐसे सैंकड़ों अन्य प्रश्न भारतवर्ष के मनीषियों के मस्तिष्क को मथ रहे थे और अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार, लोग इन प्रश्नों के समाधन भी उपस्थित कर रहे थे। इनमें से कोई तो वेद को प्रमाण मानकर चलता था और कोई उन्हें छोड़कर। किसी को ईश्वर की जरूरत महसूस होती थी और कोई उसे अनावश्यक समझता था। हमारे यहाँ आगे चलकर दर्शन की जो छह शाखाएँ निकलीं, उनकी भी जड़ें इसी काल के बौद्धिक आन्दोलनों में थीं।

उपनिषदों ने समाज में आत्मविद्या और तपश्चर्या की जो परिपाटी चला दी थी उससे प्रेरित होकर लोग पढ़-लिखकर वैरागी होने लगे। इसका कारण यह था कि जो लोग यह समझते थे कि उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है तथा वे जीवन-मुक्त हो गए हैं या जीवन-मुक्ति की राह पर हैं, वे संसार को छोड़कर इसलिए संन्यासी या वैरागी हो जाते थे कि कहीं गृहस्थाश्रम में रहने से वे इस अवस्था से पतित नहीं हो जायँ। उनकी देखादेखी और लोगों ने भी कपड़े रँगवा लिये अथवा वैरागी होकर निर्द्वन्द्व विचरने लगे। ये संन्यासी और परिव्राजक सर्वत्र घूमते रहते थे। पेड़ों के नीचे अथवा कुटियों में उनका सोना होता था और वनों में तपश्चर्या। ये दरबारों, यज्ञों तथा अन्य स्थानों पर जाकर जनता को उपदेश भी देते थे। इन ऋषियों की विशेषता यह थी कि यज्ञों में उनका विश्वास नहीं था, कर्मकाण्ड को वे नहीं मानते थे और ऐहिक सुखों को वे मनुष्य का हीन उद्देश्य बतलाते थे। उनका लक्ष्य मनुष्य के भीतर वैराग्य जगाकर उसे ईश्वर की ओर ले जाना था। यूनान में जैसे दार्शनिकों की पहचान उनकी पोशाक (Philosopher's robe) थी, वैसे ही, इस काल के भारतीय धर्म-प्रचारकों और विचारकों का लक्षण वैराग्य था। यह परंपरा हमारे समय के बहुत समीप तक आयी है, क्योंकि हाल तक गाँवों में यह धारणा प्रचलित थी कि जो भी गीता और उपनिषद् पढ़ेगा, वह वैरागी हो जायगा। जैन और बौद्ध धर्मों के अन्दर, जो लाखों लोग श्रमण या भिक्षु बनकर मठों में जीवन बिताने लगे, वह उपनिषदों की इसी वैराग्य-परंपरा का विकास था।

उन दिनों, मत-मतान्तर और सम्प्रदाय कितने थे, इसकी भी गिनती नहीं की जा सकती। और इन संप्रदायों के विचार भी भाँति-भाँति के थे। कोई वेद को प्रमाण मानता था, कोई नहीं मानता था। कोई ईश्वर में विश्वास करता था, कोई नहीं करता था। कुछ संप्रदाय यह बतलाते थे कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है, जिन्दगी उसके बाद भी चलती रहती है, इसलिए, हमें अगले जीवन की भी फिक्र करनी चाहिए। इसके विपरीत, लोकायतों की परंपरा में कुछ ऐसे भी व्यक्ति और संप्रदाय थे जो कहते थे कि सब-कुछ मृत्यु के साथ

ही समाप्त हो जाता है, आगे कोई स्वर्ग या नरक नहीं है जिसकी मनुष्य को चिन्ता होनी चाहिए।

नास्तिकता की परम्परा

भारतीय परंपरा के अनुसार, नास्तिक वह मनुष्य है जो वेद को प्रमाण नहीं मानता है, वह नहीं जो ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करता है। जैन और बौद्ध धर्मों को हम नास्तिक कहते हैं, इसका कारण यह नहीं है कि उन धर्मों में ईश्वर की कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है, बल्कि यह कि इन धर्मों ने खुलकर वेद में अविश्वास प्रकट किया है। बुद्धदेव तो ईश्वर के अस्तित्व के विषय में मौन थे, इसलिए,यह नहीं कहा जा सकता कि वे ईश्वर में विश्वास करते थे या नहीं। किन्तु, जैन धर्म में ईश्वर के लिए स्थान है, यद्यपि, जैन ईश्वर को सृष्टि-कर्त्ता नहीं मानते हैं। अगर सृष्टिकर्त्ता की बात को लें तो हमारा सांख्य और पूर्वमीमांसा दर्शन भी सृष्टि की रचना के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझता। अद्वैतवाद के अन्दर जिस ब्रह्म की कल्पना की गयी है, वह तटस्थ शक्ति है। ब्रह्म न तो जन्म लेता है, न मरता है; वह न तो किसी को जन्म देता है और न किसी को मारता है। यह सृष्टि प्रकृति के मूल तत्वों से विकसित होती है और कालप ाकर स्वयं उसमें वापस हो कर समा जाती है। असल में, इस्लाम और ईसाइयत तथा यहूदी धर्मवालों ने ईश्वर की कल्पना जिस रूप में की, उससे भारतीय कल्पना भिन्न है। भारतीय कल्पना का ईश्वर ब्रह्म है जो निर्विकार है, जिसमें इच्छाएँ नहीं होतीं, जो सृष्टि नहीं बनाता, जो संसार के सभी कामों से तटस्थ रहता है। किन्तु, इस्लाम और ईसाइयत की कल्पना का ईश्वर इच्छावान् और कर्मठ है। वह सृष्टि की रचना करता है तथा मनुष्यों को उनके पाप और पुण्य के लिए दण्ड भी देता है। असल में, इस्लाम और ईसाइयत ने ईश्वर के साथ जिन प्रबल गुणों का संबन्ध जोड़ा, वे हमारे यहाँ के उस ईश्वर में हैं जो द्वैतवादियों का ईश्वर है। अतएव, द्वैतवादी दृष्टिकोण से विचार करने पर बुद्ध और महावीर के धर्म हिन्दुत्व से भले ही कुछ दूर पड़ें, किन्तु, अद्वैतवादी हिन्दुत्व से उनका अधिक भेद नहीं है, बल्कि, वे उसी की दो शाखाएँ-जैसी हैं। केवल ईश्वर को नहीं मानने से हम किसी व्यक्ति या धर्म को दूषित नहीं कहते। हम बराबर यह देखते आये हैं कि आदमी में धर्म के आचरण हैं या नहीं। यही कारण है कि जहाँ एक ओर हिन्दुओं ने गौतम बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया, वहाँ दूसरी ओर, उन्होंने जैन धर्म के मूल प्रवर्तक, श्री ऋषभदेव की भी गिनती दशावतार से पहले होनेवाले अवतारों में की।

अगर वेद की निंदा की बात को लें तो वह भी महावीर और बुद्ध के आविर्भाव के पहले ही शुरू हो गयी थी। जो ऋषि कर्मकांड को नाकाफी या गलत मानकर उपनिषदों में एक नये धर्म की खोज कर रहे थे, वेद की निंदा, असल में, उन्हीं के उद्गारों में आरंभ हुई।

वेदों का कर्मकांड धीरे-धीरे भोगवादी सभ्यता का दर्शन हो गया था और उपनिषदों के ऋषि जब समाज को भोगवाद से ऊपर उठाने की कोशिश करने लगे तब वेदों की थोड़ी-बहुत आलोचना करना उनके लिए अनिवार्य हो गया। मुंडकोपनिषद् के आरंभ में ही परा और अपरा विद्याओं के बीच विभाजन किया गया है और साफ-साफ यह घोषणा की गयी है कि अपरा विद्या वह है, जिससे मनुष्य लोक और परलोक में भोग प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करता है; जैसे ऋक, यजुष्, साम और अथर्ववेद। इसके विपरीत, परा विद्या उस आत्म-विद्या को कहते हैं जिससे मनुष्य जन्म और मरण के बन्धन से छूट कर मोक्ष लाभ करता है। यही परा विद्या, ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य है जिसे उपनिषदों ने वेद से श्रेष्ठ बताया है। कठोपनिषद् में भी विद्या और अविद्या के बीच विभाजन करते हुए ऋषि ने वेद की गिनती अविद्याओं में की है; क्योंकि वेद जो यज्ञ सिखाते हैं उससे आत्म-विद्या के प्राप्त करने में सहायता नहीं मिलती। स्वयं गीता में भगवान ने अर्जुन से कहा है कि "वेद तो तीनों गुणों में रत हैं; हे अर्जुन! तू तीनों गुणों से ऊपर उठ।"

वृहस्पति और चार्वाक, वेद के भयंकर निन्दकों में इन दो पंडितों के नाम आते हैं जो, शायद, लोकायत-संप्रदाय के नेता थे। इन लोगों ने वेदों की भयानक निन्दा की है और कहा है कि "वेद तो ठगों, प्रपंचियों और मांस-भक्षियों की रचना हैं; वेदों के रचयिता ऐसे लोग थे जो यज्ञों में मार कर घोड़ों का मांस (पक्वं वाजिनम्) खा जाते थे।" मगर, इन उच्छृंखलों का कोई प्रभाव नहीं हुआ; क्योंकि समाज इनका आदर नहीं करता था। अज्ञात रूप से वेदों के खिलाफ सोचना उपनिषत्कारों ने आरंभ किया था और जनता के मन पर से वेदों के प्रभुत्व को उखाड़ फेंकने की सच्ची कोशिश महावीर और बुद्ध ने की। इसलिए, वेदों के असली द्रोही भी ये ही दो महात्मा समझे जाते हैं।

महावीर और बुद्ध में दो और विशेषताएँ भी थीं। एक तो यह कि वे ब्राह्मणों को ऊँचा पद देने को तैयार नहीं थे। दूसरे, यह कि वे मनुष्य मात्र को समान समझते थे। जहाँ तक पिछली बात का संबन्ध है, वह ब्रह्मवाद के ही सिद्धान्त का नतीजा है; क्योंकि जब एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है तब फिर मनुष्य-मनुष्य में भेद करने की बात नहीं चल सकती। जहाँ तक ब्राह्मणों के उन्नत पद पर शंका करने का सवाल है, वह बात भी उपनिषदों में शुरू हो गयी थी। छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थल पर पुरोहितों की पंक्ति की कल्पना श्वानों की पंक्ति के रूप में की गई है, जिसमें प्रत्येक पीछेवाला श्वान आगे श्वान की दुम को अपने मुँह में दबाये चलता है और सब इस मंत्र का पाठ करते हैं कि "ओम्, खाने दो; ओम्, पीने दो।"[1] धर्म को साधन बना कर पुरोहितों का वर्ग अपने सुखों की वृद्धि

*ते ह यथैवेह बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणः संरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिं चक्रुः ॥ ४ ॥

कर रहा था और जनता पर उलटे, रोब भी जमाता था। इस कुरीति पर भी उपनिषत्कारों की दृष्टि पड़ी थी।

अहिंसा की परम्परा

जैन और बौद्ध मतों की उत्पत्ति के प्रकरण में यह कहना आवश्यक हो जाता है कि इन दोनों मतों का जन्म इसलिए हुआ कि इनके पूर्व के वैदिक धर्म में हिंसापूर्ण यज्ञों का प्राबल्य था। किन्तु, इतिहासकारों ने यह बात इतनी बार और इतने जोर से कही कि सर्वसाधारण में एक प्रवाद-सा फैल गया है कि बुद्ध से पहले अहिंसा इस देश में थी ही नहीं। यह नितान्त गलत धारणा है। वेदों में निश्छल भोगवाद की प्रवृत्ति अवश्य है, किन्तु, वे केवल हिंसा ही नहीं सिखाते हैं। सच तो यह है कि अहिंसा के बीज भी वेद में ही थे और उन्हीं का विकास आगे चलकर हुआ। यह ठीक है कि पुरोहित-वर्ग यज्ञों का प्रबल समर्थक था और पशुओं की हत्या को वह रोकना नहीं चाहता था, किन्तु, समाज में तब भी ऐसे लोग मौजूद थे, जो इस क्रूर कर्म से घृणा करते थे और जो चाहते थे कि कोई ऐसा धर्म समाज में प्रवर्तित किया जाय जो अहिंसा के अनुकूल हो। ऐसे ही लोगों मे हम उनकी गणना करेंगे जिन्होंने उपनिषदों के यज्ञवाद की निन्दा की अथवा जिन्होंने संसार छोड़कर वैराग्य ले लिया या जो वनों में रहने लगे। जैन तीर्थङ्करों और बुद्धदेव का जन्म भी नहीं होता अगर वैदिक काल में अहिंसा बिलकुल अनुपस्थित रही होती। ब्राह्मण-ग्रन्थों में केवल "सर्वमेधे सर्वं हन्यात्" (सर्वमेध यज्ञ में सब कुछ मारा जा सकता है) ही नहीं, "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" (किसी भी जीव को मत मारो) का भी उपदेश था।

हिंसापरक वैदिक यज्ञ और बुद्धदेव की अहिंसा, ये दो छोर हैं, किन्तु, इनके बीच में एक और कड़ी है जिसे समझे बिना भारतीय चिन्तकों की हिंसा से अहिंसा तक की यात्रा ठीक से समझी नहीं जा सकती। यह कड़ी है भगवान कृष्ण के सिद्धान्त की। बुद्ध की तरह भगवान कृष्ण ने यज्ञ का आमूल विरोध नहीं किया, किन्तु, यज्ञ के अर्थ में उन्होंने बहुत बड़ी क्रान्ति कर दी। उस क्रान्ति का रूप यह है कि वैदिक ब्राह्मण हिंसा-पूरित यज्ञ को

उन कुत्तों ने, जिस प्रकार कर्म में बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तवन करने वाले उद्गाता लोग एक-दूसरे से मिल कर चलते हैं, उसी प्रकार, मुँह से एक-दूसरे की पूँछ पकड़ कर सर्पण-परिभ्रमण किया। उन्होंने उस प्रकार परिभ्रमण कर फिर वहाँ बैठ कर हिंकार किया।

कुत्तों द्वारा किये हुए हिंकार (का अनुवाद):—ॐ हम खाते हैं, ॐ हम पीते हैं, ॐ देवता, वरुण, प्रजापति, सूर्यदेव यहाँ अन्न लावें। हे अन्नपते! यहाँ अन्न लाओ, अन्न लाओ ॐ ॥५॥ (छान्दोग्योपनिषद् अध्य० १, खंड १२)

धर्म का कृत्य समझते थे, किन्तु, श्रीकृष्ण ने कहा, सब से उत्तम यज्ञ वह है जिसमें किसी भी जीव की हत्या नहीं होती, प्रत्युत्, जिस यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपना जीवन परोपकार में लगा देता है। यह पुरुष-यजन-विद्या (दूसरों के निमित्त जीने की विद्या) श्रीकृष्ण ने अपने गुरू घोर आंगिरस से सीखी थी और उसकी दीक्षा उन्होंने अर्जुन को भी दी थी। उस यज्ञ की दक्षिणा धन नहीं, वरन्, तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा और सत्य था। यह ध्यान देने की बात है कि जैन-ग्रन्थों में, प्रायः, श्रीकृष्ण जैन माने गये हैं और उनके गुरु का नाम नेमिनाथ बताया गया है। घोर आंगिरस और नेमिनाथ एक ही व्यक्ति थे या नहीं, इस प्रश्न का सम्यक् समाधान नहीं किया जा सकता, किन्तु, यह मानना ही पड़ेगा कि छान्दोग्य उपनिषद् (जिसमें आंगिरस के उक्त उपदेश हैं) की रचना के समय भारतवासी अहिंसा-धर्म की उच्चता को भली-भाँति समझते थे। यज्ञ का जो अर्थ श्रीकृष्ण ने किया, वैसा ही अर्थ भगवान बुद्ध भी करते थे। कोसल-संयुत्त (वग्ग १, सुत्त ९) के अनुसार, बुद्धदेव का मत था कि "जिस यज्ञ में प्राणियों की हिंसा नहीं होती, भेड़, बकरे, गाय, बैल, आदि प्राणी मारे नहीं जाते और जो सर्वदा लोगों को अच्छा लगता है, उसमें सन्त-महर्षि जाया करते हैं। इसलिए, सुज्ञ पुरुष को ऐसा यज्ञ करना चाहिए।" अपने इसी अर्थ के कारण यज्ञ आज भी अमित पुण्य के प्रतीक समझे जाते हैं, यहाँ तक कि भूदान का प्रचार भी आज यज्ञ के रूप में हो रहा है।

अहिंसा-धर्म और अहिंसक-यज्ञ की कल्पना भारत में बुद्ध के पहले ही फैल चुकी थी और उसके मूल प्रवर्तक घोर आंगिरस थे। बाद को, जैन-तीर्थंकरों ने उसका और भी विकास किया। मज्झिम निकाय के महासिंहनाद-सुत्त में चार प्रकार के तपों का वर्णन मिलता है। तप के ये चार प्रकार थे—तपस्विता, रुक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता। तपस्विता का अर्थ था नंगा रहना, अँजुली में ही भिक्षा माँग कर खाना, बाल उखाड़ के निकालना, काँटों की शय्या पर नींद लेना तथा उसी तरह की अन्य अनेक क्रियाओं से देह-दंडन करना। रुक्षता का अर्थ था, कई वर्षों की धूल को शरीर पर जमाये रखना। पुराणों में ऋषियों की देह पर वल्मीक बन जाने की कथा आती है। वह रुक्षता ही थी। पानी की बूँद तक पर भी दया करने को जुगुप्सा कहते थे। अर्थात् जुगुप्सा का अर्थ था हिंसा का पूर्णरूपेण तिरस्कार। और वनों में अकेले रहने को प्रविविक्तता कहते थे।

इससे मालूम होता है कि अहिंसा को परम धर्म लोग तब भी मानते थे। किन्तु, उसका प्रचलन गृहस्थों में कम, तपस्वियों में अधिक था। ऐसे तपस्वी बुद्ध के पूर्व बहुत अधिक सख्या में विद्यमान थे तथा जनकादि गृहस्थ भी घर में रहते हुए अहिंसा का पालन करते थे। उत्तर-रामचरित में भी वशिष्ठ को मांसाहारी और जनक को निरामिषभोजी चित्रित किया गया है। यह परंपरा की एक आवाज है जो हमें सातवीं सदी में सुनायी पड़ती है।

श्रीकृष्ण के समय से आगे बढ़ें, तब भी, बुद्धदेव से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व हम जैन तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथ को अहिंसा का विमल संदेश सुनाते पाते हैं। पार्श्वनाथ के उपदेश को **चातुर्याम-संवर-संवाद** कहते थे। ये चातुर्याम-संवाद थे (१) **हिंसा का त्याग**, (२) **असत्य का त्याग**, (३) **स्तेय का त्याग** और (४) **परिग्रह का त्याग**। ध्यान देने की बात यह है कि पार्श्वनाथ के पूर्व, अहिंसा केवल तपस्वियों के आचरण में सम्मिलित थी, किन्तु, पार्श्व मुनि ने उसे सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ बाँधकर सर्वसाधारण की व्यवहार-कोटि में डाल दिया। घोर आंगिरस, श्री कृष्ण और जनक के पास कोई संघ नहीं था जो पुरुष-यजन-विद्या का प्रचार करता, किन्तु, पार्श्वनाथ ने संघ की भी स्थापना की और संघों के द्वारा जनता में अहिंसा का प्रचार करना आरंभ कर दिया।

पूर्वी भारत में क्रान्ति के बीज

महावीर और बुद्ध, और कहीं उत्पन्न नहीं होकर, पूर्वी भारत में (महावीर वैशाली और गौतम कपिलवस्तु में) जन्मे, यह भी कोई आकस्मिक बात नहीं थी। कहते हैं, आर्यों का जो सर्वप्रथम दल भारत में आया था वह बढ़ते-बढ़ते बिहार की ओर चला गया और उसके रीति-रिवाज बाद को आनेवाले आर्यों से भिन्न हो गये। आर्यों की पिछली शाखाओं के लोग अपने इन पहले आये हुए बन्धुओं को भी अच्छी आँखों नहीं देख सके और बराबर व्रात्य कह कर उनकी निन्दा करते रहे। मगध देश की निन्दा भी आर्य-साहित्य के लिए साधारण बात थी और इसमें भी यही कारण था कि मगध में व्रात्यों का प्रभुत्व था जो आर्यों के यज्ञवाद एवं उनके पुरोहितवाद के विषय में अधिक उत्साह नहीं रखते थे। कुरु-पंचाल के आर्य काशी, कोशल, मगध और विदेह के आर्यों से घृणा करते थे, यह बात ब्राह्मण-ग्रन्थों से स्पष्ट हो जाती है। शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि कुरु-पंचाल के ब्राह्मणों को काशी, कोशल, विदेह और मगध नहीं जाना चाहिए, क्योंकि वहाँ के ब्राह्मणों ने वैदिक धर्म (यज्ञ) को छोड़ दिया है तथा वे एक नये धर्म का प्रचार कर रहे हैं जिसमें यज्ञ और पशुहिंसा, दोनों की मनाही है। यह भी कि पूर्वी देशों में समाज पतित हो गया है, क्योंकि उसमें ब्राह्मणों का स्थान क्षत्रियों ने ले लिया है और तीनों वर्ण के लोग वहाँ क्षत्रियों की ही अधीनता में रहते हैं। शतपथ-ब्राह्मण में इस बात की भी शिकायत की गयी है कि पूर्वी देशों के लोग संस्कृत शब्दों का सही-सही उच्चारण नहीं कर सकते और र को ल कहते हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि उपनिषदों के परम उत्कर्ष के समय, विचारों का नेतृत्व पश्चिमी नहीं, पूर्वी भारत के हाथ था और उपनिषदों के एक महान ऋषि याज्ञवल्क्य कहीं बिहार में ही रहते थे जिनके पास शंका-समाधान के लिए कुरु-पंचाल देश के भी विद्वान आने लगे थे जो पहले पूर्वी लोगों की निन्दा करते थे। याज्ञवल्क्य के

संरक्षक विदेहराज जनक थे। हिंसापूर्ण यज्ञ और वैराग्ययुक्त आत्मविद्या के बीच जो संघर्ष पश्चिमी भारत में शुरू हुआ था, उसका फैसला जनक और याज्ञवल्क्य ने पूर्वी भारत में कर दिया और ये लोग आत्मविद्या में इतने दक्ष समझे जाने लगे कि सारे भारत में इनका नाम हो गया।

अहिंसा और क्षत्रिय जाति

अवतारों में वामन और परशुराम, ये ही दो हैं जिनका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था, बाकी सभी अवतार क्षत्रियों के वंश में हुए हैं। यह आकस्मिक घटना हो सकती है, किन्तु, इससे यह अनुमान आसानी से निकल आता है कि यज्ञों पर पलने के कारण ब्राह्मण इतने हिंसाप्रिय हो गये थे कि समाज उनसे घृणा करने लगा और ब्राह्मणों का पद उसने क्षत्रियों को दे दिया। प्रतिक्रिया केवल ब्राह्मणधर्म (यज्ञ) ही नहीं, ब्राह्मणों के गढ़ कुरु-पंचाल के खिलाफ भी जगी और वैदिक सभ्यता के बाद वह समय आ गया जब इज्जत कुरु-पंचाल की नहीं, बल्कि, मगध और विदेह की होने लगी। कपिलवस्तु में जन्म लेने के ठीक पूर्व, जब तथागत स्वर्ग में देवयोनि में विराज रहे थे, तब की कथा है कि देवताओं ने उनसे कहा कि अब आप का अवतार होना चाहिए, अतएव, आप सोच लीजिये कि किस देश और किस कुल में जन्म ग्रहण कीजियेगा। तथागत ने सोच-समझ कर बताया कि महाबुद्ध के अवतार के योग्य तो मगध देश और क्षत्रिय-वंश ही हो सकता है। इसी प्रकार, महावीर वर्द्धमान भी पहले एक ब्राह्मणी के गर्भ में आये थे। लेकिन, इन्द्र ने सोचा कि इतने बड़े महापुरुष का जन्म ब्राह्मण-वंश मे कैसे हो सकता है। अतएव, उसने ब्राह्मणी का गर्भ चुरा कर उसे एक क्षत्राणी के पेट में डाल दिया। इन कहानियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनों यह अनुभव किया जाने लगा था कि अहिंसा-धर्म का महाप्रचारक ब्राह्मण नही हो सकता है, इसीलिए, बुद्ध और महावीर के क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न होने की कल्पना लोगों को बहुत अच्छी लगने लगी।[१]

वैदिक काल में हिंसा और अहिंसा का संघर्ष चल रहा था। ब्राह्मणों ने हिंसा का पक्ष लिया; क्योंकि यज्ञ से उनकी रोजी चलती थी और हिंसा के बिना यज्ञ संपन्न नहीं किया जा सकता था। किंतु, निरीह पशुओं की प्राणरक्षा का भार क्षत्रियों पर आन पड़ा और हिंसा-अहिंसा के संघर्ष में अहिंसावाद के नेता भी वे ही हुए।

कोई-कोई विद्वान् इसमें क्षत्रिय-ब्राह्मण-विद्वेष भी देखते है। डा० भगवत शरण उपाध्याय का मत है कि ऋग्वैदिक काल के बाद, जब उपनिषदों का समय आया तब तक

---

१ केवल वर्धमान और गौतम ही नहीं, जैन गुरु नाथपुत्र और बोधिसत्व के गुरु आलार कालाम और उद्रक राजपुत्र भी क्षत्रिय थे।

क्षत्रिय-ब्राह्मण-संघर्ष उत्पन्न हो गया था और क्षत्रिय ब्राह्मणों से वह पद छीन लेने को उद्यत हो गये थे जिसका उपभोग ब्राह्मण वैदिक काल से किये आ रहे थे। "ब्राह्मणों के यज्ञानुष्ठानादि के विरुद्ध क्रांति कर क्षत्रियों ने उपनिषद् विद्या की प्रतिष्ठा की और ब्राह्मणों ने अपने दर्शनों की नींव डाली। इस संघर्ष का काल-प्रसार काफी लंबा रहा जो अन्तत, द्वितीय शती ई० पू० में ब्राह्मणों के राजनीतिक उत्कर्ष का कारण हुआ। इसमें एक ओर तो वशिष्ठ, परशुराम, तुरकावषेय, कात्यायन, राक्षस, पतंजलि और पुष्यमित्र शुंग की परंपरा रही और दूसरी ओर, विश्वामित्र, देवापि, जनमेजय, अश्वपति कैकेय, प्रवहण जैबलि, अजातशत्रु काशेय, जनक विदेह, पार्श्व महावीर, बुद्ध और वृहद्रथ की।"

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भी लिखा है कि "बौद्ध जातकों से प्रकट होता है कि क्षत्रिय ही चारों वर्णों में श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणों का स्थान उनके नीचे है।" तथा "वृहदारण्यक उपनिषद् में पहले क्षत्रिय सृष्टि की ही बात पायी जाती है।"[१]

स्वयं भगवान बुद्ध क्षत्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ समझते थे, यह बात दीर्घनिकाय (१।३ अम्बठ्ठसुत्त) से प्रमाणित होती है जहाँ बुद्ध अम्बष्ट माणवक से कहते हैं, "इस प्रकार, अम्बष्ट! स्त्री की ओर से भी, पुरुष की ओर से भी क्षत्रिय ही श्रेष्ठ है। ब्राह्मण हीन है।" तथा "जब वह (क्षत्रिय) क्षत्रियों में परम नीचता को प्राप्त है, तब भी क्षत्रिय ही श्रेष्ठ है, ब्राह्मण हीन है।"[२]

जैन धर्म

बौद्ध धर्म की अपेक्षा, जैन धर्म अधिक, बहुत अधिक प्राचीन है, बल्कि, यह उतना ही पुराना है जितना कि वैदिक धर्म। जैन धर्म की दो बड़ी विशेषताएँ अहिंसा और तप हैं; इसलिए, यह अनुमान तर्कसम्मत लगता है कि वेदों में जो अहिंसा और तप के बारीक बीज थे, उन्हीं का विकास जैन धर्म में हुआ है। यह बात जैन धर्म के इतिहास से भी प्रमाणित होती है। महावीर वर्द्धमान ई० पू० छठीं शताब्दी में हुए हैं और उन्होंने जैन-मार्ग का जो जोरदार संगठन किया उससे उस मार्ग के प्रधान नेता वे ही समझे जाने लगे। किंतु, जैन धर्म में चौबीस तीर्थङ्कर (धार्मिक नेता, पैगम्बर) हुए हैं और महावीर बर्द्धमान महज चौबीसवें तीर्थङ्कर थे। उनसे पूर्व, तेईस तीर्थङ्कर और हुए थे। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे जो ऐतिहासिक पुरुष हैं और जिनका समय महावीर और बुद्ध दोनों से कोई २५० वर्ष पहले आता है। वैराग्य और तपश्चर्या के जिस मार्ग पर उपनिषदें जोर देती थीं वह जैनों का भी मार्ग था (यद्यपि जैन नाम उन दिनों नहीं निकला था) और इस पन्थ के श्रमण, उपनिषदों के युग में भी, बहुत अधिक संख्या में फैल रहे थे। बुद्ध ने घर छोड़ने के बाद, जो कठिन तपस्याएँ की थीं और शरीर को सुखाने के लिए उन्होंने जिस कृच्छ्र मार्ग

१. भारतवर्ष में जातिभेद २. दीघनिकाय—श्री राहुल सांकृत्यायन

का अवलंब लिया था, अजब नहीं कि वह जैन-मार्ग रहा हो।

जैन धर्म का अहिंसावाद वेदों से निकला है, ऐसा सोचने का कारण यह है कि ऋषभ-देव और अरिष्टनेमि, जैन-मार्ग के इन दो प्रवर्तकों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। जैन-धर्म के पहले तीर्थंकर श्री ऋषभदेव हैं और उनकी कथा विष्णुपुराण एवं भागवतपुराण में भी आती है जहाँ उन्हें महायोगी, योगेश्वर और योग तथा तप-मार्ग का प्रवर्तक कहा गया है। इन दोनों पुराणों का यह भी कहना है कि दशावतार के पूर्व होने वाले अवतारों में से एक अवतार ऋषभदेव भी हैं। इससे पता चलता है कि वेदों के भोगवादी युग में वैराग्य, तपस्या और अहिंसा के द्वारा धर्म पालन करने वाले जो अनेक ऋषि थे, उनमें श्री ऋषभदेव का अन्यतम स्थान था और उनकी परंपरा में जो लोग अहिंसा तथा तपश्चर्या के मार्ग पर बढ़ते रहे, उन्हीं ने जैन धर्म का पथ प्रशस्त किया।

जिस प्रकार, जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तकों को भी हिन्दू विष्णु का ही अवतार मानते हैं, उसी प्रकार, इनके दर्शनों को भी वे अपना ही दर्शन मानते हैं। फर्क यह है कि हिन्दुओं के यहाँ दर्शन आस्तिक और नास्तिक विभागों में बँटे हुए हैं। सांख्य और योग, न्याय और वैशेषिक तथा मीमांसा (पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा), ये छह दर्शन आस्तिक हैं, क्योंकि वेदों का वे विरोध नहीं करते। इसके विपरीत, जैन, बौद्ध और चार्वाक, ये तीन दर्शन नास्तिक हैं, क्योंकि वे वेदों का विरोध करते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जड़ता और निरे भोगवाद का प्रचारक यहाँ केवल चार्वाक दर्शन ही हुआ, जिसके विचार इस देश में कभी भी ऊपर नहीं आ सके, क्योंकि यह देश जीवन में त्याग को प्रतिष्ठा देने वाला रहा है और शुद्ध भोगवाद की प्रवृत्ति को इसने कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया। ऋषभदेव, अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ तथा महावीर वर्द्धमान, इन सब के प्रति हिन्दुओं का आदरमय भाव रहा है, क्योंकि इन ऋषियों ने वेद और वैदिक धर्म की चाहे जो भी निन्दा की हो, लेकिन स्वयं इन्होंने जिस धर्म का प्रवर्तन किया, वह भोग नहीं, त्याग का धर्म था और भारत की त्यागमयी आध्यात्मिक परंपरा को उससे शक्ति ही प्राप्त होती थी।

महावीर ने वेदों की अवहेलना क्यों की, यह ऊपर के संदर्भों से स्पष्ट हो जाता है। सच्ची बात यह थी कि अहिंसा-धर्म और ब्राह्मणों के यज्ञवाद में एक तात्त्विक विरोध था और ब्राह्मण-सत्ता तथा यज्ञवाद की प्रभुता के मुकाबिले, अहिंसा का खुल कर प्रचार करने के लिए यह जरूरी था कि वेदों का विरोध किया जाय। बाकी बातों में भी जैन धर्म और हिन्दू-धर्म में कोई बहुत बड़ा भेद नहीं है। जैन सृष्टि को अनादि मानते हैं; उनका विश्वास है कि सृष्टि की रचना किसी परमात्मा ने नहीं की; वह स्वयं प्रकृति के नियमों से संचालित होकर चल रही है। मगर, यही सिद्धान्त सांख्य-दर्शन का भी है, क्योंकि सृष्टि की रचना

किसी ईश्वर ने की है, इस सिद्धान्त की हँसी सांख्य भी उड़ाता है। योग-दर्शन (जिसका दूसरा नाम सेश्वर-सांख्य भी है, यानी वह सांख्य जो कपिल मुनि के निरीश्वर-सांख्य से भिन्न ह और ईश्वर में विश्वास करता है) भी यह नहीं मानता कि सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है। योग में जो ईश्वर है, वह इस सृष्टि का रचयिता नहीं, बल्कि, योगियों का मानसिक आदर्श है, अर्थात् ईश्वर की कल्पना योग-दर्शन ने इसलिए की है कि मनुष्य योग के द्वारा अपने को इतना उन्नत करे कि वह ईश्वर-कोटि में पहुँच जाय। योगियों का ईश्वर मनुष्य के उच्चतम विकास का एक प्रतीक है जिसे पाने की कोशिश करने से मनुष्यता ऊपर उठती है। न्याय और वैशेषिक दर्शनों के संबंध में यह कहा जाता है कि उनमें एक ऐसा ईश्वर अवश्य है जो सृष्टि की रचना और संहार करता है। किन्तु, इन दर्शनों के अनुसार भी, सृष्टि जड़ (प्रकृति) और चेतन (जीव) के योग से बनी है तथा जिन अणुओं से इसका निर्माण हुआ है, वे अणु अनादि हैं, उन्हें किसी ने भी नहीं बनाया। इन दर्शनों के अनुसार, सृष्टि के संहार का यह अर्थ है कि सृष्टि विनष्ट होकर फिर उन्हीं अणुओं का रूप ले लेती है जिनसे उसका निर्माण होता है। पूर्व-मीमांसा में भी सृष्टिकर्त्ता का सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हुआ है। अतः, सृष्टि की रचना किसी ईश्वर या ब्रह्म ने की, इस संबंध में पूर्व-मीमांसा का भी वही मत है जो निरीश्वर सांख्य का। सृष्टि का विकास कर्म के अधीन है, इससे अधिक बात पूर्व-मीमांसा नहीं कहती। और उत्तर-मीमांसा या वेदान्त तो, स्पष्ट ही, सृष्टि की रचना नहीं, उसके विकास में विश्वास करते हैं। सारी सृष्टि में ब्रह्म के अस्तित्व का प्रसार है, सारा विश्व ब्रह्ममय है, ऐसा कहने से हम यह तो मान लेंगे कि ब्रह्म ही सृष्टि बन गया है, किन्तु, यह नहीं मान सकते कि ब्रह्म ने स्वयं अलग बैठ कर यह विश्व बनाया है, जैसे कुम्हार घड़े का निर्माण करता है।

सृष्टि विकसित नहीं हुई, बल्कि, उसकी रचना की गयी है, इस मत का जैन दर्शन उतना ही विरोधी है जितना कपिल का सांख्य।[1] और ईश्वर के सम्बन्ध में जैन दर्शन का जो मत है, वह बहुत-कुछ योग-दर्शन के समान है। ईश्वर ने दुनिया नहीं बनायी, वह एक आदर्श है जिसे हम साधना से प्राप्त कर सकते हैं, यह बात योग-दर्शन और वेदान्त से प्रभावित दीखती है। वेदान्त के अनुसार, प्रत्येक जीव ब्रह्म की कोटि में पहुँच सकता है। जैन दर्शन के अनुसार भी, प्रत्येक आत्मा साधना और तपश्चर्या के द्वारा परमात्मा बन जाती है और उसे फिर जन्म लेना नहीं पड़ता। जिसे वेदान्त मुमुक्षु या जीवन-मुक्त कहता है, उसे जैन दर्शन सिद्ध-जीव या अर्हत् बतलाता है। नाम में चाहे जो फर्क हो, किन्तु, मार्ग और लक्ष्य दोनों के एक हैं। वेदान्त और जैन दर्शन, दोनों ही यह मानते हैं कि सृष्टि की रचना

१. बौद्ध धर्म भी सांख्य-तत्त्वज्ञान से निकला माना जाता है। बुद्ध-चरित काव्य में आलार कालाम तथा उद्रक रामपुत्र को सांख्यों का प्रवर्तक कहा गया है।

परमात्मा ने नहीं की और दोनों का यह विश्वास है कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मा के सारे गुण छिपे हुए हैं जिनके सम्यक् विकास से प्रत्येक जीव परमात्मा बन सकता है।

हरिभद्रसूरि के षड्दर्शन-समुच्चय की टीका में गुणरत्न ने एक बात कही है कि आत्मा, संसार (जन्म और मरण तथा फिर से जन्म लेकर फिर मरने की सरणि), मोक्ष और मोक्ष के मार्ग के अस्तित्व में जो विश्वास करता है, वही आस्तिक है। अगर इस दृष्टि से देखा जाय तो नास्तिक सिर्फ चार्वाक दर्शन ठहरता है तथा बौद्ध दर्शन का केवल वह संप्रदाय जो आत्मा का अस्तित्व नहीं मानता। हिन्दुओं के अन्य सभी दर्शन (जिनमें जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन भी सम्मिलित हैं) आत्मा को मानते हैं, आत्मा के आवागमन को मानते हैं, मोक्ष यानी आवागमन से छुटकारे के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं और पूरे बल के साथ यह भी मानते हैं कि इस मोक्ष के उपाय भी हैं। फिर यह बात समझ में नहीं आती कि जैन दर्शन को हम नास्तिक क्यों कहें। जैन दर्शन उतना ही आस्तिक या नास्तिक है जितना हिन्दुओं का कोई भी अन्य दर्शन, जिसका आधार अद्वैतवाद पर है।

जैन दर्शन के सिद्धान्त

जैन धर्म यह मानता है कि सृष्टि आनदि है और वह जिन छह तत्त्वों से बनी हुई है वे तत्त्व भी अनादि हैं। ये छह तत्त्व हैं—(१)जीव (२) पुद्गल (३) धर्म (४) अधर्म (५) आकाश और (६) काल। इन छह तत्त्वों में से केवल पुद्गल ही है जिसका हम रूप देख सकते हैं अथवा जिसका अनुभव हमें स्पर्श, घ्राण अथवा श्रवण से होता है। पुद्गल को मूर्त्त द्रव्य भी कहते हैं। बाकी सभी द्रव्य ऐसे हैं जो अमूर्त्त हैं, जिन्हें आकार नहीं है। दूसरी बात यह है कि इन छहों द्रव्यों में से केवल जीव ही ऐसा है जिसमें चेतना है, बाकी पाँचों द्रव्य निर्जीव अथवा अचेतन हैं। तीसरी बात यह है कि संसार में जीव निर्जीव (पुद्गल) के बिना नहीं ठहर सकता। निर्जीव (पुद्गल) के सहवास से छुटकारा उसे तब मिलता है जब वह संसार के बन्धनों से छूट जाता है। असल में, जैन दर्शन के जीव के, प्रायः, वे ही गुण हैं जो गुण आत्मा के लिए वेदान्त में कहे गये हैं।

जो मूर्त्त द्रव्य अर्थात् पुद्गल है वह परमाणुओं के योग से बना हुआ है और यह सारी सृष्टि ही परमाणुओं का समन्वित रूप है। जीव और पुद्गल ही मुख्य द्रव्य हैं, क्योंकि उन्हीं के मिलन से सृष्टि में जीवन देखने में आता है। आकाश वह स्थान है जिसमें सृष्टि ठहरी हुई है। जीव और पुद्गल में गति कहाँ से आती है, इसका रहस्य समझाने के लिए धर्म की कल्पना की गई है। धर्म वह अवस्था है जिससे जीव या पुद्गल को गति मिलती है। चलने की शक्ति तो सक्रिय द्रव्य में स्वयं है, लेकिन, जैसे मछली चलने की शक्ति रखते हुए भी पानी के बिना नहीं चल सकती, वैसे ही सक्रिय द्रव्य भी धर्म के बिना नहीं चल सकते। धर्म उनकी गति को संभव बनाता है। इसी प्रकार, चलने वाली चीज जब ठहरना

चाहती है तब भी उसे कोई-न-कोई आधार चाहिए। पक्षी उड़ता तो अपनी शक्ति से है और वह ठहरता भी अपनी ही शक्ति से है। किन्तु, जमीन या वृक्षादि का आधार लिये बिना वह ठहर नहीं सकता। इसी तरह, सक्रिय द्रव्य के ठहरने को संभव बनाने वाला गुण अधर्म है। धर्म और अधर्म, वे गुण हैं जो विश्व को, क्रमशः, गतिशील रखते हैं और उसे अव्यवस्था में गिरफ्तार होने से बचाते हैं। काल की कल्पना इसलिए की गयी कि जैन धर्म संसार को माया नहीं मानता; जैसा कि शांकर मत में माना जाता है। संसार सत्य है और इसमें परिवर्त्तन होते रहते हैं। इसी परिवर्त्तन का आधार काल है। क्योंकि काल के अस्तित्व को माने बिना, संसार में किसी भी तरह के परिवर्त्तन की कल्पना नहीं की जा सकती। काल मनुष्य की जवानी, बुढ़ापे और मृत्यु, सबका कारण है।

जैन दर्शन के छह द्रव्यों में से सिर्फ धर्म और अधर्म ही ऐसे हैं जिनका हिन्दुओं के यहाँ कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। बाकी जीव, पुद्गल, काल और आकाश ऐसे हैं जो किसी-न-किसी रूप में अन्यत्र भी आये हैं। ये बहुत-कुछ पंच-तत्त्वों के समान हैं जिनसे हिन्दुओं के अनुसार, सृष्टि की रचना हुई है।

हिन्दू जैसे स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर की सत्ता में विश्वास करते हैं, उसी प्रकार, जैन दर्शन के अनुसार भी, हमारे स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म कर्म-शरीर है। स्थूल शरीर के छूट जाने पर भी यह कर्म-शरीर जीव के साथ रहता है और वही उसे फिर अन्य शरीर धारण करवाता है। आत्मा की मनोवैज्ञानिक चेष्टाओं—वासना, इच्छा, तृष्णा आदि—से इस कर्म-शरीर की पुष्टि होती है। इसलिए, कर्म-शरीर तभी छूटता है जब जीव वासनाओं से ऊपर उठ जाता है, जब उसमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं रह जाती। जैन दर्शन के अनुसार भी मोक्ष की अवस्था यही है।

जैन दर्शन 'आस्रव' के सिद्धान्त में विश्वास करता है, जिसका अर्थ यह है कि कर्म के संस्कार क्षण-क्षण स्रवित या प्रवाहित हो रहे हैं, जिनका प्रभाव जीव पर क्षण-क्षण पड़ता जा रहा है। इस प्रभाव से बचने का उपाय यह है कि मनुष्य चित्त-वृत्तियों का निरोध करे, मन को काबू में लाये, योग की समाधि का अवलम्ब ले और तपश्चरण में लीन रहे। इन्हीं उपायों से जीव कर्म के संस्कारों के स्पर्श से बच सकता है। कर्मफलवाद और जन्मांतर-वाद का जो सिद्धान्त हिन्दुओं के यहाँ है, आस्रव नाम से जैन दर्शन में उसी की टीका की गयी है।

भारत में जितने भी धार्मिक संप्रदाय विकसित हुए, उनमें से अहिंसावाद को उतना महत्त्व किसी ने भी नहीं दिया जितना कि जैन धर्म ने दिया है। जैन धर्म का आरंभ ही वेद के हिंसावादी यज्ञों के विरुद्ध अहिंसा का पलड़ा ऊँचा करने को हुआ था और अहिंसा की यह परंपरा बढ़ती ही गई। बौद्ध धर्म में फिर भी अहिंसा की एक सीमा है कि स्वयं किसी

जीव का वध नहीं करो, किन्तु, जैनों की अहिंसा बिलकुल निस्सीम है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा करवाना या अन्य किसी भी तरह से हिंसा के काम में योग देना, जैन धर्म में सब की मनाही है। और विशेषता यह है कि जैन-संप्रदाय केवल शारीरिक अहिंसा को ही महत्त्व नहीं देता, प्रत्युत्, उसके दर्शन में बौद्धिक अहिंसा का भी महत्त्व है। जैन महात्मा और चिन्तक, सच्चे अर्थों में, मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का पालन करना चाहते थे। अतएव, उन्होंने अपने दर्शन को स्याद्वादी अथवा अनेकान्तवादी बना दिया। सोचते-सोचते वे इस निष्कर्ष पर जा पहुँचे कि किसी भी बात को बहुत जोर देकर कहना असत्य है, क्योंकि दुनिया में कोई भी बात ऐसी नहीं है जिसके विषय में हठपूर्वक यह कहा जा सके कि केवल यही ठीक है। सत्य के अनेक पहलू होते हैं और हम जब जिस पहलू को देखते हैं तब वही पहलू हमें सत्य नजर आता है। इसलिए, सच्चा दर्शन **अनेकान्तवाद** है जो सत्य के अनेक पहलुओं के विषय में सम्यक् दृष्टि रखता है। इसी तथ्य को उन्होंने **स्याद्वाद** नाम से भी अभिहित किया। स्यात् का अर्थ 'शायद' होता है। अतएव, जैन धर्म के अनुसार यह कहना अनुचित है कि यह बात ठीक है। अहिंसक विद्वान यही कह सकता है कि, शायद, यह ठीक हो।

धर्माचरण के सिद्धान्त

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अहिंसा जैनों का परम धर्म है और इस पर वे जितना अधिक जोर डालते हैं उतना और किसी बात पर नहीं। कहते हैं, जब जैन धर्म के उत्कर्ष का समय था तब जैन मुनि खेती का विरोध करते थे; क्योंकि खेत जोतने से मिट्टी में पड़े जीव मारे जाते हैं। वे पानी को केवल छान कर ही नहीं, औंट कर पीते थे, जिससे जीव उनके मुख में नहीं चले जायँ; वे मधु नहीं खाते थे, क्योंकि मधु लाने के क्रम में मक्खियों का नाश होता है, वे दीपक को बराबर कपड़े से आवृत रखते थे जिससे पतंगे उनपर आकर जल नहीं जायँ और आगे की राह को वे बुहारते चलते थे जिससे चींटियों और कीट-पतंगों पर उनके पाँव नहीं पड़ें।

जैन धर्म की दूसरी विशेषता अपरिमित कष्ट सहने की प्रवृत्ति है। बौद्ध और जैन धर्म में एक भेद यह भी है कि जहाँ बौद्ध अतिभोग और अतित्याग को छोड़कर मध्यमार्ग पर चलने के समर्थक हैं, वहाँ जैन महात्मा इन्द्रिय-सुखों के घोर शत्रु हैं। कर्म के आस्रव के प्रभाव से बचने के लिए, वे संसार के प्रत्येक सुख से अलग भागने को धर्म समझते हैं। भोग के बारे में संसार में दो प्रकार के संप्रदाय हैं; एक वे जो यह कहते हैं कि ईश्वर, स्वर्ग, नरक पाप और पुण्य, ये सब-के-सब झूठे हैं; आदमी जब मर जाता है तब फिर उसकी कोई बात शेष नहीं रह जाती। इसलिए, अच्छा यही है कि हम जबतक संसार में जिएँ तबतक सुख से जिएँ और सभी प्रकार के भोगों से अपने को तृप्त कर लें; क्योंकि पाप और पुण्य के मानसिक

भय से डरना व्यर्थ है। असली भय पुलिस का है और अगर पुलिस से बचकर तुम इच्छित भोग पा सकते हो तो उसे जरूर भोगो। यह संप्रदाय जड़वादियों का है। अपने यहाँ ऐसा ही संप्रदाय चार्वाक-पन्थियों का भी था। इसके विपरीत, दूसरे छोर पर वह संप्रदाय है जो यह कहता है कि ईश्वर है और दुनिया उसी की बनाई हुई है। हम जो जन्म लेकर आये हैं सो हमारा जन्म पूर्वजन्म के पापों के कारण हुआ है। हम अगर पाप नहीं करते तो हमारा जन्म नहीं होता। पाप करने से ही पुनर्जन्म होता है और अधिक पाप करने से मनुष्य को विवाह करना तथा गृहस्थी के अनेक जंजालों में पड़ना पड़ता है। मनुष्य का लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष से दूर होने के कारण, मनुष्य जन्म लेता है और उससे और अधिक दूर होने के कारण वह विवाह करके सांसारिकता में गिरफ्तार होता है। पुनर्जन्म से छूटने का उपाय यह है कि हम भोग को छोड़ें, क्योंकि भोगासक्ति ही पाप है। यह संप्रदाय, जिसे हम यती-संप्रदाय (या Ascetic) कह सकते हैं, हर खूबसूरत चीज को गुनाह की जगह और और प्रत्येक सुख को दुःख का कारण मानता है। भारत में इस यती-वृत्ति का चरम-विकास जैन साधुओं के बीच हुआ। ये जैन साधु शरीर को आत्मा का दुश्मन मानते थे और वे चुन-चुन कर उस मार्ग पर चलते थे जिससे शरीर को अपरिमित कष्ट हो। आज भी, वे सवारी पर नहीं चढ़ते, दूर-दूर तक पैदल ही चले जाते हैं। वे दाढ़ी-मूँछ भी नाई से नहीं बनवाते, बल्कि, राख लगा कर खुद ही उन्हें नोच डालते हैं। जब जैन धर्म अपने पूरे उत्कर्ष पर था तब, कहते हैं, जो साधक बारह साल तक धर्म की साधना कर लेता था, उसे यह अधिकार मिल जाता था कि वह चाहे तो उपवास करके अपने प्राण दे दे। अनशन और उपवास से आत्म-हत्या करने की जैन धर्म में बड़ी महिमा है। जैन लोगों का विश्वास है कि मौर्यवंशी सम्राट् चंद्रगुप्त, अपने अन्तिम दिनों में, जैन हो गये थे और जब मगध में अकाल पड़ा, तब वे बहुत-से धर्मबन्धुओं को साथ लेकर दक्षिण भारत की ओर चले गये जहाँ उन्होंने उपवास करकेअपना शरीर छोड़ दिया। जैन धर्म के अनेक महात्मा इसी विधि से मरे हैं।

साधन की यह कठोरता इतनी आदरणीय कैसे मान ली गयी, इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह था कि दीर्घकालीन प्रचार के कारण लोगों को यह विश्वास हो गया था कि यह जीवन दुःखों से पूर्ण है और इन दुःखों से छुटकारे का उपाय मोक्ष प्राप्त करना है। आदमी का असल उद्देश्य मोक्ष हो गया और मोक्ष तथा आत्मा के बीच प्रत्यक्ष दीखने वाली दीवार मनुष्य की देह हो गयी। अतएव, मनोवैज्ञानिक रूप से आदमी ने अपना सारा गुस्सा शरीर पर उतारना शुरू किया। कृच्छ्र साधना के शिकार केवल जैन ही नहीं हुए, बल्कि, अन्य लोगों में भी उसका काफी प्रचार था। गौतम जब घर से निकल कर संन्यासी हो गये, तब उन्हें भी आदि में मोक्ष-लाभ का मार्ग तपस्या में ही दिखायी पड़ा था। हिन्दू-पुराणों में दुर्धर्ष तपस्याओं की हजारों कथाएं भरी पड़ी हैं। धर्म-लाभ के लिए उन दिनों लोग वर्षों

तक एक पाँव पर खड़े रहते थे, पेड़ों से लटक कर उलटे टँग जाते थे, चांद्रायण-व्रत करते थे या महज नीम की पत्तियाँ खाकर समय गुजार देते थे। उदासी संप्रदाय के साधुओं में से अब भी कितने ही साधु जाड़े और बरसात में घरों से बाहर पड़े रहते हैं तथा जेठ की धूप में पंचधुनी तापते हैं। स्वामी दयानन्द, बहुत दिनों तक, जाड़े और बरसात, दोनों ऋतुओं में, घर से बाहर रहते थे और शरीर पर कपड़े नहीं डालते थे। बहुत दिनों से इस देश में एक विश्वास रहा है कि आत्मा को जगाने का सच्चा मार्ग शरीर को कष्ट में डालना है। और जो लोग शरीर को कष्ट में अधिक डालते थे उनका समाज में आदर भी अधिक होता था। यह परंपरा बिलकुल समाप्त नहीं हुई है, बल्कि, अभी भी भारत में वह शेष है। सच तो यह है कि प्रत्येक साधु-महात्मा के साथ कष्ट-सहिष्णुता का थोड़ा-बहुत संबंध हम आज भी मानते हैं।

जैन धर्म का त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) असल में, हिन्दुओं के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग का ही दूसरा रूप है। किन्तु, यहाँ भी एक भेद है कि हिन्दू-धर्म में ज्ञान, कर्म और भक्ति में से कोई भी एक मार्ग मुक्ति के लिए यथेष्ट समझा जाता है। किन्तु, जैन धर्म मोक्ष-लाभ के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र, तीनों को आवश्यक मानता है।

त्रिरत्न में पहला स्थान सम्यक् दर्शन का आता है जिसके पालन के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य तीन प्रकार की मूढ़ताओं और आठ प्रकार के अहंकारों को बिलकुल छोड़ दे। तीन प्रकार की मूढ़ताएँ हैं—लोक-मूढ़ता, देव-मूढ़ता और पाषण्डी-मूढ़ता। नदियों में स्नान करने से शुचिता ही नहीं, पुण्य भी बढ़ता है, यह और ऐसी अनेक भ्रान्तियाँ लोक-मूढ़ता के उदाहरण हैं जो त्याज्य हैं। देवी-देवताओं की शक्तियों में विश्वास करना देव-मूढ़ता है तथा साधु-फकीरों के चमत्कार में विश्वास करना पाषण्डी-मूढ़ता है। जैन धर्म में ये सभी अन्ध-विश्वास त्याज्य हैं। जबतक ये अन्ध-विश्वास नहीं छटते, मनुष्य धर्म के सच्चे मार्ग पर नहीं आ सकता है।

भला यह कैसे संभव था कि जिस धर्म ने अहिंसा पर इतना जोर डाला वह विनमृता के गुण को अनिवार्य नहीं समझे? इसलिए, जैन धर्म में आठ प्रकार के अहंकार भी त्याज्य बताये गये हैं। ये हैं—(१) अपनी बुद्धि का अहंकार, (२) अपनी धार्मिकता का अहंकार, (३) अपने वंश का अहंकार, (४) अपनी जाति का अहंकार, (५) अपने शरीर या मनोबल का अहंकार, (६) अपनी चमत्कार दिखाने वाली शक्तियों का अहंकार, (७) अपने योग और तपस्या का अहंकार तथा (८) अपने रूप और सौंदर्य का अहंकार। इतनी तैयारी हो लेने पर ही, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का फल साधक को मिल सकता है।

बौद्ध धर्म की तरह, जैन धर्म भी कर्मवादी है और उसका उद्देश्य मनुष्यों के कर्मों

को परिष्कृत एवं उन्नत बनाना है। प्रत्येक जैन गृहस्थ को पंचव्रत का प्रण लेना पड़ता है जिनके नाम **अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह** हैं। खेती-बारी में जो जीव-हिंसा अनिच्छित ढंग से हो जाती है वह गृहस्थों को क्षम्य है। इसी प्रकार, ब्रह्मचर्य के मामले में भी परस्त्री-गमन ही विवर्जित है। और अपरिग्रह के द्वारा गृहस्थ को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह अपनी आवश्यकता से अधिक संपत्ति अपने पास नहीं रखेगा, उसे दान में दे देगा। शायद, इसी व्रत का पालन करने के लिए जैन गृहस्थ अपनी आय का एक भाग दान के लिए उत्सर्ग कर देते हैं।

गृहस्थों के लिए जो व्रत परिमित रखे गये हैं, श्रमणों और संन्यासियों पर वे ही व्रत अत्यन्त कठोरता से लागू किये जाते हैं, क्योंकि उन्हें छूट की आवश्यकता नहीं है तथा उन्हें प्राणपन से इन व्रतों के पूर्ण पालन का प्रयास करना ही चाहिए।

जैनमत और बौद्धमत

जैनमत और बौद्धमत में समानता यह है कि दोनों मत पशु-हिंसा के विरोधी हैं। यद्यपि, आगे चल कर बौद्ध मरे हुए पशु का मांस खाना बुरा नहीं मानने लगे, किन्तु, जैन हिंसक या अहिंसक, सभी प्रकार के आमिष को अग्राह्य मानते हैं। दोनों मत वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकार करते हैं। दोनों का विश्वास है कि सृष्टि की रचना करने वाला कोई देवता नहीं है। दोनों मतों के पंडितों ने देश-भाषा में उपदेश देना आवश्यक माना—बौद्धों का मूल-साहित्य प्राकृत में है और जैनों का अधिक साहित्य अपभ्रंश में। और आगे चल कर, दोनों धर्मों के ग्रन्थ संस्कृत में भी लिखे गये। किन्तु, इन धर्मों के बीच भेद यह है कि बौद्ध सृष्टिमात्र को परिवर्तनशील एवं नश्वर मानते हैं तथा वे यह स्वीकार नहीं करते कि सृष्टि के मूल में भी कोई तत्व है जो अक्षय और अनादि होगा। किन्तु, जैन जीव और अजीव को अक्षय तथा अनादि मानते हैं। जैन साधना अत्यन्त कृच्छ्र और कठिन है। बुद्ध ने तप और भोग के बीच, मध्य-मार्ग को विहित बताया। बौद्धों का निर्वाण संपूर्ण विनाश का संशय उत्पन्न करता है। जैन पंडित निर्वाण को जीव के विकास की स्थिति मानते हैं तथा यह कहते हैं कि जीवन्मुक्त पुरुष ईश्वर-कोटि को प्राप्त करता है। जैनों में भिक्षु और गृहस्थ के बीच की दूरी कम रही। बौद्धों का सारा जोर भिक्षु-संघ पर पड़ा और उनके गृहस्थ सेवक उपेक्षित हो गये। धर्माचरण और अनुष्ठानादि में जैन-धर्म हिन्दू-धर्म के समीप रहा। किन्तु, बौद्धमत उससे काफी दूर चला गया। राज्य-सहायता तो जैन-धर्म को भी मिली थी; किन्तु, जैनमत भारत से बाहर नहीं गया। किन्तु, बौद्ध मत ने भारत के सांस्कृतिक अभियान में अपने को विश्व-विजय का माध्यम बना लिया। बौद्ध धर्म, मुख्यतः, संन्यासियों का धर्म था। किन्तु, जैन मत गृहस्थों को साथ लिये हुए था तथा ये गृहस्थ श्राद्ध-विवाह, पूजा और अनुष्ठान में ब्राह्मण पुरोहितों से काम लेते रहे। इसका एक

प्रभाव यह हुआ कि जैन मत सदैव हिन्दुत्व का अंग बना रहा। किन्तु, बौद्ध मत हिन्दू वृत्त से बाहर पहचाना जाता था।

जैनधर्म का इतिहास

ऋषभदेव और अरिष्टनेमि को लेकर जैन-धर्म की परंपरा वेदों तक पहुँचती है। महाभारत-युद्ध के समय, इस संप्रदाय के एक नेता नेमिनाथ थे जिन्हें जैन अपना एक तीर्थंकर मानते हैं। ई० पू० आठवीं सदी में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए जिनका जन्म काशी में हुआ था। काशी के पास ही, ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ था जिनके नाम पर सारनाथ का नाम चला आता है। जैन-धर्म के अन्दर, श्रमण-संप्रदाय का पहला संगठन पार्श्वनाथ ने किया था। ये श्रमण वैदिक प्रथा के विरुद्ध थे और महावीर तथा बुद्ध के काल में, ये ही श्रमण कुछ बौद्ध और कुछ जैन हो गये तथा दोनों ने अलग-अलग अपनी संख्या बढ़ा ली।

जैन-पंथ के अन्तिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान हुए जिनका जन्म ई० पू० ५९९ में हुआ था। वे ७२ वर्ष की अवस्था में स्वर्गीय हुए। महावीर स्वामी ने मरने के पूर्व, इस संप्रदाय की नींव भली भाँति पुष्ट कर दी, अहिंसा को उन्होंने पक्के तौर पर स्थापित कर दिया और जब वे मरे, तब उनका संप्रदाय, पूर्णरूप से, संगठित और सक्रिय था। सांसारिकता पर विजयी होने के कारण, वे जिन (जयी) कहलाये और उन्हीं के समय से इस संप्रदाय का नाम जैन हो गया।

जब सिकन्दर भारत आया था, तब जैन साधु सिन्धु के तट पर भी बसे हुए थे। चंद्रगुप्त मौर्य जैन हुए थे या नहीं, इस विषय में अभी संदेह है, किन्तु, अशोक के अभिलेखों से यह पता चलता है कि उसके समय में मगध में जैन-धर्म का प्रचार था। लगभग इसी समय, मठों में बसने वाले जैन मुनियों में यह मतभेद शुरू हुआ कि तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ कपड़े पहना कर रखी जायँ या नग्न ही तथा मुनियों को वस्त्र पहनना चाहिए या नहीं। यह मतभेद इतना बढ़ा कि ईसा की पहली सदी में आकर जैन मतावलंबी मुनि दो दलों में बँट गये। एक दल हुआ श्वेताम्बर जिसके साधु श्वेत वस्त्र पहनते थे और दूसरा हुआ दिगंबर जिसके साधु नंगे ही घूमते थे।

मौर्यकाल में, भद्रबाहु के नेतृत्व में, जैन श्रमणों का एक दल दक्षिण गया और मैसूर में रह कर अपने धर्म का प्रचार करने लगा। ईसा की पहली शताब्दी में कलिंग के राजा खारावेल ने जैन-धर्म स्वीकार किया। ईसा की आरंभिक सदियों में, उत्तर में मथुरा और दक्षिण में मैसूर (श्रमण बेलजोला) जैन-धर्म के बहुत बड़े केन्द्र थे। पाँचवीं से बारहवीं शताब्दी तक दक्षिण के गंग, कदम्ब, चालुक्य और राष्ट्रकूट राजवंशों ने जैन-धर्म की बहुत सेवा की और उसका काफी प्रचार किया। इन राजाओं के यहाँ अनेक जैन कवियों को भी प्रश्रय मिला था जिनकी रचनाएँ आज तक उपलब्ध हैं। ग्यारहवीं सदी के आसपास, चालुक्य-

वंश के राजा सिद्धराज और उनके पुत्र कुमारपाल ने जैन-धर्म को राजधर्म बना लिया तथा गुजरात में उसका व्यापक प्रचार किया। अपभ्रंश के लेखक और जैन विद्वान, हेमचन्द्र कुमारपाल के ही दरबार में रहते थे। एक समय, इस धर्म का राजपूताने में भी अच्छा प्रचार था। चूँकि जैन धर्मावलंबी बहुत ही शान्तिप्रिय होते थे, इसलिए, मुसलमानों के अन्दर भी उन पर अधिक जुल्म नहीं हुए, बल्कि, अकबर ने उनकी थोड़ी-बहुत सहायता ही की थी। मगर, धीरे-धीरे जैन मठ टूट गये और पिछले मुगलों के समय में ही, उनका प्रभाव जाता रहा। अब इस देश में केवल बारह-चौदह लाख जैन रह गये हैं जो मुख्यतः, बनिज-व्यापार करते हैं। तब भी, इस देश में दान-धर्म के अनेक निशान (धर्मशाला, विद्यालय, मठ-मन्दिर आदि) इस संप्रदाय वालों के बनवाये हुए हैं।

हिन्दुत्व पर प्रभाव

जैन-धर्म अत्यन्त उन्नत और मनुष्य के लिए कल्याणकारी धर्म था। अचरज की बात है कि उसके अनुगामियों की संख्या अब इतनी थोड़ी रह गयी है। लेकिन, एक दूसरी दृष्टि से देखने पर आश्चर्य नहीं होता। यह धर्म कोई बाहर से आया हुआ नया धर्म नहीं था। वह हिन्दुत्व से ही निकला था, और रूप उसका जो भी रहा हो, मगर, लक्ष्य उसका हिन्दू-धर्म का सुधार था। आरंभ से ही, जैन-धर्म की शब्दावली हिन्दू-धर्म की शब्दावली रही थी और, यद्यपि, सदियों तक जैन लोग एक अलग संप्रदाय बना कर रहे थे, मगर, अलग रह कर भी वे हिन्दू-धर्म की ही सेवा कर रहे थे। ब्राह्मणों के विशेषाधिकार की अवहेलना, यज्ञ का विरोध और अहिंसा की स्थापना, इन्हीं बातों को लेकर जैन हिन्दू-धर्म से अलग हुए थे। मगर, जब हिन्दू-धर्म ने ये बातें मान लीं, तब जैन-संप्रदाय के अलग रहने का कोई कारण नहीं रह गया और धीरे-धीरे इस संप्रदाय के लोग हिन्दू-वृत्त में वापस आ गये। यों भी, हिन्दुओं और जैनों के बीच शादी-संबंध तो होते ही आये थे। फिर वे अलग रहते कैसे?

आज जो भी दस-बारह लाख जैन भारत में हैं, वे आचार-विचार, रहन-सहन और रीति-रिवाज में हिन्दुओं के बीच पूरी तरह से खपे हुए हैं। उनका धर्म पूर्णरूप से हिन्दू-धर्म में समाहित हो गया है। हिन्दू-धर्म की जो वैष्णव-शाखा है, उसने जैन-धर्म के मूल-तत्त्वों को अपने भीतर भली भाँति पचा लिया है तथा एक वैष्णव और एक जैन में भेद करना आसान काम नहीं है। आधुनिक काल में महात्मा गाँधी हिन्दुत्व के वैष्णव-भाव के सब से बड़े प्रतिनिधि हुए, लेकिन, उनमें एक प्रतिनिधि-जैन के भी सभी लक्षण मौजूद थे। अनशन और उपवास पर प्रेम, अहिंसा पर प्रगाढ़ भक्ति, कदम-कदम पर भोग की सामग्रियों से बचने का भाव और उनका समझौतावादी दृष्टिकोण (स्याद्वाद), ये सब-के-सब जैन-धर्म की ही शिक्षाएँ हैं। हिन्दुत्व और जैन-धर्म आपस में घुल-मिल कर अब इतने

एकाकार हो गये हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं है कि **"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह"**, ये जैन धर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नहीं। मगर, वह इस भेद को जाने और माने भी क्यों ? जैन-धर्म तो हिन्दुत्व का ही एक रूप था जो हिन्दुत्व से अलग होकर धर्म का एक नया प्रयोग कर रहा था। प्रयोग पूरा हो गया, हिन्दुत्व ने उसके नतीजे को कबूल कर लिया और अब वह हिन्दुत्व भी है और जैन-मत भी। हिन्दू-धर्म की यह अनुपम विशेषता है कि वह जितना ही बदलता है, उतना ही मौलिक हो जाता है, उतना ही वह अपने असली रूप के अधिक पास पहुँच जाता है।

जैन-धर्म का (और बौद्ध-धर्म का भी) हिन्दू-धर्म पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका उत्तर अगर हम एक शब्द में देना चाहें तो वह शब्द 'अहिंसा' है और यह अहिंसा शारीरिक ही नहीं, बौद्धिक भी रही है। शैव और वैष्णव धर्मों का उत्थान जैन और बौद्ध धर्मों के बाद हुआ। शायद, यही कारण है कि इन दोनों मतों (विशेषतः वैष्णव मत) में अहिंसा का ऊँचा स्थान है। दुर्गा के सामने कूष्माण्ड की बलि चढ़ाने की प्रथा भी जैन और बौद्ध मतों के अहिंसावाद से ही निकली होगी। यद्यपि, वेद में भी एक स्थान पर कहा गया है कि यज्ञ का सार पहले मनुष्य में था, फिर वह अश्व में चला गया, फिर गौ में, फिर भेड़ में और तब अजा में। जब अजा की बलि दी जाने लगी, तब यह सार पृथ्वी में समा गया जिससे यव और तण्डुल उत्पन्न होते हैं। यव और तण्डुल का पुरोडाश (रोटी या पीठी) भी यज्ञ की पवित्र बलि है। इसपर से पंडितों ने यह अनुमान लगाया है कि हिंसा की भयंकरता का अनुभव वैदिक ऋषियों को भी होने लगा था। इसीलिए, उन्होंने कल्पना के इस घुमाव के द्वारा जनता के सामने यह बात रखी कि पशुओं के बदले, यव और तण्डुल की भी बलि दी जा सकती है। गाँवों में अहिंसावाद अभी भी अपना मार्ग प्रशस्त किये जा रहा है। कई जातियों के लोग अब भी पशु-बलि से देवताओं को प्रसन्न करने में विश्वास करते हैं। किन्तु, जैसे-जैसे उनमें शिक्षा का प्रसार बढ़ता है, वे पशुबलि की क्रूर प्रथा को छोड़ते जाते हैं।

आज जैन-मतावलंबियों में अधिक संख्या उन्हीं की है जो व्यापारी हैं। यह भी जैन-धर्म के अहिंसावाद का ही परिणाम है। जैन साधु इस चिंता से बहुत अधिक पीड़ित रहते थे कि कहीं उनके हाथों किसी जीव का नाश नहीं हो जाय। रास्ते को बुहारते चलना, मुंह और नाक में वस्त्र लपेटे रहना और जल के विषय में सतर्कता रखना, ये सारे कार्य जीव-हिंसा से ही बचने के लिए किये जाते थे। मगर, कृषि में तो खेत जोतने से जीव-हिंसा होती ही है। इसी हिंसा से घबरा कर जैनियों में कृषि को छोड़ कर व्यापार पर जीने की प्रथा चल पड़ी।

बौद्धिक अहिंसा पर जोर जैन मत ने स्याद्वाद के द्वारा दिया। मगर, यह नहीं कहा जा सकता कि स्याद्वाद के बीज हिन्दू-धर्म में नहीं थे। उपनिषदों में ही ब्रह्म कहीं साकार,

कहीं निराकार और कहीं दोनों माना गया है। ऋषियों की वाणी में हम सर्वत्र एक तरह की चौकसी और सतर्कता देखते हैं और जब वे किसी मत का खंडन करते हैं, तब भी उनके तर्क अहिंसा से भीगे होते हैं, उनम वह निर्ममता नहीं होती जो आज के हठी विद्वानों का लक्षण है।

सत्य किसे मिलता है और किसे नहीं, यह विवाद का विषय है। मगर, एक बात ठीक है कि जो आदमी सत्य की राह पर आ जाता है वह हठ नहीं करता, किसी बात की जिद्द नहीं पकड़ता और दूसरों को चुप करने के लिए जोर-जोर से बोलने नहीं लगता है। ऐसा आदमी संशयवादी होता हो, यह बात नहीं है। लेकिन, विरोधी मत के विषय में उसका यह भाव जरूर रहता है कि क्या अचरज कि सत्य का एक पहलू उसे भी दिखायी पड़ा हो। और यही भाव उसे विरोधी मत के बारे में अहिंसक बना देता है। वर्त्तमान युग के सब से बड़े स्याद्वादी महात्मा गाँधी थे, क्योंकि आलोचकों की बातों का वे बहुत आदर करते थे तथा स्याद्वाद के प्रेमी होने के कारण ही, समझौतों में उनका अटल विश्वास था।

दक्षिण में जो जैन-धर्म का काफी प्रचार हुआ, उससे भारत की एकता में एक और वृद्धि हुई। जैन मुनियों और जैन साहित्य के साथ संस्कृत के बहुत-से शब्द दक्षिण पहुँचे और वे मलयालम तमिल, तेलुगु और कन्नड़ी भाषाओं में मिल गये। जैनों ने दक्षिण में बहुत-सी पाठशालाएँ भी खोली थीं। आज भी वहाँ बच्चों को अक्षरारंभ कराते समय "ऊं नमः सिद्धम्", यह पहला वाक्य पढ़ाया जाता है, जो जैनों के नमस्कार का वाक्य है। वैष्णव-धर्म की तैयारी दक्षिण में हुई थी और दक्षिण से ही वह उत्तरवालों को मिला जिसके प्रमाण रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभाचार्य हैं जो सब-के-सब दक्षिण में जन्मे थे। रामानन्द, यद्यपि, प्रयाग के कान्यकुब्ज-परिवार में जन्मे थे, किन्तु, रामानुज की परंपरा के समर्थ वाहक होने के कारण, हम उन्हें भी दक्षिण की आध्यात्मिक संतान मान सकते हैं। खोज करने पर, शायद, यह बात मालूम हो सकती है कि वैष्णव-धर्म के विकास में जैन-मत का काफी हाथ था। गुजरात की जनता पर जैन-शिक्षा (अहिंसा और सादगी) का आज भी अच्छा प्रभाव है तथा यह भी कोई आकस्मिक बात नहीं है कि अहिंसा, उपवास और सरलता के इतने प्रबल समर्थक गाँधीजी गुजरात में ही जन्मे।

कहते हैं, विन्ध्य से उत्तर उन जैन मुनियों की प्रधानता थी जो श्वेताम्बर थे तथा विंध्य से दक्षिण, तमिल और कन्नड़ देशों में उनकी प्रधानता हुई जो दिगम्बर थे। स्पष्ट है कि दिगम्बर मुनियों का आदर वे ही करते होंगे जिनमें धर्म के प्रति विशेष अनुराग रहा होगा। इस तरह से विचार करने पर, यह अनुमान आसानी से निकल आता है कि प्राचीन काल में जैन मत का प्रधान गढ़ दक्षिणभा रत ही रहा होगा। ईसवी सन् के आरंभ में, तमिल साहित्य का जो व्यापक विकास हुआ, उसके पीछे जैन मुनियों का भी हाथ था, ऐसा

इतिहासकारों का विचार है। तमिल ग्रन्थ, 'कुरल' के पाँच-छह भाग जैनों के रचे हुए हैं, यह बात कई विद्वान् स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार, कन्नड़ी का भी आरम्भिक साहित्य जैनों का रचा हुआ है।

इस देश की भाषागत उन्नति के भी जैन मुनि सहायक रहे हैं। ब्राह्मण अपने धर्म-ग्रन्थ संस्कृत में और बौद्ध पालि में लिखते थे, किन्तु, जैन-मुनियों ने प्राकृत के अनेक रूपों का उपयोग किया और प्रत्येक काल एवं प्रत्येक क्षेत्र में जब जो भाषा चालू थी, जैनों ने उसी के माध्यम से अपना प्रचार किया। इस प्रकार, प्राकृत के अनेक रूपों की उन्होंने सेवा की। महावीर ने अर्ध-मागधी को इसलिए चुना था कि मागधी और शौरसेनी, दोनों भाषाओं के लोग उनका उपदेश समझ सकें। बाद को, ये उपदेश लिख भी लिये गये और उन्हीं के लेखन में हम अर्ध-मागधी भाषा का नमूना आज भी पाते हैं। हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के जन्म लेने के पूर्व, इन प्रान्तों में जो भाषा प्रचलित थी उसमें जैनों का विशाल साहित्य है जिसे अपभ्रंश-साहित्य कहते हैं। भारत की भाषाओं में एक ओर तो प्राचीन भाषाएँ, संस्कृत और प्राकृत हैं तथा दूसरी ओर, आज की देश-भाषाएँ। अपभ्रंश भाषा इन दोनों भाषा-समूहों के बीच की कड़ी है। इसलिए, भारत के भाषा-विषयक अध्ययन की दृष्टि से अपभ्रंश का बड़ा महत्त्व है। जैन विद्वानों ने संस्कृत की भी काफी सेवा की। संस्कृत में भी जैनों के लिखे अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें से कुछ तो काव्य और वर्णन हैं तथा कुछ दर्शन के संबंध में। व्याकरण, छन्दशास्त्र, कोष और गणित पर भी संस्कृत में जैनाचार्यों के लिखे ग्रंथ मिलते हैं।

मन्दिरों और मूर्त्तियों का निर्माण भी जैन संप्रदाय ने खूब किया। जैसे बौद्ध अपने महात्माओं के स्तूप बनवाते थे, वैसे ही, बहुत-से स्तूप जैनों के भी हैं। मथुरा में पाये जाने वाले जैन स्तूप सब से पुराने हैं। बुंदेलखण्ड में ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों की जैन मूर्त्तियाँ ढेर-की-ढेर मिलती हैं। मैसूर के श्रमण बेलगोला और करकल नामक स्थानों में गोमतेश्वर या बाहुबली की विशाल प्रतिमाएँ हैं। ग्वालियर के पास चट्टानों में जैन मूर्त्ति-कारी के जो नमूने हैं वे पन्द्रहवीं सदी के हैं। जैनों ने पर्वत काट कर कन्दरा-मन्दिर भी बनवाये थे जिनके ई० पू० द्वितीय शती के नमूने उड़ीसा की हाथी गुम्फ कन्दरा में मिलते हैं। बिहार में पार्श्वनाथ, पावापुरी और राजगिर में तथा काठियावाड़ के गिरनार और पालिताना में भी जैनों के मन्दिर और तीर्थस्थान हैं।

२. बौद्ध धर्म

पिछले प्रकरण के विवरण से यह आभास मिल जाना चाहिए कि बुद्धदेव का जन्म और उनके द्वारा चलाये गए धर्म का उत्थान कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। असल में, बौद्ध धर्म उस विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम था जो कर्मकांड, हिंसायुक्त यज्ञ के आडम्बर और पुरोहितवाद के विरुद्ध पहले से ही बहती आ रही थी और जिसकी आवाज हम उपनिषदों और गीता में भी सुनते हैं। वेद और उपनिषद् पढ़ने का अधिकार शूद्रों को नहीं दिया गया था।[१] न उन्हें यही अधिकार था कि द्विजों की तरह वे भी यज्ञ करके लोक और परलोक में सुख भोगने की योग्यता प्राप्त करें। उस समय का समाज, सचमुच ही, बौद्धिक संकट का सामना कर रहा था। जन-साधरण की कठिनाई यह थी कि यज्ञ करने को छोड़कर उसके आगे धर्म का कोई और मार्ग नहीं था। किन्तु, समाज के, प्रायः, सभी चिन्तक यज्ञ के खिलाफ होते जा रहे थे और साधारण गृहस्थ को भी यह भान हो चला था कि यज्ञों के आलोचक झूठ नहीं कहते हैं। दूसरी ओर, उपनिषदों की चोटी से जो ज्ञान आ रहा था उस तक साधारण मनुष्य की पहुँच नहीं थी। और देश में विभिन्न मत-मतान्तरों के जो झकोरे चल रहे थे, वे भी उसे बेचैन किये हुए थे। ऐसी हालत में, जनता कोई ऐसा धर्म चाह रही थी जो सुगम और सुबोध हो, जिसमें पशुबलि की क्रूरता भी नहीं हो और व्यर्थ का आडम्बर भी नहीं, जो मनुष्य को अतिभोग से भी दूर रखे और तपस्या तथा यती-वृत्ति की कठोरता से भी ; जो मनुष्य के ध्यान को धर्म की ओर तो अवश्य ले जाय; किन्तु, बीसों प्रकार के ऊहापोह में उसे उलझा नहीं डाले। असल में, जनता एक व्यावहारिक धर्म चाह रही थी और बुद्धदेव ने वही धर्म उसे दिया भी। वे हिन्दू-धर्म से दूर नहीं गये, उन्होंने हिन्दू धर्म के मूल पर प्रहार नहीं किया, बल्कि, उनकी चोटों के निशान हिन्दू-धर्म की कुरीतियाँ और कमजोरियाँ थीं। इसीलिए, यह मानना अधिक युक्तियुक्त है कि बौद्ध धर्म कोई नया धर्म नहीं, बल्कि, हिन्दुत्व का ही एक संशोधित रूप है। असल में, अपनी कुरीतियों से लड़ने के लिए हिन्दुत्व ने ही बौद्ध धर्म का रूप लिया था जैसा कि वह प्रत्येक संकट-काल में लेता रहा है। और जिन आचार्यों ने बुद्धदेव की गिनती हिन्दू-धर्म के दशावतार में की, उनका भी यही भाव रहा होगा कि

---

१. "शूद्र चलता-फिरता श्मशान है, उसके इतने समीप अध्ययन न करे कि उसे सुनाई दे। यदि वह जानबूझ कर श्रुति सुने तो लाह या शीशा गला कर उसके कान में डालना चाहिए।" (कात्या. श्रौ. तथा आप. श्रौ.)

बुद्ध पराये नहीं, अपने हैं और 'धर्म-संस्थापनार्थ' विष्णु जैसे राम और कृष्ण बन कर आये थे, वैसे ही, पशुहिंसा को रोकने के लिए, इस बार, वे बुद्ध बन कर आये हैं[1]। जहाँ तक हमारा अनुमान है, तथागत का भी अपने बारे में यही ख्याल था। **वे प्रचलित धर्म के भंजक नहीं, सुधारक थे।**

बौद्ध धर्म और आचार

बुद्धदेव ने अपने नये धर्म की घोषणा संस्कृत को छोड़कर जनता की बोली में की और दार्शनिक जंजाल से दूर रहते हुए उन्होंने, संक्षेप में, लोगों को यह बतलाया कि मनुष्य दुःखी है, दुःख अकारण नहीं है, इस दुःख का निरोध संभव है और इस निरोध का मार्ग भी है। ये ही बौद्ध धर्म के **चार आर्य सत्य हैं** जिनकी व्याख्या निम्नलिखित रूप से की जाती है:—

१. **दुःख आर्य सत्य है।** जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय लोगों से मिलना भी दुःख है, प्रिय लोगों से बिछुड़ना भी दुःख है और इच्छा करने पर किसी चीज का नहीं मिलना भी दुःख है।

२. **दुःख-समुदय आर्य सत्य है।** अर्थात् मनुष्य को जो भी दुःख होते हैं वे किसी न किसी कारण को लेकर। यह कारण सदैव तृष्णा का कोई न कोई रूप होता है, जैसे जन्म लेने की तृष्णा, खुश होने की तृष्णा, सुख भोगने की तृष्णा। जब-जब तृष्णा में बाधा पड़ती है तब-तब मनुष्य दुःखी होता है। असल में, तृष्णा (किसी प्रकार की इच्छा) और दुःख में कारण-कार्य का संबंध है।

३. **दुःख-निरोध आर्य सत्य है।** अर्थात् दुःख के दूर करने का उपाय उसके कारण को दूर करना है। तृष्णा का सर्वथा त्याग, वासना में लीन नहीं होने की योग्यता और जिन-जिन कारणों से मनुष्य को दुःख होते हैं, उन-उन कारणों से मुक्त हो जाने का भाव, यही दुःख-निरोध है।

४. **दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपद् आर्य सत्य है।** इसका अर्थ यह है कि दुःखों से छूटने का मार्ग भी है। इस उपदेश के अन्दर उन आठ प्रकार के आचरणों की गिनती है जिनका पालन करके मनुष्य दुःखों के कारणों का नाश कर सकता है। ये आष्टांगिक मार्ग इस प्रकार हैं:—

१. **सम्यक् दृष्टि।** यह दृष्टि रखना कि जीवन में दुःख हैं, दुःख अकारण नहीं हैं, दुःख दूर किये जा सकते हैं, दुःखों के दूर करने के उपाय भी हैं। अर्थात्, बुद्धदेव ने जो चार आर्य सत्य कहे हैं, उनमें अटल विश्वास रखना। (बुद्ध की सम्यक् दृष्टि, महावीर का सम्यक् दर्शन और वेदान्त का श्रद्धा-भाव, (गुरु या धर्मग्रन्थ जो उपदेश करें उनकी सत्यता में

---

१. निन्दसि वेदविधेरहह श्रुतिजातम् सदय-हृदय-दर्शित-पशुघातम् केशव धृत-बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे! (गीत गोविन्द)

विश्वास), ये आपस में मिलती-जुलती वस्तुएँ हैं।)

२. **सम्यक् संकल्प।** निष्कर्मता-संबंधी संकल्प यानी जो कर्म करने योग्य नहीं हैं उन्हें नहीं करने का संकल्प, अद्रोह-संबंधी संकल्प, अहिंसा-संबंधी संकल्प इत्यादि।

३. **सम्यक् वचन।** झूठ बोलने से बचना, चुगली करने से बचना, कड़ी बात कहने से बचना और बकवाद में भाग लेने से बचना।

४. **सम्यक् कर्मान्त।** प्राणि-हिंसा नहीं करना, जो दिया नहीं गया है उसे नहीं लेना, दुराचार से बचना और भोग के अतिचार से दूर रहना।

५. **सम्यक् आजीव।** गलत रोजगार से अगर रोजी चलती हो तो उसे छोड़कर ऐसे रोजगार में लगना जिससे धर्म नहीं बिगड़ता हो।

६. **सम्यक् व्यायाम।** दुर्व्यसन और कुटेव को छोड़ने की कोशिश करना, मन में पाप के भाव जगते हों तो उन्हें दबाने का प्रयत्न करना, मन में जो अच्छे भाव पैदा हों उन्हें बढ़ाने की चेष्टा करना, संक्षेप में, मानसिक दोषों को पराजित करके अपने व्यक्तित्व को निर्मल और पूर्ण बनाने के लिए प्रयास करते रहना।

७. **सम्यक् स्मृति।** शरीर में बुढ़ापा, रोग और पाप के बीज हैं, इसका ध्यान रखना और क्षण-क्षण भीतर से जागरूक रहकर वासना का दलन और ज्ञान का विकास करना।

८. **सम्यक् समाधि।** चार प्रकार के ध्यान जिनमें वितर्क और विचार से मन के भावों को सुलझाया जाता है, शान्ति और एकाग्रता से अपने-आपको जानने की कोशिश की जाती है और सुख तथा दु:ख, दोनों से अलिप्त रहने की भावना का विकास किया जाता है।

संक्षेप में, बुद्ध ने अपने अनुयायियों से यह कहा कि मेरे उपदेशों पर विश्वास रखो, बुद्धि से उन्हें समझने की कोशिश करो और हर एक उपदेश को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करो; पवित्र-से-पवित्र जीवन बिताओ और नियमित रूप से **ध्यान** और **समाधि** करो।

यह धर्म का बड़ा ही व्यावहारिक रूप था, अतएव, वह उन सभी लोगों को सुगम, सुन्दर और सुबोध जान पड़ा जो कर्मकांड से ऊबे हुए थे, जो यज्ञों में होनेवाली पशुहिंसा से घृणा करते थे, उपनिषदों का ज्ञान जिनके पल्ले नहीं पड़ता था तथा जो इस बात को पसन्द नहीं करते थे कि धर्म-कर्म करने तथा वेद-उपनिषद् पढ़ने और सुनने का अधिकार केवल द्विजों को ही है। **समाज में जो वर्ण ब्राह्मण से जितनी ही दूर था, वह बौद्ध धर्म की ओर उतने ही वेग से खिंचा।** चूंकि बुद्धदेव जन्म से क्षत्रिय थे, इसलिए, ब्राह्मण पहले उनकी ओर जाने में झिझके। आरंभ में, वैश्यों और शूद्रों में तथागत को अधिक अनुयायी मिले। शूद्रों को तो यह धर्म बहुत ही भला लगा, क्योंकि बुद्धदेव जाति-प्रथा के खिलाफ थे। यह धर्म पहले मगध में अधिक फैला जिसका एक कारण तो यह था कि बुद्ध ने राजगिर में तपस्या

और गया में ज्ञान प्राप्त किया था। लेकिन, उससे भी बड़ा कारण यह हुआ कि मगध में आर्य-धर्म में कभी भी वह कट्टरता नहीं आई थी जो पश्चिमी भारत में थी, जिस स्थिति का थोड़ा विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। पूर्वी भारत के आर्यों में भी, अन्य आर्यों की तरह चार जातियों का विधान था, लेकिन, व्रात्य-जाति के ब्राह्मण भी पश्चिमी आर्य ब्राह्मणों के द्वारा कुछ नीची निगाह से देखे जाते थे। व्रात्य-समाज के लोग, आरंभ से ही, धर्म-कर्म के विषय में कुछ ज्यादा उदार थे और नये विचारों का स्वागत वे अधिक स्वतन्त्रता से कर सकते थे। इसीलिए, वेद और ब्राह्मण धर्म के खिलाफ उठे हुए इस नये आन्दोलन का उन्होंने बढ़ कर साथ दिया और मगध में बौद्ध धर्म की बहुत अच्छी प्रतिष्ठा हो गयी। यह भी ध्यान देने की बात है कि बौद्ध धर्म को पहले पहल राज्य का आश्रय भी मगध में ही मिला। बुद्ध के समय में, राजगिर के राजा बिम्बिसार और बुद्ध के मरने के दो-सवा दो सौ वर्ष के बाद, मगध-सम्राट् अशोक उनके धर्म में दीक्षित हुए। सच पूछिए तो बौद्ध धर्म का भारत से बाहर प्रचार करने का बहुत बड़ा श्रेय अशोक को ही है।

बौद्ध दर्शन

प्रत्येक धर्म के, अक्सर, दो पक्ष होते हैं, एक आचार-पक्ष, दूसरा दर्शन-पक्ष। ऊपर बौद्ध-धर्म की जिन शिक्षाओं का जिक्र आया है, उनका संबंध बौद्ध मत के आचार-पक्ष से है और बुद्ध का सब से अधिक जोर इन्हीं शिक्षाओं पर था। बौद्ध धर्म, मुख्यतः, आचार-धर्म है। बुद्ध जानते थे कि मनुष्य का अच्छा या बुरा होना, सुख या दुःख पाना, उसके कर्म और चरित्र पर निर्भर करता है। आदमी का ध्यान इस बात पर रहना चाहिए कि वह करता क्या है, इस बात पर नहीं कि वह जानता क्या है। करने और जानने में, अर्थात् कर्म और ज्ञान में, बुद्धदेव ने कर्म को ही मुख्य माना। इसलिए, उन्होंने मनुष्य का ध्यान कभी भी उन विषयों की ओर जाने नहीं दिया, जो विषय बुद्धि से समझे नहीं जा सकते और जिनके बारे में केवल अनुमान और अटकलबाजी से ही काम लेना पड़ता है।

संसार के बड़े-बड़े दार्शनिकों और पंडितों में इस बात को लेकर भारी मतभेद है कि बौद्ध धर्म का दर्शन क्या है। "यह सृष्टि कहाँ से निकल पड़ी है ? मनुष्य कहाँ से आया है और मर कर कहाँ जायेगा ? आदमी मरने के बाद जीवित रहता है या नहीं ? बुद्ध ने जिसे निर्वाण कहा है वह क्या चीज है ? निर्वाण के मानी मृत्यु और विनाश ही हैं या और कुछ ?" ये अनेक प्रश्न हैं, जिनपर विद्वानों में घोर विवाद चलता है और अधिकांश विद्वान इस विचार पर आकर अड़ जाते हैं कि, हो-न-हो, बुद्धदेव नास्तिक थे और वे आत्मा-परमात्मा, किसी को भी नहीं मानते थे। कुछ दूसरे लोग हैं, जिनका कहना है कि इस जीवन के बाद क्या है, इसे बुद्ध नहीं जानते थे। एक तीसरे प्रकार के लोग हैं, जिनका विश्वास है कि बुद्धदेव सब-कुछ जानते थे, मगर, गोतीत विषयों पर उन्होंने इसलिए

चुप्पी साध ली कि इनके कथन या जानकारी को वे जरूरी नहीं समझते थे।

मज्झिमनिकाय के चूल-मालुंक्य-सुत्तन्त में लिखा है कि मालुंक्यपुत्त नामक एक भक्त ने तथागत से पूछा कि "जगत् नित्य है या अनित्य ? जीव और शरीर एक हैं या दो ? मरने के बाद बुद्ध रहते हैं या नहीं ?" प्रश्न के साथ उस भक्त ने यह भी कहा कि "भगवान अगर इन प्रश्नों के उत्तर नहीं देंगे तो मैं ब्रह्मचर्य वास नहीं करूँगा (अर्थात् संघ में रह कर धर्म की साधना नहीं करूँगा।)"

बुद्धदेव ने कहा—"मालुंक्यपुत्त ! मैंने कब तुमसे कहा था कि मैं तुम्हें ऐसे प्रश्नों के उत्तर दूंगा ? तुम्हारा यह प्रश्न तो उस व्यक्ति के प्रश्नों के समान बेकार है जिसके कलेजे में जहर-बुझा बाण घुस गया हो, जिसके हित-मित्र बाण निकालने के लिए सुयोग्य वैद्य को ले आये हों, मगर, जो यह कह रहा हो कि मैं बाण तबतक नहीं निकलवाऊँगा जबतक कि मुझे यह मालूम नहीं हो जाय कि बाण चलानेवाला व्यक्ति गोरा है या काला, लंबा है या नाटा, उसके नाम और गोत्र क्या हैं, उसके धनुष की डोरी संठे की है या ताँत की तथा उसके बाणों के पर बाज के हैं या गिद्ध के। मालुंक्यपुत्त ! चाहे लोक नित्य है, यह दृष्टि रहे, चाहे लोक अनित्य है, यह दृष्टि रहे, दोनों ही हालतों में जन्म है ही, जरा है ही, मरण है ही, शोक, रोना-काँदना, दुःख-दौर्मनस्य और परेशानी हैं ही, जिनके इसी जन्म में विघात (शमन के उपाय) को मैं बतलाता हूँ।"

जिन प्रश्नों का समाधान बुद्धि से नहीं हो सकता और जिनके उत्तर पाने और नहीं पाने से आदमी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, वैसे सभी प्रश्नों को तथागत ने अव्याकृत (नहीं पूछने योग्य, नहीं जानने योग्य) कोटि में डाल दिया था और उनके पूछने की मनाही कर दी थी। दीर्घनिकाय के पोठ्ठपादसुत्त में वे कहते हैं—"पोठ्ठपाद ! लोक नित्य है, यही सच है, और दूसरा मत निरर्थक है, इसे मैंने अव्याकृत (कथन का अविषय) कहा है।" इसी प्रकार, "लोक अनित्य है, लोक अन्तवान है, जीव और शरीर एक हैं, जीव और शरीर अलग-अलग हैं, तथागत मरने के बाद होते हैं, तथागत मरने के बाद होते भी हैं और नहीं भी होते हैं," इन सारे प्रश्नों को बुद्धदेव ने *अव्याकृत* कह कर उनका पूछा जाना बन्द कर दिया था।[१]

पोठ्ठपाद के यह पूछने पर कि "किसलिए भन्ते ! भगवान ने इसे अव्याकृत कहा है ?" तथागत ने बतलाया कि इसलिए कि "ये प्रश्न न तो अर्थयुक्त हैं, न धर्मयुक्त, न आदि ब्रह्मचर्य के उपयुक्त, न निर्वेद (वैराग्य) के लिए, न विराग के लिए, न निरोध के लिए,

---

१. चीन के धार्मिक नेता कनफ्युसियस ने भी अपने शिष्यों को अदृश्य वास्तविकता के संबंध में प्रश्न या विचार करने से रोक दिया था।

न उपशम के लिए।" अर्थात्, इन प्रश्नों के विवेचन में पड़ने से मनुष्य को कुछ भी प्राप्त होनेवाला नहीं है।

हमारा अनुमान यह है कि अगर किसी ने बुद्धदेव से यह पूछा होता कि "ईश्वर है या नहीं," तो वे कहते कि अगर ईश्वर है तब भी मनुष्य के अच्छे कर्मों का अच्छा फल और बुरे कर्मों का बुरा फल होगा, अगर ईश्वर नहीं है तब भी मनुष्य के अच्छे कर्मों का अच्छा फल और बुरे कर्मों का बुरा फल होगा। तब ईश्वर की बात कहाँ से आती है? बात तो सोचने लायक यह है कि अच्छे और बुरे कर्म क्या हैं।

जिन प्रश्नों को संसार के सभी धर्म मौलिक और महान् समझते आये हैं, तथागत ने उन्हें इस योग्य भी नहीं समझा कि उनके उत्तर दिये जायँ अथवा उनको लेकर थोड़ी देर भी माथापच्ची की जाय। उन्होंने ईश्वर का नाम नहीं लिया और न किसी देवता की भक्ति करने का उपदेश दिया, क्योंकि अदृश्य देवता को अपना भाग्यविधाता मान लेने से भी आदमी में शिथिलता आ सकती है, वह इस उम्मीद में अकर्म कर सकता है कि इससे जो पाप होगा वह देवता से माफ करवा लूंगा। उन्होंने प्रार्थना की भी प्रथा नहीं चलायी, क्योंकि जब कोई देवता ही मानने योग्य नहीं रहा, तब फिर प्रार्थना किसकी की जाय? और प्रार्थना में भी कमजोरी की एक खिड़की तो है ही। जो मनुष्य प्रार्थना करता है, वह अगर अकर्मण्य और असावधान हुआ तो देवता से वह ऐसी चीज भी माँग सकता है, जो देवता के वरदान से नहीं, मनुष्य के उद्यम से पैदा होती है।

हिन्दुत्व से समानता

बुद्धदेव ने हिन्दूधर्म के जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया। उनका भी निश्चित मत है कि जीवन दुःखी है और मनुष्य को यह दुःख भोगने के लिए बार-बार जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य का जन्म इसलिए होता है कि उसके भीतर वासनाएँ शेष हैं। इन वासनाओं के कारण मनुष्य नाना कर्मों में प्रवृत्त होता है और अपने कर्मों के अनुसार ही, मर कर उत्तम या अधम योनि में जन्म लेता है और फिर उन जन्मों में वह जैसा काम करता है, जैसा संस्कार अर्जित करता है, वे संस्कार उसे नया जन्म ग्रहण करने को विवश करते हैं। इस प्रकार, जन्म-मरण का प्रवाह लगातार चलता रहता है। इस जंजाल से निकलने का मार्ग भी बुद्ध ने वही रखा है जो हिन्दुओं के यहाँ प्रचलित था, अर्थात् मुक्ति या मोक्ष, जिसे बुद्धदेव निर्वाण कहते हैं। फर्क यह है कि हिन्दू जहाँ आत्मा को निर्मल, मुक्त, ब्रह्मस्वरूप एवं सभी अवस्थाओं में एकरस रहनेवाला और कूटस्थ मानते हैं, वहाँ बुद्धदेव का यह विचार है कि आत्मा कूटस्थ नहीं होती, वह भी शरीर के साथ बदलती रहती है, वह भी बूढ़ी, जवान, मलिन और निर्मल होती रहती है। कारण, शायद, यह है कि आत्मा को अगर पहले से ही निर्मल और कूटस्थ माना जाय, तो फिर मनुष्य को

जरूरत ही क्या रह जाती है कि वह ज्ञान-ध्यान और तपश्चर्या से निर्मलता प्राप्त करे ? निर्मल तो वह पहले से ही है। इसीलिए, बुद्धदेव ने माना कि आत्मा में वे सभी विकार हो सकते हैं जो शरीर में होते हैं। मनुष्य निर्मल है नहीं, निर्मल उसे बनना है। इसके सिवा, उन्होंने यह भी सोचा होगा कि अगर मैं यह कहता हूँ कि मनुष्य की आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, निर्मल और मुक्त है तो, संभव है, मनुष्य अपनी उन्नति करने के लिए प्रयास ही नहीं करे।

हिन्दुओं के समान ही, बुद्ध भी परलोक और देवयोनि को मानते हैं, लेकिन, यहाँ भी एक बात को लेकर फर्क है। वे और उनके शिष्य, जब-तब, यह तो कहते हैं कि देवयोनि मानव-योनि से पवित्र है, किन्तु, देवताओं को वे पूर्ण नहीं मानते, बल्कि, उनका यह विचार है कि अपने उद्धार के लिए देवताओं को भी मनुष्यों के समान सतत साधना और उद्योग करना चाहिए। बुद्ध के शिष्य बुद्ध को देवताओं का भी त्राता मानते हैं। देवता मनुष्यों के ही समान सीमित और अपूर्ण हैं, यह भाव बुद्ध के हृदय में आरम्भ से ही समाया हुआ था। जब वे संन्यास के लिए घर छोड़ रहे थे, तब अपने कंथक नामक घोड़े से उन्होंने कहा था, "तात ! तू एक रात आज मुझे तार दे, क्योंकि मैं देवताओं-समेत मनुष्यों को तारने-वाला हूँ।"

बुद्ध के देवता-विषयक इस भाव का बाद के हिन्दुत्व पर काफी प्रभाव पड़ा। तुलसीकृत रामायण में देवता या तो वाजे बजाते हैं या फूलों की वृष्टि करते हैं। ऐसे सारे भाव बुद्ध के साहस की देन हैं।

बुद्धदेव ने ज्ञान और भक्ति, इन दोनों को छोड़कर केवल कर्म को पकड़ा और जीवन भर वे उसी का उपदेश देते रहे। कर्म है भी बहुत बड़ी चीज। ज्ञानमार्ग एक तो कठिन मार्ग है, मन के ऊहापोह से भरा मार्ग है। उस पर भी, अगर ज्ञानी के कर्म वैसे ही नहीं रहे जैसे उसके विश्वास हैं, तो हम कहने लगते हैं कि यह ज्ञानी पतित हो गया, क्योंकि वह जो कहता, वह करता नहीं है। यहाँ भी हमें कर्म का ही अभाव अखरने लगता है। इसी प्रकार, जब भक्ति-मार्ग पर चलनेवाला मनुष्य किसी प्रकार के लोभ में आकर डगमगाने लगता है, तब भी हम कह उठते हैं कि देखो, यह ईश्वर का भक्त बनता है, लेकिन, कर्म इसके अधम कोटि के हैं। इसलिए, मानना पड़ेगा कि बुद्ध ने कर्म को बहुत सोच-समझकर अपना धर्म-मार्ग बनाया था। गाँधीजी और बुद्धदेव में जो समानता है वह सिर्फ इस कारण नहीं कि दोनों ही सुधारक, अहिंसा और मैत्री के पुजारी थे, बल्कि, मुख्यतः, इसलिए कि दोनों का विश्वास ज्ञान की अपेक्षा कर्म में अधिक था।

जब से संसार में वैज्ञानिकता का प्रवेश हुआ और आजवाली नई सभ्यता फैलने लगी, तब से बौद्ध मत पढ़े-लिखे लोगों के बीच काफी लोकप्रिय हो गया है। इसका कुछ कारण तो यह है कि पिछले युगों में धर्म के साथ मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों और मठों में जो

लोभ और दुराचार देखे गये, उससे लोग धर्म के प्रति उदासीन हो गये और अब वे धर्म में केवल आचार देखना चाहते हैं। लेकिन, इसका उससे भी प्रबल कारण यह है कि आज का मनुष्य, कभी तो सोच-समझ कर और कभी बिना सोचे-समझे ही, दिन-रात धर्म की आलोचना करने में सुख पाता है और बुद्धि से वह जो कुछ नहीं समझ पाता उसे मानने को वह तैयार नहीं है। विज्ञान ने मनुष्य में जो जिज्ञासा जगा दी है, उससे प्रेरित होकर वह हर चीज पर शंका की उँगली उठा रहा है। इस प्रकार, आज एक बार फिर वे प्रश्न जोरों से उठाये जा रहे हैं जिन्हें बुद्धदेव ने अव्याकृत कह कर बन्द कर दिया था। बुद्धिवाद जिस युग को धर्म के विषय में इस तरह शंकालु बनाये हुए हो, उस युग में बुद्ध का विवेकपूर्ण धर्म लोकप्रियता प्राप्त करे, तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

क्या बुद्ध नास्तिक थे ?

जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया है, बुद्ध नास्तिक इसलिए माने गये कि उन्होंने वेद की खुल कर निन्दा की। और वेदनिन्दक होते हुए भी हिन्दुओं ने उन्हें दशावतार में इसलिए गिन लिया कि उनका चरित्र सच्चे आस्तिक का चरित्र था तथा वे इस बात में निष्कपटता से विश्वास करते थे कि आत्मा का आवागमन होता है और इस आवागमन से छुटकारा पाकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। किन्तु, दो बातें हैं जिन्हें लेकर पश्चिम के विद्वानों ने यह दिखलाना चाहा है कि बुद्धदेव नास्तिक थे, क्योंकि प्रथम तो वे आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे, दूसरे यह कि उनके निर्वाण का अर्थ व्यक्ति का अन्तिम विनाश है। भारत और एशिया में भी कुछ ऐसे बौद्ध सन्त और विद्वान् हैं, जिनका विश्वास है कि बुद्धदेव ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया वह धर्म नास्तिक है, क्योंकि उसमें आत्मा नहीं, अनात्मा का सिद्धान्त माना जाता है।

असल में, आत्मा और निर्वाण भी 'अव्याकृत' के ही विषय माने जाने चाहिए, क्योंकि इनके सम्बन्ध में शंका-रहित ज्ञान बुद्धिवाद से प्राप्त नहीं किया जा सकता। अगर वह संभव होता तो पुनर्जन्म के विषय में हिन्दू-धर्म तथा बौद्ध धर्म से दुनिया के अन्य धर्मों का मतभेद नहीं होता। उपनिषदों ने आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, चेतन और नित्य माना है तथा उनका कहना है कि चूँकि कर्म के प्रभावों की धूल उसे चारों ओर से ढँके हुए है, इसलिए, हमें आत्मा का सम्यक् परिचय नहीं प्राप्त होता। आत्मा के ऊपर से इस धूल को हटाने का मार्ग साधना है और साधक जब कर्म के प्रभावों से ऊपर उठ जाता है तथा संसार के किसी भी कार्य या रूप में उसकी आसक्ति नहीं रह जाती, तभी वह आत्मज्ञान प्राप्त करता है। उपनिषदों के अनुसार मोक्ष का एकमात्र उपाय आत्मज्ञान है।

जहाँ तक मोक्ष के सिद्धान्त का सवाल है, बुद्धदेव का उपनिषदों से कोई मतभेद नहीं दीखता और मोक्ष के लिए जैसी साधना उपनिषदों ने निर्धारित की है, बहुत-कुछ वैसी

ही साधना बुद्ध-मार्ग में भी है। किन्तु, आत्मा को लेकर बुद्ध और उपनिषत्कारों में जो भेद है, उसे हम इस प्रकार से रख सकते हैं कि जहाँ उपनिषदें यह मानती हैं कि मोक्ष आत्म-ज्ञान से होता है, वहाँ बुद्धदेव का यह विचार है कि आत्मा का ज्ञान मोक्ष नहीं, जीव के बन्धन का कारण है। और वह इस प्रकार कि जबतक हम यह मानते चलेंगे कि आत्मा का अस्तित्व है, तबतक हम 'मैं और मेरा' के बन्धन से छूट नहीं सकते। अगर आत्मा है तो वह शरीर से भिन्न करके देखी नहीं जा सकती और उसे शरीर से एकाकार मानने पर हम शरीर के मोह में पड़ ही रहेंगे। इसी तर्क से प्रेरित होकर उन्होंने अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद का सिद्धान्त निकाल डाला जिसके अनुसार, आत्मा शरीर के ही समान नश्वर है। असल में, हमारे मन में स्मृतियों और संस्कारों का जो संकल्प है उसे ही बुद्धदेव आत्मा का पर्याय मानते हैं। अनेक जन्मों में हमने जो संस्कार अर्जित किये हैं, उन्हीं की सुगन्ध या दुर्गन्ध हमारी आत्मा है। अतएव, पुण्यात्मा की आत्मा पवित्र और पापी की आत्मा मलिन होती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार, मनुष्य के शरीर में या उसके भीतर कोई भी शाश्वत तत्त्व नहीं है। यह शरीर कुछ आधिभौतिक अणुओं और कुछ आध्यात्मिक या मानसिक अणुओं (स्मृति, चेतना, मानसिक कार्य, सन-सनाहट आदि) के योग से बना हुआ है जो सब-के-सब नाशवान् हैं। इस पर यह शंका की जाती है कि तब इस प्रकार के नश्वर मिश्रण में वह कौन पदार्थ है, जिसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है, जिसे एक जीवन में किये गए कार्यों के फल को दूसरे जीवन में भोगना पड़ता है। आत्मा नश्वर है, इस उपदेश पर तथागत के समय में भी एक शिष्य को शंका हुई थी और उसने पूछा था कि अगर आत्मा नश्वर है तो फिर पुनर्जन्म किस का होता है। इस प्रश्न का उत्तर तथागत ने यह कह कर दिया कि जब हम ताली बजाते हैं, तब दूर की कन्दरा में प्रतिध्वनि होती है। तो क्या हम यह कहें कि हमारे करतल कन्दरा में भी विद्यमान हैं? इसी प्रकार, आत्मा तो नष्ट हो जाती है, किन्तु, उसके संस्कार, प्रतिध्वनि के समान पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं।

आत्मा और निर्वाण

जो हिन्दू पुनर्जन्म के संस्कार में पला है, उसे तथागत की इस व्याख्या से तनिक भी आश्चर्य नहीं होता और वह यह समझ लेता है कि तथागत ने अपनी सुविधा के अनुसार एक खास तरह की भाषा का प्रयोग किया है। अन्यथा, आत्मा हिन्दुओं के यहाँ भी निराकार ही मानी जाती है और उसका एक शरीर से दूसरे शरीर तक गमन करना, असल में, हमारे संस्कारों की ही यात्रा के समान है। किन्तु, पश्चिम के अनेक दार्शनिक (पूसिन, हक्सले, फरकोहर, विल डूराण्ट, आदि) बुद्धदेव की इस व्याख्या को ग्रहण नहीं कर पाते और सीधे कह देते हैं कि बुद्ध ने आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं किया है अथवा यह कि अनात्मा का सिद्धान्त बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी कमजोरी है, क्योंकि अगर आत्मा का अस्तित्व ही नहीं

होता तो फिर पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करने की कोई खास जरूरत नहीं रह जाती है। डाक्टर फरकोहर का भी मत है कि बुद्धदेव पुनर्जन्म को तो मानते थे, किन्तु, आत्मा के अस्तित्व में उनका विश्वास नहीं था।

इसी प्रकार, बुद्ध की निर्वाण-विषयक कल्पना को लेकर भी पश्चिम के पंडितों में बड़ा विवाद है। उन्नीसवीं सदी के बहुत-से पाश्चात्य विद्वान् यह मान बैठे थे कि बुद्धदेव विनाशवादी हैं और जिसे उन्होंने निर्वाण कहा है, वह मानव-सत्ता की समाप्ति के सिवा और कुछ नहीं है। निर्वाण को लेकर पश्चिम के विद्वान् इतना क्यों घबराये, इसका कारण यह है कि सामी धर्मों में यह कहा गया है कि आदमी के मरने के बाद, उसकी रूह कब्र में पड़ी रहती है और जब न्याय का दिन आता है तब सभी रूहों को कब्रों से उठकर भगवान के दरबार में हाजिर होना पड़ता है, जब भगवान सबको उनके पाप-पुण्य के लेखा के अनु-सार, स्वर्ग या नरक भेजते हैं। यह भी कि भगवान गुनाहों को माफ भी करते हैं, बशर्ते कि रूहों ने मानव-जीवन-काल में भगवान की काफी भक्ति की हो। गुनाहों की माफी की बात में लोग आशावाद की दलील देखते हैं, क्योंकि बुरे-से-बुरे मनुष्य पर भी परमात्मा की कृपा हो सकती है। लेकिन, अगर यह मान लिया जाय कि निर्वाण का अर्थ मनुष्य के जीवन का सब प्रकार विनाश है तो इससे, सचमुच ही, मनुष्य के अन्तिम भाग्य के विषय में निराशा बढ़ती है यानी उसे मानना पड़ता है कि एक दिन उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा।

भारत में, सामान्यतः, यही माना जाता है कि बौद्ध दर्शन का निर्वाण, उपनिषदों में वर्णित निर्वाण से भिन्न चीज नहीं है। उपनिषदों में वर्णित मोक्ष वह अवस्था है जिसमें आत्मा परमात्मा से एकाकार हो जाती है, ठीक वैसे ही, जैसे घट का व्योम घट के टूट जाने जाने पर महाव्योम में समा जाता है। बुद्धदेव निर्वाण का अभिप्राय समझाने के लिए अग्नि और दीपक की उपमा दिया करते थे। उनसे बार-बार यह पूछा जाता था कि निर्वाण के बाद तथागत किस रूप में रहते हैं। प्रथम तो इस प्रश्न को बुद्धदेव अव्याकृत कह कर टाल देते थे, मगर, एक-दो बार उन्होंने कहा था कि "ईंधन के बिलकुल निःशेष हो जाने पर जैसे यह नहीं जाना जा सकता कि जो आग सामने प्रज्वलित थी, वह कहाँ चली गई, उसी प्रकार, कर्म-संस्कारों के समाप्त हो जाने पर यह नहीं जाना जा सकता कि जीव किस अव-स्था में कहाँ चला जाता है।"[1] जहाँ तक नश्वरता का प्रश्न है, बुद्धदेव ने बार-बार कहा है कि सन्त और महात्मा तथा स्वयं तथागत भी नश्वर परमाणुओं से बने हैं और जब वे

---

१. इस विषय को स्पष्ट करने के लिए अश्वघोष ने बुद्धचरित में दीपक का जो दृष्टांत दिया है वह इस प्रकार है :—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचिद् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।

मरते हैं, तब उनका कोई अंश शेष नहीं रह जाता।

निर्वाण के विषय में हिन्दुओं, बौद्धों और जैनों के यहाँ जो कल्पनाएँ की गयी हैं, उनकी तुलना से ऐसा लगता है कि जैनों की कल्पना बौद्ध कल्पना से कुछ अधिक सुखप्रद है। जैन का मोक्ष जीव का पूर्णरूप से निर्मल होकर परमात्मा की स्थिति को पहुँच जाना है जहाँ से फिर उसे लौटना नहीं पड़ता, यद्यपि, परमात्मा की स्थिति में पहुँचने से यह अनुमान निकलता है कि जीव किसी ऊँचे और सुखपूर्ण धरातल पर कायम रहता है। किन्तु, नि:शेष ईंधन की उपमा देकर बौद्ध दर्शन इस बात पर जोर डालता है कि निर्वाण का अर्थ जीव के अस्तित्व की सर्वविध समाप्ति है। उपनिषदों के जीव-ब्रह्म-मिलन में विरह के बाद संयोग का रूपक तो दीखता है, किन्तु, वह जैन की अपेक्षा बौद्ध निर्वाण के अधिक समीप है। यह भी सत्य है कि जैन कैवल्य की, उपनिषदें मोक्ष की और बौद्ध निर्वाण की एक समान प्रशंसा करते हैं। बौद्ध दर्शन भी मानता है कि निर्वाण की अवस्था अनिर्वचनीय सुख की अवस्था है, यद्यपि सुख का अनुभव कौन करता है अथवा कोई अनुभव करता भी है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। मिलिन्द-प्रश्न में एक प्रसंग में कहा गया है कि परिनिर्वाण के बाद बुद्ध इस अवस्था में नहीं रहते कि वे शिष्यों और भक्तों की पुकार सुन सकें अथवा उनके द्वारा अर्पित पत्र-पुष्प को स्वीकार कर सकें। इसलिए, मरे हुए महात्माओं की पूजा की परिपाटी मौलिक बौद्ध मत के विरुद्ध है।

असल में, हिन्दू-धर्म को समझे बिना बौद्ध मत की निर्वाण की कल्पना भी समझ में नहीं आ सकती। जब बुद्ध का आविर्भाव हुआ, उसके पूर्व ही, इस देश में यह धारणा बद्धमूल हो चुकी थी कि मोक्ष-प्राप्ति मनुष्य का उच्चतम ध्येय है और यह मोक्ष एक ऐसे शाश्वत व्यक्तित्व की उपलब्धि में है जिसमें फिर और जन्म लेने तथा मरने की संभावनाएं शेष नहीं रह जातीं। महावीर और बुद्ध, दोनों ही, उपनिषदों के इस अनुसंधान के प्रभाव में थे और दोनों ने अपनी-अपनी भाषा में वही बात कही है जो उपनिषदों में कही जा रही थी।

कदाचित्, सच्ची बात यह है कि बुद्धदेव का निर्वाण विनाश की स्थिति नहीं होकर आत्मा के उसी विमल उल्लास की अवस्था है जिस पर वेदान्त की इतनी भक्ति है। हक्सले, फरकोहर और पूसिन तो यह जरूर मानते हैं कि निर्वाण विनाश (Annihilation) की स्थिति है, किन्तु, भारतीय विद्वानों का उनसे मतभेद है। डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी

एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
(अश्वघोष ; बुद्धचरित)

का मत है कि "निर्वाण मृत्यु भी है और जीवन की पूर्णता भी। किन्तु, यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे हम स्थानविशेष या कालविशेष में देख सकें। बुद्धदेव ने निर्वाण के लिए जो साधन बताये हैं, वे निर्वाण तक जाने के सोपान नहीं हैं, बल्कि, उनसे सिर्फ वे बाधाएँ दूर होती हैं जिनके कारण हमें निर्वाण का अनुभव नहीं हो पाता। यह बात वैसी ही है जैसे अंधेरे में चिराग के आ जाने से देखने की बाधा दूर हो जाती है।" डाक्टर राधाकृष्णन का कहना है कि "निर्वाण विनाश का पर्याय है, इसका समर्थन हमें बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता। बौद्ध ग्रन्थ हमें जिस निर्वाण की अवस्था का वर्णन सुनाते हैं वह मृत्यु या विनाश की अवस्था नहीं है, बल्कि, वह अवस्था है जो नैतिक आचरणों की पूर्णता से प्राप्त होती है, जो पवित्र धार्मिक जीवन की साधना का परिणाम है। निर्वाण वासनाओं से छुटकारे का नाम है। निर्वाण वह उज्ज्वल शान्ति है जिसका कभी भंग नहीं होता।"

डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी का यह भी कहना है कि "सारे बौद्ध साहित्य में कहीं भी यह उल्लेख नहीं मिलता कि आत्मा नहीं है अथवा जो शरीर रोगी, वृद्ध या मृत बन जाता है उससे अलग मनुष्य में कोई शक्ति नहीं होती। बौद्ध धर्म के अनात्म शब्द से यह निष्कर्ष निकालना कि आत्मा नहीं है, ठीक वैसी ही बात होगी जैसे 'ईश्वर के विषय में कोई भी सच्ची बात नहीं कही जा सकती' इस उक्ति से यह निष्कर्ष निकालना कि ईश्वर है ही नहीं।"

राहुल जी ने इस विषय की व्याख्या करते हुए लिखा है कि बुद्ध के समय में आत्मा के स्वरूप के विषय में दो मत प्रचलित थे। एक तो यह कि आत्मा शरीर में बसने वाली, पर, उससे भिन्न एक शक्ति है जिसके रहने से शरीर जीवित रहता है और जिसके चले जाने से वह शव हो जाता है। दूसरा मत यह था कि आत्मा शरीर से भिन्न कोई कूटस्थ वस्तु नहीं है। शरीर में ही रसों के योग से आत्मा नामक शक्ति पैदा होती है जो शरीर को जीवित रखती है। रसों में कमी-बेशी होने से इस शक्ति का लोप हो जाता है जिससे शरीर जीवित नहीं रह पाता। बुद्धदेव ने अन्यत्र की भाँति यहाँ भी बीच की राह पकड़ी और यह कहा कि आत्मा तो सनातन और कूटस्थ है, न वह शरीर के रसों पर ही बिलकुल अवलंबित रहती है और न वह शरीर से बिलकुल भिन्न है। वह, असल में, स्कन्धों [भूत (Matter) और मन (Mind)] के योग से उत्पन्न एक शक्ति है जो अन्य बाह्यभूतों की भाँति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन होती रहती है। हमारे सामने जो नदी बहती है उसका जल हमें बराबर एक-सा दिखलाई पड़ता है, किन्तु, सत्य यह है कि जल बराबर आगे निकलता जा रहा है और उसकी जगह पर नया जल आता जा है। नदी के प्रवाह के समान ही, हमारे भीतर आत्मा या चित्त का भी प्रवाह है जिसके जारी रहने से शरीर सजीव कहा जाता है। लेकिन, शरीर के विनाश के साथ ही, चित्त प्रवाह का

विनाश नहीं होता। वह संस्कारों का बोझ लिये हुए एक नये शरीर में प्रवेश करता है। एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने के बीच वाले अवकाश में यह चित्त-प्रवाह कहाँ रहता है अथवा उसका नया जन्म कैसे होता है, इस विषय में बुद्धदेव मौन थे। बुद्ध के इसी मौन से लाभ उठाकर उनके दो सौ वर्ष बाद के पंडितों ने आत्मा और निर्वाण की व्याख्या में ऐसी-ऐसी बातें कह दीं जिनका वेदान्त से विरोध हो गया।

हिन्दुत्व का बौद्धीकरण

बौद्ध मत पर लिखते हुए पूसिन (De la valle Poussin) ने एक विलक्षण बात कही है जिससे हिन्दुत्व और बौद्ध मत का संबंध बहुत खुल कर सामने आता है। उन्होंने कहा है कि भारत के लिए बौद्ध मत कोई नवीन धर्म नहीं, प्रत्युत, हिन्दुत्व का ही बौद्धीकरण मात्र था। और यह भी ठीक है, क्योंकि बौद्ध भावनाएँ, बौद्ध संस्थाएँ और बौद्ध विचार सचमुच ही, हिन्दू-भावनाओं, हिन्दू-संस्थाओं और हिन्दू-विचारों के बौद्धीकृत रूप मालूम होते हैं। आवागमन और पुनर्जन्म तथा कर्मफलवाद के वे ही सिद्धान्त जो हिन्दुत्व में थे, नई शब्दावली में बौद्ध धर्म में भी मिलते हैं। वल्कि, हिन्दुओं के यहाँ ईश्वर की जो कल्पना त्राता या रक्षक के रूप में चल रही थी, उसने भी बौद्ध मत की महायान-शाखा में अपने लिए स्थान बना लिया। महायान-शाखा में भक्ति का जो पुट है उससे भी यह अनुमान निकलता है कि हिन्दुत्व का विकास जिन-जिन दिशाओं में हो रहा था, उन-उन दिशाओं में बौद्ध धर्म के भी कदम पड़ रहे थे और वह समकालीन हिन्दुत्व के प्रत्येक रूप का एक बौद्ध रूप प्रस्तुत करता जा रहा था। बौद्ध मत का बुद्धिवाद (यज्ञ, अनुष्ठान, अन्धविश्वास आदि का विरोध), उसकी नास्तिकता, उसकी ऊँची नैतिकता, उसका निराशावाद, उसकी जात-पाँत-विरोधी भावना, उसकी विनम्रता और मानवीयता, इन अनेक गुणों में से कोई भी गुण ऐसा नहीं है जो सर्वथा बौद्ध मत का आविष्कार कहा जा सके। इन सबका कुछ-न-कुछ रूप हिन्दुत्व में पहले भी विकसित हो चुका था। बुद्धदेव ने आकर इन गुणों पर खास तौर से, जोर डाला तथा हिन्दुत्व के उस काल में अधिक प्रचलित रूप के विरुद्ध इन मूल्यों का मान बढ़ा दिया। अतएव, वे हिन्दुत्व की परंपरा के शोधक थे, उसके संहारक नहीं।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि जो लोग मुन्डी बन जाते थे, बौद्ध धर्म का उजागर रूप उन्हीं में दिखलाई पड़ता था। पहले तो गृहस्थ बौद्ध बने ही नहीं, क्योंकि जनता का यह विश्वास था कि बौद्ध धर्म, प्रधानतः, उनके लिए है जो घर-बार छोड़कर संन्यास ले सकते हैं। किन्तु, पीछे जब गृहस्थ भी दीक्षा लेने लगे, तब भी बाकी बातों में वे हिन्दू ही रहे; क्योंकि विवाह और श्राद्ध, उपनयन और चूड़ाकरण-संस्कार, इन सबके बारे में बौद्ध मत ने गृहस्थों के लिए कोई नई व्यवस्था नहीं दी थी।

आगे चल कर बौद्ध धर्म से ब्राह्मणों का जो द्वेष आरम्भ हुआ, वह इस कारण नहीं कि बौद्ध मत कोई नवीन दर्शन लेकर आया था जो हिन्दुओं के दर्शन के विरुद्ध पड़ता था, बल्कि, इस कारण कि बौद्ध धर्म जाति-प्रथा को तोड़कर मनुष्यमात्र को समान बनाना चाहता था और समाज में जातिगत एकता के फैलने से ब्राह्मणों का श्रेष्ठ पद खतरे में पड़ता था। ब्राह्मणों ने बौद्धों को वेदनिन्दक कह कर भी चिढ़ाया है, मगर, यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि वेदनिन्दक होना बौद्धों का कोई बड़ा कसूर नहीं था। उनका वास्तविक अपराध यह था कि उन्होंने यज्ञों का विरोध किया जिससे ब्राह्मणों की रोजी चलती थी तथा उन्होंने लोगों को यह भी बतलाया कि जन्म से सभी मनुष्य समान हैं और श्रेष्ठता सबको कर्म से मिलती है। अतएव, ब्राह्मण-वंश में भी जन्मा हुआ अपकर्मी मनुष्य निन्दा का पात्र है तथा चांडाल-वंश में जन्मा हुआ मनुष्य अगर सत्कर्म करता है तो उसकी पूजा होनी चाहिए।

इस भेद के सिवा, ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों में कोई और बड़ा भेद नहीं मिलता। जैसे वेदान्त अथवा अन्य हिन्दू-दर्शनों ने संसार (जन्म-मरण की सरणि) का कारण अविद्या को माना है, वैसे ही, बुद्ध देव भी अविद्या को संसार का कारण मानते हैं। जैसे वेदान्त का कहना है कि काम (किसी भी प्रकार की इच्छा या वासना) सभी दुःखों का मूल है, वैसे ही बुद्ध देव भी सभी दुःखों का मूल काम या तृष्णा को मानते हैं। काम की प्रचण्डता का उल्लेख, वेद और उपनिषद्, दोनों में मिलता है तथा दोनों में उसकी तुलना अग्नि से की गई है, क्योंकि अग्नि का यह स्वभाव है कि उसमें जितना ही ईंधन डाला जाय, वह उतना ही अधिक प्रज्वलित होती है। कठोपनिषद् का कहना है कि जिस मनुष्य के हृदय का काम शमित हो जाता है, वह इसी जीवन में ब्रह्म बन जाता है। बुद्ध देव ने जब यह कहा कि सभी वेदनाओं का मूल काम है, तब वे, वस्तुतः, वेद, उपनिषद् और गीता के इसी मत को दुहरा रहे थे। निर्वाण को समझाने के लिए बुद्धदेव ने 'ईन्धन का शेष होना', 'आग का बुझ जाना', आदि रूपकों का जो प्रयोग किया है, उसके पीछे भी उपनिषदों की काम-व्याख्या में दिये गये अग्निवाले उदाहरण का प्रत्यक्ष प्रभाव है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बुद्धदेव के जीवन में सबसे बड़ी घटना उनपर मार की चढ़ाई थी और मार को जीत कर ही उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया था। मार को जीतने के भीतर, वास्तव में, काम पर ही विजय पाने की बात समझायी गयी है। और जैसे काम को जीतने वाला व्यक्ति हिन्दुत्व में जीवन-मुक्त कहलाता था, वैसे ही, मार को जीत कर गौतम ने बुद्धत्व का दावा किया।

वेदों के कर्म-मार्ग पर उपनिषदों के ज्ञान-मार्ग की प्रतिष्ठा बुद्ध के आविर्भाव के पहले ही हो चुकी थी। वेदों का कर्म-मार्ग सांसारिक भोगों को बढ़ावा देता था और चूंकि

औसत आदमी भोग चाहता है, इसलिए, वैदिक धर्म का समाज में काफी प्रचलन रहा। किन्तु, ज्ञान-मार्ग के उपदेशों को सुनकर धीरे-धीरे लोग भोग को नश्वर समझने लगे और सच्चे आनन्द की खोज में अपने भीतर डुबकी लगाने लगे। यही ध्यान या समाधि की प्रवृत्ति का आरम्भ था और आगे चलकर इसी प्रवृत्ति से योग की क्रियाओं का विकास हुआ। इन्द्रियों का निग्रह करने के लिए, योग-क्रियाओं का अवलम्ब लोग बुद्ध से पूर्व ही लेने लगे थे और यह धारणा भी भली भाँति बँध चुकी थी कि आध्यात्मिक विकास के लिए किसी हदतक ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। असल में, ब्रह्मचर्य अतितप और अतिभोग के बीचवाली साधना का पर्याय था, अतएव, धर्म के इस अंग का बौद्ध मत में भी बहुत ऊँचा स्थान हुआ। यह भी ध्यान देने की बात है कि बुद्ध ने, यद्यपि, यह नहीं कहा कि ईश्वर है या नहीं, फिर भी, उन्होंने ध्यान और समाधि को साधकों के लिए आवश्यक बताया, बल्कि, समाधि में गये बिना किसी भी साधक की प्रगति नहीं हो सकती थी। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब ईश्वर ही नहीं है तब हम ध्यान किसका करें। इसका उत्तर, कदाचित्, यह कह कर दिया जा सकता है कि बुद्धदेव मनमें किसी की मूर्ति को लेकर ध्यान करना नहीं सिखाते थे, बल्कि, उनका भाव यह था कि ध्यान इसलिए आवश्यक है कि उससे मनुष्य अपनी इन्द्रियों का निग्रह सीखता है, अपने मन पर नियन्त्रण रखने की शक्ति पाता है और अपने भीतर डूब कर अपने पूर्वजन्मों की स्मृति तक पहुँच सकता है। ध्यान और समाधि को बौद्ध मत ने बहुत अधिक महत्त्व दिया तथा योग-मार्ग के विकास में भी कितने ही प्रयोग बौद्ध साधुओं ने ही किये।

बुद्ध का व्यक्तित्व

इस देश में वेद और ब्राह्मण की अवज्ञा करके तथा ईश्वर है या नहीं, इस विचिकित्सा से अपने को अलग रख कर भी बुद्धदेव हिन्दुओं के दशावतार में गिने गये, केवल इतनी-सी बात भी यह दिखाने को यथेष्ट है कि उनका व्यक्तित्व अनुपम रहा होगा तथा वे साधुता के जीते-जागते प्रतीक रहे होंगे। और सच पूछिये तो वेद और ब्राह्मण की निन्दा करना उनका कोई प्रमुख लक्ष्य नहीं था। यह चीज तो बाद को प्रमुख हुई जब ब्राह्मण और बौद्ध आपस में द्वेषी हो गये। स्वयं बुद्धदेव निन्दा के लिए किसी की निन्दा करते रहे हों, यह मानने की बात नहीं है। वे दया और मैत्री के आगार थे। उनके उपदेशों के जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनसे मालूम होता है कि तथागत संकल्प के पक्के, विचारों में अडिग तथा वाणी और आचरण में अत्यन्त कोमल और विनम्र थे। उन्होंने यह दावा तो किया कि उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई है, मगर, यह नहीं कहा कि उन्हें किसी अदृश्य शक्ति ने प्रेरित किया है। वाद-विवाद में भी, वे अत्यन्त धीर, सहनशील और उदार थे। लाव-जी और ईसामसीह की तरह, वे भी बुराई के बदले भलाई

और घृणा के बदले प्रेम करने का उपदेश देते थे। कलंक, कुत्सा, निन्दा और विरोध का सामना उन्हें भी करना पड़ा था, किन्तु, इन विरोधों के मुकाबले भी, वे सदैव अहिंसक और धीर बने रहे। "अगर कोई व्यक्ति अज्ञानता के कारण मेरी निन्दा करता है तो भी मैं उसे अपने प्रेम की छाया अवश्य दूँगा और वह जितनी ही बुराई करेगा, मैं उतनी ही उसकी भलाई करता जाऊँगा।" एक बार किसी मूर्ख ने तथागत को गाली दी। तथागत ने पूछा, "तात ! अगर कोई कुछ दान दे और लेनेवाला उसे लेने से इन्कार कर दे तो वह दान किसका होगा ?" गाली देनेवाले ने कहा, "क्यों ? उसका जो दान दे रहा है।" भगवान बोले, "तो तात ! अभी जो तुमने मुझे गाली दी है उसे मैं ग्रहण करना अस्वीकार करता हूँ। इसलिए, तुम उसे अपने ही पास रख लो।" संसार के अन्य अनेक महात्माओं के विपरीत, तथागत के स्वभाव में विनोद-प्रियता भी थी।

वे संसार के, शायद, एक ही महात्मा हुए हैं जिनमें दुराग्रह का बिलकुल अभाव था और जो अपने व्यक्तित्व के जोर से अपना धर्म चलाना नहीं चाहते थे। अपने शिष्यों से उन्होंने बार-बार यह कहा है कि मेरी बातों को सिर्फ इसलिए, मत मानो कि वे मेरे मुख से निकली हैं, बल्कि, इसलिए, कि उन्हें तुम्हारी अपनी बुद्धि उचित समझती है। उपनिषत्काल में भारतवासियों का स्वाधीन चिन्तन जहाँ तक पहुँचा था, उसे उन्होंने वहीं से उठाया और बढ़ा कर वे उसे काफी दूर ले गये। स्वाधीन चिन्तन और बुद्धिवाद के तो वे अद्भुत प्रेमी थे। उन्होंने एक ऐसे युग में बुद्धिवाद की मशाल जलायी जब भारत से बाहर तो क्या, भारत में भी यह कार्य जनरुचि के विरुद्ध था। नेता और ग्रन्थ, इन दोनों से भिन्न, उन्होंने एक स्वतन्त्र राह पकड़ी और सत्य की खोज उन्होंने उस रास्ते से शुरू की जो विवेक और बुद्धि की राह है। वे व्यावहारिक गुरु थे तथा ऐसे अनुमानों के फेरे में वे कभी भी नहीं पड़े जो बुद्धिगम्य नहीं हों अथवा जीवन के लिए जिनका कोई उपयोग नहीं हो। जो शब्द में नहीं आ सकता, उसकी चर्चा छोड़ दो; जो बुद्धि से पकड़ा नहीं जा सकता, उसका पीछा करना व्यर्थ है, यह उनके दृष्टिकोण का निचोड़ है। धर्म का ऐसा व्यावहारिक नेता मनुष्य को सौभाग्य से ही मिलता है।

विख्यात बात है कि बुद्धदेव मध्यममार्गी थे। मृगदाव में उन्होंने जो प्रथम उपदेश दिया, उसमें अपने शिष्यों से उन्होंने कहा कि दोनों छोरों को छोड़कर बीच से चलो। विषय-वासना में लिप्त होना निन्द्य है, किन्तु, उससे भी अधिक निन्द्य है कृच्छ्र साधनों के द्वारा शरीर को सुखा डालना। भोग में योग निभाने की जो परंपरा जनक ने चलायी थी तथा निष्काम कर्म के रूप में गीता ने जिस धर्म का उपदेश दिया, मध्यममार्ग बहुत कुछ उसी धर्म का आख्यान था।

जब से संसार में बुद्धिवाद का जोर बढ़ा, बौद्ध धर्म भारत से बाहर और भारत में

भी, काफी लोकप्रिय हो उठा है। किन्तु, इस लोकप्रियता का कारण यह नहीं है कि आज का मनुष्य धर्म की राह पर आने को बेचैन है और तथागत के धर्म में उसे आत्मा की शान्ति का मार्ग दिखायी पड़ता है, बल्कि, यह कि वह धर्म के प्राचीन संस्कारों से ऊपर उठना चाहता है और अन्धविश्वास के खिलाफ उसका भी संघर्ष जारी है। आज के मनुष्य की श्रद्धा सन्त और महात्मा बुद्धदेव पर नहीं, बल्कि, विद्रोही और बुद्धिवादी बुद्धदेव पर है। नवीन मनुष्य को जो शंकाएँ झकझोर रही हैं, वे शंकाएँ भगवान बुद्ध के सामने भी आयी थीं, इसीलिए, आज का मनुष्य धर्म के अन्य नेताओं की अपेक्षा भगवान बुद्ध की ओर कुछ अधिक उत्साह से देखता है। डाक्टर राधाकृष्णन ने एक जगह लिखा है कि "शंका, सन्देह और नास्तिकता से भरे हुए कितने ही साहित्य में बुद्धदेव का नाम आदर से लिया गया है। जो मानवतावादी हैं वे बुद्धदेव का आदर यह समझ कर करते हैं कि वे मानवतावाद के प्राचीनतम प्रवर्तकों में से हैं। जो लोग यह मानते हैं कि जीवन के अन्तिम सत्य को (इस बात को कि सृष्टि कहाँ से निकली है तथा मरने के बाद मनुष्य का क्या होता है) मनुष्य नहीं जान सकता, वे भी बुद्धदेव की दुहाई देते हैं और जिनका यह विश्वास है कि अन्तिम सत्य नाम की कोई चीज ही नहीं है, वे भी उन्हीं का नाम लेते हैं। बौद्धिक शंकाओं से भरा हुआ पंडित, समाजवादी आदर्शों का प्रेमी नौजवान, नैतिक ऊहापोह में उलझा हुआ प्राणी और बुद्धिवाद की रोशनी में चलने का दावा करनेवाल पैगम्बर, ये सब-के-सब समय-समय पर बुद्धदेव का नाम लेते हैं और, जगह-जगह, अपनी बात को ऊपर करने के लिए उनके वचनों का उदाहरण देते हैं।" असल में, नास्तिकता को ओर जिसका भी थोड़ा झुकाव है या जो भी मनुष्य समाज में समता लाने की दिशा में प्रयास कर रहा है, उसे बुद्धदेव अपने से कुछ करीब जान पड़ते हैं।

सन् १९३८ ई. में मिस हार्नर नाम की एक लेखिका ने अपनी पुस्तक 'बुक आव डिसिप्लिन' में यह प्रमाणित किया था कि बौद्ध धर्म के मौलिक रूप का अध्ययन अभी अपने बचपन में है। तब से लेकर आजतक भी प्रगति में कोई खास तेजी नहीं आई है। मगर, तब भी जितनी बातें संसार के सामने आ चुकी हैं, उन्हें देखते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि संसार के सभी धार्मिक नेताओं में से केवल बुद्धदेव ही ऐसे हैं जिन्होंने अत्यन्त प्राचीन काल में भी बुद्धिवाद पर मनुष्य की आस्था जमाने का प्रयास किया, मन को भरमानेवाली दार्शनिक कल्पनाओं को व्यर्थ ठहराया और ईश्वर-हीन धर्म की स्थापना करके मनुष्य को यह संदेश दिया कि जो बातें बुद्धि में नहीं आतीं, उन्हें मानने से इनकार करके भी हम धार्मिक बने रह सकते हैं।

कर्म की महत्ता

बौद्ध धर्म एक ओर जहाँ निवृत्तिमार्गी है और यह शिक्षा देता है कि जन्म और जीवन

ये सुख नहीं, दुःख के कारण हैं, वहाँ दूसरी ओर, वह कर्म-मार्ग में भी पूरे जोर से विश्वास करता है और उसके उपदेशों का निचोड़ यह है कि मनुष्य की मुक्ति ज्ञान के कथन से नहीं, बल्कि, आचार और कर्तव्य के पालन से होती है। बुद्धदेव मनुष्य से यह कहना चहते थे कि अपने जीवन को बनाने और बिगाड़ने का सारा अधिकार तुम्हारे ही पास है और तुम्हें यह समझकर काम करना चाहिए कि तुम्हारा सहायक कोई और नहीं हो सकता। आरंभिक बौद्ध धर्म में ऐसे किसी भी ईश्वर या देवता का स्थान नहीं है जो मनुष्यों की सहायता कर सकता हो। बुद्ध अपने अनुयायियों को देवताओं की अधीनता से बचाना चाहते थे, क्योंकि उन्हें आशंका थी कि देवताओं का भरोसा करने से मनुष्य के आचार-पक्ष में ढिलाई घुस सकती है। देवताओं के अस्तित्व में विश्वास तो उनका भी था, किन्तु, वे मानते थे कि देवता भी मनुष्य के ही समान दुःखी और विषण्ण हैं तथा उन्हें भी धर्म-पालन की आवश्यकता है।

वैदिक युग का कर्मकाण्ड उपनिषदों के काल में आकर निन्दित हो गया, किन्तु, उपनिषदों ने ज्ञान का जो बड़ा अम्बार खड़ा किया, सामान्य मनुष्य की बुद्धि उससे भी घबराने लगी। अतएव, बुद्धदेव ने औपनिषदिक ज्ञान के भीतर कर्म की रीढ़ डाल दी। ऐसा लगता है कि उपनिषदों के ज्ञान का उन्होंने उतना ही अंश लिया जितने अंश के ग्रहण करने से कर्मनिष्ठा पर आँच नहीं आती थी। आत्मा को नित्य,चेतन और ब्रह्मस्वरूप मानने से मनुष्य में मिथ्या अहंकार भी प्रवेश कर सकता है और वह कर्म-विमुख भी हो सकता है। अतएव, बुद्ध ने आत्मा को एकरस और सनातन मानने से इन्कार कर दिया। उनका जोर धर्म के दर्शन नहीं, व्यवहार-पक्ष पर पड़ा। मनुष्य निष्पाप नहीं है, उसे निष्पाप बनना है। मनुष्य ब्रह्म की कोटि मे नहीं है, उस कोटि में उसे पहुँचाना है। मनुष्य जिस विमल रूप में प्रकट होना चाहता है, वह रूप उसे तभी मिल सकता है जब उसके विचार विमल हों, वाणी विमल हो और कर्तव्य विमल हों। आत्मा सनातन और अपरिवर्तनशील नहीं है, यह बात बुद्धदेव ने किसी झोंक में आकर नहीं कही थी, बल्कि, ऐसा कहे बिना उनका काम ही नहीं चल सकता था। उन्होंने यह देख लिया था कि धर्म के दर्शनपक्ष के ऊहापोहों में पड़ने से मनुष्य की बहुत-सी शक्ति यों ही विनष्ट हो जाती है। असल में, धर्म से हमें जो वरदान मिलते हैं, वे उसके आचार-पक्ष की ही देन हैं।

बौद्ध धर्म की सीमाएँ

लेकिन, जो चीज बौद्ध धर्म की असली ताकत थी, उसी से उसकी बीमारी भी पैदा हुई। अपने जानते बुद्धदेव ने बुद्धिमानी की कि उन विषयों को अव्याकृत कह कर अनकहे ही छोड़ दिया, जिसका निदान और समाधान बुद्धि की शक्ति के बाहर की बात है। मगर, आदमी है कि दर्शनों के बिना जी नहीं सकता। जो विषय हमारी बुद्धि की थाह में नहीं

आते उनको भी थाहते रहने में हमें एक तरह का सुख मिलता है। अतएव, बुद्धदेव के देहान्त के बाद, उनके संप्रदाय में जो बड़े-बड़े पंडित और चिंतक आये, उन्होंने उस धरातल पर कदम रखना शुरु कर दिया जिस पर चलने से तथागत ने सबको रोक रखा था। नतीजा यह हुआ कि अनेक प्रकार के दर्शन और चिन्तन (बुद्ध के मरने पर) उनके अथवा उनके धर्म के नाम पर बाँध दिये गये। अगर बुद्धदेव ने अव्याकृत विषयों पर अपनी कोई निश्चित राय दे दी होती तो आगे चलकर बौद्ध धर्म में इतने अधिक परस्पर-विरोधी दर्शन उत्पन्न नहीं होते।

दूसरी बात यह कि भक्ति और प्रार्थना के अवलम्ब के बिना मनुष्य निस्सहाय हो जाता है। बुद्धदेव ने मनुष्य की आत्मनिर्भरता और स्वावलंबन को बचाये रखने के लिए उसे किसी की भी भक्ति नहीं सिखलायी थी, यहाँ तक कि मरते दम तक भी अपने शिष्यों से वे यही कहते रहे कि "तुम्हें अपने विवेक के प्रकाश में चलना है। मेरे वचनों का भी प्रमाण तुम्हें तभी तक मानना चाहिए जबतक तुम्हें उनसे संतोष मिलता हो।" एक बार उन्होंने यह भी कहा था कि "जो आदमी मुझे सर्वज्ञ कहता है, वह मेरे बारे में यथार्थ बोलनेवाला नहीं है।" किन्तु, इतना होते हुए भी उनके मरने के बाद, जब बौद्ध धर्म की महायान-शाखा का जन्म हुआ, बौद्ध जनता ईश्वर के स्थान पर अपने गुरु की ही पूजा करने लगी, उन्हीं की भक्ति और उन्हीं की प्रार्थना उसका मुख्य धर्म बन गया। एक शब्द में, बुद्धदेव ने ईश्वर को जनता से दूर रखना चाहा था, लेकिन, कालक्रम में, वे खुद ईश्वर हो गये।

बौद्ध धर्म से समाज की तीसरी कु-सेवा यह हुई कि लोग घरबार छोड़कर संन्यासी होने लगे और सारा देश मठों एवं विहारों से भर गया। संन्यास की प्रवृत्ति उपनिषत्काल में ही चल पड़ी थी। किन्तु, ब्राह्मण-धर्म में यह विशेषता थी कि संन्यास के पहले लोग छात्र-जीवन और गार्हस्थ्य जीवन का स्वाद पूरा कर लेते थे और तब वानप्रस्थ-अवस्था में प्रवेश करके संन्यास की तैयारी करते थे। इस तरह, संन्यासी अधिकतर वे ही लोग होते थे, जो समाज का दायित्व पूरा कर चुके थे और जिन्हें अब हाथ-पाँव हिलाये बिना भोजन और वस्त्र पाने का अधिकार था। ये बूढ़े लोग अगर घर में रहते तब भी खेती-बारी या वाणिज्य का काम तेजी से नहीं कर सकते थे। अतएव, अगर वे संन्यासी हो जाते तो उससे समाज की कोई नुकसानी नहीं होती थी। लेकिन, बुद्धदेव ने यह प्रथा चला दी कि बालक, बूढ़ा नौजवान, जो जब चाहे, तभी संन्यास ले सकता है। नतीजा यह हुआ कि हड्डी-काठवाले अच्छे-अच्छे लोग जो खेतों में काम कर सकते थे अथवा किसी दूसरी जगह पर डट कर समाज की ठोस सेवा कर सकते थे, गेरुआ पहन कर भिक्षु बन कर डोलने लगे। देश में मठों की परिपाटी बौद्ध भिक्षुसंघों और विहारों से ही शुरू हुई।

एक बात और है जो बौद्ध धर्म से निकली हुई मालूम होती है। बौद्ध धर्म से पहले, हमारे देश में स्त्रियों का भिक्षुणी होना, उनका मर्द साधुओं के साथ मठों में वास करना अथवा एक जगह से दूसरी जगह मारी-मारी फिरना प्रचलित नहीं था। बुद्धदेव भी, आरम्भ में, इसके लिए तैयार नहीं थे कि स्त्रियाँ संघ में दाखिल की जायँ। किन्तु, उनके परम प्रिय शिष्य आनन्द स्त्रियों के त्राता और बड़े उद्धारक थे। उन्होंने आग्रह-पूर्वक बुद्धदेव से इस इस बात की मंजूरी ले ली। फिर क्या था? विहारों और संघों में झुंड-की-झुंड स्त्रियाँ माथा मुंड़ा कर दाखिल होने लगीं। आनन्द को हम दोष नहीं दे सकते। ब्राह्मण-धर्म तो यह कभी नहीं कहता कि मोक्ष सिर्फ उसके लिए है जो संन्यासी हो जायगा। हिन्दुओं के यहाँ जनक-जैसे महात्मा हुए हैं, जो गृहस्थ होकर भी ज्ञानी थे और ऐसे ज्ञानी थे कि मुनि और ऋषि-गण भी वन से चलकर उनके पास नगर में आकर अपनी शंकाएँ मिटाते थे। हमारे यहाँ गृहस्थ-धर्म निन्दित नहीं, प्रशंसित रहा है। लेकिन, बुद्धदेव ने कहा कि निर्वाण का अधिकारी वही होगा जो गार्हस्थ्य-धर्म का त्याग करके भिक्षु हो जायगा। निर्वाण अन्य लोग भी प्राप्त करेंगे, मगर, उन्हें जरा समय अधिक लगेगा। केवल बौद्ध ही नहीं, जैन धर्म का भी यही विश्वास था कि मोक्ष संन्यास के बाद ही मिल सकता है। यही कारण है कि श्वेताम्बर पन्थ में तो नारियाँ भिक्षुणी हो सकती थीं, किन्तु, दिगम्बर पन्थ वालों ने साफ घोषणा कर दी थी कि मुक्ति नारियों के लिए नहीं है। नारियों को चाहिए कि वे सीमित धर्म का पालन करें जिससे वे पुरुष हो कर पुनर्जन्म ग्रहण कर सकें, क्योंकि मोक्षलाभ के समीप आने पर उन्हें पुरुष होकर जन्म लेना ही पड़ेगा। असल बात यह है कि दिगम्बर-पन्थ में भिक्षुणी को नंगी रहना पड़ता, इस बात को दिगम्बर साधु भी अनुचित समझते थे। किन्तु, मुक्ति संन्यास से ही मिलती है, यह उपदेश बड़ा ही प्रबल था। भला, इस उपदेश के बाद, कौन ऐसी स्त्री होगी जो भिक्षुणी बन जाने को आकुल नहीं हो उठेगी? स्त्रियाँ, स्वभाव से ही, अधिक भावुक और धार्मिक होती हैं। उनका उलाहना सुनते-सुनते आनन्द का वीर हृदय घबरा उठा और उन्होंने शास्ता से उचित अनुज्ञा ले ली। किन्तु, बुद्ध के जीवन में ही इस नीति के दुष्परिणाम दिखायी पड़े और भगवान ने एक दिन आनन्द से कहा कि "आनन्द! मैंने जो धर्म चलाया था, वह पाँच हजार वर्ष तक टिकने वाला था, लेकिन, अब वह सिर्फ पाँच सौ वर्ष ही चलेगा, क्योंकि हमने स्त्रियों को संघ में शामिल होने की प्रथा चला दी है।" बाद को चलकर, इस देश में जो भ्रष्ट साधुओं की संख्या बढ़ी और सिद्धों ने जो स्त्रियों के सहवास की महिमा गानी शुरू की, वे सारे-के-सारे दुष्कांड इसी भिक्षुणी-प्रथा से उत्पन्न हुए। केवल बौद्ध मठों में ही नहीं, हिन्दू मन्दिरों में भी जो देवदासी की प्रथा चल पड़ी, वह बौद्धों की इस भिक्षुणी-प्रथा की ही देन थी।[1]

---

१. "बौद्ध श्रमणों ने, संघ की रक्षा करने के लिए, तन्त्रों के रूप में वाममार्गी कार्यों

पौराणिक समन्वय

पुराणों की कथाएँ कहाँ से आईं, इस सम्बन्ध में सबसे प्रबल अनुमान यह है कि देश की अनेक प्रकार की 'जनताओं' में शूर-वीर पितरों अथवा भूतों-प्रेतों के सम्बन्ध में जो लोक-कथाएँ फैली हुई थीं, वे ही बढ़कर ऊपर आ गईं और साहित्यिक रूप लेकर पुराणों में प्रविष्ट हो गईं। विचित्रता यह हुई कि पुराणों की जिन कथाओं को लेकर पहले हिन्दू देवी-देवताओं अथवा शूर-वीरों का चरित समझाया जाता था, उन्हीं के द्वारा अब जैन एवं बौद्ध सिद्धान्त अथवा चरित समझाये जाने लगे। इस क्रम में, बहुत-से हिन्दू देवी-देवताओं का जैनों के द्वारा **जैनीकरण** और बौद्धों के द्वारा **बौद्धीकरण** हो गया।

महाभारत में युधिष्ठिर का जलवासी यक्ष से जो प्रश्नोत्तर है, उसके अनुकरण पर, आलवक यक्ष से बुद्धदेव के संवाद की कहानी चल पड़ी।[1] इन्द्र के माहात्म्य से सारा वैदिक साहित्य ओत-प्रोत था और जनता इस देवता को आदर से देखती थी। अतएव, बौद्धों को इन्द्र को अपनाने का लोभ हुआ और अहिंसक बनाकर इन्द्र को उन्होंने अपना भी लिया। इन्द्र के पुनर्जन्म की कथा **कुलावक जातक** में आती है, जिसमें कहा गया है कि शक्र एक बार असुरों से पराजित होकर भागा, तब उसके रथ के वेग से सेमल के वृक्ष टूट कर गिरने लगे और उनके साथ पक्षियों के शावक भी। पक्षि-शावकों की करुण चीख सुनकर शक्र ने सारथी से पूछा—"यह अत्यन्त करुण शब्द किसका है ?" सारथी ने उत्तर दिया—"देव ! अपने रथ के वेग से सेमल के पेड़ टूट कर समुद्र में गिर रहे हैं। उनमें के गरुड़-पक्षियों के बच्चों की यह चीख है।" शक्र ने कहा, "हे सारथी ! इस सेमर के जंगल से रथ मत ले चलो। असुर हमारे प्राण ले लें, तो भी कोई चिन्ता नहीं, पर, इन पक्षियों के घोंसले नष्ट न होने दो।" स्पष्ट ही, इन्द्र का यह चरित्र उस चरित्र से भिन्न है, जिसमें वह पितृ-घाती, पुरन्दर और आमिषभोजी बताया गया है।

ब्राह्मणों के ब्रह्मा को भी बौद्धों ने अपना लिया, किन्तु, यहाँ भी ब्रह्मा बुद्ध के भक्त बना कर दिखलाये गये। दीघनिकाय के केवट्टसुत्त में एक कथा है कि एक भिक्षु को यह जानने की इच्छा हुई कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, ये चार महाभूत, मनुष्य के मरने पर

को एक प्रकार का धार्मिक स्वरूप दे दिया। छठीं या सातवीं शताब्दि में बौद्ध-श्रमणों ने जो तन्त्र-ग्रन्थ लिखे हैं, वे लिंग-पूजा के समान ही बीभत्स हैं। उनमें नग्न स्त्री की पूजा, मद्यमांसादि का यथेच्छ सेवन, आदि बीभत्सताएँ भरपूर हैं। इन्हीं वाममार्गी श्रमणों से लिंगपूजा की उत्पत्ति हुई।"

—धर्मानन्द कोसाम्बरी

(भारतीय संस्कृति और अहिंसा)

१. सुत्तनिपात, आलवक-सुत्त।

कहाँ विलीन होते हैं। यह प्रश्न वह अनेक व्यक्तियों से करता है, परन्तु, उत्तर उसे कोई भी नहीं दे पाता। अन्त में, वह महाब्रह्मा के पास जाता है और महाब्रह्मा उससे कहते हैं कि सारे देवताओं को यह मिथ्या भ्रम है कि ब्रह्मा सब कुछ जानता है। किन्तु, मैं सब कुछ नहीं जानता हूँ।" "भगवान बुद्ध को छोड़कर तुम मेरे पास आये, यह तुम्हारा अपराध है। अब तुम भगवान के पास जाओ और उनसे यह प्रश्न पूछो तथा वे जो उत्तर दें उसे ठीक समझो।"

बुद्धचर्य्या[1] में लिखा है कि गौतम को जब बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, तब उनके मनमें यह दुविधा उठी कि जिस सत्य की उपलब्धि मुझे हुई है, उसका प्रकाशन ठीक होगा या नहीं। बुद्ध के मन की इस द्विधा को जान कर ब्रह्मा (यहाँ वह सहापति ब्रह्मा है) उद्विग्न हो उठा और सोचने लगा, "लोक नाश हो जायगा रे! लोक-विनाश हो जायगा रे! जब तथागत अर्हत् सम्यक् संबुद्ध का चित्त धर्म-प्रचार की ओर न झुक कर अल्प-उत्सुकता (उदासीनता) की ओर झुक जाय।" इतना ही नहीं, ब्रह्मा ने बुद्ध के सामने प्रकट हो कर उनसे प्रार्थना की, "हे सुमेध! हे सर्वत्र नेत्र वाले! धर्मरूपी महल पर चढ़ सब जनता को देखो। हे शोकरहित! शोकनिमग्न, जन्म-जरा से पीड़ित जनता की ओर देखो।" और भगवान ने ब्रह्मा की प्रार्थना जब स्वीकार कर ली, तब ब्रह्मा उनकी प्रदक्षिणा करके चला गया।

मज्झिमनिकाय के ब्रह्मनिमन्तनिक सुत्तन्त (१।५।९) में जो कथा है, उसमें भी बुद्धदेव ब्रह्मा से अपने को श्रेष्ठ बताते हैं और कहते हैं," पापी! तू मार है। पापी! जो ब्रह्मा है, जो ब्रह्म-परिषद् है और जो ब्रह्म-पार्षद हैं, सभी तेरे हाथ में हैं, सभी तेरे वश में हैं। पापी! तुझे ऐसा होता है, यह (मैं) भी मेरे हाथ में आवे, यह भी मेरे वश में हो। किन्तु, पापी! मैं तेरे हाथ में नहीं आया, मैं तेरे वश में नहीं हुआ हूँ।"[2]

धर्मानन्द कोसाम्बी ने जातक-कथाओं के आधार पर यह बतलाया है कि वासुदेव कृष्ण जाति-प्रथा को नहीं मानते थे। सिवि राजा की माता जांबवती चांडाली थी, किन्तु, तो भी कृष्ण ने उसे "रत्नराशि पर बिठला कर अपनी पटरानी बना लिया।"[3] यह कृष्ण-चरित के बौद्धीकरण का प्रयास है।

हिन्दुओं के पुराणों को बौद्धों और जैनों ने अपनाया और उनके माध्यम से वे अपने अहिंसावाद का प्रतिपादन करने लगे। इस क्रम में, हम देखते हैं कि विमलसूरि-कृत पउम-चरिय (तीसरी-चौथी शती ई.) में बालि वैरागी बन कर सुग्रीव को अपना राज्य दे देता

---

१. श्री राहुल सांकृत्यायन

२. मज्झिमनिकाय—श्री राहुल सांकृत्यायन।

३. भारतीय संस्कृति और अहिंसा।

है और स्वयं जैन दीक्षा लेकर तपस्या करने चला जाता है। अनामकं जातकं (इसका भारतीय पाठ अप्राप्य है। तीसरी शताब्दी में कांग-संग-हुई के द्वारा जो चीनी अनुवाद हुआ था वह उपलब्ध है।) में राम पिता की आज्ञा से वन नहीं जाते, प्रत्युत्, अपने मामा के द्वारा आक्रमण की तैयारियों की वार्त्ता सुन कर स्वयं राज्य छोड़कर वन में चले जाते हैं जिससे रक्तपात न हो। इस जातक के अनुसार, राम ने बालि का भी बध नहीं किया। प्रत्युत्, राम के शर-संधान करते ही बालि, बिना बाण खाये हुए ही, भाग खड़ा हुआ।

रामचरित का हिन्दू-हृदयों पर जो प्रभाव था, उसका भी शोषण बौद्ध और जैन पंडितों ने अपने धर्म की महत्ता स्थापित करने को किया। दशरथ-जातक (पाँचवीं शताब्दी ई. की एक सिंहली पुस्तक का पाली अनुवाद है), अनामकं जातकं तथा चीनी त्रिपिटिक के अन्तर्गत त्सा-पौ-त्संग-किंग (भारतीय मूल अप्राप्य; चीनी अनुवाद का समय ४७२ ई.) में आये हुए दशरथ-कथानम् एवं खोताणी-रामायण और श्याम के राम-जातक के अनुसार, बुद्ध अपने पूर्वजन्म में राम थे, ऐसा कहा गया है।[1] सम्भव है, जब बौद्ध पंडित बुद्ध को राम (या विष्णु) के अवतार के रूप में दिखाने लगे, तब हिन्दुओं ने बढ़ कर उन्हें दशावतार में गिन लिया हो।

एक विचित्रता यह भी है कि रावण पर जैन और बौद्ध पुराणों की श्रद्धा दीखती है। गुणभद्र के उत्तर-पुराण में रामकथा का जो वर्णन मिलता है, उसमें कहा गया है कि लंका-विजय करने के बाद, लक्ष्मण एक असाध्य रोग से मरे और मरने के बाद, उन्हें नरक प्राप्त हुआ, क्योंकि उन्होंने रावन का वध किया था। इस कथा में, रावण के जेता राम नहीं, लक्ष्मण दिखलाये गये हैं। इस कथा की एक विचित्रता यह भी है कि इसके अनुसार, सीता मंदोदरी के पेट से जन्मी थी। किन्तु, ज्योतिषियों के यह कहने पर कि यह बालिका आपका नाश करेगी, रावण ने उसे सोने की मंजूषा में बन्द करके दूर देश मिथिला में कहीं गड़वा दिया था।

जैन-पुराणों में महापुरुषों की संख्या तिरसठ बतायी गई है। इनमें से २४ तो तीर्थंकर हैं, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव। राम आठवें बलदेव, लक्ष्मण आठवें वासुदेव और रावण आठवें प्रतिवासुदेव हैं। नव वासुदेवों में एक वासुदेव कृष्ण भी गिने जाते हैं। बौद्ध ग्रन्थ लंकावतार-सूत्र में रावण तथा बुद्ध का, धर्म के विषय में, संवाद उद्धृत है। इससे भी रावण के प्रति बौद्ध मुनियों का आदर अभिव्यक्त होता है। रावण जैनों के अनुसार जैन और बौद्धों के अनुसार बौद्ध माना गया है।

रामकथा के विषय में, जैन और बौद्ध पुराणों में कितनी ही अद्‌भुत बातों का समावेश मिलता है। उदाहरण के लिए, दशरथ, जातक में सीता राम की बहन बताई गई है

१. रामकथा—रेवरेंड फादर कामिल बुल्के

और यह भी उल्लेख आया है कि लंका से लौटने पर राम ने सीता से विवाह किया। पउमचरिय में, दशरथ की तीन नहीं, चार रानियाँ थीं, ऐसा उल्लेख मिलता है जिनके नाम १. कौशल्या अथवा अपराजिता २. सुमित्रा, ३. कैकेयी और ४. सुप्रभा थे। इसमें राम का एक नाम पद्म भी मिलता है। पउमचरिय में यह भी कथा है कि हनुमान जब सीता की खोज करते हुए लंका गये, तब उन्होंने वहाँ वज्रमुख की कन्या लंकासुन्दरी से विवाह किया। गुणभद्र की रामकथा (उत्तर-पुराण) में राम की माता का नाम सुबाला मिलता है। दशरथ-जातक और उत्तर-पुराण में यह भी लिखा है कि दशरथ वाराणसी के राजा थे, किन्तु, उत्तर पुराण में इतना और उल्लेख है कि उन्होंने साकेतपुरी में अपनी राजधानी बसायी थी। इन विचित्रताओं को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि ये कथाएँ वाल्मीकि-रामायण से पूर्व की हैं और वाल्मीकि ने इनका परिष्कार करके अपनी रामकथा निकाली। वाल्मीकि-रामायण इन सबसे प्राचीन है। फिर भी, रामायण से इनकी जो भिन्नता दीखती है, उसका कारण यह है कि बौद्ध और जैन मुनि अपने संप्रदाय का पुराण रचने के समय, केवल रामायण पर ही अवलंबित नहीं रहते थे, प्रत्युत्, वे उस विशाल कथा-साहित्य से भी सामग्री ग्रहण करते थे जो जनता में मौखिक रूप से फैला हुआ था। विशेषतः, जब जन-श्रुतियों से अथवा उन्हें मोड़-मार कर अहिंसा का प्रतिपादन करने में सुविधा दीखती, तब उस सुविधा का लोभ ये लोग संवरण नहीं कर सकते थे। केवल अहिंसा ही नहीं, बौद्ध एवं जैन शैलियों और परंपराओं की दृष्टि से भी जो बातें अनुकूल दीखती होंगी, उन्हें ये मुनि अवश्य अपनाते होंगे। दशरथ-जातक की अप्रामाणिकता तो इससे भी प्रमाणित होती है कि "दशरथ-जातक का जो रूप जातकट्ठवराणना में प्रस्तुत है, वह शताब्दियों तक अस्थिर रहने के बाद, पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में लिपिबद्ध किया गया। अतः, इसमें परिवर्तन की संभावना रही है, विशेष करके दूर सिंहलद्वीप में जहाँ रामायण की कथा उस समय कम प्रचलित थी।"[1] इसके अज्ञात लेखक का भी कहना है कि "मैंने अनुराधपुर की परंपरा के आधार पर यह रचना की है।"

यह समझना भूल है कि बौद्ध और जैन पंडितों ने ब्राह्मण-धर्म का तिरस्कार करने के लिए रामकथा अथवा दूसरी कथाओं में फेर-फार कर दिया, क्योंकि ऐसे फेर-फार ब्राह्मण धर्मावलंबी कवियों ने भी किये हैं। उदाहरण के लिए, रघुवंश में कालिदास ने यह कहीं भी नहीं दिया है कि सीता विष्णु की शक्ति का अवतार है। दशावतार-चरितम् में क्षेमेन्द्र ने रावण को तपस्वी के रूप में रखा है तथा यह बताया है कि रावण सीता को पुत्री-रूप में प्राप्त करना चाहता था।

दशरथ-जातक में सीता राम की बहन बतायी गई है और फिर राम और सीता

---

१. रामकथा

के विवाह का भी उल्लेख किया गया है। ऐसा संबन्ध कुछ बौद्ध पंडितों की दृष्टि में दूषित नहीं था। बुद्धघोष-कृत सुत्त-निपात-टीका में शाक्यों की उत्पत्ति बताते हुए कहा गया है कि वाराणसी की महारानी के चार पुत्र और पाँच पुत्रियाँ थीं। इन नव संतानों को रानी ने वनवास दिया। उन्हीं संतानों ने "कपिलवत्थु" नामक नगर बसाया और चूंकि "राज-सन्तान के योग्य वन में कोई नहीं था, इसलिए चारों राजकुमार अपनी बहनों से ही ब्याह करने को बाध्य हुए। ज्येष्ठा कन्या पिया अविवाहित रह कर सबों की माता मानी जाने लगी। यही शाक्यों की उत्पत्ति की कथा है।"[१] खोतान में प्रचलित एक राम-कथा में यह कहा गया है कि वन में राम और लक्ष्मण, दोनों ने सीता से विवाह किया।

ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन पुराणों में जो कथाएँ मिलती हैं, उनमें से कितनी ही तो एक ही कथा के विभिन्न विकास हैं। सभी जातियों की संस्कृतियों का समन्वय ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों विभिन्न कथाएँ भी एक दूसरी से मिल कर नया रूप लेने लगीं और जो कथाएँ पहले एक रूप में थीं, उनमें भी वैविध्य आ गया। विशेषतः, रामकथा पर तो केवल भारत ही नहीं, सिंहल, श्याम, तिब्बत, हिंदेशिया, बाली, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में बसनेवाली जनता की रुचि का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आदिवासी कथा के अनुसार, गिलहरी की पीठ पर जो तीन रेखाएँ हैं, वे रामचंद्र के द्वारा खींचो गई थीं, क्योंकि गिलहरी ने उन्हें मार्ग बताया था। तेलुगू रामायण (द्विपाद रामायण) के अनुसार, लक्ष्मण जब राम के साथ वन जाने लगे, तब उन्होंने निद्रा-देवी से दो वरदान प्राप्त किये—एक तो पत्नी उर्मिला के लिए चौदह वर्ष की नींद तथा दूसरा अपने लिए वनवास के अन्त तक जागरण। सिंहली रामकथा में "बालि हनुमान का स्थान लेता है, वह लंका का दहन करके सीता को राम के पास ले जाता है।" काश्मीरी रामायण के अनुसार, सीता का जन्म मंदोदरी के गर्भ से हुआ था। बंगाल के कृत्तिवासी रामायण के बहुत-से स्थलों पर शाक्त-संप्रदाय की छाप पायी जाती है। खोतानी रामायण (पूर्वी तुर्किस्तान में प्रचलित) में राम जब युद्ध में मूर्च्छित होते हैं, तब उनकी चिकित्सा के लिए सुषेण नहीं, प्रत्युत्, बौद्ध वैद्य जीवक बुलाये जाते हैं तथा "आहत रावण का वध नहीं किया जाता है।"[२] श्यामदेश में प्रचलित "राम कियेन" रामायण में "हनुमान की बहुत-सी प्रेम-लीलाओं का वर्णन किया गया है। प्रभा, बेंगकाया, नागकन्या, सुवर्णमच्छा और अप्सरा वानरी के अतिरिक्त, वे मंदोदरी के साथ भी क्रीड़ा करते हैं।" श्याम में ही प्रचलित रामजातक में "राम तथा रावण चचेरे भाई माने गये हैं।"[३]

पुराणों की महाकथाओं में, ये जो विविधताएँ मिलती हैं, उनकी ऐतिहासिकता चाहे जो हो, किन्तु, यह सत्य है कि वे अनेक जातियों और जनपदों की रुचियों के कारण

१. रामकथा २. रामकथा ३. रामकथा

बढ़ी हैं। और यह भी हुआ है कि जिस लेखक को अपने संप्रदाय के समर्थन में जो कथा अनुकूल दीखी, उसने उसी कथा को प्रमुखता दे डाली अथवा कुछ फेर-फार करके उसे अपने मत के अनुकूल बना लिया ।

हिन्दुत्व का स्वरूप

भारत की यह विशेषता रही है कि वह अनेक जातियों को घोंट कर एक जाति बना देता है, अनेक धर्मों को मिलाकर एक धर्म तैयार कर देता है और अनेक संस्कृतियों के मिश्रण से एक नई संस्कृति पैदा कर देता है। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़ और आर्य, कम-से-कम ये चार जातियाँ थीं, जिनके परस्पर मिलन और मिश्रण से एक महाजाति पैदा हुई, जिसे हम हिन्दू जाति कहते हैं। हिन्दू कहलानेवाली संस्कृति किस प्रकार इन चारों जातियों की संस्कृतियों के मिलन से पैदा हुई, यह कथा आरंभ में ही कही जा चुकी है। यह समन्वित संस्कृति जब उपनिषदों के धरातल पर पहुँची तब वहाँ से, धर्म और विचार की अनेक धाराएँ फूट पड़ीं, जिनमें कुछ आस्तिक थीं, कुछ नास्तिक, कुछ वेद को मानने वाली, कुछ नहीं माननेवाली। यह एक तरह की बौद्धिक अराजकता थी, एक तरह का चिन्तन का कोलाहल था, जिसे बाँध-कर एक ओर ले चलना आसान नहीं था। इसलिए, एक ही काल में, आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की रचना होने लगी और सारा देश चिन्तकों के तरह-तरह के विचारों से जगमगा उठा। लेकिन, हिन्दू-धर्म अथवा भारतीय संस्कृति फिर भी अपना काम कर रही थी और इन अनेक मतवादों के बीच सामंजस्य कैसे पैदा किया जाय, एकता कैसे लायी जाय, इसके लिए, उसका स्वाभाविक प्रयास जारी था।

असल में, जिन दिनों पुराणों की रचना हुई, उन दिनों समन्वय की प्रक्रिया खूब गाढ़ी हो गयी थी और देश में फैली हुई हजारों दन्त-कथाएँ साहित्य के स्तर पर पहुँच कर हिन्दू-संस्कृति को सजाने में लग गयी थीं। बौद्ध और जैन भाग कर जाते कहाँ ? जिस जनता के बीच, ब्राह्मणधर्म का जन्म हुआ था, ये दोनों धर्म भी उसी जनता के बीच पैदा हुए थे। अतएव, उसकी रुचियों का प्रभाव बौद्ध और जैन धर्मों पर भी पड़ने लगा और ये धर्म धीरे-धीरे बदल कर हिन्दुत्व के करीब आने लगे। करीब तो वे थे ही, जिन दो-एक बातों को लेकर वे हिन्दू-धर्म से जरा अलग दीखते थे, वे बातें भी अब गौण होने लगीं और दोनों धर्म सिमट कर हिन्दुत्व के आलिंगन में बँधने लगे।

इतिहास में, अक्सर, यह लिखा होता है कि अमुक काल ब्राह्मणधर्म का और अमुक काल बौद्ध धर्म का था। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि किसी भी काल में ब्राह्मणधर्म बिलकुल गायब या एकदम दबा हुआ था। भारत का अपना धर्म सनातन धर्म रहा है, और बाकी धार्मिक आन्दोलन समय-समय पर इस बड़े धर्म में सुधार लाने की कोशिश करते रहे हैं। यहाँ समुद्र एक रहा है, चाहे लहरें तरह-तरह की उठती रही हों। बौद्धों के समय

में, हिंसात्मक यज्ञ-याग भले ही बन्द हो गये हों, किन्तु, अहिंसात्मक अग्नि-होत्र के रूप में वे बराबर प्रचलित थे। अशोक ने अपने शिलालेखों में अनेक स्थानों पर यह कहा है कि श्रमणों के साथ-साथ, ब्राह्मणों का भी सम्मान करना चाहिए और उन्हें दान देना चाहिए। ब्रह्मदेश और श्याम में, जहाँ ब्राह्मण बिलकुल नहीं थे, वहाँ भी बौद्ध राजाओं ने ब्राह्मण बुलवाए और उन्हें वार्षिक वृत्ति देकर अपने पास रख लिया। इसके विपरीत, गुप्त राजा स्वयं वैष्णव थे, तो भी उन्होंने अपने राज्यकाल में बौद्धों के बहुत-से विहार बनवाये और संघारामों को जागीरें दीं। पाली-साहित्य में "श्रमण-ब्राह्मण" ऐसा समास मिलता है। पर, अशोक के शिलालेखों में ब्राह्मण को प्रथम स्थान दिया गया है। "ब्राह्मण समणानां साधु दानं।" (कोसाम्बी)

वेद और उपनिषदें एक आवाज में नहीं बोलती थीं। किन्तु, उनके भीतर से सारी जाति की चिन्ताधाराएँ प्रकट हुई थीं और ये धाराएँ कभी-कभी परस्पर-विरोधी भी थीं। इन धाराओं में से जिसको जो रुची, उसने उसी का विकास कर डाला। इस प्रकार, बौद्ध, जैन तथा अन्य दर्शनों का जन्म हुआ। मगर, एक ही उद्गम से उत्पन्न होने के कारण, इन सभी धर्मों की, ब्राह्मणधर्म के साथ, बराबर समानता रही और इन सभी धर्मों पर इस देश की जनता की रुचियों का प्रभाव भी पड़ता रहा जो रुचि ब्राह्मण-संस्कार से ओत-प्रोत थी।

बुद्ध और महावीर, दोनों ने कोशिश की थी कि किसी तरह जनता अन्धविश्वास से बचे, अदृश्य की भक्ति और प्रार्थना नहीं करे, मूर्त्तियों को नहीं पूजे और किसी परोक्ष सत्ता को अपना शासक मान कर कर्म में शिथिलता नहीं दिखलाये। लेकिन, यह बात अधिक काल तक नहीं चल सकी। तत्त्व से तो हिन्दू-धर्म निराकारवादी है, किन्तु, हिन्दू जनता बराबर साकारोपासना की ओर झुकती रही है। अनेक निराकार दर्शनों को जन्म देकर भी, हम सदैव यह मानते रहे हैं कि हमारी आँखों के परे जो शक्ति है, उसे हम देख तो नहीं पाते हैं, मगर, उसका शासन सारी सृष्टि पर चल रहा है। यह हिन्दू-धर्म की ही विशेषता नहीं, प्रत्युत्, मनुष्यमात्र का एक साधारण स्वभाव है। आदमी हर निराकार कल्पना को साकार बना देता है, क्योंकि निराकार को लेकर सन्तुष्ट रहनेवाले लोग बहुत कम और साकार की खोज एवं पूजा करनेवाले लोग बहुत ज्यादा होते हैं। हिन्दू-धर्म की इस प्रवृत्ति से बचने के लिए जैन और बौद्ध धर्म काफी सतर्क थे। किन्तु, अखिरकार, वे इससे बच नहीं सके और साकार-उपासना का उनके भीतर भी प्रवेश हो गया। जैन धर्म में साकारोपासना के लिए पहले से ही एक खिड़की खुली हुई थी, क्योंकि जैन दर्शन यह मानता था कि जीवन-मुक्त पुरुष ईश्वर-कोटि के होते हैं। सभी तीर्थंकर इसी कोटि के थे। अतएव, तीर्थंकरों की पूजा उसी प्रकार शुरू हो गयी, जैसे ब्राह्मण अपने देवी-देवताओं को पूजते थे। पौराणिक

युग में ही, इन तीर्थंकरों के लिए मन्दिर बनवाये जाने लगे और उनमें उनकी मूर्तियाँ भी पधरायी जाने लगीं। ईसवी सन् की पहली सदी में श्वेताम्बर और दिगम्बर जैनों में जो फूट हुई, उसका भी एक प्रबल कारण मूर्तियों की पोशाक के विषय में ही मतभेद था। और बौद्ध-धर्म के भी आष्टांगिक मार्ग पर चलने का जनता में अब उत्साह नहीं रहा तथा उसे इस बात से निराशा होने लगी कि बुद्ध के मार्ग में भी निर्वाण या मुक्ति की आशा केवल संन्यासी ही कर सकते हैं, साधारण गृहस्थ नहीं। अतः, ठीक पहली सदी (कनिष्क का राज्यकाल) में ही, बौद्ध धर्म की भी महायान-शाखा बढ़ कर बड़ी हो गयी और उसने, धीरे-धीरे, बुद्ध के बताये हुए मूल उपदेशों पर चलनेवाली हीनयान-शाखा को, सचमुच, हीन बना डाला।

महायान-सम्प्रदाय

बौद्धधर्म में, आरंभ से ही तीन मार्ग थे। एक उनके लिए जो केवल अपनी मुक्ति चाहते थे। इस मार्ग का नाम **श्रावक-यान** या **हीनयान** था। दूसरा मार्ग उन साधकों के लिए था, जो अपने साथ कुछ अन्य लोगों को भी तारना चाहते थे। अतएव, इस मार्ग की प्रत्येक साधना श्रावकयान की साधना से अधिक कठिन होती थी। इस मार्ग को **प्रत्येक-बुद्ध-यान** कहते थे। इसके सिवा, एक मार्ग और था जिसको वे साधक अपनाते थे जिनका उद्देश्य था, सारे संसार को तार कर फिर अपनी मुक्ति पाना। इस मार्ग को **बुद्ध-यान** कहते थे, क्योंकि बुद्धदेव का अपना यही मार्ग था। ये तीनों मार्ग बौद्ध धर्म में बहुत दिनों से चले आ रहे थे और बौद्धों के सब धार्मिक ग्रन्थ तीनों को ही स्वीकार करते थे। उस समय, किसी को ख्याल भी नहीं होता था कि कभी ये मार्ग आपस में टूट कर अलग भी हो जायेंगे, क्योंकि तीनों-के-तीनों एक ही धर्म के अंग थे और साधक को यह आजादी थी कि वह अपनी इच्छा और योग्यता के अनुसार, चाहे जिस मार्ग को भी अपना सकता है। **बुद्धयान को महायान नाम महाकवि अश्वघोष ने दिया** जो राजा कनिष्क के दरबार में रहते थे। यह मतभेद बढ़ाने की बात नहीं थी, क्योंकि अश्वघोष ने बुद्धयान की प्रशंसा सिर्फ इसलिए की क उसमें साधक अपनी मुक्ति के लिए कोशिश नहीं करता, सारी मानवता की मुक्ति चाहता है। जो केवल अपनी मुक्ति चाहता है, वह स्वार्थी और संकीर्ण है, जो सबकी मुक्ति के बाद अपनी मुक्ति की कामना करता है, वह परम उदार है। इसी भावना से उन्होंने बुद्धयान को महायान की पदवी दी थी। किन्तु, इस स्थापना के बाद, महायान के सामने अन्य दोनों यान मन्द पड़ने लगे और जहाँ-तहाँ उनकी निन्दा शुरू हो गयी। इसी क्रम में, श्रावक-यान की निन्दा करने के लिए लोग उसे हीनयान कहने लगे।

सच पूछिये तो महायान की प्रशंसा के पीछे, विशाल हिन्दू-जनता का प्रभाव काम कर रहा था। बौद्धों का संन्यास-मार्ग जनता में कभी भी बहुत लोकप्रिय नहीं हो पाया था। संन्यासियों का लोग आदर तो बहुत करते थे, मगर, सारी जनता संन्यास नहीं ले सकती

थी। इसलिए, जनता में एक आलोचना चला करती थी कि यह भी कैसा धर्म है जिसमें गृहस्थों के लिए मुक्ति की व्यवस्था नहीं है। जनता की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए बौद्ध धर्म अपने को बदलने लगा। महायान के भीतर यह भाव था ही कि सबसे बड़ा साधक वह है जो सबकी मुक्ति के लिए प्रयास करता है। अतएव, बौद्धधर्म ने चाहा कि वह सबका धर्म बन जाय। लेकिन, सबका धर्म बनने की कोशिश में वह बुद्ध के बताये हुए असली धर्म से बहुत दूर निकल गया और, प्रायः, हिन्दू-धर्म से मिल कर एकाकार हो गया। इसलिए, माना जाता है कि **महायान बौद्ध धर्म के हिन्दूकरण** का परिणाम था। असल में, महायान के भीतर से हिन्दू-धर्म ही अपनी बाँहें खोल कर बौद्ध धर्म को अपने भीतर समेट रहा था।

महायान में हम हिन्दू-धर्म की पूरी नकल देखते हैं। बुद्ध ने चाहा था कि जनता किसी परोक्ष सत्ता में विश्वास नहीं करे। किन्तु, महायान के अन्दर खुद बुद्ध ही सर्वशक्ति-मान मान लिये गये और यह बात भी मानी जाने लगी कि विष्णु की तरह वे भी समय-समय पर अवतार लेते हैं। कनिष्क के समय में ही, पहले-पहल बुद्ध की प्रतिमा बनी और उसकी पूजा बड़े ठाठ-बाट से शुरू हो गयी। बौद्ध पूजा में भी गीत-नाद, धूप-दीप, जुलूस और तड़क-भड़क की वे ही बातें आ गयीं जो ब्राह्मणों के यहाँ थीं। सभी चैत्य मन्दिर हो गये और उनमें रहने वाले भिक्षुओं ने पुरोहितों का स्थान ले लिया। बौद्ध मत के नेताओं ने यह मान लिया कि बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए संन्यासी होने की कोई खास जरूरत नहीं है। गृहस्थ भी बुद्ध बन सकता है। यह भी मान लिया गया कि स्वयं बुद्धदेव अपने पूर्वजन्मों में वासना का जीवन बिता चुके थे। इसलिए, **ब्रह्मचर्य की कोई खास कैद नहीं रह गयी।**

कनिष्क के समय के आस-पास ही, सद्धर्मपुण्डरीक नामक महायान-ग्रन्थ की रचना की गयी, जिसमें महायान धर्म का पूरा विवरण पाया जाता है। वेदान्त और गीता के प्रभाव से बौद्ध मत में जो परिवर्तन हुए थे, वे सब इस ग्रन्थ में झलकते हैं। "बुद्ध सर्व-शक्तिमान हैं। माया उनके अधीन है। माया का प्रयोग वे लीला के लिए करते हैं। पाप बढ़ने पर धर्म की रक्षा करने के लिए वे ही समय-समय पर अवतार लेते हैं।" ये सारी बातें उस ग्रन्थ में हैं। पुण्डरीक का भारत में बहुत प्रभाव हुआ। बाद को, यह ग्रन्थ चीन, जापान और नेपाल भी पहुँचा और महायान के प्रचार में इसने वहाँ काफी सहायता पहुँचायी। **जापान में तो आज भी सद्धर्मपुण्डरीक बौद्ध धर्म का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है।** चीन और जापान में जो धर्म फैला, वह यही महायान-धर्म था। इसके विपरीत, लंका, बर्मा और श्याम में हीनयान का प्रचार हुआ। जैसे मुसलमानों के अन्दर शिया और सुन्नी सम्प्रदाय एक दूसरे की आलोचना करते हैं, वैसे ही, महायान और

हीनयान सम्प्रदाय के लोग भी एक दूसरे को नीची निगाह से देखते हैं।

बुद्धदेव ने ब्रह्म का स्थान तो ले लिया, किन्तु, यही काफी नहीं था। हिन्दू जनता को ब्रह्म में विश्वास करते हुए भी, अनेक देवी-देवताओं की पूजा करने की आदत थी। महायान ने चाहा कि वह जनता की इस आवश्यकता को भी अपने ही घेरे में पूर्ण कर दे। अतएव, अनेक बोधिसत्त्वों की कल्पना चल पड़ी। बोधिसत्त्व उस जीव को कहते हैं जो बुद्ध बनने के रास्ते में है। बुद्धदेव पूर्व जन्म में कब, किस योनि में जन्मे और प्रत्येक जन्म में अच्छे-अच्छे कर्म करके किस तरह उन्होंने बुद्धत्व की ओर प्रगति की, यह दिखलाने के लिए बौद्ध धर्म में जातक-कथाओं का विशाल साहित्य उत्पन्न हुआ। ये सारी कथाएँ बोधिसत्त्व की ही कथाएँ हैं, क्योंकि बुद्धदेव को तबतक बुद्धत्व नहीं मिला था। बुद्धत्व तो उन्हें तब प्राप्त हुआ, जब वे गौतम होकर जन्मे। इन बोधिसत्त्वों की अच्छी-अच्छी मूर्तिया रची जाने लगीं और उनके मन्दिर बनवाये जाने लगे। संक्षेप में, उनसे महायान के अन्दर अब वे ही काम लिये जाने लगे जो ब्राह्मणों के असंख्य देवी-देवता किया करते थे। महायानियों ने तारा, प्रज्ञापारमिता, विजया, आदि अनेक देवियों की भी कल्पना कर ली और उनकी पूजा धड़ल्ले के साथ चलने लगी। ये नये देवी-देवता जनता में उत्साह के साथ अपनाये गये, क्योंकि समझा यह जाता था कि उनके भीतर बड़ी-बड़ी शक्तियाँ छिपी हुई हैं।

नागार्जुन का शून्यवाद

एक ओर तो महायान का लौकिक धर्म-पक्ष इतना साकार और स्थूल होता जा रहा था; दूसरी ओर, इस काल का बौद्ध दार्शनिक चिन्तन पहले से भी और ऊँचा उठ रहा था। महायान के दार्शनिक आचार्य नागार्जुन हुए जो कनिष्क और अश्वघोष के समकालीन थे। वे ब्राह्मण से बौद्ध हुए थे। ईसा की पहली शताब्दी में, उन्होंने शून्यवाद पर गम्भीरता से विचार किया और **माध्यमिक कारिका** नामक अद्भुत दर्शन की रचना की जिसे समझने में पण्डितों का दिमाग आज भी चक्कर खाता है। रूस के प्रसिद्ध दार्शनिक और भारतीय विद्या के उद्भट विद्वान, स्वर्गीय प्रोफेसर शेरबास्की ने सन् १९२७ ई० में अपनी किताब में लिखा था कि नागार्जुन की गिनती विश्व के बड़े-से-बड़े दार्शनिकों में की जानी चाहिए। यह भी कहा जाता है कि नागार्जुन नहीं हुए होते, तो अपने यहाँ शंकराचार्य के अद्वैतवादी दर्शन का आविर्भाव नहीं होता।

उपनिषद्, बौद्ध धर्म या नागार्जुन के चिन्तन में शून्यता शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, वह वही नहीं है, जिसे अपने दैनिक जीवन में हम समझते हैं। हम लोग तो शून्य का अर्थ रिक्त या खाली करते हैं, जिसमें कोई चीज नहीं रहती। लेकिन, दर्शन में यह शब्द उस अवस्था का संकेत करता है, जिसमें से सारी चीजें निकली हैं। नागार्जुन का मत है

कि हर चीज शून्य है। सत्य के दो रूप हैं, एक संवृति-सत्य और दूसरा परमार्थ-सत्य। संवृति-सत्य वह है जो दिखायी पड़ता है, किन्तु, जो सत्य का असली रूप नहीं है। परमार्थ-सत्य वह है, जो दिखायी नहीं पड़ता है, किन्तु, जो सत्य का असली रूप है। संवृति-सत्य दिखायी तो पड़ता है, मगर, उसका यह यह दिखायी पड़ना ही असत्य है। हम जो कुछ देखते हैं, वह शून्य है, स्वप्न है, कुछ नहीं में कुछ का मिथ्याभास है। तब भी, व्यवहार में हमें इसे सत्य मान लेना पड़ता है। हर चीज शून्य है, यह सुनने में विचित्र चाहे जितना भी लगे, लेकिन, यही एकमात्र अन्तिम सत्य है। इस सत्य पर विश्वास तभी होता है, जब मनुष्य बुद्धत्व प्राप्त करता है। बुद्धि से यह सत्य पकड़ा नहीं जा सकता। केवल अनुभव से ही हम उस शान्ति को सुन सकते हैं जो अस्ति और नास्ति के परे है।

अगर बुद्धत्व के स्थान पर हम आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान रख दें तो यह बिलकुल शंकर का मत हो जाता है। जो लोग शंकराचार्य पर यह आरोप करते हैं कि उन्होंने बौद्ध धर्म को नेस्तनाबूद किया, वे सत्य के एक ही पक्ष पर जोर देते हैं। सच्ची बात यह है कि उपनिषद् और बौद्ध मत के बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य नागार्जुन ने किया और शंकर ने, अपने समय में आकर, इस समन्वय को शुद्ध हिन्दू रूप दे दिया। शांकर मत का बौद्ध मत से इतना मेल है कि शंकराचार्य को लोग प्रच्छन्न बौद्ध कहने लगे थे।

शंकराचार्य के गुरु कुमारिल स्वामी (कहीं-कहीं शंकर के गुरु का नाम गोविन्दाचार्य बताया गया है) और कुमारिल के गुरु गौड़पादाचार्य थे। गौड़पादाचार्य ने मांडूक्योपनिषद् पर जो कारिका लिखी है, वह उपलब्ध है। इस कारिका को देख कर कई पंडितों ने यह मत बनाया है कि गौड़पादाचार्य बुद्ध के भक्त थे।[1] यह भी कहा जाता है कि तत्कालीन बौद्ध पंडितों से एक ही विषय में उनका मतभेद था। बौद्ध पंडित ज्ञान को अनित्य समझते थे और गौड़पाद नित्य। तत्त्व-संग्रहकार-शान्तरक्षित (सन् ७०५ से ७६२ ई०, संभवतः, गौड़पाद के समकालीन) का मत भी यही जान पड़ता है कि "अद्वैतवादियों के दर्शन में केवल यही दोष है कि उनके विचार से ज्ञान नित्य है। अन्य विषयों में, उनके और बौद्धों के दर्शन में कोई भेद नहीं है।" (धर्मानन्द कोसाम्बी)। गौड़पादाचार्य को अद्वैताचार्य भी कहते हैं। उनका कहना था कि विवाद तो द्वैतवादी

१. ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धः तं वन्दे द्विपदां वरम्।

(माण्डूक्यकारिका, चतुर्थ प्रकरण)

अर्थात्, ज्ञेय धर्मों से अभिन्न, आकाश-कल्प ज्ञान से जिसने आकाश-सदृश पदार्थों को जान लिया, उस द्विपद-श्रेष्ठ संबुद्ध को मैं नमस्कार करता हूँ।

करते हैं। अद्वैत में सब का समन्वय है। हमसे किसी का विवाद हो ही कैसे सकता है? सच पूछिये तो हिन्दुत्व और बौद्ध मत, तत्त्वतः, एक ही धर्म हैं और दोनों के बीच वही सम्बन्ध है जो ईसाइयत के प्राचीन और नवीन टेस्टामेंट में है। बौद्ध मत उसी धर्म का नवीन संस्करण है, जिसका प्राचीन संस्करण सनातन धर्म है। सर हरि सिंह गौड़ ने एक बार गाँधी जी को यह सलाह दी थी कि अब हिन्दुत्व के उसी रूप का प्रचार किया जाना चाहिए जिसका आख्यान महात्मा बुद्ध ने किया है।

अमिताभ की कल्पना

महायान का एक दूसरा रूप भी विकसित हुआ, जो बहुत-कुछ पौराणिक धर्म की प्रतिध्वनि के समान था। जैसे वेद और पुराण यज्ञों के बदले स्वर्ग का वादा करते थे, वैसे ही, यह मत कहता था कि स्वर्ग के पश्चिमी भाग में जो बुद्ध रहते हैं उनका नाम अमिताभ है। अमिताभ की पूजा करने से मनुष्य उसी स्वर्ग को प्राप्त करता है। **सुखावटी-व्यूह** इस मत का प्रधान ग्रन्थ है जिसमें स्वर्ग के सुखों का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ सन् ७५० ई० के लगभग चीनी में अनूदित किया गया था और इसका चीनी अनुवाद आज भी उपलब्ध है। बौद्ध धर्म ने जो यह रूप लिया, उससे साफ प्रकट होता है कि वह जनता के बीच आदर पाने को बड़ा ही बेचैन हो उठा था और इस बेचैनी में वह उलट कर उस अवस्था को जा पहुँचा जिस अवस्था के खिलाफ बुद्ध देव ने विद्रोह किया था।

हिन्दू-धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

हिन्दू-धर्म पर बौद्ध मत का क्या प्रभाव पड़ा, इसे समझने का सही दृष्टिकोण यह है कि बौद्ध या जैन धर्म कोई विदेशी धर्म नहीं था, जो बाहर से इस देश में आया हो तथा जिसके साथ बहुत-सी ऐसी बातें इस देश में आयी हों, जो पहले यहाँ नहीं थीं। ये दोनों ही धर्म इसी देश में जन्मे थे और दोनों का मूल उपनिषदों के चिन्तन में था। उपनिषदों के भीतर ही, उन अनेक अन्य दर्शनों के भी बीज थे जो समय पाकर प्राचीन भारत में विकसित होते गये। इसलिए, बौद्ध मत के प्रभाव की व्याख्या इस बात की व्याख्या है कि उस मत ने यहाँ की जनता का ध्यान ब्राह्मण-धर्म की किन-किन बातों की ओर खास तौर से आकृष्ट किया और किन-किन बातों की उसने उपेक्षा या अवहेलना की। आज बौद्ध धर्म इस देश में नहीं के बराबर रह गया है। मगर, तब भी उसके निशान ब्राह्मण-धर्म की उन बातों में मौजूद हैं जो बुद्ध के पहले भी हिन्दू-धर्म में थीं, मगर, उस समय उनपर कोई खास जोर नहीं दिया जाता था। बौद्ध धर्म ने उन्हें, खास तौर से, जोर देकर ऊपर किया और पीछे, हिन्दू-धर्म ने भी उन्हें प्रमुख मान लिया।

निवृत्ति का प्रचार

बौद्ध और जैन मत का हिन्दू-धर्म पर सबसे बड़ा प्रभाव निवृत्ति को प्रोत्साहन था। निवृत्ति जीवन को निस्सार और दुःखपूर्ण मानने के भाव को कहते हैं। "जन्म लेना ही बुरा है, क्योंकि जन्म लेने से ही जीवन के कष्टों का सामना करना पड़ता है। इसलिए, उचित यह है कि हम ऐसी कोशिश करें कि आगे हमारा जन्म ही नहीं हो।" यह बात भी उपनिषदों में ही जन्म ले चुकी थी और दार्शनिक दृष्टि से सोचने पर यह भयानक भी नहीं मालूम होती है। लेकिन, जब हम जिन्दगी में ऐसे उपदेशों पर अमल करने लगते हैं, तब संसार हमारे लिए घृणा की वस्तु बन जाता है। यह भी निश्चित बात है कि जो जाति जीवन से घृणा करती है, वह जीवन पर विजय नहीं पा सकती, उसे तो जीवन से भागने में ही कल्याण सूझता है। बौद्ध और जैन मतों का भीषण प्रभाव यह हुआ कि उन्होंने संसार से घृणा और वैराग्य सिखा-सिखा कर यहाँ के लोगों को जीवन से विरक्त कर दिया, उनकी दृष्टि को आमुष्मिक बना डाला यानी इन धर्मों के प्रभाव के कारण, लोग इस जीवन से अधिक, मरने के बाद प्राप्त होने वाले जीवन की बातों पर विचार करने लगे। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नीत्से ने ईसाइयत के साथ बौद्ध मत पर भी निवृत्ति का प्रचारक होने का दोष मढ़ा है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक जगह इस सम्बन्ध में यह शंका उठायी है कि ऐसा क्यों हुआ कि भारत में तो बौद्ध मत से लोगों को निवृत्ति की प्रेरणा मिली, किन्तु, चीन या जापान में ऐसी कोई बात नहीं हुई। फिर उन्होंने स्वयं ही इसका यह उत्तर दिया है कि हर देश में यह ताकत होती है कि वह बाहर से लिये हुए धर्म को अपने स्वभाव के अनु-रूप बदल दे। शायद, निवृत्तिवादी दृष्टिकोण भारत की अपनी ही विशेषता है। डाक्टर राधाकृष्णन ने भी एक जगह लिखा है कि पश्चिमी जगत् के लोग तो जिन्दगी के भीतर घुस कर आनन्द का रस पी रहे हैं, मगर, पूरब के लोग अन्धकार में जीवन का अर्थ ढूंढ़ने में व्यस्त हैं। निवृत्ति भारत की विचारधारा में बहुत दिनों से वर्तमान रही है। अतः, बुद्धदेव और महावीर ने जब उसपर जोर डाला, तब भारत में तो निराशा और भी गहरी हो गयी, मगर, चीन और जापान, जो, मूलतः, प्रवृत्तिवादी (अथवा भारत से कम निवृत्तिवादी) थे, इसके जहर से बच गये। एक कारण यह भी समझा जाना चाहिए कि चीन और जापान में बौद्ध धर्म का महायान रूप ही प्रचलित हुआ था, जो संन्यास-प्रधान हीनयान मत की अपेक्षा कहीं आशापूर्ण और उल्लासमय था।

आचार पर प्रभाव

यहाँ के विश्वास या दर्शन पर बौद्ध मत का कोई व्यापक प्रभाव नहीं मिलेगा। अगर कहीं कोई बात मिलती भी है तो वह हिन्दू-धर्म के विकास की सीढ़ी-जैसी दीख पड़ती है। उपनिषद्, नागार्जुन का शून्यवाद और शंकर का अद्वैत, ये तो हिन्दू-अद्वैतवाद के ही

विकास के सोपान हैं। और नागार्जुन यहाँ, मजे में, हिन्दू-चिन्तक के रूप में खप जाते हैं। लेकिन, आचारों और रीति-रिवाजों में बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव है। उदाहरणार्थ, अहिंसा की भावना हमारे देश में जो इतनी गाढ़ी होती गयी, उसका कारण बौद्ध और जैन मत ही हैं। वैदिक आर्य खान-पान में मांस के बड़े प्रेमी थें, लेकिन, बौद्ध और जैन प्रभावों के कारण मांस खाना इस देश में निषिद्ध माना जाने लगा। खान-पान में जैन और वैष्णव एक तरह के लोग होते हैं। दोनों के भोजनों में तामसिक पदार्थों का अभाव पाया जाता है और दोनों बात-बात में ऐसी पवित्रता और चौकसी बरतते हैं जिससे उनकी जीव-दया आप-से-आप प्रकट हो जाती है।

जाति-प्रथा को चुनौती

जाति-प्रथा को चुनौती देकर भी बुद्ध ने इस देश में एक महान आन्दोलन का आरम्भ किया जो, प्रायः, गाँधी तक चलता आया है और आज भी चल रहा है। उन्होंनें मनुष्य की मर्यादा को यह कहकर ऊपर उठाया कि कोई मनुष्य केवल ब्राह्मण-कुल में जन्म लेनें से पूज्य नहीं हो जाता और न कोई शूद्र होने से पतित हो जाता है। उच्चता और नीचता जन्म पर नहीं, कर्म पर अवलम्बित है। इसलिए, ब्राह्मण पतित भी हो सकता है और शूद्र भी अपने को पूजा के योग्य बना सकता है। इसी प्रकार, वेदों ने यज्ञ का अधिकार केवल द्विजों को दिया था और जब उपनिषदें बढ़ीं, तब ब्राह्मणों ने उन्हें भी, परा विद्या का नाम देकर शूद्रों और स्त्रियों की पहुँच से बाहर कर दिया। इसके विपरीत, बुद्धदेव ने चारों वर्णों और स्त्रियों को धर्म का अधिकार समान रूप से दे दिया। यह ब्राह्मण-धर्म के खिलाफ, सबसे बड़ी बगावत थी और बौद्धों का ब्राह्मणों ने जो भी विरोध किया, वह, मुख्यतः, उनके इसी विद्रोह के कारण। और बौद्ध धर्म की भी एक बड़ी विशेषता यह रही कि उसने जाति-प्रथा के खिलाफ अपने हथियार कभी नहीं डाले। महायान के आरम्भ के समय से हम बौद्ध धर्म को दिन-दिन बदल कर हिन्दू-धर्म की नकल करते देखते हैं, लेकिन, सिद्धान्ततः, जाति-प्रथा का उसने कभी भी अनुकरण नहीं किया। यही कारण है कि महायान बिगड़ कर जब मंत्रयान और व्रजयान बनने लगा तथा धर्म को उसने दुराचार का रूप दे दिया तब भी, जातिवाद के खिलाफ उसकी कार्रवाई जारी ही रही। बौद्ध धर्म ने जातिवाद का जो डट कर विरोध किया, उसी से मध्यकाल में जाकर निर्गुण का प्रचार करनेवाले सन्तों को यह साहस हुआ कि वे भी जाति-प्रथा को नहीं मानें। निर्गुनियाँ सन्त, बहुत-सी बातों में बुद्ध के खान्दान में पड़ते हैं और उनका वैराग्य, उनकी निवृत्तिवादिता, उनका फक्कड़पन, उनका सभी जातियों को बराबर मानने का आग्रह और उनका यह विश्वास कि देवता मन्दिर में नहीं, मनुष्य के हृदय में है, ये सारी की सारी बातें बौद्ध धर्म की अच्छी और फिर बाद का बिगड़ी हुई परम्परा से निकली हैं।

अगर, बुद्ध नहीं हुए होते तो इस देश में दादू और कबीर, नानक और हरिदास निरंजनी में से कोई नहीं हुआ होता। जाति-प्रथा को शिथिल करके एवं वर्णाश्रम-धर्म को चुनौती देकर बुद्ध और उनकी परम्परा के अन्य साधुओं ने ही भारत में वह अवस्था उत्पन्न की, जिसमें निर्गुनियाँ सन्तों का मत फूल-फल सका। इस देश में विशाल मानवता का आंदोलन बुद्ध का ही चलाया हुआ है और उनके समय से यह आंदोलन बराबर चलता ही आ रहा है।

ध्यान देकर देखने से यह साफ मालूम होता है कि बुद्ध के समय से ही यहाँ दो तरह की विचार-धाराएँ चलती आ रही हैं। एक वह जो जातियों का भेद नहीं मानती और जो भारत के सभी मनुष्यों को एक समाज में बाँधना चाहती है। और दूसरी वह जो वर्णाश्रम-धर्म का समर्थन करके विभिन्न जातियों को अपनी-अपनी जगह पर कायम रखना चाहती है। पहली धारा के नेता बुद्ध और उनके अनुयायी तथा बाद के निर्गुनियाँ सन्त हैं तथा उसके कवि सिद्ध-साधु, कबीर और दादू दयाल हैं। इसी तरह, दूसरी धारा के नेता ब्राह्मण आचार्य हुए जिन्होंने बार-बार बौद्ध धर्म को दबाकर वर्णाश्रम-धर्म को ऊपर उठाने की कोशिश की, और जो स्मृतियाँ रच कर जाति-प्रथा को और पुष्ट करते रहे। इस धारा के मुख्य कवि विद्यापति (नैबन्धिक विद्यापति) और तुलसीदास हैं। वैष्णव मत में भी जहाँ कहीं यह विचार आता है कि, कम-से-कम, भगवान के भक्तों में जातियों के भेद नहीं होता, वह बुद्ध की ही परम्परा का प्रभाव समझा जायगा।

उपनिवेशों की स्थापना

हिन्दू-जाति कुछ आलसी और अपने ही घेरे में सन्तुष्ट रहने वाली जाति रही है और इस आलस्य तथा सन्तोष का कारण यह नहीं है कि यहाँ की जलवायु में ही आलस्य भरनेवाल गुण है, बल्कि, यह कि जीवन के सम्बन्ध में हमारी दृष्टि यथेष्ट रूप से प्रवृत्तिमूलक नहीं रही। "जीवन कुछ नहीं है, संसार माया है, सुख वह नहीं है जो इस जीवन में मिलता है, बल्कि, वह जिसका स्वाद हम मरने के बाद चखेंगे", घूम-फिर कर ये या ऐसी बातें यहाँ के सभी धर्मों में कही गयी हैं। नतीजा यह है कि हम जिन्दगी में हलचल और बेचैनी को पसन्द नहीं करते। कुछ तो भाग्य का भरोसा करके और कुछ इसी वैराग्य के कारण, हम थोड़े में ही संतोष कर लेते हैं। भारतीय जीवन एक समुद्र है जो अपने-आपमें ही पूर्णता का अनुभव करता है। चौहद्दी से बाहर जाकर कुछ करने-धरने का जोश यहाँ के लोगों में कम रहा है। लेकिन, बौद्ध धर्म जब देश के बाहर फैलने लगा, तब यहाँ के लोगों का विदेश के लोगों से एक सम्पर्क स्थापित हो गया और वे देश से बाहर जाकर भी बसने लगे। इस प्रकार, बौद्ध धर्म के उत्थान के समय ही, भारत से बाहर, भारत के कुछ उपनिवेश भी बसे। बाहरी दुनियाँ से भारत का वाणिज्य का संबंध तो पहले भी था, किंतु, उसकी प्रेरणा वाणिज्य तक ही सीमित रह गयी थी। सौदागरों के सिवा, दूसरे लोग विदेश नहीं गये जो

वाणिज्य छोड़कर किसी और बात में दिलचस्पी लेते। लेकिन, धर्म-प्रचार के द्वारा साँस्कृतिक सम्बन्धों का रास्ता खुला और भारत की सँस्कृति भारत से निकल कर बाहर फैलने लगी। हमारे उपनिवेश भी आर्थिक दृष्टि से नहीं बसाये गये थे, जहाँ से धन ला-ला कर लोग अपनी मातृभूमि को सम्पन्न बनाते। बल्कि, वे भारत से बाहर भारतीय संस्कृति के अड्डे थे जहाँ पर लेने-देने का काम धर्म और संस्कृति तक ही सीमित था।

सिंहल, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया, तिब्बत, स्याम और बर्मा में भारतीय संस्कृति का व्यापक प्रचार बौद्ध मत के ही प्रचार से हुआ और वहाँ पायी जानेवाली मूर्तियों, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक रीति-रिवाजों में भारतीय संस्कृति के जो प्रमाण मिलते हैं, वे भी उसी युग की देन हैं। और तो और, इन देशों ने अपनी-अपनी लिपियों में देवनागरी की वर्णमाला (अ आ, इ, ई, क, ख, ग, आदि) तक को अपना लिया जो आज तक भी वहां चल रही है। "जैसे, बँगला, गुजराती, शारदा, उड़िया, तेलगु, कन्नडी, तामिल, मलयालम और सिंहली में वर्णमाला वही है जो नागरी की है, यद्यपि, सभी लिपियों में अक्षरों के निशान अलग-अलग हैं, वैसे ही, तिब्बती, बर्मी, स्याम और कम्बुजी लिपियों तथा कम्बुजी से निकली हुई मलाया द्वीप की पुरानी लिपियों में से हर एक की वर्णमाला, यही देवनागरी वाली वर्णमाला है।" (जयचन्द्र)

असल में, भारतीय संस्कृति का वह इतिहास पूरा नहीं समझा जाना चाहिये जो सिर्फ भारत में मिलने वाली सामग्रियों के आधार पर लिखा जाता है। भारत के पास के देशों और टापुओं में भी यहाँ की संस्कृति और सभ्यता के बहुत-से निशान बाकी हैं। और संभव है, उनमें हमारा मौलिक रूप कुछ अधिक सचाई से झलकता हो।

श्री चमनलाल की 'हिन्दू अमेरिका' नामक पुस्तक से यह, प्रायः, सिद्ध हो जाता है कि मेक्सिको में एक समय हिन्दू-सभ्यता का पूरा प्रसार था। यह भी खोज का विषय है कि हमारी सभ्यता मेक्सिको कब पहुँची थी।

श्रीमद्भगवद्गीता

हिन्दू-धर्म पर बौद्ध मत के प्रभावों की व्याख्या के सिलसिले में गीता की भी बरबस याद आ जाती है। विद्वानों का अनुमान है कि गीता पहले उपनिषद् ही रही होगी; बाद को चलकर, बौद्ध धर्म के प्रभावों को हिन्दू-धर्म में पचा कर गीता को किसी ने वर्तमान रूप दे दिया है।* बौद्ध धर्म के प्रसंग में गीता के समझने का यह मार्ग है कि उपनिषदों ने शिष्ट हिन्दुओं को यह बतलाया था कि यज्ञ सिर्फ नश्वर सुख देनेवाले हैं, चाहे वे सुख इस लोक में मिले या परलोक में। इसलिए, मनुष्य को चाहिए कि धर्म वह इन ईनामों के लोभ में आकर

*विद्वद्वर सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने लिखा है कि यह बात प्रमाणित की जा सकती है कि अपने मूल रूप में, गीता बुद्ध से पहले की रचना है।

नहीं करे, बल्कि, इसलिए कि उसे जन्म-बंध से छुटकारा पाना है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म ने भी, अपने-अपने ढंग पर जनता को यही समझाया था। गीता में हम वैष्णव धर्म का जो रूप देखते हैं, वह बौद्ध और जैन-धर्मों के इन प्रभावों को अपने भीतर पचाये हुए है।

गीता की विशेषता यह है कि उपनिषदों के आध्यात्मिक सिद्धांत इस ग्रंथ में सामाजिक जीवन पर लागू किये गये हैं। उपनिषदों ने वैराग्य को तो मुक्ति का साधन माना, किंतु, शूद्रों को मुक्ति पाने का अधिकार नहीं दिया, क्योंकि वे वेद और उपनिषद् पढ़ नहीं सकते थे। बौद्ध और जैन धर्मों ने निर्वाण या मुक्ति का वादा तो सबके लिए किया, लेकिन उन्होंने भी शर्त लगा दी कि श्रमण या संन्यासी हुए बिना मुक्ति किसी को नहीं मिलेगी। **गीता मुक्ति का दरवाजा सब के लिए खोलती है** और यह भी कहती है कि गृहस्थी का काम करते हुए भी, आदमी मोक्ष पा सकता है। गीता गृहस्थों की उपनिषद् है।

एक दूसरी दृष्टि से देखने पर ऐसा मालूम होता है कि हिन्दू-धर्म बौद्ध एवं जैन धर्मों के द्वारा किये जानेवाले प्रयोगों को ठीक उसी तरह सहानुभूति से देख रहा था, जैसे घर का बूढ़ा घर के नौजवान लड़कों के कामों को चाव से देखता है, चाहे वे लड़के बूढ़े के कुछ खिलाफ ही क्यों न हों। और लड़कों को जब कोई कामयाबी मिल जाती है, तब घर का मालिक भी उसकी कीमत लगाने लगता है। यही नहीं, लड़के जब गलती करते हैं, तब घर का मालिक उस गलती को सुधार भी देता है। इसी तरह, बौद्ध और जैन धर्मों के प्रयोग से जो बातें सच्ची निकलीं या जिस बात की सचाई और भी साबित हो गयी, उस बात को हिन्दू-धर्म ने अपने ऊँचे-ऊँचे विचारों के बीच स्थान दे दिया। साथ ही, एकाध ऐसी बातें भी थीं जिनका प्रयोग तो ये नये धर्म कर रहे थे, मगर, जिन्हें ठीक भाषा में वे कह नहीं पाते थे। गीता में हिन्दू-धर्म ने ऐसे सत्यों को भी उचित भाषा में व्यक्त कर दिया।

वैदिक, औपनिषदिक, बौद्ध, जैन, इन चारों मतवादों के बीच विचारों के जो संघर्ष हुए, उनसे, अन्त में जाकर, सत्य का एक अत्यन्त सुलझा हुआ रूप प्रकट हुआ। वही सत्य गीता का ज्ञान है और गीता में ही इन चारों मतवादों का समन्वय भी झलकता है।

गीता का ज्ञान-मार्ग सांख्य-मत के अनुसार है और बौद्ध तथा जैन मतों से उसकी पूरी समानता है, क्योंकि ये मत भी (जैन कुछ अधिक, बौद्ध कुछ कम) निर्वाण या कैवल्य के लिए ज्ञान को आवश्यक बतलाते हैं। इस ज्ञान-मार्ग का पहला संकेत उपनिषदों ने किया था, बौद्ध और जैन धर्मों ने उसका वर्षों तक प्रयोग और प्रचार किया; और तब इस निखरे हुए सिद्धान्त को गीता ने अपने हृदय में स्थान दिया।

गीता का दूसरा प्रतिपाद्य मार्ग कर्म का मार्ग है। गीता से पहले, वेदों के कर्मकांड में कर्म का अर्थ यज्ञ समझा जाता था। उधर बौद्धों और जैनों ने कर्म का अर्थ व्रत, अनुष्ठान, सदाचार, तपस्या और ध्यान लगा लिया। फिर, जब गृहस्थों से यह कहा गया कि उनकी

मुक्ति संन्यास लिये बिना नहीं हो सकती, तब गृहस्थी के सारे कर्म धार्मिक कर्म के घेरे के बाहर छूट गये। असल यें, बौद्ध और जैन महात्मा जितना ही इस बात का प्रचार करते गये कि मोक्ष के लिये संन्यास लेना जरूरी है, उतना ही समाज में इस भाव का प्रचार होता गया कि धर्म का असली मार्ग कर्म-न्यास यानी गृहस्थी के सभी कर्मों का त्याग है। इसी घबराहट से आजिज आकर, बौद्धों ने, महायान-मार्ग के खुलने पर, यह मान लिया कि मुक्ति गृहस्थ रहने पर भी मिल सकती है। लेकिन, असल में जो बात वे कहना चाहते थे, उसके उपयुक्त भाषा उन्हें तब भी नहीं मिली। इसीलिये, हमारा विचार है कि कर्म की वास्तविक शिक्षा देने में बौद्ध आचार्य असफल रहे थे। कर्म के क्षेत्र में, उन्होंने जो भी प्रयोग किया, उसका लाभ घर के बूढ़े, यानी हिन्दू-धर्म ने उठाया, क्योंकि यह खुलासा अन्त में, गीता में ही आकर हुआ कि कर्मन्यास का अर्थ कर्म का त्याग (अथवा संन्यास) नहीं, बल्कि, कर्म के फलों में होनेवाली आसक्ति का त्याग है। यह भी ध्यान देने की बात है कि गीता के कर्मकांड में केवल संन्यासी ही नहीं, गृहस्थों के भी कर्म शामिल हैं। यहाँ तक कि उससे युद्ध भी बाहर नहीं है अगर वह न्याय के लिये लड़ा जाय और लड़नेवाला उसे कर्त्तव्य माने, वासना की वृद्धि का साधन नहीं।

गीता का भक्तिमार्ग ही एक ऐसी वस्तु है, जिसका बौद्ध धर्म से कोई सरोकार नहीं मालूम होता। भक्ति के बीज आर्यों के आगमन से पूर्व, इस देश में मौजूद थे, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। उपनिषदों में ये बीज जहाँ-तहाँ अंकुरित होने लगे थे। गीता में हम इस भक्ति का पुष्पित और पल्लवित रूप देखते हैं। भक्ति ने ठीक इसी समय पर आकर आकार क्यों लिया, इसका कारण यह है कि जिस वस्तु का बहुत अभाव होता है, उसकी कामना लोगों को और जोर से होने लगती है। चूँकि बौद्ध मत ने भक्ति के सभी दरवाजे बन्द कर दिये थे, इसलिये, वह हिन्दू-धर्म के हृदय में जोरों से बढ़ने लगा। मालूम होता है, जब गीता में प्रतिपादित भक्ति समाज को बहुत आकृष्ट करने लगी, तभी बौद्ध धर्म ने महायान के भीतर से बढ़कर उसे कबूल कर लिया। हिन्दू-धर्म ने बौद्धों के कर्मवाद को कुछ सुधार के साथ स्वीकार किया और, बदले में, उन्हें भक्ति सिखलायी। बौद्ध धर्म और हिन्दुत्व के बीच समन्वय का यह भी अच्छा उदाहरण है।

उपनिषदें वेद से निकली थीं और गीता उपनिषदों से। लेकिन, इस बीच में, पशु-हिंसा के खिलाफ देश में जो आंदोलन चलते रहे, उनका प्रभाव गीता पर खूब पड़ा। गीता में देवता की प्रसन्नता के लिये जीव-हिंसा करने का उपदेश नहीं है, बल्कि, वह तो कृष्ण का पूजन पुष्प और पत्र से करने को कहती है। वैष्णव धर्म में जीव-हिंसा की जो मनाही है वह भी, अधिकांश में, बौद्ध और जैन धर्मों की देन है।

मौर्योत्तर हिन्दू-जागरण

बौद्ध काल और ब्राह्मण काल का भेद इतिहासकार तो करते हैं, किन्तु, यह विभाजन ठीक है या नहीं, यह संदिग्ध विषय है। अशोक के समय, बौद्ध धर्म का प्रताप खूब बढ़ा, किन्तु, उस समय हिन्दुत्व लुप्तप्राय था, यह नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः, अशोक सभी धर्मों के त्राता थे और उनके समय में भी, ब्राह्मण-धर्म पूर्ण रूप से जीवित एवं चैतन्य था तथा नई आवश्यकताओं के अनुसार, वह अपना सुधार भी कर रहा था। बुद्धदेव और उनके अनुयायियों ने ब्राह्मण-धर्म को झकझोर कर उसकी जड़ता तोड़ डाली थी और बौद्ध-क्रान्ति की जो शिक्षाएँ अत्यावश्यक दीख पड़ीं, उन्हें ग्रहण करके ब्राह्मणत्व एक बार फिर नवीन हो रहा था।

ब्राह्मणत्व के इस संशोधित और नवीन रूप का समय गुप्त-काल माना जाता है, किन्तु, वस्तुतः, इसका आरम्भ ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व से ही माना जाना चाहिए। असल में, इस प्रक्रिया के प्रमाण मौर्य-वंश के पतन (ई. पू. १८०) के बाद ही दिखलाई पड़ने लगे थे। अतएव, यह मानना अधिक युक्ति-युक्त है कि ब्राह्मणत्व का जो रूप हम गुप्त-काल में देखते हैं, उसकी तैयारी ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व से लेकर ईसा से तीन सौ वर्ष बाद तक की पाँच सदियों में हुई थी। किन्तु, इस काल को इतिहास में प्रमुखता नहीं दी जाती, जिसका मुख्य कारण यह है कि इस समय देश में कोई सबल केन्द्रीय सत्ता नहीं थी। उत्तरी और पश्चिमी भारत में, इन दिनों, शुंग, कण्व तथा यूनानी, शक और कुषाण राजे राज कर रहे थे तथा आन्ध्र में सातवाहनों का राज था। हिन्दुत्व की एक विशेषता यह भी है कि जब-जब भारत में विदेशी नस्लों और संस्कृतियों के लोग आ बसते हैं, तब-तब, हिन्दुत्व के भीतर से प्रगति का ज्वार उठने लगता है। यूनानी, शक और कुषाण लोग विदेशी थे, किन्तु, भारत आकर या तो वे हिन्दू हो गये थे अथवा बौद्ध। उनके साथ आनेवाली नई भावनाओं ने बुद्ध से आन्दोलित ब्राह्मणत्व को और भी आन्दोलित कर दिया एवं ब्राह्मण-धर्म किसी महाजागरण के आवेश में आकर अपने भीतर नवीनता और ताजगी भरने लगा। कनिष्क के समय, बौद्ध धर्म के भीतर से महायान सम्प्रदाय का प्रकट होना ही यह बतलाता है कि मौर्यों के पतन के बाद, भारतीय समाज पर ब्राह्मणत्व का रोब छा गया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणत्व का विरोधी बौद्ध मत भी हिन्दू-लिबास पहनने को बाध्य हो गया।

मौर्यों के पतन से लेकर गुप्तों के उत्थान तक का समय हिन्दुत्व के इतिहास का अत्यन्त महत्वपूर्ण काल गिना जाना चाहिए। सच पूछिये तो यही वह काल है जब आर्य बदल

कर हिन्दू तथा ब्राह्मण-धर्म परिवर्तित अथवा परिपक्व होकर हिन्दुत्व हो जाता है। यही वह काल है जब रामायण और महाभारत का अन्तिम संस्करण बनता है, जब स्मृतियाँ लिखी जाती हैं, पिछली उपनिषदों का निर्माण होता है, आरम्भ के पुराण रचे जाते हैं और दर्शन की अनेक शाखाओं का विकास होता है। हिन्दुत्व के रससिद्ध कवि कालिदास को लोग, व्यर्थ ही, चौथी सदी में रखते हैं। बहुत संम्भव है कि वे ईसा से कुछ पूर्व, विक्रमाब्द के आरम्भ में ही, हुए हों। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि आर्यों ने आर्येतर संस्कृतियों को अपनी संस्कृति में पचाने का जो अभियान आरम्भ किया था, वह इसी काल में आकर पूरा हुआ एवं जिस गुह्य ज्ञान को ब्राह्मण उतने दिनों से जनता से छिपाये हुए थे, वह महाकाव्यों और पुराणों के द्वारा इसी काल में जनसाधारण के लिए सुलभ हो गया।

बौद्ध क्रान्ति से हिन्दुत्व ने दो प्रकार की शिक्षाएँ लीं। एक तो यह कि धर्म वही अच्छा है जो जनता की समझ में आये, जिसमें जनता से कोई बात छिपाकर नहीं रखी जाय और जो जनता में उत्साह जगा सके। और दूसरी यह कि संसार-त्याग की शिक्षा पर अवलम्बित रहने वाले धर्म को, अन्त में, अपने आपको बचाना भी कठिन हो जाता है। बौद्ध धर्म की सफलता और असफलता से हिन्दुत्व ने जो प्रेरणा ली, वह, सब की सब, रामायण और महाभारत में संचित है। इन दो महाकाव्यों की कथाएँ जनता में बहुत दिनों से प्रचलित रही थीं। और ये कथाएँ केवल आर्यों में ही नहीं, आर्येतर समाज में भी चालू थीं। ये दोनों काव्य भी बहुत दिनों से बनते आ रहे थे। किन्तु, अब उनकी पूर्णता और परिपाक का समय आ गया था। पूर्णता पर पहुँचते-पहुँचते, इन काव्यों ने लोक-कथाओं का ऐसा विलक्षण उपयोग किया कि उनसे देश में धार्मिक जागर्त्ति की लहर आ गई और धर्म के जो रहस्य अब तक मंत्रों और अनुष्ठानों के सुरक्षित गढ़ में प्रच्छन्न थे, वे चरित्रों, घटना-वर्णनों और संवादों में मूर्त्तिमान हो उठे। हिन्दुत्व ने अब तक जो कुछ भी सोचा-समझा था, जितनी भी साधना और तपस्या की थी, जिस किसी ऊँचाई या गहराई में पहुँचा था, उसका सार भाग इन काव्यों में, अनेक रूपों में, प्रत्यक्ष होकर खिल उठा। तबसे, हिन्दुत्व के रक्षक वेद और उपनिषद् कम, रामायण और महाभारत अधिक रहे हैं। एवं जिस किसी ने भी उपनिषदें नहीं पढ़ीं, किन्तु, रामायण और महाभारत को पढ़ा या सुना है, वह हिन्दुत्व के संबंध में तनिक भी अज्ञान नहीं गिना जाता है। वेदों और उपनिषदों के तो हिन्दू जनता केवल नाम ही सुनती है; धर्म उसका वह है जो रामायण और महाभारत में लिखा हुआ है। वेदों और उपनिषदों के भी ज्ञान के सच्चे उद्धारक वाल्मीकि और व्यास हुए एवं भारत नाम में जो भी गौरव है, उसे इन्हीं दो आर्ष महाकवियों ने मूर्त्त रूप दिया।

भारत की एकता की सेवा भी, सबसे अधिक, इन्हीं दो महाकाव्यों ने की। लंका, पंपापुर और अयोध्या, देश के इन तीन भूभागों की कथाओं को एक ही राष्ट्रीय महाकाव्य

में गूंथ कर वाल्मीकि ने भारत की सांस्कृतिक ही नहीं, भौगोलिक एकता को भी अक्षय तत्त्व बना दिया। इसी प्रकार, महाभारतकार ने भी देश के विभिन्न भागों में फैली हुई विचारधाराओं एवं संस्कृतियों को एक स्थान पर लाकर इस प्रकार गुंफित कर दिया कि महाभारत सारे देश की जनता का कंठहार हो गया। कोई आश्चर्य नहीं कि कालिदास से लेकर आज तक के, सभी भारतीय भाषाओं के कवि रामायण और महाभारत की कथाओं पर काव्यरचना करते रहे हैं। सारे देश का साहित्य आज भी रामायण और महाभारत का क्षीर पान कर बलिष्ठ हो रहा है, जिससे, आप से आप, यह सत्य ध्वनित हो उठता है कि भारत की विचारधारा एक है, भारत की मानसिकता एक है एवं भारत की एक ही संस्कृति है जिसकी सेवा विभिन्न भाषाओं में की जा रही है।

जिस सिद्धांत पर आर्येतर देवता, शिव आर्यवृत्त में लाये गये थे, उस सिद्धांत की सीमाएँ इस काल में और भी विस्तृत कर दी गई और भारत की विभिन्न जातियों (जिनमें विदेशी जातियाँ भी सम्मिलित हैं) में जो भी देवी-देवता थे, वे, सब के सब, हिन्दू-वृत्त में गृहीत हो गये। यह भारतीय संस्कृति के हित में बहुत बड़ा काम हुआ, क्योंकि जो विदेशी जातियाँ हिन्दू बनी थीं उन्हें यह सोचने का अवसर ही नहीं रहा कि वे किसी अपर धर्म में आई हैं। कृष्ण का गोपाल और रसिक रूप, कदाचित्, इसी समय प्रचलित हुआ और संभव है, राधा की कल्पना भी कृष्ण-कथा के आसपास इसी समय से मँडलाने लगी हो, यद्यपि, कृष्णचरित के साथ उसका लिखित गुंफन बहुत बाद को हुआ। कार्त्तिक और गणेश इसी काल में हिन्दू देवता के पद पर आये। राम और कृष्ण इसी काल से अवतार के रूप में, प्रसिद्ध हुए। और इसी काल से दुर्गा शिव की शक्ति मानी जाने लगी। राम, कृष्ण, शिव और पार्वती, हिन्दू-धर्म के ये चार देवता तभी से पूजित चले आ रहे हैं। जिस प्रकार, शिव आर्येतर देवता हैं और उनके व्यक्तित्व में उनके समान अनेक आर्येतर देवताओं का व्यक्तित्व पचा हुआ है, उसी प्रकार, आज की शक्ति-पूजा भी उस प्रकार की अनेक आर्येतर पूजाओं का आर्यीकृत रूप है।

बौद्ध मत गार्हस्थ्य से संन्यास को बहुत अधिक महत्त्व देता था, अतएव, धर्म के विषय में जिन्हें भी उत्साह होता था, वे युवक होने पर भी संन्यासी हो जाते थे। इससे समाज की प्रत्यक्ष हानि हो रही थी। अतएव, हिन्दुत्व ने इस काल में पुरुषार्थ के चार सोपान बनाये एवं उन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के नाम से विख्यात किया। धर्म तो सब के लिये आवश्यक बताया गया, किंतु, मोक्ष-साधना के लिये वह उम्र बताई गई जब मनुष्य गृहस्थधर्म का पालन कर चुकता है, जब वह पितृ, ऋषि और देव ऋणों से मुक्त हो जाता है।[1] निवृत्ति या संन्यास

---

१. पिता जन्म देता है, इसलिए, पितृ-ऋण से मुक्ति तब होती है जब मनुष्य संतान उत्पन्न करता है। ऋषि ज्ञान देते हैं, जिससे उऋण होने का मार्ग है समाज में विद्या

का हिन्दुत्व न खंडन नहीं किया, प्रत्युत्, यह बताया कि अनुपातत:, निवृत्ति का स्थान जीवन में एक चौथाई होना चाहिए, अर्थात् मनुष्य की पूरी शक्ति का तीन अंश धर्म, अर्थ और काम के सेवन में जाना चाहिए, बाकी एक अंश वह संन्यास को दे सकता है। हिन्दुत्व निवृत्ति की बुराइयों से चौंका हुआ था और वह इसे किसी भी प्रकार सीमा से आगे बढ़ने देना नहीं चाहता था। इसलिए, शास्त्रों में हम अर्थ, धर्म और काम पर ही अधिक जोर देखते हैं जिनका सम्मिलित बोध **'त्रिवर्ग'** शब्द से होता है। समझा यह जाता था कि पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए संन्यास आवश्यक नहीं है, क्योंकि अर्थ और काम को धर्म के साथ भोगना ही सच्चा संन्यास है और इस त्रिवर्ग की साधना का स्वाभाविक परिणाम मोक्ष होता है। जाग्रत हिन्दुत्व ने जिस सत्य को ग्रहण किया था, उसका ध्येय निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति थी और प्रवृत्ति को धर्माचार्य चारों ओर से पुष्ट कर रहे थे। यह प्रयास गीता में सब से अधिक सफल हुआ है।

उपनिषदों ने जो परम्परा चलायी थी, वह निर्वैयक्तिक, निराकार ब्रह्म की परम्परा थी। जैन और बौद्ध आचार्यों ने जनता से वह कल्पना भी छीन ली और शून्य का ध्यान करने को मनुष्य का परम धर्म बताया। अतएव, जाग्रत हिन्दुत्व ने एक नये साहस का परिचय दिया एवं उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म की निर्वैयक्तिकता वाले अंश को पीछे छोड़ कर वह उन अंशों को आगे लाने लगा जिनमें ब्रह्म की साकारता का आख्यान था, जिनमें यह कहा गया था कि सृष्टि ब्रह्म की रचना है और ब्रह्म से प्रेम भी किया जा सकता है, उसकी प्रार्थना भी की जा सकती है। यह परम्परा गीता में भली भाँति प्रतिपादित हो चुकी थी। अब वह काव्य और लोकप्रिय दर्शन के द्वारा जनता में बिखेरी जाने लगी। यहीं से ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामक त्रिमूर्त्ति की कल्पना चली। एक ही ईश्वर के तीन रूप, एक रचयिता, एक पालक और एक संहारक। वैदिक आर्यों ने प्रकृति के रमणीय रूपों पर से विष्णु और भयानक रूपों पर से रुद्र की कल्पना निकाली थी। साथ ही, वे प्रजापति को भी पूजते थे। ये तीनों कल्पनाएँ देश भर की जनता के संस्कारों को साथ लेती हुई, अन्त में, त्रिमूर्त्ति की कल्पना में समाविष्ट हो गईं। यह हिन्दुत्व की सामासिकता का प्रोज्जवल प्रमाण था।

वैदिक धर्म से इस काल के हिन्दुत्व का जो भेद है, उसे एक लेखक ने यह कहकर प्रकट किया है कि वैदिक आर्य यज्ञवेदी को पूजते थे, किन्तु, इस काल के हिन्दू (अब वे शुद्ध आर्य नहीं थे) यज्ञवेदी के स्थान पर मन्दिर को ले आये। जो उत्साह पहले यज्ञों के लिए था, वह अब प्रतिमा-पूजन के लिए दिखाई देने लगा और जो उत्साह पहले प्रतिमा-पूजन में रहा

और संस्कृति को प्रोत्साहन देना। एवं देवता विश्व की रक्षा करते हैं, अतएव, उनका ऋण चुकाने का उपाय है सार्वजनिक सेवा का कार्य।

होगा वह अब यज्ञों के लिए शेष रह गया। आर्यों और द्रविड़ों की पूजाओं में भिन्नता थी। आर्य हवन करते थे, निराकार की समाधि करते थे, किन्तु, द्रविड़ों की पद्धति जनधर्म की पद्धति थी, उसमें पत्र-पुष्प-चन्दन के साथ स्तुति-पाठ और जनरुचि के अनुकूल अनुष्ठान होते थे। इस काल में आकर, ये दोनों पूजा-पद्धतियाँ एक हो गईं। वरन्, यह कहना चाहिए कि द्रविड़ पद्धति ने आर्य पद्धति को दबा दिया और हवन से कहीं अधिक, समाज में पूजा का प्रचार हो गया। यज्ञ और हवन, एक प्रकार से, उन्हीं के बीच चलते रहे जो स्मार्त हिन्दू थे ।

हिन्दुत्व की स्थापना तो बुद्ध से पूर्व अवश्य हो चुकी थी, किन्तु, उसकी सभी शाखाओं का तबतक विकास नहीं हुआ था। इसके लिए एक झकझोर जरूरी था, जो बौद्ध क्रांति से आया। इसके लिए, विभिन्न जातियों के संस्कारों को आत्मसात् करना आवश्यक था जिसकी प्रक्रिया सदियों से चली आ रही थी। गुप्त-काल तक (चौथी सदी) आते-आते, हिन्दुत्व का पूरा विकास हो गया और उसके वे सारे अंग पुष्ट हो गये, जिन्हें हम आज देखते हैं। निराकार के पार्श्व में साकार की उपासना, निर्वैयक्तिक के साथ-साथ वैयक्तिक ब्रह्म का ध्यान, ईश्वर और त्रिमूर्त्ति, दुर्गा और गणेश, दशावतार, वेद की प्रामाणिकता में विश्वास, निष्काम कर्म की महत्ता, जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद, वर्णाश्रम और त्रिवर्ग, वैष्णव, शैव और शाक्त उपासना की विधियाँ, मन्दिर और मूर्त्ति, तीर्थ और श्राद्ध, ज्ञान, भक्ति और कर्म के त्रिमार्ग, हिन्दुत्व के जो भी मुख्य अंग हैं, उसके जो भी प्रधान लक्षण और विषेशताएँ हैं, वे गुप्त-काल तक बढ़कर तैयार हो गईं। इसके बाद, हिन्दुत्व के निर्माण में कोई नई ईंट नहीं लगी। जो भी आंदोलन उठे, धूल झारने को उठे; जो भी धर्माचार्य आये, पपड़ियाँ तोड़ने को आये। तबसे हिन्दुत्व धूप और छाया में चलता हुआ अपने मूल रूप में कभी बदला नहीं है, यानी कहीं से भी उसने कोई बड़ा उपकरण नहीं लिया है।

जातियाँ जब जगती हैं, तब उनका भौगोलिक विस्तार भी होता है। मौर्योत्तर काल के जाग्रत भारतीय समाज में ऐसे विस्तार की भी कामना जगी और, इसी काल में, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और हिन्दचीन में भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ एवं भारत-बासियों ने वहाँ अपने राज्य कायम किये। ये राज्य तब तक चलते रहे जब तक कि मुस्लिम काल में, भारतीय मुसलमानों ने इन देशों में अपने धर्म का प्रचार नहीं किया। बाली द्वीप में हिन्दुत्व की परंपरा अभी हाल तक कायम थी। हालैंड वालों ने जब इस द्वीप पर अपना अधिकार जमाया, तब वहाँ के हिन्दू राजाओं ने डचों की अधीनता मानने से इन्कार कर दिया और सन् १९०८ ई० में वे, सच्चे राजपूत के समान, लड़ते-लड़ते समर में बलिदान हो गये। जावा और बाली में आज भी लाखों हिन्दू बसते हैं जो हिन्दुत्व या बौद्ध मत के अनुसार पूजा करते हैं एवं संस्कृत के श्लोक कंठस्थ रखते हैं। इंडोनेशिया की नई राष्ट्रीय

भाषा का नाम तो भाषा-इंडोनेशिया हो गया है, किन्तु, वहाँ की प्राचीन कवि-भाषा आज भी जीवित है और इसी भाषा में वहाँ के लोग रामायण तथा महाभारत का पाठ करते हैं ।

बौद्ध कवि अश्वघोष और महा दार्शनिक नागार्जुन इसी काल में हुए तथा कर्ले और नासिक के चैत्य, भारहुत और साँची के स्तूप तथा गान्धार, मथुरा और अमरावती की मूर्त्तियाँ इसी काल की रचनाएँ हैं । इसी काल के अन्तिम भाग में, अजन्ता की गुफाओं में चित्रकारी आरम्भ हुई जो आज तक संसार को चकित कर रही है ।

प्राचीन भारत और बाह्य विश्व

पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार ने लिखा है कि भारत में चिन्तन, खोज, अनुसंधान और बौद्धिक उन्नति की प्रक्रिया, प्रायः, ईसवी सन् की छठीं शताब्दी तक चलती रही।[1] उसके बाद, उसका अवरोध हो गया और तब से लेकर उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक, इस देश ने बुद्धि के क्षेत्र में कोई भी बड़ा काम नहीं किया। छठीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक का, प्रायः, बारह सौ वर्ष का समय इस देश ने व्यर्थ गँवाया। इस काल में, हम गणित और विज्ञान की दिशा में कोई भी नई बात नहीं सोच सके और अगर शंकराचार्य को बाद दे दें तो दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में भी, इस काल में हमने कोई नया अनुसंधान नहीं किया। कुछ काम आयुर्वेद के क्षेत्र में अवश्य हुआ, मगर, वह भी युगप्रवर्तक नहीं था। हाँ, इन बारह सौ वर्षों में यहाँ के पंडितों ने काव्यशास्त्र पर खूब चिन्तन किया और शब्दों की शक्ति का पता लगाने में वे दुनिया के और देशों से कहीं आगे निकल गये। इलियट ने लिखा है कि जब आलोचना बढ़ती है, तब रचना का ह्रास होता है। यह बात भारत पर भी लागू होती है, क्योंकि भामह (छठीं शताब्दी) से लेकर हिन्दी के रीतिकाल तक, इस देश में संस्कृत में जो भी काव्यरचना की गयी, वह वाल्मीकि और कालिदास की कोटि तक नहीं पहुँच सकी। उस साहित्य में, हम अपने जातीय जीवन का स्पन्दन नहीं पाते। वह पच्चीकारी के सौंदर्य से खचाखच भरा हुआ जरूर है, लेकिन, उसमें जीवन को आलोड़ित करने की शक्ति का पूरा अभाव है। मध्यकालीन हिन्दी तथा अन्य देश-भाषाओं के सन्त-साहित्य में नवीनता और ताजगी जरूर है, क्योंकि, वह सर्वथा नूतन प्रयोग था; मगर, बाकी तो, देश-भाषाओं में भी (विशेषतः हिन्दी में) रीति के नाम पर संस्कृत का अनुकरण ही मिलता है। जब जाति का हृदय-सरोवर सूख जाता है, वह रचना को छोड़ कर आलोचना में जा फँसती है। जब नई सूझें नहीं मिलतीं, तब कवि और कलाकार पुरानी चीजों पर ही पच्चीकारी और नक्काशी के चमत्कार दिखाने लगते हैं। अगर साहित्य जाति के भीतरी जीवन का प्रतिबिम्ब है, तो यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सातवीं सदी से अठारहवीं सदी तक का भारत निर्जीव देश था, उसमें परम्परा से आगे बढ़कर सोचने की शक्ति नहीं रह गई थी और धर्म के मामले में भी, वह बाहरी आडम्बरों तक ही देख सकता था। प्रायः, हजार वर्षों के इस गलित काल में अगर भारत की सनातन आत्मा कहीं कुछ तेज दिखा सकी तो वह सन्तों के साहित्य में। जब राजे उखड़ गये, पंडितों की आँखें

---

१. "लगभग ८०० ई. का कश्मीरी दार्शनिक जयन्त भट्ट सीधे शब्दों में कहता है कि हम में नई वस्तु की कल्पना करने की शक्ति कहाँ है।" (इतिहास-प्रवेश)।

फूट गयीं और ब्राह्मण धर्म के दलाल मात्र रह गये, तब हमारे धर्म और साहित्य, दोनों ने सन्तों की शरण पकड़ी और वहीं वे, अपने ढंग पर, पलते और पुष्ट होते रहे।

मगर, यह केवल भारत का ही हाल नहीं था। इस काल में, भारत से बाहर भी कहीं कोई बड़ा चिन्तन नहीं हुआ। असल में, छठीं शताब्दी तक जो कुछ भारत में सोचा जा चुका था, वही ज्ञान विश्वभर की पूँजी हुआ और इस काल में, भारत का चिन्तन जिन-जिन देशों में पहुंचा, उन-उन देशों में जिन्दगी की एक नई लहर दौड़ गई। खुद यूरोप में भी वैज्ञानिकता का आरम्भ सोलहवीं सदी में हुआ और अगर यह कहें कि यूरोप में रिनासाँ (बौद्धिक जागरण) का आरम्भ चौदहवीं सदी में होता है, तो भी इस अनुमान के लिये आधार रह जाता है कि अरबों ने भारत से जो कुछ लिया था, यूरोप के रिनासाँ के पीछे उस ज्ञान का भी हाथ था।

बाहरी दुनिया से सम्पर्क

अभी हाल तक, हिन्दू-समाज में यह अन्धविश्वास जारी था कि विदेश जाना पाप है, बल्कि, अब भी गाँवों में ऐसे लोग मौजूद हैं, जो समुद्र के पार जानेवाले हिन्दू को पतित समझते हैं। किन्तु, अत्यन्त प्राचीन काल में समुद्र-यात्रा पाप नहीं समझी जाती थी।

सिन्धु-सभ्यता वालों का सुमेर और बेबिलोन से निकट का संपर्क था, यह बात अब सभी विद्वान मानते हैं। जब आर्य इस देश में आये, तब ईरान से उनका संपर्क बना रहा। सच पूछिये तो ईरानियों और वैदिक आर्यों के बीच सीमा-विभाजन-जैसी कोई बात नहीं थी। आर्यों के उपनिवेश मेसोपोटामिया तक फैले हुए थे। उधर, ईरान की तरफ के मित्तनी और हित्ताइत राजे वैदिक देवताओं की प्रार्थना करते थे। जब बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ, तब उनका धर्म पश्चिमी एशिया में भी प्रचलित हुआ। कहते हैं, ईसामसीह ने जिस भूभाग में अपना धर्मोपदेश किया, वहाँ ईसा के सैंकड़ों वर्ष पूर्व ही, बौद्धधर्म का अमृत बरस चुका था। बौद्ध एवं ईसाई धर्मों के बीच हम जो समानता देखते हैं, उसका यही कारण है। बौद्ध मत के प्रभावों के कारण ईसाइयत का उदय हुआ, इस बात को रोमन चर्च के अनुयायी मानते हैं, बल्कि, **सेंट बोसाफेत** के नाम से वे बुद्ध को भी ईसाई संतों में ही गिन लेते हैं।

सिन्धु के मुहाने और ईरान की खाड़ी होकर भारत से यूरोप के बीच वाणिज्य-व्यापार को लेकर बड़ा ही गहरा सम्पर्क था। उन दिनों, हाथीदाँत, बन्दर, वस्त्र और मयूर इस देश के प्रधान निर्यात थे। ई० पू० ९७५ में राजा सोलमन ने अपने राजमहल को सजाने के लिए भारत से बहुत-सी चीजें मँगवायी थीं, इसका प्रमाण मिलता है। यूनान से भारत का सम्पर्क सिकन्दर के जमाने से ही नहीं, उसके बहुत पूर्व से था और दोनों देशों में दोनों देशों की भाषाओं के जानकार भी मौजूद थे। ग्रीस का यूनान नाम, असल में, उसके एक नगर **आयोनिया** के नाम पर चला था और आयोनिया से ही अरबों ने यूनान और भारतीयों

ने यवन शब्द बना लिये ।[1]

पाणिनि (ई० पू० चौथी सदी) में यवनानी लिपि का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान होता है कि उससे बहुत पूर्व, भारत और यूनान का सम्पर्क हो चुका था। इस काल में, भारत और यूनान के सम्बन्ध की कड़ी फारस (सं. पारस) या ईरान था। कहते हैं, ई० पू० ४८० में यूनान पर होने वाले ईरानी आक्रमण में भारत के भी योद्धा शामिल थे। और उस समय बहुत-से यूनानी लोग भी ईरानी साम्राज्य में अफसर थे तथा उनमें से कितने ही भारत में भी नियुक्त थे।

ईरान के जरिये, भारत के साथ होने वाले इस गहरे सम्बन्ध का प्रभाव यूनान के दर्शन पर पड़ा। यूनानी दर्शन का जनक थेल्स समझा जाता है। मगर, इस दर्शन की असली नींव एकजेनोफेन, परमेनिडिज और जीनो ने डाली थी, और इन दार्शनिकों के चिन्तन में हम प्रकृति में छिपे हुए किसी एक परम तत्त्व की खोज को बहुत स्पष्ट पाते हैं जो बहुत-कुछ ब्राह्मणों के सर्वात्मवाद के ही समान है।

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक पिथेगोरस का जन्म ई० पू० ५८० में हुआ था। उसके चरित-लेखक ने लिखा है कि पिथेगोरस ने मिस्र और असीरिया जाने के अलावे, ब्राह्मणों की भी संगति की थी। पिथेगोरस पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करता था और अनुमान यह है कि जन्मान्तरवाद की शिक्षा उसने हिन्दुओं से ही ली थी। पिथेगोरस ने यूनान को धर्म, दर्शन और गणित के सम्बन्ध में जो भी ज्ञान दिया, वह सब-का-सब भारत में छठीं शताब्दी के पहले ही विकसित हो चुका था। यह भी ध्यान देने की बात है कि पिथेगोरस महावीर और बुद्ध के समान (जिनका वह समकालीन भी था) ही जीव-हिंसा का विरोध करता था। पिथेगोरस और इम्पेडोकल्स, दोनों, ने दावा किया है कि अपने पुनर्जन्म की बातें उन्हें याद हैं जो भारत में बौद्ध साधकों का लक्षण माना जाता था। आगे चलकर, अफलातून ने इस पुनर्जन्म के सिद्धान्त के साथ कर्मवाद के सिद्धान्त को मिलाकर यूनान के लिए एक नवीन दर्शन की रचना की जो दर्शन बिलकुल भारतीय था। यही नहीं, अफलातून की 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक से यह भी प्रकट होता है कि वह मानता था कि कर्मानुसार मनुष्य की आत्मा पशुयोनि में और पशु की आत्मा मनुष्ययोनि में जा सकती है। अफलातून के वार्तालाप में जो यह कल्पना की गयी है कि पृथ्वी परमात्मा का शरीर, स्वर्ग मस्तक, सूर्य और चन्द्रमा आँखे और आकाश मन है, वह भी उपनिषदों की विराट कल्पना से अत्यन्त प्रभावित दीखती है।

---

१. यवन नाम पहले यूनानियों के लिए चलता था और उसका कोई बुरा अर्थ नहीं था। पीछे चलकर, इसका प्रयोग सभी विदेशियों के लिए किया जाने लगा और उसका अर्थ भी बुरा हो गया।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम से भारतवर्ष में मनुष्यों का जो विभाजन हुआ, उसकी प्रतिध्वनि भी अफलातून की रिपब्लिक में सुनायी देती है, जहाँ उसने समाज को तीन भागों (1. Guardians 2. Auxiliaries और 3. Craftsmen) में बाँटने की बात कही है। यह भी आश्चर्य की बात है कि जैसे भारत में ये चार वर्ण ब्रह्मा के चार अंगों से उत्पन्न बताये गये हैं, वैसे ही, सुकरात भी उन्हें परम-पुरुष से उत्पन्न बताता है। प्लोटिनस ने ईश्वर का वर्णन नेति-नेति कह कर किया है, जो फिर, उपनिषदों के नेति-वाद से प्रभावित दीखता है।

सिकन्दर के भारत-आगमन के बाद, भारत और यूनान के बीच का सम्बन्ध और भी गहरा हो गया। सीरिया में यूनानी दरबार था जहाँ से राजदूत भारत को आते ही रहते थे। मेगस्थनीज पाटलिपुत्र कई बार आया था। उसके बाद, पाटलिपुत्र में सीरिया का राजदूत डैमेक्स नियुक्त हुआ। बिन्दुसार ने राजा एंटियोकस प्रथम से शराब मँगवायी थी, यह कथा भी मिलती है। अशोक ने अपने पड़ोसी राजाओं को बौद्ध बनाने का मनसूबा बाँधा था और उसके प्रचारक एशियाई देशों में जाने के सिवा, मैसिडोनिया भी पहुँचे थे।

मौर्य-साम्राज्य के टूटने के बाद, बैक्ट्रियन यूनानियों का राज्य पंजाब तक आ पहुँचा और स्यालकोट (सागल) के राजा मिनेंडर ने बौद्ध धर्म कबूल कर लिया, यह बात मिलिन्द प्रश्न से प्रत्यक्ष है।

ईसा की पहली सदी में, यूनानियों का राज्य यूची या कुशान जाति के हाथों में आ पड़ा। कनिष्क इसी जाति का राजा था जो बौद्ध हो गया था। कनिष्क के राज्यकाल में ही बुद्ध की पहली मूर्त्ति बनी। कहते हैं, कनिष्क के मूर्त्तिकार यूनान, भारत, ईरान और चीन, सभी देशों से आये थे और उसके समय में गान्धार-कला का जो विकास हुआ, उसमें इन सभी देशों के कलाकारों का हाथ था।

कुशान राजाओं के समय, रोम का साम्राज्य फुरात नदी के किनारे तक फैला हुआ था, अतएव, भारत के राजाओं से रोम का निकट का सम्बन्ध था। भारत के राजाओं के दूत रोम के दरबार में जाते ही रहते थे, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

दक्षिण भारत में उपजनेवाली कुछ चीजों की रोम के बाजारों में अच्छी खपत थी। इसलिए, मालाबार से लेकर रोम तक का समुद्री रास्ता दोनों देशों के लिए आम हो गया था। ईसा की पहली सदी में, यूरोप और भारत के बीच, स्थल की राह जितनी छोटी थी, सन् १८३८ ई. (जबकि नवीन स्थलमार्ग निर्धारित किया गया) के पूर्व तक वह उतनी छोटी कभी नहीं हो पायी थी। कहते हैं, पहली सदी में भारत के लोग इटली तक सिर्फ सोलह सप्ताहों में पहुँच जाते थे। तमिल की एक पुरानी कविता में यवन-देश से आने वाले जहाजों का उल्लेख है। ये यवन म्लेच्छ तो जरूर समझे जाते थे, लेकिन, राज-दरबारों में उन्हें

अच्छी-अच्छी नौकरियाँ भी दी जाती थीं। पेरिप्लस के एक लेख से पता चलता है कि किसी तमिल राजा के रनिवास के लिए कुछ यवनानियाँ यूनान से मँगायी गयी थीं। "कनिष्क के समय के करीब, एक रोमन लेखक ने शिकायत की है कि भारतवर्ष रोम से हर साल साढ़े पाँच करोड़ का सोना खींच लेता है और यह कीमत हमें अपनी ऐयाशी और अपनी स्त्रियों की खातिर देनी पड़ती है। एक दूसरे रोमन लेखक ने रोमन स्त्रियों की शिकायत करते हुए लिखा है कि वे भारतवर्ष से आने वाले "बुनी हुई हवा की जाली" (मलमल) पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती थीं।" (जयचंद्र)

ईसवी सन् के आरम्भ होते-होते, भारत का दर्शन एशिया माइनर और मिस्र के इलाकों में बहुत प्रख्यात हो गया था और तक्षशिला के विद्यालय में केवल भारतीय ही नहीं, बहुत-से बाहरी देशों के छात्र भी विद्या पढ़ने आते थे। अफलातून के दर्शन की नई व्याख्या (Neo-Platonism) करने वाले प्लाटिनस को तो भारत के ब्राह्मण से मिलने की इतनी उत्सुकता थी कि वह ईरानी साम्राज्य पर होनेवाली चढ़ाई में इसीलिए साथ हो गया था कि कहीं उसे कोई ब्राह्मण मिल जाय। प्लाटिनस की मुलाकात किसी ब्राह्मण से हुई या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है, लेकिन, अफलातून के दर्शन की उसने जो व्याख्या की है, उस पर ब्राह्मण-धर्म की स्पष्ट छाप है। "जो आत्माएँ शुद्ध हो चुकी हैं और शरीर पर जिनका तनिक भी मोह नहीं है, वे फिर से शरीर धारण नहीं करेंगी। पूर्णरूप से अनासक्त होने पर वे चैतन्य वास्तविकता में विलीन हो जायेंगी।" यह और कुछ नहीं, उपनिषदों के मोक्ष और बौद्ध मत के निर्वाण की प्रतिध्वनि है जिसकी साधना भारत में की गयी थी और जिसके नाद से उस समय का सारा संसार गूँज रहा था।

क्लिमेण्ट (अलेक्जेंड्रिया १५०-२१८ ई०) ने लिखा है कि "अलेक्जेंड्रिया में बौद्धों की संख्या बहुत है और यूनान वालों ने इन्हीं बर्बरों से दर्शन चुराया है।" अलेक्जेंड्रिया में बसने वाले बौद्धों और हिन्दुओं की तायदाद बहुत काफी थी, इसके और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं।

बौद्ध जातकों और ईसाई धर्मग्रन्थों की बहुत-सी कथाएँ एक-सी लगती हैं। इसपर से मैक्समूलर ने यह अनुमान लगाया था कि ईसाई धर्मग्रन्थों पर बौद्ध जातकों का स्पष्ट प्रभाव है। अलेक्जेंड्रिया के ईसाइयों में माला फेरने और कृच्छ्र साधना का जो रिवाज था, वह भी उस नगर में बौद्धों के प्रभाव ही प्रचलित हुआ था। तक्षशिला के ही समान, अलेक्जेंड्रिया भी विद्या का प्रख्यात केन्द्र थी। इस नगर का पतन ६४२ ई० में (मोहम्मद साहब के मरने के दस साल बाद) हुआ, जब हजरत उमर मुसलमानों के खलीफा थे। कहते हैं, "अलेक्जेंड्रिया के पुस्तकालय में इतनी पांडुलिपियाँ थीं कि मुसलमान उन्हें छह महीनों तक जला कर नहाने का पानी गर्म करते रहे।" (एच० जी० राबिल्सन)।

अरबी सभ्यता के प्रधान केन्द्र बगदाद, कैरो (मिस्र) और कारडोवा (स्पेन) में बने। बगदाद की स्थापना सन् ७६२ ई० में हुई और तभी से यह भारत और यूरोप के बीच व्यापार का प्रमुख अड्डा बन गया। इस नगर का विध्वंस सन् १२५८ ई० में मंगोल लुटेरों (चंगेज खाँ के उत्तराधिकारी हलाकू) ने किया। मगर, जब तक यह शहर कायम था, इसके जरिये भारत का ज्ञान सारे यूरोप में पहुँचता रहा।

अरबों के पास अपनी संस्कृति कम थी। उन्होंने जो कुछ भी लिया, भारत या यूनान से लिया। अलबेरुनी, जो महमूद गजनी के साथ भारत आया था, अरब देश का ही वासी था। उसे हिन्दू-सभ्यता से अनुरक्ति थी और यहाँ की सभ्यता की बहुत-सी बातें उसके मार्फत भी अरब और वहाँ से फिर यूरोप पहुँचीं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि प्राचीन काल में भारत ने स्वयं अथवा यूनान का यत्किंचित् प्रभाव लेकर जिन विद्याओं का विकास किया था, वे विद्याएँ अरबों के द्वारा फिर यूरोप पहुँचीं और, इस प्रकार, प्राचीन विश्व में ज्ञान का जो आदान-प्रदान हुआ, उसी की नींव पर आधुनिक जगत् की विद्याएँ बढ़ी हैं। एक यह भी विलक्षणता है कि भारतीय पंडितों ने तो, अक्सर, यूनान का ऋण स्वीकार किया है, किन्तु, अरबी पंडित ऐसी किसी स्वीकृति की सूचना नहीं देते। उदाहरण के लिए, हमारे ज्योतिष-ग्रन्थों में एक ग्रन्थ रोमक-सिद्धान्त भी है जिससे रोमन नाम का संकेत मिलता है। एक दूसरे ग्रन्थ पौलिष-सिद्धान्त के बारे में भी यह कहा जाता है कि वह अलेक्जेंड्रिया के विद्वान पौल के सिद्धान्तों के अनुसार लिखा गया था। इन ग्रन्थों के साथ भारत के अन्य ज्योतिष एवं गणित-सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद पहले अरबी में हुआ और तब लैटिन में। इस प्रकार, भारत का ज्ञान सारे संसार की पूँजी बन गया।

आयुर्वेद के प्रधान आचार्य चरक कनिष्क के दरबार में रहते थे। अतएव, अनुमान यह किया जाता है कि उन्होंने अपनी संहिता की रचना में यूनानी आयुर्वेद से भी सहायता ली होगी। बाद को, चरक-संहिता भी अरबी में अनूदित हुई और अरबी से यह ज्ञान भी लैटिन भाषा में पहुँचा।

अरब में भारतीय संस्कृति और ज्ञान का काफी आदर था, इस विषय में सन्देह नहीं है। अरब जाति के लोग जिज्ञासु थे तथा इसी जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने भारत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद अपनी भाषा में किया था। हिजरी सन् की दूसरी सदी में, उन्होंने बौद्ध साहित्य का अरबी में अनुवाद किया जो **'किताबुल-बुद'** और **बिलावर वा बुदासिफ'** के नाम से मशहूर है। इसी प्रकार, ज्योतिष और गणित की पुस्तकों का अनुवाद उन्होंने 'सिन्द हिन्द' (सिद्धान्त) के नाम से, सुश्रुत का अनुवाद 'सुश्रुद' के नाम से, चरक का अनुवाद 'सिरक' के नाम से, पंचतंत्र का अनुवाद 'कलिलादमना' (करटक-दमनक) के नाम से तथा

चाणक्य-नीति का अनुवाद 'शानक' के नाम से और हितोपदेश का अनुवाद 'बिदपा' के नाम से किया। कहते हैं, किताब सिन्दबाद की रचना भी भारतीय कथाओं के आधार पर की गयी थी। इसके सिवा, भारतीय संस्कृति और धर्म के विषय पर अनेक अरबी यात्रियों ने (अलबेरुनी, अल-असारी, अल-नदाम आदि) भी अपनी किताबों में अध्याय-के-अध्याय लिखे। अलकिन्दी ने भारतीय धर्म पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही लिख डाला। इसी प्रकार, सुलेमान और मसूदी ने भी, यात्राओं के प्रसंग में, भारत-विषयक जो ज्ञान संचित किया था, उसका उपयोग उन्होंने अपनी किताबों में खूब किया। शतरंज का भारतीय खेल भी अरब होकर ही यूरोप पहुँचा। भारत में इस खेल (चतुरंग) का प्रथम उल्लेख बाण (६२५ ई०) की रचना में मिलता है।

और तो और, जिन अंकों को हम अन्तर्राष्ट्रीय कहते हैं, वे भी भारत से ही अरब गये थे और अरबों से वे यूरोप को मिले, जिसका प्रमाण यह है कि अरबी में अभी तक अंकों का नाम 'हिन्दसा' है। इसी तरह, अरबी का नौबहार भारत के नवविहार का रूपान्तर-मात्र है। अचरज यह है कि अरबों ने अपने चिकित्सा-शास्त्र को यूनानी क्यों कहा, जबकि भारत के आयुर्वेद से उसका इतना मेल है। यह भी सम्भव है कि उन्होंने चिकित्सा-सम्बन्धी कुछ बातें यूनान से भी पायी हों और, इस प्रकार, इस विद्या का यूनानी नाम ही उन्हें पसन्द आ गया हो।

इसका भी प्रमाण मिला है कि भारत में प्रचलित कथाएँ (जातक, पंचतंत्र, हितोपदेश, शुक-सप्तति आदि) बहुत प्राचीन काल से देश के बाहर पहुँचती रही हैं। सिंह की खाल ओढ़नेवाले गधे की कहानी अफलातून की किताब में मिली है। शुक-सप्तति भी ईरान में तूतीनामा के नाम से प्रचलित थी और वहीं से वह यूरोप पहुँची। अरेबियन नाइट्स की कहानियों की मूल-रचना सन् ९५० के आसपास हारूँ-अल-रशीद के राज्यकाल में बसरा में हुई थी। इसके लेखक ने स्वीकार किया है कि इन कहानियों का आधार ईरानी, यूनानी और भारतीय कहानियाँ हैं।

ऐसप्स फैबुल्स में जो जीव-जन्तु-विषयक कहानियाँ हैं, वे भी पूरब से ही पश्चिम को गयी हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनमें आनेवाले जीव सिंह, शृगाल, हाथी और मयूर, ये सब-के-सब भारतीय हैं। भारत का शृगाल ही यूरोपीय साहित्य में बदल कर लोमड़ी हो गया है। राबिल्सन का यह भी ख्याल है कि शेक्सपियर के नाटक में एक पौण्ड मांस की जो कथा है वह भी जन्म से भारतीय है, यद्यपि, यह पता नहीं चलता कि यह कहानी शेक्सपियर को मिली कैसे।

गणित, ज्योतिष और विज्ञान

विज्ञान की उत्पत्ति के संबंध में विल डुरांट का मत है कि सारी सभ्यता के समान, यह भी कृषि से ही विकसित हुआ होगा। ज्योमेट्री (रेखागणित) का अर्थ ही जमीन नापना होता है। फसल और ऋतु के संबंध में सोचते-सोचते आदमी का ध्यान नक्षत्रों की ओर गया होगा और उसे जंत्री, पंचांग या कैलेंडर-जैसी कोई चीज तैयार करने की बात सूझी होगी जिससे अन्त में ज्योतिष का आविष्कार हुआ। गणितों में ज्योतिष, शायद, प्राचीनतम विद्या है और ज्योतिष में भी फलित ज्योतिष ही पहले आया होगा। गणित ज्योतिष का विकास उन लोगों की आवश्यकता से हुआ होगा, जिन्हें नाव लेकर समुद्र पार करना पड़ता था। वाणिज्य-व्यापार में लगे रहनेवालों ने अंकगणित की आवश्यकता महसूस की होगी और आदिम उद्योग स्थापित करने के सिलसिले में ही, पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्र का आरंभ हुआ होगा।

आरम्भ से ही, धर्मप्राण होने के कारण, भारत के विषय में यह अनुमान है कि यहाँ विज्ञान का भी जन्म धर्म की गोद में हुआ है। आर्य ग्रहों और नक्षत्रों की ओर पूजा के भाव से देखते थे। ग्रहों की चाल समझ कर वे पर्व-त्योहार का दिन निश्चित करते थे। इसी प्रक्रिया से यहाँ ज्योतिष का विकास हुआ। इसी प्रकार, मंत्रों का पाठ शुद्ध-शुद्ध हो, इस आवश्यकता से यहाँ व्याकरण और निरुक्त विकसित हुए। रेखागणित भी यज्ञ की वेदी बनाने के सिलसिले में, रेखाओं की माप-जोख से जन्मा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

अन्यत्र की भाँति यहाँ भी, फलित ज्योतिष पहले और गणित ज्योतिष बाद को विकसित हुआ और इसका कारण लोग यूनान का प्रभाव मानते हैं, क्योंकि वराहमिहिर (छठीं शती) ने अपने ऊपर यूनान का ऋण स्वीकार किया है।[1] ज्योतिष और गणित के प्राचीन आचार्यों में आर्यभट्ट का स्थान (जन्म ४७६ ई०) भारत में ही नहीं, सारे विश्व में बहुत ऊँचा माना जाता है। उन्होंने ग्रहण की भविष्यवाणी करने की विधि निकाली थी और पहले-पहल संसार को यह ज्ञान उन्होंने ही दिया कि सूर्य स्थिर है, उस के चारों ओर पृथ्वी ही घूमती है जिससे दिन और रात होते हैं। आर्यभट्ट के बाद, दूसरे आचार्य ब्रह्मगुप्त हुए जिन्होंने भारत की ज्योतिष-विद्या को संगठित रूप दिया, किन्तु, वे आर्य भट्ट की पृथ्वी के घूमनेवाली घोषणा से सहमत नहीं हो सके। ब्रह्मगुप्त के बाद होनेवाले आचार्यों ने ज्योतिष का और विकास किया तथा पंडितों का अनुमान है कि इस काल में आकर हमारे ज्योतिष-शास्त्र पर बैबिलोन के भी ज्योतिषों का प्रभाव पड़ा। "इस काल में भारतीय पंडितों को यह पता चल गया था

---

१. ज्योतिषी वराहमिहिर ने लिखा है, "यवन (यूनानी) लोग म्लेच्छ हैं, पर उनमें इस शास्त्र का ज्ञान है। इस कारण, वे ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं।" (जयचंद्र)।

कि पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण-शक्ति है जिससे वह चीजों को अपनी ओर खींच लेती है।[1]

एक से नौ तक के अंक, शून्य का गणित-सम्बन्धी महत्त्व[2] और दशमलव की पद्धति, इन सारी बातों का आविष्कार भारत में ही हुआ था और यहीं से ये चीजें अरब होकर पहले यूरोप और पीछे सारे संसार में फैलीं। जिन्हें हम अन्तर्राष्ट्रीय अंक या अरेबिक न्यूमरल्स' कहते हैं, वे अरब में नहीं, भारत में उत्पन्न हुए थे। अरब में पाये जाने के कोई एक हजार वर्ष पूर्व, इन अंकों का प्रयोग अशोक के शिलालेखों में (ई०पू० २५६) हुआ था।

दशमलव-पद्धति का ज्ञान आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त के समय इस देश में काफी प्रचलित था। बौद्ध धर्म-प्रचारकों के जरिये यह ज्ञान चीन पहुँचा और बगदाद में इसका प्रचार सन् ८५० ई० के लगभग हुआ।

बीजगणित का विकास भारत और यूनान, दोनों ही देशों में, शायद, स्वतंत्र रूप से हुआ था, यद्यपि, कुछ पाश्चात्य पंडितों का ही यह भी अनुमान है कि यह विद्या पहले भारत में जन्मी और यहीं से वह यूनानवालों को मिली थी। अंगरेजी में इस विद्या को अलजबरा कहते हैं जो अरबी शब्द (अल-जबर) है। किन्तु, इससे इतना ही सिद्ध होता है कि अन्य अनेक विद्याओं की तरह, यह विद्या भी यूरोपवालों को अरब के मार्फत मिली है।

कहते हैं, रेखागणित (ज्योमेट्री) का स्वतंत्र विकास भारत में नहीं हो पाया था और इस विद्या के विकास की प्रक्रिया यहाँ यूनान के प्रभाव के कारण सम्भव हुई। किन्तु, आर्यभट्ट और भास्कराचार्य रेखागणित के भी आचार्य थे, यह बात भुलायी नहीं जा सकती। सूर्य-सिद्धान्त के बारे में भी यह माना जाता है कि उसमें ट्रिगिनामेट्री का ऐसा उन्नत रूप मिलता है, जो तत्कालीन यूनान के अनुमान के भी बाहर था।

पदार्थ-विज्ञान की दिशा में पहला नाम **कणाद** का माना जाना चाहिए जिनका मत था कि सृष्टि अणुओं से बनी हुई है। अणुवाद का समर्थन जैन-दर्शन भी करता है। उदयनाचार्य का मत था कि प्रकाश एवं उष्णता का एकमात्र कारण सूर्य है और वाचस्पति मिश्र प्रकाश को भी परमाणुओं से निर्मित मानते थे। कहा जाता है कि ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी में हिन्दुओं के यहाँ एक प्रकार के दिग्दर्शक यंत्र का भी प्रचार था जो लोहे का होता था, तेल में रखा जाता था और जो बराबर उत्तर दिशा की ओर इंगित करता था।

रसायनशास्त्र का विकास यहाँ आयुर्वेद और उद्योग की वृद्धि के कारण हुआ। गुप्त-काल में भारत का उद्योग बहुत बढ़ा-चढ़ा था और रोमवाले यह मानते थे कि कपड़ा

---

१. आवर ओरयंटल हेरिटेज—विल डुरांट.

२. "इकाई के आगे शून्य लगा कर दहाई बना ली जाय, यह आविष्कार पहले-पहल चौथी शती में यहीं हुआ। यूरोप वालों ने यह तरीका तेरहवीं-चौदहवीं शती में जाकर सीखा।" (जयचंद्र)।

रँगने, चमड़ा चढ़ाने, साबुन बनाने और शीशा तथा सीमेण्ट बनाने में भारत के कारीगर सभी देशों के कारीगरों से आगे हैं। स्वर्ण, लौह, मोती, ताम्बे और पारे की रासायनिक क्रिया का ज्ञान यहाँ खूब विकसित हो चुका था तथा छठीं-सातवीं सदी में औद्योगिक रसायन के क्षेत्र में भारत सारे संसार का अग्रणी था। लोहा गलाने के काम में तो भारत अभी हाल तक यूरोप से आगे था।

चिकित्सा के क्षेत्र में तो प्राचीन विश्व में, शायद, भारत सबका गुरु था। सुश्रुत (ई० पू० पाँचवी सदी), चरक (दूसरी सदी), वाग्भट्ट (छठीं सदी) और भवमिश्र (१५५० ई०)—ये आयुर्वेद के चार प्रधान आचार्यों के नाम हैं जिन्होंने शरीर-विज्ञान और औषधि-विज्ञान की इस देश में बहुत उन्नति की। आयुर्वेद का विकास यहाँ बहुत दिनों तक होता रहा और जब भी कोई नई बीमारी उत्पन्न हुई, आचार्यों ने उसकी चिकित्सा का उपाय जरूर सोचा। उपदंश का उल्लेख भवमिश्र की पुस्तक में मिलता है, यद्यपि, यूरोप से यह रोग भारत में, पुर्तगालवालों के जरिये, अभी-अभी पहुँचा था। उन दिनों, यहाँ के वैद्य केवल औषधियों का ही प्रयोग नहीं करते थे, बल्कि, चीर-फाड़ से भी उन्हें कोई घृणा नहीं थी। शल्यचिकित्सा के यहाँ कोई सवा नौ सौ औजार प्रचलित थे और गैरिसन का कहना है कि "ऐसा कोई भी बड़ा आपरेशन नहीं था, जिसे प्राचीन हिन्दू सफलतापूर्वक नहीं कर सकते थे।" जब भारत के पतन का दिन आया, हमारा धर्म जड़ हो गया और मिथ्या पवित्रता की रक्षा के लिए, जैसे लोग समुद्र-यात्रा को पाप समझने लगे, वैसे ही, उन्होंने शल्य-चिकित्सा को भी छोड़ दिया। आज तो आयुर्वेद में शल्य-चिकित्सा की बात ही कपोल-कल्पित-सी लगती है, मगर, प्राचीन भारत में इसका व्यापक प्रचार था। बौद्धग्रन्थ में एक कथा आयी है कि जीवक नामक वैद्य ने एक सेठ के मस्तक का आपरेशन किया था। हैवेल ने लिखा है कि खलीफा हारूँ-अल-रशीद भारत की चिकित्सा-पद्धति का पूरा कायल था और अपने राज्य में, अस्पतालों का संगठन करने के लिए, उसने भारत से अनेक वैद्य बुलवाये थे। लाला लाजपत राय ने अपनी **'अनहैपी इंडिया'** में लार्ड एम्पथिल का यह मत उद्धृत किया है कि "मध्यकालीन तथा अर्वाचीन यूरोप को चिकित्सा-सम्बन्धी सारा ज्ञान अरबों से मिला था और अरबों को भारत से।"

बृहत्तर भारत से संबंध

बर्मा और श्याम से दक्षिण और पूर्व की ओर जो भूभाग और अनेक द्वीप हैं, उन्हीं का नाम बृहत्तर भारत है। श्याम से पूरब की ओर जो इंडोचायना नामक देश है वह, असल में, भारत का ही वह भाग है जो चीन के पास पड़ता है। इसलिए, उसका इंडो-चायना, हिन्दचीन या भारत-चीन नाम बहुत ही सार्थक है। इसी प्रकार, इंडोनेशिया नाम दो यूनानी शब्दों के योग से बना है। इंडो (INDOS)=इंडिया या भारत+नेसस

(NESOS) = द्वीप। अतएव, इंडोनेशिया का अर्थ भारत-द्वीप है।

बृहत्तर भारत के नाम से जिन भूभागों और द्वीपों का बोध होता है, वे एक समय भारत के उपनिवेश ही नहीं, प्रत्युत्, उसके अंग समझे जाते थे। प्राचीन भारत के हिन्दू बड़े साहसी व्यापारी थे। सके सिवा,, उनमें अपनी संस्कृति और धर्म के प्रचार का भी पूरा उत्साह था। इतिहास यह तो नहीं बतलाता है कि भारतवासियों ने अन्य जातियों को अपना दास बनाने के लिए कभी दूसरे देशों पर आक्रमण किया, किन्तु, यह बात तो सिद्ध है कि धर्म एवं संस्कृति के प्रचारार्थ तथा व्यापार के लिए भारतवासी दूर देशों की यात्राएँ करते थे, बड़ी-बड़ी नौकाओं का बेड़ा लेकर हज़ारों मील समुद्र के पार चले जाते थे और वन-पर्वतों को लाँघ कर दूसरे देशों से संबंध स्थापित करते थे। भारत का व्यापार पूर्वी और पश्चिमी, दोनों ही दिशाओं के देशों के साथ चलता था और दोनों ही दिशाओं से उसका सांस्कृतिक संबंध भी था। किन्तु, उन दिनों की याद अब केवल भारत-चीन और भारत-द्वीपों में ही बची हुई है और ऐसा लगता है, मानों, भारतीय जनता यदि देश के बाहर की जनता से अपना सांस्कृतिक संबंध बढ़ाना चाहे तो इस कार्य में उसे जितनी सफलता बर्मा, श्याम, भारत-चीन, मलाया, सुमात्रा, जावा और बाली में मिलेगी, उतनी और कहीं नहीं मिल सकती। इन देशों में अब इस्लाम और ईसाइयत का बहुत प्रचार है और हिन्दू वहाँ बहुत कम रह गये हैं। किन्तु, सांस्कृतिक दृष्टि से वहाँ की जनता पर भारतीयता की स्पष्ट छाप है—यहाँ तक कि जावा के मुसलमान भी मूत्तियों पर पुष्प चढ़ाने, मन्दिरों में आरती जलाने तथा पवित्रतापूर्वक उनकी रक्षा करने में कोई दोष नहीं मानते। उनके नाटक और गीत अब भी रामायण और महाभारत की कथाओं का आधार लेकर चलते हैं तथा उनके नाम और उपाधियाँ अब भी संस्कृतपूर्ण होती हैं। भारत-द्वीप (इंडोनेशिया) के राष्ट्रपति का सुकर्ण नाम उनके पिता जी ने महाभारत के पात्र, महारथी कर्ण के नाम पर रखा था एवं भारत-द्वीप के प्रधान मंत्री का नाम संस्कृत नाम "शास्त्र-अमितजय" से निकला हुआ है। जोगजकर्ता के सुलतान की उपाधि, भुवनो-सेनापति शुद्ध संस्कृत उपाधि है एवं द्वीपों के जावा, सुमात्रा आदि नाम भी संस्कृत नामों के तत्सम या तद्भव रूप हैं। भारत-द्वीप के राष्ट्रपति डाक्टर सुकर्णो ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को पत्र लिखते हुए एक बार लिखा था कि "आपका देश और आपकी जनता, इतिहास के आरंभकाल से ही, हमारे साथ रक्त और संस्कृति, दोनों ही, सूत्रों से बँधी हुई है। इंडिया नाम को एक क्षण के लिए भी विस्मृत करना हमारे लिए असंभव है, क्योंकि यह शब्द हमारे देश के नाम का प्रथमार्द्ध (इडो) है। जिस स्थान से मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ उसका जोगजकर्ता नाम भी (योग्यकर्ता) जावा और सुमात्रा के समान शुद्ध संस्कृत नाम है। आपके प्राचीन देश की संस्कृति का उत्तराधिकार हमें कहाँ तक प्राप्त हुआ है,

इसका एक उज्ज्वल प्रमाण मेरा अपना नाम भी है। जब मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ, तभी प्रोबोलिंगो के बन्दरगाह में एक जहाज पर चावल लादा जा रहा है जो भारत भेजा जायेगा। प्रोबोलिंगो नाम दो संस्कृत शब्दों—पूर्व और कलिंग—के योग से बना है। यही वह स्थान है जहाँ पर पहले-पहल भारतीयों की टुकड़ी इंडोनेशिया में उतरी थी। वे लोग कलिंग के वासी थे और यव की खोज करते हुए यहाँ आये थे जिससे इस देश का नाम जावा पड़ गया।"

डाक्टर सुकर्णो ने जो भाव व्यक्त किया है, वही भाव भारत-चीन, सुमात्रा, मलाया और बोर्नियो तथा बाली के निवासियों का भी हो सकता है, क्योंकि हमारा जो संबंध यवद्वीप के साथ था, वही संबंध सभी दक्षिण-पूर्वी द्वीपों के साथ रहा होगा। इस संबंध की व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ द्वीपों में उपलब्ध भारतीय लक्षणों को अलग-अलग समझने की चेष्टा करें।

बाली द्वीप

आज भारत से बाहर भारतीयता का सबसे प्रोज्ज्वल प्रमाण यदि कहीं अवशिष्ट है तो वह बाली द्वीप में है। यह द्वीप भारत से कोई तीन हजार मील दूर, सुमात्रा से भी पूर्व की ओर बसा हुआ है। इसका क्षेत्रफल २२४३ वर्गमील और जन-संख्या कोई पन्द्रह लाख है जिसमें से अधिकांश लोग आज भी हिन्दू हैं। ये लोग शैव हैं। किन्तु, सच्चे हिन्दू के समान वे पंचदेवताओं में से प्रत्येक की पूजा करते हैं। उनके मंत्र और स्तोत्र, सब संस्कृत में होते हैं एवं उनके पादण्ड (पुरोहित) आज भी संस्कृत का अभ्यास करते हैं। स्वामी सदानन्द ने अपनी पुस्तक (हिन्दू कलचर इन ग्रेटर इंडिया) में लिखा है कि बाली द्वीप में हिन्दू धर्म जिस पवित्रता के साथ जी रहा है, उस पवित्रता के साथ वह अब भारत में भी उपलब्ध नहीं है।

कहते हैं, बाली नाम बलि से निकला है। पुराणों में वामन-बलि की जो कथा है उसमें कहा गया है कि राजा बलि पाताल में राज्य करता था। वही पाताल यह बाली देश है और बलि यहीं के राजा थे। विद्वानों का अनुमान है कि बलि के समय यह द्वीप भीरत के साथ स्थल-मार्ग से जुड़ा हुआ था, किन्तु, वह भूभाग, कालान्तर में, समुद्र के भीतर चला गया। यदि यह अनुमान ठीक हो तो बाली-द्वीप तो वामन-भगवान का अवतार-स्थल होने के कारण, सभी हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ-द्वीप ठहरता है।

हिन्दू बाली में कब पहुँचे थे, इसका ठीक पता नहीं चलता। किन्तु, लियांग-वंश के चीनी इतिहासकार (५०२ से ५५६ ई.) ने लिखा है कि बाली के राजा कौंडिन्य-वंश के थे। उस राज्य का चीन के साथ भी संबंध था और सन् ५१८ ई० में बाली के राजा ने चीन के राजा के पास दूत भेजा था। इत्सिंग नामक चीनी यात्री ने लिखा है कि बाली द्वीप की

जनता ने मूल-सर्वास्तिवाद-निकाय को सर्वतोभावेन ग्रहण कर लिया है।

जावा और बाली की जनता पर रामायण और महाभारत का व्यापक प्रभाव है, बल्कि, महाभारत का प्रचार जावा में बाली से भी अधिक है। बाली की भाषा मलाई भाषा का एक रूप है, किन्तु, उसमें संस्कृत के बहुत शब्द मिले हुए हैं। बाली के ब्राह्मणों में संस्कृत के लिए अब भी उत्साह है क्योंकि संस्कृत उनके धर्म की भाषा है। बाली के हिन्दू चतुर्वर्ण को मानते हैं, शवों को जलाते और उनका श्राद्ध भी करते हैं तथा बालिकाओं का विवाह, वहाँ, प्रायः स्वयंवर-विधि से होता है। कहते हैं, बाली की जनता भारतवासियों को संस्कृत का ज्ञाता समझती है, किन्तु, जब भारतीयों को वह अन्य भाषा बोलते देखती है तब उसे आश्चर्य होने लगता है।

यव द्वीप

यवद्वीप का उल्लेख वाल्मीकि-रामायण के किष्किंधा काण्ड में आया है, जहाँ सुग्रीव वानरों को सीता की खोज करने के लिए अनेक दिशाओं में भेज रहे हैं। ब्रह्माण्ड-पुराण में यवद्वीप के साथ मलयद्वीप, अंगद्वीप, शंखद्वीप, कुशद्वीप और वराहद्वीप का भी उल्लेख है। अवश्य ही, ये नाम जावा और उसके आसपास के द्वीपों के होंगे। कथासरित्सागर में भी यवद्वीप का नाम आया है।

यवद्वीप या जावा का क्षेत्रफल ५१,४८० वर्गमील है और उसकी जनसंख्या सन १९४० ई. में, ४,८४,१६,००० थी। जावा में पर्वत की सबसे ऊँची चोटी का नाम सुमेरु है। जावा की अत्यधिक जनता अब इस्लाम धर्म को मानती है तथा हिन्दुओं की संख्या वहाँ अत्यन्त न्यून है। किन्तु, जावा की प्राचीन हिन्दू-संस्कृति का त्याग वहाँ की मुस्लिम जनता ने भी नहीं किया है। रामायण और महाभारत की कथाएँ जावाई जनता के जीवन में घुली हुई हैं और इन कथाओं के नायकों को जनता अपना आदर्श मानती है। जावा और बाली में छाया-नाटकों का बहुत प्रचलन है। वहाँ की भाषा में छाया-नाटक को "वयंग ओरंग" कहते हैं जिसका मूल संस्कृत का व्यंग्य शब्द है। वयंग ओरंग में राम-रावण-युद्ध, द्रौपदी-स्वयंवर, अर्जुन-विवाह आदि दृश्य दिखाये जात हैं और इन नाटकों को जनता रात-रात भर देखती रहती है। जावा के अनेक खँडहरों, मन्दिरों एवं प्रतिमालयों में हिन्दुत्व का प्राचीन रूप सोया हुआ है, किन्तु, उसका जीता-जागता रूप वहाँ के नाटकों में अब भी गतिवान् है।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि आज से कोई दो हजार वर्ष पूर्व, दक्षिण भारत के हिन्दुओं ने कम्बोज (कम्बोडिया) और जावा-द्वीप में जाकर अपने उपनिवेश बसाये थे। कुछ दूसरे लोगों का कहना है कि जावा में उपनिवेश बसाने वाले लोग कलिंग के थे। जावा में एक संवत् अजीशक के नाम से चला था जो अब तक चालू है। यह संवत् ७८ ई. में आरंभ

हुआ, जिस वर्ष भारतवर्ष में शकाब्द का आरंभ हुआ था। श्री आर. सी. मजुमदार का मत है (हिन्दू कालोनीज इन द फार ईस्ट में) कि ईसवी सन् की दूसरी सदी में जावा में हिन्दू राज्य था जिसका प्रमाण यह है कि जावा के राजा श्री देववर्मन ने उसी वर्ष चीनी राजा के पास अपना दूत भेजा था।

जावा की भूमि हिन्दू स्थापत्य और मूर्त्तिकला से खचाखच भरी हुई है। हिन्दू कला और स्थापत्य के जो अवशेष जावा में हैं, उनमें से कुछ तो खँडहर हैं और कुछ अच्छी अवस्था में भी हैं। इनमें से **बोरोबुदुर**, प्रम्बनम, चण्डी कलासन और दियंग प्लेटो के मन्दिर बहुत प्रसिद्ध हैं। बोरोबुदुर का मन्दिर तो संसार भर में अपना सानी नहीं रखता। संसार के प्राचीन से प्राचीन मन्दिरों की सूची में बोरोबुदुर के मन्दिर का स्थान बहुत ऊँचा है और हिन्दू स्थापत्य और कला के इस विलक्षण नमूने को देखने के लिए संसार के सभी देशों के लोग वहाँ जाते हैं। कहते हैं, यह मन्दिर **श्री विजय** (सुमात्रा-द्वीप के पलेमबंग नगर का प्राचीन हिन्दू नाम श्रीविजय था तथा उस का सुवर्ण-भूमि) के शैलेन्द्र-वंश के राजाओं ने ७५० ई. के आस-पास बनवाया था।

सामान्यतः, यह माना जाता है कि भारत-द्वीप (इंडोनेशिया) में पहले ब्राह्मण धर्म ही पहुँचा था तथा पाँचवीं सदी तक उसका कोई प्रतिद्वंद्वी धर्म वहाँ नहीं था। सन् ४१३ई. में फाहियान सुमात्रा गया था और उसने वहाँ ब्राह्मण धर्म को बहुत ही समृद्ध पाया था। पाँचवीं सदी में ही, काश्मीर के राजा गुणवर्मा ने बौद्ध संन्यास लिया और उसी ने जावा जाकर वहाँ के राजा और रानी को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। तबसे, जावाई जनता में ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म, दोनों का प्रचार हुआ। जावा, सुमात्रा और बाली में ब्राह्मणत्व और बौद्धमत में अन्तर बहुत ही न्यून हो गया। यही कारण है कि उन द्वीपों में विष्णु, गरुड, गणेश, शिव, बुद्ध आदि की जो मूर्त्तियाँ मिलती हैं उनमें विलगाव करना असंभव हो जाता है। वहाँ की कथाओं में भी कहीं-कहीं बुद्ध शिव के छोटे भाई समझे जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, और बुद्ध, ये चारों एक ही कोटि के देवता और परस्पर अभिन्न माने जाते हैं।

जब बंगाल-बिहार में पालवंशी राजाओं (बौद्ध) का राज्य था, तब जावा, सुमात्रा में भी बौद्ध राजे राज करते थे। सुमात्रा के बालपुत्र नामक बौद्ध राजा ने नालन्दा में एक विहार उन लोगों के आवास के लिए बनवाया था जो जावा-सुमात्रा से तीर्थ करने को भारत आते थे। नालन्दा में राजा देवपाल (पालवंशी) का एक ताम्रपत्र मिला है, जिसमें उसने नालन्दा में बनवाये गये इस विहार के लिए किन्हीं पाँच ग्रामों की आय अर्पित की थी।

स्वामी सदानन्द ने अपनी पुस्तक में यह भी बताया है कि बृहत्तर भारत में कृष्ण की जो मूर्त्तियाँ मिलती हैं, उनमें कोई भी ऐसी नहीं है जिसके हाथ में मुरली हो अथवा जो

गोपिकाओं के साथ केलि में हो। इससे फिर यह आशंका प्रबल हो जाती है कि कृष्ण का रसिक-रूप भारत में बाद को विकसित हुआ। आरंभ में, कृष्ण मुरलीधर और गोपिका-वल्लभ नहीं थे। सच तो यह है कि बृहत्तर भारत में, भारतीय संस्कृति के जो अवशेष हैं, उनके अध्ययन के बिना यह बात ठीक से जानी ही नहीं जा सकती कि प्राचीन हिन्दुत्व का वास्तविक रूप क्या था।

सुमात्रा

भारत-द्वीप (इन्डोनेशिया) के अन्तर्गत कितने ही टापू और द्वीप हैं जिनमें से जावा, सुमात्रा, सिलिवी, बोर्नियो और न्यू गिनी प्रधान हैं। सुमात्रा का आकार जावा से चौगुना है, किन्तु, इसकी जनसंख्या केवल ६२,१९,००४ है। पंडितों का अनुमान है कि जब हिन्दू भारत से निकल कर प्रशान्त महासागर की ओर बढ़ने लगे होंगे तब उनका सबसे पहला पड़ाव इसी सुमात्रा में पड़ा होगा जिसे वे सुवर्ण-द्वीप कहते थे।

सुमात्रा में हिन्दुओं ने जो राज्य स्थापित किया था, उसकी राजधानी **श्रीविजय** (आज का पलेमबंग) थी। इस राज्य की स्थापना या तो चौथी सदी से पूर्व या चौथी सदी में हुई थी। सातवीं सदी में तो श्रीविजय का प्रताप चारों ओर जगमगा रहा था। मलायू (आधुनिक जाम्बी) का राज्य श्रीविजय के अधीन हो गया था एवं पास के एक दूसरे द्वीप (बंका) पर भी श्रीविजय का राज था।

इत्सिग ने लिखा है कि दक्षिणी समुद्र में श्रीविजय बौद्ध धर्म और संस्कृति का प्रधान केन्द्र थी एवं इसका राजा एक ओर तो भारत के साथ एवं दूसरी ओर चीन के साथ व्यापार के काम को खूब प्रोत्साहित करता था। श्रीविजय में रहने वाले ये विजेता शैलेन्द्र-वंश के राजे थे जिनका संघर्ष दक्षिण भारत के चोल-वंशी राजाओं से भी चला था। कहते हैं, चोल-वंशी राजाओं के धक्के से ही श्रीविजय की नींव हिल गई।

इत्सिग जब भारत आ रहा था, तब उसने सुमात्रा में छह मास तक ठहर कर संस्कृत और पाली सीखी थी। इससे यह अनुमान होता है कि सातवीं सदी में सुमात्रा भारतीय विद्याओं के लिए भी उतनी ही प्रसिद्ध थी जितनी प्रसिद्धि नालन्दा और विक्रमशिला की थी। इत्सिग ने नालन्दा में रह कर दस वर्ष तक अध्ययन किया था और प्रधान पंडितों के समीप पहुँचने के पूर्व, १०८ द्वार-पंडितों ने उसकी योग्यता की जाँच की थी। अवश्य ही, यह योग्यता उसने सुमात्रा में रहकर अर्जित की होगी। यह भी कहा जाता है कि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति सुमात्रा के थे एवं बौद्ध विद्या का वहाँ ऐसा प्रचार था कि विक्रम-शिला के श्री दीपंकर श्री ज्ञान भी सुमात्रा पधारे थे। यह भी कहा जाता है कि तिब्बत जाने के पूर्व, शान्तरक्षित भी श्रीविजय के आचार्य धर्मकीर्त्ति से मिलने को सुमात्रा गये थे।

बोर्नियो

मलय-द्वीप-समूह में सबसे बड़ा द्वीप बोर्नियो है। इसका क्षेत्रफल जावा से सात-आठ गुना बड़ा है, किन्तु, जनसंख्या इसकी कुल तीस लाख है। यह सारा द्वीप आदिवासियों से भरा हुआ है जो दयाक कहलाते हैं। हिन्दू तो बोर्नियो में इक्के-दुक्के ही हैं, किन्तु, कुछ शिलालेखों के मिलने के कारण यह बात निश्चित मानी जाती है कि ईसवी सन् के आरंभ में बोर्नियो में हिन्दुओं का उपनिवेश था। इसके सिवा, बोर्नियो के दो-एक स्थानों पर कुछ प्राचीन गुफाएँ भी मिली हैं, जिनमें हिन्दू-संस्कृति के निशान हैं। गुफाओं में जो मूर्त्तियाँ मिलती हैं, उनमें कुछ तो बुद्ध की हैं और कुछ शिव, गणेश, नान्दी, अगस्त्य, नन्दीश्वर, ब्रह्मा, स्कन्द और महाकाल की।

हिन्द-चीन

हिन्दचीन अथवा भारत-चीन का क्षेत्रफल २,८६००० वर्गमील तथा जनसंख्या २,७०,००००० है। इस देश के पाँच प्रान्त हैं जिनके नाम कोचीन-चीन, अन्नम, कम्बोडिया, तोंकिंग और लाओ हैं। प्राचीन काल में, अन्नम के दक्षिणी भाग में हिन्दू राज्य था जिसके राजा का नाम श्रीमार था। कम्बोडिया कम्बोज का रूपान्तर मात्र है। महाभारत में उल्लिखित है कि कम्बोज देश का राजा सुदक्षिण अपनी सेना के साथ कुरुक्षेत्र में कौरवों के पक्ष से लड़ा था। कंबोज का नाम और भी कई संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है।*

हिन्दुओं ने हिन्द-चीन में कंबोज नामक राज्य ईसवी सन् की पहली सदी में स्थापित किया था। उस समय, कोचीन-चीन और कंबोडिया एक ही राज्य के अधीन थे जिसका चीनी नाम **फुनान** था। इतिहासकारों का मत है कि हिन्दुओं का प्रथम उपनिवेश इसी फुनान प्रान्त में बना। कहते हैं कि कौंडिन्य नामक एक ब्राह्मण भारत से फुनान गया और वहाँ उसने नाग-जाति की कन्या नागिनी सोमा से व्याह किया जो उस देश की राजकुमारी थी। इसी दंपति के पुत्र फुनान में कंबोज राज्य के प्रतिष्ठाता हुए। दूसरी सदी में आकर, इस वंश के राजाओं ने वर्मन की उपाधि धारण की और तीसरी सदी में उन्होंने भारतवर्ष में अपना दूत भेजा।

कंबोज नाम कैसे चला, इस विषय म सिलवन लेवी तथा अन्य फ्रांसीसी विद्वानों का मत है कि भारत से एक ब्राह्मण (महर्षि कंबु नाम का) फुनान आया। उसने वहाँ मीरा नामक कुमारी से, जो किसी अप्सरा की कन्या थी, ब्याह किया। अतएव, कंबोज

---

* ब्रह्माण्ड-पुराण, अध्याय ४९, श्लोक ५२ में उन जातियों का उल्लेख है जो अंगद्वीप में बसती थीं :—

काम्बोजाः दरदाश्चैव, बब्बरा अंगलौकिकाः।
चीनाश्चैव तुवाराश्च पह्लवाश्च क्षतोदराः।

नाम उसी ऋषि के नाम से निकला है। कुछ दूसरे लोगों का विश्वास है कि भारतवासी अपने उपनिवेशों का नाम, प्रायः, भारत में प्रख्यात नामों में से चुनते थे। अतएव, गन्धार (अफगानिस्तान) में जो कंबोज नगर था, उसी के अनुकरण पर, कंबोज राज्य का नाम चला।

हिन्द-चीन में समुद्र के किनारे-किनारे चंपा-राज्य की स्थापना द्वितीय शती में हुई। यहाँ भी राज्य का चंपा नाम इसलिए प्रचलित हुआ कि राज्य स्थापित करने वाले हिन्दू चंपा (भागलपुर) से आये थे। इन सभी द्वीपों का सम्मिलित नाम अंगद्वीप, कदाचित्, इसलिए भी पड़ा हो कि इन द्वीपों में उपनिवेश बसाने वाले लोग अंग, बंग और कलिंग से जाते रहे हों।

स्थापत्य, मूर्त्ति और चित्रों के रूप में, हिन्द-चीन में भारतीय संस्कृति के अनेक अवशेष विद्यमान हैं। इसके सिवा, कुछ ऐसे प्रचलित रस्म-रिवाज भी हैं जिनसे इस भूभाग में भारतीय संस्कृति के प्रधान रहने का प्रमाण मिलता है। उदाहरण के लिए, कंबोडिया में यज्ञोपवीत की प्रथा अब तक जीवित है तथा यज्ञोपवीत-संस्कार के बाद बालकों को गुरु के घर भी जाना पड़ता है।

कम्बोडिया की मिट्टी उत्तर-भारत की मिट्टी के समान दीखती है और दोनों देशों की उपज में भी समानता है। कंबोडिया के अनेक नगरों के नाम संस्कृत नामों से निकले हैं, यद्यपि, उनके उच्चारण में किंचित् विकृति आ गई है। इसी प्रान्त में, **अंगकोर** नामक स्थान है जहाँ भारतीय स्थापत्य और मूर्त्तिकला का विशाल खंडहर है। आज से कोई सात सौ वर्ष पूर्व, अंगकोर पूर्वी विश्व में हिन्दू राज्य की सुसमृद्ध राजधानी था। पं. जवाहरलाल जी ने लिखा है कि "अंगकोर की राजधानी सारे संसार में प्रख्यात थी और उसे लोग **'महारमणीय अंगकोर'** के नाम से जानते थे। इस नगर में दस लाख से अधिक लोग रहते थे, और यह नगरी सीजर के रोम से भी बड़ी थी।" चौदहवीं सदी में, किसी कारणवश, यह नगरी उजड़ गई और तब से वह उपेक्षित ही चली आ रही थी। किन्तु, पिछली सदी में किसी फ्रांसीसी पर्यटक ने उसका पता लगाया और सारे संसार को उसकी गरिमा की सूचना दी। जावा में बोरोबुदुर और कंबोडिया में अंगकोर, ये दो भग्नावशेष ऐसे हैं जो हमें यह याद दिलाते हैं कि सारी पूर्वी एशिया एक समय भारत की सुगन्ध से सुगंधित थी। कला के सेवकों और विद्यार्थियों के लिए ये दोनों स्थान तीर्थ समझे जाने चाहिए।

कंबोडिया के लोग संस्कृत भाषा के बड़े विद्वान थे। आश्रमों (वन्य पाठशालाओं) का जैसा प्रचार भारत में था, वैसा ही कंबोडिया में भी। राजघराने के लोग ब्राह्मणों से वेद की ऋचाएँ एवं ज्योतिष, न्याय और व्याकरण के पाठ बड़ी ही श्रद्धा से सीखते थे।

खमेर-शिलालेखों में से अनेक शिलालेख ऐसे हैं जिनमें वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, योग और न्याय के स्पष्ट उल्लेख हैं। कंबोडिया में भारतीय संगीत का भी चलन था। दुःख की बात है कि हम भारतवासी भारतीय संस्कृति की इस गरिमा को भूल बैठे हैं। किन्तु, बाहर वालों को वह याद है। सन् १९४६ ई. में दिल्ली में एशियाई देशों का जो महा सम्मेलन हुआ, उसमें हिन्द-चीन के प्रतिनिधि श्री दांग नगोक चान ने कहा था कि "संस्कृति का एक मार्ग है भारत जिसकी ऊँचाई पर खड़ा है। आज वह फिर हमारी ओर मैत्री का हाथ इसलिए बढ़ा रहा है कि हम इस मार्ग पर फिर से चलने लगें। हम इस संकेत से प्रसन्न हैं और भारत ने जो हाथ बढ़ाया है उसे हम बढ़ कर थामना चाहते हैं।"

चीन के साथ सम्बन्ध

भारत से चीन जाने वाले भारतीय विद्वानों में सबसे पहला नाम कश्यप मातंग का आता है जिनका समय ईसवी सन् की पहली शताब्दी है। उनके बाद भी, यह सरणी अवरुद्ध नहीं हुई और भारत के अनेक सन्त, महात्मा, पंडित और विद्वान चीन जाते ही रहे।[1] इन पंडितों के साथ, संस्कृत और पाली के अनेक ग्रन्थ भी चीन पहुँचे और चीनी में वहाँ उनका अनुवाद भी हुआ। महापंडित राहुल सांकृत्यायन का अनुमान है कि चीन में अभी भी कोई पन्द्रह सौ ग्रन्थ ऐसे होंगे जो संस्कृत अथवा पाली ग्रन्थों के अनुवाद हैं, यद्यपि, मूल संस्कृत एवं पाली ग्रन्थ भारत से लुप्त हो चुके हैं।

कहते हैं, पाँचवीं सदी के आसपास काश्मीर-राज्य के किसी आमात्य का एक पुत्र भारत से चीन चला गया। वहाँ उसने किसी राजकुमारी से ब्याह किया जिससे उसे एक पुत्र हुआ जिसका नाम कुमारजीव था। बच्चे को लेकर दंपति काश्मीर चले आये और वहीं उसकी (कुमारजीव की) शिक्षा हुई। कुमारजीव संस्कृत और चीनी, दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान निकले। उन्होंने अश्वघोष, नागार्जुन आदि भारतीय विद्वानों और कवियों के अनेक ग्रन्थों का चीनी अनुवाद प्रस्तुत करके चीन में महायान धर्म का प्रचार किया। "उनके ग्रन्थ आज तक चीन में वैसे ही पढ़े जाते हैं जैसे भारत में कालिदास के।"

इसी प्रकार, चीन के विद्वान भी भारत आकर ज्ञान की साधना करते थे। इन चीनी यात्रियों में फाहियान का नाम बहुत प्रसिद्ध है। फाहियान पाँचवीं सदी में भारत आये थे और पाटलिपुत्र में रहकर उन्होंने वर्षों ज्ञान की साधना की थी। उनका जो यात्रा-विवरण

१. श्री आर. सी. मजुमदार ने आकाशवाणी दिल्ली से प्रसारित अपनी एक वार्ता में ऐसे अनेक बौद्ध पंडितों के नाम गिनाये हैं जो भारत से चीन गये थे और जिन्होंने संस्कृत और पाली की कोई तीन हजार पुस्तकों का चीनी में अनुवाद किया था। अनुवाद के ये सारे काम दसवीं सदी तक पूरे हो गये थे। साहित्य के सिवा, भारत का प्रभाव चीन की चित्रकारी, मूर्तिकला, स्थापत्य और संगीत पर भी पड़ा था।

उपलब्ध है, उससे तत्कालीन भारतीय जीवन की अनेक बातें मालूम होती हैं।

दूसरे चीनी यात्री ह्यू-एन-सांग थे जो सातवीं सदी में भारत आये थे जब भारत में राजा हर्षवर्द्धन का राज था। ह्यू-एन-सांग गोबी की मरुभूमि और मध्य एशिया होकर हिमालय को पार करके भारत आये थे। उनके यात्रा-विवरण से पता चलता है कि उन दिनों, मध्य एशिया में बौद्ध राजाओं का राज था तथा मध्य एशिया के तुर्क भी तब तक बौद्ध ही थे। ह्यू-एन-सांग नालन्दा में रह कर पढ़ते और पढ़ाते रहे। वर्षों बाद, वे नालन्दा विश्व-विद्यालय के उप-कुलपति भी नियुक्त हुए थे। वे लौटे भी मध्य एशिया के ही मार्ग से। उनके साथ संस्कृत के अनेक ग्रन्थ भारत से चीन पहुँचे। उन्होंने देखा कि उस समय, खुरा-सान, ईराक, मोसुल और सीरिया के उपान्त तक सर्वत्र बौद्ध धर्म का प्रचार था।

तीसरे चीनी यात्री इत्सिग भी सातवीं सदी में ही भारत आये थे। वे चीन-समुद्र, भारत-सागर और बंगोपसागर होकर, समुद्र की राह से, आये थे और रास्ते में कई मास तक सुमात्रा में रुककर उन्होंने संस्कृत और पाली भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था। वे भी नालन्दा में अनेक वर्षों तक रहे और जब अपने देश को वापस जाने लगे तब यहाँ के अनेक बहुमूल्य ग्रन्थों को अपने साथ ले गये।

भारत में बौद्ध धर्म की अवनति के साथ चीन और भारत का संबंध शिथिल होने लगा और, अन्त में, वह बिल्कुल समाप्त हो गया। किन्तु, हजार वर्ष तक की संगति का प्रभाव चीन पर अब भी मौजूद है। चीनी जनता का एक अच्छा-खासा भाग बौद्ध मतावलंबी है एवं भारत के अनेक विचार चीनी विचारों में घुले-मिले अब तक वर्त्तमान हैं।

बर्मा और श्याम के दर्शन, विचार और कला में भी भारतीयता का पुट है। भारत-वासियों ने अपना उपनिवेश बर्मा और श्याम से बहुत आगे तक फैलाया था। ये दोनों देश तो उसके अंक में थे। अतएव, इन देशों की संस्कृति भारतीय संस्कृति से भली-भाँति सेवित और सुपुष्ट है। बर्मा तो सन् १९३७ ई. तक भारत का एक प्रान्त माना जाता था। एशियाई महासम्मेलन में बर्मी प्रतिनिधि-मंडल के नेता श्री जस्टिस क्याव मिंट ने कहा था, "मैं तो विदेश नहीं, अपने ही घर आया हूँ। हम संस्कृति के केन्द्र से संबद्ध हैं। हम (भारत से) विचार में समीप हैं, भूगोल में समीप हैं, समाज और संस्कृति में भी समीप हैं।"

इसी प्रकार, एक श्यामी छात्र ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को शान्तिनिकेतन से पत्र लिखते हुए कहा था कि "इस महान और पुरातन देश आर्यावर्त में आने को मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। यहाँ आकर मैं उस भारत-मातामही के चरणों में अपना अभि-नन्दन भेंट करता हूँ जिसकी गोद में पल कर हमारी देशमाता ने यह शिक्षा पायी थी कि धर्म और संस्कृति में जो उत्तम गुण निहित हैं उन्हें किस प्रकार अपनाना चाहिए।"

समुद्रगुप्त के समय (३५२ ई.) कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ एवं वहाँ की

भाषा ब्राह्मी लिपि में लिखी जाने लगी। यशोधर्म के समय (५३८ ई. के आसपास) निपन देश (जापान) भी बौद्ध हो गया। तिब्बत में बौद्ध धर्म कुछ पहले ही पहुँच चुका था। किन्तु, धर्म की अभिवृद्धि के लिए वहाँ के राजा ने नालन्दा के मुख्य आचार्य श्री शान्तरक्षित को अपने देश बुला लिया। यह भी ध्यान देने की बात है कि बृहत्तर भारत में भाषाएँ और लिपियाँ चाहे जितनी हों, किन्तु, उनकी प्राचीन वर्णमाला (वर्णों के नाम ,क, ख, ग आदि) संस्कृत के ही अनुसार थी।

कितना महान था यह भारत देश कि अपने चारों ओर के देशों को इसने अपने सौरभ से व्याप्त कर रखा था !

प्राचीन भारत और नवीन यूरोप

भारत का प्राचीन ज्ञान जब विदेशों में काफी जोर से फैलने लगा, तब तक भारत स्वयं पतन की राह पर आ गया था। किन्तु, सांस्कृतिक विजय की गति तब भी धीमी नहीं होती, जब विजयी देश स्वयं थक कर लेट जाता है। मध्यकाल में भारतीय ज्ञान को लेकर सारी दुनिया जग रही थी। सिर्फ उस ज्ञान का दाता भारत धीरे-धीरे सोता जा रहा था। यह बहुत-कुछ वैसी ही बात है जैसे कुछ ग्रहों की ज्योति कई सौ वर्षों के बाद धरती पर पहुँचती है। परिणाम यह होता है कि ऐसे ग्रहों का जो रूप हम देख पाते हैं, वह उनका आज का रूप नहीं होता, बल्कि, यह वह रूप होता है जो कई सौ वर्ष पूर्व था।

भारत ने विश्व को जो दान दिया था, उसे बाहरवाले भी भूल गये और इस देश के लोग भी। भारत का मन शास्त्रों के कपट-जाल में उलझ गया और वह मानने लगा कि अस्पृश्यता ही धर्म है, समुद्र के पार नहीं जाना ही धर्म है तथा शास्त्रों की गूढ़ बातों को स्त्रियों और शूद्रों से छिपाये रखना ही धर्म है। उसे याद नहीं रहा कि किसी समय अस्पृश्यता का भय यहाँ के लोगों को बाहर जाने से रोक नहीं सकता था और वे जो कुछ सोचते थे उसका नतीजा वे शूद्रों की कौन कहे, तथाकथित म्लेच्छों और यवनों को भी सुना आते थे।

बहुत दिनों की विस्मृति के बाद, यूरोप के विद्वानों ने अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में, हमारे प्राचीन रूप को पहचाना और वे हम पर विस्मय करने लगे। उनके विस्मित होने से हममें आत्मविश्वास की भावना जगी और तब हम भी अपने प्राचीन रूप को श्रद्धा और आश्चर्य से देखने लगे। तब तक, यरोप वालों को यह पता नहीं था कि यूनान को छोड़कर सभ्यता कहीं अन्यत्र भी पनपी थी अथवा हेब्रू से भी प्राचीन भाषा कोई और है। मगर, संस्कृत-साहित्य के समुद्र में अलभ्य मोतियों का जो खजाना उन्हें दिखायी पड़ा, उससे वे अचानक चौंक पड़े और जर्मनी के साहित्यिक क्षेत्र में सांस्कृतिक जागरण की लहर वैसे ही दौड़ गयी, जैसे वह पंद्रहवीं सदी में रिनासाँ (सांस्कृतिक जागरण) के समय दौड़ी थी।

क्रान्ति की गंगा में शैवाल

महात्मा बुद्ध ने क्रान्ति की जो गंगा बहायी थी, उसमें शैवाल उसी के भीतर से उत्पन्न हुए। शैवाल जल से उत्पन्न होते ही हैं। स्त्रियों को भिक्षुणी होने की अनुज्ञा देकर तथागत ने विलाप किया था कि "आनन्द! मैंने जो धर्म चलाया था, वह पाँच सहस्र वर्ष तक चलने वाला था, किन्तु, अब वह केवल पाँच सौ वर्ष ही चलेगा, क्योंकि स्त्रियों को मैंने भिक्षुणी होने की अनुज्ञा दे दी है।" और हुआ भी यही, क्योंकि बुद्ध के पाँच सौ वर्ष बाद, महायान धर्म उठा और वहीं से बौद्ध मत अपने मूल रूप से दूर हटने लगा।

कामिनी-कांचन अनन्त काल से बदनाम रहे हैं। अनन्त काल से यह समझा जाता रहा है कि जहाँ कामिनी-कांचन एकत्र हुए कि मनुष्य की ऊर्ध्वग यात्रा अवरुद्ध हो जाती है और वह, शनैः शनैः, नीचे आने लगता है। बौद्ध-श्रमणों के भी पतन का कारण कामिनी-कांचन-संयोग ही हुआ। स्वर्गीय धर्मानन्द कोसाम्बी ने लिखा है कि *"श्रमणों की अवनति का बीज उनके द्वारा स्वीकृत राजाश्रय में था।"* यह केवल इसी कारण नहीं कि राजाश्रय पाकर श्रमण आरामतलब और आलसी हो गये, बल्कि, इस कारण भी कि राजाश्रय की लत पड़ जाने के कारण, उनकी स्वाधीनता जाती रही। उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि राजाओं को मिलाकर रखें, स्वयं उनसे मिलकर रहें और जो बातें उन्हें पसन्द हों उन्हें धर्म की कथाओं में स्थान दें। पुष्यमित्र ने जब ब्राह्मण-धर्म की ध्वजा फहरा दी तब बौद्ध श्रमण वायव्य दिशा से आने वाले यवन और शक राजाओं का आश्रय खोजने लगे और उनकी प्रशंसा धर्मग्रंथों तक में करने लगे। ऐसी बात बुद्ध के समय का भिक्षु नहीं कर सकता था। किन्तु, महायान-पन्थ में कनिष्क की महिमा बहुत अधिक गायी गयी है। शक राजा बड़े शूर थे और उन्हें शूरता से बड़ा प्रेम था। उन्हें प्रसन्न करने के लिए बौद्ध भिक्षुओं ने बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाओं को महत्त्व दिया और जातकों में अनेक रसों की कहानियाँ भर दीं जिससे जनता का मन पौराणिक हो गया और जिन बातों को बुद्ध ने अव्याकृत कहकर छोड़ दिया था, उन बातों की चर्चा में बौद्ध श्रमण जोर से पड़ गये। "राजाओं और बड़े आदमियों का मन जीतने के लिए मूल बौद्ध साहित्य में उन्होंने इतना परिवर्तन किया कि उसे बुद्ध का उपदेश कहना कहाँ तक उचित है, यह नहीं कहा जा सकता।" (कोसाम्बी)।

दान और जागीर के कारण, संघ राजमहल-से दीखने लगे और श्रमणों में विलासिता की मात्रा बहुत बढ़ गयी। इससे होने वाली आध्यात्मिक क्षति के सिवा, श्रमणों की एक क्षति यह भी हुई कि ब्राह्मण उनसे जलने लगे और कभी-कभी राजा श्रमणों के मठों पर

इसलिए भी प्रहार करने लगे कि श्रमणों के भाग जाने पर वे मठ की संपत्ति पर अधिकार कर सकें। श्रीहर्ष से पहले, राजा शशांक ने बौद्ध मठों पर बड़ा अत्याचार किया। उसी शती में, नेडुरमान् नामक पांड्य राजा ने दक्षिण में आठ हजार जैन साधुओं को जान से मार डाला।

कहते हैं, ये उत्पीड़न शैवों के इशारे पर किये जाते थे। किन्तु, केवल इन उत्पीड़नों से धर्म का पतन असम्भव था। सम्भव वह इसलिए हुआ कि बौद्ध साधुओं के चरित्र खराब होने लगे थे।

ये साधु धर्म को भूल कर सुख की कामना करने लगे। "गुप्त-साम्राज्य के आरम्भिक काल से हर्षवर्धन के समय तक, उन्होंने मंजुश्री-मूलकल्प, गुह्य-समाज और चक्रसंवर आदि कितने ही तंत्रों की सृष्टि कर ली। मंजुश्री-मूलकल्प ने तंत्रों के लिए रास्ता खोल दिया। गुह्य समाज ने अपने भैरवी-चक्र की शराब, स्त्री-संभोग तथा मंत्रोच्चारण से उसे और भी आसान कर दिया।...... आठवीं शताब्दी में एक प्रकार से भारत के सभी बौद्ध संप्रदाय वज्रयान-गर्भित महायान के अनुयायी हो गये थे। बुद्ध की सीधी-सादी शिक्षाओं से उनका विश्वास उठ चुका था और वे मनगढंत हजारों लोकोत्तर कथाओं पर विश्वास करते थे। बाहर से भिक्षु के कपड़े पहनने पर भी, भीतर से वे गुह्यसमाजी थे। बड़े-बड़े विद्वान और प्रतिभाशाली कवि, आधे पागल हो, चौरासी सिद्धों में दाखिल हो, संध्या-भाषा में निर्गुण गान करते थे।...... आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का बौद्ध धर्म, वस्तुतः, वज्रयान या भैरवी चक्र का धर्म था।... इन पाँच शताब्दियों में, धीरे-धीरे, एक तरह से सारी भारतीय जनता इनके चक्कर में पड़कर कामव्यसनी, मद्यप और मूढ़-विश्वासी बन गई थी। राजा लोग जहाँ राज-रक्षा के लिए पलटन रखते थे, वहाँ उसके लिए किसी सिद्धाचार्य तथा उसके सैकड़ों तांत्रिक अनुयायियों की भी एक बहु-व्यय-साध्य पलटन रखा करते थे। देव-मंदिरों में बराबर ही बलि -पूजा चढ़ती रहती थी। लाभ-सत्कार का द्वार उन्मुक्त होने से ब्राह्मणों और दूसरे धर्मानुयायियों ने भी, बहुत अंश में, इनका अनुकरण किया।" (बुद्धचर्या)।

बौद्ध धर्म के इस पतन से एक शिक्षा निकलती है कि सुख के अतिशय से सड़ाँध पैदा होती है। सचमुच ही, राजाश्रय बौद्ध धर्म की पहली बाधा थी क्योंकि हिंसक, कुचाली और अ-लोकप्रिय राजाओं की भी प्रशंसा करना श्रमणों के लिए अनिवार्य हो गया और जनता से वे दूर पड़ने लगे। स्त्री-सेवन और विलासिता के प्रचलन का एक कारण मनोवैज्ञानिक भी माना जाना चाहिए। साकारोपासना की अति से पीड़ित समाज निराकार की ओर चलता है और निराकारोपासना से क्लान्त समाज साकार की खोज करता है। इसी प्रकार, भोग की अतिशयता से ऊबा हुआ समाज त्याग को समझना चाहता है और त्याग के अतिसेवन से पीड़ित मनुष्य भोग की ओर जाना चाहता है। वैदिक सभ्यता, अंत में, भोगवादी हो गई थी;

अतएव, उपनिषदों ने त्याग का सन्देश सुनाया। जैन और बौद्ध मत इस त्याग को खींचकर बहुत दूर तक ले गये। मध्यम मार्ग पर आरूढ़ रहने में क्षण-क्षण जिस सतर्कता की आवश्यकता होती है, वह लोगों में नहीं रही। समाज त्याग के शुष्क भावों से विरत होने लगा और समाज की इसी विरति से हार कर बौद्ध एवं जैन धर्मों ने हिन्दुत्व के साकारवादी अंशों को अपने भीतर पचाना आरम्भ किया। महायान बौद्ध धर्म की इस चिन्ता का परिणाम था कि राजाओं तथा दान देने वाली समृद्ध जनता से उसका सम्बन्ध कैसे प्रगाढ़ हो। और जनता तथा धार्मिक नेताओं की जिस प्रवृत्ति ने हीनयान अथवा श्रावकयान पर महायान को तरजीह दी, उसी ने उस मार्ग को भी प्रशस्त किया जिस मार्ग पर चलते हुए, बौद्ध धर्म के पेट से पहले मंत्रयान, फिर वज्रयान और, अन्त में, सहज यान प्रकट हुए।

श्रावकयान से सहज-यान तक की दूरी बहुत बड़ी है और दोनों के रूप भी परस्पर मेल नहीं खाते। श्रावकयान या हीनयान भगवान बुद्ध का मौलिक उपदेश था और इस धर्म में भोग का त्याग एवं आचारों की पवित्रता ही प्रधान थी। किन्तु, सहज-यान तक आते-आते वही धर्म मद्य, मांस और मैथुन को धार्मिक कृत्य मानने लगा। भगवान बुद्ध ने जिन सांसारिक सुखों को निर्वाण का बाधक बतलाया था, वे ही सुख अब मुक्ति के सोपान बन गये।

खाअन्त पिअन्ते सुहहिं रमन्ते,
णित पुराण चक्का वि भरण्ते,
अइस धम्म सिज्झइ परलोअह,
णाह पाए दलिऊ भयलोअह।[1]

(स्वेच्छापूर्वक खाने-पीने और सुख में रमण करने से परलोक बनता है और सांसारिक भय मिट जाते हैं।)

भारतीय जनता की धार्मिक भावना में यह पतन और परिवर्तन क्यों हुआ, इसका कोई एक उत्तर नहीं दिया जा सकता। बुद्ध के द्वारा प्रवर्तित धर्म को फैलाने की चिन्ता लोगों में बहुत रही, मगर, उन्हें यह चिन्ता नहीं हुई कि बुद्ध के द्वारा निर्दिष्ट धर्म को दुष्प्रभावों से अक्षुण्ण कैसे रखा जाय। और यह हाल केवल बौद्ध धर्म का ही नहीं, और धर्मों का भी हुआ है। धर्म का मूल प्रवर्तक जब तक जीवित रहता है, तब तक उस धर्म की ज्योति खूब तेजी से चमकती रहती है। किन्तु, उसके बाद ही, वह मन्द पड़ने लगती है और धर्म, धीरे-धीरे, उस दिशा की ओर चलने लगता है, जिस दिशा में उसे जनरुचि ले जाना चाहती है। फिर, उस धर्म में, समय-समय पर, दो प्रकार के लोग उत्पन्न होते रहते हैं, एक पंडित, ज्ञानी और दार्शनिक किस्म के लोग जो ज्ञान और तर्क के बल पर धर्म का विकास और परिष्कार करना चाहते हैं तथा दूसरे वे लोग, जो सन्त

---

१. साहित्य-समीक्षा में उद्धृत।

और कवि होते हैं, जो तर्क नहीं, साधना और अनुभूति के बल पर उस धर्म का उद्धार करते हैं। किन्तु, ज्ञानी, पंडित और दार्शनिक नेताओं के तर्क से जनता जिस तत्व को प्राप्त नहीं कर सकती, वही तत्व जब महात्माओं के आचरण में रूप धर लेता है अथवा कवियों की अनुभूति बन कर आता है, तब जनता उसकी ओर, आप से आप, दौड़ पड़ती है। बौद्ध धर्म का दुर्भाग्य रहा कि उसने जिस कोटि के पंडित और दार्शनिक उत्पन्न किये, उस कोटि का कवि और सन्त वह पैदा नहीं कर सका। सारिपुत्र, मौद्गलायन और आनन्द, भगवान बुद्ध के ये तीन श्रावक उनके समकालीन थे। इन लोगों के बाद, बौद्ध धर्म में ऐसा कोई सन्त नहीं हुआ जो बुद्ध या आनन्द का समकक्ष हो अथवा जिसका नाम हम इन महा सन्तों की श्रेणी में ले सकें। अश्वघोष कलाकार चाहे जितने बड़े रहे हों, किन्तु, वे उस प्रकार के कवि नहीं थे, जिसके भीतर से युग-धर्म अपनी पुकार भेजता है, जिसकी वाणी में धर्म की आहट सुनायी देती है। और इस अवस्था का एक प्रधान कारण यह था कि कवि तभी उत्पन्न होता है, ज बसमाज में कल्पना की उड़ान के लिए अवकाश रहता है। जो कुछ दृश्य जगत् के परे है, वह अव्याकृत, यानी कहने-सुनने योग्य नहीं है, यह कहकर भगवान बुद्ध ने मनुष्य की कल्पना के आगे एक तरह की लक्ष्मण-रेखा खींच दी थी। अतएव, बौद्ध धर्म के वास्तविक काल में कोई ऐसा कवि नहीं हुआ, जो बुद्धि की सीमा के परे छिपी हुई अदृश्य वास्तविकता का स्पर्श कर सके, और न कोई ऐसा सन्त ही हुआ जिसमें धर्म का रहस्यवादी रूप झलके और जनता को उससे नूतन प्रेरणा प्राप्त हो। अगर नागार्जुन अथवा उनकी ऊँचाई का कोई अन्य व्यक्ति सन्त या कवि हुआ होता तो बौद्ध धर्म का इतिहास कुछ और राह पकड़ता तथा संभव है कि वह उन अनाचारों का मार्ग रोक देता जो आगे चल कर, बौद्ध धर्म के बिगड़े हुए रूपों से प्रकट हुए।

मंत्रयान और वज्रयान

बौद्ध धर्म ने महायान का रूप धारण करके उस जनता को अपनी ओर लाना शुरू किया जो जनता हिन्दुत्व के प्रचलित रूपों की ओर आकृष्ट हो रही थी। किन्तु, हिन्दुत्व मौलिक और महायान उसका अनुकरण मात्र था। अतएव, हिन्दुत्व से आगे बढ़ने की होड़ में महायान ने कुछ ऐसे अतिरिक्त साधनों का प्रयोग बढ़ा दिया, जिनसे जनता अधिक चमत्कृत हो सकती थी। ये साधन थे मंत्र और योगाचार के। मंत्र और योगाचार, ये कोई नवीन साधन नहीं थे। अथर्ववेद एक तरह से जादू, टोना, और मंत्राचार का ही आदि-कोष है। इसी प्रकार, योग का इतिहास भी बहुत प्राचीन है और वह भी वेद की ओर बहुत दूर तक पहुँचता है। बल्कि, महंजोदरो और हरप्पा में जो निशान मिले हैं, उनके आधार पर अब यह माना जाता है कि आर्यों के आने के पूर्व ही, इस देश में योग की परंपरा का आरंभ हो चुका था। किन्तु, हिन्दुत्व में मंत्राचार और योग की प्रमुखता आरंभ में नहीं थी।

चमत्कार को ऋषि निन्द्य और त्याज्य समझते थे तथा साधना में ज्ञान का जो स्थान था, वह योग का नहीं। किन्तु, तब भी मंत्रों और योग-सिद्धियों का, धर्म-साधना में, खूब प्रचलन था और इनकी साधना करने वाले लोग भी अच्छे साधु समझे जाते थे। अवश्य ही, जो धार्मिक नेता धर्म के सच्चे रूप के प्रचार से बढ़ कर इस चिन्ता में गर्क हों कि किसी प्रकार उनके अनुयायियों की संख्या बढ़े, उनके सामने उन साधनों की प्रमुखता बढ़ जाती है जिन साधनों में जनता को आकर्षित करने की अधिक शक्ति हो और योग तथा मंत्र से बढ़कर और कौन साधन होते जिनसे जनता चमत्कृत की जाती ? अतएव, धर्म में मंत्र-साधना की महिमा बढ़ी और योग का सहारा लेकर साधु महात्मा खूब पूजित हो गये।

आरम्भ में, हठयोग की प्रथा शारीरिक शक्तियों के विकास के लिए चली थी, किन्तु, बाद को चलकर, उसकी ओर टूटने वालों की संख्या इसलिए बढ़ गयी कि यौगिक चमत्कारों से जनता पर रोब गाँठा जा सकता था। 'मध्यकालीन धर्म-साधना' में पंडित हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने लिखा है कि एक बार, वाम-मार्गियों का एक दल इस चिन्ता में पड़ा कि हमारे दल का आदर समाज में कैसे बढ़ सकता है। उन दिनों, गुरु गोरखनाथ का सुयश चारों ओर फैल रहा था। अतएव, वाम-मार्गी लोग उनसे सलाह लेने गये। गोरखनाथ ने कहा कि "*यदि आप प्रतिष्ठा चाहते हैं तो अन्य सब झगड़ों को छोड़ कर केवल योग-क्रियाओं से ही सम्बन्ध जोड़ लें।*"

किन्तु, धर्म ज्यों-ज्यों योग और मंत्र में सिमटता गया, जनता त्यों-त्यों रूढ़ि और अन्ध-विश्वासों में और भी ग्रसित होती गयी और जिस धर्म ने हिन्दुओं को पुरोहितवाद के चक्कर से छुड़ाने का बीड़ा उठाया था, खुद वही अब जनता को भरमाने के लिए योगाचार और मंत्रों का सहारा लेने लगा।

पाँचवीं शताब्दी के बाद से लेकर, प्रायः, दसवीं-ग्यारहवीं सदी तक का समय उत्तर भारत के आध्यात्मिक पतन का समय था। इस काल में, एक ओर जहाँ गौड़पाद, कुमारिल, शंकर, चंद्रकीर्त्ति और वाचस्पति मिश्र-जैसे चिन्तक उत्पन्न हुए, वहाँ दूसरी ओर, समाज में चमत्कारों का आश्रय लेकर जनता को ठगने वाले साधुओं की भी संख्या बेशुमार हो गयी और दार्शनिक चिन्तन तो कुछ मुट्ठी भर लोगों तक सीमित रह गया, किन्तु, पाखण्डी साधुओं की संख्या में वृद्धि होने के कारण, जनता चिन्तन की शक्ति खो बैठी और सारा समाज अंध-विश्वासों का दास हो गया। कोई आश्चर्य नहीं कि जब ग्यारहवीं सदी में इस देश पर मुसलमानों का आक्रमण आरम्भ हुआ, तब इस देश की जनता उन आक्रमणों का प्रतिरोध नहीं कर सकी। जातियाँ जैसे दर्शन में विश्वास करती हैं, उनके कर्म और आचरण भी वैसे ही हो जाते हैं। यह देश धन-धान्य से पूर्ण था और हूणों के बाद से, इस देश पर अनेक सदियों तक कोई बड़ा आक्रमण भी नहीं हुआ था। अतएव, लोग निश्चिन्त

हो कर सोते जा रहे थे। किसी और रचनात्मक कार्य की प्रेरणा नहीं रहने के कारण, इस देश की सारी समस्या धार्मिक विवादों में समाहित हो गयी थी और प्रत्येक सम्प्रदाय मठों, विहारों और मन्दिरों की संख्या बढ़ाने को ही जीवन का चरम उद्देश्य मानता था। ये मन्दिर और मठ भी धनधान्य से पूर्ण होने के कारण, छोटी-छोटी राजधानियों का रूप ले रहे थे और यह बात प्रत्यक्ष हो गयी थी कि अगर संन्यासी-समाज, गृहस्थों का-सा सुख भोगना चाहे तो वह भोग के मामले में भी राजाओं को मात दे सकता है। और हुआ भी यही कि धर्म के असली तत्व से छूटा हुआ संन्यासियों और वैरागियों का समाज मंत्राचार और योग के परदे ओढ़ कर वह सुख लूटने लगा, जो सामान्य गृहस्थों को भी नसीब नहीं था। धर्माचार्यों की हिम्मत यहाँ तक बढ़ गयी कि वे धर्म की नयी व्याख्या करते हुए परस्त्री-गमन तक को अपने लिए केवल क्षम्य ही नहीं, विहित कर्म बताने लगे।

कर्मणा येन वै सत्वाः कल्पकोटिशतान्यपि
पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते।

(इन्द्रभूति-कृत ज्ञानसिद्धि से)

अर्थात् जिन कर्मों के करने से सामान्य जीव करोड़ों कल्प तक नरक में पड़ा रहता है, उन्हीं कर्मों को करता हुआ योगी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मंत्रयान की प्रसिद्ध पुस्तक "मंजुश्रीमूलकल्प" और वज्रयान की विख्यात पोथी "गुह्यसमाजतंत्र" में धर्म के नाम पर जैसे-जैसे घृणित आचरणों का समर्थन मिलता है, उन्हें देखते हुए यह अनुमान आसानी से निकल आता है कि मंत्र और योग के अद्‌भुत चमत्कारों को देख कर जनता ने हृदय से यह मान लिया होगा कि धर्म और नैतिकता के परंपरागत रूप बेकार हैं। भला जो लोग इतने बड़े-बड़े चमत्कार दिखला सकते हैं, उनके आचरण और कर्म की भी कहीं आलोचना हो सकती है?

जब महायान निकला, उसके समर्थकों ने श्रावक यान (बौद्धमत के आरम्भिक रूप) की निन्दा करने के लिए उसे हीनयान कहना आरम्भ किया। किन्तु, महायान से भी जो लोग आगे निकल जाना चाहते थे, उन्होंने अपने यान का मंत्रयान नाम दिया। क्योंकि मंत्र विशेषण महान् की अपेक्षा कुछ अधिक सुबोध और कारगर भी था। महायान में मंत्रों की प्रमुखता नहीं थी, किन्तु, जनता को विमूढ़ बनाने में मंत्रों की जो सार्थकता समझी जाती थी, उससे उत्साहित होकर महायान के बाद वाले बौद्ध अपने संप्रदाय को मंत्रयान कहने लगे। मंत्र और योग के चमत्कारों से संवलित रहने के कारण, यह सम्प्रदाय काफी लोकप्रिय हो गया। और ज्यों-ज्यों इसकी लोकप्रियता बढ़ती गयी, त्यों-त्यों धर्म में दुराचार का भी प्रवेश अधिक होता गया, यहाँ तक कि इस दुराचार को ढँकने के लिए धर्माचार्यों को एक नवीन दर्शन की आवश्यकता अनुभूत होने लगी। और यह नवीन दर्शन सुखवाद

के नाम से विज्ञानवादियों के शून्यवाद में आ मिला ।

महासुखवाद के प्रवेश के बाद, यह यान वज्रयान कहलाने लगा अर्थात् वह यान जो वज्र के समान दुर्भेद्य, अचल और अविनश्वर हो। भोग की मात्रा जैसे-जैसे बढ़ी, जनता को रोब में रखने के लिए, वैसे ही वैसे, सम्प्रदाय के नाम भी पहले से कुछ अधिक तगड़े रखे जाने लगे। शून्यवाद का दर्शन नागार्जुन के द्वारा खूब पुष्ट बना दिया गया था। अब कल्पना यह उठी कि जो जीव बुद्धत्व प्राप्त करना चाहता है, उसे पृथ्वी से ऊर्ध्वमुख होकर अपनी यात्रा आरंभ करनी पड़ती है और वह पृथ्वी से ऊपर उठता हुआ कोई २५ लोकों का अतिक्रमण करके, छब्बीसवें लोक में पहुँचता है जहाँ केवल शून्य ही शून्य है। इसी शून्य में पहुँच कर बोधिचित्त (बुद्ध बनने की इच्छा रखने वाला साधक) एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ से वह फिर वापस नहीं आता। वज्रयानियों की व्याख्या के अनुसार, बोधिचित्त व्यक्ति पुरुष और छब्बीसवें लोक का शून्य स्त्री का प्रतीक है। अतएव, बोधिचित्त को शून्य से मिलने में वही आनन्द होता है जो आनन्द नर-नारी के समागम में है।[१] यह उदाहरण, शायद, इसलिए दिया गया था कि लोग निर्वाण के आनन्द की कल्पना आसानी से कर सकें। किन्तु, नर-नारी-समागम की इस उपमा ने धर्म के बिगड़ने का मार्ग और भी प्रशस्त कर दिया और शून्यवाद को सुखवाद से एकाकार करने की चेष्टा से वे बातें, अनायास ही, फूट निकलीं जिनके कारण वज्रयान, सहजयान और वामाचार उतने बदनाम हो गये।

अनेक व्याख्याता वज्रयान के दार्शनिक पक्ष का समर्थन इस प्रकार करते हैं, मानों, वह पवित्र धर्म का ही कोई रूप रहा हो। किन्तु, सच्ची बात, शायद, यह थी कि हीनयान में तपस्या और संयम के जो प्रबल भाव थे, वे ढीले पड़ गये और सुख भोग के लालच में फँस कर ही धर्माचार्य उस मार्ग पर आ पड़े जो उन्हें, दिनोंदिन, नीचे की ओर लिये जा रहा था। यह बात वज्रयान के भीतर पनपने वाले सहजयान की व्याख्या से और भी स्पष्ट हो जाती है। प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धि में एक श्लोक आया है कि :—

---

१. वज्रयानियों ने महायान की "शून्यता" एवं "करुणा" को क्रमशः "प्रज्ञा" एवं "उपाय" के नाम दे दिये और इन दोनों के मिलन को "युगनद्ध" की दशा बताकर उसे ही प्रत्येक साधक का अन्तिम लक्ष्य ठहराया।.......प्रज्ञा का स्वरूप एक निर्विशिष्ट, किन्तु, निष्क्रिय ज्ञान मात्र है जिसे स्त्री रूप देते हैं और उपाय उसके विपरीत, एक सक्रिय तत्व है जिसे पुरुषवत् मानते हैं और इन दोनों का अन्तिम मिलन शक्ति एवं शिव के मिलन के समान परमावश्यक समझा जाता है। इन दोनों के पारस्परिक मिलन की ही अन्तिम दशा समरस या महासुख के नाम से भी अभिहित होती है, जो वज्रयानियों का परम लक्ष्य है।"

(उ. भा. की संत-परंपरा)

तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः,
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु नैव सिद्धिः कदाचन।

अर्थात्, आचरण वैसा ही करना चाहिए जिससे मन में क्षोभ (अतृप्ति, निराशा आदि) नहीं आये। क्योंकि चित्त-रत्न के क्षुब्ध हो जाने पर सिद्धि कभी भी प्राप्त नहीं होती। यह निदान, बहुत कुछ, आज का फ्रायडीय निदान था जो गार्हस्थ्य के लिए उत्तम होता हुआ भी, संन्यास की भारतीय परंपरा के लिए उपयोगी नहीं कहा जा सकता।

हीन से महान्, महान् से मंत्र और मंत्र से वज्र तथा वज्र से सहज, यह प्रक्रिया ही बतलाती है कि संयम और तपस्या से लोग आजिज आ गये थे और वे, धीरे-धीरे, भोगवाद का समर्थन खोज रहे थे। मंत्र और वज्रयान में प्रतिष्ठा चमत्कारों को लेकर रही। किन्तु, जब भोगवादी प्रवृत्ति को चमत्कार भी पूरी तरह से नहीं ढँक सके, तब आचार्यों ने खुल कर फतवा दे दिया कि सब से ऊँचा मार्ग सहज मार्ग है जिससे **"चित्त-रत्न" को कोई क्षोभ नहीं होता है।** दर्शन की भाषा में, सहज-मार्ग के लिए भी बड़े ही गौरवपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु, सत्य, कदाचित्, यही है कि जो लोग सभी इंद्रियों को समुचित भोजन देते हुए सिद्धि की तलाश में लगे, वे ही सहजिया कहलाये। "वज्रयान का अनुयायी साधक सर्वप्रथम किसी नीच जाति की सुन्दरी स्त्री को अपने लिए चुन लिया करता था और अपने गुरु के निकट जाकर, उसके आदेशानुसार, उसे अपनी महामुद्रा बना लेता था। तब से उसकी प्रत्येक साधना उस महामुद्रा के सहवास में रह कर ही चला करती थी और दोनों की मनोवृत्तियों में पूरी साम्यावस्था लाने के भी प्रयत्न होते रहते थे। तदनुसार, "अनेक तीव्र एवं कठोर नियमों के पालन से जितनी शीघ्रता से सिद्धि नहीं होती, उससे कहीं शीघ्र, सभी प्रकार के कामोपभोगों से हो जाया करती है" जैसे सिद्धान्तों के आधार पर वे बहुधा भिन्न-भिन्न प्रकार के दुर्व्यसनों में भी प्रवृत्त हो जाते थे और उसका परिणाम समाज के लिए बुरा हो जाता था।" (उ. भा. की सन्त-परंपरा)

सहज यान

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में, सहजयान-सम्प्रदाय का बड़ा ही प्रमुख स्थान माना जाना चाहिए, क्योंकि बाद में, भारतीय धर्म और साहित्य पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। सहजयान से पूर्व का हिन्दुत्व धर्मसाधना के लिए, भोगविषयों को त्याज्य मानता था। किन्तु, उसके बाद के हिन्दुत्व में, हम विषयों को उतना त्याज्य नहीं देखते। सहजयान से पूर्व के हिन्दू धर्माचार्य, प्रायः, यती, मुनि या संन्यासी हुआ करते थे, किन्तु, उसके बाद के अनेक धर्माचार्य (कबीर, नानक आदि) ऐसे हुए जो गृहस्थ थे। कृष्णकथा में रसिकता का समावेश और वैष्णव धर्म में नायिकावाद की स्थापना एवं साहित्य में नायिका-भेद का विकास, इन सारी बातों के पीछे उस भावना का प्रभाव था, जो सहजिया साधुओं के समय विकसित

हुई थी। स्वयं भक्तिवाद के विकास के पीछे भी, सहजिया-भाव के प्रभाव की खोज की जा सकती है। कृष्ण-चरित्र में रसिकता का समावेश कैसे हुआ, यह समस्या विद्वानों के सामने अब भी मौजूद है। मेरा ख्याल है कि वज्रयानियों के यहाँ जो सहज साधना चल रही थी, वह काफी प्राचीन रही होगी और, अजब नहीं, कि भागवत पर भी उसका प्रभाव पड़ा हो। बाद को बनने वाले अन्य पुराणों पर तो उसका प्रभाव पड़ा ही होगा। यही नहीं, बल्कि प्रेममयी भक्तिके मूल में भी सहजयान का प्रभाव खोजा जा सकता है। आलवार भक्तों पर भी इस भावना का प्रभाव रहा होगा और कृष्ण के बाद, राम के चरित्र में जो रसिकता ठूँसी गयी, उसके पीछे भी, सहज-साधना का भाव काम करता मिलेगा।

सहज शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ नैसर्गिक होगा अर्थात् वह पदार्थ जो जन्म के साथ-साथ उत्पन्न होता है। सहजिया साधुओं ने इसका प्रयोग परम तत्व के लिए भी किया है और आत्मा के लिए भी। किन्तु, आगे चल कर सहज का यह तात्विक अर्थ टिक नहीं सका और "खास कर बंगाल में सहज का यह अर्थ होने लगा कि मन और इंद्रियों को उनकी सहज-स्वाभाविक गति-विधि के मार्ग पर छोड़ देना अर्थात् जो मन और इंद्रियाँ माँगें वही करना।" आज के मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो यह इंद्रिय-निग्रह के विरुद्ध उठी हुई प्रतिक्रिया थी। सदियों तक भारत ने शम, दम, नियम, उपरति और तितिक्षा तथा योगाचार का प्रयोग करके परम तत्व के पाने की कोशिश की थी। यह इसी दीर्घकालीन रुक्ष साधना के विरुद्ध जन्मी हुई प्रतिक्रिया थी, जिसने अपने को सहज-मार्ग में व्यक्त किया।

इस प्रसंग में, राहुल जी (हिन्दी काव्य धारा में) का यह विश्लेषण अत्यंत समीचीन मालूम होता है कि "दूसरे धार्मिक पन्थों की तरह बौद्ध-धर्म में भी ब्रह्मचर्य और भिक्षु-जीवन पर बहुत जोर दिया गया था, लेकिन, बारह शताब्दियों के तजुर्बे ने बतला दिया कि वह ढोंग के सिवाय और कुछ नहीं है। आदमी आहार की तरह काम-भोगों में भी पशुओं से भिन्नता नहीं रखता। मठों के अप्राकृतिक जीवन में जो बहुत-सी बुराइयाँ बहुत भारी परिमाण में घुस आयी थीं, उन्हें देखकर कुछ विचारकों ने सोचा, हमें इस ढोंग को हटाना चाहिए और मनुष्य को सहज-स्वाभाविक जीवन पर लाना चाहिए। इन बातों को वे खुल कर नहीं कह सकते थे, क्योंकि खुल कर कहने पर पन्थ और भक्त ही नहीं, सारे बाहरी समाज का विरोध इतना जबर्दस्त होता कि उन्हें अपना अस्तित्व भी कायम रखना मुश्किल हो जाता। उन्होंने छिप करके एक सीमित क्षेत्र में अपने विचारों का प्रचार करना शुरू किया। मुक्त यौन-सम्बन्ध के पोषक चक्र-संवर आदि देवता, उनके मंत्र और पूजा-प्रकार तैयार किये गये। गुह्य-समाज एकत्रित होने लगे, जहाँ स्त्री-पुरुषों को मद्य-मैथुन की पूरी स्वतंत्रता दी गयी। लेकिन, जल्दी ही यह सब काम सहज, स्वाभाविक नहीं, अस्वाभाविक रूप में होने लगा।"

यह बड़े ही मार्के की बात है कि जहाँ भी प्रेम की झलक होती है, जहाँ भी रस जरा गाढ़ा होता है और जहाँ भी आनन्दी वृत्ति का प्राधान्य होता है, वहीं सहजिया लोग अपना दावा लेकर पहुँच जाते हैं। जयदेव, चंडीदास और विद्यापति, इन तीनों सरस कवियों को इस सम्प्रदाय वाले अपना कवि मानते हैं। सहजिया सम्प्रदाय केवल बौद्धों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि, वह वैष्णव-धर्म में भी आया और वैष्णव-धर्म में परकीयावाद एवं अन्य सरसताओं का समावेश उसी की देन है। इस्लाम के साथ जब सूफ़ी धर्म भारत आया तब उसके साथ यह शिक्षा भी यहाँ आयी कि इश्क-हकीकी तक पहुँचने के लिए इश्क-मजाजी सोपान का काम दे सकता है। किन्तु, उससे पूर्व ही, इस देश के सहजिया साधकों में अपार्थिव प्रेम की अनुभूति के लिए परकीया के साथ प्रेम करना आवश्यक माना जाने लगा था।

शून्यता और करुणा, बौद्ध मत के ये मूल-मंत्र थे और इन दोनों के संयोग की स्थिति को बौद्ध साधक आदर्श स्थिति मानते थे। सहजिया वज्रयानियों ने शून्यता को प्रज्ञा और करुणा को उपाय नाम दे डाला और विश्वास करने लगे कि प्रज्ञा और उपाय के बीच वही सम्बन्ध है जो नारी और नर के बीच है। उपाय का प्रतीक तो साधक स्वयं होता था और प्रज्ञा का प्रतिनिधित्व कोई स्त्री करती थी, जो साधक की महामुद्रा कहलाती थी। "साधक अपनी मुद्रा-साधना में इतने संलग्न रहा करते थे कि "प्रज्ञा" को व्यक्तित्व प्रदान करके उसे संबोधित करते समय, उनके मुख से सदा उसके लिए डोम्बी, चांडाली, शबरी, योगिनी जैसे शब्दों का ही व्यवहार करना अधिक स्वाभाविक होता था। फलतः, उनकी यौगिक अन्तःसाधना, क्रमशः, बाह्य मुद्रा-साधना तक ही सीमित रहने लगी और उसका परिणाम समाज के लिए कुत्सित बन गया।" (पं०परशुराम चतुर्वेदी)। यह भी ध्यान देने की बात है कि सिद्धों के चर्यापद में हम इन नीच जाति की स्त्रियों के सम्बोधन बार-बार पाते हैं। वाममार्गी साधु, कापालिक और वज्रयानी सिद्ध, ये समाज में पूजित भी होते थे और गृहस्थ उनसे डरते भी थे, क्योंकि लोगों में यह प्रवाद प्रचलित था कि ये साधु गृहस्थ की बहू-बेटियों को मंत्र से मोहकर या बल से चुरा कर हर ले जाते हैं और उन्हें अपनी मुद्रा बनाकर सिद्धि प्राप्त करते हैं। कापालिकों और योगियों के व्यभिचार की कहानियाँ लोक-कथाओं में अब भी मौजूद हैं। मालती-माधव में कापालिक का जो चरित्र है, उससे भी इस अनुमान को बल मिलता है। शायद, परदा-प्रथा के विकास के पीछे इन दुराचारी साधुओं का भी आतंक रहा हो।

सहज-मार्ग व्यभिचारवाद में परिणत हो गया, किन्तु, व्यभिचार इसका मूल लक्ष्य नहीं था। मूल-रूप इसका यह था कि दीर्घकालीन साधना के बाद, लोग यह मान गये थे कि कृच्छ्र साधना धर्म का असली मार्ग नहीं है, क्योंकि बड़े-बड़े योगी और तपस्वी भी कामिनी और कांचन, विशेषतः, कामिनी से तभी तक बचते हैं, जब तक उन्हें इसका सान्निध्य या

सुयोग नहीं मिलता है। अतएव, उचित यही है कि मनुष्य संयमशील गृहस्थ होकर धर्म-साधना करे। स्वयं बुद्ध देव ने अति-योग को साधना के लिए बाधक बता कर मध्य-मार्ग का समर्थन किया था। उनसे भी पूर्व, जनकराज विदेह हुए थे, जो गृहस्थ रहकर ही साधना करने के विश्वासी थे। साथ ही, जब सिद्ध योगी भी पतित होते देखे गये, तब लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि केवल हठयोग से मन की शुद्धि नहीं हो सकती अथवा मन की शुद्धि के लिए हठयोग अनिवार्य नहीं है। मन की सच्ची शुद्धि राजयोग से होती है। इसलिए, राजयोग हठयोग से ऊपर माना गया। अनुभव, प्रयोग और अनुमान के इन्हीं आधारों पर सहज-यान का प्रवर्तन हुआ होगा। सहज, यानी वह मार्ग जिसमें कृच्छ्रता नहीं हो, जिसमें संसार को छोड़कर वन में जाकर हठयोग की क्रियाओं द्वारा शरीर को सुखाना नहीं पड़े, जो मार्ग गृहस्थ का का मार्ग हो, जिस मार्ग पर चल कर मनुष्य अपना दैनिक कार्य करता हुआ भी आध्यात्मिक प्रगति कर सके। नानक और कबीर सच्चे सहजमार्गी हुए क्योंकि गृहस्थ-जीवन का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया, क्योंकि आडम्बर, बाह्याचार और लोगों को ठगने की विद्या का उन्होंने आश्रय नहीं लिया और अपना कौटुंबिक दायित्व निभाते हुए भी, उन्होंने अपने को मानवता के ऊँचे नमूनों में परिवर्तित कर दिया। सहज-मार्ग कबीर के समय में प्रचलित था। और उसके निन्दित रूप को भी कबीर जानते थे। इसलिए, सहज की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है :—

सहज सहज सब कोइ कहे, सहज न चीन्हें कोइ,
जिन सहजै विषया तजी, सहज कहावै सोइ।
सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हें कोइ,
जिन सहजै हरिजो मिलें, सहज कहीजै सोइ।

इसी प्रकार, हठयोग पर राजयोग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए कबीरदास ने कहा है कि,

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन ते लागी जुग-जुग अधिक चली।
जहँ-जहँ डोलूं सो परिचर्या जो जो करूँ सो पूजा॥
इत्यादि।

किन्तु, यह सहज-मार्ग सब के लिए सुलभ नहीं था। इसलिए, कहने को तो सहजिया साधु भी वही कहा करते थे जो बाद को चलकर कबीर ने कहा, किन्तु, कर्म उनके निन्दित थे। सहजयान के रूप अभी बाह्य मुद्राओं तक सीमित थे। मूर्त्तिपूजा, तीर्थस्नान, वेद में विश्वास, शास्त्रों का आदर और वर्णाश्रम-धर्म में आस्था, इन सारी बातों के खिलाफ, ये साधु जोरों से प्रचार करते थे, किन्तु, व्यवहार में वे भोग के चक्कर में पड़ते जा रहे थे।

सिद्धों का काल सहज-मार्ग का आरंभिक काल था। ब्रह्मचर्य की व्यर्थता को देख कर साधक मुद्राओं का वरण कर रहे थे, किन्तु, वैरागी के साथ रमणी का मेल अस्वाभाविक दीखता था। कई सौ वर्ष बाद जाकर, जब कबीर और दादू का समय आया, तब सहज-मार्ग का असली तत्व धुल कर साफ हो गया और साधक सांसारिक कार्य करते हुए भी पवित्र जीवन बिताने लगे। सिद्ध लोग मुद्राओं का वरण योग के छल से करते थे जो सन्देहास्पद बात थी। किन्तु, सन्तों नें विवाह करके अपना जीवन बिताना शुरू किया। और सिद्ध जिस उद्यम की महत्ता तक पहुँचे भी नहीं थे, सन्तों ने उस उद्यम को भी पवित्र माना और उसे आध्यात्मिक जीवन के लिए अहितकर नहीं कहा। दादू कहते हैं,

उद्यम अवगुन को नहीं, जो करि जानइ कोइ,
उद्यम में आनन्द है, साईं सेती होइ।

सांसारिकता और आध्यात्मिकता के बीच सामंजस्य हो सकता है, इस सत्य का उद्घोष करते हुए रज्जब कहते हैं :—

एक जोग में भोग है, एक भोग में जोग,
एक बुड़हिं वैराग में, इक तरहिं सो गृही लोग।

किन्तु, सिद्धों को यह अनुभूति नहीं मिली थी।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि उपनिषदों की ऊँचाई से टक्कर लेने वाला बौद्ध धर्म, अन्ततः, गिरकर निम्न कोटि में आ गया तथा तंत्राचार एवं योग की सहायता से, यद्यपि, वह लोगों पर काफी रोब गाँठता रहा, किन्तु, वस्तुतः, वह भोगवाद को छिपाने का बहाना बन गया। जरा उस जनता की मुसीबत की कल्पना कीजिये जो फक्कड़ तांत्रिकों एवं योगियों के गुप्ताचार के बारे में तरह-तरह की कहानियाँ सुनती होगी, किन्तु, जो उनकी चमत्कारिणी शक्तियों के भय से उनकी पूजा करने को बाध्य थी। जनता का साहस खत्म हो गया था और चमत्कारों के प्राचुर्य के कारण वह और भी अन्धविश्वासी एवं भीरु हो गयी थी।

चिनगारी, जो बुझी नहीं

किन्तु, वज्रयान ने समाज में जहाँ इतने दुराचार फैलाये, वहाँ उसने उस क्रान्ति की शिखा को भी ऊँचा रखा, जिसे बुद्धदेव जला गये थे। बुद्धदेव ने जाति-प्रथा को चुनौती दी थी, शास्त्रों का तिरस्कार किया था और मनुष्य की स्वतंत्र बुद्धि को नयी स्फुरणा दी थी। अजब संयोग की बात कि बुद्ध के ये तीन नहीं, तो पहले दो उपदेश, वज्रयानियों ने भी बदस्तूर माने और हिन्दुत्व का आलिंगन चाहे जितना प्रगाढ़ रहा हो, किन्तु, वह कभी भी इतना प्रगाढ़ नहीं हो सका कि बौद्ध लोग जाति-प्रथा को स्वीकार करें अथवा वेदों को प्रमाण मानें। व्यवहार में जाति-प्रथा का असर उनपर आ भी गया हो, किन्तु, सिद्धान्ततः,

वे इस प्रथा के बराबर विरोधी रहे।[1] बौद्ध धर्म के उदय के बाद से ही, इस देश में एक ऐसी विचार-धारा काम करती रही है जो शास्त्रों के सामने मस्तक झुकाने को तैयार नहीं है और जो सभी जातियों को तोड़कर विशाल मानवता की रचना करना चाहती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि ब्राह्मण-धर्म, आरंभ से ही, वेदों की दुहाई देता आ रहा है और शास्त्रों के बल पर वह जाति-प्रथा को कायम रखना चाहता है। महावीर और बुद्ध के उपदेशों से जब समाज की शृंखला टूटने लगी और वर्णाश्रम-धर्म विपन्न होने लगा, तब ब्राह्मणों की सब से बड़ी चिन्ता इसी विपत्ति को लेकर थी। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब ब्राह्मण-धर्म फिर ऊपर आया तब, सब से अधिक उसने स्मृतियों के निर्माण पर जोर देना शुरू किया एवं मनुष्य के स्वतंत्र चिन्तन का मार्ग अवरुद्ध करने लगा। यहाँ तक कि गीता में भी ऐसे अवरोध समाविष्ट कर दिये गये। जब हम उसके सोलहवें अध्याय में भगवान् को यह कहते देखते हैं कि—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः,
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।

(अर्थात्, जो शास्त्रविधि को छोड़कर स्वतंत्र रूप से कार्य करता है, उसे न तो सिद्धि मिलती है, न सुख और न उत्तम गति ही।)

तब, स्पष्ट ही, हमें यह भान होने लगता है कि इस तीर के लक्ष्य, मुख्यतः, बौद्ध और जैन ही हैं।

किन्तु, बौद्धों का प्रचार बढ़ता ही गया और वज्रयानियों ने तो शास्त्र-विरोध को सबसे श्रेष्ठ धर्म ही मान लिया। आगे चलकर, हिन्दी के निर्गुनियाँ सन्तों ने धर्म के बाह्याचार एवं जाति-प्रथा और पुरोहितवाद की जो खिल्ली उड़ायी, उस परंपरा की नींव इन्हीं वज्रयानियों ने डाली थी। सन्त-कवियों को वज्रयानियों की यह विरासत किस रूप में मिली थी इसके प्रमाण सिद्धों के ये शब्द पद हैं :—

"बह्मणो हि न जानन्त हि भेउ, एवइ पढ़िअउ ए च्चउवेउ।

—सरहपा

(ब्राह्मण झूठमूठ वेदों को पढ़ते हैं, पर, परमार्थ का रहस्य नहीं जानते।)

बम्हा-बिहणु-महेसुर देवा, बोधिसत्व मा करिहू सेवा।
देव म पूजेहु तित्थ ण जावा, देवपुजाही मोक्ख न न पावा।

—तिलोपा

---

१. जाति-प्रथा के दोष से बौद्ध इसलिए बचे कि बौद्ध मत के वास्तविक प्रतिनिधि वे ही होते थे जो संन्यासी थे और संन्यासी तो सदैव भारतवर्ष में जाति-प्रथा से मुक्त रहे हैं।

(बोधिसत्वों को ब्रह्मा-विष्णु-महेश की सेवा नहीं करनी चाहिए, पत्थर आदि के देवताओं की भी पूजा नहीं करनी चाहिए, न तीर्थ जाना चाहिए। वाह्य देवपूजा से मोक्ष नहीं मिलता।)

मट्टि पाणि कुस लई पढन्त, घरहीं बइसी अग्गि हुणन्त,
कज्जे विरहइ हुअवह होमें, अक्खि डहाविअ कडुएँ धूमें।

—तिलोपा

(मिट्टी, पानी, कुश लिये मंत्र पढ़ता है, घर में बैठकर अग्नि में होम करता है; बिना मतलब होम के कड़वे धुएँ मे आँख फोड़वाता है।)[१]

वेद-विरोधी आन्दोलन

तंत्र, मंत्र और योगाचार, ये केवल वज्रयानियों में ही नहीं, अपितु, जैन, पाशुपत और वाममार्ग-जैसे वैदिकेतर सम्प्रदायों में भी प्रचलित थे और उनका प्रचार ब्राह्मण-धर्म में भी था। किन्तु, छठीं सदी से लेकर दसवीं सदी तक के काल में जिस बात को लेकर हिन्दुत्व दो भागों में विभाजित होने लगा, वह यह थी कि हिन्दुओं का एक विशाल समुदाय स्मृति के मार्ग का अनुयायी था अर्थात् वह तीर्थ-स्नान में पुण्य मानता था, वर्णाश्रम-व्यवस्था में आस्था रखता था, व्रत, उपवास, स्वर्ग, नरक, पितृश्राद्ध आदि में विश्वास करता था तथा सभी देवताओं और अप-देवताओं की पूजा करता था।[२] किन्तु, इसके विपरीत, एक और समुदाय था जो जाति-प्रथा को नहीं मानता था, जो मन्दिरों, तीर्थों और पुरोहितों में विश्वास नहीं करता था तथा जिसे देवताओं की शक्तियोंमें विश्वास नहीं था। यह समुदाय, विशेषतः, उन योगियों और तांत्रिकों से प्रभावित था जो यह कहते थे कि मनुष्य की सारी शक्तियाँ उसके अपने शरीर में छिपी हुई हैं तथा शरीर और चित्त की शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। ये योगी व्रत, उपवास, यज्ञ, होम, और शास्त्र-वचन को मिथ्या मानते थे और जनता को यह उपदेश देते थे कि धर्म के बाहरी ढकोसलों में कही कुछ नहीं है, अतएव, अपने मन के भीतर डूब कर असली धर्म की साधना करो। शास्त्रोंकी अवज्ञा सिखाने और उनकी खिल्ली उड़ाने में इन साधुओं को विशेष रस आता था। "कितने ही तांत्रिक मतों ने अपने को खुल्लम-खुल्ला वेद-विरोधी संप्रदाय घोषित किया और दृढ़ कंठसे समस्त वैदिक मतों का प्रत्याख्यान किया। प्रतिक्रिया इतनी उग्र थी कि अत्यन्त सहज बात को भी वे लोग भड़काने वाली भाषा में कहते थे और हर प्रकार से वैदिक मार्ग का उलटा सुनायी देने वाला वक्तव्य देते थे।" (मध्यकालीन धर्मसाधना)।

---

१. दे० हिन्दी काव्य-धारा (राहुल जी) और साहित्य-समीक्षा (देवेन्द्र शर्मा)

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना।

ये बातें उस समय हो रही थीं, जब गुप्त-वंशी राजाओं की छत्रच्छाया में ब्राह्मण-धर्म पूरे बल के साथ उठकर खड़ा हो चुका था और उसकी समाज पर फिर से ऐसी धाक जम गयी थी कि जो भी मार्ग अपने को वेद-विहित सिद्ध कर सकता, उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती थी। किन्तु, इस जाग्रत ब्राह्मण-धर्म के होते हुए भी, सहजिया सिद्ध एवं नाथ-संप्रदाय के साधु वेदों का कस कर विरोध कर रहे थे। पंडित हजारीप्रसाद जी द्विवेदी लिखते हैं कि "छठीं-सातवीं शताब्दी के बाद यह वेद-विरोधी स्वर अधिक स्पष्ट होकर प्रकट होता है। बौद्धों और जैनों में भी वेद-विरोधी स्वर पाया जाता है और वह काफी पुराना है। परन्तु यह नया **स्वर कुछ भिन्न श्रेणी का है**। इसमें सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् प्रभुसत्ता को अस्वीकार नहीं किया गया है। कभी-कभी तो इसमें अद्वैतवाद का स्वर बहुत स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है। ज्यों-ज्यों, शताब्दियाँ बीतती गयीं, त्यों-त्यों यह विरोधी स्वर केवल दृढ़ ही नहीं, कठोर भी होता गया।..........वाममार्गी तांत्रिक और योगी तो उल्टी और धक्कामार भाषा में कहने के अभ्यस्त हो गये थे। विरोधाभास यह है कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा घटी नहीं। ये लोग अधिकाधिक उत्साह के साथ सीधी बात को भी उलटा के, जटिल और गुथीली बना कर और आक्रामक तथा धक्कामार बनाकर कहते गये। कहने का ढंग कुछ विचित्र-सा था। गोमांस-भक्षण पाप है, यह सर्वविदित बात है। वारुणी पीना बुरी बात है, यह सभी मानते हैं। लेकिन, हठयोगी यही कहेगा कि गोमांस का भक्षण करना चाहिए और अमर वारुणी का पान करना चाहिए क्योंकि यही विष्णु का परम पद है और यही कुलीन का परम कर्तव्य है। यह भाषा स्पष्ट ही आक्रामक और धक्कामार है। कहते हैं, योगी जब गोमांस-भक्षण अथवा सुरापान का उपदेश देते थे, तब उनका अभिप्राय, सचमुच ही, मदिरा या गोमांस से नहीं, बल्कि, योग की किसी क्रियाविशेष से होता था। किन्तु, फिर भी जिस भाषा में वे अपनी बात कहते थे वह लोगों को तिलमिला देनेवाली थी। कृष्णाचार्य ने जब कहा था, **एक्कु न किज्जइ मंत न तंत, णिय घरणी लेइ केलि तरंत,** अर्थात् मंत्र-तंत्र सब बेकार हैं, केवल गृहिणी के साथ केलि करने से सिद्धि प्राप्त होती है, तब, वास्तव में, वे यह कहना चाहते थे कि महामुद्रा की साधना से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यद्यपि, उन्होंने जप, तप, सब की व्यर्थता बतलायी है, परन्तु, इसके लिए इस भाषा की आवश्यकता नहीं थी।"

चिन्तन जीवन से दूर

जिस काल पर हम विचार कर रहे हैं, वह बौद्धिक दृष्टि से कोई साधारण काल नहीं था। इसके आदि में गुप्त-काल पड़ता है, जो हमारे साहित्य का स्वर्ण-काल था। "जो पुराण और स्मृतियाँ आजकल निस्संदिग्ध रूप में प्रामाणिक मानी जाती हैं, उनका संपादन, अन्तिम रूप में, इसी काल में हुआ था; जो काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका गुप्तकाल में रची गयी, वे आज भी भारतवर्ष का चित्त मुग्ध कर रही हैं। जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित

हुए वे आज भी भारतीय मनीषा को प्रेरणा दे रहे हैं।"[1] गुप्त-काल के बाद भी, एक से एक चिन्तक पैदा हुए। कुमारिल और प्रभाकर-जैसे मीमांसक, शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र-जैसे दार्शनिक, *न्यायवार्तिक* के लेखक उद्योतकर और प्रसिद्ध बौद्ध माध्यमक आचार्य चंदकीर्त्ति (माध्यमकावतार और प्रसन्नपदा के लेखक) इसी काल में हुए। "शान्तिदेव जिनका "बोधिचर्यावतार" त्याग और आत्मबलिदान का अपूर्व ग्रन्थ है, इसी काल में हुए थे।" इसके सिवा, विज्ञानवादियों के आचार्य चंद्रगोमिन् और संतभद्र तथा अकलंक-जैसे जैन मनीषी भी इसी काल में प्रादुर्भूत हुए।

चिन्तन में कोई कमी नहीं थी, किन्तु, इस काल का चिन्तन निरा बौद्धिक या अकेडेमिक किस्म का था। उसमें जिन्दगी को प्रभावित करने की वह बेचैनी नहीं थी, जो उपनिषदों के युग में देखी गई थी। यह चिन्तन रहस्य का उद्घाटन करने के लिए नहीं, केवल शास्त्रार्थ के नाम पर किया जा रहा था। मनुष्य की मौलिक समस्याओंको छोड़कर चिन्तकों का ध्यान इस बात पर अधिक चला गया था कि प्रतिपक्षी को परास्त करके अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कैसे बढ़ायी जाय। मनुष्य के सामने जब मौलिक समस्याएँ वर्तमान थीं, तब उसने उपनिषदों की रचना की थी। अब उन उपनिषदों की टीका करने का समय आ गया था। और एक टीकाकार जिन ग्रंथों (प्रस्थानत्रयी) की टीका करके अद्वैत की सिद्धि करता था, दूसरा टीकाकार उन्हीं ग्रंथों से द्वैत की और तीसरा विशिष्टाद्वैत की सिद्धि कर रहा था। यही नहीं, बल्कि, वर्णाश्रम-धर्म के खिलाफ जो विद्रोह फैलता चला जा रहा था, वह अब हिन्दुत्व की सँभाल के बाहर जा पड़ा था। वाममार्गी योगी, कापालिक, पाशुपत, वज्रयानी और जैन, प्रायः, सभी संप्रदायों के साधु दिन-रात यह प्रचार कर रहे थे कि धर्म के बाह्याचार मिथ्या हैं, वेदों और शास्त्रों का अध्ययन केवल मस्तिष्क का बोझ है, ब्राह्मणों और पुरोहितों से किसी का उपकार नहीं हो सकता, तीर्थ और मन्दिर में जाने से मनुष्य को कुछ भी प्राप्त नहीं होता, जाति-प्रथा झूठी है और स्मृतियों के द्वारा बताये हुए मार्ग गलत हैं। यह भावना, विशेषतः, उनको प्रिय लगती थी जिन्हें जातियों की दीर्घा में ऊँचा स्थान प्राप्त नहीं था, मगर, जो संख्या में बहुत अधिक थे। यह ध्यान देने की बात है कि सिद्धों में से, अधिकांश, नीची जातियों के लोग थे और उनकी मुद्राएँ भी, अक्सर, छोटी जातियों की स्त्रियाँ ही होती थीं। अपने विरुद्ध उठी हुई इस बगावत से लड़ने के लिए, हिन्दुत्व भी सजग था और वह नयी स्मृतियाँ रच कर अथवा पुरानी स्मृतियों में नई शर्तों की वृद्धि करके उन सभी लोगों को सामाजिक दंड दे रहा था जो वर्णाश्रम-धर्म का बन्धन तोड़ने वाले थे। इस काल में, जातियों की श्रेणियाँ और भी बढ़ गयीं, अस्पृश्यता और छुआछूत के विचार और भी कड़े हो गये एवं शूद्रों और स्त्रियों का

१. मध्यकालीन धर्मसाधना

अनादर पहले से भी अधिक हो गया। बौद्ध मत का प्रचार देश से बाहर बड़े जोर से हो रहा था, जो बात ब्राह्मणों को अच्छी नहीं लगती थी। अजब नहीं कि इसीलिए स्मृतियों में समुद्र-यात्रा का निषेध प्रतिपादित किया गया हो। ब्राह्मणों और बौद्धों में साँप और नेवले का संबंध हो गया था। शंकराचार्य ने शून्यवाद को "सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध" कहकर उपेक्षा-योग्य ही समझा था। कुमारिल भट्ट-जैसे मेधावी आचार्य ने भी बुद्ध की अहिंसा आदि भली बातों को उसी प्रकार अग्राह्य बतलाया था, जिस प्रकार, कुत्ते की खाल में रखा हुआ दूध अमेध्य होकर अनुपयोगी हो जाता है। "श्वदति निक्षिप्त क्षीरवदनुपयोगी", इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।" (ह०प्र०द्वि०)। उन दिनों, एक साधारण कहावत चालू हो गई थी कि मरते हुए बौद्ध के मुख में भी पानी देना पाप है। स्वामी शंकराचार्य हिन्दुत्व के त्राता माने जाते हैं, किन्तु, चूँकि उन्होंने बौद्धों का विनाश करने में बौद्ध दर्शन का ही (नागार्जुन और वसुबन्धु के मत का) सहारा लिया था, इसलिए, जनता ने उन्हें भी प्रच्छन्न बौद्ध कहकर उनकी निन्दा की, यद्यपि, बौद्धमत के लिये यह प्रशंसा की ही बात थी।

बौद्धमत पर पुराणों के आक्रमण

हिन्दुत्व अपने आलिंगन में कसकर बौद्ध धर्म को मार डालना चाहता था। उसने बौद्धों को अपनाने के लिए, उनके अनेक सिद्धांतों को तो मान लिया था, किन्तु, बौद्ध मत की जिन बातों को वह बिलकुल अग्राह्य समझता था उनकी धार भोथी करने के लिए पुराणों में उसने अनेक धार्मिक कथाओं की सृष्टि शुरू कर दी। कुमारिल ने बौद्धमत का विरोध कर्मकांड के आधार पर किया था और शंकराचार्य ने ज्ञान का पक्ष लेकर। दक्षिण भारत में शैव जनता जैन-संप्रदाय से अधिक रुष्ट थी, किन्तु, वैष्णवों के प्रधान शत्रु बौद्ध थे। इसलिए, बौद्धमत को नीचा दिखाने का प्रयास वैष्णव-पुराणों में ही अधिक मिलता है।

सबसे बड़ी बाधा यह थी कि बुद्ध विष्णु का अवतार माने जा चुके थे, इसलिए, उनके मत पर आक्रमण करना जरा असुविधाजनक हो गया था। इस असुविधा को दूर करने के निमित्त, विचित्र-विचित्र कथाएँ गढ़ी जाने लगीं। एक कथा यह है कि एक बार असुरों ने वैदिक विधि से यज्ञ करके इतना बल प्राप्त कर लिया कि वे देवताओं से भी बली हो गये। इस पर देवताओं ने भयभीत होकर विष्णु से प्रार्थना की और विष्णु ने कृपा करके बुद्ध का अवतार लिया और असुरों से कहा कि वेद की सत्ता को मत मानो तथा वैदिक विधि से यज्ञ मत करो, क्योंकि यज्ञ में पशुहिंसा होती है। निदान, असुरों ने यज्ञ करना छोड़ दिया और वे, फिर से, देवताओं की तुलना में दुर्बल हो गये। इस कथा के भीतर से कई बाण निकलते हैं। एक तो यह कि बुद्ध का अवतार असुरों के कल्याण के निमित्त हुआ

था। दूसरा यह कि यज्ञ नहीं करने से मनुष्य की शक्ति छीजती है। और तीसरा यह कि जो असुर नहीं हैं, उन्हें बुद्ध के उपदेशों को नहीं मानना चाहिये।

विष्णु-पुराण में एक और कथा आती है, जिसमें एक राजा मर कर श्वान-योनि में उत्पन्न होता है। उसकी सती रानी उसे पहचान लेती है और कहती है, "महाराज! आप किस कारण श्वान-योनि में उत्पन्न हुए? क्या आपको इसका स्मरण नहीं है कि तीर्थस्नान के बाद, पाषंडी से भाषण करने के कारण आप को यह कुत्सित योनि प्राप्त हुई है?" इस कथा में पाषंडी से अभिप्राय जैन या बौद्ध श्रमण से है और उसका लक्ष्य यह है कि जो जैन या बौद्ध श्रमण हैं, वे नीच हैं, अतः, पुण्यात्मा लोगों को इन जैनों और बौद्धों से बात भी नहीं करनी चाहिये।

ब्राह्मण-धर्मावलम्बी बौद्ध श्रमणों से बात भी नहीं करें, यह विधान करते हुए विष्णु-पुराण में, निम्न-लिखित श्लोक मिलता है जो मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय में भी उपलब्ध है :—

पाषंडिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकांच्छठान् ।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ।

(वेदवाह्य कर्म करनेवाले, मार्जारव्रत धारण करनेवाले, हेतुवादी और बकवृत्ति पाषंडियों की, शब्दों से भी, पूजा न करे।)

स्पष्ट है कि जब श्रमणों में सच्चरित्रता थी तब ब्राह्मण उन पर ऐसे आक्रमण नहीं करते थे और करते भी हों, तो वे निरर्थक होते होंगे। यदि श्रमण अपनी अवस्था को सुधार कर जनसाधारण के कल्याण का मार्ग पकड़ते तो पुराणों के इन वारों से उनका कुछ भी नहीं बिगड़ता। "पर वैसा न करके पुराणों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए, वे एक प्रकार से महापंक में ही कूद पड़े। एक के बाद एक तंत्र की रचना करके वे अपने संप्रदाय की रक्षा करने के प्रयत्न करने लगे। पर, दिन में बुद्ध की पूजा और रात को वाम-मार्ग को स्वीकार करके नग्न स्त्री की पूजा करने का मेल कैसे बैठता?"[१]

समाज में बौद्ध धर्म की इतनी अधिक निन्दा हुई कि शंकर का मायावाद भी, अन्त में, जनसाधारण को ग्राह्य नहीं हुआ, क्योंकि उसमें बौद्धों के शून्यवाद की गन्ध आती थी। यही कारण है कि शंकर के बाद ही, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभाचार्य आदि संतों ने द्वैत या विशिष्टाद्वैत का प्रचार आरम्भ कर दिया और जब कि शंकर का अद्वैत-सिद्धान्त पंडितों तक ही सीमित रहा, द्वैत और विशिष्टाद्वैत पर अवलंबित धर्म बड़ी ही आसानी से सारी जनता में फैल गया।

बौद्ध धर्म के खिलाफ, ब्राह्मणत्व का षडयंत्र अनेक प्रकार से चल रहा था। मध्य-

---

१. भारतीय संस्कृति और अहिंसा

कालीन धर्मसाधना में पं. हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने लिखा है कि "कूर्मपुराण के १६ वें अध्याय में कहा गया है कि शिवजी की प्रेरणा से विष्णु ने ही कपाल, लकुल, वाम, भैरव, आदि हजारों मोहशास्त्रों की रचना की थी।. . . .सांख्य-प्रवचन-भाष्य में पद्मपुराण के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिनमें शिवजी ने पार्वती को संबोधन करके कहा है कि हे देवि ! मायावाद बड़ा असत् शास्त्र है। मैंने ही कलियुग में ब्राह्मण का रूप धारण करके इस शास्त्र की रचना की है। इसमें मैंने श्रुति-वाक्य का गलत अर्थ किया है और कर्मस्वरूप की त्याज्यता का प्रतिपादन किया है। सर्व कर्मों के परिभ्रंश को बता करके नैष्कर्म्य-भावना का मैंने समर्थन किया है। यह प्रच्छन्न बौद्ध मत है।" अर्थात्, पंडितों ने शंकर को भी दंडित करने का प्रयास किया, क्योंकि उन्होंने बौद्धों के शून्यवाद का प्रभाव ग्रहण किया था।

जैनों और बौद्धों पर शैवों का प्रहार

सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में, सुन्दर पांड्य ने जैनों पर भयानक अत्याचार किया। "ईस्वी सन् की सोलहवीं शताब्दी में सिंहल द्वीप का राजा राजसिंह अपने पिता को मारकर गद्दी पर बैठा। उसने बौद्ध-संघ को आमंत्रित करके उससे पितृ-वध का प्रायश्चित्त पूछा। भिक्षु-संघ ने व्यवस्था दी कि प्रायश्चित्त देना हमारे बस की बात नहीं है। तब उसने शैवधर्म स्वीकार कर लिया और भिक्षुसंघ पर भयंकर अत्याचार शुरू कर दिया। चार-पाँच वर्ष के अन्दर ही सारे सिंहल-द्वीप में एक भी भिक्षु नहीं रह गया।[1]

प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक में जैन और बौद्ध श्रमणों का जो रूप अंकित किया गया है, वह अत्यन्त पतित और घृणा उपजाने वाला है। यह नाटक कृष्णमिश्र नाम के दंडी परि-व्राजक ने चंदेल राजा कीर्त्तिवर्मा के राज्य-काल में लिखा था। कहते हैं, सन् १०६५ ई. में यह नाटक उक्त राजा के सामने खेला भी गया था। इस नाटक के एक प्रकरण में शांति और करुणा अपनी सखी श्रद्धा की प्रतीक्षा में खड़ी हैं। इतने में वहाँ दिगम्बर (जैन) सिद्धांत प्रवेश करता है और कहता है:—

दिगम्बर—ओं णमो अलिहन्ताणं। (आकाश की ओर देखकर) अरे रे श्रावको ! सुनो। हमारे इस मलमय पुद्गलपिंड की सब प्रकार के जलों से भी कैसे शुद्धि होगी ? पर, आत्मा विमल-स्वभाव है और उसका ज्ञान ऋषि-परिचर्या से होता है। क्या कहते हो ? यह ऋषि-परिचर्या कौन सी ? तो फिर सुनो। दूर से दंडवत करो और सत्कारपूर्वक उन्हें मिष्टान्न भोजन दो। यदि वे तुम्हारी स्त्रियों से अतिप्रसंग करें तो अपने मन में ईर्ष्या-मल उत्पन्न न होने दो।

---

१. भारतीय संस्कृति और अहिंसा

(अनन्तर भिक्षु रूपधारी बुद्धागम (बौद्धमत का प्रतीक) हाथ में पुस्तक लेकर प्रवेश करता है)

भिक्षु—(विचार करके) भो, भो उपासको ! सब पदार्थ क्षण-स्थायी और अनात्मक हैं। वे वाह्य से जान पड़ते हैं। पर जब चित्त-संतति में से सब वासनाएँ निकल जाती हैं, तब वह विषयों से विरक्त हो जाती है। (जरा इधर-उधर घूमकर बड़ी आढ्यता से) अरे, यह सौगत धर्म, सचमुच, अच्छा है जिसमें सौख्य है और मोक्ष भी। सोने को उत्तम आवास, अपनी पसन्द की बनियों की स्त्रियाँ, नियमित समय पर मिष्ट भोजन, उत्तम बिछौने, श्रद्धा से स्त्रियाँ पूजा करती हैं और, इस प्रकार, बड़े आराम से चाँदनी रातें कट जाती हैं।

करुणा—सखि, तरुण ताड़ के वृक्ष के समान ऊँचा, काषाय वस्त्र धारण किये, मुंडित-सिर यह कौन आ रहा है ?

शांति—सखि, यह बुद्धागम है।

भिक्षु—(आकाश की ओर देखकर) रे, रे, उपासको और भिक्षुओ ! भगवान सुगत का यह वचनामृत सुनो। (पुस्तक पढ़ता है) मैं दिव्य चक्षु से लोगों की सुगति और दुर्गति देखता हूँ। सब संस्कार क्षणिक हैं। आत्मा स्थायी नहीं। इसलिए, भिक्षु स्त्रियों से अति-प्रसंग करें, तो भी ईर्ष्या न करे, कारण, ईर्ष्या चित्त का मालिन्य है।

(इतने में कापालिक रूपधारी सोमसिद्धांत प्रवेश करता है। तब क्षपणक जैन, जो पहले से मौजूद है, उसके पास जाकर उससे कहता है)

क्षपणक—अरे कापालिक ! मनुष्यों की हड्डियों की माला धारण करने वाले, तेरा धर्म कौन-सा है और मोक्ष कौन-सा है ?

कापालिक—अरे क्षपणक, हमारा धर्म कौन-सा है, यह सुन ! हम मनुष्य के भेजा, आँतें, वसा और मांस से भरी आहुतियाँ देते हैं। और मनुष्य की खोपड़ी से सुरापान करके पारण करते हैं। ताजा कटे मनुष्य के गले से निकली हुई रक्त की धारा के बलिदान से महाभैरव की पूजा करते हैं।

(इतने में, कापालिक से क्षपणक और बौद्ध भिक्षु, दोनों का विवाद हो जाता है और कापालिक उनपर तलवार उठा कर टूटता है। फिर कापालिक एक युवती कपालिनी से कहता है कि तू बारी-बारी से दोनों का आलिंगन कर। आलिंगित होते ही भिक्षु गद्गद् होकर कहने लगता है :—

भिक्षु—अहा हा, इस कपालिनी का स्पर्श कितना सुखकर है ! मैंने, न जानें, कितनी रांडों का आलिंगन किया होगा। पर, मैं सौ बार बुद्ध की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि ऐसा आनन्द मुझे कभी नहीं मिला। सचमुच, कापालिकों का कार्य बड़ा पुण्यप्रद है और यह

सोमसिद्धांत वर्णनीय है । यह धर्म आश्चर्यजनक है । हे महाभाग, मैंने बुद्ध-धर्म बिल्कुल छोड़ दिया । अब मैं परमेश्वर-सिद्धांत में प्रवेश करता हूँ । इसलिये, तुम मेरे आचार्य और मैं तुम्हारा शिष्य । मुझे परमेश्वरी दीक्षा दो ।

और क्षपणक भी गद्‌गद् होकर कहता है:—

क्षपणक—(रोमांचित होकर) अरिहंत ! अरिहंत ! कपालिनी के स्पर्श में कैसा सुख है । सुन्दरी, दे,दे, पुनः मुझे आलिंगन दे । . . . .अरे कापालिकों का दर्शन सुख का और मोक्ष का साधन है । कापालिक, अब मैं तुम्हारा दास हो गया हूँ । मुझे भी महाभैरव के अनुशासन की दीक्षा दो ।[1]

नाटककार ने यहाँ किसी को भी नहीं छोड़ा है । जैन और बौद्ध भिक्षुओं तथा पाशुपत कापालिकों के द्वारा धर्म और नैतिकता की जो दुर्दशा उन दिनों हो रही थी, उसका नाटक में पूरा चित्र आ गया है । अतिशयोक्ति को बाद दे दें, तब भी, यह वर्णन तत्कालीन समाज पर यथेष्ट प्रकाश डालता है । यह भारत के घोर नैतिक पतन का चित्र है । श्रमण भी धर्म से गिर कर पापाचार में जा फँसे थे, किन्तु, पापियों की उग्रता और कठोरता उनमें नहीं थी, इसलिए, कापालिकों ने उन्हें दबा दिया । "शैव कापालिकों ने तलवार, स्त्री और मदिरा, इन तीन साधनों का उपयोग करके बौद्ध एवं जैन श्रमणों को अपने पन्थ में आने को बाध्य किया होगा और जहाँ यह सम्भव नहीं था, वहाँ उनका उच्छेद किया होगा ।"

ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच जो संघर्ष मचा, उसके फलस्वरूप, स्मृतियों में कड़े अनुशासनों की व्यवस्था की गई, जात-पाँत और छूआछात के बन्धन और भी कठोर बना दिये गये और धर्म में रूढ़ियाँ प्रधान बन बैठीं । ज्यों-ज्यों ब्राह्मणत्व अपनी पवित्रता की रक्षा के लिये नये-नये चंगुल निकालता जाता था, त्यों-त्यों उन लोगों पर अत्याचार बढ़ता जाता था, जो समाज के निचले स्तर पर बसते थे और जो जन्मना कलंकित होने के अभिशाप से बचने के लिए, उस दल की ओर बढ़ जा रहे थे जो दल बौद्ध सन्तों के प्रभाव में था और जिसे सिद्धों के ये उपदेश बहुत अच्छे लगते थे कि मनुष्य की श्रेष्ठता जन्म से नहीं, कर्म से मिलती है, और वे सारे शास्त्र अनादरणीय हैं जो मनुष्य को मनुष्य से हीन बताते हैं ।

---

१. भारतीय संस्कृति और अहिंसा से

इस्लाम से पूर्व ही इस्लामवत् संप्रदाय

जब इस्लाम आया, उसे इस देश में फैलने में देर नहीं लगी। तलवार के भय अथवा पद के लोभ से तो बहुत थोड़े ही लोग मुसलमान हुए, ज्यादा तो ऐसे ही थे जिन्होंने इस्लाम का वरण स्वेच्छा से किया। बंगाल, काश्मीर और पंजाब में गाँव के गाँव एक साथ मुसलमान हो गये। शहरों के किनारे पर जो अछूत लोग बसते थे, उन्हें मुसलमान बनाने के लिए किसी खास आयोजन की आवश्यकता नहीं हुई। क्योंकि ये अछूत शहरों के भीतर नहीं बस सकते थे, जहाँ ऊँची जातियों का प्राधान्य था और ये ऊँची जातियाँ अछूतों को पशु से भी हीन समझती थीं। सच पूछिये तो मुसलमानों के आगमन के पूर्व ही, इस देश में बहुत-से हिन्दू वर्णाश्रम-धर्म को छोड़ कर एक ऐसी जगह पर खड़े हो गये थे, जहां वर्णाश्रम का कोई प्रभाव नहीं था। वे जात-पाँत को नहीं मानते थे, तीर्थ-व्रत और प्रतिमा-पूजन में उनका विश्वास नहीं था, वे किसी अलख निरंजन या निराकार की उपासना करते थे। ऐसे विश्वास वालों का जब इस्लाम से सामना हुआ होगा तब, अजब नहीं, कि उन्हें हिन्दुत्व की अपेक्षा इस्लाम ही अधिक अनुकूल दिखायी पड़ा हो।

बौद्धों के दीर्घकालीन प्रचार ने, आखिरकार, समाज में एक ऐसा समुदाय तैयार कर दिया जो निराकार को पूजता था और जो जातिप्रथा का द्रोही और स्मृतियों का विरोधी था। सिद्ध, नाथपंथी और बाद के निर्गुनियाँ सन्त इन्हीं बौद्ध प्रचारकों के उत्तराधिकारी थे। कट्टर ब्राह्मण-धर्म से बौद्ध-मत अपनी रक्षा तो नहीं कर सका, किन्तु, उसने ऐसी अनेक सन्तानें उत्पन्न कर दीं जो ब्राह्मणत्व से आज तक युद्ध कर रही हैं। हजारी प्रसाद जी के अनुसार, "गोरखनाथ के पूर्व ऐसे बहुत-से शैव, बौद्ध और शाक्त संप्रदाय थे जो वेदबाह्य होने के कारण न हिन्दू थे, न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में परिचित हुआ, तो नाना कारणों से दो प्रतिद्वंद्वी धर्मसाधनामूलक दलों में यह देश विभक्त हो गया।" असल में, बौद्ध मतावलंबियों की स्वाभाविक परिणति या तो अद्वैतवादी हिन्दू-संप्रदायों में होती थी अथवा इस्लाम में। हजारी प्रसादजी ने लिखा है कि "बिहार में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शती में बौद्ध धर्म जीवित था और, बाद में चलकर वह कबीर-पन्थ में मिल गया।" इसी प्रकार, अवैदिक या वेदवाह्य कह-कहकर जिन लोगों का हिन्दुत्व ने तिरस्कार किया, वे सब के सब मानसिक धरातल पर हिन्दुत्व से अलग हो जाने को तैयार थे।" दसवीं शताब्दी में ब्राह्मण-धर्म संपूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था; फिर भी, बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद की प्रधानता को नहीं मानता था!" जब मुसलमान इस देश

में आये, तब इन लोगोंका मन डोलने लगा। ब्राह्मण-धर्म में इन्हें इज्जत नहीं थी। उधर, जिस निराकार भावना का इन लोगों के बीच प्रचार था, इस्लाम भी उसी निराकारोपासना को लेकर आया था। "पूर्वी बंगाल के वेदवाह्य संप्रदायों के ध्वंसावशेष कई धार्मिक संप्रदाय ऐसे थे जिन्होंने मुसलमानों को अपना त्राणकर्ता समझा। वे समूह-रूप में मुसलमान हो गये। पंजाब में भी नाथों, निरंजनों और पाशुपतों की अनेक शाखाएँ मुसलमान हो गयीं।.... गोरखनाथ के संप्रदाय में अनेक बौद्ध, शैव, शाक्त संप्रदाय अन्तर्भुतक्त हुए, परन्तु, इस संप्रदाय के भी बहुतेरे गृहस्थ मुसलमान हो गये।" (मध्यकालीन धर्म-साधना)।

द्विवेदीजी ने अपनी कबीर-नामक पुस्तक में भी इस विषय की समीचीन व्याख्या की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि

आज की वयनजीवी जातियों में से अधिकांश किसी समय ब्राह्मण-श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करती थीं।

जोगी नामक आश्रमभ्रष्ट घरवारियों की एक जाति सारे उत्तरी और पूर्वी भारत में फैली थी। ये नाथपंथी थे, कपड़ा बुनकर या सूत कात कर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख माँग कर जीविका चलाया करते थे। इनमें निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी, जाति-भेद और ब्राह्मण-श्रेष्ठता के प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी और न अवतारवाद में ही इनकी कोई आस्था थी। आसपास के बृहत्तर हिन्दू-समाज की दृष्टि में ये नीच और अस्पृश्य थे। मुसलमानों के आने के बाद, धीरे-धीरे ये मुसलमान होते रहे। पंजाब, युक्त प्रदेश, बिहार और बंगाल में इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।

ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानों के आने के पहले, इस देश में एक ऐसी श्रेणी वर्तमान थी जो ब्राह्मणों से असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रम के नियमों की कायल नहीं थी। नाथपंथी योगी ऐसे ही थे। रमाई पंडित के "शून्यपुराण" से जान पड़ता है कि एक प्रकार के तांत्रिक बौद्ध उन मुसलमानों को धर्म ठाकुर का अवतार समझने लगे थे। उन्हें यह आशा हो चली थी कि अब पुनः एक बार बौद्ध धर्म का उद्धार होगा। शायद, उन्होंने हिन्दू-विरोधी सभी मतों को बौद्ध ही मान लिया था। [ह० प्र० द्विवेदी (कबीर)]

रमाई पंडित का समय ११वीं सदी माना जाता है। किन्तु, शून्यपुराण में इस्लाम के लिए जो उत्साह दिखाई पड़ता है उससे यह अनुमान होना चाहिए कि इस ग्रन्थ की रचना मुसलमानों के बंगाल-प्रवेश के बाद हुई है। ब्राह्मण-धर्म के प्रति निचले स्तर के हिन्दुओं (विशेषतः अस्पृश्य जातियों) का क्या भाव था, इसे समझने के लिए **"शून्य पुराण"** बड़े ही महत्व का ग्रन्थ है। **"शून्य पुराण"** का कवि इस्लाम को धर्म के रक्षक के रूप में देखता है और यह कवि मुसलमान नहीं है। अतएव, निष्कर्ष यही निकलता है कि बौद्धों के प्रभाव में

चलने वाली हिन्दू जनता का एक अच्छा-खासा अंश ऐसा भी था जो हिन्दुत्व से इस्लाम को श्रेष्ठ समझता था और जिसे, सचमुच ही, यह आशा हो चली थी कि इतने दिनों तक ब्राह्मणों और शास्त्रों ने मिलकर जनता पर जो अत्याचार किया है, मुसलमानों के हाथों उस अत्याचार का अन्त होने वाला है। मुसलमान जब बंगाल में ऊधम मचाने लगे, तब उनके उपद्रवों से और लोग चाहे रुष्ट हुए हों, किन्तु, शून्य पुराण का कवि बहुत प्रसन्न था। उसे तो यही भासित हो रहा था कि स्वयं धर्म-ठाकुर की सेना बंगाल में पहुंच गई है। देवता ब्राह्मणों से नाराज़ हो गये हैं, और वे ही अब उन्हें दंडित कर रहे हैं। रमाई पंडित कहते हैं कि "सभी देवताओं ने एकमत होकर "इजार" पहने। ब्रह्मा मुहम्मद हो गये, विष्णु पैगम्बर हो गये और महादेव ने आदम का रूप लिया। गणेश गाजी बने और कार्तिक काजी, ऋषिगण फकीर बन गये। बाबा नारद वेष बदल कर शेख हो गये और इन्द्र मौलाना बन गये। चंद्र, सूर्य आदि देवगण बजनियां बन गये। स्वयं चंडिका देवी हाया बीबी हो गईं। पद्मावती बीबी नूर हो गईं। इसी प्रकार सभी देवगण मुसलमान वेष धारण कर जाजपुर आये और वे देवालय, तोरणद्वार आदि तोड़ने लगे। साथ ही बलपूर्वक वस्तुओं का अपहरण करके आनन्द मनाने लगे और 'पकड़ो-पकड़ो' कहने लगे। धर्म का पांव पकड़ कर रमाई पंडित गाते हैं कि यह बड़ी ही गड़बड़ी मच गई।"[1]

---

१. यतेक देवतागण, सभे हय्ये एकमन, आनन्देते परिल इजार।
ब्रह्मा हैल महामद, विष्णु हैल पैकम्बर, आदम हईल शूलपाणि।
गणेश हईला गाजी, कार्तिक हईल काजी, फकीर हईल यत मुनि।
तेजिया आपन भेक, नारद हईला शेख, पुरन्दर हईला मल्लना।
चन्द्र, सूर्य आदि देवे, पदातिक हइया सेवे, सबे मिलि बाजाय बाजना।
आपुन चंडिका देवी, तेहु हैला हाया बीबी, पद्मावती हलो बीबी नूर।
यतेक देवतागण, हय्ये सबे एकमत, प्रवेश करिल जाजापुर।
[कविता-कौमुदी, सातवां भाग]

बौद्ध-धर्म का लोप

बौद्ध-धर्म भारत से कैसे लुप्त हुआ, इसके दो उत्तर दिये जाते हैं। एक तो यह कि जनाग्रह के कारण उसे हिन्दू रूप धारण करने को लाचार होना पड़ा। इस प्रकार, वह जहाँ से आया था वहीं लौट गया। दूसरा यह कि महायान से सहजयान तक बौद्ध धर्म का हिन्दू-करण एक तरह से पूर्ण हो गया था, किन्तु उसकी समाप्ति मुस्लिम-आक्रमण के कारण हुई, क्योंकि मुसलमानों ने संघों और विहारों को नष्ट कर दिया और इनके विनष्ट हो जाने पर बौद्ध-धर्म जी नहीं सकता था। गृहस्थों की दृष्टि में भी बौद्धमत के प्रतीक संघ और विहार ही थे। जब संघ उजड़ गये, धर्म का प्रतीक सदा को जाता रहा। इसके विपरीत, मन्दिरों के विनष्ट होने पर भी, हिन्दुत्व जीवित रहा, क्योंकि वह मन्दिरों में कम, गृहस्थों के आचार-विचार और दैनिक अनुष्ठानों में अधिक बसता था। ईसाइयत और बौद्धमत के समान हिन्दुत्व ने धर्म का संघ कभी नहीं बनाया। यह भी एक कारण है कि वह मन्दिरों के टूटने पर भी अक्षुण्ण रह गया। हिन्दुत्व, मूलतः अपने अनुयायियों की आदतों में निवास करता है। जो जनता बौद्ध थी, आदत, अनुष्ठान और दैनिक आचारों में वह भी हिन्दू थी। अतएव, जब भिक्षुओं का संघ नहीं रहा, यह जनता पूर्ण रूप से हिन्दू हो गयी।

"शंकर-दिग्विजय" नामक काव्य के आधार पर बहुत दिनों से यह बात चली आती है कि "शंकराचार्य के ही प्रताप से बौद्ध भारत से निकाले गये। शंकर ने बौद्धों को शास्त्रार्थ में ही नहीं परास्त किया, बल्कि, उनकी आज्ञा से राजा सुधन्वा आदि ने हजारों बौद्धों को समुद्र में डुबो कर और तलवार के घाट उतार कर उनका संहार किया।" किन्तु राहुल जी इस मत को नहीं मानते। बुद्धचर्या की भूमिका में उन्होंने कहा है कि शंकराचार्य का "शारीरक भाष्य" अनमोल ग्रन्थ अवश्य था, किन्तु, दिङ्नाग, उद्योतकर, कुमारिल और धर्म-कीर्ति के युग के लिए वह कोई ऊंचा ग्रंथ नहीं था और न शंकर के समय, उत्तर भारत में उस ग्रंथ का प्रचार ही हुआ था। उत्तर भारत में, "शारीरक भाष्य" का महत्त्व तब बढ़ा जब मिथिला के सर्वशास्त्र-निष्णात दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने उस पर **"भामती"** टीका लिखी। यथार्थ में, वाचस्पति मिश्र के कंधे पर चढ़ कर ही शंकर को वह कीर्ति और बड़प्पन मिला जो आज देखा जाता है। वाचस्पति मिश्र के एक शती पूर्व, नालन्दा में आचार्य शान्तरक्षित हुए थे, जिन्होंने महादार्शनिक ग्रंथ **"तत्त्व-संग्रह"** की रचना की। इस ग्रंथ में शान्तरक्षित के पूर्वज पचासों दार्शनिकों के मतों का उल्लेख मिलता है, किन्तु, शंकर मत का उसमें उल्लेख नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि शंकर के "शारीरक भाष्य" की

प्रसिद्धि "भामती" टीका के कारण हुई। आगे राहुल जी ने कहा है कि "एक ओर कहा जाता है कि शंकर ने बौद्धों को मार भगाया, दूसरी ओर, हम उनके बाद, गौड़-देश (बंगाल-बिहार) में पालवंशीय बौद्ध नरेशों का प्रचंड प्रताप फैला देखते हैं तथा उसी समय उदन्तपुरी और विक्रमशिला-जैसे बौद्ध विद्यालयों को स्थापित होते देखते हैं। इसी समय, भारतीय बौद्धों को हम तिब्बत पर धर्म विजय करते भी देखते हैं। ११ वीं शताब्दी में, जब कि, उक्त दंतकथा के अनुसार-भारत में कोई भी बौद्ध नहीं रहना चाहिए, तिब्बत से कितने ही बौद्ध भारत में आते हैं और वे सभी जगह बौद्ध गृहस्थों और भिक्षुओं को पाते हैं। इस पाल-काल के बुद्ध, बोधिसत्व और तांत्रिक देवी-देवताओं की खंडित मूर्त्तियाँ उत्तरीय भारत के गाँवों तक में पायी जाती हैं। ......यह बतला रही हैं कि उस समय बौद्धों को कोई शंकर नेस्तनाबूद नहीं कर पाया था। ...... शंकर द्वारा बौद्ध धर्म का देश निर्वासन कल्पना-मात्र है।"

इसी से मिलता-जुलता मत धर्मानन्द कोसाम्बी का भी है। उनका कहना है कि शंकराचार्य के दादा-गुरु गौड़पादाचार्य थे जो अद्वैताचार्य भी कहे जाते हैं। अद्वैताचार्य बुद्ध के भक्त थे क्योंकि मांडूक्योपनिषत् की कारिका के चतुर्थ प्रकरण के आरम्भ में उन्होंने बुद्ध की वन्दना की है। अद्वैतवादियों से बौद्धों का बहुत विरोध नहीं था। शान्तरक्षित ने **तत्वसंग्रह** में अद्वैतवादियों से बौद्धों का सिर्फ एक बात में मतभेद माना है कि अद्वैतवादी ज्ञान को नित्य मानते हैं और बौद्ध वैसा नहीं मानते। फिर भी, शान्तरक्षित ने इसे "अल्पापराध" ही कहा है। गौड़पादाचार्य प्रत्यक्ष रूप से बुद्ध-भक्त थे। शंकराचार्य को लोग "प्रच्छन्न बौद्ध" कहते थे। किन्तु, शंकर ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया को अवश्य उत्तेजन दिया। कोसाम्बी जी का मत है कि "शंकराचार्य के समय, बौद्ध धर्म मृत-प्राय हो गया था और उसका श्रेय यदि श्रमणों के आलस्य के अतिरिक्त, और किसी को देना है, तो वह पाशुपतादिक शैव संन्यासियों को, उनको उभाड़ने वाले ब्राह्मणों को और उनकी सहायता करने वाले शैव राजाओं को देना होगा। हाँ, इसमें संदेह नहीं कि शंकराचार्य ने इस कार्य में यथाशक्ति सहायता दी, पर, बौद्ध धर्म उनके बाद भी, मुहम्मद गोरी के आक्रमणों तक, पूर्व हिन्दुस्तान में किसी न किसी तरह जी रहा था।"

मगर, जाते-जाते बौद्ध धर्म उन अनेक संप्रदायों को अपनी विरासत के रूप में छोड़ गया जो वर्णाश्रम के विरोधी थे, जो मूर्त्ति-पूजा, तीर्थ-व्रत, अवतार और धार्मिक अनुष्ठानों की खिल्ली उड़ाते थे। ये ही संप्रदाय आगे चलकर निर्गुनियाँ संतों के संप्रदायोंमें विकसित और परिवर्तित हो गये जो हिन्दुत्व और इस्लाम को परस्पर निकट लाने की चेष्टा करते रहे हैं। यहाँ से हम भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ देखते हैं। एक धारा के नेता और कवि कबीर, नानक, दादू आदि हैं और दूसरी धारा के व्याख्याता विद्यापति (नैबन्धिक विद्या-

पति) और तुलसीदास हैं। यह भी स्मरण रखने की बात है कि महात्मा तुलसीदास हिन्दुत्व के रक्षक माने जाते हैं। किन्तु, हिन्दुत्व की रक्षा उन्होंने किससे की, यह समझ लेने की बात है। इस्लाम के खिलाफ, उन्होंने कहीं एक शब्द भी नहीं लिखा है। हां, अलख और निरंजन की रट लगाने वालों के वे खिलाफ थे जैसा कि इस प्रसिद्ध दोहे से प्रकट होता है,

हम लख हमहिं, हमार लख हम हमार के बीच,
तुलसी अलखहिं का लखै, राम नाम जपु नीच।

इसी तरह, गोरखिया मत के विरुद्ध भी तुलसीदास का यह वचन मिलता है

गोरख जगायो जोग,
भगति भगायो लोग।

सारांश यह कि हिन्दुत्व के प्रधान शत्रु वे लोग माने गये, जो जनता को धर्म के सभी बाह्याचारों से मुक्त कर मनमुखी बनाना चाहते थे। तुलसीदास की शिकायत यह मालूम होती है कि जो लोग योगाचार और निरंजन मत के फेरे में डालकर जनता को मन्दिर और मूर्त्ति तथा धर्म के शास्त्रसम्मत रूप से विमुख करते हैं, वे जनता को उस चीज से वंचित करते हैं, जो उसके वस की है। योग और अन्तःसाधना सबको नहीं मिलती, किन्तु, श्रद्धा, भक्ति और आचार का मार्ग सबके लिए सुलभ है। दूसरे शब्दों में, तुलसीदास जी उस वर्णाश्रम-धर्म के कवि हुए जिसके खिलाफ महात्मा बुद्ध ने आन्दोलन आरंभ किया था और जो गाँधी जी तक निरंतर चलता आया है। इस बीच में, जो मत हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच सेतु बनकर खड़े हुए, उनके बीज बुद्ध के आन्दोलन में मौजूद थे। चढ़ाई, फतह और तलवार के जोर से भारत के इतने अपार लोग मुसलमान नहीं होते। इस्लाम के आगमन के पूर्व, इस देश में इस्लाम के पनपने की जमीन बहुत कुछ तैयार हो चुकी थी और इस तैयारी में सबसे बड़ा योगदान उन लोगों ने दिया जो बहुत दिन से वर्णाश्रम के खिलाफ प्रचार करते आये थे। किन्तु, यह भी आश्चर्य की बात है कि कट्टर हिन्दुत्व से बगावत करने वाले बौद्धमत के अन्तिम संहारक मुसलमान ही हुए। मगर यह महज संयोग की बात थी, क्योंकि मुसलमानों को क्या पता था कि मूर्त्तिपूजा के खिलाफ भारत में जो आन्दोलन उठा था उसके पीछे सबसे बड़ा बल बौद्ध-दर्शन और विचार का ही था ?

कोई-कोई विद्वान यह भी कहते हैं कि बौद्ध धर्म का भारतवर्ष से लोप इसलिए हुआ कि दार्शनिक स्तर पर हिन्दू-धर्म से उसका सामंजस्य नहीं बैठ सका। बौद्धों का विरोध ब्राह्मणों ने इसलिए किया कि वे जातिप्रथा के विरोधी थे, यज्ञ को नहीं मानते थे तथा ब्राह्मणों की जन्मजात श्रेष्ठता उन्हें स्वीकार नहीं थी। किन्तु, बौद्ध दर्शन का विरोध इसलिए हुआ कि उसका रूप नकारात्मक था, वह जीवन से भाग खड़े होने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता था।

बुद्धदेव का आविर्भाव बहुत कुछ उन्हीं कारणों से हुआ था, जिन कारणों को लेकर उपनिषदें लिखी गई थीं। बौद्धमत और उपनिषदों में समानताएँ कम नहीं हैं। डाक्टर राधाकृष्णन ने दिखलाया है कि उपनिषदें और बौद्धमत, दोनों ही वेदों को प्रमाण नहीं मानते। दोनों ही वैयक्तिक अनुभूति की प्रामाणिकता पर जोर देते हैं। यज्ञ और धर्म के वाह्याचारों को दोनों ही निन्द्य समझते हैं। जिस सत्य को उपनिषदें ब्रह्म कहती हैं, उसी सत्य को बुद्ध ने धर्म कहा है और दोनों मानते हैं कि यह अन्तिम सत्य बुद्धि से समझा नहीं जा सकता। दोनों का विश्वास है कि अपरिवर्तनशीलता की स्थिति पर पहुँचे बिना मनुष्य को शान्ति नहीं मिल सकती। इसी स्थिति को उपनिषदें मोक्ष एवं बुद्धदेव निर्वाण कहते हैं। दोनों की यह भी मान्यता है कि इस स्थिति तक पहुँचने का मार्ग वैराग्य है, ध्यान और समाधि है तथा इसे वही प्राप्त करता है जिसे यह विश्वास हो गया हो कि संसार के समस्त जीव एक हैं, उनमें भेद-भाव नहीं है। जीव और जगत् को दोनों नाशवान मानते हैं। सच तो यह है कि बुद्धदेव ने अपने उपदेशों में बहुत-से ऐसे वाक्यांशों का प्रयोग किया है, जो उपनिषदों के वाक्यांशों की प्रतिच्छाया-से लगते हैं।

यहाँ तक तो बातें ठीक रहीं और यह भी अच्छा रहा कि बुद्धदेव ने अपने शिष्यों को उन विषयों पर सोचने से रोक दिया जिनके संबंध में कोई भी बात निश्चितता से जानी नहीं जा सकती। उनका उद्देश्य अध्यात्म के ऊहापोह में जाना नहीं, मानव-जीवन की वेदनाओं का शमन था एवं उसके लिए वे मनुष्य के कर्मों का सुधार करना चाहते थे। मनुष्य के जीवन की पूर्णता उसके कर्मों की शुद्धता में है; मनुष्य की शान्ति हिंसा और मलिन कर्म से अलग रहने में है; ये उपदेश बुद्धदेव ने बार बार दिये हैं।

यदि बौद्धमत इतने से ही संतुष्ट रहता तो, संभव है, वह उस धर्म का क्रिया-पक्ष बन कर भारत में आज भी कायम रहता, जिसके सिद्धान्त-पक्ष का आख्यान उपनिषदों में हुआ है। किन्तु, दुर्भाग्यवश, यह नहीं हुआ। बुद्धदेव के, प्रायः, दो सौ वर्ष बाद, बौद्ध पंडित उन विषयों पर सोचने का साहस करने लगे, जिन्हें बुद्ध ने **अव्याकृत** कहा था और जिनके बारे में उन्होंने कोई राय नहीं दी थी। उनके मौन का लाभ बाद के पंडितों ने उठाया और उन्होंने जो दर्शन प्रस्तुत किया, उसका निष्कर्ष यह था कि जीव और जगत्, दोनों परिवर्तन-शील, दोनों नाशवान् हैं। परिवर्तनशील और नाशवान् तो इन्हें उपनिषदों ने भी माना था, किन्तु, उपनिषदों का यह भी कथन था कि दोनों के नीचे, आधार-रूप से, आत्मा और परमात्मा अवस्थित हैं जिनका नाश नहीं होता है। इसलिए, पुनर्जन्म की कल्पना (उप-निषदों की व्याख्यानुसार) समझ में आने की बात थी। किन्तु, बौद्ध पंडितों ने पुनर्जन्म को तो माना, लेकिन, आत्मा को अनित्य कह डाला। इससे लोगों में यह जिज्ञासा उठी कि यदि आत्मा भी नष्ट होनेवाली वस्तु है, तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है। इस जिज्ञासा

का सम्यक् समाधान बौद्ध दर्शन नहीं दे सका, जिससे उसका अनात्मा-विषयक प्रतिपादन जनता को ग्राह्य नहीं हो सका।

दूसरी क्लिष्ट कल्पना निर्वाण को लेकर उठी। उपनिषदों का मोक्ष आत्मा नहीं, आत्मा के बंधनों का नाश था, उसकी सीमाओं का विलय था। हिन्दू मानते थे कि मोक्ष हमारा विनाश नहीं, प्रत्युत्, अमर जीवन का आरंभ है। किन्तु, बौद्धों ने जब यह कहा कि आत्मा अमर नहीं होती, उसका भी शरीर के साथ नाश हो जाता है, तब फिर यह शंका जनता को सताने लगी कि यदि आत्मा मरती है, तो उसके पुनर्जन्म की कल्पना ही व्यर्थ है और जब पुनर्जन्म ही शंका-ग्रस्त हुआ, तो फिर निर्वाण किसके लिए ?

बौद्ध दर्शन में चिन्तन बहुत उच्चकोटि का हुआ था, किन्तु, वह ऐसा नहीं था जिससे जन-सामान्य की जिज्ञासाओं का समाधान होता। उल्टे, जनता की बुद्धि और भी चकित हो गई और भीतर से इस धर्म पर से उसकी श्रद्धा उखड़ती गई। बुद्धदेव के जीवनकाल में भी एक जिज्ञासु ने उनसे पूछा था कि "महाराज ! यदि यहाँ की आत्मा यहीं रह जाती है तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है ?" इस पर बुद्धदेव ने ताली बजायी और दूर पर सुनाई देने वाली उसकी प्रतिध्वनि को लक्ष्य करके कहा कि "ताली तो वहाँ नहीं गई, किन्तु, उसकी प्रतिध्वनि वहाँ पहुँच गई है। ऐसे ही पुनर्जन्म होता है।" यह दृष्टांत, कदाचित्, उपयोगी होगा, किन्तु, सामान्य बुद्धि के लिए यह भी अयथेष्ट है।

बौद्ध दर्शन ने सब कुछ को नाशवान् मान कर एक प्रकार से पुनर्जन्म और निर्वाण की कल्पना को आधारविहीन कर छोड़ा। स्पष्ट ही, यह उपनिषदों के उपदेशों का कतरा हुआ रूप था एवं इस स्थापना ने हिन्दुत्व और बौद्धमत के बीच की खाई चौड़ी बना दी। बुद्धदेव, कदाचित्, उपनिषत्कालीन हिन्दुओं में सर्वश्रेष्ठ थे, इसलिए, उनकी ओर जनता वेग से दौड़ी, यहाँ तक कि हिन्दुओं ने उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया। किन्तु, उनके बाद जो बौद्ध दर्शन तैयार हुआ, वह हिन्दुत्व से बेमेल हो गया और इस कारण, जनता के हृदय से उसकी प्रतिष्ठा जाती रही।

तीसरा अध्याय

(हिन्दू-संस्कृति और इस्लाम)

हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्ध की भूमिका

स्वर्गीय मानवेन्द्रनाथ राय ने एक जगह[1] लिखा है कि संसार की कोई भी सभ्य जाति इस्लाम के इतिहास से उतनी अपरिचित नहीं है जितने कि हिन्दू हैं और संसार की कोई भी जाति इस्लाम को उतनी घृणा से भी नहीं देखती, जितनी घृणा से हिन्दू देखते हैं। हमारे राष्ट्रीय संस्कार में एक प्रकार की आध्यात्मिक साम्राज्यवादिता है जो सबसे अधिक मुसलमानों के प्रसंग में प्रकट होती है। इस्लाम के सम्बन्ध में जो भावनाएँ इस देश में प्रचलित हैं, उनका खंडन केवल राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने के लिए ही नहीं, अपितु, वैज्ञानिकता और ऐतिहासिक सत्य के हित में भी आवश्यक है।

राय महोदय ने जो बात लिखी है, वह एक अंश में भारत के मुसलमानों पर भी लागू है, क्योंकि इस देश के मुसलमानों में भी इस्लाम के मौलिक स्वभाव, गुण और उसके ऐतिहासिक महत्त्व का ज्ञान बहुत ही छिछला रहा है। भारत में मुसलमानों का अत्याचार इतना भयानक रहा कि सारे संसार के इतिहास में उसका जोड़ नहीं मिलता। इन अत्याचारों के कारण, हिन्दुओं के हृदय में इस्लाम के प्रति जो घृणा उत्पन्न हुई, उसके निशान अभी तक बाकी है। और पड़ोसी के हृदय में इतिहास ने ज़हर की जो लकीरें छोड़ी हैं, उन्हें मुसलमान भी मन-ही-मन अनुभव करते रहे हैं। यह बड़ी ही अर्थपूर्ण बात है कि भारत के किसी भी मुसलमान विद्वान् ने मुसलमानी अत्याचारों को उचित बताने अथवा उनकी भीषणता पर परदा डालने की कोशिश नहीं की।[2] यही कारण है कि, यद्यपि, हिन्दू और मुसलमान इस देश में एक साथ जीते चले आये हैं, लेकिन, दिल उनके साफ नहीं हुए और ऊपर से उन्होंने सामासिक संस्कृति की चादर चाहे जितनी भी मोटी बुनी हो, किन्तु भीतर दोनों जातियों के हृदय फटे हुए हैं। भारत के राष्ट्रीय जीवन का यह रोग बड़ा ही भयानक है। इसलिए, उचित है कि हम हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्बन्धों का इतिहास ज़रा तफसील में पहुँच कर समझने की कोशिश करें। सम्भव है, इस प्रकार के अध्ययन से हिन्दू अपना दुःख और मुसलमान अपनी ग्लानि कुछ दूर तक भूल सकें। सम्भव है, हम संस्कृति की उस पतली एकता को भी थोड़ा महत्त्व दे सकें जिसे हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिल कर तैयार किया है।

---

१ द हिस्टारिकल रोल आव् इस्लाम—एम०एन० राय

२. "आधुनिक मुसलमान लेखक डा० हबीब ने महमूद के बारे में लिखा है कि गजनवी की सेना से भारतीय मन्दिरों का जो घोर विध्वंस हुआ उसको किसी ईमानदार इतिहासकार को छिपाना नहीं चाहिए और अपने धर्म से परिचित कोई भी मुसलमान उसका समर्थन नहीं करेगा।" (भारतीय इतिहास का परिचय—डा० राजबली पाण्डेय)

इस्लाम का क्षिप्र प्रसार

किन्तु, हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्धों पर विचार करने के पूर्व यह उचित दीखता है कि हम कुछ घटनाओं और स्थितियों का ब्यौरा समझ लें जिनका इस प्रश्न से गहरा सम्बन्ध है। पहली बात यह है कि प्रत्येक धर्म ऐतिहासिक आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होता है और उसका प्रसार भी उसी समाज में सम्भव होता है जिसके सदस्य उस धर्म की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। इतिहास ने इस्लाम पर बार-बार यह दोष लगाया है कि उसका प्रसार तलवार के द्वारा किया गया और इस लांछन को दूर करने के लिए मुस्लिम इतिहासकारों में से अनेक ने जी-तोड़ कोशिश भी की है। लेकिन, बात रह जाती है कि मुसलमान जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने जनता के सामने तीन रास्ते रखे। या तो कुरान लो और इस्लाम को कबूल करो; या कर दो और अधीनता स्वीकार करो; अथवा दोनों में से कोई बात पसंद नहीं हो तो तुम्हारे गले पर गिरने के लिए हमारी तलवार प्रस्तुत है। ये बड़े ही कारगर उपाय रहे होंगे, किन्तु, यह समझ में नहीं आता कि सिर्फ इन्हीं उपायों से इस्लाम उतनी जल्दी कैसे फैल गया।

इस्लाम को जन्म लिए हुए सिर्फ अस्सी वर्ष हुए थे कि इतने ही समय में, उसका झंडा एक ओर तो भारत की सीमा पर पहुँच गया और दूसरी ओर, वह अतलान्त-महासागर के किनारे पर जा गड़ा। मुहम्मद साहब का जन्म ५७० ई० में और मृत्यु ६३२ ई० में हुई। सन् ६२२ ई० में उन्होंने मक्का छोड़कर मदीने की हिजरत की, जिस वर्ष से इस्लाम का वास्तविक आरंभ माना जाता है। लेकिन, सात सौ ई० लगते-लगते, इस्लाम ईराक, ईरान और मध्य एशिया में फैल गया तथा सन् ७१२ ई० में सिन्ध मुसलमानों की अधीनता में चला गया और उसी साल, मुसलमानी राज्य स्पेन में भी स्थापित हो गया। जो अरबी सेनापति समुद्र पार करके स्पेन पहुँचा, वह जिब्राल्टर में उतरा था। उसका नाम तारिक था जिससे जब्रुलतारिक (तारिक की चट्टान) या जिब्राल्टर नाम चला है। हिजरी सन् के सौ साल (यानी ७२२ ई०) होते होते, मुसलमानों के राज्य के समान शक्तिशाली राज्य दुनिया में और नहीं रह गया था। इतिहास में रोमन साम्राज्य की गरिमा बहुत विशाल समझी जाती है। किन्तु, उसके निर्माण में लगभग छह सौ साल लगे थे। लेकिन, अरबों का व्यापक साम्राज्य इस्लाम के जन्म से केवल सौ साल में फैल गया। खलीफों ने जितना बड़ा साम्राज्य स्थापित किया, सिकन्दर का साम्राज्य उसका एक अंश मात्र था। ईरान के राज्य ने, प्रायः, एक हजार वर्ष तक पड़ोस में अपनी सत्ता कायम रखी थी, किन्तु, अरब के धर्म-योद्धाओं के सामने वह खड़ा नहीं रह सका। मुहम्मद साहब की मृत्यु के दस साल बीतते-बीतते, ईरान पर अरब के मुसलमानों का कब्जा हो गया और वहाँ के लोग मुसलमान हो गये। भारतवर्ष में जो पारसी-धर्म के लोग हैं उनके पूर्वज इन्हीं आक्रमणों के समय ईरान

छोड़कर भारत चले आये थे कि वे मुसलमान होने से बच सकें। इस्लाम का उदय अरब में हुआ था। वह ईरानवालों का धर्म नहीं था। किन्तु, सभ्यता और संस्कृति में ईरानवालों के सामने अरबी योद्धा बर्बर और अर्ध सभ्य थे। अतएव, शरीर से तो अरबों ने ईरानवालों को जीत लिया और उन्हें मुसलमान भी बना डाला, किन्तु, ईरान की ऊँची संस्कृति के सामने ये विजेता पराजित हो गये और बहुत शीघ्र यह अवस्था आ गयी कि फारसी भाषा इस्लाम की भाषा और ईरानी संस्कृति मुसलमानों की अपनी संस्कृति हो गयी। यह भी ध्यान देने की बात है कि अरब जाति सामी (Semitic) थी और ईरानवाले आर्य थे। अतएव, इस्लाम का जन्म सामी-संस्कृति के बीच हुआ था, किन्तु, ईरान आकर वह आर्य नस्ल वालों का धर्म हो गया। दमिस्क के खलीफे जिस साम्राज्य पर राज करते थे उसके एक छोर से दूसरे छोर तक जाने में तेज-से-तेज ऊँटनियों को भी पाँच महीने का समय लग जाता था। इस्लाम के इस क्षिप्र-प्रसार पर इतिहास आश्चर्य करता आया है और लोग कहते आये हैं कि यह प्रसार इतनी जल्दी इसलिए हुआ कि इस्लाम की सहायिका तलवार थी। खड्गवाद के साथ इस्लाम का सम्बन्ध इतना गहरा समझा जाता है कि स्वयं मुसलमान कवि **अकबर इलाहाबादी** इसका खंडन नहीं कर सके और सिर्फ इतना ही कह कर रह गये कि,

लोग यह कहते हैं, तलवार से फैला इस्लाम,
यह नहीं कहते हैं कि तोप से क्या फैला है।

किन्तु, एक तलवार के कारण ही इस्लाम का सारा प्रसार संभव नहीं हुआ। असल में, कवियों, नेताओं और संत-सुधारकों के समान, नया धर्म भी तभी प्रकट होता है जब उसकी आवश्यकता होती है और उसी समाज में प्रकट होता है जिस समाज के लोग उसकी इन्तजारी में होते हैं। इस्लाम भी अरबी देशों की ऐतिहासिक आवश्यकता के कारण जन्मा था और, इसीलिए, वह शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया।

इस्लाम के उदय के पूर्व, अरब में जड़तावादियों का जमाव था। अरब गरीब किस्म के लोग थे और गरीब होने के कारण उनका लोभ भी बहुत बढ़ा हुआ था। सूदखोरी साधारण-सी बात थी और धन बटोरने का हर उपाय लोगों में अच्छा समझा जाता था। जूआ, शराब-खोरी, और वेश्यागमन भयंकर रूप से प्रचलित थे। विधवा, अनाथ और कमजोर आदमी फालतू समझे जाते थे और उन्हें आश्रय देने वाला कोई नहीं था। समाज में शादी का कोई खास महत्व नहीं था, न यौन-सम्बन्धों के बारे में ही कोई अच्छी नीति बरती जाती थी। स्त्रियों का समाज में कोई आदर या अधिकार नहीं था तथा गिरे हुए समाज के जो भी लक्षण होते हैं, वे उन दिनों के अरबी समाज में पूर्ण रूप से विद्यमान थे। अरब के लोग बद्दू कहलाते थे और सारा का सारा बद्दू-समाज घोर रूप से मूर्त्तिपूजक था। मक्के के हर एक मन्दिर में

ढेर की ढेर मूर्त्तियाँ थीं और उनमें से प्रत्येक मूर्त्ति पूजा की अधिकारिणी समझी जाती थी। सब से बड़ी प्रतिष्ठा एक काले पत्थर की थी जिसे काबा कहते थे। सारा अरब अन्ध-विश्वास, कुरीति एवं दुराचार का अड्डा बना हुआ था। हाँ, इस रेगिस्तान में नखलिस्तान की तरह कहीं-कहीं यहूदी और क्रिस्तान लोग जरूर रहते थे तथा कभी-कभी वहाँ इकले-दुकले उपदेशक भी आ निकलते थे। किन्तु, बद्दूओं पर उनका कोई प्रभाव नहीं था।

उन दिनों, केवल अरब का ही बुरा हाल रहा हो, सो बात नहीं थी। अरब के पश्चिम की ओर जो बहुत बड़ा रोमन साम्राज्य था, वह भी खोखला हो चुका था और उसके भीतर भी विलासिता और भोगाचार पाप की सीमा तक पहुँचे हुए थे। अरब के दूसरी ओर, जो ईरानी साम्राज्य था वह भी विलासिता के पंक में डूबा हुआ था और इन दो साम्राज्यों के बीच चलने वाली लड़ाइयों के कारण, दोनों ही राज्यों की जनता का बुरा हाल था। इस भाग में, उन दिनों ईसाइयत में भी पवित्रता का बल नहीं रह गया था। यह धर्म राजाओं के अत्याचारों का सहायक बन गया था, और जनता में धर्म के नाम पर जादू-मंत्र और तावीज़ का प्रचार कर रहा था।

इस्लाम का आरंभिक रूप

ऐसे समय में, मक्के में हज़रत मुहम्मद का जन्म हुआ। पेशा उनका सौदागरी था और आरम्भ में इज़्ज़त भी उनकी सौदागरों के ही बीच हुई। इससे यह बात और भी विचित्र लगती है कि उनके द्वारा बताये गये धर्म का खड्गवाद से इतना मेल क्यों हो गया। उन्होंने दर्शन के ऊहापोह में नहीं जाकर एक सीधे-सादे कर्ममय धर्म का आख्यान किया जिसकी खास बातें ये थीं कि ईश्वर एक है और मुहम्मद उसके दूत या पैग़म्बर हैं। इन दो सिद्धान्तों में विश्वास करने वालों से उन्होंने पाँच स्पष्ट कर्म करने को कहा। कलमा पढ़ना यानी इस बात को दिल में बिठाने के लिए जाप करना कि ईश्वर एक है और मुहम्मद उसके रसूल (दूत) हैं (ला इलाहइल्लिलाह मुहम्मदुर्रसूल्लिलाह)। २. नमाज़ पढ़ना यानी प्रार्थना करना। ३. रोज़ा रखना यानी रमज़ान के महीने में उपवास रखना। ४. जकात यानी अपनी आय का ढ़ाई प्रतिशत दान में दे देना। और ५. हज यानी तीर्थ-यात्रा करना।

मुहम्मद साहब मूर्त्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे, मगर, मूर्त्तिपूजा का विरोध अरबों की समझ में नहीं आया और वे मुहम्मद साहब पर टूट पड़े। निदान, उन्हें मक्का शहर छोड़-कर अन्यत्र भागना पड़ा। यही घटना मुसलमानों के यहाँ **हिजरत** कही जाती है, जिसका अर्थ एक स्थान छोड़कर अन्यत्र जाना है। अरब में उन दिनों मक्का और यथरिब, ये दो नगर प्रधान थे। मुहम्मद साहब जब मक्का छोड़ कर भागे तब यथरिब नगर के लोगों ने उन्हें शरण दी और आदर से उनका स्वागत किया। इसी उपलक्ष में, उस नगर का नाम मदीना-तुन्नबी अर्थात् "नबी का नगर" पड़ गया। मदीने में जिन लोगों ने मुहम्मद साहब का बढ़कर

साथ दिया वे ही अंसार हुए।

मुहम्मद साहब ने जिस धर्म का उपदेश किया, वह अत्यन्त सरल और सब के लिए सुलभ धर्म था। अतएव, जनता उसकी ओर उत्साह से बढ़ी। खास करके, आरम्भ से ही, उन्होंने इस बात पर काफी ज़ोर दिया कि इस्लाम में दीक्षित हो जाने के बाद, आदमी-आदमी के बीच कोई भेद नहीं रह जाता है। इस बराबरी वाले सिद्धान्त के कारण इस्लाम की लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी और जिस समाज में भी निम्न स्तर के लोग उच्च स्तर वालों के धार्मिक या सामाजिक अत्याचार से पीड़ित थे, उस समाज के निम्न स्तर के लोगों के बीच यह धर्म आसानी से फैल गया।

धर्म की विजय उसके नेताओं के चरित्र के कारण होती है। इस्लाम की विजय जिस त्वरा से हुई, वही इसका प्रमाण है कि मुहम्मद साहब और उनके उत्तराधिकारी खलीफे अत्यन्त उच्च कोटि के व्यक्ति रहे होंगे। इस्लाम में यतीवृत्ति की प्रधानता, वैराग्य की प्रमुखता और लौकिक सुखों के त्याग की महिमा नहीं है। गिब ने, जो इस्लाम का पक्षपाती इतिहासकार है, लिखा है कि पूर्वी एशिया के सभी धर्मों में इस्लाम ही ऐसा है जो सांसारिकता के बहुत समीप और वैराग्य भावना से अधिक से अधिक दूर है *। यती-वृत्ति को इस्लाम किसी भी अवस्था में प्रोत्साहन नहीं देता। वह साधुओं की संख्या बढ़ाने का विरोधी है। भारत में भी, कबीर आदि निर्गुनियाँ सन्त, जिन्होंने मुसलमान संतों से प्रभाव ग्रहण किया, गृहस्थाश्रम में रह कर ही भगवान का भजन करते रहे। ईसाइयों के भीतर जो साधु-संघ बनाने की पद्धति चली, कुरान उसकी आलोचना करता है। "ईसाइयों के लिए यह मार्ग हमने निर्धारित नहीं किया, उन्होंने इसे खुद ही खोज निकाला है।" फिर भी, आध्यात्मिक विकास पर इस्लाम में भी बहुत ज़ोर है और नमाज़, ज़कात, रोजा और हज के द्वारा एक प्रकार की वैराग्य-साधना को ही प्रोत्साहन दिया गया है। कम से कम, यह तो कहा ही जा सकता है कि रोजा एक तरह का तप और जकात भोग को सीमित रखने का प्रयास है। वास्तव में, इस्लाम के भीतर सांसारिकता से वैराग्य का मेल बिठाने की जो चेष्टा की गयी है, उसी से यह धर्म हमें गृहस्थाश्रम के समीप दीखता है।

इस्लाम त्याग और वैराग्य का अभिमान नहीं करता। किन्तु, उसके आरंभिक साधक, खास कर पहले के चार खलीफे—१. अबू बक्र (६३२-३४ ई०) २. उमर (६३४-४३ ई०) ३. उस्मान (६४३-५५ ई०) ४. और अली (६५५-६१ ई०)—इतने धर्मनिष्ठ निकले कि लोग उनके जीवन में मूर्त्तिमान नवीन धर्म का तेज देखकर कृतकृत्य हो गये। इस्लाम का आरम्भ धर्म के रूप में हुआ था, किन्तु, परिस्थितियों ने घेर कर उसे राज-

---

* "Of all the religions of East Asia, Islam has generally been regarded as the most worldly and the least ascetic." —H.A.R. GIBB (Mohammedenism)

नीतिक रूप भी दे दिया। मुहम्मद साहब को मक्का से मदीना भागना पड़ा और मदीने में ही यह निश्चित हो गया कि नये धर्म को फैलाने के लिए केवल संगठन ही नहीं, तलवार उठाने की भी जरूरत है। अरब लोगों की बिखरी हुई शक्तियाँ इस्लाम के अन्दर एक होने लगीं और जिस नबी को लोगों ने खदेड़ कर भगा दिया था, उसके उपदेशों को मनवाने के लिए यह संगठन मार-काट पर आमादा होने लगा। अरबों की एकता और इस्लाम का प्रसार, ये पर्यायवाची शब्द हो गये। अतएव, जो संगठन बना, उसमें राजनीति और धर्म, दोनों एक स्थल पर आकर मिल गये। यही संगठन अरबी-साम्राज्य का केन्द्र बना जिसके नेता खलीफा कहलाने लगे। खलीफे मुसलमानों के राजा भी थे और धर्मगुरु भी, जैसे कि आगे चलकर भारत में भी सिख धर्म के भीतर गुरु और राजा एक ही व्यक्ति होने लगे। आरंभिक काल के चार खलीफों ने सादगी, सच्चरित्रता और वीरता तथा वैराग्य का ऐसा अच्छा उदाहरण उपस्थित किया कि इस्लाम का आचार-पक्ष बहुत ऊँचा उठ गया और उसके अन्दर उन लोगों की संख्या बढ़ने लगी जो गृहस्थ रह कर भी वैराग्य निभा सकते थे, जो गद्दी पा कर भी तबीयत से फकीर रह सकते थे और जो तलवार उठाकर भी दया का तिरस्कार नहीं करते थे। हज़रत उमर ने, जिनके सिपाहियों ने ईरानी साम्राज्य पर विजय प्राप्त की थी, जब स्वयं जेरूसलेम में विजेता की हैसियत से प्रवेश किया तब वे जिस ऊँट पर सवार थे, उसी पर उनके सारे सामान भी लदे थे और ये सामान थे—कम्बल का एक खीमा, एक बोरा अनाज, एक बोरा खजूर और लकड़ी के कुछ बरतन। यह थी सादगी उस विजेता की जिसके इशारे पर राजमहल के सारे सुख, एक क्षण में, मुहैया किये जा सकते थे। ईरान, मेसोपोटामिया, सीरिया, फिलस्तीन और मिश्र पर विजय पाने वाले बहादुर मुस्लिम नेताओं की सादगी का वर्णन करते हुए गिब्ब ने लिखा है कि "जहाँ भी वे अपना पड़ाव डालते थे, सेना के सभी लोग एक ही पाँत में बैठ कर प्रार्थना करते, एक ही दस्तरखान पर भोजन करते और फिर साथ ही खलीफा के मुख से उत्साहप्रद उपदेश सुनते थे। चढ़ाई हो या तीर्थयात्रा, ये खलीफे सर्वत्र न्याय फैलाते चलते थे; उन्होंने अरबों में प्रचलित बहु-विवाह की व्यभिचारपूर्ण प्रथा में सुधार किया; खिलाफत की ओर से जो लोग कर उगाहने को नियुक्त थे, उन्हें निर्दय और जुल्मी होने से रोका और कर्मचारियों को विलासी बनने से मना किया। खालेद को पैगम्बर ने ईश्वर की तलवार की उपाधि दी थी और उन्हीं की वीरता के चलते, अरब, मेसोपोटामिया और सीरिया इस्लाम के झण्डे के नीचे आये थे। किन्तु, जब वे मरने लगे तब उनके पास केवल एक घोड़ा और एक ही गुलाम था। हज़रत अबू बक्र ने अपनी सेना को आदेश दे रखा था कि न्यायी बनो, क्योंकि अन्याय से उन्नति नहीं हो सकती। बहादुर बनो, क्योंकि शत्रु के सामने सिर झुकाने की अपेक्षा मर जाना कहीं श्रेष्ठ है। दयालु बनो, क्योंकि बूढ़ों, बच्चों और औरतों पर तलवार उठाना पाप है। फल

देने वाले वृक्षों को, फसलों और जानवरों को तबाह मत करो। अगर दुश्मन को भी तुमने कोई वचन दिया है, तो उसे निभाना तुम्हारा धर्म है। और जो लोग दुनिया की झंझटों से दूर रहते हैं, उनपर जुल्म मत करो।" अबूबक्र और उमर उन अफसरों को सज़ा देते थे जो रेशम पहनते थे या विलास में रहते थे। उनका ख्याल था कि अगर मुसलमान ईरानी या कुस्तुनतुनिया के दरबारों का अनुकरण करने लगे तो उनका पतन हो जायगा। वे धर्म की नयी सेना को सुख, आराम और भोग-विलास से दूर रखना चाहते थे, क्योंकि उन्नतिशील जाति कभी भी आराम नहीं करती, वह हमेशा संघर्ष में लीन रहती है और संघर्ष की शक्ति तब छीजती है, जब हम विलास में पड़ते हैं।

अपने आरंभिक दिनों में इस्लाम क्रान्तिकारी धर्म था। वह मनुष्यों को अन्धविश्वास से बचाता था, दार्शनिक उलझनों से दूर रखता था और ईश्वर को छोड़ कर अन्य किसी भी शक्ति के सामने मस्तक झुकाने से इनकार कर देने की शिक्षा देता था। सब से बड़ी बात यह थी कि जो भी मुसलमान हो जाते थे, उन्हें अमीर से अमीर मुसलमान भी अपना सच्चा धर्मबन्धु समझते थे और अपनी बराबरी का दरजा देते थे। इससे उन दिनों जहाँ-जहाँ इस्लाम पहुँचा, वहाँ के समाज में भारी क्रान्ति मच गयी और मनुष्य अपने मस्तक को ऊँचा उठाकर चलने लगा। मानवेन्द्र नाथ राय ने लिखा है कि "अरबी आक्रमणकारी वीर जहाँ भी गये, जनता ने उन्हें अपना रक्षक और त्राता मानकर उनका स्वागत किया, क्योंकि यह जनता कहीं तो रोमन शासकों के भ्रष्टाचार के नीचे पिस रही थी, कहीं ईरानी तानाशाही के जुल्मों से त्रस्त थी और कहीं ईसाइयत का अन्धविश्वास उसे जकड़े हुए था। ये आक्रमणकारी अरब अपने नबी के क्रान्तिकारी उपदेशों में कट्टरता से विश्वास करते थे, खलीफों के विवेकपूर्ण एवं व्यावहारिक आदेशों का पालन उनका निश्चित धर्म था और इन कारणों से, पराजित जनता की सहानुभूति और विश्वास उन्हें आसानी से प्राप्त होता गया।"

किन्तु, पुण्य की यह लहर स्थायी नहीं रह सकी। मुहम्मद साहब की मृत्यु के सौ साल बीतते-बीतते, अरब साम्राज्य उत्तरी अफरीका, स्पेन, दक्षिणी फ्रांस, ईरान, मध्य एशिया, यहाँ तक कि मंगोलिया तक फैल गया और वे बातें मुसलमानों में भी घुस पड़ीं जिन्हें रोकने के लिए आरंभिक खलीफे सादगी का जीवन बिताने का उपदेश दे गये थे। साम्राज्य के साथ सुखों का पुंज आता है, सुखों का लोभ राजनीति को जन्म देता है और राजनीति के साथ सारे पाप और दुराचार समाज में घुस पड़ते हैं। साम्राज्य बन जाने के बाद, मुसलमानों के भीतर भी ये दोष घुसे और धर्म की सेना सुखों के लोभ में फँसने लगी। बात यहाँ तक बढ़ गयी कि खलीफे के पद के लिए झगड़े शुरू हो गए और नमाज़ में झुके हुए नेताओं की गरदनें काट कर हत्यारे लोग नेता बनने लगे। शिया और सुन्नी का जो भेद हम मुसलमानों

में देखते हैं वह खलीफा के पद के लिए उठे हुए झगड़ों से ही पैदा हुआ था।

इस्लाम से भारत का आरंभिक संपर्क

तब भी, अरब राज्य में विद्या और ज्ञान की काफी प्रतिष्ठा थी। बद्दुओं की बर्बर आदतें ईरान और भारत के संसर्ग से शीघ्र ही खत्म हो गयीं और उनकी गिनती संसार के अत्यन्त सभ्य लोगों में की जाने लगी। "आठवीं शती के शुरू में, सिन्ध और बलख के अरब-साम्राज्य में सम्मिलित होने पर भारतवर्ष का प्रभाव खिलाफत के देशों पर पड़ने लगा। खलीफा हारूँनुलरशीद के समय (७८६-८०९ ई०) से तो हिन्दू-संस्कृति के प्रवाह से बग़दाद का दरबार, मानो, आप्लावित हो उठा। बरमक नाम के एक वजीर खान्दान की वहाँ बड़ी ताकत थी; वे लोग बलख के थे। उनके पुरखे बलख के नव-विहार में पदाधिकारी रह चुके थे। वे नाम के मुसलमान हुए थे। पुराने रिश्ते-नाते के कारण, वे भारत के हिन्दू विद्वानों को बग़दाद बुलाते और उन्हें वहाँ वैद्य आदि के पदों पर रखते थे। अरब विद्यार्थियों को वे पढ़ने को भारत भेजते। संस्कृत के दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास, काव्य आदि के अनेक ग्रंथों के उन्होंने अरबी अनुवाद करवाये। भारतवर्ष से गणित आदि का ज्ञान अरब लोग ही युरोप ले गये। पंचतंत्र आदि की कहानियाँ उन्हीं के द्वारा विदेशों में पहुँचीं।" (जयचन्द्र)

इस्लाम जब अपने निर्मल उत्कर्ष पर था, तब भी वह भारत में आ चुका था। किन्तु, तब उसका आगमन मित्रता के नाते हुआ था। अरब, फिलस्तीन और मिश्र से भारत का प्राचीनतम व्यापारिक सम्बन्ध था। यूनानी लोग यहाँ का चावल खाते थे। रोम और यूनान के लेखक भारत के भूगोल से परिचित थे। वे यहाँ के निर्यात का ब्यौरा भी जानते थे। भारत और पच्छिम के बीच व्यापारिक सम्बन्ध में अरब सौदागरों का काफी हाथ था। अरब सौदागरों का पहला बेड़ा भारतीय तट पर ६३६ ई० में आया था, इसका प्रमाण मिलता है। सिन्ध पर मुहम्मद बिन कासिम की चढ़ाई ७१२ ई० में हुई। किन्तु, भारत के पश्चिमी तट पर अरब सौदागर बहुत पहले से आ रहे थे और मोपला लोगों ने तभी इस्लाम कबूल किया था। किन्तु, ये धर्म-परिवर्तन, प्रायः, स्वेच्छा से किये गये थे, जबर्दस्ती के कारण नहीं। नवीं सदी के खत्म होने के पहले ही, मालाबार का राजा चेरामन पेरूमल मुसलमान हो गया, क्योंकि उसने सपने में चंद्रमा को फटते देखा था और दूसरे दिन उसे विश्वास दिलाया गया कि यह इस्लाम का चमत्कार है। भारत में सब से पहले उसी ने अरबों को अपना धर्म फैलाने की सुविधा दी थी। जमोरिन का राज्याभिषेक, अभी हाल तक, मुस्लिम-वेश में किया जाता रहा है और त्रावणकोर के राजा सिंहासन पर बैठने के समय, अभी तक तलवार उठा कर इस शपथ को दुहराते रहे हैं कि मैं इस तलवार को तब तक रखूँगा जब तक मक्के से मेरा चचा लौट नहीं आता है। यहाँ अभिप्राय पेरूमल के मक्का जाने से है। जमोरिन की आज्ञा थी कि प्रत्येक धीवर-परिवार में से एक व्यक्ति को मुसलमान होना ही पड़ेगा।

पश्चिमी तट पर मुसलमानों का आगमन आठवीं सदी से शुरू हुआ। दसवीं शती तक वे पूर्वी तट पर भी पहुँचने लगे और उनकी धाक राजदरबारों से लेकर व्यापारियों तक खूब बैठ गयी। इन प्रान्तों में, तभी उनकी सैकड़ों मस्जिदें भी बन गयीं और समाज में उनके पीरऔलिया भी घूमने लगे।

उत्तर के राजे भी इस्लाम को उदारता से देखते थे। काम्बे के हिन्दुओं ने एक बार मुस्लिम सौदागरों पर आक्रमण किया और उनकी बस्तियाँ उजाड़ दीं। इसपर, राजा सिद्धराज ने (१०९४-११४३ ई०) उस मामले की जाँच करवायी, दुष्टों को दण्ड दिया और मुसलमानों को नयी मस्जिदें बना लेने को रुपये भी दिये।

कुछ ऐतिहासिक विश्लेषण

यहाँ तक हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहा। इस्लाम से हिन्दुओं की भयंकर घृणा तब आरम्भ हुई, जब महमूद गजनी ने इस देश में आकर क्रूरता बरती और यहाँ के मन्दिरों को विनष्ट करके अपने लिए दुर्नाम अर्जित किया। किन्तु, महमूद गज़नी या मुहम्मद ग़ोरी, ये लोग अरबी या ईरानी नस्ल के नहीं थे और न इतिहास में उन्होंने सच्चे इस्लाम का प्रतिनिधित्व ही किया है। इस्लाम के माथे यह कलंक क्यों लगा, इसे समझने के लिए नीचे का विवरण उपयोगी होगा।

जब पश्चिम में रोम-राज्य और भारत में गुप्त-साम्राज्य चल रहा था, तब मध्य एशिया में, हूण-नामक एक बर्बर जाति उपद्रव मचा रही थी। पाँचवीं सदी में उनके दल के दल रोम-राज्य और भारतवर्ष में घुसे और जहाँ भी गये, वहीं उन्होंने ध्वंस मचा दिया। इन्हीं हूणों को एक बार स्कन्दगुप्त ने खदेड़ कर देश से बाहर कर दिया था। किन्तु, स्कंदगुप्त के बाद, हूण भारत में फिर से घुस पड़े और मालवा में उन्होंने अपना सुदृढ़ राज्य स्थापित कर लिया। तोरमान और मिहिर कुल, ये हूण राजे थे जिनके अत्याचारपूर्ण शासन का उल्लेख ह्यूएन-शांग और कल्हण ने किया है। इस शासन को तोड़ने का सुयश मंदसर के राजा यशोधर्मन् ने लिया। किन्तु, उसके बाद भी, हूण देश से बिलकुल निकले नहीं, अपितु, छोटे-छोटे राज्य बनाकर पड़ोस के राजाओं से लड़ते रहे। यह संकट तब तक चलता रहा जब तक कि ब्राह्मणों ने उन्हें शुद्ध करके राजपूत नहीं बना लिया।

पाँचवीं शती में काबुल में तुखारों का और ईरान में सासानी शाहों का राज्य था। इन दोनों राज्यों से भी हूणों की लड़ाइयाँ हुईं। "४८५ ई० में ईरान का शाह फीरोज़ हूणों से लड़ता हुआ मारा गया। तब हूणों ने अफ़ग़ानिस्तान को भी अपने पैरों-तले रौंद डाला। गान्धार पहुँच कर उन्होंने किदार के वंशज को वहाँ से भगा दिया।" (जयचंद्र)। तोरमान के बेटे मिहिर कुल ने शाकल (स्यालकोट) में अपनी राजधानी बनायी थी और वह अपने को पशुपति (शिव) का उपासक कहता था।

मध्य एशिया में हूणों का प्रभाव नौशीरवाँ ने समाप्त किया। "किन्तु, नौशीरवाँ न यह काम अकेले न किया; उसमें पच्छिमी तुर्क उसके सहायक थे। तुर्क, असल में, हूणों की ही एक शाखा थे, जिसका असल नाम था। **असेना** असेना लोग पाँचवीं शती में कान्सू प्रांत में एक पहाड़ के पास रहते थे। **उस पहाड़ की शक्ल एक खोद या मिगफार (फौजी टोपी) की-सी थी जिसे हूण भाषा में "तुर्क" कहते हैं। इसी से, वे लोग तुर्क कहलाने लगे।**" (जयचंद्र)।

युआन च्वाङ् को ६३० ई० में भारत आते समय, तुरफान से कपिश की सीमा तक के लिए, पच्छिमी तुर्कों के "काजान" अर्थात् राजा ने राहदान दी थी। इस समय, अरब में इस्लाम का उदय हो चुका था, किन्तु, ये तुर्क उन दिनों धीरे-धीरे बौद्ध हो रहे थे और तुर्की भाषा में संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद भी चल रहा था।

जब विलासिता के कारण, अरब-साम्राज्य का पतन होने लगा, तब सन् ८५० ई० के लगभग, उसके कई टुकड़े हो गए। खिलाफत एक छोटी-सी रियासत के रूप में रह गयी और जो राज्य उसके स्थान में खड़े हुए, उनमें अधिकांश मुसलमान बने हुए ईरानियों के राज्य थे।

इस बीच, तुर्क भी मुसलमान होने लगे। वीरता और शारीरिक शक्ति के आगार होने के कारण, इन तुर्कों में से बहुत-से लोग ईरान में पहले से ही नौकरी करते थे।[1] वहाँ धीरे-धीरे ये लोग रियासतदार और सरदार भी हो गये। इसलिए, जब अरब-साम्राज्य टूटा, उसके कई हिस्सों में ये तुर्क सरदार राजे और सुलतान बन बैठे। खिलाफत के कमजोर होते ही, इन तुर्कों ने ईरान का पूर्वी दरवाजा अपने पूर्वी प्रान्तों के भाई-बन्दों के लिए खोल दिया और पूरी तुर्क-जाति मुस्लिम राज्य में घुस पड़ी।

इन्हीं सरदारों में से एक अलप्तगीन भी था जिसने मौका पाकर गजनी में एक रियासत खड़ी कर ली। अलप्तगीन के बाद, उसका दामाद सुबुक्तगीन गजनी का राजा हुआ। सुबुक्तगीन का पिता तुर्क और माता ईरानी थी। इसी दम्पति ने महमूद गजनी को जन्म दिया जिसने भारत पर सतरह बार चढ़ाई की और सोमनाथ की मूर्त्ति का ध्वंस किया। अतएव, समझना चाहिए कि जिस मुसलमान के कारण इस्लाम भारत में उतना बदनाम हुआ, वह आर्य कम, तुर्क या हूण अधिक था और अरबी तथा ईरानी संस्कृतियों की उदारता उसमें नहीं थी। भारत में मुसलमानी राज्य की नींव डालने वाला मुहम्मद गोरी भी पठान था और, अजब नहीं कि, उसके पूर्वज भी तुर्क या हूण रहे हों।

भारत में मोगल-वंश की नींव डालने वाला बाबर अपना सम्बन्ध मंगोल-जाति से

---

1. "A dull-witted folk with few ideals, the Turks could do two things superlatively well, obey orders and fight like devils."

—LOTHROP STRODDARD (New World of Islam)

बतलाता है। ये मंगोल बड़े ही भयंकर वीर थे। इनका सब से बड़ा नेता, चिङ-हिर-हान (११५५ ई० तक) हुआ जो इतिहास में चंगेजखाँ के नाम से प्रसिद्ध है। हान या खान मंगोली भाषा में एक सम्मानसूचक शब्द था। दूसरी जातियों ने यह शब्द उन्हीं लोगों से लिया है। चंगेजखाँ बौद्ध था। किन्तु, इस बौद्ध सेनापति ने इतनी निर्दयताएँ कीं कि इतिहास आज तक उसकी याद रोमांच के साथ करता है। विश्वविजय के उद्देश्य से इसने सेना लेकर निरुद्देश्य यात्रा आरंभ की और बुखारा, समरकन्द, हेरात और बलख, इन बड़े-बड़े नगरों को भून कर राख कर दिया। कहते हैं, अपने प्रतिद्वन्द्वी जलालउद्दीन की खोज करता हुआ चंगेज भारत भी आया था, किन्तु, भारत से शीघ्र ही वह लौट गया। उसके उत्तराधिकारी हलाकू ने बगदाद को उजाड़ते हुए वहाँ के विख्यात पुस्तकालय को भी जला डाला।[1]

उसके अत्याचार से घबरा कर बहुत-से विद्वान अपनी किताबें लिये हुए कैरो और स्पेन की ओर भागे। विद्वानों की इसी भाग-दौड़ से यूरोप में विद्या की वह लहर उठी जिसे हम सांस्कृतिक जागरण अथवा रिनाँसाँ कहते हैं। कहते हैं, युद्ध में बारूद का प्रयोग पहले-पहल चंगेज ने ही किया था, अतएव, उसी के समयसे दुनिया में युद्ध की कला बदली। तैमूरलंग (१३६९ ई०)भी माँ की ओर से अपने को चंगेज का वंशज कहता था और बाबर भी इसी वंश की संतान था। कहते हैं, तैमूर के बाद, उसके उत्तराधिकारी मारकाट को छोड़कर कला और विद्या की भी साधना करने लगे थे और मध्य एशिया में एक समय तैमूरी-रिनाँसाँ (सांस्कृतिक जागरण) भी चला था। बाबर इसी सांस्कृतिक जागरण में पला था, इसलिए, मोगल-खान्दान के लोग भारत में भी सांस्कृतिक कार्य करने वाले हुए। बाबर माँ की ओर से चंगेज खाँ और बाप की ओर से तैमूर का वंशज था।

जिस इस्लाम का प्रवर्तन हजरत मुहम्मद ने किया था और जिसका रूप अबू बक्र, उमर, उसमान और अली—जैसे खलीफाओं ने सँवारा था, वह धर्म, सचमुच, स्वच्छ धर्म था और उसके अनुयायी सच्चरित्र, दयालु, उदार और ईमानदार थे। उन्होंने मानवता को एक नया सन्देश दिया, गिरते हुए लोगों को ऊँचा उठाया और, पहले-पहल, दुनिया में यह दृष्टान्त उपस्थित किया कि एक धर्म के अन्दर रहने वाले सभी लोग आपस में समान हैं। उन दिनों, इस्लाम ने जो लड़ाइयाँ लड़ीं, उनका विवरण भी मनुष्य के चरित्र को ऊँचा उठाने वाला है। वीरता और बलिदान में ये मुसलमान अद्भुत अवश्य थे, किन्तु, चंगेज

---

१. सन् १९४६ और ४७ ई. में जब मुस्लिम लीग के कार्यकर्ताओं ने पाकिस्तान प्राप्त करने के लिए, सीधी कार्रवाई शुरू की, तब उनके नेता यह कहकर शान्तिप्रिय जनता को डराते थे कि हम चंगेज खाँ और हलाकू की संतान हैं और हम वही कर दिखायेंगे जो चंगेज और हलाकू ने किया था। किन्तु, चंगेज और हलाकू मुसलमान नहीं, शायद, भ्रष्ट किस्म के बौद्ध थे। मुसलमान अपने को उनका वंशज मानें, यह इतिहास-विरुद्ध बात है।—लेखक

और हलाकू की बर्बरता उनमें नहीं थी, न महमूद और शहाब उद्दीन के समान वे लोभी और कठोर ही थे। सेनापति तारिक के अधीन मुसलमानी सेना का बेड़ा जब जब्रुलतारिक पर उतरा, तब बहादुरों ने अपनी नावें तोड़ कर समुद्र में बहा दीं, कुछ नावों को जला कर ताप भी डाला, जिससे कि घर लौटने की उन्हें कोई उम्मीद नहीं रह जाय और समर-भूमि में वे प्राणपन से लड़ सकें। लूट-मार, अन्याय और अत्याचार की परंपरा इस्लाम में तब आयी जब अरबी लोग साम्राज्य के सुखों में पड़ जाने के कारण, शिथिल और कमजोर हो गये और इस्लाम का नेतृत्व उनके हाथ से निकल कर तुर्कों और मंगोलों के हाथ में चला गया जो अभी हाल में मुसलमान हुए थे। और नेतृत्व के इस हस्तान्तरण का कारण यह था कि यूरोप से इस्लाम को खदेड़ कर बाहर करने के लिए यूरोपीय जातियों ने संघबद्ध होकर मुसलमानों के खिलाफ धर्मयुद्ध (Crusade) की घोषणा कर दी थी और इस मुसीबत में इस्लाम अपने पुराने अनुयायियों की ओर से ईषत् निराश होकर नये अनुयायियों की ओर देख रहा था।

लेकिन, ये नये अनुयायी अर्ध-सभ्य और कठोर थे, उनमें वही निर्भयता और शारीरिक शक्ति की अपारता थी जो बर्बर जातियों का प्रधान लक्षण है। इन बर्बर अनुयायियों के आने से, इस्लाम की गिरती हुई आधिभौतिक शक्ति जरूर ठहर गयी, किन्तु, उनके कर्म इतने गर्हित हुए कि यूरोप और एशिया में लूट-खसोट, मार-काट, खूँरेजी और पाशविक अत्याचार मुसलमानों के खास लक्षण माने जाने लगे। एम० एन० राय ने लिखा है कि "दरबार की विलासिता के कारण, अरबी विद्या और संस्कृति की साधना दूषित हो गयी और इस्लाम की गौरवपूर्ण पताका अपनी आरंभिक क्रान्तिकारी चमक को खो कर तुर्कों और तातारों के व्यभिचारी हाथों में पड़कर अपना सतीत्व खो बैठी।"

कुछ मनोरंजक बातें

इस्लाम अपने प्रगतिशील युग में भारत नहीं आया, अथवा आया भी तो दक्षिण के समुद्री-तटों पर व्यापारियों के साथ या दाहिर की पराजय के उपरान्त, सिन्ध और उसके आसपास के भागों में। महमूद गजनी, महमूद गोरी और बाबर, ये सच्चे इस्लाम के प्रतिनिधि नहीं थे। उन्होंने इस्लाम की बाहरी चीजें ही देखी थीं, अबू बक्र, उमर और अली की धार्मिक तेजस्विता उनमें नहीं थी। प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने अपनी पुस्तक "आवर हेरिटेज" में इन आक्रामकों के बारे में लिखा है, "ये जो नये लोग भारत में आये, उन्होंने इस्लाम के तत्व को भले ही नहीं समझा हो, किन्तु, उसकी बाहरी बातें उन्होंने ग्रहण कर ली थीं।" लेकिन, बाहरी बातें क्या भीतरी तत्व का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं ? इस्लाम के गौरव का कारण उसकी आरंभिक उदारता थी, मोतजलियों की विचार-स्वाधीनता थी। इस्लाम बड़ा ही ऊँचा धर्म था। बर्बरता उसमें तब आयी जब तातार लोगों ने इस्लाम में प्रवेश किया।

गंगा और सिन्धु के किनारे इसलाम का झंडा गाड़ने वाले लोग अबू बक्र और उमर की पवित्रता वाले लोग नहीं थे, बल्कि, ये वे ईरानी थे जो विजय और साम्राज्य के सुखों में अंधे होकर झूम रहे थे। ये मध्य एशिया के वे बर्बर लोग थे, जिन्होंने इस्लाम की टोपी अभी हाल में पहनी थी, किन्तु, जो उसके मौलिक संस्कारों से अपरिचित थे।

इतिहास की इन घटनाओं के प्रकाश में देखने पर भारत में इस्लामी अत्याचार के कुछ मनोरंजक पहलू सामने आते हैं। पहली बात तो यह है कि गजनी और गोरी के साथ जो इस्लाम भारत पहुँचा, वह वही इस्लाम नहीं था जिसका आख्यान हजरत मुहम्मद और उनके शुरू के चार खलीफों ने किया था अथवा जो इस्लाम गजनी के आक्रमण के पूर्व सौदागरों और फकीरों के साथ भारत के पश्चिमी तटों पर उतरा था। वास्तव में, यह वह इस्लाम था जो, एम० एन० राय के मतानुसार, तुर्क और तातार अनुयायियों के हाथों व्यभिचरित हो चुका था। दूसरी बात यह है कि जब भारत के राजपूत गजनी और गोरी के खिलाफ युद्ध कर रहे थे, तब यह युद्ध एक तरह से हूणों के ही दो दलों के बीच था। गजनी और गोरी कदाचित् दोनों तुर्क यानी हूण थे और इधर, भारत की जो सेना उनका मुकाबला कर रही थी, उसमें भी अधिकांश में वे ही लोग थे जो हूण-देश से भारत में आये थे और शुद्धि के बाद राजपूत-जाति में सम्मिलित कर लिये गये थे।

इतिहास-लेखकों का मत है कि बौद्ध-ब्राह्मण-संघर्ष में, दोनों पक्ष अपने लिए राज्य की सहायता चाहते थे। किन्तु, क्षत्रिय राजे जब बौद्ध होते, तब ब्राह्मण इस स्थिति से क्षुब्ध हो उठते थे। क्षत्रियों को पूर्ण रूप से बस में नहीं आते देख कर, ब्राह्मणों ने एक नया तरीका निकाला। जो विदेशी सीथियन, हूण और शक वंश के लोग इस देश में राज्य-सत्ता पाने को संघर्ष कर रहे थे, उन्हें ब्राह्मणों ने आबू के कुण्ड पर यज्ञ करके राजपूत बना लिया। इससे, विदेशियों की बर्बरता जाती रही और क्षत्रिय मान लिये जाने के कारण, वे ब्राह्मणों के कृतज्ञ भी हो गए। इधर, ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष में ब्राह्मणों का पलड़ा भी भारी हो उठा क्योंकि उन्हें नये शिष्य मिल गये थे। डाक्टर भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है कि "वर्त्तमान राजपूतों के अनेक कुल हूणों और गुर्जरों से प्रादुर्भूत हुए हैं। गुर्जरों ने तो भारत में एक विशिष्ट सम्राट-कुल (गुर्जर-प्रतिहार) की नींव डाली और भारत के एक विस्तृत भाग गुजरात का नाम अपनी संज्ञा से सार्थक किया। गुर्जर, संभवतः, जाट और अन्य जातियां, गप्त-साम्राज्य के ध्वंस के पश्चात् आने वाली जातियों के वंशधर हैं।"

तीसरी बात यह है कि गजनी और गोरी-जैसे मुसलमान इस्लाम के सेवक नहीं थे, उनमें दूसरों का धन लूट कर आनन्द मनाने की भावना ही प्रधान थी। इस्लाम की सेवा, तौहीद का प्रचार और मूर्त्तिपूजा का खंडन, ये सिर्फ लोभ को छिपाने के आवरण मात्र थे। गजनी ने भारत पर १७ बार चढ़ाई की, लेकिन, इन चढ़ाइयों में इस्लाम का प्रचार उसने

कुछ भी नहीं किया। इतिहास इतना ही जानता है कि वह इस देश का धन लूटने को आता था और यहाँ की लूट से उसने अपनी राजधानी को मालामाल किया भी। तैमूरलंग ने जब हिन्दुस्तान की ओर नजर डाली, तब कहते हैं कि लोगों ने उससे कहा कि हिन्दुस्तान जाने की ऐसी क्या जरूरत हो सकती है। वहाँ तो मुसलमानों का राज्य पहले से ही मौजूद है। किन्तु, राज्य मुसलमानों का हो या हिन्दुओं का, तैमूरलंग भारत की समृद्धि को लूटने के लिए बेकरार था। अतएव, वह सन् १३९८ ई० में सिन्धु के पार चला आया। मुहम्मद तुगलक को हरा कर उसने दिल्ली में डेरा डाल दिया और लूट-मार मचा कर फिर समरकन्द को लौट गया।

इतिहास-लेखकों का यह भी मत है कि महमूद गजनी की सेना में हिन्दू सिपाही भी काफी संख्या में काम करते थे। इन सिपाहियों ने मध्य एशिया के युद्धों में महमूद का साथ दिया था। तिलक नाम का एक हिन्दू महमूद की सेना में कुछ ऊँचे पद का अधिकारी था और नियाल्तगीन-नामक सरदार ने जब महमूद के खिलाफ विद्रोह किया, तब उसे दबाने को तिलक ही भेजा गया था।

एक स्थिति यह भी हुई कि जब इस देश पर मोगलों का आक्रमण हुआ, तब पठान और राजपूत आपस में दोस्त हो गए और यह दोस्ती काफी दिनों तक चलती रही। हल्दी-घाटी में महाराणा प्रताप की सेना की एक पंखी बिल्कुल पठानों की थी और ये पठान महा-राणा के प्रति अत्यन्त वफादार भी थे।

इस्लाम धर्म

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ "शान्ति में प्रवेश करना"[1] होता है अतः, मुस्लिम वह व्यक्ति है जो "परमात्मा और मनुष्य के साथ पूर्ण शान्ति का संबंध"[2] रखता है। अतएव, इस्लाम शब्द का लाक्षणिक अर्थ होगा वह धर्म जिसके द्वारा मनुष्य भगवान की शरण लेता है तथा मनुष्यों के प्रति अहिंसा एवं प्रेम का बर्ताव करता है।

इस धर्म के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद साहब थे जिनका जन्म अरब देश के मक्का शहर में सन् ५७० ई० में हुआ था। जब हज़रत मुहम्मद अरब में इस्लाम का प्रचार कर रहे थे, उन दिनों, भारतवर्ष में हर्षवर्धन और पुलकेशी का राज्य था। इस्लाम-धर्म के मूल-ग्रन्थ कुरान, सुन्ना और हदीस हैं। कुरान वह ग्रन्थ है जिसमें मुहम्मद साहब के पास ईश्वर के द्वारा भेजे गये संदेश संकलित हैं। सुन्नत वह पुस्तक है जिसमें मुहम्मद साहब के कृत्यों का उल्लेख है और हदीस वह किताब है जिस में उनके उपदेश संकलित हैं। हदीस की किताबों में मुहम्मद साहब की जीवन-चर्चा का भी उल्लेख है और इन किताबों में सुन्नत भी मिलती है।

इस्लाम धर्म मुहम्मद साहब ने सोच कर नहीं निकाला, बल्कि, इस धर्म का उन्हें इलहाम (समाधि अथवा प्रेरणा की अवस्था में दर्शन) हुआ था। कुरान का अर्थ उच्चरित अथवा पठित वस्तु है। कुरान उन पदों का संकलन है जो मुहम्मद साहब के मुख से उन क्षणों में निकले, जब वे सीधी भगवत्प्रेरणा की अवस्था में थे। यह भी कहा जाता है कि भगवान कुरान की आयतें (पद) मुहम्मद साहब के पास देवदूतों के ज़रिये भेजते थे। इन्हीं आयतों के संकलन से कुरान तैयार हुआ। ये आयतें मुहम्मद साहब को समय-समय पर २३ वर्षों में हासिल हुईं जिन्हें वे तालपत्रों, चमड़े के टुकड़ों अथवा लकड़ियों पर लिखवा कर रखते गए। उनके स्वर्गवास के बाद, जब अबूबक्र पहले खलीफा हुए, तब उन्होंने इन सारी लिखावटों का संपादन करके कुरान की पोथी तैयार की जो बहुत प्रामाणिक मानी जाती है। इन २३ वर्षों में मुहम्मद साहब १३ साल तो मक्के में थे और १० साल तक मदीने में।

मुहम्मद साहब को जब धर्म का इलहाम हुआ, तब से लोग उन्हें पैग़म्बर, नबी और रसूल कहने लगे। पैग़म्बर कहते हैं पैगाम (संदेश) ले जाने वाले को। हज़रत मुहम्मद के ज़रिये भगवान का संदेश पृथ्वी पर पहुँचा, इसलिए वे पैगम्बर कहे जाते हैं। नबी कहते हैं किसी उपयोगी परम ज्ञान की घोषणा को। मुहम्मद साहब ने चूंकि ऐसी घोषणा की इसलिए

---

१. मोहम्मद अली (रिलीजन आव इस्लाम)

२. वही

वे नबी हुए। तब से, नबी का अर्थ वह दूत भी हो गया जो परमेश्वर और समझदार प्राणी के बीच आता जाता है। रसूल का अर्थ भी प्रेषित या दूत होता है। मुहम्मद साहब रसूल हैं, क्योंकि, परमात्मा और मनुष्यों के बीच उन्होंने धर्मदूत का काम किया।

"ला इलाह इल्लिलाह महम्मदुर्रसूलिल्लाह" यह इस्लाम का मूल मंत्र है जिसका अर्थ होता है, "अल्लाह के सिवा और कोई पूजनीय नहीं है तथा मुहम्मद उसके रसूल हैं।" केवल अल्लाह को मानने से कोई आदमी पक्का मुसलमान नहीं हो सकता। उसे यह भी मानना पड़ता है कि मुहम्मदअल्लाह के नबी, रसूल और पैगम्बर हैं। इसके बाद, कुरान हर मुसलमान के लिए पाँच धार्मिक कृत्य निर्धारित करता है। वे कृत्य हैं :—

१. **कलमा पढ़ना**—अर्थात् इस मंत्र का परायण करना कि ईश्वर एक है और मुहम्मद उसके रसूल हैं(ला इलाह इलिल्लाह महम्मदुर्रसूलिल्लाह)। इस्लाम का एकेश्वर-वाद (तौहीद) इसी मंत्र पर आधारित है, अतएव, इसके परायण की इस्लाम में बहुत महिमा है।

२. **नमाज पढ़ना**—अर्थात् पांच बार भगवान से प्रार्थना करना। इसको सलात भी कहते हैं।

३. **रोजा रखना**—अर्थात् रमज़ान महीने भर केवल एक शाम खाना और वह भी सूर्यास्त के बाद। रमज़ान महीना इसलिए चुना गया कि इसी महीने में पहले पहल कुरान उतरा था।

४. **ज़कात**—अर्थात् अपनी वार्षिक आय का चालीसवाँ हिस्सा (ढ़ाई प्रतिशत) दान में दे देना।

५. **हज**—अर्थात् तीर्थों में जाना। पहले ये तीर्थ केवल मक्का और मदीने में थे। अब संतों की समाधियों को भी मुसलमान तीर्थ ही मानते हैं।

कुरान की शिक्षा

कुरान सब से अधिक जोर इस बात पर डालता है कि ईश्वर एक है तथा उसके सिवा किसी और की पूजा नहीं की जानी चाहिए। आर्यों अर्थात् जरथुस्त्रवादियों में जो प्रकृति-पूजा प्रचलित थी, उसका कुरान बड़े ज़ोर से बहिष्कार करता है और ईसाइयों से भी उसका इस बात को लेकर बहुत मतभेद है कि ईसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र कहते हैं और ईसा, मरियम (मेरी, ईसा की माँ) तथा पिता (ईश्वर), इन ईश्वर-त्रय में उनका विश्वास है। कुरान का कहना है कि भगवान ने सभी जातियों में पैग़म्बर और धर्मोपदेशक भेजे हैं, इसलिए, ईसा भी एक पैग़म्बर हैं। किन्तु, वे ईश्वर के पुत्र माने नहीं जा सकते, क्योंकि ईश्वर में पुत्र उत्पन्न करने वाले गुणों को जोड़ना उसे मनुष्य-कोटि में ले आना है। "अय मरियम के पुत्र ईसा! क्या तू ने यह कहा था कि ईश्वर के साथ हम दोनों को भी जोड़ दो?" ऐसे

प्रश्न उठा कर कुरान ने ईसाइयों के ईश्वरत्रय-विषयक विश्वास का खंडन किया है। मूर्त्तिपूजक अरब भी मानते थे कि ईश्वर के बेटे-बेटियाँ हैं और ईसाई तो ईसा को ही ईश्वर का पुत्र कहते हैं। इस विश्वास को हटाने के लिए कुरान ने बार-बार कहा है, "यदि ईश्वर को संतानोत्पादक कहोगे तो आकाश फट जायगा और धरती उलट जायगी।" इस्लाम विश्व के उस भाग में जन्मा जहाँ वर्षा कम होती थी। निर्जन उजाड़ में आँख खोलने के कारण, उसने विचारों को स्वच्छता में देखा, सजावट में नहीं। चित्र, मूर्त्ति और संगीत के प्रति इस्लाम के द्वेष का यही कारण था।

कुरान जिस ईश्वर को मानता है वह देखने, सुनने, बोलने-चालने, खुश और नाराज़ होने वाला ईश्वर है। वह प्रेम भी करता है। घृणा भी करता है। भक्तों की आवाज़ भी सुनता है और दुष्टों का दलन भी करता है। किन्तु, ईश्वर के ये सभी कार्य मनुष्यों के कार्यों के समान नहीं होते, क्योंकि उसे मनुष्यों के समान हाथ-पाँव और नाक-कान आदि नहीं हैं। वह है तो निराकार, किन्तु, उसकी शक्ति का वर्णन करने के लिए मनुष्य की भाषा का प्रयोग किया जाता है। फिर भी, कुरान यह मानता है कि ईश्वर अर्श (आकाश) पर रहता है और वहाँ उसका सिंहासन भी है। यह ईश्वर प्रेम और दया का आगार है।

ईश्वर के सिवा, कुरान देव-योनि को भी मानता है।[1] कुरान में देवों और देवदूतों का नाम "मलक" या फरिश्ता है। मलकों और फरिश्तों को हम देख नहीं सकते, न वे प्रकट होकर मनुष्यों से संपर्क ही रख सकते हैं। अगर मलकों में मनुष्यों के बीच रह कर काम करने की शक्ति होती तो नबी या पैगम्बर मनुष्य नहीं, मलक ही होते। भगवान मुहम्मद साहब को जो पैगाम भेजते थे, वे पैग़ाम कभी-कभी देवदूत जिबरील ले आते थे। किन्तु, मुहम्मद जिबरील को चर्म चक्षु से नहीं, आध्यात्मिक दृष्टि से देखते थे। मलकों के बारे में कुरान का यह विश्वास है कि वे मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति में सहायक होते हैं और इस-लिए कुरान मलकों के अस्तित्व में विश्वास करना सिखाती है। कुरान का कहना है, "धर्म यह है कि मनुष्य अल्लाह, मलायक, कयामत, किताब और नबी में विश्वास करे।"

शैतान भी देवताओं की ही तरह, मलक-योनि का है। किन्तु, शैतान में विश्वास रखने की कुरान मनाही करता है।

कुरान का कहना है कि मनुष्य में उच्च और नीच, दोनों ही प्रकार की वासनाएँ

---

१. इकबाल का मत है कि कुरान इस संभावना में भी विश्वास करता है कि सृष्टि का रचयिता केवल खुदा ही नहीं, कुछ और शक्तियाँ भी हैं। (Secret of the Selb की भूमिका)। उस पुस्तक में निकोलसन ने कुरान के २३वें अध्याय की १४वीं आयत से एक उद्धरण दिया है जो इस प्रकार है—"सृष्टि की रचना करने वालों में परमेश्वर सर्व-श्रेष्ठ है।"

काम करती हैं। नीच वासनाएँ जीव-धारण के लिए हैं, उच्च वासनाएँ आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए। नीच वासनाएँ अगर नियंत्रण में नहीं रहें तो मनुष्य का पतन हो जाता है। कुरान की कल्पना है कि नीच वासनाओं को उभारने का काम **जिन** करते हैं, जिनसे बचने के लिए मनुष्य को सदैव सावधान रहना चाहिए। इबलीस देवता नहीं, इसी जिन-योनि का है और वह मनुष्य को गुमराह करने की कोशिश में लगा रहता है। जिन की कल्पना इस्लाम में, आध्यात्मिक संघर्ष को तेज करने के लिए की गई थी।

कुरान का अवतरण हज़रत मुहम्मद की दिव्य दृष्टि के कारण हुआ था। किन्तु, कुरान यह नहीं कहता कि दिव्य दृष्टि केवल हज़रत मुहम्मद को ही मिली थी। प्रत्येक जाति में दिव्य दृष्टि वाले लोग उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कुरान का मत है। इसलिए, सच्चा मुसलमान सभी धर्मग्रन्थों को प्यार करता है। क्योंकि ये सभी धर्म भगवान के ही बताये हुए हैं। मुहम्मद की तरह, फकीर भी दिव्य-दृष्टि-संपन्न होते हैं। फर्क यह है कि मुहम्मद "अनबिया" थे और फकीर "औलिया" होते हैं। संसार में जितने भी पैग़म्बर हुए हैं, कुरान सब को दिव्य-दृष्टि-संपन्न मानता है। मुहम्मद साहब के साथ उसका इतना ही पक्षपात है कि उन्हें कुरान धरती का आखिरी पैग़म्बर मानता है और यह समझता है कि दिव्य दृष्टि में भी मुहम्मद पहले के सभी पैग़म्बरों से अधिक पूर्ण थे।

मृत्यु के परे

कुरान का विश्वास है कि पृथ्वी पर मनुष्य का जन्म पहला और आखिरी जन्म है। हम न तो पहले जन्मे थे और आगे जन्म लेंगे। किन्तु, मृत्यु के साथ जीवन समाप्त नहीं हो जाता। इस जीवन के समाप्त हो जाने पर, मनुष्य की देह जब कब्र में डाली जाती है, वहाँ से उसका एक दूसरा जीवन आरम्भ होता है जिसे "बरजख" कहते हैं। बरजख का शाब्दिक अर्थ दो वस्तुओं के बीच खड़ी होने वाली कोई बाधा या वस्तु है। समझा यह जाता है कि मनुष्य के पार्थिव जीवन के बाद, एक और जीवन आयेगा जिसका आरंभ कयामत (प्रलय) से होगा। किन्तु, कयामत तब आयेगी जब सृष्टि का अन्त हो जायगा। तब तक जीव को कब्र में पड़ा रहना होगा। बरजख के मानी कब्र के भी होते हैं। अतएव, इस प्रसंग में बरज से अभिप्राय उस लंबी अवधि से है, जिसमें मनुष्य को अपना पार्थिव जीवन समाप्त करके कयामत की इन्तजारी में कब्र में पड़ा रहना है।

बरजख क्या है, इस पर बड़ा विवाद है। कुरान की कल्पना यह मालूम होती है कि मनुष्य का लक्ष्य आध्यात्मिकता की प्राप्ति है। आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ इसी स्थूल (पार्थिव) शरीर में हो जाता है। किन्तु, इस जीवन में मनुष्य को इसका भान नहीं हो पाता। बरजख वह अवस्था है, जब सूक्ष्म जीवन का भान उसे होने लगता है। यद्यपि,

पूरी आध्यात्मिकता की अनुभूति मनुष्य को कयामत के बाद ही होती है। बरजख एक तरह का परलोक है। अतएव, बरजख के दिक्काल का वर्णन हम उस भाषा में नहीं कर सकते जिस भाषा में इस लोक के दिक्काल का वर्णन करते हैं। बरजख की स्थिति, कदाचित्, अर्ध-चेतना की स्थिति है; कदाचित् यह स्वप्न अथवा सुषुप्ति है जब मनुष्य चल फिर तो नहीं सकता, किन्तु, मन उसका तब भी कुछ-न-कुछ काम करता रहता है। मनुष्य की पार्थिव मृत्यु केवल शरीर की मृत्यु है; उसकी आत्मा एक भिन्न प्रकार से कब्र में भी जीवित पड़ी रहती है और इसी आत्मा को कयामत के दिन उठ कर ईश्वर के समक्ष जाना पड़ता है।

कयामत का वर्णन कुरान में बड़ी ही भीषणता के साथ किया गया है। यह बहुत-कुछ कल्पान्त अथवा महाप्रलय के समान है। "जब कयामत आयेगी, चाँद में रोशनी नहीं रहेगी, सूरज और चाँद सट कर एक हो जायेंगे और मनुष्य यह नहीं समझ सकेगा कि वह किधर जाय और ईश्वर को छोड़ कर अन्यत्र उसकी कोई शरण भी नहीं होगी।" "जब तारे गुम हो जायेंगे, आकाश टुकड़े-टुकड़े हो जायगा, पहाड़ों की धूल उड़ जायगी और नबी अपने निर्धारित क्षण पर पहुँचेंगे।" "न्याय का दिन जरूर आयेगा, जब सूर (तुरही) की आवाज उठेगी, जब तुम सब उठ कर झुंड के झुंड आगे बढ़ोगे और स्वर्ग के दरवाजे खुल जायेंगे।"

कब्र में आदमी की देह गल कर बिलकुल मिट्टी हो जायगी। उसकी केवल एक हड्डी शेष रहेगी जिसका नाम अल-अज्ब है। कयामत के समय, चालीस दिनों तक निरन्तर घोर वृष्टि होगी और धरती सर्वत्र बारह हाथ पानी के नीचे चली जायगी। इसी समय, अल-अज्ब नामक अस्थि से एक नये शरीर का अंकुर फूटेगा और वही शरीर ले कर आत्माएँ भगवान के सामने होंगी। जब कयामत आयेगी, सूर्य पश्चिम में उगने लगेगा, दज्याल नामक दानव अरबी भाषा में सर्वत्र इस्लाम का संदेश सुनायेगा, मेहदी प्रकट होंगे और सूर नामक शंख से तीन बार आवाज उठेगी।

सूर की आवाज सुन कर सभी आत्माएँ भगवान के सामने खड़ी होंगी और मुहम्मद उनके प्रवक्ता होंगे। तब, हर एक रूह के पुण्य और पाप का लेखा-जोखा लिया जायगा। पुण्य और पाप को तोलने का काम जिबरील करेंगे। जिसका पुण्य परिमाण में अधिक होगा वह स्वर्ग जायगा। जिनके पाप अधिक होंगे, वे नरक में पड़ेंगे।

स्वर्ग सातवें आकाश (अर्श) पर अवस्थित है। वहाँ एक सुन्दर पुष्पोद्यान है जिसके पास झरने और फव्वारे उमड़ते हैं। स्वर्ग में दूध और मधु की नदियाँ बहती हैं। वहाँ ऐसे वृक्ष हैं, जिनकी धड़ें सोने की हैं और जिनमें बड़े ही सुस्वादु फल फलते हैं। स्वर्ग में "हूर-युल-आयून" जाति की सत्तर युवतियाँ हैं जिनकी आँखें काली-काली और दीर्घ हैं। इसके सिवा पुण्यात्मा की परिचर्या के लिए वहाँ सुन्दर-सुन्दर लड़के भी रहते हैं जो "गिलमा" जाति के हैं।

कुरान में विभिन्न नरकों की भी कल्पना की गई है जो अत्यन्त भयानक और विकराल है ।

कुरान का फातिहा नामक अध्याय गीता के दूसरे अध्याय के समान है । मुस्लिम मानसिकता के निर्माण में सब से अधिक प्रभाव इसी अध्याय का रहा है। यह कर्मफल के विवेचन का अध्याय है जिसकी ओर प्रत्येक मुसलमान का ध्यान हर रोज पाँच बार दिलाया जाता है। कारण यह है कि कर्मफलवाद में विश्वास के दृढ़ होने से आदमी अपकर्म को छोड़ने की प्रेरणा पाता है । छिप कर भी किया हुआ कर्म अपना फल अवश्य लाता है। कुरान कहता है, "अच्छे और बुरे कर्मों के परिणाम अवश्य मिलेंगे। जिसने भी कण-मात्र भी सुकर्म किया है, वह उसे अपनी आँखों से देखेगा; जिसने भी कणमात्र भी दुष्कर्म किया है, वह भी उसे अपनी आंखों से देखेगा।"

कयामत के बाद, आदमी को स्वर्ग मिलेगा या नरक, इसका निर्धारण इसी जन्म में किये गये कर्मों से होता है क्योंकि "जो इस जीवन में अन्धा है, वह आगे के जीवन में भी अंधा ही रहेगा।" कुरान कहता है, "अगर तुम ज्ञान से देखते तो तुम यहीं नरक को भी देख सकते थे।"

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य कुरान "लिका-अल्लाह" अथवा ईश्वर-मिलन को मानता है। किंतु, यह ईश्वर-मिलन कैसे होता है, इस विषय की कल्पना सुस्पष्ट नहीं है। कयामत निर्वाण और मोक्ष का पर्याय है या नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कहीं तो उस का अर्थ संहार मालूम होता है और कहीं दिव्य जीवन । इसी तरह, कयामत का उल्लेख कहीं व्यक्ति के लिए, कहीं पीढ़ी के लिए और कहीं सृष्टि मात्र के लिए किया गया है।

कुरान का विश्वास है कि आत्मा पर सुख-दुःख की छाप देह के ज़रिये पड़ती है। किंतु, आत्मा को कुरान देह से भिन्न नहीं मानता है। शरीर जब कब्र में चला जाता है, तब उसमें आत्मा रहती है या नहीं, इस विषय में भी कुरान में सुस्पष्टता का अभाव है; न यही पता चलता है कि कयामत के बाद जो देह मिलेगी वह वही देह होगी या नहीं जो कब्र में रखी जाती है। अस्थि से अंकुर फूटनेवाली बात का मुख्य तात्पर्य क्या है, इसमें भी संशय रह जाता है। कुरान खुलकर यह नहीं कहता कि यही शरीर कयामत में फिर प्राप्त होगा। उलटे, वह कयामत के समय, नई सृष्टि की कल्पना करता है।[1] सिर्फ इतना संकेत मिलता है कि मनुष्य फिर उठेगा, किन्तु, उसके गुण बदल जायेंगे। जैसे स्वर्ग और नरक की प्रकृति को

---

१. "जब हम अस्थि-मात्र रह जायेंगे, जब हम गलित हो जायेंगे, तब हमें नया जीवन कौन देगा ? कहो कि वह जिसने यह दुनिया बनाई है और जो ऐसी दुनिया फिर बना सकता है।" (रिलीजन आव् इस्लाम में उद्धृत)।

हम नहीं देख सकते, वैसे ही, आगामी जीवन को भी जानने में हम असमर्थ हैं। इतना सत्य है कि वह जीवन मिट्टी के पार्थिव जीवन से भिन्न होगा।

ईमान और कुफ्र

इस्लाम के समग्र सिद्धांत दो भागों में बाँटे जा सकते हैं। एक का नाम उसूल और दूसरे का नाम फरू है। उसूल शब्द "असल" से निकला है, जिसका अर्थ जड़ या मूल है। फरू शब्द "फर" से निकला है, जिसका अर्थ शाखा या डाल है। कुरान में ये नाम नहीं थे। कुरान सिर्फ ईमान और अमल, इन दो शब्दों का उल्लेख करता है। अब ईमान का पर्याय उसूल और अमल का पर्याय फरू है। उसूल वे धार्मिक सिद्धांत हैं जिन्हें नबी ने बताया है। फरू उन सिद्धांतों के अनुसार आचरण करने को कहते हैं। अतएव, मुहम्मद साहब के उपदेश उसूल अथवा मूल हैं और उनपर अमल करने का नाम फरू अथवा शाखा है।

ईमान की शाखाएँ अनेक कही गई हैं। कुरान कहता है, "ईमान की ६० शाखें हैं और हया उसी की शाखा है।" हदीस का वचन है, "ईमान की ७० शाखें हैं। सब से ऊँची यह कि अल्लाह को छोड़कर और किसी की पूजा मत करो। और सब से नीची यह कि जिन बातों से किसी का नुकसान होता हो, उन्हें छोड़ दो।"

ईमान उस सत्य की स्वीकृति है जिसे नबी ने उद्घोषित किया। कुफ्र उसी सत्य की अस्वीकृति को कहते हैं।

ईमान का सर्वोच्च शिखर **तौहीद** है जो यह सिखाता है कि ईश्वर को छोड़कर और किसी को मत पूजो। कुफ्र का सबसे बुरा रूप **शिर्क** है जिससे मनुष्य ईश्वर के अलावे और देवताओं को भी ईश्वर मान लेता है अथवा उनमें ईश्वरीय गुणों का आरोप करता है। शिर्क का सबसे बुरा रूप मूर्त्तिपूजा है।

मुहम्मद साहब का सबसे अधिक जोर ईश्वर को एक, केवल एक मानने पर था। इस विषय में वे अपने बारे में भी कोई शंका फैलने देना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा है, "मैं मर्त्य हूँ मैं सिर्फ यह कहने आया हूँ कि ईश्वर एक है और केवल उसी की पूजा की जानी चाहिए।" कहावत है कि जब मुहम्मद साहब मरने लगे, उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि जिस खजूर के पेड़ के पास बैठ कर मैं धर्मोपदेश किया करता था, पहले तुम उसे काट डालो। नहीं तो लोग उसी की पूजा करने लगेंगे। यह भी ध्यान देने की बात है कि मुसलमान मुहम्मदी या मोहम्मदन (ईसा से ईसाई और बुद्ध से बौद्ध के समान) कहलाना पसन्द नहीं करते, क्योंकि इससे मुहम्मद की पूजा का भाव टपकता है

संसार के धर्मों में इस्लाम ही ऐसा धर्म है जिसका विषय केवल व्यक्ति नहीं, सारा समाज है अथवा जो व्यक्ति के सभी आचारों का निर्धारण करता है। कुरान में केवल आमुष्मिक धर्म की ही बातें नहीं हैं, प्रत्युत्, उसमें मनुष्य-मनुष्य के विविध संबंध, राज-

नीतिक बर्ताव, न्याय, शासन, सेना-संगठन, विवाह, तलाक, शांति, युद्ध, कर्ज, सूद-खोरी, दान आदि के संबंध में भी धार्मिक उपदेश हैं जिनका पालन धार्मिक नियमों के समान ही आवश्यक माना जाता है। उदाहरण के लिए, इस्लाम सूदखोरी को घृणित पाप समझता है और एक साथ चार पत्नियों से अधिक रखने की इजाजत नहीं देता।[1] इसी प्रकार, इस्लाम में धार्मिक रीति से शराब पीने की कड़ी मनाही की गई है।

जिहाद और जिजिया

नमाज़, रोज़ा, ज़कात, हज और जिहाद, ये इस्लामी धर्म के मूल माने जाते हैं, बल्कि, जिहाद तो एक तरह से राष्ट्रीय कर्त्तव्य समझा जाता है। जिहाद का सामान्य अर्थ युद्ध या धर्मयुद्ध है, किन्तु, आरम्भ में यह शब्द इतना भयानक अर्थ नहीं देता था। जिहाद शब्द जह्द धातु से निकला है, जिसका अर्थ ताकत, शक्ति या योग्यता होता है। क्लेन (KLEIN) नामक एक विद्वान ने जिहाद का अर्थ संघर्ष किया है और इस संघर्ष के उसने तीन क्षेत्र माने हैं। (१) दृश्य शत्रु के विरुद्ध संघर्ष (२) अदृश्य शत्रु (जिन) के विरुद्ध संघर्ष और ३. इंद्रियों के विरुद्ध संघर्ष।

साधारणतः, विद्वानों का यह मत है कि इस्लाम के प्रचार के लिए जो लड़ाइयाँ लड़ी गईं, उन्हें पवित्र विशेषण देने के लिए ही इस शब्द का प्रचलन किया गया। किन्तु, मोहम्मद अली (रिलीजन आव् इस्लाम के लेखक) का मत है कि इस शब्द का अर्थ इस्लाम के प्रचार के लिए युद्ध करना नहीं है। मक्का में उतरनेवाले कुरान के अंशों में जहाँ-जहाँ यह शब्द आया है, वहाँ-वहाँ इसका अर्थ परिश्रम, उद्योग या सामान्य संघर्ष ही है। लड़ने की इजाज़त नबी ने तब दी जब वे भाग कर मदीने पहुँचे या जब वे मक्का छोड़ कर भागने की तैयारी में थे। मदीने में आत्मरक्षा के लिए तलवार उठाना आवश्यक हो गया। तभी लड़ाइयाँ जिहाद के नाम से चलने लगीं। किन्तु, यहाँ भी जिहाद का व्यापक अर्थ है और उसके भीतर वाणी और तलवार दोनों के लिए स्थान है। "ओ नबी ! जो काफिर और पाखंडी हैं उनके खिलाफ अपना संघर्ष जारी रख और उनके सामने विचलित मत हो जा।" अन्यत्र भी कहा गया है, "क्या तू यह समझता है कि जबतक अल्लाह जाहिदों को चुन नहीं ले और धीरों को परख नहीं ले, तबतक तू स्वर्ग के उद्यान में प्रवेश कर सकता है ?"

हदीस हज की भी गिनती जिहाद में करता है और लिखता है कि "नबी ने कहा कि सबसे अच्छा जिहाद हज में जाना है।"

किन्तु, पीछे चल कर काज़ियों (न्यायपतियों) ने जिहाद का अर्थ युद्ध कर दिया।

---

१. ए. सी. बुकेट ने ३३ वें सूर का हवाला देकर बताया है कि इस्लाम नव पत्नियों तक की इजाज़त देता है।

मोहम्मद अली के मतानुसार, विधर्मियों को तलवार के ज़ोर से इस्लाम में लाने की शिक्षा क़ुरान ने नहीं दी थी और न यह बात नबी के ही दिमाग में थी। लड़ने की इजाजत नबी वहीं देते थे, जहाँ आत्मरक्षा का प्रश्न होता था। किन्तु, जब मुल्ला और काज़ी सर्वेसर्वा बन बैठे, तब उन्होंने सारी दुनिया को दो हिस्सों में बाँट दिया। जिस हिस्से में मुसलमान सुखी और स्वतन्त्र थे, यानी जिस हिस्से पर उनकी हुकूमत थी उसे तो उन्होंने **दारुल-इस्लाम** (शांति का देश) कहा। इसके विपरीत, जिस हिस्से पर उनका आधिपत्य नहीं था, उसे **दारुल-हरब** (युद्ध-स्थल) कह कर उन्होंने मुसलमानों को उत्तेजित किया कि ऐसे देशों को जीत कर वहाँ इस्लाम का झंडा गाड़ना जाहिदों का परम कर्त्तव्य है। किन्तु किसी-किसी लेखक ने यह भी लिखा है कि विश्व भर में इस्लामी साम्राज्य स्थापित करने की कल्पना मुहम्मद साहब में भी जगी थी। "प्रायः, प्रत्येक बार उनके अन्तिम शब्द ये होते थे कि 'अय लोगो ! जो मैं कहता हूँ उसे ठीक से सुनो और उसका अर्थ समझो। तुम्हें मानना चाहिए कि हर एक मुस्लिम हर दूसरे मुस्लिम का अपना भाई है। तुम सब के सब आपस में समान हो।' अपने जीवन के अन्त तक आते-आते, उनकी धारणा यह हो गई थी कि सारी पृथ्वी को एक राज्य और एक धर्म के अधीन होना चाहिए। सारे संसार के लिए एक नबी और एक ही धर्म, यह भाव उनमें जग चुका था।"[1] इसी प्रकार, जिजिया वह कर था जिसे नबी ने ईसाई, यहूदी, पारसी तथा अन्य ग़ैर-अरबी दुश्मनों से लड़ाई के बाद, संधि की शर्तों के अनुसार वसूल किया था। जब कोई देश मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करता था, तब उसे नज़राने के रूप में जिजिया कर देना पड़ता था। किन्तु, हज़रत उमर के समय में आकर यह वैयक्तिक कर हो गया और औरंगज़ेब की कृपा से भारत में यह अत्यन्त घृणित कर हो उठा।

इस्लाम का आरंभ धर्म में हुआ था, किन्तु, बढ़ कर वह राज्य और सेना का संगठन भी बन गया। इस प्रकार, इस्लामी राज्य, संस्कृति और राष्ट्र, सब के साथ धर्म का जोश लिपट गया। पहले तो धर्म के आवेश मे ही राज्य की स्थापना हुई थी। पीछे, राज्य की शक्ति-वृद्धि से धर्म का भी प्रताप बढ़ने लगा। ईसाई देशों में पादरी अलग और राजा अलग थे। भारतवर्ष में भी पुरोहित अलग और राजा अलग थे। किन्तु, इस्लामी देशों का धर्मगुरु और राजा, दोनों एक ही व्यक्ति होने लगा। इस प्रकार, धर्म से तलवार की तेज़ी बढ़ी और तलवार से धर्म का बल बढ़ने लगा। इस्लाम को देखा-देखी भारत में सिक्ख-संप्रदाय का संगठन भी इसी सिद्धांत पर किया गया था।

सुन्नी-शिया-सम्प्रदाय

इस्लामी धर्म-राज्य के पहले नेता या खलीफा (इस शब्द में राजा और धर्म गुरु, दोनों

1. A. C. Bouquet (Comparative Religion).

का अर्थ है) स्वयं मुहम्मद साहब हुए। मुहम्मद साहब के कोई पुत्र नहीं था, केवल एक बेटी थी जिनका नाम फातिमा था। फातिमा बीबी का व्याह हज़रत अली से हुआ था जिन की वीरता पर रीझ कर मुहम्मद साहब उन्हें "शेरे-खुदा" कहा करते थे। ऐसा हुआ कि नबी के मरने पर, खिलाफत (धर्म-राज्य) के सरदार हज़रत अली नहीं बनाये गये। खिलाफत के दूसरे सरदार हज़रत अबूबक्र, तीसरे हज़रत उमर, चौथे हज़रत उस्मान और पाँचवें खलीफा या सरदार हज़रत अली हुए। इस स्थिति से उत्तराधिकार का विवाद उठ खड़ा हुआ और कुछ लोग कहने लगे कि हज़रत मुहम्मद के बाद गद्दी उनके दामाद, हज़रत अली को मिलनी चाहिए थी। इनका यह भी कहना था कि खिलाफत की गद्दी पर खलीफों के उत्तराधिकारी ही बैठ सकते हैं। छठें खलीफे के समय, यह विवाद विकराल हो उठा और एक दलने हजरत अली के पुत्र (और मुहम्मद साहब के नाती) हज़रत इमाम हुसैन को खलीफा घोषित कर दिया। कहा जाता है कि हज़रत इमाम हुसैन जब मदीने से कुफा जा रहे थे, तब रास्ते में कर्बला नामक स्थान में तत्कालीन खलीफे ने उनकी हत्या करवा दी। इस कांड के बाद, मुसलमानों में दो दल हो गये जिनमें से हज़रत अली के पक्षपाती शिया और बाकी लोग सुन्नी कहलाने लगे। मुहर्रम का शोकोत्सव हज़रत इमाम हुसैन[1] की याद में ही मनाया जाता है और शियों का यह खास पर्व है। मुहम्मद साहब के तुरंत बाद होने वाले तीन खलीफों (अबूबक्र, उमर और उस्मान) को शिया नहीं मानते हैं, किन्तु, सुन्नी समझते हैं कि उनकी खलीफागिरी ठीक थी। सुन्नियों की संख्या अधिक है, किन्तु, कितनी ही बातों में शिया सुन्नियों से अधिक उदार माने जाते हैं।

कुछ अन्य विशेषताएँ

इस्लाम मनुष्य और भगवान के बीच किसी बीचवान की आवश्यकता में विश्वास नहीं करता। सामूहिक नमाज़ में एक इमाम की ज़रूरत तो समझी जाती है, किन्तु, कोई भी सच्चरित्र मुसलमान इमाम का काम कर सकता है, यद्यपि, इमामत एक बार जिसने की वह बराबर इमाम होता है। पाँच बार नमाज़ पढ़ने की प्रथा, कदाचित्, इस भाव से चलायी गई थी कि आदमी बहुत देर तक भगवान से अलग नहीं रहे। कम से कम पाँच बार वह उनकी शरण में पहुँच जाया करे। इस्लाम संसार में सबसे अधिक अपरिवर्तनीय धर्म है। जब पहले पहल

---

१. जिस व्यक्ति ने हज़रत इमाम हुसैन की हत्या की थी उसका नाम यजीद था। जिस स्थान पर इमाम हुसैन की हत्या हुई उसका नाम कर्बला है। कर्बला तभी से बलिदान और शहादत का प्रतीक माना जाता है। मौलाना मोहम्मद अली का इस घटना पर एक चुभता हुआ शेर है :—

कत्ले-हुसैन अस्ल में मर्गे-यजीद है।
इस्लाम ज़िन्दा होता है हर कर्बला के बाद।

यह धर्म अरब से बाहर फैलने लगा, इसपर अनेक प्रकार के प्रभाव पड़ने लगे और यह संभव दीखने लगा कि इसमें परिवर्तन होंगे। इस अवस्था पर नियंत्रण रखने के लिए तीन बातों की व्यवस्था की गई।

(१) **इज्मा**—यानी यह शर्त कि सभी युगों और सभी स्थानों में इस्लाम के उपदेशकों में पूरा-पूरा मतैक्य रहना चाहिए।

(२) **सुन्ना**—यानी नबी ने जो काम किये थे उनका अनुसरण हदीस के अनुसार किया जाना चाहिए। और

(३) **कयास**—यानी मूल उपदेशों से क्या अर्थ लिए जा सकते हैं इसपर सावधानी से विचार।

शिया-सुन्नी झगड़े के खड़े होने के पूर्व तक, ये नियंत्रण कड़ाई से चलाये जा सके, किन्तु, मुसलमानों में दो दल हो जाने के बाद, यह बात उतने जोर से चली नहीं, यद्यपि अपरिवर्तनीयता इस्लाम को अब भी पसन्द है। इस्लाम में जो एकरूपता रही, उसका बहुत बड़ा कारण यह रहा कि इस्लाम और मुसलमान, दोनों, खलीफों के नियंत्रण और नेतृत्व में थे और धार्मिक रीतियों में कोई भी परिवर्तन खलीफों की मंजूरी के बिना नहीं किया जा सकता था। किन्तु, सन् १९१८ ई. में, जब कि टर्की के अधिनायक कमाल पाशा ने खिलाफत को उठा दिया, तब से मुसलमान इस नेतृत्व से विहीन हो गये हैं। अब इस्लामी देशों पर धार्मिक अनुशासन रखने वाला कोई एक व्यक्ति नहीं रह गया है। विश्व भर की ईसाईयत का संचालन रोम के पोप किया करते हैं। उसी प्रकार, संसार भर के मुसलमान खलीफा को अपना धर्मगुरु मानते थे। किन्तु, जब खिलाफत टूट गई, तब से यह अनुशासन भी उठ गया है। यद्यपि, इससे इस्लाम में अभी तक कोई शिथिलता नहीं आई है।

तसव्वुफ या इस्लामी रहस्यवाद

संसार में ईश्वर की कल्पना कई रूपों में की गई है। एक रूप वह है जिसमें ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता नहीं माना जाता है और न यही समझा जाता है कि उसे दुनिया की हालतों के जानने की कोई फिक्र है। चूंकि ईश्वर निर्विकार समझा जाता है, इसलिए, यदि यह कहा जाय कि उसने सृष्टि रची है अथवा वह भक्तों की प्रार्थना सुनने को कान खोले रहता है तो इससे ईश्वर में विकार का आरोप हो जाता है। यह ईश्वर वेदांत की कल्पना का ईश्वर है।

इसके विपरीत, ईसाइयों की कल्पना का ईश्वर प्रेमी और दयालु है तथा वह संसार की रक्षा और पालन उसी प्रकार करता है जैसे कोई पिता अपने परिवार का पालन करता है।

किन्तु, इस्लाम ने मूल-रूप में जिस ईश्वर की कल्पना की थी, वह प्रतापी और स्वेच्छाचारी प्रभु की कल्पना थी। इस ईश्वर के सामने दलील कोई चीज नहीं थी, न मानवीय न्याय-बुद्धि का उसके आगे कोई जोर चल सकता था। अल्ला शब्द का अर्थ ही शक्ति संपन्न पुरुष होता है। इस्लाम ने ईश्वर के उन गुणों को प्रधानता दी, जिनसे प्रेम कम, भय अधिक हो सकता था। इस्लाम की धार्मिक चेतना का रूप यह था कि ईश्वर बहुत समीप से सब कुछ देख रहा है और उसकी छोटी-सी भी अवज्ञा हुई तो इसका परिणाम भयानक हो सकता है। इसलिए, मनुष्य के लिए उचित यह है कि वह ईश्वर की कृपा और इच्छा पर आँखें मूंद कर निर्भर रहे। परमात्मा की दया के सामने संपूर्ण रूप से झुके रहने का भाव इस्लाम की सबसे बड़ी विशेषता थी।

किन्तु, यह संबंध, मुख्यतः, भय और आतंक का संबंध था, जिसमें बन्दा खुदा की ओर आंख उठा कर देख भी नहीं सकता था। मनुष्य का हृदय, स्वभावतः ही, प्रेम चाहता है। आदमी की इच्छा होती है कि उसका भगवान भी उससे प्रेम करे, उसे अपने साथ हँसने-बोलने और खेलने-कूदने की आजादी दे। अतएव, खुदा और बन्देके संबंध के बारे में मुहम्मद साहब ने जो कठोरता रखी थी, वह, कालक्रम में, ढीली होने लगी और बन्दा धीरे-धीरे खुदा को वह रूप देने लगा जो प्रेम और माधुर्य के अधिक अनुकूल था। इस विकास का पहला सोपान तब प्रकट हुआ, जब नबी की मृत्यु के बाद, शियों के एक उग्र संप्रदाय ने "गुलूब" और "तकसीर" के सिद्धांतों की घोषणा की। गुलूब यानी यह विश्वास कि मनुष्य ईश्वर-कोटि तक पहुँच सकता है। अर्थात् स्वयं ईश्वर बन सकता है; और "तकसीर" यानी यह

विश्वास कि ईश्वर भी चाहे तो मनुष्य-रूप में प्रकट हो सकता है। इसी सिद्धांत के अनुसार, शियों ने हज़रत अली में देवत्व का आरोप किया।

इसके साथ ही, एक घटना और घटी कि इस्लाम के द्वारा धार्मिकता के स्तर पर जाग्रत किये जाने पर मुस्लिम जनता के भीतर ऐसे चिन्तक उत्पन्न होने लगे जिन्हें अनेक प्रकार के प्रश्न झकझोर रहे थे। ईश्वर की प्रकृति क्या है ? सृष्टि और मानवात्मा के साथ उसका क्या संबंध है ? आत्मा का रूप क्या है और ईश्वरीय ज्ञान किसे कहते हैं ? स्पष्ट ही, ये ऐसे प्रश्न हैं जिनसे दर्शनों का उद्भव और विकास होता है। कुरान में व्यावहारिक धर्म का उपदेश तो किया गया था, किन्तु, उसमें गंभीर दर्शन का अभाव था। अब जो सृष्टि-संबंधी जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो धीरे-धीरे इस्लामी दर्शन का भी विकास होने लगा।

इन प्रश्नों का समाधान खोजने वालों में **मोतजली** संप्रदाय सब से आगे था। ये मोतजली पंडित बुद्धिवादी थे और बुद्धि के द्वारा ही वे ईश्वर का पता लगाना चाहते थे। ये बहुत कुछ उसी रास्ते से चल रहे थे जिसे उपनिषदों का ज्ञान-मार्ग कहते हैं अथवा जिस मार्ग से शंकराचार्य ने ईश्वरसिद्धि की है। इस्लाम ने यतीवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं किया था। किन्तु, मोतजली-संप्रदाय में यती-वृत्ति की भी प्रधानता होने लगी। बुद्धि के कर्कश मार्ग से चलते-चलते, यह संप्रदाय इस निष्कर्ष पर जा पहुँचा कि कुरान अपौरुषेय नहीं है और न उसे अन्तिम सत्य का व्याख्यान ही मानना चाहिए। कुरान में जो ज्ञान झलका है वह ठीक है, किन्तु त्रिकाल के लिए वह यथेष्ट समझा नहीं जा सकता। मनुष्य को और भी नई प्रेरणाएँ और नया प्रकाश मिल सकता है।

मोतजली चिन्तक निर्मुक्त विचारक थे और उनकी दृष्टि बहुत ही उदार थी। इन चिन्तकों में **अलगज़ाली** (१०५१-१११२ ई.) सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक निकले। किन्तु, धर्म पर सोचते-सोचते, वे नास्तिकता पर जा पहुँचे और धर्म-मात्र से उनका विश्वास उठ गया। कुछ दिनों तक उनकी अवस्था नास्तिकों की-सी बनी रही। किन्तु, शीघ्र ही, तमाम शंकाओं के भीतर से रहस्यवाद ने उनका उद्धार किया। बुद्धि के क्लान्त हो कर बैठ जाने पर, उनके भीतर सहज ज्ञान (इंटुइशन) की ज्वाला धधक उठी और इस आलोकित मनोदशा में उन्होंने अभीप्सित सत्य का साक्षात्कार किया। तब से, परम्परावादियों की दलीलों को उन्होंने, बचपने का खेल, समझ कर छोड़ दिया तथा विज्ञान, दर्शन, बुद्धि और तर्क की राह उन्हें अधूरी दीखने लगी। उन्होंने कहा है कि तर्क से हम उसे प्राप्त कर सकते हैं जो सापेक्ष (अर्थात् बुद्धिगम्य) है; उसे नहीं, जो निरपेक्ष (अथवा ज्ञानातीत) है। निरपेक्ष सत्य को जानने के लिए मनुष्य को सहज ज्ञान को छोड़कर और कोई चारा नहीं है। इस अनुभूति के प्राप्त होते ही, गजाली सिमट कर एकांत में चले गये और समाधि एवं सहज ज्ञान के द्वारा अपनी साधना में संलग्न हो गये। इस समाधि से सुनिश्चित सिद्धांत प्राप्त करके वे

बाहर आये और तभी उन्होंने दर्शन के खंडन में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "तहफातुल-फिलसफा" की रचना की। गजाली को पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने इस्लाम का व्यास कहा है—जो उपाधि अनुचित नहीं दीखती, क्योंकि इस्लाम के भीतर ज्ञान और भक्ति के समन्वय का आरंभ उन्हीं से होता है। शियों की तरह, गजाली ने भी एलान किया कि ईश्वर और जीव के स्वभाव में मौलिक एकता है, इसलिए, जीव ईश्वर को जान सकता है तथा मृत्यु के बाद उस तक पहुँच सकता है।

बुद्धि और सहज ज्ञान, दोनों दो चीजें हैं या नहीं, इस विषय में पहले भी मतभेद था और आज भी है। किन्तु, सामान्यतः, मनुष्य सृष्टि को दो दृष्टियों से देखने का आदी रहा है। एक दृष्टि बुद्धिकी दृष्टि है, जिससे विज्ञान का विकास हुआ है। दूसरी दृष्टि हृदय की दृष्टि है, जिसका सहारा सन्त और महात्मा, कवि और कलाकार लेते हैं। प्राचीन काल में, द्रष्टा की उपाधि उन्हें दी जाती थी जो हृदयवादी होते थे, जो सत्य को समझते नहीं, देख लेते थे। किन्तु, अठारहवीं सदी में, विज्ञान के आरंभ के बाद, बुद्धि प्रधान हो उठी और बुद्धिवादी व्याख्या से ही मनुष्य को अधिक संतोष होने लगा। किन्तु, रूसो[1] के समय में, प्रधानता फिर से सहज ज्ञान (यानी हृदय) को दी जाने लगी। फिर जब रोमाण्टिक आन्दोलन उठा, तब सहज ज्ञान की प्रधानता और भी बढ़ गई। कारण यह था कि सरकारों और विचारों के नियंत्रण के विरुद्ध, विद्रोह करने के लिए, सहजज्ञान की दुहाई देना जरूरी था। दूसरे, विज्ञान की किरणों के सामने, जब धर्म फीका पड़ने लगा, अंधविश्वास की परम्परा बिखरने लगी, तब धर्म और धार्मिक परम्परा का समर्थन करने के लिए भी, सहज ज्ञान का सहारा लेना आवश्यक हो गया। फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसन ने अलौकिक सत्योंके संधान में सहजज्ञान के प्रकाश

---

१. शिक्षा के विषय में, रूसो का विचार था कि इससे मनुष्य अच्छा नहीं, चालाक होता है। वह कहता है "चिन्ता की मुद्रा ही प्रकृति के विरुद्ध है। सोचने वाला मनुष्य पतित प्राणी होता है। जब से समाज में पंडितों की संख्या बढ़ी, तभी से ईमानदार लोगों की संख्या घटने लगी है। बुद्धि का जो क्षिप्र विकास हो रहा है, उसे रोक देने में ही मानवता का कल्याण है। इसके बदले, हमें मनुष्य के हृदय और उसकी भावना का विकास करना चाहिए।" संयोग की बात कि अभिनव मुस्लिम सूफी इकबाल भी अशिक्षा को दोष नहीं मानते, प्रत्युत, अपनी एक कविता में उन्होंने इसे गुण बना दिया है :—

तेरी बेइल्मी ने रख ली, बेइल्मों की लाज,
आलिम-फाजिल बेच रहे हैं अपना दीन-ईमान।

(बाले-जिबरील)

को एकमात्र आधार माना है।[1] बीसवीं सदी के मुसलमान कवि इकबाल ने भी हृदय और मस्तिष्क में से, हृदय की स्वाधीनता के प्रति आस्था दिखलाई है। (**जो अक्ल का गुलाम हो वह दिल न कर कबूल।**) किन्तु, सत्य, कदाचित्, यह है कि नई बात, नये विश्वास और नये सत्य की झाँकी (केवल धर्म और काव्य में ही नहीं, तर्क और विज्ञान में भी) पहले सहज वृत्ति, सहजज्ञान तथा सहज दर्शन को ही दिखलायी देती है। किन्तु, सहज ज्ञान से उसे देख लेने के बाद, तर्क और विज्ञान की कसौटी पर उसे प्रमाणित करना भी आवश्यक होता है, क्योंकि मनुष्य की अन्य शक्तियों (तर्क, बुद्धि आदि) के समान, उसकी सहज-वृत्ति भी भूल कर सकती है। किन्तु, गजाली, बर्गसन, इकबाल और हीगेल, ये सभी सहजज्ञानवादी यह कहते हैं कि भूल सिर्फ अक्ल से होती है, हृदय, सहज्ञ ज्ञान और सहज दर्शन कभी भी भूल नहीं करते। बुद्धि से भूल इसलिए होती है कि उसके साधन तर्क हैं और तर्क भ्रामक हो सकते हैं। किन्तु, सहजज्ञान आलोकित मनोदशा में सत्य का रहस्यो-द्घाटन करता है और चीजों को उनके खंडित रूपों में नहीं देखकर, संपूर्णता में देखता है। इसलिए, भूल करने की गुंजाइश यहाँ नहीं है। बुद्धि गणक है, जो गणित के न्याय से सत्य को समझना चाहती है। सहजवृत्ति स्वयं आँख है, वह गणना नहीं करके, क्षण मात्र में, सत्य का पूरा स्वरूप देख लेती है। "रहस्यवादी-अन्तर्दर्शन का आरंभ ही कुछ इस प्रकार के भावों से होता है कि जो रहस्य था उस पर से परदा हट गया है, जो प्रच्छन्न था वह अकस्मात सारे संदेहों से मुक्त और सुनिश्चित हो गया है। रहस्यवादियों का विश्वास पीछे उत्पन्न होता है; पहले तो उनके सामने अन्तर्दर्शन और सुनिश्चितता ही प्रत्यक्ष होती है।"[2]

मोतजलियों ने जो राह पकड़ी थी, वह बुद्धि की राह थी। अतएव, कोई आश्चर्य नहीं कि उस पर चलते-चलते, गजाली नास्तिक हो गये और आस्तिकता पर वापस वे तब आये जब बुद्धिवाद को उन्होंने छोड़ दिया। उन दिनों, अरब के जो भी मुसलमान कवि, वैज्ञानिक और सन्त भारतीय अथवा ईरानी विचारधारा से प्रभावित थे, वे मुहम्मद के उपदेशों की कसौटी पर कसे जाने पर शंकावादी अथवा मुक्त चिन्तक ही सिद्ध हो सकते थे। ऐसे मुक्त चिन्तकों में, उमर खैय्याम और अबुलअला अलमआरी (१०५७) का बड़ा नाम है। अलमआरी पर बौद्ध प्रभाव प्रत्यक्ष था, यह बात उसके दीवान के अनुवादक, हेनरी बेरलिन की पुस्तक[3] से प्रत्यक्ष होती है। "अबुल अला पर बौद्ध प्रभाव था। वह आवागमन के सिद्धांत का विश्वासी था। वह शाकाहारी भी था तथा दूध, मधु और चमड़े का व्यवहार नहीं

१. काण्ट और शोपेनहार ने भी बुद्धि का क्षेत्र केवल वाह्य अथवा स्थूल विश्व को माना है।

२. बर ट्रेंड रसल-कृत "मिस्टिसिज्म एण्ड लॉजिक।"

३. अबुल अला, द सीरियन।

करता था। पशुपक्षियों के लिए उसके हृदय में दया भी थी तथा वह ब्रह्मचर्य और यतीवृत्ति का भी पालन करता था।" अलमआरी के विचारों की स्वाधीनता नीचे के पदों में प्रत्यक्ष है :—

(१)

ईश्वर को छोड़ और ईश्वर नहीं है, यह सत्य है;
और सत्य यह भी है, मन के सिवाय कोई दूसरा नबी नहीं।
घूम रहा आदमी का मन अन्धकार में
खोजते हुए अपूर्व स्वर्ग को,
स्वर्ग जो छिपा हुआ है हम में औ' तुम में।

(२)

जाल हैं अगणित, पन्थ अगण्य; प्रदर्शक पथ के अमित सुजान;
मुक्त इन द्वारों में है कौन द्वार तेरे घर का भगवान ?
मुहम्मद के कर में है खड्ग, सत्य भी है क्या उनके पास ?
नहीं क्यों कहूँ ? कदाचित् उन्हें मिल गया हो इसका आभास।[५]

इन्हीं मुक्त चिन्तकों ने अभिनव-अफलातूनी (Neo-Platonic) विचारों के बीज इस्लाम में बोये, जिनकी फसल सूफियों ने काटी। अभिनव अफलातूनी विचार यह था कि जीव ब्रह्म से अलग होने के बाद उसके विरह में बेचैन है और शान्ति उसे तभी मिलेगी जब वापस होकर वह ब्रह्म में लीन हो जायगा। यही विचार सूफी मत की नींव बना जिस पर से विरह की हजारों कल्पना की अट्टालिकाएँ उठी हैं। विरह की कल्पना बुद्धि से समझी नहीं जा सकती थी, अतएव, सहज प्रवृत्ति का सहारा सभी लेने लगे।

गजाली परम्परा को तोड़ कर चले थे, किन्तु, वे रहस्यवाद पर जा पहुँचे। एक दूसरे चिन्तक इब्न-सीना यूनानी दर्शन के प्रेमी थे, किन्तु, उस दर्शन से असंतुष्ट होकर वे भी रहस्यवादी हो गये। उनका भी मत था कि बुद्धि का मूल्य केवल विज्ञान के लिए है। किन्तु, अन्तिम सत्य का जैसा पूर्ण, सरल और समुचित ज्ञान सहजवृत्ति से होता है, वैसा बुद्धि से नहीं हो पाता। सूफीमत को प्रेम की दिशा इन्हीं दार्शनिक ने दी। उन्होंने कल्पना की कि अन्तिम सत्य का रूप पूर्ण सौंदर्य का रूप है। यह सत्य स्वयं तो प्रच्छन्न है, किन्तु, सृष्टि-रूपी दर्पण में उसका जो बिम्ब पड़ता है, वही उसकी अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति प्रेम का संकेत देती है। प्रेम है सौन्दर्य को पहचानने की शक्ति, प्रेम है सौंदर्य पर न्यौछावर होने की योग्यता। प्रेम ही वह शक्ति है जो जीव को उसके विरह की अनुभूति

---

५. डाक्टर ताराचन्द की पुस्तक में उद्धृतांश का अनुवाद।

कराती है और प्रेम से ही प्रेरणा पाकर जीव उस सत्ता में फिर से मिल जाने का प्रयास करता है. जिस सत्ता से वह सृष्टि की प्रक्रिया में वियुक्त हो गया है।

मुहम्मद साहब ने जो उपदेश दिया था, उसमें खुदा मालिक और इन्सान बन्दा था। इन नये विचारकों ने खुदा को पूर्ण सौंदर्य और बन्दे को उस सौंदर्य का पुजारी बना दिया। मुहम्मद साहब ने जो धर्म चलाया था, उसमें **दास्य भाव** ही प्रधान था। सूफियों ने दास्य भाव को काट कर उसकी जगह पर **प्रेम और रति** को अंकित कर दिया। इस प्रकार, इस्लाम में तसव्वुक या रहस्यवाद का प्रचार बढ़ने लगा। प्रत्यक्ष में तो यह मुक्त चिन्तकों की तार्किक जिज्ञासा का समाधान करने को उठा था, किन्तु, परोक्ष में इसका मुख्य कारण यह था कि ९ वीं शती तक या उसके बाद ही, मुसलमानों में क्लान्ति आ गई थी तथा उनकी वह शक्ति समाप्त होने लगी थी जिसने साम्राज्य बसाया था। **रहस्यवादी मुद्रा थकी, पराजित और संघर्षहीन जाति को बहुत पसंद आती है।** मुसलमान पराजित तो नहीं थे, किन्तु, इस समय उन्हें साम्राज्य का सुख बहुत अधिक था और संघर्ष तो कुछ था ही नहीं। सूफीमत के जन्म के समय, इस्लाम की उद्दामता मद्धिम पड़ रही थी, उसका तेज विश्राम कर रहा था। किन्तु, इतना ही नहीं, इस्लाम में रहस्यवाद के उद्भव के कुछ और भी कारण थे और उनमें से एक प्रमुख कारण था विदेशी प्रभाव जो अब इस्लाम को परिवर्तित करने लगा था।

यूनानी और भारतीय प्रभाव

अरब वालों ने दर्शन के लिए फिलसफा शब्द चलाया और यह मानते रहे कि दर्शन की शिक्षा उन्होंने यूनानियों से ली है। किन्तु, वस्तुतः, यूनान ने अरब को वही ज्ञान दिया जिसे उसने भारत से प्राप्त किया था। जिन दिनों भारत का यूनान से गहरा राजनीतिक और व्यापारिक संबंध था, उन्हीं दिनों, यूनानीदर्शन का विकास हो रहा था और इस विकास पर हिन्दू-धर्म की पूरी छाप पड़ी थी। पिथेगोरस (ई. पू. ५८०) जीव-हिंसा का विरोधी और पुनर्जन्म का विश्वासी था। उसके बाद, अफलातून ने इस पुनर्जन्मवाद में कर्मफलवाद भी मिला दिया। प्लाटिनस (चौथी शती) ने ईश्वर का वर्णन नेति-नेति कह कर किया। इसी दार्शनिक ने अफलातून (प्लेटो) के दर्शन की नई व्याख्या की और यही अभिनव अफलातूनी मत का प्रवर्त्तक भी हुआ। "जो आत्माएँ शुद्ध हो चुकी हैं और शरीर पर जिनका तनिक भी मोह नहीं है, वे फिर से शरीर धारण नहीं करेंगी। पूर्ण रूप से अनासक्त हो जाने पर वे नित्य, चेतन वास्तविकता में विलीन हो जायेंगी।" यह और कुछ नहीं, उपनिषदों के मोक्ष और बौद्धमत के निर्वाण की ही प्रतिध्वनि है। अभिनव-अफलातूनी मत के अनुसार, ईश्वर सर्व शुभ का रूप है और उसी से संसार की प्रत्येक वस्तु निकली है। सृष्टि के भीतर जो चेतन शक्ति है, उसी का प्रतिबिम्ब सारी सृष्टि है। अतएव, प्रकृति-मात्र परमे-

श्वर से व्याप्त है। जड़ और कुछ नहीं, केवल चेतन का आवरण है, उसकी पोशाक है। इस मत के मानने वालों का विश्वास था कि "सर्व-शुभ रूप परमेश्वर का ध्यान और चिन्तन करते-करते, मनुष्य उस उद्गम पर फिर पहुँच सकता है जहाँ से वह विच्छिन्न हो गया है।" इन बातों का सूफीमत से निकट का संबंध है, प्रत्युत्, न्हें इस मत का मुख्य आधार कहना चाहिए। सूफियों ने, अपनी पसन्द के अनुसार, इन बातों को वांछित दिशा में विस्तार दिया और काव्य के माध्यम से इस दर्शन को एक स्वतन्त्र रूप दे डाला। भेद यह रहा कि यूनानी दार्शनिक परमात्मा को व्यक्तित्वहीन मानते थे, किन्तु, सूफी मत ने ईश्वर को व्यक्तित्व देकर उसे अपनी आवश्यकता के अनुकूल बना लिया। सूफीमत में जो आवेशयुक्त आनन्द का प्राधान्य है उसके बीज भी अभिनव-अफलातूनी मत में विद्यमान थे जैसा कि नीचे के इस संदर्भ से प्रकट होता है :—

"पंडितजन शुभ का अस्तित्व अपने भीतर मानते हैं और इस आस्था का विकास करने के लिए वे सिमट कर अपने हृदय के पवित्र मन्दिर में चले जाते हैं। जिसे यह ज्ञान नहीं है कि आत्मा में शुभ और सुन्दर का निवास है, वही उसकी खोज बाहर करता है। असल में, उसे अपने आपमें केन्द्रित होना चाहिए, अपने अस्तित्व का प्रसार करना चाहिए, एक को छोड़कर अनेक में नहीं भटकना चाहिए, प्रत्युत्, झरने के उस उत्स की खोज करनी चाहिए जिसकी धारा उसके हृदय में बह रही है।"[१]

यस गद्य में सूफीवाद नहीं तो और क्या है ?

बार-बार यह विवाद उठाया जाता है कि सूफी मत का मूल कहाँ था। यह मत इस्लाम के स्वाभाविक विकास का परिणाम नहीं है, इस पर कई विद्वान् बहुत जोर देते हैं।[२] किंतु, सच बात यह है कि रहस्यवाद सभी धर्मों से ऊपर का धर्म है, अतएव, वह सभी धर्मों के मूल में रहता है। पूजा और प्रार्थना कैसे करें, यह बाद की बात है। उसके पहले ही, ईश्वर से किसी प्रकार का मिलन स्थापित करने की बात आती है जो सभी आस्तिक धर्मों का समान लक्षण है। रहस्यवाद का कोई न कोई रूप हमें प्रत्येक धर्म में मिलता है। यही कारण है कि रहस्यवाद के भेद भी अनेक रहे हैं। जैसे प्रत्येक धर्म का सार उसके रहस्यवादी अंश में रहता है, वैसे ही, तसव्वुक इस्लाम का निचोड़ था। जो लोग लोगों को ज़बर्दस्ती मुसल-मान बनाने के पक्ष में नहीं थे, जिन्हें दारुल-हरब और दारुल-इस्लाम से कोई

---

१. एफ. हैडलांड डेविस-कृत द पर्शियन मिस्टिक्स से।

2. "It must be strictly maintained that mysticism is not a natural growth in Islam, but, is a foreign element which has worked its way into it and is really inconsistent with the original dogmas. It is, perhaps, a revolt of some Muslim souls against the extremity of Islamic transcendance."

—A. C. BOUQUET (Comparative Religion)

सरोकार नहीं था, जो लोग कुरान के उस पक्ष से प्रभावित थे जो ईश्वर-समाधि, ईश्वर-चिन्तन और ईश्वर के पास पहुँचने पर ज़ोर देता था, वे ही लोग धर्म की औपचारिकता के घेरे से निकल कर सूफ़ी हो गये। इस्लाम चाहे मुकुट और तलवार को आशीर्वाद देने वाला पुरोहित बन गया हो, किन्तु, जन्म उसका भी धार्मिक बेचैनी से हुआ था। यही बेचैनी सिमट कर सूफ़ियों में चली गई।

यह भी समझना भूल है कि इस्लाम से पूर्व, रहस्यवाद की परम्परा नहीं थी। सच तो यह है कि तसव्वुक को मुसलमान फकीरों ने एक सुचिन्तित रूप दे दिया, उसे एक संप्रदाय के रूप में खड़ा कर दिया, इसलिए, इसका संबंध उनसे अधिक दीखता है। अन्यथा, तसव्वुक के जन्म और संगठन के पूर्व भी, उसकी परम्परा सभी देशों में मिलती है। खुद अरब में ही तसव्वुक के जन्म के पूर्व, मुहम्मद साहब के "इलहाम" और "हाल" (आवेश) में सूफी मत के दो लक्षण मौजूद हो चुके थे। और कुरान की ईश्वर-कल्पना में चाहे चितनी भी कठोरता रही हो, किन्तु, उसमें भी जगह-जगह ऐसे संकेत मिलते हैं कि ईश्वर और जीव के बीच प्रेम का संबंध हो सकता है। "वह (ईश्वर) उन्हें (बन्दों को) प्यार करता है और वे उसे प्यार करते हैं; इसीलिए उसका एक नाम वदूद (प्रेमी) भी है।" यह भी कुरान का ही वचन है।[1]

सारी प्रकृति किसी अदृश्य सत्ता से व्याप्त है, यह अनुभूति तो भारत में वैदिक काल में ही उत्पन्न हो चुकी थी और, आगे चलकर, उसका प्रभाव यूनान और ईरान पर भी पड़ा था। जीव ब्रह्म से बिछुड़ा हुआ है तथा उसे फिर ब्रह्म में ही लौट जाना है, यह ज्ञान भी पहले भारत में ही जगा था और वहीं से उसने पाश्चात्य देशों में प्रसार पाया। सूफी मत में प्रेम की जो इतनी प्रधानता है अथवा सूफी जो यह कहा करते हैं कि इश्क-मजाजी इश्क-हकीकी का सोपान है, उसकी परम्परा भी पीछे की ओर काफी दूर तक पहुँचती है। ईसाई सन्त मसीह को अल्लाह और अपने को उनकी दुलहिन कहा करते थे। सोलोमन के गीतों में यह कल्पना इतनी रंगीन है कि उससे अश्लीलता की ब आती है। भारतवर्ष में ब्रह्मानन्द का ज्ञान कराने के लिए रत्यानन्द की उपमा देने की प्रथा उपनिषत्काल में चल चुकी थी। बृहदारण्यक-उपनिषद में आनन्द का केन्द्र उपस्थ बताया गया है (सर्वेषामान्दानामुपस्थ एकायनम्)। अफलातून ने शरीर-संपर्क-रहित प्रेम की कल्पना करके नर-नारी के सम्बन्ध को पवित्रता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था।

पं. चन्द्रबली पाण्डेय ने सभी जातियों के मन्दिरों में व्यभिचार के प्रचलित होने की बात कही है और इसका सम्बन्ध सूफी-मत के मादन-भाव के साथ जोड़ा है। धर्म के नाम पर गुह्य टोलियाँ बना कर सुरा और सुन्दरी का उपभोग करने की प्रथा अनेक देशों में

---

१. "नबी ने कहा है, 'तख़ल्लक़-बि-एख़लाक़-अल्लाह' अर्थात् अपने भीतर परमेश्वर के गुणों का विकास कर।" —इकबाल ('सिक्रेट आव द् सेल्फ' की भूमिका से)

प्रचलित थी। सूफी मत में इन विभिन्न लक्षणों का समागम धीरे-धीरे हो गया, जिसके ताने-बाने को खोलना अब संभव नहीं है। "सूफी मत के उद्भव के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके मादन भाव का उदय शामी जातियों के बीच में हुआ और फिर अपनी पुरानी भावना और धारणा की रक्षा के लिए सारग्राही सूफियों ने अन्य जातियों के दर्शन तथा इतिहास से सहायता ले धीरे-धीरे एक नवीन मत का सृजन किया।"[1] यह निष्कर्ष, मैं समझता हूँ, काफी सारपूर्ण है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि मादन-भाव की परम्परा भारत में नहीं थी।

डाक्टर ताराचन्द ने सूफी मत के पाँच उद्गम माने हैं : (१) कुरान, (२) मुहम्मद का जीवन, (३) ईसाई मत और अभिनव अफलातूनी मत (४) हिन्दुत्व और बौद्ध मत तथा (५) ईरान में प्रचलित जरथुस्त्र-धर्म। किन्तु, अभिनव-अफलातूनी-मत के भीतर से पड़ने वाला प्रभाव भी, वास्तव में, हिन्दू प्रभाव था, यह ध्यान में रखने की बात है।[2] इस मत ने सूफियों में वैराग्य की भावना जगायी और उन्हें साधु जीवन की ओर प्रेरित किया। ईश्वर से वियुक्त जीव की कल्पना तथा सर्वात्मवाद के विचार भी स्लाम को इस मत से मिले। यह भाव नवीं सदी में पड़ा, जब यूनानी पुस्तकों का अनुवाद अरबी में किया जाने लगा था। तसव्वुफ पर सबसे अधिक प्रभाव हिन्दुत्व का ही माना जाना चाहिए, क्योंकि यह दुहरा था, अर्थात् एक तो यूनान के माध्यम से, दूसरे सीधे हिन्दुस्तानसे जाने वाले हिन्दू और बौद्ध सन्तों एवं पण्डितों के द्वारा।[3]

वेदान्त के मोक्ष और बौद्ध मत के निर्वाण के वजन पर ही सूफियों ने **फना** की

---

१. श्री चन्द्रबली पाण्डेय—तसव्वुफ।

२. 'इकबाल ऐज़ ए थिंकर' में डाक्टर खलीफा अब्दुल हकीम ने तसव्वुफ पर भारतीय प्रभाव मानने में आगा-पीछा किया है। यह विचित्र बात है कि मुस्लिम भाइयों को यूनानी भाव मानने में कोई हिचक नहीं होती, किन्तु, भारतीय प्रभाव को स्वीकृत करने में वे हिचकने लगते हैं।

३. राबिलसनने लिखा है कि जब अलेकजेंड्रिया व्यापार का केन्द्र थी, तब वहाँ भारतीय और यूरोपीय व्यापारियों का पूरा मिलन होता था। इसी नगर में, अभिनव अफलातूनी मत वाले नानी और भारतीय बौद्ध आपस में विचार-विनिमय करते थे। इस प्रकार, हिन्दू और बौद्ध विचारों का प्रभाव ईसाइयत पर पड़ा। इस नगर का पतन ६४२ ई. में आ, और तब व्यापार के केन्द्र ईरान में आ गये। ईरान में ही, ज्योतिष, गणित और वैद्यक की भारतीय पुस्तकें अरबी और फारसी में अनूदित हुईं और अनदित रूप में ी वे कारडोवा (स्पेन) पहुँचीं जहाँ से यूरोप के मध्यकालीन विद्यापी ों में उनका प्रचार हुआ।

कल्पना की और बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग ही उनका "तरीका या सलूक" हुआ। इसी प्रकार, सूफियों ने भारतीय योग को **मराकबा** कह कर अपनाया एवं भारतीय योगियों के चमत्कार ही सूफियों के यहाँ करामात या मोजजा कहलाने लगे। सूफियों के बीच स्वच्छता, पवित्रता सत्य और अपरिग्रह पर जो तना जोर है तथा उनमें माला जपने की जो प्रथा है, उन सब के पीछे शुद्ध भारतीय संस्कार का ही प्रभाव माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में सबसे पक्षपात-रहित मत प्रोफेसर हुमायूँ कबीर का है जिन्होंने अपनी पुस्तक, "आवर हेरिटेज" में लिखा है कि "सूफी मत का आधार कुरान में था, किन्तु, भारतीय विचार- रा का इस पर अत्यन्त गंभीर प्रभाव पड़ा । इसके विकास में योगदान ईसाइयत, अभिनव-अफलातूनी मत, जरथुस्त्री मत और मैनिज्म से भी मिला किन्तु **बाह्य प्रभावों में से सबसे बड़ा प्रभाव हिन्दूधर्म एवं बौद्ध दर्शन से ही आया है**। अन्यथा और कौन उपाय है जिससे इस शंका का समाधान किया जा सके कि हजरत मसा के समय से सभी सामी धर्मों जो सु-निश्चित परम्परा चली आ रही थी, उसके विरुद्ध, सूफी मत व्यक्ति को ब्रह्म में विलीन करने पर तना अ क जोर क्यों देने लगा ?

इस प्रसंग को और भी अधिक सुस्पष्टता से सर चार्ल्स इलियट ने उपस्थित किया है।[१] उनका विचार है कि अभिनव-अफलातूनी मत के प्रभाव से तसव्वुफ का उद्भव मानना न्यायसंगत नहीं है।[२] मुहम्मद साहब के बहुत पहले से अरब, बगदाद और बलख का भारतवर्ष से गहरा संपर्क था। इसलिए, भारत का चिन्तन इस भू-भाग में काफी प्रचलित रहा होगा। इलियट की सब से बड़ी आपत्ति यह है कि जीव और ब्रह्म के बीच एकता तथा जीव का यह कहने का भाव कि मैं ब्रह्म हूँ, किसी भी प्रकार अभिनव-अफलातूनी मत में नहीं खोजा जा सकता है। किन्तु, यह भारतीय वेदान्त के लिए साधारण-सी बात थी। सूफीमत आरंभ में मद्धिम था, किन्तु, बाद में वह बहुत निर्भीक हो उठा। यह निर्भीकता सीधे हिन्दू-धर्म से आई होगी। अल हल्लाज सन् ९२२ ई० में "अनलहक" पुकारने के अपराध में फाँसी चढ़ा था और यह प्रमाणित बात है कि वह योग सीखने को भारत गया था। उसके बाद भी, अनेक सूफी ज्ञान-लाभ के उद्देश्य से भारत आये थे अथवा भारत के इतना समीप आये थे जहाँ उन्हें भारतीय ज्ञान और योग के गुरु मिल सकते थे। फरीदुद्दीन अत्तार हिन्दुस्तान भी गये थे और तुर्किस्तान भी। जलाल उद्दीन रूमी का जन्म

---

१. हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म—तीसरी जिल्द।

२. इस्लामी सूफीवाद पर अभिनव-अफलातूनी मत का प्रभाव है, यह मतवाद, विशेषतः, ई०जी० ब्राउन (लिटररी हिस्ट्री आव् पर्सिया में) और आर० ए० निकोलसन ने (सेलेक्टेड पोयम्स फ्राम द दीवान आव् शम्स-तबरेज में) फैलाया है। सर चार्ल्स इलियट इसे गलत मानते हैं।

बलख में हुआ था जहाँ एक समय बौद्ध मत का प्रधान केन्द्र था। सादी बलख, गजनी, पंजाब और गुजरात में घूमे हुए थे। दक्षिण के सुलतान मुहम्मद बहमनी ने हाफिज को भारत आने का निमंत्रण दिया था। जहाज के बर्बाद हो जाने से हाफिज भारत की यात्रा तो पूरी नहीं कर सके, किन्तु, भारतीय विचारों से उनका भी अच्छा संपर्क था। इन सारी बातों से यह अनुमान अनायास निकल आता है कि अरब और ईरान में उन दिनों यह साधारण विश्वास था कि ज्ञान और योग की शिक्षा लेने के लिए भारत जाना आवश्यक है। और जो लोग भारत नहीं आ सकते थे, उनके भी कान भारतीय ज्ञान के लिए अवश्य खुले रहते होंगे और वे भी पुस्तकों के द्वारा भारत का ज्ञान अवश्य प्राप्त करते होंगे।

सूफियों के विश्वास

डाक्टर बुकेट[1] ने "डिक्शनरी आव् इस्लाम" के आधार पर सूफीमत के विश्वासों की जो सूची दी है, वह इस प्रकार है :—

१. अस्तित्व केवल परमात्मा का है ; वह प्रत्येक वस्तु में है और प्रत्येक वस्तु परमात्मा में है।

२. दुनिया की हर चीज परमात्मा से निकली है और परमात्मा के बिना किसी भी वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है।

३. सभी धर्म व्यर्थ हैं। हाँ, उनका एक उपयोग है कि वे एक ही सत्य की ओर इंगित करते हैं। इनमें से, सबसे उपयोगी धर्म इस्लाम है जिसका सच्चा दर्शन सूफीमत का दर्शन है।

४. पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों की सृष्टि परमात्मा ने ही की है।

५. मनुष्य के संकल्पों की प्रेरणा और निश्चयन परमात्मा करता है, अतएव, मनुष्य अपने कर्मों में भी स्वाधीन नहीं है।

६. आत्मा शरीर के पिंजड़े में कैद है, किन्तु, पिंजड़ा पीछे बना और पक्षी (आत्मा) पहले से ही मौजूद रहा है। पिंजड़े के टूटे बिना पक्षी स्वाधीन नहीं हो सकता, अतएव, मृत्यु काम्य है, क्योंकि मृत्यु के बाद ही, आत्मा परमात्मा को प्राप्त करती है।

७. सूफी का मुख्य कर्त्तव्य ध्यान और समाधि है, प्रार्थना और नाम-स्मरण है। इन्हीं तरीकों से वह परमात्मा-मिलन की राह पर अग्रसर होता है।

डाक्टर खलीफा अब्दुल हकीम[2] ने सूफी-मत के जो लक्षण बताये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

1. Comparative Religion.
2. Iqbal as a thinker.

१. सारी वास्तविकता एक है, अर्थात् संसार में हम जो कुछ भी देखते हैं वह एक ही सत्ता का विस्तार है। प्रकृति के सभी रूप एक ही सत्य के विभिन्न पहलू हैं।

२. जैसे सभी चीजें एक ही तत्व से निकली हैं, वैसे ही, ये सबकी सब उसी तत्व में लौट जाने को बेकरार हैं।

३. सत्य का ज्ञान बुद्धि से भी हो सकता है यदि बुद्धि खंडित या पक्षपातयुक्त न हो। किन्तु, तर्क इसमें सहायक नहीं हो सकता। तर्क से वास्तविकता का सारा ज्ञान नहीं होता है। वास्तविकता के संपूर्ण ज्ञान के लिए बुद्धि की अपेक्षा भावना और अनुभूति अधिक विश्वसनीय हैं।

४. मनुष्य-जीवन का असली लक्ष्य यह है कि धार्मिक अनुभूतियों के द्वारा मनुष्य अन्तिम सत्य का साक्षात्कार करे और उस सत्य के साथ एकाकार हो जाय।

५. यह धार्मिक अनुभूति ही प्रेम है। प्रेम के भीतर स्वाभाविक रूप से सत्य का ज्ञान निहित रहता है।

६. सभी धार्मिकता और ऊँची नैतिकता का आधार प्रेम है। प्रेम के बिना धर्म और नीति, दोनों निर्जीव हो जाते हैं। प्रेम के प्रकाश के बिना बुद्धि भी अंधकार में भटकती रहती है।

सूफी साधक ईश्वर को निराकार भी मानते हैं और साकार भी। वे ईश्वर को मनुष्य की आत्मा और मनुष्य को उस आत्मा का आवरण मानते हैं। प्रायः, प्रत्येक साधक ईश्वर की कल्पना परम सुन्दरी नारी के रूप में करता है जिस पर वह आसक्त होना चाहता है। सूफीमत में परमेश्वर साकार सौंदर्य है और साधक साकार प्रेम। इस संबंध की व्याख्या इकबाल के एक शेर में बड़ी ही सफाई के साथ हुई है, जिसमें साधक परमेश्वर से कहता है कि "यह भी कैसी स्थिति है कि सौंदर्य भी परदे में छिपा हुआ है और प्रेम भी आवरण के नीचे है। या तो खुद तू ही परदे से बाहर आ जा, या फिर मेरे ही ऊपर का आवरण हटा दे।"[१] यह पुरुष-साधकों की बात है। किन्तु, सूफी-संप्रदाय में साधिकाएँ भी हुई हैं, जो परमात्मा को अपना पति समझती थीं। इनमें से, बसरे की रबिया नाम की साधिका बहुत प्रसिद्ध हुईं। इनका देहान्त जेरुसलेम में सन् ७५३ ई. में हुआ, ऐसा कहा जाता है। सूफीमत में विचारों की जो स्वाधीनता थी, उसका प्रमाण रबिया के वचनों में भी मिलता है। कहते हैं, एक बार उन्होंने कहा था कि "मेरा हृदय परमात्मा के प्रेम से ऐसा लबालब भर गया है कि उसमें नबी के भी प्रेम के लिए जगह नहीं रही, फिर शैतान के प्रति घृणा की तो बात

---

१. हुस्न भी हो हिजाब में, इश्क भी हो हिजाब में,
या खुद आशकार हो, या मुझे आशकार कर।

(बाले-जिबरील)

ही क्या है।" बरजख की लंबी अवधि की कल्पना से घबराकर वे कहती हैं, "अय मेरी आत्मा ! तू कभी नहीं जगने की आशा में कब तक सोती रहेगी और कब सूर की आवाज सुन कर तू कयामत का सामना करने को खड़ी होगी ?"[१]

सौंदर्य से प्रेम और प्रेम से मुक्ति, यह सूफीमत के सिद्धान्तों का निचोड़ है। इसी प्रेम की सिद्धि, के लिए सूफियों ने इश्के-मजाजी की भी छूट दी, क्योंकि इश्के-मजाजी से भी इश्के-हकीकी हासिल हो सकता है। वैसे, सूफीमत यतीवृत्ति, वैराग्य-साधना, योग और संयम, सब पर जोर देता है।

सौंदर्य और प्रेम के बाद, सूफियों में संगीत की प्रधानता है, क्योंकि संगीत में मन को केन्द्रित करके उसे ऊपर ले जाने की जो शक्ति होती है, उसका उपयोग सूफी सन्त समाधि की सुगमता के लिए, किया करते हैं।

मनुष्य के सीमित गुणों को सूफी "नासूत" कहते हैं और भगवान की निस्सीमता को "लाहूत"। इसी प्रकार, जब तक मनुष्य मोक्ष अथवा ईश्वर-मिलन से दूर है, तब तक उसकी स्थिति "बका" की स्थिति समझी जाती है तथा जब वह मोक्ष अथवा ब्रह्ममिलन को प्राप्त करता है, तब वह "फना" (विनाश, निःशेषता या निर्वाण) की स्थिति में पहुँच जाता है। सूफियों के दो संप्रदाय हैं जिनमें से एक तो यह मानता है कि सृष्टि का उपादान-कारण प्रकाश है और दूसरा यह कि सृष्टि विचार से निकली है। सूफियों में एक संप्रदाय और है जो हुलूल (अवतारवाद), इम्तिजाज (अंशावतारवाद) और नस्खे-अरवा यानी आत्मा के आवागमन में विश्वास करता है।

सूफियों का उद्देश्य वस्ल यानी मिलन अथवा फना यानी ब्रह्ममिलन और निर्वाण है। किन्तु, इस मार्ग पर चलने के लिए, सूफीमत में, गु का होना आवश्यक माना गया है। गुरु (पीर या शेख) की पूजा का तसव्वुफ में इतना महत्व है कि जिसने किसी सन्त को अपना पीर नहीं बनाया, उसके बारे में यह समझा जाता है कि उसका गुरु शैतान है। पीर और मुर्शिद (शिष्य) के संबंध के बिना, सूफियों में साधना का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

मौलिक इस्लाम से भेद

सूफीमत के उद्गम-बिंदु चाहे अन्य धर्मों में भी रहे हों, किन्तु, संप्रदाय के रूप में उसका संगठन इस्लामी देशों में ही हुआ। अरब के नगरों में यहूदी-मत, ईसाइयत, हिन्दुत्व, बौद्धमत और इस्लाम, इन सब धर्मों का मिलन हुआ था। ईरान में इस्लाम का संपर्क जरथुस्त्रवाद से भी हुआ। सूफीमत इन सबका समन्वय या योग तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु, उस पर इन सबका कुछ न कुछ प्रभाव था। वह एक ऐसा मत था जो संप्रदायगत हो कर भी असांप्रदायिक हो गया। उसने नबी की अवज्ञा की, कुरान की अवज्ञा

1. Influence of Islam on Indian Culture से।

की और उस घाट से उमड़ कर बाहर फैलने लगा जिसमें इस्लाम को समेट रखने की आशा की गई थी। संगीत को नबी ने प्रश्रय नहीं दिया था, किन्तु, सूफीमत संगीत को अपना साधन मानने लगा। यों भी, औसत सूफी कवि ही हुआ करते थे और कवियों को कुरान ने कोई अच्छा स्थान नहीं दिया है, जिसके पीछे अफलातून का असर रहाहो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतएव, सूफी सन्त और महात्मा काजियों और मुल्लाओं की नजर में काफिर समझे जाने लगे और उन्हें प्राणदंड देने की एक प्रथा-सी चल पड़ी। ईश्वर-प्रेम के कारण शहीद होने वाले सूफी सन्तों में मंसूर-अल-हल्लाज (मृत्यु ९२२ ई.) का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। उमंग में आकर उन्होंने अनलहक (अहं ब्रह्मास्मि) का नारा दिया और बदले में सुन्नी हुकमत ने उनकी गरदन उड़ा दी।[1] इसी प्रकार, भारतवर्ष में सरमद नामक एक सूफी सन्त को औरंगजेब ने मरवा डाला क्योंकि वे भी ईश्वर होने का दावा करते थे। अजब नहीं कि इन उत्पीड़नों से बचने की कोशिश में अरब और ईरान के सूफी बहुत पहले से ही भारत आते रहे हों। मुहम्मद गजनी के आक्रमण के बाद से तो इस देश में उनका आना बिलकुल साधारण बात हो गई।

भारतवर्ष में सूफियों के चार संप्रदाय प्रसिद्ध हैं जिनके कारण इस देश पर सूफीमत का व्यापक प्रभाव पड़ा है। पहला संप्रदाय सुहरावर्दिया कहलाता है जिसके प्रवर्तक संत जियाउद्दीन (१२ वीं सदी) थे। दूसरा संप्रदाय चिश्तिया कहलाता है जिसका प्रवर्तन हजरत अदब अब्दुल्ला चिश्ती ने किया था। ये गोरी की सेना के साथ भारत आये थे और अजमेर में रहते थे। निजामुद्दीन औलिया, अमीर खुसरू और मलिक मुहम्मद जायसी इन्हीं की परम्परा में थे। कादिरिया-संप्रदाय के प्रवर्तक शेख अब्दुल कादिर जिलानी (१३ वीं सदी) माने जाते हैं जो बगदाद में रहते थे और नक्शबन्दिया-संप्रदाय के अग्रणी ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्द थे, जो तुर्किस्तान में रहते थे। शाहजहाँ का साधु पुत्र दारा-शिकोह कादिरिया-संप्रदाय में दीक्षित था तथा बिहार में सूफीमत का प्रचार करने वाले फकीर मखदुमशाह भी इसी संप्रदाय के अनुयायी थे।[2]

---

१. इकबाल मानते हैं कि पूर्ण मनुष्य वह है जो परमात्मा के अ क से अ.धक निकट पहुँचा हुआ है। निकट आने पर (यानी अपने भीतर ईश्वरत्व का अधिकाधिक विकास करने पर) मनुष्य परमात्मा के अस्तित्व में विलीन नहीं होता, प्रत्युत्, परमात्मा ही उसके भीतर विलीन हो जाता है। इकबाल ने दिखलाया है कि मौलाना रूमी भी इसी विचार के पोषक थे। इकबाल का निम्नलिखित शेर इसी भाव का द्योतक है जिस पर मुल्लाओं का आज भी अच्छा विचार नहीं है।

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर के पहले,
खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता ते ी रजा क्या है।

२. उत्तरी भारत की संत परंपरा।

हिन्दू राजा और प्रजा का पतन

मुसलमानी आक्रमण के बाद, भारतवर्ष पहले-पहल पराधीन हुआ और पहले-पहल इस देश पर ऐसे लोगों का आधिपत्य हो गया जो यहाँ के धर्म से अपने धर्म को एकाकार करना नहीं चाहते थे, बल्कि, जिनकी कोशिश थी कि भारतीय जनता ही अपना धर्म छोड़ कर मुसलमान हो जाय। सिन्ध पर मुसलमानों का अधिकार सन ७१२ ई. में हो गया था। मुहम्मद गोरी ने दिल्ली को सन् ११९१ ई. में जीता। इस प्रकार, हिन्दुओं को, और नहीं तो चार-पांचसौ साल की, चेतावनी तो मिल ही गई थी। फिर इस देश ने मुसलमानी आक्रमण से बचने की तैयारी क्यों नहीं की ?

दूसरा आश्चर्य यह है कि मुहम्मद गोरी ने दिल्ली के राजसिंहासन पर सन् ११९१ ई. में पाँव रक्खे, काशी का पतन सन् ११९४ ई. में हुआ और सन् ११९६-९७ में बंगाल मुसलमानों के अधीन हो गया। पेशावर से लेकर बंगाल तक की विजय आठ-दस साल में पूरी हो गई, यह बात समझ लेने पर भी, ठीक से, समझ में नहीं आती है। उन दिनों रेल और वायुयान नहीं थे और सड़कें भी थोड़ी और खराब ही रही होंगी। इस पर भी तुर्रा यह है कि मुस्लिम आक्रामक दो-चार लाख फौज लेकर हिन्दुस्तान में नहीं आते थे। बाबर सिर्फ बारह हजार आदमी लेकर हिन्दुस्तान आया था। तो राजाओं ने जगह-जगह उनका सामना क्यों नहीं किया ? अथवा जनता ने ही स्थान-स्थान पर उन्हें बाधा क्यों नहीं पहुँचाई? क्या दिल्ली से मुर्शिदाबाद तक कोई सुरंग थी जिसके भीतर से आक्रामकों की सेना छिप कर निकल जाती थी ? मुट्ठी भर मुसलमान आदमियों के इस विशाल जंगल को आनन-फानन जीत कर उस पर राज्य करने लगे, इससे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि इस देश के लोगों ने उनका सामना नहीं किया।

हिन्दुओं की पराजय का कारण बतलाते हुए, अक्सर, कहा जाता है कि हिन्दू इसलिए हारे कि वे गर्म देश में रहते थे और मांस खाना उन्होंने छोड़ दिया था। इसके विपरीत, मुसलमान ठंढे देश से आये थे और मांसाहारी होनेके कारण, उनमें शारीरिक शक्ति भरपूर थी। दूसरा कारण यह बताया जाता है कि युद्ध में हिन्दू अपने लस्टम-पस्टम हाथियों का भरोसा रखते थे जो फुर्तीले घुड़सवारों के मुकाबिले में निकम्मे निकलते थे। श्री जयचंद्र विद्यालंकार ने 'इतिहास-प्रवेश' में इन दोनों ही बातों का खंडन किया है और यह बताया है कि शाकाहार और हाथी, इन्हें बदनाम करना व्यर्थ है। हिन्दुओं की पराजय इसलिए हुई कि उनका राजनीतिक जीवन मन्द हो गया था।

असल में, पतन तो इस देशका हर्षवर्धन के बाद ही आरंभ हो गया था, क्योंकि उसके बाद, चक्रवर्ती सम्राटके पद पर भारत में कोई राजा नहीं बैठ सका। केन्द्र की शक्ति टूट गई और कोई किसी का रोकने वाला न रहा। परिणाम यह हुआ कि सारे देश में छोटे-छोटे राज्य उठ खड़े हुए और वे आपस में ही युद्ध करने को अपना परम कर्तव्य मानने लगे। अपना राज्य और अपनी राजधानी राजाओं को इतनी प्यारी हो उठी कि देश का अस्तित्व ही वे भूल बैठे। आज भी,कमजोर प्रजातंत्री देशों में जब कोई व्यक्ति या दल स्थापित सरकार को नहीं चाहता है, तब वह एक विचित्र प्रकार की दलील देता है। "हम देश की रक्षा क्यों करें ? यह किसका देश है ? मेरा या उनका ? पहले यह फैसला हो जाय कि यह मेरा देश है तब मैं इसकी रक्षा के लिए काम करूँगा।" तत्कालीन राजाओं के भी कुछ ऐसे ही भाव थे। भारत का अर्थ उनका अपना राज्य था। फिर, वे राज्य से बाहर जाकर क्यों लड़ते ? बाहर तो उनका अपना नहीं, किसी दूसरे राजा का राज्य पड़ता था।

प्रायः, प्रत्येक राजाको प्रत्येक दूसरे राजा से कुछ न कुछ शिकायत थी, जिसके कारण, कोई भी चार राजे एक राजा का साथ देने को तैयार नहीं थे। पृथ्वीराज और राणा साँगा को कुछ राजाओं का जो सहयोग प्राप्त हो गया था, उसे हिन्दू-स्वभाव के अपवाद का ही उदाहरण समझना चाहिए।

'जय सोमनाथ' नामक उपन्यास में श्री क. मा. मुंशी ने लिखा है कि जब गज़नी का अमीर सोमनाथ पर चढ़ाई करने चला, तब उसे खबर मिली कि झालोरके राजा वाक्पति राज अगर मित्र न बनाये गये तो वे अमीर की सेना को काफी कष्ट दे सकते हैं। अमीर ने मुलतान के अजयपाल को अपना दूत बना कर वाक्पतिराज के यहाँ भेजा और उन्हें आश्वासन दिया कि अमीर उनके राज्य पर चढ़ाई करना नहीं चाहता है। वाक्पतिराज अमीर की बात मान गये और लड़ाई में तटस्थ रहने का उन्होंने वचन भेज दिया। इसके बाद, जब यह निश्चय हुआ कि वल्लभी के राजा भीमदेव के नेतृत्व में राजपूत वीर अमीर का डट कर सामना करेंगे और सोमनाथ के मन्दिर को भ्रष्ट नहीं होने देंगे, तब भीमदेव ने अपने मंत्री को वाक्पतिराज के यहाँ सहायता की माँग के लिए भेजा। सोमनाथ मन्दिर की रक्षा के लिए सहायता की माँग की जाने पर वाक्पतिराज ने कहा—अभी पर साल की ही बात है कि मैं मारवाड़ पर चढ़ाई करना चाहता था और उसके लिए मैंने भीमदेव से मदद माँगी थी। किन्तु, भीमदेव ने यह कह कर सहायता देने से इंकार कर दिया कि मारवाड़ उसका नातेदार है। अब मुझसे वह मदद क्यों माँगता है ? अपनी विपद वह आप झेले।

ठंढे देश के मांसाहारी लोग भारत में पहले भी आये थे, किन्तु, उस समय देश में किसी न किसी प्रकार की केन्द्रीय सत्ता कायम थी और देश की एकता कहीं न कहीं प्रत्यक्ष खड़ी थी। इस एकता के रहते हुए, किस की मजाल थी कि भारत को दास बनाता? आदमी

कमजोर पहले होता है, पराजय उसकी बाद को होती है। देश की एकता पहले टूटती है, दासता उस पर बाद को आती है। मुसलमान सिन्ध में तो बहुत दिनों से बैठे थे और लूट-मार के द्वारा वे भारत से कुछ ले भागने के आदी भी रहे थे। किन्तु,देश की एकता में जब तक थोड़ा भी दम रहा, वे संपूर्ण भारत को जीतने का मनसूबा नहीं बाँध सके। हाँ, जब उन्होंने देख लिया कि अब इस देश में किसी की बात कोई भी मानने को तैयार नहीं है, सब आपस में ही लड़ रहे हैं, सब अपने-अपने राज्य की सीमा को ही भारतवर्ष की सीमा मान बैठे हैं और भारत की एकता का भाव पूर्ण रूप से लुप्त हो चुका है, तब वे देश पर जोर से चढ़ आये और बिना किसी दिक्कत के यहाँ के सुलतान बन बैठे। मुसलमानी आक्रमण के समय, राजाओं की मनोवृत्ति कैसी थी, इसका भी उदाहरण 'जय सोमनाथ' में आया है जहाँ घोघा राणा का प्रपौत्र सामन्त, राजा भीमदेव से कहता है कि "चालुक्यराज! ऐसा लगता है कि क्षुद्रबुद्धि और पारस्परिक विरोध में मस्त अपने राजाओं को मारने के लिए ही भगवान सोमनाथ ने इस अमीर को भेजा है।"

हिन्दू जन्मजात अहिंसक थे। अपनी सीमा के बाहर जाकर लड़ने की उनके यहाँ परम्परा न थी। *"सबसे उत्तम रक्षा यह है कि आक्रामक पर उसके घर में हमला करो"*, इस नीति पर हिन्दुओं ने कभी भी अमल नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि रक्षापरक युद्ध लड़ने की उनकी आदत हो गई। जब देश में केन्द्रीय सत्ता कायम थी, यह रक्षापरक युद्ध देश के लिए लड़ा जाता था। जब केन्द्र टूट गया, रक्षापरक लड़ाइयाँ अपने क्षुद्र राज्यों के लिए लड़ी जाने लगीं। "राजपूतों की जिस वीरता की बड़ी प्रशंसा की जाती है, वह वीरता सदा रक्षापरक युद्धों में ही प्रकट हुई। वह अपना अन्त निकट देख निराश होकर मरने-मारने पर तुले हुए आदमियों की वीरता होती थी। उसमें महत्त्वाकांक्षा की वह प्रेरणा, विशाल दृष्टि का वह स्वप्न, वह ऊँची साध कभी न होती थी जो मनुष्यों को नई भूमि खोजने और जीतने के खतरे उठाने के लिए आगे बढ़ाती है। बेशक, कायर बन कर अधीनता मानने की अपेक्षा वैसी वीरता की मौत मरना भी अच्छा था। किन्तु, वह बहादुरी का मरना ही था, बहादुरी का जीना नहीं कहा जा सकता।"[१]

राजा तो ऐसे गये, और प्रजा को यह ज्ञान ही नहीं था कि देश उसका है। उन दिनों देश का जीवन दो तबकों में बँटा हुआ था। एक तबका उनका था जो राजे थे, शासक थे, अमले, कारिन्दे या दरबारी थे। जिन्दगी के असली मजे इन्हीं लोगों को नसीब थे। उनमें शिक्षा भी थी, संस्कृति भी और धन-ऐश्वर्य भी। सलतनत से सरोकार इसी तबके का था। बाकी जनता इस तबके से दूर थी और मेहनत-मजदूरी करके अपना भी पेट पालती थी और इन विलासियों के आराम के लिए भी पैसे देती थी। किन्तु, जैसे ऊपर वाले तबके को

१. इतिहास-प्रवेश

इस नीचे वाले तबके के लिए कोई दर्द नहीं था, वैसे ही, जनता के हृदय में भी राजाओं के लिए कोई सहानुभूति नहीं थी। "*कोउ नृप होय हमहिं का हानी*", यह बात तुलसीदास ने बाद में लिखी। किन्तु, यह भाव यहाँ की जनता में पहले से ही वर्त्तमान था।

मुसीबत के समय, प्रजा राजा का साथ तभी दे सकती है जब राज्य को वह अपना समझे और राजा के लिए उसके हृदय में आदर और प्यार हो। मुसलमानी आक्रमण के समय, हिन्दुस्तान के राजे जुल्मी और प्रजा मजलूम थी। नतीजा यह हुआ कि बाहर से आने वाले दुश्मनों का विरोध जनता ने नहीं किया, बल्कि, जनता के आदमी यदा-कदा आक्रामकों के साथ हो गये। जब मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर चढ़ाई की, तब दाहिर ने अरब आक्रामकों का सामना तो डट कर किया, "किन्तु, सिन्ध के इन अन्तिम राजाओं ने अपनी जाट और मेड़ प्रजा पर बड़े जुल्म किये थे। इसलिए, बहुत-से जाटों ने अरबों का साथ दे दिया।" (जयचंद्र)।

देश की जैसी हालत इस समय थी, वहुत कुछ वैसी ही हालत एक बार फिर उस समय हो गई, जब मुगल साम्राज्य टूटने लगा और इस देश में अंगरेज अपना पाँव फैलाने लगे। नवाब वाजिद अली शाह की गिरफ्तारी किस आसानी से कर ली गई, इसका वर्णन करते हुए प्रेमचंद जी ने अपनी एक कहानी (शतरंज के खिलाड़ी) में लिखा है कि "नवाब वाजिद अली पकड़ लिये गये और सेना उन्हें अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मारकाट। एक बूंद भी खून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शान्ति से, इस तरह खून बहाये बिना नहीं हुई होगी।" जो हाल वाजिद अली शाह की गिरफ्तारी के समय था, वही हाल इस देश की प्रजा और राजा का उस समय रहा होगा, जब यहाँ मुसलमानों का आक्रमण आरंभ हुआ।

भारतवर्ष में पंचायत की प्रथा बहुत दिनों से चली आ रही थी। गाँवों के लोग स्वावलंबी और स्वतन्त्र थे। राज्य से इनका इतना ही संबंध था कि जब तब राजाओं के कारिन्दे कर वसूल करने को पहुँच जाते थे। उन्हें सत्कारपूर्वक विदा कर देने के बाद गाँव फिर अपने आप में स्वतन्त्र हो जाते थे। सर्वत्र शान्ति थी, सर्वत्र भाग्य का आधार लिये लोग निश्चिंत जीते थे और गाँव के ऊँच-नीच का निपटारा भी वे आप ही कर लेते थे। स्वायत्त-शासन का प्रेम यहाँ के वासियों के रक्त में था। इसी प्रेम के कारण राजे अपनी स्वाधीनता चाहने लगते थे। इसी प्रेम के कारण प्रान्तों की राज्यों से खटपट हो जाती थी।

स्वायत्त-शासन की इस अतिवृद्धि से हानि यह हुई कि हमारी ग्रामीण जनता की दृष्टि संकीर्ण हो गई और उसने गांव की दुनिया से बाहर बड़ी दुनिया में दिलचस्पी लेना छोड़ दिया। प्रान्त या देश के शासन से उसकी कोई दिलचस्पी नहीं रह गई और उसने मान लिया कि खेती-बारी और साधारण वाणिज्य-व्यापार तथा धर्म-कर्म के सिवा और कोई

प्रश्न नहीं है जिसकी ओर उसे उन्मुख होना चाहिए। अगर पंचायतों को देश के बड़े कामों से संबद्ध करने का कोई तरीका निकला होता, अगर अधिकारों को विकेन्द्रित करके जनता में यह भाव जगाया गया होता कि केवल गाँव ही नहीं, राज्य और सरकार भी जनता के ही सहयोग से चलती है, तो संभव है कि जनता की दृष्टि विशाल होती और वह देश के भाग्य के विषय में उदासीन नहीं रहती। किन्तु, उस समय इतनी बात कोई सोच भी नहीं सकता था। राजा के लिए प्रजा आहार थी। अतएव, जब राजाओं को आहार बनाने वाले लोग बाहर से आ गये, जनता ने कोई क्षोभ प्रकट नहीं किया, बल्कि, वह थके सिपाहियों को बरगद के नीचे बैठा कर पानी पिलाने लगी, गौणतः, इसलिए कि राजाओं के बदलने से पंचायतों का कुछ भी नहीं बिगड़ता था, किन्तु, मुख्यतः, इसलिए कि प्यासों को पानी पिलाना धर्म था चाहे वे शत्रु ही क्यों न हों।

धार्मिकता की अति ने देश का विनाश किया, इस अनुमान से भी भागा नहीं जा सकता। और यह धार्मिकता भी गलत किस्म की धार्मिकता थी जिसका उद्देश्य परम सत्ता की खोज नहीं, प्रत्युत्, यह विचार था कि किसका छुआ हुआ पानी पीना चाहिए और किसका नहीं, किसका छुआ हुआ खाना खाना चाहिए और किसका नहीं ; किसके स्पर्श से अशुद्ध होने पर आदमी स्नान से पवित्र हो जाता है और किसके स्पर्श से हड्डी तक अपवित्र हो जाती है। बौद्ध धर्म हिन्दुत्व का निर्यात किया जाने वाला रूप बन गया था और बौद्धों की संगति में पहले ब्राह्मण भी विदेश जाते थे। सुमात्रा और जावा में पौराणिक सभ्यता फैलाने को बौद्ध नहीं, ब्राह्मण ही गये होंगे। किन्तु, बौद्ध-ब्राह्मण-संघर्ष के क्रम में ब्राह्मणों ने विदेश-यात्रा करने वाले बौद्धों को नीचा दिखाने के लिए, धर्मशास्त्रों में यह विधान कर दिया कि विदेश जाना पाप है और इस पाप से मनुष्य सदा को पतित बन जाता है। फिरिश्ता ने लिखा है कि पश्चिम में अटक हिन्दुओं की अटक बन गया था और उससे आगे जाने वाला हिन्दू पतित समझा जाता था। यह अंधविश्वास, शायद, सिन्ध पर मुसलमानी शासन स्थापित हो जाने के बाद प्रचलित हुआ होगा। सिन्ध और उसके आसपास मुसलमानों की प्रभुता को फैलते देख कर ब्राह्मणों को यह नहीं सूझा कि राजाओं को इस खतरे से आगाह कर अथवा प्रजा को इस विपत्ति से भिड़ने के लिए तैयार करें। उलटे, उन्होंने विष्णु-पुराण में कल्कि-अवतार की कथा घुसेड़ दी और जनता को यह विश्वास दिलाया कि "सिन्धु-तट, दाविकोर्वी, चन्द्रभागा तथा काश्मीर प्रान्त का उपभोग व्रात्य, म्लेच्छ और शूद्र करेंगे। वे अल्प कृपा और बहुत कोप करने वाले होंगे। सदा अनृत धर्म में चि रखने वाले और स्त्री, बालक तथा गायों का वध करने वाले होंगे। तब शंबल-ग्राम के विष्णुयश नामक प्रमुख ब्राह्मण के घर में वासुदेव कल्कि का अवतार होगा और वे सब म्लेच्छों का उच्छेद

तथा ब्राह्मण धर्म की पुनः स्थापना करेंगे।"[1]

जो वस्तुएँ परिश्रम और पुरुषार्थ से प्राप्त होती हैं, उनकी याचनाके लिए भी देवी-देवताओं से प्रार्थना करने का अभ्यास हिन्दुओं में बहुत प्राचीन था। अब जो पुराणों का प्रचार हुआ तो वे देशरक्षा, जातिरक्षा और धर्मरक्षा का भार भी देवताओं पर छोड़ने लगे। सोमनाथ मंदिर में सहस्रों मनुष्य इस आशा से जा छिपे थे कि बाहर महमूद भले ही मार-काट मचा ले, किन्तु, मन्दिर में आकर वह जीवित बाहर नहीं जा पायेगा ; देवता उसे खा जायेंगे। किन्तु, देवता उसे खा नहीं सके। महमूद ही उन्हें तोड़ कर अपने साथ ले गया और सहस्रों मनुष्यों में से अनेक, जो बाहर रहने पर, शायद, बच भी जाते, मन्दिर में आसानी से मार डाले गये।

ज्यों-ज्यों हिन्दुओं का साहस और पु षार्थ घटता जाता था, त्यों-त्यों उनकी ऐं बढ़ती जाती थी। उनका धार्मिक संस्कार विकृत हो गया था और वे मानने लगे थे कि संसार में सबसे तुनुक चीज जनेऊ और जात है, जो एकबार गई तो फिर वापस नहीं लायी जा सकती है। फिरभी, हम सबसे श्रेष्ठ हैं। इस अहंकार की उनमें वृद्धि होती गई। अलबरूनी ने लिखा है कि "हिन्दू लोग समझते हैं कि उनके देश-जैसा दूसरा देश नहीं, उनके राजाओं-जैसे दूसरे राजे नहीं, उनके धर्म-जैसा दूसरा धर्म नहीं और उमके शास्त्रों-जैसा दूसरा शास्त्र नहीं है। यदि तुम खुरासान और ईरान के शास्त्रों और विद्वानों के संबंध में उनसे बात-चीत करोगे, तो वे तुमको मूर्ख ही नहीं, मिथ्यावादी भी समझेंगे। वे अगर प्रवास करें और दूसरों से मिलें-जुलें तो उनकी यह प्रवृत्ति नहीं रहेगी, कारण, उनके पूर्वज ऐसे संकुचित विचारों के नहीं थे"। दुख है कि बाहरी लोगों से इतना मिलने-जुलने के बाद भी, हिन्दुओं में ऐसे लोग आज भी बहुत मिलते हैं।

किन्तु, हिन्दू तो देश के बाहर कदम धरना ही पाप समझने लगे थे। और केवल ब्राह्मणों ही नहीं, श्रमणों का भी उनके पतन-काल में यही हाल था। यह लक्षण मुगल-काल में भी विद्यमान था। अकबर ने सुजान सिंह हाड़ा को फौज लेकर काबुल के पार जाने को कहा। सुजान सिंह हाड़ा वीर पुरुष था। विद्रोहियों का तो उसे भय नहीं हुआ, किन्तु, इस चिन्ता से वह लाचार हो गया कि काबुल के पार जाकर वह फिर अपनी जात में कैसे रहेगा। निदान, उसने अपने दो बेटों को फौज देकर विद्रोहियों को दबाने को भेज दिया और फिर उनसे संबंध-विच्छेद कर लिया, क्योंकि हिन्दू-समाज के विश्वास के अनुसार, ये दोनों लड़के, काबुल जाते ही, मुसलमान हो गये, इस्लाम में दीक्षित चाहे वे भले ही न हुए हों। बच्चे भी क्या करते? उन्हें मुसलमान हो जाना पड़ा क्योंकि काबुल जाकर वे समाज में फिर से वापस नहीं आ सकते थे।

---

१. दे० विष्णु-पुराण, अंश ४, अध्याय २४-९८।

एक दूसरी विचित्र कहानी "वीर विनोद"[१] में मिलती है। कथा यह है कि शेरशाह से हार कर हुमायूँ जब ईरान भाग गया, तब वहाँ के बादशाह ने उसको शरण दी। बादशाह ने एक दिन हुमायूँ से पूछा कि आपने हिन्दुस्तान की वीर-जाति के साथ विवाह-संबंध किया है या नहीं। इस पर हुमायूँ ने भारत की स्थिति बतलायी और यह कहा कि पठान तो हमारे शत्रु हैं और राजपूत हमसे संबंध नहीं करेंगे। किन्तु, यह बात हुमायूँ के मन में अटक गई। अतः, मरने के पूर्व, उसने अकबर को आदेश दिया कि वह राजपूतों को अपना मित्र बनाने के लिए उनके साथ विवाह-संबंध करने की चेष्टा अवश्य करे। हुमायूँ के इसी वसीयतनामे के अनुसार, अकबर ने राजपूत सरदारों से कहा कि वे अपनी बेटियाँ शाही खान्दान में ब्याहें और शाही खान्दान की बेटियाँ अपने यहाँ लें। किन्तु, अकबर का यह अत्यन्त सदाशयतापूर्ण प्रस्ताव राजपूतों के गले पूरा नहीं उतरा। वे घबरा गये कि अगर एक मुसलमानिन घर में आ गई तो शास्त्रानुसार सारे खान्दान का धर्म भ्रष्ट हो जायगा और सब के सब मुसलमान हो जायेंगे। इसलिए, आपस में सोच-विचार कर उन्होंने यह निश्चय किया कि हम अपनी बेटी शाही खान्दान में भले व्याह दें, किन्तु, शाही खान्दान की बेटी को अपने यहाँ नहीं लायेंगे।[२] यह बात राजपूतों ने इसलिए स्वीकार की कि ब्याही हुई बेटियों को शाही महल से बुला कर वे फिर कभी अपने घर नहीं ले जाने वाले थे।

---

१. राजपूताने का यह इतिहास कविवर श्यामलदास ने महाराणा उदयपुर की आज्ञा से १९ वीं शती में लिखा था। यह पुस्तक प्रकाशित है और पाँच जिल्दों में है।

२. "आम राजपूत लोगों में इस बात का जिक्र इस तौर पर है कि हुमायूँ बादशाह की वसीयत के मुवाफिक बादशाह, अकबर ने राजपूतों से कहा कि हमारे रिश्तेदार तो तुर्किस्तान में दूर रहते हैं और हम बड़े खान्दानों के सिवाय रिश्तेदारी नहीं कर सकते। तुम लोग हिन्दुस्तान में बड़े इज्जतदार और पुराने खान्दानी हो, इसलिए, हमारी बेटियों के साथ शादी करना कुबूल करो। जिस पर राजपूतों ने सोच विचार कर कहा कि आपकी बेटियाँ तो हमारी सरदार हैं जिनके साथ शादी करना बअदबीमें दाखिल होगा और अपनी बेटियाँ हम लोग आपको व्याह ेंगे। इन लोगों का इस बात से यह मतलब था कि बादशाहों की बेटियाँ हमारे घ ों में आई तो उनके बड़प्पन से परहेज में खलल आकर मुसलमान होना पड़ेगा। और हमारी बेटी बादशाह के घर में गई तो ज्यादा अन्देशे की बात नहीं है। इसलिए, राजा भारमल्ल (बिहारीमल्ल) कछवाहे ने सबसे अव्वल अपनी बेटी बादशाह को दी।" (वीर विनोद ; द्वितीय भाग ; खंड १; पृष्ठ १७० की पाद-टिप्पणी से)

"वीर विनोद" की यह कहानी सच है या झूठ, इस बात की अभी परीक्षा नहीं हुई है। किन्तु, अनुमान होता है कि इस तरह की कोई बात हुई होगी। मुहम्मद हुसेन आजाद ने "दरबारे-अकबरी" के पृष्ठ ६१ और ६२ पर लिखा है कि "जब हुमायूँ ईरान गया और शाह तहमास्प से उसकी मुलाकात हुई, तब एक दिन दोनों बादशाह शिकार को निकले। वहाँ एक जगह बैठने पर हुमायूँ का पैर नंगी जमीन पर पड़ गया। इसे देखते ही, उसके साथ के एक हिन्दुस्तानी सरदार ने अपनी पगड़ी फाड़ कर उसका टुकड़ा हुमायूँ के पाँव के नीचे फैला दिया। इसका शाह तहमास्प पर बड़ा असर हुआ। उसने पूछा कि बिरादर हुमायूँ ! तुम्हारे साथ ऐसे जाँ-निसार, नमक-हलाल लोग थे, फिर मुल्क तुम्हारे हाथ से कैसे निकल गया ? बादशाह ने कहा कि भाइयों के हसद और अदावत ने काम खराब कर दिया। इस पर, बादशाह तहमास्प ने कहा कि हिन्दुस्तान में दो फिरके के लोग बहुत हैं, एक अफगान और दूसरे राजपूत। खुदा की मदद शामिले-हाल हो, तो अबकी दफा वहाँ पहुँचो तो अफगानों को तिजारत में डाल दो और राजपूतों को दिलासा व मुहब्बत के साथ शरीके-हाल करो।"

मुहम्मद हुसेन आजाद ने यह किस्सा अकबरकालीन ग्रन्थ "मआसिरुल-उमरा" से लिया है। इस कथा में, राजपूतों के साथ व्याह-शादी की बात नहीं आती। किन्तु, इससे इस अनुमान का आधार मजबूत होता है कि हुमायूँ ने अकबर के लिए जो वसीयत छोड़ी थी उसमें राजपूतों से मेल-जोल बढ़ाने की कोई बात जरूर रही होगी और इस विचार पर हुमायूँ इसलिए आया होगा कि ईरान के बादशाह ने उसे ऐसी सलाह दी थी।

अकबर ने जब बिहारी मल्ल कछवाहे की बेटी से व्याह किया, उस समय, उसका राज्य बहुत छोटा था, उसकी शक्ति बहुत सीमित और उसकी उम्र भी अठारह-उन्नीस के करीब थी। तो क्या उसने राजपूतों को नीचा दिखाने को यह व्याह किया था ? और क्या उसके मन में यह बात आई ही नहीं कि ऐसे व्याह के विरुद्ध राजपूतों का क्रोध उबल सकता है ? इस विवाह के विरुद्ध राजपूती क्रोध नहीं उबला। इससे अनुमान होता है कि विवाह के पूर्व ही, राजपूतों की भावना शान्त कर दी गई थी, वे निरुत्तर बना दिये गये थे। यह भी बड़ी विचित्र बात है कि हुमायूँ की बहन गुलबदन बेगम, शाहजहाँ की बेटी जहाँ-आरा और औरंगजेब की बेटी जेबुन्निसा, ये शाहजादियाँ आजीवन क्वांरी रह गईं। कहीं यह, सचमुच ही, मुगलों और अफगानों के बीच की खटपट और राजपूतों की धार्मिक कुं ा का परिणाम तो न था ?

यदि भारत में मुसलमानी अत्याचार भयानक रहा, तो तत्कालीन राजपूती वीरता की कहानी भी कुछ कम लोमहर्षक नहीं है। कम से कम, राजपूतों के प्रसंग में तो यह कहा ही जा सकता है कि वे तुर्कों की तलवार को कुछ नहीं समझते थे। और सच भी यही है कि मुसलमान तलवार के जोर से नहीं बढ़े, भारतवासियों ने उनका सामना ही नहीं

किया। इसी प्रकार, इस्लाम भारत में खड्ग-बल से नहीं फैला। वास्तव में, हिन्दुत्व के जुल्म से घबराये हुए गरीब लोग ही अपना त्राण पाने को इस्लाम के झंडे के नीचे चले गये। हिन्दुत्व छुईमुई-सा नाजुक धर्म हो गया था। इसीलिए, गाँव के कुएँ में अगर मुसलमान पानी डाल देते तो सारा गाँव, स्वतः, मुसलमान हो जाता और शास्त्रों के प्रहरियों को यह सूझता ही नहीं कि पानी के समान मनुष्य भी शुद्ध किया जा सकता है। आक्रमण के रास्ते में गाय पड़ जाती तो हिन्दुओं की, स्वतः, पराजय हो जाती थी; रास्ते में मन्दिर पड़ जाते तो हिन्दुओं को कँपकँपी छूटने लगती थी।

जात-पाँत-तोड़क मंडल के कार्याध्यक्ष श्री सन्तराम ने लिखा है कि मौलाना मुहम्मद काजम मुरादाबादी के इतिहास में लिखा है कि तेरहवीं सदी में, रतनजू नामक एक व्यक्ति (जो, शायद, हूण या शक खान्दान का था) कश्मीर के राजा सहदेव की राजसभा में किसी ऊँचे पद पर काम करता था। हिन्दू-धर्म पर उसकी असीम श्रद्धा थी और वह हिन्दू होना चाहता था। किंतु, पंडितों ने उसे किसी भी प्रकार, हिन्दू बनने नहीं दिया क्योंकि यह बात ही अकल्पनीय थी। निदान, वह मुसलमान हो गया और उसके मरने के बाद, उसका बेटा शाह मीर सहदेव को मार कर स्वयं राजा बन बैठा। जिन ब्राह्मणों ने रतनजू को हिन्दू बनने नहीं दिया था, उन सबको शाह मीर ने बोरों में बन्द करवा के झेलम में डाल दिया। "श्रीनगर में जहाँ ये लोग डुबोये गये थे, वह स्थान आज भी 'बट-मजार' के नाम से प्रसिद्ध है।"

बंगाल में, जिस "काला पहाड़" नामक प्रतापी मुसलमान ने असंख्य बंगाली हिन्दुओं को मुसलमान बनाया, वह स्वयं पहले हिन्दू था एवं ब्राह्मणों के अत्याचारों से बहुत ऊब कर ही, वह मुसलमान हुआ था और मुसलमान होनेके बाद, उसने वही किया जो एक स्वाभिमानी पुरुष को करना चाहिए था।

धार्मिक विश्वासों की विकृति के साथ, हिन्दुओं की दूसरी कमजोरी उनका जात-पाँत में बँटा रहना था। विपत्ति में यदि वैश्य है तो राजपूत उसकी मदद नहीं करेंगे और विपत्ति में यदि एक गोत्र का ब्राह्मण है तो दूसरा गोत्र वाला ब्राह्मण अलग खड़ा रहेगा, यह स्वभाव हिन्दुओं का पहले भी था और, कहीं-कहीं, आजभी है। हिन्दू-जनता के ये आपसी द्वेष ऐसे प्रौढ़ हैं कि उनकी कहावतें बनी हुई हैं।[1] ये कहावतें केवल विनोद या मनबहलाव की चीजें

---

१. लाला सन्तराम जी ने अपनी एक प्रचार-पुस्तिका में ऐसी कुछ कहावतें दी हैं जिनमें से कुछ ये हैं :—

१. जिसका बनिया यार, उसे दुश्मन क्या दरकार?

२. खत्री पुत्रम् कभी न मित्रम जब मित्रम् तब दगादगा।

नहीं हैं, बल्कि यहाँ, उनके अनुसार आचरण करने का रिवाज भी मौजूद है। जिस देश में, मनुष्य मनुष्य नहीं होकर ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, कुरमी या कहार समझा जाता हो, जिस देश के लोग अपनी भक्ति और प्रेम पर पहला अधिकार अपनी जात वालों का समझते हों और जिस देश की एक जाति के लोग दूसरी जाति के विद्वान को मूर्ख, दानी को कृपण, बली को दुर्बल, सच्चरित्र को दुश्चरित्र और अपनी जात के मूर्ख को विद्वान और पापी को पुण्यात्मा समझते हों, उस देश की स्वतन्त्रता और समृद्धि के विषय में यही कहा जा सकता है कि "रहिबे को आचरज है, गई तो अचरज कौन।"

शास्त्रों का अत्याचार केवल इतनाही नहीं था कि उन्होंने खाने-पीने, चलने-फिरने, मिलने-जुलने और आने-जाने पर इतने अ कि प्रतिबन्ध लगा दिये थे कि उनके अनुसार आदमी की जात बात की बात में चली जाती थी। उनका इससे भी बड़ा अत्याचार, कदाचित्, यह था कि जाति-भ्रष्ट व्यक्ति को फिर से जाति में मिलाने का उन्होंने कोई उपाय नहीं निकाला था। मनु और याज्ञ-वल्क्य-स्मृतियों में जाति-भ्रष्ट मनुष्य को जाति में लानेका कोई प्रबन्ध नहीं था। यह प्रबन्ध, पहले-पहल, "देवल-स्मृति" में किया गया जिसमें केवल ९६ श्लोक हैं और जो, शायद, १०वीं शती में लिखी गई थी। अनुमान यह है कि सिन्ध-प्रदेश के मुसलमानों के हाथ में चले जाने के बाद, जब पश्चिमोत्तर भारत की जनता धड़ल्ले से मुसलमान बनायी जाने लगी, तब उसे समाज में वापस आने की सहूलियत देने के लिए, यह स्मृति आनन-फानन रच दी गई।[१] किन्तु, इस स्मृति का महमद गजनी के समय

---

३. पीताम्बर छाजो भलो, साबत भलो न टाट।
   और जात शत्रू भली, मित्र भला नहिं जाट।

बिहार में भी ऐसी अनेक कहावतें प्रचलित हैं जिनसे लोगों के जातिगत द्वेष का अनुमान होता है। यथा :—

४. भाई, भतीजा, भानजा, भाट, भाँड़, भुँइहार,
   षट भकार से जगत में सदा रहो हुशियार।

५. कायथ, कुरकुट, कौआ, तीनों जाति-पोसौआ।

६. बाभन, कुत्ता, हाथी, आपन जाति न साथी।

कोई आश्चर्य नहीं कि हिन्दुओं में जाति का नहीं, जात-पाँत का अधिक जोर है।

१. इस बात का एक उदाहरण तो हमने अपने समय में भी देखा कि जो पंडितगण दयानन्द के कहने से नहीं चेते, राममोहनराय के कहने से नहीं चेते, गाँधी और मालवीय के कहने से नहीं चेते, वे ही नोआखाली की दुर्घटना के समय चिल्ला उठे कि मुसलमानों द्वारा भ्रष्ट की गई हिन्दू स्त्रियाँ भी हिन्दू ही हैं, उनका धर्म ज्यों का त्यों सुरक्षित है। अतएव, उन्हें समाज में वापस ले लेने में कोई दोष नहीं है।

व्यापक प्रचार नहीं हुआ था और उस समय भी, सामान्यतः, हिन्दू यही मानते थे कि जिसके शरीर पर मुसलमानों के छुए हुए पानी का छींटा पड़ गया, वह किसी भी प्रकार, हिन्दू नहीं रह सकता है। अलबरूनी के विवरण से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय पतित मनुष्य को जात में फिर से मिलाने का रिवाज हिन्दुओं के यहाँ नहीं था। शाही वंश-का वीर राजा जयपाल जब महमूद गजनी के हाथों कैद हुआ तो कैदसे निकलने के बाद। उसने समाज में वापस आना अनुचित समझा और प्रायश्चित्त-स्वरूप वह आग में जल कर मर गया। एक प्रायश्चित्त की प्रथा के प्रचलित न रहने से, हिन्दुओं की कितनी हानि हुई, इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

ब्राह्मणों और बौद्धों का संबंध कितना कटु था, यह पहले के एक प्रकरण में दिखलाया जा चुका है।[1] उनके बीच, साँप और नेवले का संबंध हो गया था। ब्राह्मणों ने कहावत चला दी थी कि जो व्यक्ति मरते हुए बौद्ध के मुख में पानी देता है वह नरक में पड़ता है। अंग, बंग, कलिंग, सौराष्ट्र और मगध में जैन और बौद्ध कुछ अधिक थे, अतएव, ब्राह्मणों ने इन प्रान्तों में जाने की धार्मिक तौर पर मनाही कर दी।[2]

यह भी कहा जाता है कि बौद्धों के खिलाफ मुसलमानों को ब्राह्मण भड़काया करते थे और ब्राह्मणों के खिलाफ बौद्ध। बौद्ध चाहते थे कि मुसलमान ब्राह्मणों को नष्ट कर दें तो अच्छा हो। ब्राह्मण चाहते थे कि इस बहाने अगर बौद्ध ही समाप्त हो जायें तो हमारी नाक बचे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि बिहार पर बख्तियार खिलजी द्वारा आक्रमण कराने के पीछे नालन्दा के कुछ बौद्धों का षडयन्त्र था। बंगाल के पाल राजे बौद्ध, किन्तु, सेन राजे हिन्दू थे। सेनवंशी राजे बौद्ध धर्म के प्रचंड शत्रु हुए, यह मानी हुई बात है। नालन्दा सेन राजाओं के अधीन था। सेन राजाओं का कर्त्तव्य था कि नालन्दा की रक्षा के लिए कुछ उपाय करते। किन्तु, नालन्दा का विहार जल कर खाक हो गया, और सेन राजे दूर पर अपने महल में सोते रहे। कुछ ऐसा ही वर्ताव बौद्ध श्रमणों ने सिन्ध में किया था जब कि वहाँ दाहिर के साथ मुहम्मद बिन-कासिम की लड़ाई चल रही थी। श्री जयचंद्र जी ने लिखा है "दाहिर के एक भाई ने (दुश्मन का) सख्त मुकाबिला किया, परन्तु, जनता का एक बड़ा अंश श्रमण थे। वे तमाशाबीन बने रहे।" श्रमण और ब्राह्मण एक दूसरे को कटवाने के फेरे में थे, किन्तु, मुसलमानी तलवार दोनों की गरदनों पर गिरी, बल्कि श्रमणों पर तो इतने जोर से गिरी कि उनका सफाया ही हो गया।

इस प्रकार, हिन्दुओं ने जात-पाँत और धर्म की रक्षा की कोशिश में जाति और

---

१. दे० क्रान्ति की गंगा में शैवाल नामक प्रकरण।

२. अंग-बंग-कलिंगेषु सौराष्ट्र-मगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति। (सिद्धान्त-कौमुदी)।

देश को बर्बाद कर दिया। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की अनुभति में जो अनेक बाधाए थीं उनमें सर्वप्रमुख बाधा यही जातिवाद था। जिस गौरव की अनुभूति के लिए मनुष्य राष्ट्रीयता का वरण करता है, उस गौरव की तृषा इस देश में जात-पाँत की अनुभूति से ही शमित हो जाती थी। जात अगर ठीक है, तो सब कुछ ठीक है। धर्म अगर बचता है, तो सब कुछ बचता है। इस भावना के फेरे में हिन्दू इस तरह पड़े कि देश तो उनका गया ही, जात और धर्म की भी केवल ठरी ही उनके पास रही। हिन्दुओं की इस स्थिति पर क्षोभ और करुणा से विचलित होकर विल डुराण्ट लिखता है कि "जात-पाँत के भेद-भावों से दुर्बल होजाने के कारण ही, हिन्दू-जाति आक्रामकों के सामने विवश होती गई। आक्रामकों के प्रहार सहते-सहते इसकी अवरोध की शक्ति का दिवाला निकल गया और जब आत्मरक्षा का कोई उपाय नहीं रहा, तब हिन्दू लोग अलौकिक बातों में अपना त्राण खोजने लगे। अपने आपको बहलाने अथवा दिलासा देने के लिए, उन्होंने इस दलील का आश्रय लिया कि स्वाधीनता हो या पराधीनता, दोनों ही माया की वस्तुएँ हैं। जीवन क्षण-भंगुर है। अतएव, व्यक्ति या समाज की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना, कदाचित्, ही, आवश्यक कार्य हो। हिन्दू-जाति के क्लेशपूर्ण, भीषण इतिहास से जो शिक्षा निकलती है वह यह है कि निरन्तर सावधानता बरते बिना सभ्यता की रक्षा नहीं की जा सकती। जातियों में शान्ति के लिए प्रेम होना ठीक है, किन्तु उन्हें, अपनी बारूद को गीला होने देना नहीं चाहिए।"[1]

---

१. आवर ओरियेंटल हेरिटेज

हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्ध

अलबरूनी ने लिखा है कि महमूद की चढ़ाई के समय हिन्दू धूलिकणों के समान उड़ गये और जीवित लोगों के मुख में उनकी कहानी-मात्र शेष रही। यह भी कि तभी से वे मुसलमानों से अत्यन्त घृणा करने लगे।

अलबरूनी ने सत्य ही कहा है। हिन्दू जन्मजात अहिंसक थे। अनेक धर्मों का स्वागत करते-करते, वे धार्मिक मामलों में भी बहुत ही सहिष्णु हो गये थे। महमूद से पहले जो मुसलमान भारत में आये थे, उन्हें यहां के राजाओं ने बहुत प्रश्रय दिया था। अगर कोई उनकी मस्जिदें तोड़ता, तो हिन्दू राजे अपराधियों को दंड देते थे तथा टूटी हुई मस्जिदों की मरम्मत अपने पैसे से करवा देते थे। लड़ाई और मार-काट के दृश्य तो हिन्दुओं ने बहुत देखे थे, किन्तु, उन्हें सपने में भी यह ख्याल न था कि दुनिया की एकाध जाति ऐसी भी हो सकती है जो मूत्तियों को तोड़ने और मन्दिरों को भ्रष्ट करने में ही सुख माने। जब मुस्लिम-आक्रमण के साथ मन्दिरों और मूर्त्तियों पर विपत्ति आई, हिन्दुओं का हृदय फट गया और वे इस्लाम से तभी जो भड़के, सो अब तक भड़के हुए हैं।

भारत में इस्लाम का आरम्भिक तिहास मारकाट, खूँरेजी, धर्म-परिवर्तन, अभद्रता और अन्याय का इतिहास है। मुसलमान एक आदर्श, एक धर्म और एक सुगठित समाज में जिस प्रकार आबद्ध थे, उससे उन्हें अपार नैतिक बल प्राप्त होता था। इसके विपरीत, हिन्दुत्व ढीला हो चुका था। हिन्दुओं के धर्म, आदर्श और सिद्धान्त के अनेक रूप थे। उन्हें एकता का भी बल नहीं था। फिर भी, इस्लाम का सामना राजपूतों ने खूब किया और भारत में इस्लाम की ाक उस आसानी से नहीं जमी, जिस आसानी से यूरोप में जमी थी। इस्लाम केवल नया मत नहीं था। वह हिन्दुत्व का ठीक विरोधी मत था और वह अपनी संस्कृति की सीमा को बचाये रखने के लिए, अपनी काई की रक्षा करने के लिए भी पूर्ण रूप से चौकन्ना और सतर्क था। इसलिए, हिन्दुत्व उसे लील नहीं सका। उलटे, इस्लाम से अपनी रक्षा करने में उसे भारी संकटों का सामना करना पड़ा। हिन्दुत्व पराजित प्रजा का धर्म था और इस्लाम विजेताओं का। अतएव, इस्लाम के सांस्कृतिक आक्रमणों का उत्तर आक्रमण से देना हिन्दुत्व के लिए संभव नहीं था। परिणाम यह हुआ कि अपनी रक्षा के लिए हिन्दुत्व, घोंघे की तरह, सिकुड़ कर अपनी ही खोली में छिपने लगा। जात-पाँत के नियम उसने और भी कड़े बना लिये, लड़कियों का बचपन में ब्याह आम बात हो गई एवं छुआछूत की भावना पहले से भी भयंकर हो उठी। सबसे विचित्र बात यह हुई कि इस्लाम के प्रति हिन्दुओं के हृदय में उठने वाली घृणा दब कर और भी अन्तर्मन में चली गई और इस घृणा की अभि-

व्यक्ति इस प्रथा में हुई कि मुसलमान का छुआ हुआ पानी पीने से भी हिन्दू का धर्म चला जाता है। परदे का चलन थोड़ा बहुत पहले से भी था, किन्तु, मुस्लिम-काल में यह प्रथा कुप्रथा में परिणत हो गई।

सबसे पहले, इस्लाम का प्रचार नगरों में आरंभ हुआ, क्योंकि विजेता, मुख्यतः, नगरों में ही रहते थे और उनका आतंक भी, प्रधानतः, वहीं था। कुछ यह भी कारण हुआ कि अन्त्यज और निचली जात के लोगों पर नगरों में सबसे अधिक अत्याचार था। ये लोग, प्रायः, नगर के भीतर बसने नहीं दिये जाते थे और बाहर से जब वे नगर में आने लगते, तब उन्हें फटे हुए बाँस को पटक कर अपने आगमन की सूचना देते हुए चलना पड़ता था जिससे ऊँची जात के लोग उनकी छाया से बच जायँ। इस्लाम ने जब उदार आलिंगन के लिए अपनी बाँह इन अन्त्यजों और ब्राह्मण-पीड़ित जातियों की ओर बढ़ायी, ये जातियाँ प्रसन्नता से मुसलमान हो गईं।

काश्मीर और बंगाल में तो लोग, झुंड के झुंड, मुसलमान हुए। इन्हें किसी ने लाठी से हाँक कर इस्लाम के घेरे में नहीं पहुँचाया, प्रत्युत्, ये पहले से ही ब्राह्मण धर्म से चिढ़े हुए थे (दे० प्रकरण, क्रान्ति की गंगा में शैवाल)। ये लोग हिन्दुत्व की उलझी हुई समस्या के रूप में बहुत दिनों से हिन्दुत्व से कुछ-कुछ अप्रसन्न चले आ रहे थे। जब इस्लाम आया और सूफी धर्म से इनका परिचय हुआ, इन्हें लगा, जैसे यह इस्लाम ही उनका अपना धर्म हो।

भारत में इस्लाम का प्रचार तलवार से कम, जिजिया के भय से बहुत कम, किन्तु, सूफी सन्तों के प्रभाव के कारण, बहुत अधिक हुआ। और सन्तों का प्रभाव आसानी से इसलिए पड़ा कि छोटी जातों के लोग ऊँची जातों से अत्यंत पीड़ित थे।

अरब और ईरान के मुसलमान तो यहाँ बहुत कम आये थे। सैंकड़े पचानब्बे तो वे ही लोग हैं जिनके बाप-दादे हिन्दू थे। न नये मुसलमानों ने हिन्दुओं पर सबसे अधिक अत्याचार किया।

मुसलमानों की विजय शुद्ध राजनीतिक विजय थी। देश की संस्कृति पर उसका व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। ऊपर के राजवाड़े टूट गये। किन्तु, उनके नीचे गाँवों की अवस्था ज्यों की त्यों बनी रही और हिन्दू-जनता ने, शीघ्र ही, मुसलमानों को अपना पड़ोसी मान लिया, यद्यपि, इन पड़ोसियों से अस्पृश्यता का नाता उसने, स्वभावतः ही, कायम कर लिया और ये पड़ोसी भी उस नाते को मानने लगे। कारण, शायद, यह था कि पड़ोसी, अधिकांश में, अन्त्यज रहे थे अथवा ऐसी जातों के लोग जिनका पानी नहीं चलता था। अतएव, मुसलमान हो जाने पर भी, उनकी यह हिम्मत नहीं हुई कि हिन्दुओं से, स्पृश्यता के मामले में, वे बराबरी का दावा कर।

भारतीय इतिहास का मुस्लिम-काल, मुख्यतः, राजनीति-शून्यता का काल है। तत्कालीन समाज का जो चित्र हमारे पास तक पहुँचा है, उसकी विशेषता यह नहीं है कि इस देश में मुसलमान आये थे अथवा उन्होंने यहाँ के धर्म और जनता पर भीषण अत्याचार किया था; प्रत्युत् उस काल की विशेषता धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन हैं। इस काल के सन्तों और कवियों को यह जानने को तनिक भी उत्सुकता नहीं है क देश में राज्य किसका चल रहा ह। वे हरिभजन में मस्त हैं और जनता में भक्तिभावना का प्रचार कर रहे हैं। सदियों का संचित ज्ञान और धार्मिक अनुभूति जनता को देश-भाषाओं में उपलब्ध की जा रही है और जनता भी इसी धार्मिक आवेश में मग्न है। उसमें भक्ति के लिए तो उत्साह है, किन्तु, विदेशियों को भगाने की तनिक भी चिन्ता नहीं। तुलसीदास और राणा प्रताप कुछ समय के लिए समकालीन थे, किन्तु, तुलसीदास ने राणा प्रताप का नाम सुना था या नहीं इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस काल में, राजनीति अप्रमुख है। धर्म और संस्कृति प्रधान हैं। संत बड़ी ही आसानी से कह देते हैं :--

सन्त को सिकरी सों का काम ?
आवत जात पनहियाँ टूटी बिसरि गये हरिनाम।
अथवा
तुलसी अब का होंहिगे नर के मनसबदार ?

तुलसीदास के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने इस्लाम से हिन्दुत्व की रक्षा की। किन्तु, उनकी रचना में कहीं भी यह भाव नहीं दीखता कि वे मुसलमानों से क्षुब्ध थे। क्षोभ उनमें था तो उन निर्गुनियाँ साधुओं पर जिनके उपदेशों की मार से वर्णाश्रम-धर्म दुर्बल पड़ता जा रहा था।

मुसलमानों से त्रस्त, आतंकित, पीड़ित और प्रताड़ित होने पर भी, हिन्दुओं ने मुसलमानों के प्रति अपनी उदारता को कम नहीं किया। राणा कुंभा के प्रसिद्ध कीर्ति-स्तंभ में हिन्दुओं के सब देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हैं। किन्तु, उनके साथ अरबी अक्षरों में अल्लाह का नाम भी वहाँ लिखा है। "वह निराकार ब्रह्म का अरबी नाम है। इस प्रकार, इस्लाम के बुनियादी विचार को हिन्दुओं ने खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया था।" (जयचंद्र)। इसी प्रकार, उदयपुर में भी एक मस्जिद है जिसे राणा ने अपनी मुस्लिम प्रजा के निमित्त बनवाया था।

चौदहवीं शती तक आकर इस्लाम भारत में विदेशी धर्म नहीं रह गया था। इस देश के लोग उसे इसी देश का धर्म समझने और उसका आदर करने लगे थे। विसोबा (नामदेव के गुरु), रामानन्द, नानक और चैतन्य, ये केवल हिन्दुओं को ही अपना शिष्य नहीं बनाते थे, अपितु, बहुत-से मुसलमानों ने भी उनसे दीक्षा ली थी। इसी प्रकार, सूफी सन्तों

की पूजा और सम्मान का प्रचलन हिन्दुओं में भी था। वास्तव में, संतों का हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही जातियों में समान रूप से आदर होता था और इन्हीं के कारण, दोनों जातियाँ एक दूसरे के समीप होती जा रही थीं।

सभी मुसलमान संगठित रूप से हिन्दू-धर्म की जड़ खोदने वाले थे, यह शिक्षा भारतीय इतिहाससे किसी भी प्रकार, निकाली नहीं जा सकती है। लड़ाइयाँ हुईं, मन्दिर और मूर्त्तियाँ तोड़ी गई एवं हिन्दू मुसलमान भी बनाये गये, यह सही है। किन्तु, इसे हम दो संस्कृतियों की आरंभिक टकराहट का परिणाम कहेंगे। धीरे-धीरे, संघर्ष मिलन की माधुरी में बदल गया और दोनों धर्मों के लोग आपस में एक समान रहने लगे, यह चित्र संघर्ष के चित्र से कम स्पष्ट नहीं है। मुसलमानों की सभी लड़ाइयाँ हिन्दुओं के ही खिलाफ नहीं थीं, वे आपस में भी लड़ते थे जैसी लड़ाइयाँ हिन्दुओं ने भी परस्पर लड़ी थीं। और ऐसा भी हुआ कि लड़ाइयों में हिन्दुओं ने मुसलमानों का और मुसलमानों ने हिन्दुओं का साथ दिया। बाबर और राणा साँगा की लड़ाई में मेवात के हसन खाँ और सुलतान महमूद लोदी राणा साँगा के साथ थे। हेमू अफगानों का सेनापति था और हिन्दू-परम्परा के अनुसार, दरबार ने उसे विक्रमादित्य की पदवी दी थी। औरंगजेब-जैसा कट्टर हिन्दू-द्रोही भी अपनी फौज में हिन्दू सेनापति रखता था तथा शिवाजी की सेना में कुछ मुसलमान अफसर भी थे। अपने छह सौ वर्ष के राज्यकाल में, मुसलमान मुसलमानों के ही खिलाफ ज्यादा लड़े थे। सन् ११९३ ई. से लेकर सन् १५२६ ई. तक दिल्ली के राज्यसिंहासन पर जो पैंतीस सुलतान बैठे, उनमें से उन्नीस सुलतानों की हत्या हिन्दू नहीं, मुस्लिम दुश्मनों के हाथों हुई।

कटुता का अध्याय, प्रायः, पठानों के समय तक चला। मोगल-काल में अकबर ने जिस उदारता का परिचय दिया, असल में, उस उदारता के बीज बाबर के हृदय में ही मौजूद थे। बाबर ने हुमायूं के लिए एक वसीयतनामा लिखा था (इसकी प्रति भोपाल के राज्य-पुस्तकालय में है) जिसमें उसने हुमायूं को ये उपदेश दिये थे, "हिन्दुस्तान में अनेक धर्मों के लोग बसते हैं। भगवान को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हें इस देश का राजा बनाया है। तुम तअस्सुब (साम्प्रदायिकता) से काम न लेना, निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी धर्मों के लोगों की भावना का ख्याल रखना। गाय को हिन्दू पवित्र मानते हैं, अतएव, जह तक हो सके, गोवध नहीं करना और किसी भी संप्रदाय के पूजा के स्थानों को नष्ट नहीं करना।"

साहित्य और कला की सेवा में मोगलों ने साम्प्रदायिकता नहीं आने दी। अकबर ने मनोहर मिश्र, जयत राम, बीरबल , होलराय, टोडरमल, भगवान दास, मानसिंह, नरहरि और गंग को काफी सम्मान दिया। हिन्दू चित्रकारों में भी मुकुन्द, महेश, जगन, हरिवंश और राम का मोगलों के यहाँ बड़ा सम्मान था। रसखान, आलम, जमाल, रसलीन, कादिर, मुबारक और रहीम ने हिन्दी-साहित्य की, उन्मुक्त भाव से, सेवा की। दाराशिकोह हिन्दुत्व

और हिन्दी-साहित्य, दोनों का अगाध प्रेमी था। कहते हैं, उसकी अँगूठी पर नागरी अक्षरों में "प्रभु" शब्द अंकित रहता था। सुन्दरदास को शाहजहाँ ने महाकविराज की उपाधि दी थी। "भुवनदीपक" और "चंद छन्द बरनन की महिमा", ये दो गद्य-ग्रन्थ अकबर के ही काल में लिखे गये थे।

बँगाल में, पहले-पहल, महाभारत का बँगला अनुवाद नसीरशाह (१२८२-१३२५ई.) ने करवाया था। विद्यापति ने नसीरशाह की प्रशंसा लिखी है। हुसेन शाह ने भागवत का बँगला अनुवाद करने के काम पर मालाधर बसु को नियुक्त किया था। इनकी देखादेखी ही, हिन्दू राजे भी बँगला को प्रोत्साहन देने लगे।

अकबर के दरबारी पंडित फैजी ने योगवाशिष्ठ, लीलावती, नलदमयन्ती और सिंहासन-बत्तीसी का अनुवाद फारसी में किया था। अथर्ववेद का फारसी अनुवाद हाजी इब्राहीम ने किया एवं रामायण और महाभारत का कइयों ने मिलकर। मधु सरस्वती, नारायण मिश्र, दामोदर भट्ट, रामतीर्थ और आदित्य नाम के हिन्दू पंडित और सांस्कृतिक नेता अकबर के दरबार में आया करते थे। परंपरा में ये कथाएँ भी चलती हैं कि मोगल बादशाहों ने तुलसी, सूर और दादू दयाल से भी भेंट की थी।

जोधबाई के घर में तुलसी के वृक्ष बराबर रहे, होम और यज्ञ की वेदी सदैव चलती रही। इस रानी ने मोगल राजमहल में भी हिन्दू-धर्म की विधियों को नहीं छोड़ा। जोधबाई अकबर की प्रधान रानी थी एवं अकबर और जोधबाई के महलों के बीच के रास्ते पर हरम की और कोई रानी नहीं चल सकती थी।

हिन्दुओं के बहुत सारे रिवाज ऊँचे तबकों के मुसलमानों में आप से आप चल पड़े। आँख लगने से बचने के लिए न्योछावर उतारने की परिपाटी बादशाहों की भी हवेलियों में थी और शाहजादे भी यात्रा पर निकलने से पहले बाँहों में मंत्रसिद्ध यंत्र बँधवाते थे। मुहम्मद तुगलक लड़ाइयों पर जाने के पहले हिन्दू योगियों से आशीर्वाद माँगा करता था और हिन्दू-मठों की नकल पर शेख और मुस्लिम पीर भी गद्दी स्थापित करते थे।

कहते हैं, राजपूतों की देखादेखी, कुछ मुसलमानों ने भी जौहर की था अपना ली थी। भटनेर के गवर्नर कमाल उद्दीन ने तैमूर से लड़ने को जाने के पहले, अपने फौजियों की स्त्रियों को आग में कूद जाने का आदेश दे दिया था। सब कुछ भूल कर लड़ने में जो वीरता है, उसकी परम्परा, कुछ अन्य रूपों में मुसलमानों में, पहले से ही, मौजद थी। जौहर को अपनाने का भाव उनमें इसी कारण जगा।

जहाँगीर जब काश्मीर गया, तब उसने वहाँ कुछ ऐसे मुस्लिम राजे भी देखे जो सती-प्रथा को मानते थे एवं जिनका शादी-व्याह हिन्दू घरानों में होता था।

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में जो वृद्धि मोगल-काल में हुई, वह अब तक भी बाकी है।

आगरे के पास मलकाना राजपूत हैं, जिनके नाम हिन्दुओं-जैसे होते हैं, जो बंदगी में राम नाम कहते हैं और जो मियाँ ठाकुर कहलाना पसन्द करते हैं। इसी प्रकार, अजमेर के पास कुछ हुसेनी ब्राह्मणों के होने की बात क्षिति बाबू ने लिखी है। कच्छ के मेमों लोग त्रिदेव को पूजते हैं एवं मामशाह को ब्रह्म का अवतार मानते हैं। बिहार में भी अनेक ब्राह्मण हैं (मुरियारो, दरभंगा जिले में और वनगाँव, सहर्षा जिले में) जिनकी पदवी खाँ चली आती है, यद्यपि, वे सोलह आने ब्राह्मण हैं। लेखक ने यह भी सुना है कि उत्तर प्रदेश में कुछ ऐसे भी मुसलमान हैं जो राजपूत मुसलमान, तेली मुसलमान और ब्राह्मण मुसलमान कहलाते हैं।

इस्लाम का हिन्दुत्व पर प्रभाव

इस्लाम भारत में पहुँच तो सातवीं सदी में ही गया था और मोपला लोग उसी समय मुसलमान हो भी गये थे, किन्तु, इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच, निकट के संबंध बारहवीं सदी के बाद आरंभ हुए। इस प्रकार, इन दोनों धर्मों को एक भूमि पर और एक आकाश के नीचे रहते, प्रायः, आठ सौ वर्ष हो चुके हैं। किन्तु, आठ सदियों की संगति के बाद भी, हिन्दू हिन्दू और मुसलमान मुसलमान रह गये। दोनों के बीच, जो मिश्रण होना चाहिए था, वह नहीं हो सका। एकता का एक आन्दोलन अकबर ने चलाया था। किन्तु, उसे औरंगजेब ने काट दिया। दूसरा आन्दोलन महात्मा गाँधी ने चलाया। उसे जिन्ना ने काट दिया। इस्लाम प्रभावित होने से डरता है, क्योंकि संशोधित, प्रभावित अथवा सुधरा हुआ इस्लाम इस्लाम नहीं है। उधर हिन्दुत्व हमेशा इस बात का अभिमानी रहा है कि हिन्दू हिन्दुत्व के भीतर चाहे पतित ही समझा जाय, किन्तु, जन्मना वह संसार के अन्य सभी लोगों से श्रेष्ठ है। इस्लाम की यह कट्टरता कि हमारा वही रूप ठीक है जिसे नबी ने प्रवर्तित किया था और हिन्दुत्व का यह आग्रह कि धर्म के मामले में, हमें किसी से कुछ सीखना ही नहीं है, ये दोनों बातें दीवार बन कर इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच खड़ी रही हैं। इसलिए, यह मानने का कोई बड़ा आधार नहीं है कि हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच, कभी भी, कोई बड़ा समन्वय या मिश्रण का काम हुआ है। तब भी दोनों ने दोनों पर प्रभाव जरूर डाला। किन्तु, यह बाहरी प्रभाव है, सतह पर का परिवर्तन है जिससे मूल में कोई विकार नहीं आता। और यदि ऊपरी बातों को देखें तो इस्लाम ने जितना प्रभाव हिन्दुत्व पर डाला, उससे कहीं अधिक प्रभाव हिन्दुत्व का इस्लाम पर पड़ा है।

हिन्दू-संस्कृति पर इस्लाम का बहुत गंभीर प्रभाव पड़ा है, इस मत के प्रबल समर्थक डाक्टर ताराचन्द हैं जिन्होंने अपनी पुस्तक (इनफ्लुएन्स आव् इस्लाम आन इंडियन कल-चर) में यह दिखलाने का प्रयास किया है कि निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य और दक्षिण के आलवार सन्त तथा वीर शैव संप्रदाय ये, सबके सब, इस्लाम के प्रभाव के कारण आविर्भूत हुए।[1] और तो और, डाक्टर तारा चंद जी का यहाँ तक कहना है कि यदि

---

१. दबी जबान से, पहले-पहल, यह बात सर चार्ल्स इलियट ने (हिन्दुइज्म एण्ड बुधिज्म, प्रथम प्रकाशित सन् १९२१ ई.) कही थी कि रामानुज, मध्व, लिंगायत और वीर शैव पर कुछ इस्लामी प्रभाव हो सकता है। तब से, लोगों ने यह जाल बेतरह फैला रखा है। —लेखक

इस्लाम भारतवर्ष में नहीं आता तो शंकराचार्य का आविर्भाव होता या नहीं, यह संदिग्ध बात है।

शंकराचार्य और इस्लाम

शंकर ने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया है और इस्लाम, आरंभ से ही, एक ईश्वर में विश्वास करता था, इतनी-सी बात पर डाक्टर ताराचंद ने यह अनुमान निकाल लिया कि शंकर का उद्भव इस्लामी प्रभावोंके कारण हुआ, क्योंकि शंकर केरल में जनमे थे और केरल में तब तक मुसलमान आ चुके थे। अर्थात्, मुसलमान केरल में आये नहीं कि हिन्दुओं ने उनके पास एकेश्वरवाद को देखकर उनका अनुकरण करना आरंभ कर दिया। ये नितान्त भ्रमपूर्ण बातें हैं। इस मत के विरुद्ध सबसे पहले तो यह अकाट्य तर्क है कि शंकर का एके-श्वरवाद भारतीय अद्वैतवाद का विकसित रूप है और उसका इस्लामी एकेश्वरवाद से कोई भी मेल नहीं है। इस्लाम एक ईश्वर को जरूर मानता है, किन्तु, वह एकेश्वरवादी या अद्वैत-वादी नहीं, केवल ईश्वरवादी है। इस्लाम ईश्वरको एक मानता है, किन्तु,वह यह भी समझता है कि ईश्वर ने सृष्टि बनाई, वह सातवें आकाश पर बसता है और उसके हृदय में भक्तों के लिए प्रेम और दुष्टों के लिए घृणा का वास है। संसार असत्य है अथवा जो कुछ हम देखते हैं वह "कुछ नहीं में कुछ का भ्रम है", ये बातें इस्लाम में न पहले थीं, न अब हैं। इस्लाम में इनका आभास-मात्र सूफियों के ज़रिये आया था और वह भी नवीं-दसवीं सदी के बाद। यह भी स्मरण रखने की बात है कि स्वयं सूफियों को यह ज्ञान कुछ तो सीधे ब्राह्मणों से और कुछ नव-अफलातूनी मत से मिला था और नव-अफलातूनी मत के प्रवर्तक प्लौटिनस ने उसे ब्राह्मणों और बौद्धों से प्राप्त किया था। इसके विपरीत, शंकर का ब्रह्म शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, निराकार और निर्विकार है। उसे भक्तों की चिन्ता नहीं, न दुष्टों को दंड देने की फिक्र है। शंकर के अनुसार, सृष्टि ईश्वर ने नहीं बनायी। यह महतत्त्व का विस्तार है। शंकर ब्रह्म के सिवा, और किसी का अस्तित्व नहीं मानते। शांकर मत शुद्ध अद्वैत मत है। किन्तु, इस्लाम शुद्ध या विशिष्ट, किसी भी प्रकार के अद्वैतवाद में विश्वास नहीं करता। उसका विश्वास सिर्फ ईश्वरवाद में है और सृष्टि के स्वभाव के विषय में भी, कुरान शंकर के ठीक उलटा बोलता है। इस्लाम का ईश्वरवाद शंकर के अद्वैतवाद से बिलकुल भिन्न है। फिर भी, न जानें, किस कारण से डाक्टर साहब को यह भ्रम हो गया कि शांकर मत इस्लाम के तौहीद का अनुकरण है।

शंकर को इस्लाम का अनुकर्त्ता कह कर डाक्टर ताराचंद ने केवल भ्रम का ही प्रचार नहीं किया, प्रत्युत, उन्होंने भारतीय संस्कृति से भी अपना अपरिचय व्यक्त किया है। शंकर भारतीय चिन्ताधारा में आकस्मिक घटना की तरह नहीं आये। उनकी परंपरा की लकीर उपनिषदों से आगे ऋग्वेद के नासदीय सूक्त तक पहुँचती है। नासदीय सूक्त ने जीवन

और सृष्टि के विषय में जो मौलिक प्रश्न उठाये थे, उन्हीं प्रश्नों का समाधान खोजते-खोजते पहले उपनिषदें, फिर बौद्ध दर्शन और, सबके अन्त में, शंकर का सिद्धान्त प्रकट हुआ। शंकर के निकटतम पूर्वज बौद्ध दार्शनिक थे, जिन्होंने शून्यवाद की स्थापना की थी। जो बौद्धों का शून्यवाद था, वही शांकर मत का मायावाद हुआ। हाँ, बौद्धों से आगे बढ़कर शंकर ने एक तटस्थ ब्रह्म को स्थान अवश्य दिया, किन्तु, यह तटस्थ ब्रह्म भी नया नहीं था, प्रत्युत्, वह उपनिषदों के युग से आ रहा था। शून्यवाद को मायावाद के नाम से अपनाने के कारण ही, शंकर को लोग "प्रच्छन्न बौद्ध" कहते थे। शंकर ने ब्रह्म की कल्पना जिस रूपमें की थी, वह भक्तों के लिए निराशाजनक था, क्योंकि भक्तों की प्रार्थना सुनने को इस ब्रह्म के कान खुले हुए नहीं थे। इसीलिए, शांकर मत के विरुद्ध, शंकर के बाद ही, जोर की प्रतिक्रिया उठी और निम्बार्क, मध्व, रामानुज, वल्लभ, ये सभी महात्मा साकारवाद की ओर झुके क्योंकि शंकर के निराकार मत से तार्किक पंडितों को ही समाधान मिलता था, बाकी जनता के पल्ले वह नहीं आ रहा था।

यह भी ध्यान देने की बात है कि यदि शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध थे, तो उनके दादा गुरु गौड़पाद अथवा अद्वैताचार्य प्रत्यक्ष बौद्ध समझे जाते हैं। शंकर के गुरु कुमारिल[1] स्वामी थे और कुमारिल के गुरु गौड़पादाचार्य। गौड़पादाचार्य ने मांडूक्योपनिषद् पर जो कारिका लिखी है, उसके चतुर्थ प्रकरण के आरंभ में, उन्होंने बुद्ध की वन्दना इन शब्दों में की है :—

ज्ञानेनाऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्,
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धः तं वन्दे द्विपदां वरम्।[2]

(ज्ञेय धर्मों मे अभिन्न आकाश-कल्प ज्ञान से जिसने आकाश-सदृश पदार्थों को जान लिया, उस द्विपदश्रेष्ठ संबुद्ध को मैं प्रणाम करता हूँ।)

क्या इन प्रमाणों के रहते हुए, यह मानने का कोई आधार है कि शंकर का एकेश्वरवाद भारतीय परम्परा से भिन्न वस्तु थी और उसका आविर्भाव इसलिए हुआ कि शंकर ने मुसलमानों की संगति की थी ? यह मानी हुई बात है कि इस्लाम, आरंभ में, दर्शनमुक्त धर्म था। दार्शनिक बारीकियाँ उसमें सूफियों ने डालीं। जिन दिनों, शंकर जनमे (७८८ ई.) उन दिनों तक, इस्लाम शून्यवाद के ऊहापोह में पड़ा भी नहीं था। इसके विपरीत, शून्यवाद और मायावाद के विषय की विचिकित्सा भारतवर्ष में उपनिषदों के युग से होती आ रही

---

१. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा एवं धर्मानन्द कोसाम्बी, दोनों का मत है कि शंकर के गुरु गोविन्दाचार्य थे। संभव है, कुमारिल शंकर के मंत्र-गुरु और गोविन्दाचार्य विद्या-गुरु रहे हों।

२. गीता प्रेस से मांडूक्योपनिषद् की जो टीका प्रकाशित हुई है, उसमें संबुद्ध का अर्थ "पुरुष" कर दिया गया है, जो, कदाचित्, अनुचित बात है।

थी और उसका ज्ञान यूनान को भी प्राप्त हो चुका था। "सच बात तो यह है कि शंकर के विचारों पर दार्शनिक वसुबन्धु की पूरी छाप है। इसी कारण, वे प्रच्छन्न बौद्ध कहलाते हैं। और चूंकि उन्होंने अपने दर्शन में बौद्धमत की मुख्य बातें अपना लीं, इसलिए, बौद्ध-दर्शन अनावश्यक-सा हो गया।" (जयचंद्र)।[1]

भारतीय दर्शन-परिषद् के स्मारक-ग्रन्थ में लिखते हुए दर्शनाचार्य स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ दास ने बतलाया है कि "नागार्जुन शून्यवादी थे। उन्होंने माना है कि संसार में किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है, सब कुछ नहीं में कुछ का भ्रम है। न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न विनष्ट। लंकावतारसूत्र का दर्शन भी नागार्जुन का ही दर्शन है, यद्यपि, वह विज्ञान-वादी दर्शन है। यह दर्शन भी मानता है कि हम जो कुछ देख रहे हैं, वह अपनी मानस-तरंग के कारण। वस्तुतः, वाह्य जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जगत सत्य है ही नहीं। इसी विचार को मैत्रेय और असंग ने आगे बढ़ाया तथा वसुबन्धु (पंचम शताब्दी) ने उसका विस्तार किया। आगे चलकर, शंकर ने उपनिषदों का जो वेदान्ती भाष्य किया, उस की नींव वसुबन्धु के दर्शन में ही डाली जा चुकी थी।"

शंकराचार्य का सबसे बड़ा महत्व यह है कि उन्होंने हिन्दुत्व को पौराणिक धर्म से मोड़कर उपनिषदों की ओर उन्मुख कर दिया। जैसे गीताने बीसवीं सदी में आकर, लोकमान्य तिलक के हाथों नवीनता प्राप्त की, वैसे ही, शंकराचार्य के हाथों उपनिषदों की शिक्षा नवीन हो गयी। उन्होंने अपने सारे ग्रन्थ इस भाव से लिखे कि मनुष्य को ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त करने का मार्ग स्पष्ट दिखायी पड़े। उनका दूसरा महत्व यह भी है कि अद्वैत को प्रमुखता देते हुए भी, उन्होंने विष्णु, शिव, शक्ति और सूर्य पर स्तोत्र लिखे, जिससे हिन्दुत्व में समन्वय लाने का उनका आग्रह प्रकट होता है। वे आध्यात्मिक सुधारक संत थे एवं शक्ति-मन्दिरों में बलि देने की प्रथा का उन्होंने अनेक स्थानों पर अवरोध किया था। बौद्ध संघों के अनुकरण पर, उन्होंने संन्यासियों के संघ स्थापित किये तथा भारत की भौगोलिक एकता को प्रत्यक्ष करने के निमित्त, देश की चार दिशाओं में उन्होंने चार पीठ भी बसाये जो बदरिकाश्रम, द्वारका, जगन्नाथपुरी और शृंगेरी में अवस्थित हैं, तथा जहाँ जाने की धार्मिक अभिलाषा प्रत्येक हिन्दू के मन में रहती आयी है।

डाक्टर ताराचन्द की देखादेखी, प्रोफेसर हुमायूं कबीर ने भी अपनी पुस्तक[2] में इस संभावना पर बहुत अधिक जोर डाला है कि, हो न हो, शंकर ने इस्लाम से प्रभाव ग्रहण करके ही अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वे इस बात से बहुत चकित दीखते हैं कि ऐसा क्यों हुआ कि शंकर, निम्बार्क, रामानुज और वल्लभाचार्य, सबके सब दक्षिण

---

१. इस प्रसंग में, "क्रान्ति की गंगा में शैवाल" नामक प्रकरण भी देखिये।

२. आवर हेरिटेज

में ही उत्पन्न हुए और इस पर से वे यह अनुमान लगाते हैं कि सातवीं सदी में त्रावणकोर में जो मुसलमान व्यापारी आये थे, उन्हीं से शंकर ने इस्लाम का ज्ञान लिया होगा और इस ज्ञान का दक्षिण में ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि हिन्दुत्व की दिशा ही बदल गयी और हिन्दुत्व के सभी नेता दक्षिण में ही उत्पन्न होने लगे।

यह फिर भ्रांत धारणा है। यदि इस्लाम में ऐसी दर्शनोत्तेजकता थी तो सिन्ध में अथवा उसके आस-पास (जहाँ वह ७१२ ई. से ही मौजूद रहा है) उसने कोई शंकर उत्पन्न क्यों नहीं किया? अथवा उत्तर भारत में (जहाँ उसका प्रचार और प्रताप, दोनों, विराट थे) आ कर उसकी यह दर्शनोत्तेजकता कहाँ लुप्त हो गयी थी? यह समझना नितान्त भूल है कि भारत के मनीषी देश के किसी एक भाग में उत्पन्न होते थे। माध्यमिक अथवा शून्यवादी दर्शन के रचयिता आचार्य नागार्जुन (जो निश्चित रूप से शंकराचार्य के बौद्धिक पूर्वजों में से हैं) ईसा के जन्म के सौ वर्ष बाद, दक्षिणके विदर्भ (बरार) देश में जनमे थे तथा सौत्रान्तिक-वाद के "अभिधर्मकोश" के कर्त्ता आचार्य वसुबन्धु (जो शंकराचार्य के दूसरे बौद्धिक पूर्वज हैं) का जन्म, चौथी सदीमें, पेशावरमें हुआ था। शंकर स्वयं तो दक्षिणमें जन्मे थे, किन्तु, उनके "शारीरक-भाष्य" पर भामती-व्याख्या लिख कर देश भर में उसे प्रसिद्ध करने वाले उद्भट विद्वान्, पं. वाचस्पति मिश्र का जन्म मिथिला में हुआ था। सच तो यह है कि भारतवर्ष के सामने धर्म, और दर्शनकी जो विराट समस्याएँ उपस्थित थीं तथा बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिक जिन समस्याओं को लेकर परस्पर जूझ रहे थे, वे समस्याएँ संपूर्ण देश के तेजस्वी विद्वानों के समक्ष, चुनौती बनकर खड़ी थीं और उनपर सोचने वाले लोग देश के किसी भी भाग में जन्म ले सकते थे। यदि पहली सदी में विदर्भ में नागार्जुन का जन्म होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, तो आठवीं सदी में केरल में शंकराचार्य के जन्म लेने से भी किसी को चकित नहीं होना चाहिए। मुसलमानी आक्रमण के पहले भी उत्तर भारत की जनसंख्या में बाहरी मिलावट बहुत अधिक हो चुकी थी, जिससे खाँटी हिन्दुत्व, धीरे-धीरे, खिसक कर दक्षिण की ओर जा रहा था। शंकर के समय के आस-पास, भारत में जो धार्मिक उत्पीड़न हुए, उनकी संख्या भी उत्तर में कम, दक्षिण में बहुत अधिक रही। और इन उत्पीड़नों का लक्ष्य जैन एवं बौद्ध संघों को उजाड़ कर उनकी जगह पर ब्राह्मण-धर्म (शैव और वैष्णव मत) को उत्थान देना था। गुप्त राजाओं ने ब्राह्मण-धर्म के लिए जो उत्साह दिखलाया था, उनके बाद, वह उत्साह, मुख्यतः, दक्षिण के ही राजाओं में दिखाई पड़ता है। क्या इससे यह शंका निवृत्त नहीं होती कि ब्राह्मण-धर्म का शंकर के समान अद्भुत उन्नायक दक्षिण में ही क्यों उत्पन्न हुआ? आज दक्षिण भारत हिन्दू-धर्म की राजधानी अथवा उसका मुख्य देश है। किन्तु, हिन्दुत्व ने अपनी दक्षिण की यात्रा गुप्तों के बाद ही आरंभ की थी। हाँ, जब उत्तर में मुसल-मानों के धार्मिक अत्याचार भयानक हो उठे, तब इस यात्रा की गति कुछ अधिक तीव्र हो गई।

और जब शंकर का केरल में जन्म लेना अचरज का विषय नहीं रह जाता है, तब विष्णु स्वामी, रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभाचार्य का दक्षिण में जनमना बिलकुल स्वाभाविक बात हो जाती है। ये जन्मे ही इसलिए कि इनके पूर्व शंकराचार्य का जन्म हो चुका था। शंकर के शुद्धाद्वैत में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था, साकारोपासना के प्रेमियों के लिए कोई आकर्षण नहीं था। अतएव, शुद्धाद्वैत के विरुद्ध, द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत की स्थापना करने के निमित्त ही, इन पिछले आचार्यों का अवतार हुआ, जिन्होंने भक्ति की धारा को पुष्ट बना कर सारे भारत को सींच दिया। शंकर और पिछले आचार्यों के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया का संबंध है। इस संबंध की व्याख्या में, इस्लामी प्रभाव की अनिवार्यता कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती।

विष्णु स्वामी, निम्बार्क, मध्व, रामानुज और वल्लभाचार्य ने जिस साकारोपासना का प्रवर्तन किया, उस पर भी डाक्टर ताराचंद को इस्लामी प्रभाव दिखाई पड़ता है। वे कहते हैं कि विष्णु स्वामी, निम्बार्क और मध्व का चिन्तन नज्जाम, अशअरी और गज्जाली के चिन्तन के समान लगता है। वे यह भी कहते हैं कि इन आचार्यों ने जो मार्ग चलाया, उसमें जाति-प्रथा की कठोरता नहीं थी, धर्म के वाह्योपचार अप्रमुख थे तथा एकेश्वरवाद, आकुल भक्तिभावना, प्रपत्ति और गुरु-भक्ति पर उसमें बहुत ज़ोर था।

डाक्टर साहब ने वैष्णव-धर्म के ये लक्षण ठीक बताये हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये लक्षण पहले के ब्राह्मण-धर्म में प्रमुख नहीं थे। किन्तु, इन्हें प्रमुख बनाने वाले आन्दोलन भी भारत में पहले ही आरंभ हो चुके थे। जाति-प्रथा की भावना इसलिए शिथिल हुई कि बौद्ध श्रमण इसके विरुद्ध, पन्द्रह सौ वर्षों से आन्दोलन करते आये थे। यह काम इस्लाम की प्रतीक्षा में रुका हुआ नहीं था। धर्म के वाह्योपचार ढीले इसलिए हो गये कि इस्लाम के जन्म के पूर्व ही, इस देश में वेद-विरोधी लोगों का दल बहुत बड़ा हो गया था और जो बातें मुसलमानों के आगमन के बाद कबीर, दादू और नानक ने कहीं, उन उपदेशों का सिक्का बौद्ध सन्त (सिद्ध लोग) जनता के मन पर पहले ही (आठवीं—नवीं सदियों में) बिठा चुके थे। जिसने सिद्धों के पद पढ़े हैं, वह त्रिकाल में भी यह नहीं मान सकता कि नानक, कबीर और दादू के प्रादुर्भाव का एकमात्र कारण इस्लाम था। इस्लामी सूफियों का प्रभाव इन संतों पर अवश्य पड़ा, किन्तु, उनके वास्तविक पूर्वज मुस्लिम सूफी नहीं, प्रत्युत्, बौद्ध-सरणी के सिद्ध सन्त थे, जिन्होंने धर्म के वाह्याचार पर उतने ही भीषण प्रहार किये थे, जितने भीषण प्रहार आगे चल कर निर्गुनियाँ सन्तों ने किये। कबीर की बहुत-सी बातों में हम सिद्धों की उक्तियों की आवृत्ति पाते हैं।

असल में, जब सूफी आये, उसके पहले ही, भारतमें सूफियोंसे मिलते-जुलते लोगों के झुंड तैयार हो चुके थे और इन्हीं लोगों के अनुयायियों ने इस्लाम का बढ़ कर स्वागत किया।

कबीर, नानक आदि पर मुस्लिम प्रभाव बहुत पड़ा, यह ठीक है, किन्तु, उनकी परंपरा का आरंभ यहाँ सिद्ध-युग में ही हो चुका था। और मुसलमान नहीं आते तब भी निर्गुनियाँ संतों की कोई न कोई पीढ़ी अवश्य उत्पन्न होती, क्योंकि वेद-विरोधी आन्दोलनों के विस्तार के कारण, यह पीढ़ी इतिहास के गर्भ में आ चुकी थी।

भक्ति के विषय में भी, यह कहना ठीक नहीं है कि यह इस्लाम की देन है। कृष्ण और राम-पूजा के साथ, भक्ति का उदय भी भारतवर्ष में बहुत पहले ही हो चुका था। बल्कि, ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व, भक्ति के अंकुर इस देश में उगने लगे थे और छठी सदी के आलवार संतों की वाणी एवं गुप्तकालीन साहित्य में तो भक्ति रूप धर कर खड़ी हो चुकी थी। हाँ, यह संभव है कि भक्ति की सरिता में सूफियों के कारण कुछ और तरंगें उठने लगी हों।

गुरु-परंपरा

डाक्टर ताराचन्द यह भी मानते हैं कि गुरु-पूजा का आरंभ भारतवर्ष में सूफियों में प्रचलित रीति के अनुकरण पर हुआ। किन्तु, विश्लेषण करने पर यह बात भी प्रमाणित नहीं होती। कुरान में जो यह बात कही गई है कि "ईश्वर एक है और मुहम्मद उसके रसूल हैं" उससे मुहम्मद सभी मुस्लिमों के सामूहिक गुरु का पद ले लेते हैं। इसी आधार पर सूफियों के यहाँ गुरु को देवता मानने की परम्परा चली होगी। किन्तु, भारतवर्ष के लिए यह विचार नया नहीं था। विद्या-गुरु के प्रति विद्यार्थी के भाव कितने पवित्र और भक्ति-युक्त होने चाहिए, इसका आख्यान इस देश में बहुत प्राचीन काल से होता आया था। और धर्मगुरु की कल्पना की बात लीजिये तो यह कल्पना भी गीता में जन्म ले चुकी थी। गीता में भगवान् कृष्ण का वचन है,

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।

(गीता ८-१३)

अर्थात् ओम् का जाप और उसके अर्थ-रूप में भगवान् कृष्ण का ध्यान करता हुआ जो व्यक्ति शरीर छोड़ता है, वह परम गति को प्राप्त होता है। जैसे कुरान के मंत्र (लाइ-लाह-इल्लिलाह महम्मदुर्रसूलिल्लाह) में हजरत मुहम्मद ने मनुष्य और ईश्वर के बीच अपने लिए स्थान रखा है, वैसे ही, गीता में भी भगवान् कृष्ण ने यह संकेत दिया है कि जीव की ब्रह्म तक की यात्रा श्रीकृष्ण के माध्यम से ही हो सकती है। यह बहुत कुछ गुरु का ही पद है, जिसे इन दो धर्म-नेताओं ने अपने लिए रख लिया है। कुरान के मंत्र और गीता के इस श्लोक में जो समता है, उसे देखते हुए तो यही संभव लगता है कि कुरान पर गीता का कुछ न कुछ प्रभाव है। यह प्रभाव कैसे पड़ा होगा, इसके बारे में कई अनुमान लगाये जा सकते हैं। एक तो यह कि गीता की यह कल्पना पहले यूनान पहुँची होगी और वहाँ से

अरब देशों में। अथवा यह भी संभव है कि वह ब्राह्मण-बौद्ध पंडितों के द्वारा सीधे अरब पहुँची हो। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्तिम मंत्र में भी "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ", यह वाक्य आता है, जिससे यह स्पष्ट विदित होता है कि गुरु में देवत्व के आरोप की भावना उस समय आरम्भ हो चुकी थी।

भारतीय गुरु-परम्परा का विकास भारत में ही हुआ, ऐसा मानने का एक और कारण है। गुरु की महिमा का बखान सिद्धों ने किया है और सिद्धों के समय में, बिहार अथवा उत्तरी भारतवर्ष में इस्लाम नहीं पहुँचा था, यह निश्चित बात है। सिद्धों में सबसे प्राचीन कवि सरहपा हैं जिन का समय राहुल जी ने सन् ७६० ई. के पास माना है। गुरु के विषय में सरहपा कहते हैं :—

गुरु-उपदेशे अमृत-रस, धाइन पीयेउँ जेहि।
बहु शास्त्रार्थ मरुस्थलहिं तृषितं मरउ तेहि।
चित्त-अचित्तहिं परिहरहु, तिमि होवहु जिमि बाल।
गुरु वचने दृढ़ भक्ति करु, ज्यों होइ सहज उलास।
(राहुलजी-कृत अनुवाद)

ऐसे उद्धरण "हिन्दी काव्य धारा" में से कुछ और भी दिये जा सकते हैं। जिन दिनों, भारत के सिद्ध गुरु-महिमा का इस प्रकार बखान कर रहे थे, उन दिनों, सूफीमत का जन्म भी नहीं हुआ था। किन्तु, भारत के पंडितों और संतों का उस समय ईरान वालों से अच्छा परिचय था। अतएव, यह मानने का बहुत बड़ा आधार निकल आता है कि इन सिद्धों की देखादेखी, सूफियों ने भी गुरु-महिमा को अपना लिया, अन्यथा इस्लाम ऐसी मान्यता का पूरा विरोधी था। जिसे रहस्यवाद कहते हैं, उसका भी अद्भुत विकास सिद्धों के समय में हो चुका था और ऐसा लगता है कि जब अरब और ईरान में तसव्वुफ को जन्म देने की तैयारी चल रही थी, तब केवल उपनिषदों और बौद्धदर्शनों ने ही उसे प्रभावित नहीं किया, प्रत्युत, उस पर इन सिद्ध संतों के रहस्यवादी विचारों का भी प्रभाव पड़ा। अतएव, मुसलमानों के साथ जो सूफीमत भारत पहुँचा वह सोलह आने विदेशी तत्व नहीं था, प्रत्युत्, उसके भीतर भारतीय विचारों और साधनाओं का बहुत बड़ा अंश विद्यमान था। श्री राहुलजी ने भी माना है कि गुरुपरम्परा का वास्तविक आरंभ सिद्धों ने किया। हाँ, कबीर आदि निर्गुनियाँ संतों ने उस परम्परा को पुष्ट अवश्य किया है।[1]

आलवार संत

इसी प्रकार, आलवार संतों के बारे में भी, डाक्टर ताराचन्द का विचार है कि उन पर मुसलमानी प्रभाव है और इसी प्रभाव के कारण, वे हिन्दुत्व के व्रत, उपवास,

१. इस संबन्ध में यह खोज भी की जानी चाहिए कि "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः" वाला मंत्र कितना प्राचीन है।

तीर्थयात्रा और (कभी-कभी) मूर्त्तिपूजा, आदि प्रचलित आचारों की निन्दा करते हैं। प्रमुख आलवारों का समय सातवीं से नवीं शताब्दी तक है, यद्यपि उनकी परम्परा तीसरी सदी तक जाती है। अतएव, यदि उन पर मुसलमानी प्रभाव मानना है, तो यह मानना पड़ेगा कि यह प्रभाव मालाबार से आया होगा। किन्तु, एक तो मालाबार में उस समय तक इस्लाम का इतना प्राधान्य ही नहीं हुआ था कि उसके प्रभाव से नये धार्मिक आन्दोलन उठते; दूसरे, आलवार सन्तों को भी हम आकस्मिक नहीं मान सकते। भारत में उनकी परम्परा उस समय शुरू हुई थी, जब अरब में इस्लाम का जन्म भी नहीं हुआ था। भक्ति का निश्चित प्रमाण महाभारत और गीता में प्रत्यक्ष हुआ। उसके बाद, वह भागवत में निरूपित हुई और रामानुज आदि के साथ जोरों से फैली। गीता और रामानुज के बीच के काल में, भक्ति को अनुपस्थित देखकर ही लोगों को शंका होती है कि भक्ति-आन्दोलन हिन्दुत्व के लिए नया आन्दोलन था। किन्तु, वह नया नहीं था। गीता और रामानुज के बीच की कड़ी ये आलवार सन्त थे।

एक दृष्टि से देखिये तो शंकर की अद्वैत-सिद्धि बाद की वस्तु है। उसके बहुत पूर्व ही, दक्षिण में भक्तिकी सुगबुगाहट शुरू हो गई थी। और आरम्भसे ही, यह भक्ति-आन्दोलन शैव और वैष्णव, दोनों ही धाराओं में बह रहा था। शंकर में भारत की बौद्धिकता का उत्कर्ष है। आलवार सन्त भारतीय जनता के हृदय की शक्तियों को लेकर चल रहे थे। शंकर भारत के पंडितों की धारा में आये थे। आलवार देश की जनता की आकुल भावनाओं के प्रतिनिधि थे। समाज के सर्वोच्च धरातल पर जो चिन्तन चल रहा था, शंकर में हम उसकी पराकाष्ठा देखते हैं। किन्तु, देश की जनता के हृदय में परमात्मा-विषयक जो भावना उमड़ रही थी, उसके उद्गाता आलवार संत हुए। ये संत प्रेम के दीवाने थे। शिव या विष्णु के प्रति ये प्रेम की भावना से दौड़ रहे थे। इनके गान रहस्यवादी गान हैं, उनके भीतर अदृश्य सत्ता पर रीझने वाले मनुष्य की आकुलता भरी हुई है। कबीर और मीरा के रहस्यवादी पद, फिर भी, मुसलमान सूफियों के भावों से प्रभावित हैं, किन्तु, आलवारों के पदों में हम खाँटी भारतीय रहस्यवादिता की झाँकी पाते हैं। उत्तर में फैले हुए वेद-विरोधी आन्दोलनों के कारण, हिन्दुत्व का शुद्ध रूप खिसक कर दक्षिण चला गया था। यही कारण है कि जिन दिनों, उत्तर भारत के बौद्ध सिद्ध धर्म के वाह्योपचारों की खिल्ली उड़ा रहे थे, उन्हीं दिनों, दक्षिण के आलवार संत शिव और विष्णु के प्रेम में पागल हो रहे थे। धर्म के वाह्योपचार छूंछे हैं एवं जाति का भेद निस्सार है, यह अनुभूति बौद्ध सिद्धों के समान आलवारों में भी थी, किन्तु, इसके कारण भिन्न थे! बौद्ध सिद्ध धर्म के वाह्याचारों का खंडन इसलिये कर रहे थे कि बुद्ध से उन्हें इस खंडन की परम्परा प्राप्त हुई थी। किन्तु, आलवारों ने इन आचारों को गौण इसलिए माना कि वे भगवान के प्रेम में मस्त थे और भगवान की शरण में आये हुए भक्तों के बीच उन्हें कोई भेद-

भाव दिखाई नहीं देता था। आगे चलकर, बौद्ध सिद्धों की यह खंडनात्मक परम्परा कबीर, दादू, नानक आदि संतों को मिली, किन्तु, रामानन्दी और वल्लभाचार्यी साधुओं को यही परम्परा आलवारों के यहाँ से प्राप्त हुई। एक परम्परा में सुधार की भावना थी, ब्राह्मणत्व के विरुद्ध आक्रोश और निन्दा के भाव थे; किन्तु, दूसरी परम्परा में वही लक्ष्य प्रेम के द्वारा प्राप्त किया गया था। सामाजिक समता की सिद्धि के लिए, कबीर को डाँट-फटकार का सहारा लेना पड़ा। किन्तु, रामानुज, रामानन्द और वल्लभाचार्य तथा चैतन्य ने उसी समता का उपदेश प्रेम से गद्‌गद् हो कर दिया है।

आलवारों में विभिन्न श्रेणियों के लोग थे। उनमें एक स्त्री भी (ओन्दाल) थी, एक राजा भी आलवार संत हुए और कुछ आलवार ऐसे भी थे, जो भिक्षु थे, अथवा अस्पृश्य जाति के या ब्राह्मण-वंश के। भगवत्प्राप्ति का मार्ग सब के लिए उन्मुक्त है, भगवान को पाने के लिए उच्च वंश का होना आवश्यक नहीं है, यह भाव प्रधान रूप से, पहले आलवारों में ही प्रकट हुआ। आलवारों के रहस्यात्मक पदों से ही रामानुज को भक्ति का दर्शन प्रस्तुत करने की प्रेरणा मिली। इसीलिए, वैष्णव-भक्ति के दर्शन में हम एक प्रकार की सामाजिक एकता का समर्थन पाते हैं।

आर्य-धर्म में चिन्तन की प्रधानता थी, किन्तु, द्रविड़-धर्म में भावना का तेज था। दोनों के मिलन से ही, भक्ति का दर्शन इस देश में विकसित हुआ है। जनधर्म होने के कारण ही, द्रविड़-धर्म में भक्ति को प्रमुखता प्राप्त हुई। द्रविड़-धर्म की यही प्रवृत्ति हमें आलवारों के पदों में उत्कर्ष पर मिलती है। भागवत में जो यह कहा गया है कि भक्ति का जन्म द्रविड़-देश में हुआ वह इतिहास-संगत उक्ति है। और चूँकि, भक्ति का पालन-पोषण दक्षिण में हुआ, इसलिए, उसके सभी प्रमुख संत भी दक्षिण से ही आये। यह सीधी-सी बात है। फिर भी, जो इस बात को नहीं मानते, उन्हें भक्ति को भारत-वाह्य आन्दोलनों से मिलाने की क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है।

सच तो यह है कि इस्लाम का यत्किंचित् प्रभाव तेरहवीं सदी के बाद से पड़ने लगा। उसके पूर्व, भारत में जो भी आन्दोलन उठे, उन पर इस्लामी प्रभाव मानने का कोई ठोस आधार नहीं है। दूसरी ओर, ये सभी आन्दोलन प्राचीन भारतीय परम्परा की पृष्ठभूमि पर, आदि से अन्त तक, भली भाँति समझे जा सकते हैं।

वीर शैव और इस्लाम

वीर शैवों की प्रधानता बेलगाँव, बीजापुर, धारवार जिलों तथा मैसूर और कोल्हापुर राज्यों में है। इस भूखंड में इनकी संख्या कोई तीस लाख होगी। वीर शैव लिंगायत धर्म को मानते हैं, और इनका कहना है कि यह धर्म शैव धर्मों में सबसे प्राचीन है। इस धर्म के मानने वाले लोग **पर-शिव** को ईश्वर मानते हैं और **अल्लम् प्रभु** को उनका अवतार।

इस धर्म के नेता **वासव** थ जो कालाचुरी-वंश के राजा बिज्जल (११५६—६७) के मंत्री थे। वीर शैव सम्प्रदाय में यज्ञ, उपवास, तीर्थयात्रा, किसी का भी महत्व नहीं है। ये लोग जाति को नहीं मानते। इनके यहाँ अन्त्यज भी दीक्षित होकर ब्राह्मण के समान हो जाता है। इस मत के अनुयायियों में बाल-विवाह मना है, तलाक जायज और विधवा-विवाह भी जायज है। डाक्टर ताराचन्द का कहना है कि ये अपने शवों को मिट्टी में गाड़ते हैं और श्राद्ध नहीं करते। पुनर्जन्म में इनका विश्वास नहीं है। सभी लिंगधारी साथ खाते हैं और वे बड़े ही भक्त, संन्यासी तथा युद्धप्रिय होते हैं।

डा. ताराचन्द का कहना है कि यह संप्रदाय अवश्यमेव उस समय उत्पन्न हुआ होगा जब मुसलमान व्यापारी के रूप में भारत आने तथा काम्बे से लेकर किलोन तक बसने लगे थे। इस संबंध में, आवश्यक छानबीन करते हुए हमने बिहार के राज्यपाल श्री रंगनाथ दिवाकर जी से कुछ पूछताछ की थी। उनसे मुझे मालूम हुआ कि वीर शैव-साहित्य की परम्परा कन्नड़-भाषा में ग्यारहवीं सदी तक पहुँचती है। इसके सिवा, इस मत का काफी साहित्य तमिल और तेलुगू भाषाओं में भी उपलब्ध है। इस साहित्य में सभी उद्धरण वेदों अथवा आगमों से आते हैं एवं हिन्दू-धर्म के अलावे, उसमें किसी धर्म का उल्लेख नहीं है। अरबी का तो इस साहित्य में एक निशान भी नहीं मिलेगा। सच तो यह है कि जब दक्षिण में पहले शैव धर्म और बाद को वीर शैव धर्म फैला, उस समय तक वहाँ इस्लाम का प्रचार ही नहीं हुआ था।

अल्लम् प्रभु इस सम्प्रदाय के बहुत बड़े संत हुए हैं जो वीर शैव मत के प्रवर्त्तक **वासव** के समकालीन थे। अल्लम् प्रभु के बहुत-से वचन कन्नड़ में मिलते हैं, जिन में ऊँचे से ऊँचे दार्शनिक और आध्यात्मिक भाव हैं। अल्ला और अल्लम् के बीच अक्षरों की समानता भले ही हो, किन्तु, ऐसा एक भी प्रमाण नहीं है, जिससे यह दिखलाया जा सके कि वीर शैव पर इस्लाम का थोड़ा भी प्रभाव है।

वीर शैवों का विश्वास है कि जो व्यक्ति इस मार्ग में दीक्षित हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। पुनर्जन्म सिर्फ उन्हीं का होता है जो "भावी" हैं, अर्थात् जो भाव या संसार में फँसे हुए हैं। इस मत के लोग शक्ति-विशिष्ट-अद्वैत में विश्वास करते हैं। इस्लाम विशिष्ट अथवा अविशिष्ट, किसी भी प्रकार के, अद्वैत में विश्वास नहीं करता है। वह केवल ईश्वर में विश्वास करता है। वीर शैवों का अन्तिम लक्ष्य समरसैक्य की प्राप्ति है, अर्थात् वे **पर-शिव** के साथ आनन्दमय मिलन के अभिलाषी होते हैं। वीर शैव मूर्त्ति-पूजा भी करते हैं। सच तो यह है कि इस मत के लोग एक लघु लिंग को बराबर साथ लिये चलते हैं, जो उनके लिए यज्ञोपवीत के समान आवश्यक और पवित्र होता है। ये लोग मंदिरों में भी पूजा करते हैं।

वीर शैव सम्प्रदाय का ऊपर जो परिचय दिया गया है, उसमें इस्लाम का प्रभाव कहाँ पर है, यह डा. ताराचन्द ही जानें। उनका भ्रम, कदाचित्, अल्लम् नाम और शव गाड़ने की प्रथा पर आधारित है। सो, किटेल (KITTEL) के कन्नड़-कोष[1] के अनुसार, अल्लम् का अर्थ लिंगायत भक्त है, अल्ला का अनुचर नहीं। और मुर्दा गाड़ने की प्रथा का कारण यह है कि वीर शैव सम्प्रदाय शैवों का उग्रतम सम्प्रदाय है। (वीर का अर्थ ही यहाँ कठिन अथवा उग्र समझा जाना चाहिए)। शैवों का सबसे अग्रणी संप्रदाय संन्यासियों का सम्प्रदाय है। संन्यासी के लिए, जात-पाँत, रस्म-रिवाज, कोई महत्व नहीं रखता। और संन्यासियों की शवों को गाड़ने की प्रथा भी हजारों वर्ष प्राचीन है। वीर शैवों ने इसी संन्यासी-सम्प्रदाय के कर्त्तव्य को अपना कर्त्तव्य माना और उनके समान कठिन आचरण करने के कारण ही, वे वीर कहलाये। यज्ञ, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, अस्पृश्यास्पृश्य-विचार, शास्त्र-सम्मत बाल-विवाह और तलाक की निन्दनीयता, आदि को नहीं मानना वीर शैवों की उग्र प्रवृत्ति के कारण है। और जैसे, संन्यासियों के शव गाड़े जाते हैं तथा उनका श्राद्ध नहीं किया जाता, वैसे ही, गृहस्थ वीर शैव भी श्राद्ध अथवा चिता को नहीं मानते, क्योंकि ये सामान्य गृहस्थों के लक्षण हैं। संन्यास शैव धर्म की आत्यन्तिक साधना का सोपान है। इसलिए, उसके कितने ही आचरण अत्यन्त प्राचीन काल से गृहस्थों के आचरण से भिन्न रहे हैं। वीर शैवों ने उग्र साधना के लिए संन्यास को गार्हस्थ्य में पचा लिया। हिन्दुओं की और भी कई जातियाँ हैं जो शवों को नहीं जलातीं, किन्तु, इसके कारण, हम उन्हें इस्लाम से प्रभावित नहीं समझते।

वीर शैव मदिरा नहीं पीते, न आमिष ही खाते हैं। उनके कर्म और आचरण अत्यन्त शुद्ध एवं पूर्णरूप से भारतीय हैं। यही नहीं, उनके सारे साहित्य में कहीं एक शब्द भी नहीं है जो अरबी या फारसी भाषा का हो अथवा जो सूफियों के यहाँ से आया हुआ हो। वीर शैव सामान्य शैव-धर्म का ही अति-विकास है। हिन्दू समाज की प्रचलित रूढ़ियाँ वीर-शैव में कम हैं, किन्तु, इसका कारण यह नहीं है कि वीर-शैवों ने इस्लाम का अनुकरण किया, प्रत्युत, यह कि वे वीर होने के कारण, उन सभी आचरणों का पालन करना चाहते थे जिनका पालन संन्यासी करता है। और यह तो मानी हुई बात है कि संन्यास लेने वाला हिन्दू न तो जात-पाँत को मानता है, न छुआछूत को।

भारतीय दर्शन और विचारधारा पर इस्लाम का कोई भी गंभीर प्रभाव पड़ा हो, इसका सुनिश्चित प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु, दर्शन के नीचे वाले स्तर पर जो प्रभाव पड़ा, उसका तखमीना हम लगा सकते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में इस्लाम का सबसे बड़ा प्रभाव एकता

---

१. कन्नड़-इंगलिश-डिक्शनरी : लेखक-रेंवरेंड एफ. किटेल (१८९४ ई० में प्रकाशित)।

की दिशा में पड़ा। हर्षवर्धन के बाद से, इस देश में सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता का लोप हो गया था। मुसलमानी राज्य की स्थापना से देश में केन्द्रीय सत्ता फिर से मजबूत होने लगी। और इस प्रकार, इस्लाम के आने से देश की राजनीतिक एकता में वृद्धि हुई। किन्तु, मुसलमानों ने जैसी एकता उत्तर भारत में स्थापित की, वैसी एकता का विधान वे दक्षिण भारत में नहीं कर सके। उत्तर में भी, असम पूर्ण रूप से मुसलमानी शासन के अधीन कभी नहीं आया। यह भी ध्यान देने की बात है कि औरंगजेब पर जब दक्षिण को अपने बस में लाने की धुन सवार हुई, तब मोगल-साम्राज्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। यों भी, देश के विभिन्न भागों में शासन चलाने का काम बहुत-से हिन्दू मनसबदार भी करते थे जिन पर केन्द्र का नियंत्रण सदैव एक-सा कड़ा नहीं रहता था। दक्षिण भारत के अनेक राज्य मुस्लिम काल में हिन्दू-राजाओं के अधीन रहे। मदुरा १७३६ ई. तक, मैसूर १७६१ ई. तक और तंजोर १७९९ ई. तक हिन्दू-राजाओं के अधीन था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि तुंगभद्रा नदी से दक्षिण का भाग खाँटी हिन्दुत्व का प्रधान आश्रय हो गया। किन्तु, यह सब होते हुए भी, मोगलों के समय में, भारत को जो राजनीतिक एकता प्राप्त हुई, वह पहले प्राप्त नहीं हुई थी।

राजनीतिक एकता में वृद्धि के बाद, इस्लाम का दूसरा शुभ परिणाम यह हुआ कि सूफी साधुओं और भारतीय साधकों के मिलन से, देश में धर्म की नई जागर्ति उत्पन्न हुई जिसके व्याख्याता कबीर, दादू और नानक-जैसे संत हुए। एक तरह से देखिए तो यह धारा बौद्ध काल से आती हुई फक्कड़मिजाज सिद्ध साधुओं की परंपरा का ही विकास थी। किन्तु, सूफियों की संगति से इस धारा को यथेष्ट बल मिला। भारत में आकर सूफी मत भी प्रभावित हुआ। सूफियों ने इसी देश में आकर योग की साधना की। यहीं आसन, षटचक्र और कमल-वेध पर फारसी में किताबें लिखी गईं जिनका प्रभाव अरब और ईरान तक भी पहुँचा। भारतीय योगियों की देखादेखी, सूफियों में यह कल्पना भी चल पड़ी कि हृदयस्थ कमल के दल पर मुहम्मद साहब का वास है।

इस्लाम के अनुकूल प्रभावों में हम मुक्त चिन्तन के प्रसार को भी गिन सकते हैं। विचारों की स्वतन्त्रता इस्लाम की विशेषता नहीं थी। कुरान के कड़े फरमानों से सूफी भी डरते थे और वे बहुत चाहते थे कि उनकी वाणी और आचार से इस्लाम का अनादर ध्वनित नहीं हो।[1] किन्तु, तब भी स्वाधीन चिन्तन का उन्हें जो चस्का लग गया था, उसके

---

१. मौलाना रूमी की मसनवी के चौथे भाग में सुप्रसिद्ध सूफी संत बयाज़िद (मंसूर के समकालीन, १० वीं सदी का आरंभ-काल) के विषय में यह कथा है कि एक दिन मस्ती में आकर बयाजिद बोल उठे, "अहा! मैं स्वयं सर्वशक्तिमान् परमात्मा का स्वरूप हूँ। मुझे छोड़ कर और कहीं ईश्वर नहीं है। लो, मेरी पूजा करो।" शिष्य इस घोषणा से बहुत

कारण, उन्हें मुल्लाओं के सामने लांछित होना पड़ता था और, कभी-कभी, उनकी जान भी चली जाती थी। इधर, वेद-विरोधी साधुओं की जो जमात भारत में, बौद्ध काल से चली आ रही थी, स्वाधीन चिन्तन पर उसका भी उत्कट प्रेम था। ये दोनों दल जब एकत्र हुए तब मुक्त चिन्तन का भारत में प्रवाह ही खुल पड़ा और वर्णाश्रम-धर्म के प्रहरियों की उपेक्षा करके ये लोग जनता को समानता का संदेश कुछ और उत्साह से देने लगे। इस्लाम के आगमन से, एक तो हिन्दू-समाज के निचले धरातल की जनता में निर्भीकता आ गई। दूसरे, मन्दिरों में देवताओं को बुरी तरह खंडित होते देख कर मूर्त्ति पूजा पर से जनता का विश्वास उठने लगा। यह वर्णाश्रम-धर्म पर दोहरी मार थी। ब्राह्मण इस विपत्ति को भली भाँति समझ रहे थे। इसी का परिणाम था कि मुस्लिम-काल में सायण, मध्व, उवात, दुर्गा और आनन्दतीर्थ-जैसे पंडितों ने आगे बढ़कर वेदों की नई व्याख्या आरंभ कर दी और वे यह प्रयत्न करने लगे कि किसी प्रकार धर्म और धर्म-पुस्तक पर से जनता की आस्था नहीं हटे। इसी प्रकार, धर्म-शास्त्रों की भी नई व्याख्याएँ करके उन्हें नव जीवन देने का कार्य आरंभ हुआ तथा मुस्लिम-काल में मेधातिथि, कुल्लुक भट्ट, विज्ञानेश्वर, रघुनन्दन और विद्यापति जैसे निबन्धकार स्मृतियों का उद्धार करने लगे।

किन्तु, वर्णाश्रम-धर्म के प्रयत्नों का यह विवरण मुस्लिम-काल के हिन्दुत्व का सच्चा विवरण नहीं है। इस काल का मुख्य आन्दोलन तो वह है जिसके नेता नामदेव और कबीर, तुकाराम और दादू तथा नानक और चैतन्य हैं। इस्लाम के बहुत सारे विचार हिन्दुओं के यहाँ कबीर के मुख से पहुँचे। रामानन्द कबीर के भी गुरु थे और गुरु परंपरा में उनका संबंध तुलसीदास से भी था। इससे जान पड़ता है कि उनकी दो भाव धाराएँ थीं—एक वह जो वर्णाश्रम-धर्म के विरोधियों को प्रोत्साहन देती थी और दूसरी वह, जिसका आशीर्वाद तुलसी जैसे वर्णाश्रमी कवि के साथ था। निष्कर्ष यह कि युग ने जो उदारता घोषित कर दी थी, वह सभी संतों के यहाँ आदर पा गई।

चकराये। निदान, जब बयाजिद होश में आये, तब शिष्यों ने उनसे यह बात कही। बयाजिद सुन कर विस्मित रह गये। उनके मुख से केवल यह निकला कि "अगर मैं फिर ऐसा करूँ तो तुम बेधड़क मेरी गरदन को तलवार से उड़ा दो।" बयाजिद ने मस्ती में आकर एक दिन फिर वैसा ही किया और उनकी आज्ञा के अनुसार, एक शिष्य ने उन पर तलवार चला दी। किन्तु, वे मरे नहीं। तलवार की धार उलट कर शिष्य की गरदन पर जा गिरी और वह मर गया। (दे० द पर्शियन मिस्टिक्स)

भक्ति-आन्दोलन और इस्लाम

भारत में भक्ति का समारंभ कब हुआ तथा इसके बीज कहाँ-कहाँ विकीर्ण थे, इसके संबंध में विद्वानों में अभी काफी मतभेद है। एक तो वेद में भक्ति को अनुपस्थित देख कर तथा दूसरे, मोहेंजोदरो की खुदाई से मिलने वाले निशानों में भक्ति का यत्किंचित् प्रमाण पाकर, विद्वान यह अनुमान लगाने लगे हैं कि भक्ति आर्येतर तत्व है, जो आर्य और आर्येतर जातियों के मिलन के बाद, भारत की सामासिक संस्कृति में समाविष्ट हो गया। मतों की इस अस्थिरता से प्रोत्साहित होकर, कुछ विद्वानों ने अब यह भी कहना आरंभ कर दिया है कि भक्ति का वास्तविक विकास भारतवर्ष में मुसलमानों के बाद हुआ। अस्तु, विचारपूर्वक देखना चाहिए कि इस विषय में तथ्य क्या है।

वेद में भक्ति का प्रमाण तो नहीं है, किन्तु, वैदिक जनता का यज्ञ और कर्मकाण्ड में श्रद्धाभाव अवश्य रहा होगा। फिर, वेद में इन्द्रादि देवताओं की जो प्रशस्तियाँ हैं, वे भक्ति के उद्गारों से कुछ न कुछ अवश्य मेल खाती हैं। किन्तु, इस प्रसंग को यहीं छोड़ दें, तब भी भक्ति का प्रथम सुस्पष्ट प्रमाण हमें गीता में मिलता है। गीता में भगवान कृष्ण ने भक्ति का जो उपदेश दिया, उसी से एकांतिक धर्म की परंपरा चली और यही परंपरा "क्रमशः सात्वत, भागवत तथा पांचरात्र धर्म कहलायी और, अंत में, वैदिक देवता विष्णु-नारायण को अपने उपास्यदेव कृष्ण की जगह देकर नवीन वैष्णव धर्म में परिणत हो गई।"[1] यदि भक्ति आर्येतर तत्व थी तो, निश्चय ही, वह तत्व वैदिक काल से लेकर गीता-रचना के समय तक, सामासिक आर्य-संस्कृति में समा गया होगा, जिसके प्रमाण हमें अब उपलब्ध नहीं हैं। गीता के समय से, भक्ति की परंपरा उत्तरी भारत में भी रही है और दक्षिणी भारत में भी। मौर्योत्तर काल के आरंभ में ही, भागवत-धर्म बहुत ही समुन्नत हो चुका था और उसके साथ ही, भक्ति का भी रूप खुल कर प्रकट हो चुका था। किन्तु, ऐसा लगता है कि गुप्त-साम्राज्य के टूटने के साथ ही, हिन्दुत्व धीरे-धीरे दक्षिण भारत की ओर गमन करने लगा, जिसका मुख्य कारण यह था कि उत्तरी भारत की जनता में अनेक प्रकार के विदेशी तत्त्वों के आ मिलने से शुद्ध हिन्दुत्व के लिए वहाँ का वातावरण अत्यन्त अनुकूल नहीं रह गया था। कृष्ण-प्रवर्तित एकांतिक धर्म से भक्ति का चलन हुआ अथवा दक्षिणापथ में प्रचलित भक्ति-भाव से एकांतिक धर्म को प्रेरणा मिली, इस द्वन्द्व का कोई समाधान नहीं मिलने पर भी, यह तथ्य है कि भक्ति का विकास दक्षिण भारत में हुआ, नहीं तो भागवत और पद्मपुराण में वह श्लोक हमें नहीं मिलता जिसमें भक्ति कहती है कि "मैं द्रविड़ देश में जन्मी, कर्णाटक में

---

१. मध्यकालीन प्रेमसाधना—प. रा. चतुर्वेदी

मैंने विकास पाया, महाराष्ट्र में कुछ दिन ठहरी और गुजरात जाकर बूढ़ी हो गई।"[१] ये पुराण आठवीं-नवमी शती में बने थे। अतएव, मानना चाहिए कि उस समय दक्षिण में भक्ति का खूब बोलबाला रहा होगा। अन्यथा, दक्षिण को भक्ति की जन्मभूमि मानने की बात पुराणकारों को नहीं सूझती।

सच्ची बात, कदाचित्, यह है कि अपने मूल-रूप में भक्ति आर्येतर प्रवृत्ति थी और वह आर्यों एवं द्राविड़ों के भारत-आगमन के पहले से ही, भारतीय जनता में विद्यमान थी। चूँकि द्राविड़ भारत में आर्यों से पहले आये, इसलिए, भक्ति-तत्व पहले द्राविड़-धर्म में समाविष्ट हुआ। वैदिक आर्यों में भक्ति का प्रस्फुटित रूप नहीं मिलता, क्योंकि उनका धर्म हवन और यज्ञ तक ही सीमित था। जब तक यज्ञवाद लोकप्रिय रहा, आर्य-जनता का ध्यान भक्ति की ओर नहीं गया, जो उस समय द्रविड़-जनधर्म का अंग समझी जाती थी। पीछे, ब्राह्मणों के काल में, जब यज्ञवाद निर्जीवता धारण करने लगा और ऋषिगण उपनिषदों में एक नये धर्म की खोज करने लगे, तभी आर्य-जनता ने भक्ति को अपनाया होगा, क्योंकि यज्ञवाद की जड़ता से उसका मन ऊबने लगा था। सूत्रकाल के अन्तिम चरण में, महामहोपाध्याय काणे ने भारतवर्ष में ऐसे पुरोहितों का होना माना है जो मन्दिरों में प्रतिमा-पूजन करवाते थे।[२] प्रतिमा-पूजन भी मोहेंजोदरो में उपलब्ध धर्म का विकास है और वह भी आर्यों के यहाँ द्रविड़-जनधर्म से होकर आया है। इस दृष्टि से देखने पर, भक्ति ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व ही, आर्य-धर्म में आने लगी थी, ऐसा मानने का प्रबल आधार निकल आता है। उस समय उपनिषदों में जिस उपासना-धर्म का आख्यान मिलता है, उसे हम भक्ति का ही विरल रूप कहेंगे। गीता में भक्ति का सुस्पष्ट उल्लेख है और गीता उपनिषत् भी है, इससे उपनिषदों के युग में भक्ति के आविर्भाव की बात और भी पुष्ट हो जाती है।

गीता के बाद, भक्ति का कोई प्रमाण नहीं मिलता जब तक कि हम मौर्योत्तरकालीन हिन्दू-जागरण के युग में पहुँच जाते हैं। रामायण और महाभारत के वर्त्तमान संस्करण इसी युग में पूरे हुए, जिनमें भक्ति का परिपूर्ण आख्यान है। मौर्यों के पतन का समय (ई. पू. १८०), वास्तव में, हिन्दुत्व के विकास और पूर्णता पर पहुँचने का अत्यन्त महत्वपूर्ण समय है। सच पूछिए तो आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के बीच, समन्वय की जो प्रक्रिया कोई दो हजार वर्ष से चली आ रही थी, वह इसी युग में आकर पूरी हुई। और इसी युग में आकर आर्य हिन्दू एवं आर्य-धर्म हिन्दू-धर्म हो गया। मौर्यवंश के अंतिम राजा बृहद्रथ को मार कर पुष्यमित्र गद्दी पर बैठा और उसने अश्वमेघ-यज्ञ किया, इससे तत्कालीन हिन्दुत्व का

---

१. उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।

२. धर्मशास्त्रों का इतिहास।

उत्कर्ष व्यंजित होता है। इसी काल में, बौद्धमत का महायान रूप प्रकट हुआ, यह उस समय के हिन्दुत्व के प्रभाव और प्रताप का दूसरा उज्ज्वल प्रमाण है। कृष्ण-धर्म में राधा कहीं से इसी समय आन मिली होगी एवं कृष्ण के रसिक रूप का विकास भी इसी समय से होने लगा होगा। शिव तो बहुत पहले ही आर्य-धर्म में आ चुके थे, इस समय तक, शिव के समान और भी अनेक देवी-देवता हिन्दू-वृत्त में आ गये और इन सबकी भक्ति समाज में प्रचलित हो गई। महाभारत और कुछ पुराण इस भक्ति का इतिहास हमें स्पष्ट रूप से सुनाते हैं।

भक्ति का प्रधान आधार-ग्रन्थ भागवत ९०० ई. के आसपास लिखा गया और रामानुज उसके भी काफी बाद को आये। भागवत और रामानुज की दूरी को तो लोग नगण्य मान लेते हैं, किन्तु, गीता (महाभारत) और रामानुज के बीच के समय में भक्ति कहाँ थी, यह सोच कर उन्हें आश्चर्य होता है। किन्तु, आश्चर्य की यह कोई वैसी बात नहीं है। असल में, हमें यह मान कर चलना होगा कि भक्ति भारत का जनधर्म थी। आर्य उसकी ओर आरंभ में उन्मुख नहीं हुए। बाद में भी, उनके बीच भक्ति का प्रचलन, शनैः शनैः, हुआ। किन्तु, द्राविड़ों के बीच भक्ति खूब पनपती रही और जब आर्य ज्ञान के ऊहापोह में संलग्न कभी उपनिषदें लिख रहे थे और कभी बौद्ध या जैन मत का प्रवर्त्तन कर रहे थे, तब द्रविड़-जनता भक्ति के किसी न किसी रूप को लेकर अपना धर्म चला रही थी। किन्तु, उस समय का इतिहास अनुपलब्ध रहने के कारण, हम इस अनुमान को जोर से नहीं कह सकते। फिर भी, जो इतिहास उपलब्ध है, उसे देखते हुए यह तो कहा ही जा सकता है कि उत्तर भारत में जब सिद्ध सन्त वेद की निन्दा कर रहे थे, लोगों को यज्ञ-याग, मूर्त्ति-पूजा, तीर्थ-व्रत और वर्णाश्रम-धर्म से विमुख बना रहे थे, तब दक्षिण में, **नायनार** और **आलवार** संत शिव अथवा विष्णु की भक्ति में विभोर होकर जनता को प्रेम का संदेश सुना रहे थे। गीता और भागवत तथा गीता और रामानुज के बीच की कड़ी यही आलवार संत हैं। भक्ति का दर्शन आलवारों के **तमिल-प्रबंधम** से आया है और, कदाचित्, भागवत भी उसी प्रबंधम् से प्रेरित है।

आलवार भक्त

सातवीं-आठवीं और नवीं सदियों में दक्षिण में भक्ति का खूब बोलबाला था, यह बात आलवार संतों के इतिहास से प्रत्यक्ष है। ये आलवार संत बहुधा निम्न जातियों के होते थे, उनकी शिक्षा-दीक्षा भी अधूरी होती थी, किन्तु, उनके भीतर चरित्र और हार्दिक गुणों का अद्भुत चमत्कार रहता था। शिक्षा, वंश और वैभव का अभिमान नहीं रहने के कारण, ये संत अत्यन्त विनीत हुआ करते थे और अपनी सर्व-साधन-हीनता को लेकर ये भगवान के चरणों में अपने को निवेदित कर देते थे। "मेरा जन्म द्विजातिकुल में नहीं हुआ, न मैं चारों वेदों का जानने वाला हूँ, मैं अपनी इंद्रियों को भी नहीं जीत पाया हूँ; इस कारण,

हे भगवान ! मुझे तुम्हारे प्रकाशमय चरणों के अतिरिक्त अन्य किसी भी शक्ति का भरोसा नहीं है।" ऐसे भाव आलवारों के थे। रामानुजाचार्य ने आगे चल कर जिसे **प्रपत्ति** (अर्थात् सब कुछ छोड़ कर भगवान की शरण में गिरने की भावना) की संज्ञा दी, प्रायः, सभी आलवारों के गीत उस भाव से ओत-प्रोत हैं। आलवारों ने दक्षिण में भक्ति की पताका को बहुत ऊँचा कर दिया और उनकी वाणी जन-जन के हृदय की वाणी बन गई। भक्ति को आलवारों ने जन-जीवन का ऐसा अभिन्न अंग बना दिया कि इस गये-बीते जमाने में भी दक्षिणापथ के लोगों में भक्ति की अद्भुत प्रधानता विद्यमान है। इनमें से बारह संत ऐसे हुए, जिनकी विशेष ख्याति हुई और जिनकी मूर्त्तियाँ दक्षिण के मन्दिरों में स्थापित मिलती हैं। ये सन्त भक्ति-विभोर जनता के हृदय-देव हो गये थे, इसलिए, विष्णु के साथ इनकी भी पूजा आरंभ हो गई। इन आलवारों में सबसे प्राचीन कौन थे, इसका समाधान अभी नहीं हो पाया है। किन्तु, डाक्टर कृष्णस्वामी आयंगर[1] ने यह सिद्ध किया है कि आलवारों में से एक **प्वाय गई आलवार** का समय ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी है। इसी प्रकार, **कुलशेखर** नामक एक दूसरे आलवार का समय उन्होंने ईस्वी सन् की छठी शताब्दी माना है।[2] प्रत्येक आलवार का समय निश्चित करने में मतभेद अवश्य है, परन्तु, इस बात पर, प्रायः, सभी लोग सहमत हैं कि ये बारह विशिष्ट आलवार ईसा की तीसरी सदी से लेकर नवीं सदी तक के बीच हुए हैं। अतएव, यह बात पूर्ण रूप से निश्चित है कि **प्रपत्ति, शरणागति, आत्म-समर्पण** और **एकान्तनिष्ठा** से विभूषित भक्ति का सम्यक् विकास और प्रचार आलवारों के साहित्य द्वारा नवीं सदी के पूर्व ही संपन्न हो चुका था तथा उस समय तक दक्षिण की जनता भक्ति से, पूर्णतः, विभोर भी होने लगी थी।

इन आलवार कवियों के तमिल पदों का संपादन पहले-पहल **नाथमुनि** ने किया जो नवीं सदी के उत्तरार्द्ध में त्रिचिनापल्ली के श्रीरंगम् में रहते थे। नाथमुनि ने उपलब्ध पदों के चार संग्रह तैयार किये और प्रत्येक में, प्रायः, एक-एक हजार पद रखे। इन्हीं संग्रहों के नाम "प्रबन्धम्" है। प्रबन्धम् में आलवारों के पद, मूल रूप में, रखे गये थे। पीछे, वैष्णव विद्वानों ने उन पर टीकाएँ भी लिखीं। इस प्रकार, प्रबन्धम् भक्ति-आन्दोलन का आदि ग्रन्थ बन गया।

अभी तक भागवत-पुराण[3] ही भक्ति-आन्दोलन का मूल-ग्रन्थ समझा जाता है। किन्तु, हमारा अनुमान है कि इस आन्दोलन का मूल ग्रन्थ भागवत नहीं, **प्रबन्धम्** है। यह इस कारण कि, यद्यपि, भागवत और प्रबन्धम्, ये दोनों ग्रन्थ, एक ही समय में लिखे गये, फिर

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑव् वैष्णविज़्म इन साउथ इंडिया।

२. कोई-कोई विद्वान कुलशेखर को नवीं शती का मानते हैं।

३. भागवत-पुराण का समय विद्वान ९०० ई. मानते हैं।

भी, प्रबन्धम् की बहुत-सी कविताएं दूसरी-तीसरी सदी से प्रचलित चली आ रही थीं। साथ ही, यह भी विचारणीय है कि प्रबन्धम् की कविताएँ जनता की भक्ति साधना की सीधी अभिव्यक्ति हैं। किन्तु, भागवत की रचना पांडित्य के स्तर पर की गई है। प्रबन्धम् भक्ति-आन्दोलन का मूल-ग्रन्थ क्यों माना जाय, इसका संकेत भी भागवत ही देता है, क्योंकि उसका भी मत है कि भक्ति का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था।

प्रबन्धम् का प्रभाव उत्तर भारत में वैष्णवाचार्यों ने पहुँचाया। विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का प्रथम विवेचन यामुनाचार्य (९१६ से १०४० ई.) ने किया है, जो प्रबन्धम् के संपादक श्री नाथमुनि (रघुनाथाचार्य) के पुत्र अथवा पौत्र थे। उनके बाद, विशिष्टाद्वैत की स्थापना श्री रामानुजाचार्य (१०२७ से ११३७ ई.) ने की, जो स्वयं प्रबन्धम् के बहुत बड़े प्रेमी थे। गीता और पातंजल-योग के अतिरिक्त, उन्होंने आलवारों की परंपरा को भी भक्ति का मूल-स्रोत माना है।

शंकर के अद्वैतवादी सिद्धान्तों से सबसे अधिक निराशा दक्षिण की भक्ति-विभोर जनता को ही हुई होगी और इसी जनता की प्रतिक्रिया ने रामानुज, निम्बार्क आदि वैष्णवाचार्यों को उत्पन्न किया होगा। इन वैष्णवाचार्यों को द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों की खोज क्यों अच्छी लगी, इसका भी समाधान यही है कि ये सभी आचार्य आलवारों की भक्ति-भावनाओं से, उनके पदों और रचनाओं से पूर्ण रूप से ओतप्रोत थे। हृदय इनका पहले ही आलवारों के संस्कारों से भर चुका था, मस्तिष्क लड़ा कर इन्होंने उन संस्कारों का बौद्धिक समर्थन प्राप्त किया। आलवार भक्त सीधे-सादे लोग थे। प्रेम, भक्ति, शरणागति और एकान्तनिष्ठा, यही उनकी सारी पूँजी थी। किन्तु, वैष्णवधर्म के आचार्य मस्तिष्क से भी मेधावी और तार्किक थे। आचार्य निर्णय पर पहले आये; युक्तियों से उस निर्णय की पुष्टि उन्होंने बाद में की और इसी पुष्टि के क्रम में उन्होंने अपने दर्शनों की रचना की।

प्रपत्ति के सिद्धान्त के बारे में, अक्सर, कहा जाता है कि यह इस्लाम का प्रभाव था। किन्तु, रामानुज को यह विचार इस्लाम से नहीं मिला (इस्लाम तब तक भारत में फैला कहां था?), यह तो आलवारों की शरणागति को रामानुज के द्वारा दिया हुआ पारिभाषिक नाम है। आलवारों में भक्ति के जो लक्षण थे, उन्हें अन्य भक्तों के लिए भी निर्दिष्ट करने को रामानुज ने प्रपत्ति नामक शब्द निकाला। यह भी ध्यान देने की बात है कि द्विजों के साथ शूद्रों को भी वैष्णव-धर्म में दीक्षित होने का अधिकार, सबसे पहले, रामानुज ने ही प्रदान किया। इसका कारण यह था कि आलवारों में से अनेक शूद्र-वंश के थे और शूद्र कुलोत्पन्न होने पर भी, जनता उन्हें पूज रही थी। ऐसे में, रामानुज यह कैसे कह सकते थे कि शूद्रों को वैष्णव होने का अधिकार नहीं है? अधिकार तो उन्होंने दिया, किन्तु, प्रपत्ति (भगवान की शरण में अपने को समर्पित करके उन्हीं की कृपा का भरोसा रखना) को उन्होंने शूद्र

भक्तों के लिए विशेष रूप से विहित बताया। यह वर्णाश्रम-धर्म और बृहत् मानवतावाद के बीच एक प्रकार का समझौता था, जिसका पालन रामानुज-परंपरा के अन्य संतों—विशेषतः, रामानन्द और तुलसी—ने भी किया है।

रामानुज की देन

आलवार संत रहस्यवादी और कवि थे। उनके उत्तराधिकारी वैष्णव-आचार्य चिन्तक और दार्शनिक हुए। शंकर ने वेदान्त को फिर से नवीन कर दिया था। वैष्णव आचार्यों के सामने यह प्रश्न उठा कि इस वेदान्त से तमिल-प्रबन्धम् का सामंजस्य कैसे बिठाया जाय अर्थात् कर्म और ज्ञान से भक्ति का मेल कैसे हो। तमिल-प्रबन्धम् को सार्वजनिक पूजा में समाविष्ट करने का प्रथम श्रेय श्री नाथमुनि को है। उन्होंने ही तमिल-प्रबन्धम् को, वैष्णवों के यहाँ, वेद का दरजा दिलवाया। उनके पौत्र यामुनाचार्य ने पांचरात्र-पद्धति की प्रामाणिकता को स्थापित किया, शंकर के माया-सिद्धान्त का खंडन किया, जीवात्मा की अलग सत्ता का प्रतिपादन किया और प्रपत्ति के सिद्धान्त की घोषणा की। इस प्रकार, बारहवीं सदी के आरम्भ में, रामानुज ने जिस विशिष्टाद्वैत-दर्शन का महल खड़ा किया, उसकी नींव यामुनाचार्य ने ही डाली थी।[1]

रामानुज के मुख्य ग्रन्थ तीन हैं, (१) वेदार्थ-संग्रह (२) गीता की टीका और (३) वेदान्त-सूत्र का श्रीभाष्य। शंकराचार्य ने उपनिषदों से अद्वैत का जो अर्थ निकाला था, वेदार्थ-संग्रह में रामानुज ने उसका खंडन किया है। गीता की टीका में भी उन्होंने भक्ति का पक्ष ऊँचा किया है। किन्तु, उनके दार्शनिक सिद्धान्तों की वास्तविक स्थापना श्रीभाष्य में हुई है। इसी ग्रन्थ में, वेदान्त-सूत्रों की ईश्वरवादी व्याख्या करके उन्होंने वैष्णव-धर्म या भक्ति का दर्शन तैयार किया है। वेदान्त का ईश्वर, असल में, ईश्वर नहीं ब्रह्म है जिसने संसार की रचना नहीं की, जो भक्तों की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देता, जिसे विश्व के प्रपंच से कोई मतलब नहीं, जो शुद्ध, बुद्ध, निराकार और निर्विकार है। किन्तु, रामानुज ने इस ब्रह्म में ईश्वरत्व का आरोप किया, उसे भक्तों की प्रार्थना सुनने योग्य एवं विश्व-प्रपंच का कर्ता तथा उसका प्रहरी बना दिय। ब्रह्म के स्थान पर ईश्वर को लाने के कारण, रामानुज क्रान्तिकारी महात्मा दीखते हैं और इसी कारण, कदाचित्, विद्वानों को यह शंका होती है कि ब्रह्म को ईश्वर-कोटि में लाने की प्रेरणा उन्हें इस्लाम से मिली होगी। किन्तु, एक बात है जिस पर ध्यान देने से ऐसी शंकाओं का निवारण आप से आप हो जाता है। यह समझना नितान्त भूल है कि ब्रह्मसूत्र की ईश्वरवादी व्याख्या करने के आदि श्रेय के अधिकारी रामानुजाचार्य हैं, क्योंकि उनसे और शंकराचार्य से भी पूर्व, **बोधायन** हुए थे जिन्होंने वेदान्त की ईश्वरवादी व्याख्या की थी। फिर, आचार्य **टंक**

---

१. डी. एस. शर्मा-कृत "हिन्दू रिनासाँ"।

और आचार्य द्रविड़ का समय भी रामानुज और शंकर से पूर्व पड़ता है और इन आचार्यों ने भी वेदान्त में ब्रह्म के स्थान पर ईश्वर को देखा था। रामानुज की विशेषता यह है कि ईश्वरवाद पर से उन्होंने भक्ति का दर्शन प्रस्तुत किया और यह सिद्ध किया कि भक्ति की शिक्षा केवल तमिल-प्रबन्धम् से ही नहीं, प्रत्युत्, प्रस्थानत्रयी (वेदान्त-सूत्र, उपनिषद् और गीता) से भी मिलती है। रामानुज ब्राह्मण-धर्म और आलवार, दोनों की परंपराओं के प्रति आस्थावान् थे और दोनों के तत्वों को एकाकार करके ही, उन्होंने अपने मार्ग का प्रवर्तन किया। वेद का प्रतिपाद्य विषय कर्म था, उपनिषदों ने उसमें ज्ञान का पुट मिलाया और भक्ति जनता के स्तर से उठ कर ऊपर पहुँची। किन्तु, इन तीनों का समन्वय गीता में किया गया। जो कार्य गीता ने किया था, बहुत कुछ वही कार्य रामानुजाचार्य ने किया, किन्तु, इस भेद के साथ कि जहाँ गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म में किसी एक के साथ कोई अनुचित पक्षपात नहीं था, वहां रामानुज ने तीनों में से भक्ति को खुलकर अप्रतिम प्रधानता दे दी। और इसका कारण, कदाचित्, यह है कि गीता उपनिषदों (ज्ञान के शिखर) से उतर कर भक्ति को पाती है, इसलिए, ज्ञान की प्रधानता उसमें कम नहीं होती; किन्तु, रामानुज तमिल-प्रबन्धम् से उठ कर ज्ञान और कर्म को देखते हैं। गीता का मस्तिष्क वेद और उपनिषद् अर्थात् कर्म और ज्ञान में है। रामानुज का सारा अस्तित्व आलवारों के भक्ति-विह्वल पदों में गड़ा हुआ है।

रामानुज की सारी पद्धति का मूलाधार वह दृष्टि है, जिससे वे ईश्वर को जीव और प्रकृति से एकाकार देखते हैं। उनकी कल्पना यह है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति, तीनों अनादि हैं, किन्तु, जीव और प्रकृति अनिवार्य रूप से ईश्वर पर आश्रित हैं। वस्तुतः, ये तीनों परस्पर इस प्रकार से मिले हुए हैं कि उनमें से कोई भी अलग करके देखा नहीं जा सकता। जैसे, वस्तु से उसका गुण विभक्त नहीं किया जा सकता, जैसे विशेष्य से विशेषण का भिन्न होना असंभव है, उसी प्रकार, ईश्वर से जीव और प्रकृति भी अभिन्न हैं।[१] इसी से रामानुज की पद्धति विशिष्टाद्वैत की पद्धति कही जाती है। वह शंकर के अद्वैत-मार्ग से भिन्न है, क्योंकि शंकर, केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व मानते हैं, किन्तु, रामानुज-मत में ईश्वर (ब्रह्म) के समान जीव और प्रकृति भी अनादि हैं। "तत्वमसि", वेदान्त के इस वाक्य की व्याख्या शंकर ने यह की थी कि जीव भी ब्रह्म ही है। रामानुज ने यह अर्थ चलाया कि "तत्" अर्थात् सृष्टि का कारण-स्वरूप ईश्वर "त्वम्" अर्थात् जीव में छिपी हुई आत्मा से एकाकार है।[२]

शांकर मत में, ब्रह्म के निर्विकारत्व का जो प्रतिपादन हुआ है, उससे उस मत में भक्ति के लिए स्थान नहीं रह जाता। किन्तु, ब्रह्मवाद को ईश्वरवाद बनाने में ही द्वैत की

१. गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न, न भिन्न।—तुलसीदास

२. डी. एस. शर्मा-कृत "हिन्दू रिनासाँ"।

झाँकी मौजूद थी और द्वैत का आधार मिलते ही, रामानुज-मत में भक्ति का स्थान बहुत ऊँचा हो गया। रामानुज कहते हैं कि ज्ञानयोग की साधना सीमित साधना है। उससे आत्मा इतना ही जान सकती है कि वह शरीर से भिन्न है। किन्तु, "मैं परमात्मा का अंश हूँ", इस अनुभूति तक जाने के लिए ज्ञान यथेष्ट नहीं है। यह अनुभूति तभी प्राप्त हो सकती है जबकि आत्मा प्रेम का मार्ग पकड़े, भक्ति का आश्रय ले और जिस सत्ता से वह विच्छिन्न हो गई है उसकी ओर आकुलता से गमन करे। चूँकि जीव ईश्वर से भिन्न है, इसलिए, रामानुज ने मोक्ष का अर्थ ब्रह्म में विलीन होने की अवस्था नहीं बताया। उनका कहना है कि मोक्ष उस व्यक्ति को मिलता है जो इस जीवन में भक्ति की साधना को पूर्ण कर चुका है। ऐसे भक्त मृत्यु के बाद, एक अन्य शरीर प्राप्त करते हैं तथा अनन्तकाल तक बैकुंठ में ईश्वर का सामीप्य लाभ करके वहाँ भी भक्ति की साधना करते रहते हैं। जिसे हिन्दुत्व स्वर्ग और इस्लाम बहिश्त कहता है, उसका लोभ विशिष्टाद्वैती भक्त को नहीं होता। भक्त स्वर्ग-सुख की अभिलाषा नहीं करते, न लय और मुक्ति चाहते हैं। उनका सुख तो मरणोपरान्त भी आराध्य का गुण गाने में ही है।[1]

ज्ञान, कर्म और भक्ति में, भक्ति को श्रेष्ठ बताते हुए भी, रामानुज ने यह कहा कि भक्ति में भी सब से सुगम मार्ग प्रपत्ति का है। इस मार्ग के लिए न तो ज्ञान की आवश्यकता है, न विद्याभ्यास और योग-साधना की। फिर भी, यह मार्ग सर्वसुगम और सब से छोटा मार्ग है। जो मनुष्य सर्वतो भावेन भगवान की शरण में गिरता है, उसे भगवान तुरंत अपना लेते हैं।

आलवार-संत जात-पाँत नहीं मानते थे, न वर्णाश्रम के विधि-निषेध के वे कायल थे। रामानुज ने आलवारों के इस मुक्त संस्कार को वर्णाश्रम के नियंत्रणों से कैसे मिलाया, यह भी देखने योग्य है। उन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति को तो द्विजों के लिए विहित बताया, किन्तु, प्रपत्ति का द्वार सब के लिए उन्मुक्त कर दिया। सामाजिक समता की दिशा में तत्कालीन ब्रह्मण जहाँ तक जा सकता था, रामानुज वहाँ तक जा कर रुके। उनके संप्रदाय ने लाखों शूद्रों और अन्त्यजों को अपने मार्ग में लिया, उन्हें वैष्णव-विश्वास से युक्त किया, उनके आचरण धर्मानुकूल बनाये और, साथ ही, ब्राह्मणत्व के नियंत्रणों की अवहेलना भी नहीं की।

रामानुज की मृत्यु के बाद, उनके संप्रदाय में फूट आ गई। वेद और तमिल-प्रबन्धम् के बीच, रामानुज ने जो संतुलन रखा था, उस संतुलन की रक्षा उनके बाद के शिष्य नहीं कर सके। उनमें से कुछ तो वैदिक धर्म को प्रधानता देने लगे और कुछ तमिल-प्रबन्धम् को। वेद-मार्गी वैष्णव संतों का संप्रदाय उत्तर भारत में चला और तमिल-प्रबन्धम् को मानने-

---

१. भक्ति न छाड़ौं, मुक्ति न माँगौं, तव जस सुनौं, सुनावौं।

वालों का संप्रदाय दक्षिण में। स्वभावतः ही, संस्कृत पर आधारित होने के कारण, उत्तर का श्री-संप्रदाय कुछ अधिक अनुदार हो गया और छोटी जात के लोगों को अधिकार देने में उसने कृपणता दिखलायी।

शैवाचार्य

यह भी ध्यान देने की बात है कि जैसे वैष्णव-भक्ति कवियों और रहस्यवादी संतों की अनुभूतियों से निकल कर दर्शन के स्तर पर पहुँची, उसी प्रकार, शिव की भक्ति भी दक्षिण के शैव संतों और कवियों की वाणी में ही बढ़ी थी। वैष्णव भक्तों में जैसे आलवारों का आविर्भाव हुआ, शैव भक्तों में उसी प्रकार, और, प्रायः, उसी समय, नायनार भक्त हुए। एवं जैसे आलवारों की भक्ति-विह्वल अनुभूतियों का दार्शनिक रूप विशिष्टाद्वैत है, उसी प्रकार, शैव-सिद्धान्त भी नायनार भक्तों की अनुभूतियों से बढ़ कर दर्शन के स्तर पर पहुँचा है। आलवार बारह हुए हैं, किन्तु, नायनारों में तिरेसठ भक्तों के नाम हैं और इनकी प्रतिमाएँ भी दक्षिण के शैव मन्दिरों में पूजी जाती हैं। जब नाथमुनि ने आलवारों के पदों का संकलन तमिल-प्रबन्धम् नाम से किया, उसी समय (दोनों आचार्य चोलवंशी नृपति राजराज के समकालीन थे) शैवाचार्य नाम्बि-आन्दार-नम्बी ने शैव गानों और पदों का संकलन ग्यारह जिल्दों में किया, जिनका सम्मिलित नाम **"तिरुमुरइ"** या पावन पुस्तक है। आलवारों के पदों में जो स्थान विष्णु का था, नायनारों के गीतों में वही स्थान शिव का है। इन दोनों ही प्रकार के भक्तों के पद विश्व भर के सर्वश्रेष्ठ भक्ति-साहित्य में स्थान रखते हैं।

शैव सिद्धान्त में सृष्टि के परम अध्यक्ष का नाम शिव है। वे ही चेतना के आगार और ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनादि सत्य हैं। उन्हीं की कृपा सृष्टि की पाँच प्रक्रियाओं में प्रत्यक्ष होती है। ये प्रक्रियाएँ हैं सृष्टि की रचना, पालन और विनाश तथा जीव को मोहाच्छन्न करके फिर उसे मुक्ति देना। शिव सारे कार्य अपनी शक्ति के माध्यम से करते हैं। सृष्टि को शैव सिद्धान्त अनादि मानता है और विश्वास करता है कि सृष्टि का विकास जीवों के कल्याण के लिए होता है। जड़ प्रकृति और चैतन्य जीव, सब में शिव का वास है। स्वभाव से आत्मा भी शिव के समान ही आनादि, अनन्त और चैतन्य है, किन्तु, बंध में पड़ जाने के कारण ही, वह अपने को सान्त, क्षणिक और अज्ञानी मानती है। इस बंध से मोक्ष पाने के लिए आवश्यक है कि जीव अपने पूर्वकर्मों से मुक्त हो, जड़ की अधीनता से बाहर निकले और अपने को सान्त समझना छोड़ दे। मुक्ति की साधना के लिए, शैव सिद्धान्त विहित पद्धति का निर्धारण करता है, गुरु को आवश्यक बतलाता है तथा, सब से ऊपर, शिव की कृपा को अनिवार्य मानता है। शैव सिद्धान्त, वस्तुतः, शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के बीच का मत है।

आलवार भक्तों और वैष्णवाचार्यों तथा नायनार भक्तों और शैवाचार्यों के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध माना जाना चाहिए, किन्तु, पिता यहाँ अशिक्षित और पुत्र पारंगत विद्वान थे। आलवारों ने जिस धर्म की साधना जनता के स्तर पर रह कर की, उस धर्म को वैष्णवाचार्यों ने उठा कर पांडित्य के धरातल पर पहुँचा दिया। यामुनाचार्य, रामानुज, निम्बार्क (१११४ से ११६२ ई०), मध्वाचार्य अथवा आनन्द तीर्थ (जन्म सन् ११९७ ई०), विष्णु स्वामी (संभवतः दसवीं शताब्दी) तथा वल्लभाचार्य (१४७९ से १५३० ई०) और चैतन्य, ये सब के सब शांकर मत के विरोधी और भगवान के साकार रूप के भक्त थे। इनमें से जो अपेक्षाकृत पुराने आचार्य हैं (यथा यामुनाचार्य, विष्णु स्वामी और रामानुज) वे, निश्चित रूप से, आलवार-संस्कारों में पल कर बड़े हुए थे। बाकी आचार्यों पर भी आलवार प्रभाव अवश्य रहा होगा। भागवत-पुराण की रचना के पीछे आलवार-संस्कारों का प्रभाव किस प्रकार पहुँचा, यह खोज का विषय है। किन्तु, भक्ति का जो रूप आलवार-साहित्य, भागवत, गीत-गोविन्द (ग्यारहवीं सदी) और रामानुज एवं निम्बार्क तक विकसित हुआ, उस पर इस्लामी प्रभाव की छाया भी नहीं पड़ी थी, यह अटल सत्य है।

आचार्य क्षिति मोहन सेन ने भी अपनी पुस्तक "मेडिवल मिस्टिसिज्म आव् इंडिया" में यह अनुमान लगाया है कि द्राविड़ों और आर्यों से पूर्व के भारतवासियों में भक्ति की प्रवृत्ति, संभवतः, प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। आर्यों की बौद्धिकता जब भक्ति की इन प्राथमिक प्रवृत्तियों से मिश्रित होने लगी, तब भारत की धार्मिक भावना में, धीरे-धीरे, गहराई और विस्तार आने लगा। कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि भक्ति के बीज पंडितों के दार्शनिक चिन्तन में नहीं, ग्रामीण जनता के हृदय में रहे होंगे, क्योंकि जनता के द्वारा ग्राम-देवताओं के पूजन में चिन्तन कम, भावना अधिक होती है। कालक्रम में, यही भावना जन-जीवन के स्तर से उठ कर, पहले संतों और कवियों में तथा बाद को दार्शनिकों में पहुँची। बात चाहे जो हो, किन्तु, इतना स्पष्ट दीखता है कि भक्ति की धारा गीता में फूटती है, दक्षिण के आलवार-संतों के पदों में वह अपनी पहली राह बनाती है, रामानुज एवं अन्य आचार्यों की पद्धतियों में उसे विस्तार प्राप्त होता है, एवं बाद के कवियों और संतों को पा कर वह सारे देश को प्लावित कर देती है। इस्लाम का प्रभाव रामानुज के बाद के संतों और कवियों में मिले तो मिले, रामानुज के काल में तो वह नहीं ही मिल सकता है।

रहस्यवाद

यदि रहस्यवाद की बात को लें, तब भी, जायसी, कुतबन और उस्मान वाला रहस्यवाद ही ऐसा है जिस में हम ईरानी सूफियों का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं। इस पद्धति के अनुसार, आत्मा प्रेमी और परमात्मा प्रेमिका माना जाता है। प्रेमी कोई राजकुमार और

प्रेमिका कोई राजकुमारी होती है। आत्मा को जगाने के लिए कोई गुरु आता है जो राजकुमारी के रूप का वर्णन करता है तथा जिसे सुन कर राजकुमार के हृदय में प्रेम का जोश पैदा होता है। वह राजकुमारी को पाना चाहता है, किन्तु, उसके पास पहुँचने के पूर्व, राजकुमार को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। सूफी भाषा में ये बाधाएँ माया के रूपक हैं, शैतान के खेल हैं। फिर, राजकुमार और राजकुमारी का ब्याह हो जाता है। कभी-कभी विवाह के बाद वियोग भी होता है, जिसमें परमात्मा के लिए आत्मा की बेचैनी दिखलायी जाती है। इस पद्धति की अभारतीयता यह है कि इसमें परमात्मा को नायिका का रूप दे देते हैं, जबकि भारतीय दृष्टिकोण से परमात्मा ही पुरुष और आत्मा ही नारी मानी जाती है। इन कहानियों में, कहीं-न-कहीं यह विवरण भी आ जाता है कि हठयोग की परिभाषा के अनुसार, शरीर के किस भाग में कौन-सी नाड़ी या चक्र है। इसे भारतीय मानना चाहिए, क्योंकि योग की शिक्षा सूफियों ने भारतवासियों से ही ली थी। सूफियों ने परमात्मा को जो सौंदर्य का प्रतीक और प्रेम को उसे पाने की राह माना था, उसी सिद्धान्त को कथा में अनूदित करने के प्रयास से जायसी वाली शैली का जन्म हुआ। सूफी सौन्दर्य और प्रेम के मतवाले थे। शारीरिक सौन्दर्य का उन्होंने उत्तम से उत्तम वर्णन किया है। हिन्दी में भी जो रहस्यवादी कथा-काव्य मौजूद हैं, उन पर ये लक्षण खूब घटते हैं। किन्तु, संयोग की बात कि इस शैली को किसी भी भारतीय कवि ने नहीं अपनाया; ऐसे जो भी काव्य हिन्दी में हैं, वे मुसलमान कवियों के ही लिखे हुए हैं।

किन्तु, इस रहस्यवाद से भिन्न जो कबीर, दादू और नानक का रहस्यवाद है, उसकी परंपरा सूफियों के यहाँ से नहीं आई। अस्पष्ट भाषा में निगूढ़ भावों को दर्शाने का प्रयास, अपूर्ण भाषा के द्वारा किसी पूर्ण सत्य की ओर इंगित करने की चेष्टा एवं जिस गहराई या ऊँचाई तक वाणी नहीं जा सकती, उसे अभिव्यक्ति देने की अधूरी कोशिश, ये बातें कबीर, दादू, नानक और नामदेव में भी हैं तथा आठवीं-नवीं सदियों के सिद्धों में भी। इस निगूढ़ शैली के आदि प्रयोक्ता सिद्धाचार्य ही थे, जिन की भाषा को, उसके दुरूह होने के कारण ही "सांध्य भाषा" कहने का रिवाज है। यही नहीं, प्रत्युत्, निर्गुनियाँ संतों के फक्कड़पन और निर्भयता का भी पहला रूप हमें सिद्धों की रचनाओं में खूब मिलता है। अतएव, यह मानने का कोई आधार नहीं है कि पठान-काल के निर्गुनपंथी कवियों ने इस्लाम के प्रभाव में आकर, उलझी वाणी में रहस्य का कथन किया, उलटबाँसियाँ कहीं अथवा मूर्त्तिपूजा, तीर्थ और पुरोहितवाद पर प्रहार किया। ये सारी बातें पहले से ही चली आ रही थीं।[1] सूफियों से

---

१. रहस्यवाद और उलटबांसी के प्रमाण :—

जहँ मन पवन न संचरइ, रवि-शशि नाहिं पवेश,
तहँ मुढ़ चित ! विश्राम करु, सरह कहेउ उपदेश। (सरहपा : काल : ७६० ई०)

इनका इतना ही लगाव मानना चाहिए कि निर्गुनियाँ साधु और सूफी संत, इनके बीच स्वभाव, दृष्टिकोण और सिद्धान्त को लेकर पहले से ही एक प्रकार की समानता थी। अतएव, दोनों मिले नहीं कि परस्पर मित्र हो गये।

यह भी ध्यान देने की बात है कि कबीर आदि कवियों ने केवल भावों के लिए ही नहीं, छन्दों के लिए भी सिद्ध-साहित्य की ओर देखा है। बीजक के कितने ही पद चर्यापदों में प्रयुक्त छन्दों के अनुकरण या विकास हैं और एक को पढ़ते समय दूसरे की याद आप से आप आ जाती है।

भक्ति-आन्दोलन में, हिन्दी में तीन प्रकार के कवि उत्पन्न हुए। एक तो वे, जो कथा-काव्य की प्रणाली से रहस्यवाद का कथन करते थे, जिनके सिरमौर जायसी हैं। दूसरे वे,

---

यदि पवन-गमन-दुआरे, दृढ़ तालाहू दीजै,
यदि तहँ घोर अँधारे, मन-दीपहु कीजै। (कन्हपा : काल: ८४० ई०)
सिष्टि-उतपती बेली प्रकास, मूल न थी, चढ़ी अकाश।
उरध गोढ़ कियो विस्तार, जाण नै जोसी करै विचार। (गोरख : ८४५ ई०)
गगनि-मंडलि में गाय बिआई, कागद दही जमाया।
छाछि छाँड़ि पिंडता पीनी, सिधा माखन खाया। (गोरख)
जासु न वर्ण न गंधरस, जासु न शब्द न स्पर्श,
जासु न जन्म न मरण हूँ, नाम निरंजन तासु। (योगीन्दु : १००० ई०)
जो परमात्मा सोइ हौं, जो हों सो परमात्म।
एह जाने विनु जोगिया, अन्य न करहु विकल्प (योगीन्दु : १००० ई०)

आचार-खंडन के प्रमाण :—

ब्राह्मणहिं ना जानन्ता भेद, यों ही पढ़ेउ ये चारो वेद।
माटि-पानि-कुस लिये पढ़न्त, घर ही बैठी अग्नि होमन्त।
कार्य बिना ही हुतवह होमें, आँखि डहावे करुए धूमे। (सरहपा)
आत्मा गोरा कृष्ण नहिं, आत्मा रक्त न होइ।
आत्मा सूक्ष्महु स्थूल नहिं, ज्ञानी जाने जोइ। (योगीन्दु)
तीर्थहिं तीर्थ भ्रमन्त काहिं, मूढ़हिं मोक्ष न होइ।
ज्ञान विवर्जित जो कि जिव, मुनिवर होइ न सोइ। (योगीन्दु)
आगम- वेद-पुराणहिं पंडित मान वहंति।
पक्व सिरीफल अलिय जिमि बाहर हींहि भ्रमन्ति। (कण्हपा ८४० ई०)
(राहुलजी-कृत हिन्दी अनुवाद, हिन्दी काव्य-धारा से)

जो निर्गुण का उपदेश करते थे और साथ ही. वर्णाश्रम-धर्म की निन्दा भी, जिनके अग्रणी कबीर हुए। और तीसरे वे, जो वर्णाश्रम-धर्म के साथ थे, किन्तु, भक्त होने के कारण, सभी मनुष्यों पर प्रेम करते थे। इस सरणी के चार प्रसिद्ध कवि विद्यापति, चंडीदास, सूरदास और तुलसीदास हैं। इनमें से जायसी वाली धारा, अधिकांश में, इस्लामी सूफीमत की देन थी। कबीर वाली धारा का वर्णाश्रम-विरोधी भाग सिद्धों की धारा का विकास-मात्र था। हाँ, इन लोगों ने समाज-सुधार की दृष्टि से अथवा हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करने के लिए जो कुछ कहा है उसे हम इस्लाम के आगमन से उत्पन्न स्थिति का प्रभाव मानेंगे। इनके काव्य का जो रहस्यवादी अंश है, उसमें वेदान्त भारतवर्ष का है, किन्तु, विरह की बेचैनी ईरानी सूफीवाद से आई है। लेकिन, विद्यापति, सूर और तुलसी पर इस्लाम का कोई प्रभाव है या नहीं, यह बताना अत्यन्त कठिन है। हमारा तो अब तक यही अनुमान रहा है कि इन कवियों पर इस्लामी प्रभाव बिलकुल नहीं है। जायसी इस्लाम से आये हुए कवि हैं। किन्तु, कबीर और तुलसी दो भिन्न भारतीय धाराओं के प्रतिनिधि कवि हैं—कबीर उस धारा के जो बुद्ध के क्रान्ति-कमंडलु से प्रवाहित हुई और गाँधी तक निरन्तर बहती आई है तथा तुलसी उस धारा के जो वर्णाश्रम-धर्म की घाटी में बहती है, जिसने समय-समय पर बौद्ध क्रान्ति का विरोध भी किया है और जिसका कवि "अलख-निरंजन वादियों" को नीच भी कहता है।[1]

विद्वानों का ध्यान जम कर इस बात पर पड़ता है कि इस्लाम के आगमन के बाद, भारत में जात-पाँत-तोड़क संत क्यों उत्पन्न होने लगे और क्यों उन्होंने यह कहना आरंभ किया कि भगवान के दरबार में मनुष्य-मनुष्य में भेद करना पाप है। इसका उत्तर यह है कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व, जात-पाँत-तोड़क प्रथा भारत में दो रूपों में चल रही थी। उत्तर में इस परंपरा को सिद्धाचार्य बढ़ा रहे थे और दक्षिण में आलवार संत। इनमें से सिद्धों की भाषा धक्कामार थी, किन्तु, आलवार कवि भक्ति- गद्-गद् कंठ से मनुष्यों की समता प्रतिपादित कर रहे थे। आगे चलकर, सिद्धों की परंपरा कबीर आदि ने ग्रहण की और आलवारों की परंपरा चंडीदास, तुलसी और सूर को मिली। इसीलिए, जिस लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त कबीर कटुता का सहारा लेते हैं, उसी लक्ष्य की घोषणा वैष्णव कवि प्रेम और करुणा से करते हैं।

एकता के लिए प्रयास

हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए प्रयास उस धारा के कवियों ने नहीं किया जिसके कवि विद्यापति, चंडीदास और तुलसीदास हैं। वास्तव में, यह धारा हिन्दुत्व के उस रूप

---

१. **हम लख हमहि हमार लख हम हमार के बीच,**
तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच।

की प्रतिनिधि है, जिसे हम आर्य अथवा हिन्दू संस्कृति का मौलिक रूप कह सकते हैं । यह हिन्दुत्व का केन्द्रीय रूप है, जिसका निर्माण आर्यों और द्रविड़ों ने मिल कर किया था, जिसकी अगाध गहराई में अनेक विदेशी जातियाँ आकर विलीन हो गईं, जिसके विरुद्ध जैनों और बौद्धों की क्रान्तियाँ खड़ी हुईं और जो इस्लाम तथा ईसाइयत के भी आक्रमणों का लक्ष्य रहा है । वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, सभी स्मृतियाँ, सारे शास्त्र और सभी आस्तिक दर्शन, ये हिन्दुत्व के इसी रूप के आख्यान हैं । शंकर, रामानुज, वल्लभाचार्य, तुलसीदास, विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक और महामना मालवीय, ये सब के सब इस धर्म के व्याख्याता रहे हैं । अतएव, हिन्दुत्व की इस धारा ने इस्लाम के लिए तनिक भी उत्साह नहीं दिखाया । विद्यापति को जौनपुर के मुसलमान उच्छृंखल दिखाई पड़े थे । **कीर्त्तिलता** में उन्होंने लिखा है कि "मुसलमान ब्राह्मण के बेटे को पकड़ लाते हैं और उसके माथे पर गोमांस से भरी हाँड़ी चढ़ा देते हैं । जहाँ हिन्दू नाम सुना कि दूर से ही दुरदुरा कर निकाल देते हैं । तुर्क छोटा भी हो, तब भी वह भभकी मारता है अर्थात् आतंक दिखाता है ।"[1]

तुलसीदासजी ने ऐसी कोई बात नहीं कही है । किन्तु, जो लोग वर्णाश्रम-धर्म की निन्दा करते थे, उन पर उन्होंने भी अपना असंतोष प्रकट किया है:—

साखी सबदी दोहरा, कहि किहिनी उपखान,
भगत निरूपहिं भगति कलि, निन्दहिं बेद-पुरान ।

अवश्य ही, ये "साखी, सबदी और दोहरे" कबीरपंथियों के हैं तथा "किहिनी और उपखान" से तात्पर्य जायसी आदि कवियों से है जो उपाख्यानों के द्वारा भारत में सूफी-मत का प्रचार कर रहे थे ।

विस्मय की बात है कि जैसे तुलसीदास और सूरदास ने हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए कुछ भी नहीं कहा, केवल हिन्दुत्व के मूल-रूप को भक्ति के प्रसंग में लाकर उसे नवीन करते रहे तथा जनता की आँखों के सामने हिन्दू-धर्म के उस रूप को उजागर बनाते रहे जिसे विदेशी प्रभावों से बचाना आवश्यक था, उसी प्रकार, ये "किहिनी और उपखान" वाले सूफी कवि भी एकता के विषय में मौन थे । जायसी (१५२१ ई०), कुतुबन (१४९४ ई०) और मंझन (सन् १५०४ ई०) तथा अन्य प्रेममार्गी सूफी कवियों में से किसी ने भी खुल कर यह नहीं कहा कि हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के बीच एकता होनी चाहिए । अरबी और फारसी में जिस शैली की मसनबियाँ लिखी गई थीं और तसव्वुफ के सिद्धान्तों को कथा-काव्य के द्वारा चित्रित करने की जो प्रथा सूफियों में प्रचलित थी, उसका सहारा ले कर इन कवियों

---

१. **धरि आनय बाभन बरुआ, माथा चढ़ावय गायक चुरुआ ।**
हिन्दू बोलहि दुरहि निकार, छोटओ तुरुका भभकी मार ।

(कीर्त्तिलता)

ने केवल सूफीमत का ज्ञान हिन्दी-कविता में उपस्थित कर दिया। ईरान में यूसुफ और जुलेखा की कथा के भीतर से सूफी मत का प्रतिपादन किया गया था। यहाँ इन कवियों ने भारतीय वातावरण के अनुकूल नई कहानियाँ गढ़ लीं। किन्तु, इन काव्यों में निहित गूढ़ अर्थों तक (जो कवि के असली लक्ष्य थे) जनता नहीं पहुँच पाती थी। अतः, इन सारे काव्यों का सामाजिक उपयोग क्या था, यह समझ में नहीं आता। कदाचित्, ये कवि जनता को काव्यानन्द दे रहे थे। कदाचित्, वे अपनी आत्मा के परितोष के लिए लिखते थे। आचार्य श्री चतुरसेन शास्त्री ने लिखा है कि "इन सूफी साधुओं ने हिन्दी भाषा, हिन्दी छंद और हिन्दी चरित्रों का आश्रय लेकर हिन्दू-जनता को अपने सूफी सिद्धान्तों पर विमोहित करके 'खुदावाद' की ओर आकर्षित करने की चेष्टा की। वे स्वयं कट्टर मुसलमान बन कर उनका गुरु बनना चाहते थे। वास्तव में, यह इन सूफी साधुओं की हिन्दू-जनता में मुस्लिम धर्म प्रचार की एक कौशलपूर्ण योजना थी।"[1] जायसी ने पद्मावत की रचना किसी कौशलपूर्ण योजना के अनुसार की थी या नहीं, यह कहना कठिन है, किन्तु, परिणाम उसका वह हो सकता था जो शास्त्री जी ने बतलाया है। सूफी संत भारत में आ कर धर्म प्रचार से निरपेक्ष तो नहीं थे। अतएव, अपने मत को भारत में प्रसार देने के लिए, उन्होंने प्रेमोपाख्यानक काव्य रचे हों तो कोई अचरज की बात नहीं।

इन दो धाराओं के कवियों के बाद,जो कबीर वाली धारा बच जाती है,उसने हिन्दू-मुस्लिम एकता का खुल कर प्रचार किया। कबीरादि निर्गुण-पंथी साधकों ने एकता का प्रचार क्यों किया, इसके कारण थे। एक तो ये निर्गुनियाँ संत सिद्धों के उत्तराधिकारी थे। और सिद्ध वर्णाश्रम-धर्म के घोर आलोचक रहे थे। अतएव, इन संतों को वर्णाश्रम-धर्म अपने विरुद्ध प्रचार करने से नहीं रोक सका। दूसरे, ये लोग शास्त्रों के बन्धनों से मुक्त एवं स्वाधीन चिन्तक पुरुष थे। अतएव, सभी धर्मों के वाह्याचारों से ये घृणा करते थे एवं इनकी दृष्टि धर्म के उस रूप पर थी जो सब धर्मों के मूल में बसता है। फिर, समाज में जो तू-तू मैं-मैं चल रही थी, उससे भी ये लोग दुखी थे। इसलिए, सच्चे मन से इन्होंने चाहा कि हिन्दू और मुसलमान एक हो जायें। एक अन्य कारण यह भी था कि बुद्ध के द्वारा संशोधित नये हिन्दुत्व के सब से उग्र प्रतिनिधि यही लोग थे। अतएव, इन्हें अपना शस्त्र बना कर हिन्दुत्व एक बार फिर यह चेष्टा करने लगा था कि इस्लाम और हिन्दुत्व के भेद मिट जायें तथा दोनों धर्म इस प्रकार घुलमिल जायँ कि एक को दूसरेसे अलग बताना असंभव हो जाय। दार्शनिकों, पंडितों और बड़े-बड़े धर्माचार्यों के धरातल से नीचे, जनता के स्तर पर मुस्लिम-काल में जो धार्मिक चेतना उठी, जो हृदय-मंथन हुआ उसका सब से सुन्दर निष्कर्ष यह था कि इस्लाम और हिन्दुत्व, दोनों को किसी-न-किसी प्रकार एक ही समन्वित रूप ले लेना

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास।

चाहिए। जाति और धर्म अनेकता के कारण होते हैं। यह अनेकता यहाँ एक-संस्कृति के अनुशासन के नीचे भली भाँति दब चुकी थी। अब जो नया धर्म और नई जाति भारत पहुँची थी, उसे भी भारत एक-संस्कृति के अनुशासन में बाँधने का उद्योग कर रहा था। किन्तु, इस बार, एक-संस्कृति के अनुशासन को अपना कार्य पूर्ण करने का अवसर नहीं मिला, क्योंकि बाधा डालने वाले लोग दोनों धर्मों में मौजूद थे।

इन संतों ने बार-बार इस्लाम और हिन्दुत्व, दोनों धर्मों के वाह्याचारों का खंडन किया और बार-बार वे जनता का ध्यान इस बात की ओर ले गये कि धर्म का वास्तविक संबंध जिन मूल तत्त्वों से है, वे तत्त्व किसी एक धर्म की पूँजी नहीं हैं। उनका निवास सभी धर्मों में है। इस प्रक्रिया में इन लोगों ने मूर्त्ति-पूजा और मस्जिद की संस्था पर बड़े गहरे वार किये, जिससे एक ओर तो तुलसी के हृदय को व्यथा पहुँची, दूसरी ओर, कट्टर इस्लाम के अनुयायी भी नाराज हुए। इस्लाम और हिन्दुत्व की आलोचना तथा दोनों के बीच एकता के लिए प्रयास, ये इन कवियों के सामान्य लक्षण हैं।

हिन्दू पूजें देहरा, मूसलमान मसीत।
नामा सोई सेविया, जहँ देहरा न मसीत। (नामदेव : १२७१ ई०)

पंडित ! बाद बदौ सो झूठा।
जनेउ पहिरि बाह्मन जो होना मेहरी को क्या पहराया ?
वो जनम की सूद्रिन परसे तुम पाँड़े क्यों खाया ?
सुन्नत करि मुस्लिम जो होना, औरत को क्या कहिए ?
अरध सरीरी नारि बखानी ताते हिन्दू रहिए।
(कबीर; जन्म १४०० ई.)

तौजी और नमाज न जानूँ ना जानूँ धरि रोजा।
बांग जिकिर तब ही से बिसरी जब से यह दिल खोजा।
कहैं मलूक अब कजा न करिहौं दिल ही सों दिल लाया।
मक्का हज्ज हिये में देखा, पूरा मुरसिद पाया।
(मलूक दास; जन्म १५७४ ई०)

महम्मद किस के दीन में, जिबराइल किस राह ?
इनके मुर्सद पीर की कहिए एक अजाह।
ये सब किस के व्है रहे यह मेरे मन माँहि,
अलख इलाही जगत गुरु दूजा कोउ नहीं।
(दादू दयाल : १५४४ से १६०३ ई०)

रज्जब राम रहीम कहि आदि पुरुष करि याद,
सदा सनेही सुमिरिये जनम न जावे बाद।
जाति-पाँति-कुल सब गए, राम नाम के रंग,
रज्जब लागा लोह ज्यों, पारस का परसंग।
(रज्जब जी : जन्म १५६७ ई०)

नामदेव के गुरु पण्ढरपुर के बिसोबाजी थे। वे मन्दिरों में पूजा करने के विरोधी नहीं थे। किन्तु, सिद्धान्ततः, मूर्त्तिपूजा का खंडन उन्होंने भी किया है।[१] कोई उमंग थी जो इन स्वाधीन चिन्तक संतों को उड़ाये लिये जा रही थी। वे धर्म के बाहरी आडम्बर को मानने को तैयार नहीं थे। केवल निर्गुनियाँ संतों ने ही नहीं, वैष्णव धर्म के आचार्यों तक ने (जो मुख्यतः, वर्णाश्रम के धर्मचार्य थे) मुक्त कंठ से यह मान लिया कि भक्ति के प्रांगण में ऊँच-नीच का भेद नहीं है, द्विज और शूद्र में अन्तर नहीं है। रामानन्द ने मुसलमानों को भी मंत्र दिया, स्त्रियों और शूद्रों को भी शिष्य बनाया। इसी प्रकार, चैतन्य महाप्रभु (१४८५-१५३३ ई०) ने भी मुसलमानों को शिष्य रूप में स्वीकार किया।

आसाम में श्री शंकर देव ने जो महापुरुषीय-संप्रदाय चलाया, रामानन्द और चैतन्य की-सी उदारता उस संप्रदाय में भी थी। शंकर देव जाति के कायथ थे, अतएव, ब्राह्मण की संकीर्णता से वे यों ही मुक्त थे। उन्होंने नागा और मिकिर नामक आदिवासी जातियों को अपने संप्रदाय में दीक्षित किया एवं कुछ मुसलमान भी उनके शिष्य हुए। वे वैष्णव थे, किन्तु, मूर्त्तिपूजा की उन्होंने घोर निन्दा की है। किन्तु, यह वैसी ही बात रही होगी, जैसे, नामदेव मूर्त्ति को पूजते भी थे और उसकी निन्दा भी करते थे। महापुरुषीय संप्रदाय में शूद्र गुरु भी ब्राह्मण शिष्य को दीक्षा दे सकता था।

कुछ तो इस्लाम का धक्का खाने से घबराकर और कुछ सूफियों के प्रभाव में आकर, हिन्दुत्व जगा और जग कर अपने रूप को सुधारने लगा। जात-पाँत व्यर्थ है, अन्त्यज कह कर अनुष्य का अपमान करना अन्याय है एवं सच्चा धर्म तीर्थ और मन्दिर में नहीं, मनुष्य के दयार्द्र स्वच्छ हृदय में बसता है, यह इस नये हिन्दुत्व की सबसे बड़ी शिक्षा हो गई। इस शिक्षा को द्विजेतर जातियों ने बड़े ही उत्साह से ग्रहण किया। कबीर, नानक और दादू जो कुछ बोल रहे थे, वह इस विशाल जनता के हृदय की आवाज थी। ऊपर की जात वालों को यह शिक्षा नहीं रुचती थी, किन्तु, इसमें जो सचाई है उसे द्विजवर्ग भी काट नहीं सकता था। अतएव, वैष्णवाचार्यों एवं उनके अनुयायी कवियों ने भी जात-पाँत की व्यर्थता को स्वीकार कर लिया। रामानन्द ने कबीर और रैदास को शिष्य बनाया और गोसाईं विट्ठलनाथ ने रसखान को दीक्षा दी। शर्त उन्होंने सिर्फ यह लगाई कि भगवान की शरण में आने के बाद, मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं रह जाता है। यह बहुत-कुछ इस्लाम का प्रभाव था और इस प्रभाव के कारण, रुढ़ियों में सिकुड़ा हुआ हिन्दुत्व कुछ अधिक उदार हो गया।

---

१. "पत्थर का देवता नहीं बोलता। वह चोट से टूट जाता है।
पत्थर के देवताओं के पुजारी सब खो बैठते हैं।" (इतिहास-प्रवेश)।

तौहीदे-इलाही

धार्मिक जागर्ति के कारण, इस युग का जो हृदय-मंथन हुआ, अकबर के तौहीदे-इलाही या दीने-इलाही में हम उसका सबसे श्रेष्ठ रूप देखते हैं। अकबर धर्म के मूल-रहस्य को जानने के लिए बड़ा बेचैन रहता था। मुसलमान होने के कारण, उसकी यह भी इच्छा थी कि वह इस्लाम की शरीयत के अनुसार चले। किन्तु, तब तक इस्लाम की अनेक शाखाएँ निकल आई थीं, अनेक फिरके बन गये थे। इनमें से कौन ठीक है और किसका अनुगमन उसे करना चाहिए, यह जानने के लिए, फतहपुर सीकरी में उसने एक इबादत-खाना (प्रार्थना गृह) बनवाया जिसमें विभिन्न इस्लामी फिरकों के विद्वान जमा होकर परस्पर विचार-विनिमय करते थे। इन विद्वानों के विचार-विमर्श को देख कर अकबर को इस्लाम की कट्टरता नापसन्द आने लगी। तब उसने इबादतखाने की बैठकों में अन्य धर्मों के विद्वानों को भी बुलाना आरंभ किया। विभिन्न धर्मों के विद्वानों की इस विचार-गोष्ठी में सभापति का काम अकबर स्वयं करता था और, स्वभावतः ही, परस्पर झगड़ने वाले विद्वानों को सभापति की श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ती थी। इस प्रकार, धीरे-धीरे अकबर देश का धार्मिक नेता भी बनने लगा। "सन् १५७९ ई. में अकबर ने खुद साम्राज्य के प्रमुख इमाम की हैसियत से, मस्जिद के मिम्बर से खुतबा पढ़ा। तभी, राज्य के प्रमुख उलमाओं के हस्ताक्षरों से यह घोषणा की गई कि इमाम-ए-आदिल (प्रमुख इमाम) सब मुजतहिदों (मजहब के व्याख्याकारों) से बड़ा है और विवादग्रस्त मामलों में उसका फैसला सबको मान्य होगा। जो न माने उसे दंड देना उचित होगा।"[१]

इस घोषणा से कट्टर मुसलमान भड़क उठे और अकबर के भाई मुहम्मद हकीम से मिल कर उन्होंने बिहार और बंगाल में बलवा कर दिया। "जौनपुर के एक काज़ी ने फतवा दे दिया कि अकबर के खिलाफ बलवा करना जायज़ है।"[२]

अकबर ने इस बलवे को दबा दिया और उसके बाद, धर्म के मामले में निर्णय देने की उसे पूरी स्वतन्त्रता मिल गई। "अकबर दूसरे धर्मों की तरफ झुकने लगा और उसने घोषणा कर दी कि उसके बेटे, चाहे जो, मजहब मान सकते हैं। जरथुस्त्रियों की तरह, वह अपने घर में पवित्र आग रखने और सूर्य को प्रणाम करने लगा और जैनों और हिन्दुओं के प्रभाव से उसने गोहत्या की मुमानियत कर दी। ..... ईसाइयों का एक-पत्नीव्रत भी उसे भाया।

---

१. इतिहास-प्रवेश

२. वही

इस प्रकार, सब धर्मों का सामंजस्य करके उसने एक व्यापक धर्म बनाने की कोशिश की। उसने लिखा, 'एक साम्राज्य में, जिसका एक शासक हो, यह अच्छा नहीं है कि प्रजा एक दूसरे के विरोधी मतों में बँटी रहे। इसलिए, हमें उन सबको मिलाकर एक करना चाहिए। किन्तु, इस प्रकार कि वे एक भी हो जायें और अनेक भी बने रहें।"[1]

अकबर, सचमुच, महान् था। भारत की एकता की समस्या को उसने ठीक पहचाना था। इस देश की एकता तभी बच सकती है जबकि इसकी अनेकता के साथ उसका पूरा सामंजस्य हो।

फैजी के द्वारा अकबर ने रामायण, महाभारत, योगवाशिष्ठ और कुछ वेदान्त का भी फारसी में अनुवाद करवाया था एवं हिन्दुओं के बीच इस्लाम के प्रति श्रद्धा जगाने को उसने एक छोटी-सी उपनिषत् भी लिखवायी थी जिसका नाम "अल्लोपनिषत्" है। अकबर हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच जिस समन्वय को लाने की चेष्टा कर रहा था, उसमें उसका सबसे बड़ा सहायक अबुल फजल था। किन्तु, उलेमा दोनों के खिलाफ थे। इतिहासकार बदायूनी ने लिखा है कि 'अबुल फजल संसार को नास्तिकता के जहर से जला रहा है'।

फिर भी, धर्म और विचार की सारी स्वतन्त्रताओं के बीच, अकबर इस्लाम के तौहीद (एकेश्वरवाद) को कस कर पकड़े हुए था। इसीलिए, अपने ईश्वर-धर्म (दीने-इलाही) का नाम उसने तौहीदे-इलाही रखा था। सन १५९३ ई. में, उसने धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए कई आज्ञाएँ निकालीं, जिनमें से प्रमुख ये थीं कि (१) कोई जबर्दस्ती मुसलमान बनाया गया हिन्दू अगर फिर हिन्दू बनना चाहे तो उसे कोई न रोके। (२) किसी भी आदमी को जबर्दस्ती एक धर्म से दूसरे धर्म में न लाया जाय। (३) प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म-मन्दिर बनाने की पूरी स्वतन्त्रता रहे और (४) जबर्दस्ती किसी विधवा को सती न बनाया जाय। स्पष्ट ही, अकबर के ये धार्मिक सुधार मुल्लाओं को अच्छे नहीं लगे और वे अकबर की हलके-हलके निन्दा करने लगे। "उनके कट्टरपन से खीझ कर पिछले जीवन में अकबर को इस्लाम का बहुत कुछ दमन भी करना पड़ा।"

अकबर की उदारता की नीति बहुत-से मुसलमानों को अच्छी नहीं लगी होगी। इतिहासकार फरिश्ता ने लिखा है कि अकबर की दया निस्सीम थी एवं दया के कारण ही, वह कभी-कभी बेवकूफी भी कर बैठता था। कहते हैं, अकबर ने कुछ दिनों तक पुनर्जन्म में भी विश्वास किया था और कभी-कभी वह दरबार में चन्दन लगा कर भी बैठता था। जैन, यहूदी, ईसाई और हिन्दू, वह सब को खुश रखना चाहता था। उसने बाइबिल का अनुवाद फारसी में कराने की आज्ञा दी थी और ईसाइयों को भारतवर्ष में अपना धर्म फैलाने की भी स्वतन्त्रता दे रखी थी। अपने एक बेटे की शिक्षा के लिए भी, उसने एक ईसाई शिक्षक

---

१. वही

रख छोड़ा था।

धर्म अकबर की राजनीति का साधन नहीं था, प्रत्युत्, यह उसकी आत्मा की अनुभूति थी। अबुल फजल और बदायूनी के विवरणों से मालूम होता है कि अकबर सूफियों की तरह कभी-कभी समाधि में आ जाता था और कभी-कभी सहज ज्ञान के द्वारा वह मूल-सत्य के आमने-सामने भी पहुँच जाता था। एक बार वह शिकार में गया। उस दिन ऐसा हुआ कि घेरे में बहुत-से जानवर एक साथ पड़ गए और वे सब मार डाले गये। अकबर हिंसा के इस दृश्य को सह नहीं सका। उसके अंग-अंग काँपने लगे और तुरंत उसे एक प्रकार की समाधि हो आई। इस समाधि से उठते ही उसने आज्ञा निकाली कि शिकार करना बन्द किया जाय। फिर उसने भिखमंगों को भीख दी, अपना माथा मुँडवाया और धार्मिक भावना के इस जागरण की स्मृति में एक भवन का शिलान्यास किया।[1] जंगल के जीवों ने अपनी वाणीविहीन वाणी से उसे धर्म का रहस्य बतलाया और अकबर की जागरूक आत्मा ने उसे पहचान लिया। यह, स्पष्ट ही, उपनिषदों और जैन-धर्म की शिक्षा का प्रभाव था।

अकबर हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों का प्रेमी था, किन्तु, दोनों की कट्टरता से उसे घृणा थी। धर्म-परिवर्तन करने वालों को वह नीची नजर से देखता था, क्योंकि उसका विश्वास था कि "जो लोग अपना धर्म भय या लोभ से बदलते हैं उनमें धार्मिकता नहीं होती।"

हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच, यदि कभी कोई सामासिक संस्कृति बनी थी, तो उसका पहला और सबसे बड़ा नेता अकबर था। किन्तु, भारतवर्ष का दुर्भाग्य है कि जिस नेता को हिन्दू न्यायी समझते हैं, मुसलमान उसके विरुद्ध हो जाते हैं तथा जिस नेता को मुसलमान मानने लगते हैं, हिन्दू उसे मार डालते हैं। अकबर और महात्मा गाँधी, ये दो नेता इस बात के प्रोज्ज्वल प्रमाण हैं। औरंगजेब ने अकबर के सभी उदार कृत्यों को काट कर भारत में फिर से अनुदारता की आग जला दी। परिणाम यह हुआ कि जहाँ से उसने अनुदारता आरंभ की, वहीं से मोगल-साम्राज्य टूटने लगा और, अन्त में, वह बिलकुल टूट गया। फिर भी, आज औरंगजेब ऊँचा और अकबर नीचा समझा जाता है।[2] यह सामासिक

१. ए पैजेंट आव् एशिया (केनेथ सौंडर्स)।

२. **भारतीय इस्लाम के सब से बड़े कवि सर मुहम्मद इकबाल ने अपनी फारसी कविता 'रमूजे-बेखुदी' में कहा है कि "शाह आलमगीर (औरंगजेब) महान् और प्रतापी राजा था। गुरगां-तैमूर के वंश का वह गौरव और अभिमान हुआ है। शाह आलमगीर के कारण इस्लाम की सुयश-पताका बहुत ऊँचे उड़ी और पैगम्बर के नियमों का व्यापक सम्मान हुआ। कुफ्र और ईमान के युद्ध में वह हमारे तरकश का आखिरी तीर था। जब नास्तिकता का नापाक बीज, जिसका पालन अकबर ने किया था, दारा के हृदय में अंकुरित हुआ, तब प्रत्येक हृदय में धर्म की ज्योति मन्द पड़ने लगी और मुसलमानों की**

संस्कृति की सेवा नहीं, उसके कोमल अंगों पर प्रहार है।

अकबर ने जो ज्योति जलायी थी, वह जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में जलती रही। जहाँगीर और शाहजहाँ, दोनों की माताएँ हिन्दू थीं, अतएव, हिन्दू-विरोधी कट्टरपन इन लोगों में नहीं आया। फिर भी, इन विलासी शासकों में अकबर का साहस और प्रताप नहीं था कि मुल्लाओं के विरोध को दबा कर वे एकता के शकट को आगे बढ़ा सकें। अकबर की उदारता, अकबर की दूरदर्शिता और अकबर का मानवत्व भारतवर्ष के नेताओं और राजाओं में कभी-कभी ही प्रकट हुआ है। कितने विस्मय की बात है कि जब फ्रांस में कैथालिक लोग प्राटेस्टेंटों को जिन्दा जला रहे थे, जब इंग्लैंड में (एलिजाबेथ के इंग्लैंड में) प्राटेस्टेंट लोग कैथालिकों से फ्रांस का बदला दुगुने बल से चुका रहे थे और जब इनक्विजिशन के मारे स्पेन में यहूदियों का बरा हाल था, तब भारतवर्ष में अकबर हिन्दुओं पर किये गये मुस्लिम अत्याचारों के कलंक को दूध और अमृत से धो रहा था। अकबर ने हर तरह से हिन्दू-धर्म का आदर किया। सिर्फ एक जहर था जिसका उतार उसके पास नहीं निकला। देश पर शासन मुस्लिम-कानून से होता था और कुरान पर आधारित होने के कारण, इस कानून में यह विधान था कि यदि मुसलमान अपराधी हो तो उसके खिलाफ काफिर गवाह की गवाही सबूत नहीं मानी जायगी। परिणाम इसका यह था कि मुसलमानों के खिलाफ हिन्दुओं को न्याय कम ही मिल पाता था। मगर, यही बात अंगरेजी शासन में भी चलती रही, क्योंकि यद्यपि, अंगरेजों ने इस तरह के बेहूदे कानून नहीं बनाये थे, मगर, कचहरियों में अंगरेज अपराधी के साथ पक्षपात का होना मामूली बात थी।

जहांगीर और शाहजहाँ ने अकबर की नीति बहुत दूर तक बरती, लेकिन, सन् १६३२ ई. में, न जानें, शाहजहाँ को क्या हुआ कि उसने फरमान निकाल दिया कि अब आगे से नये मन्दिर नहीं बनवाये जायें और जो मन्दिर बनाये जाने के क्रम में हों वे तोड़ दिये जायें। गोहत्या की मुमानियत भी,[1] जो अकबर के समय से चली आ रही थी, सन् १६२६ ई. के आसपास से ढीली हो गई। किन्तु, पुराने मन्दिर तोड़े नहीं गये, इससे शाहजहाँ

जमायत पतन और भ्रष्टाचार से सुरक्षित नहीं रह सकी। तब भगवान ने हिन्दुस्तान से विनम्र हृदय योद्धा आलमगीर को धर्म की जागर्ति और ईमान की रक्षा के लिए चुन कर खड़ा किया। उसकी तलवार ने पाप और अपवित्रता की फसल में आग लगा दी और धर्म की मशाल फिर से प्रज्वलित हो उठी।" (रमूजे-बेखुदी के प्रोफेसर आरबेरी-कृत 'द मिस्ट्रीज आव् सेल्फलेसनेस' नामक अंग्रेजी अनुवाद से अनूदित)।

१. अकबर ने गोहत्या की मनाही कर रखी थी। कहते हैं, नरहरि नामक हिन्दी-कवि ने गौओं की ओर से निम्नलिखित छप्पय अकबर को सुनाया था जिसका अकबर के भावुक हृदय पर अनुकूल प्रभाव पड़ा :—

की उदारता जरूर झलकती है। इसके सिवा, पुर्तगाली यात्री सेबाश्चियन मानदिक के यात्रा-विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि शाहजहाँ के मुस्लिम अफसरों ने एक मुसलमान का दाहिना हाथ इसलिए काट डाला था कि उसने दो मोर-पक्षियों का शिकार किया था और बादशाह की आज्ञा थी कि जिन जीवों का वध करने से हिन्दुओं को ठेस पहुँचती है, उनका वध नहीं किया जाय।

शाहजहाँ, यद्यपि, हिन्दू माँ का बेटा था, किन्तु, उसका व्यक्तित्व फटा हुआ-सा लगता है। और अजब संयोग की बात कि उसके व्यक्तित्व के दोनों टुकड़े उसके दो पुत्रों में साकार हुए। व्यक्तित्व का जो अंश अकबर से आया था, उसका प्रतिनिधि **दारा शिकोह** हुआ। इसके विपरीत, कट्टर इस्लामी संस्कारों से उसके जिस व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था, उसका प्रतिनिधित्व औरंगजेब ने किया।

जन्मान्तरवाद के सिद्धान्तानुसार, दारा शिकोह को अकबर का ही अवतार कहना चाहिए, सिवा इसके कि वह अकबर की वीरता, कर्मठता और अध्यवसाय से विहीन था। शाहजहाँ ने जब जब उसे गवर्नर बनाया, वह अपने इलाके में कभी नहीं गया। दिल्ली में बैठ कर किताबें पढ़ना उसका सबसे बड़ा काम था। फिर भी, अकबर का जो काम अधूरा रह गया था उसी को पूरा करने के लिए उसने दारा बन कर जन्म लिया था। यद्यपि यह काम पूरा तो क्या, आधा भी संपन्न नहीं हुआ। वह शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र था। यदि वह भारत का सम्राट हुआ होता तो भारत का इतिहास आज कुछ और होता। तब हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य की जहरीली कीच से हम, शायद, बाहर निकल गये होते और भारत की राष्ट्रीयता बहुत मजबूत हो गई होती। किन्तु, भारत का दुर्भाग्य उसके पीछे लगा हुआ था। औरंगजेब ने खदेड़ कर दारा को मार डाला और बाप को कैद कर के वह खुद सिंहासन पर बैठ गया। जिस दिन दारा शिकोह मारा गया और औरंगजेब गद्दीनशीन हुआ, सामासिक संस्कृति का कलेजा, असल में, उसी रोज फटा और तब से, यद्यपि, हम इस फटन को बार-बार सीने की कोशिश करते आ रहे हैं, किन्तु, वह ठीक से सिल नहीं पाती।

दारा शिकोह जवान होता हुआ भी, धार्मिक और अत्यन्त विचारशील था। हिन्दू पंडितों, हिन्दू कवियों और हिन्दू साधकों से उसका दरबार भरा रहता था। वह कट्टर

अरिहुँ दन्त तृन धरै ताहि मारत न सबल कोइ।
हम सन्तत तृन चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ।
अमृत छीर नित स्रवहिं बच्छ महि थम्भन जावहिं।
हिन्दुहिं मधुर न देहिं कटुक तुरकहिं न पियावहिं।
कह कवि 'नरहरि' अकबर सुनो, बिनवत गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुयहु चाम सेवहिं चरन।

मुसलमान नहीं होकर शुद्ध सूफी था। "मजमुअल बहरेन" (सागर-संगम) नामक अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक में उसने हिन्दुत्व और सूफीमत के बीच पूर्ण समन्वय दिखलाया है। उसने कुछ उपनिषदों का भी फारसी में अनुवाद किया था एवं उसकी एकान्त कामना थी कि इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच कोई स्थायी सामंजस्य उत्पन्न हो जाय। किन्तु, अदृष्ट को यह मंजूर नहीं था। हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलजुल कर जो समान-संस्कृति उत्पन्न की थी, वह दारा के शरीर के साथ छिन्न हो गई एवं औरंगजेब ने, पाकिस्तान के पूर्वाभास के रूप में, परस्पर मिलती हुई दो जातियों को तलवार के जोर से अलग कर दिया।

दारा शिकोह और सम्राट अकबर, ये हिन्दू-हृदय को बहुत ही प्रिय रहे हैं। अकबर का आदर हिन्दुओं ने इसलिए नहीं किया कि वह सच्चा मुसलमान नहीं था, बल्कि, इसलिए कि वह इस्लाम के जबर्दस्ती प्रचार किये जाने का विरोधी था; वरन् इसलिए कि वह हिन्दू-धर्म का भी प्रेमी था तथा जनता के केवल तन ही नहीं, मन और ईमान की भी रक्षा करता था। कविवर बनारसी दास नामक एक हिन्दी-कवि अकबर के समकालीन थे। जब बनारसी दास उन्नीस वर्ष के हुए, तब संवत् १६६२ वि. में अकबर का स्वर्गवास हुआ। अकबर की मृत्यु से सारा देश दहल उठा, सारी प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी और बनारसी दास तो संवाद सुनते ही बेहोश हो कर गिर पड़े। बनारसीदास लिखते हैं :

संवत सोलह सै बासठा, आयौ कातिक पावस नठा।
छत्रपति अकबर साहि जलाल, नगर आगरे कीनो काल।
आई खबर जौनपुर माह, प्रजा अनाथ भई बिनु नाह।
पुरजन लोग भए भयभीत, हिरदै व्याकुलता मुख पीत।

दोहा

अकसमात बानारसी, सुनि अकबर को हाल।
सीढ़ी पर बैठ्यो हुतो, भयो भरम चित जाल।
आइ तबाला गिरि पर्‌यौ, सक्यौ न आपा राखि।
फूटि भाल लोहू चल्यौ, कह्यौ 'देव' मुख भाखि।

चौपाई

इस ही बीच नगर में सोर, भयौ उदंगल चारिहु ओर।
घर-घर दर-दर दिये कपाट, हतवानी नहिं बैठें हाट।
भले वस्त्र अरु भूसन भले, ते सब गाड़े धरती तले।
घर-घर सबन्हि बिसाहे सस्त्र, लोगन पहिने मोटे वस्त्र।[१]

---

१. अर्ध कथानक से। यह ग्रन्थ हिन्दी का प्रथम आत्म-चरित है। इसका प्रकाशन सन् १९४३ ई० में हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से हुआ है।

देश के विश्वासी और प्रतापी सम्राट के मरने पर जनता को संभाव्य अव्यवस्था से जो चिन्ता होती है, वह इन पंक्तियों में स्पष्ट है। बनारसी दास के बेहोश होने में उस शोक का भी कुछ स्पर्श मालूम होता है, जिस शोक से आकुल होकर गाँधीजी के मरने के बाद, देश में कई व्यक्ति अनायास मर गये थे।

किन्तु, दोष एक ही तरफ का रहा हो,सो बात नहीं है। जब औरंगजेब ने दारा शिकोह का पीछा किया, बेचारा दारा बाज के द्वारा खदेड़े हुए कपोत के समान सारे, राजस्थान और पंजाब में त्राण खोजता भागता फिरा। किन्तु, कोई भी हिन्दू माई का लाल ऐसा नहीं निकला जो उसे शरण देता अथवा उसकी ओर से झंडा लेकर खड़ा होता। सहायता करने की बात तो दूर रही, औरंगजेब के हिन्दू मनसबदार जसवन्तसिंह और जयसिंह दारा के पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। आखिर को, दर्रा बोलान के पास एक पठान ने उसे शरण दी। किन्तु, ज्यों ही औरंगजेब की सेना वहाँ पहुँची, उस पठान ने दारा को फौज के हवाले कर दिया और औरंग-जेब ने डंका बजा कर दिल्ली में उसकी हत्या कर दी।

अकबर-बीरबल-विनोद की कुछ ऐसी भी कहानियाँ सुनी जाती हैं, जिनमें ऐतिहासिक तथ्य तो नहीं है, किन्तु, जिनसे इस बात पर थोड़ा प्रकाश अवश्य पड़ता है कि अकबर की उदार धार्मिक नीति का जो प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ना चाहिए था, वह नहीं पड़ा। कहते हैं, एक बार अकबर ने बीरबल से कहा कि कौरव-वंश का जैसा महाभारत-पुराण हिन्दुओं में प्रचलित है, कुछ वैसा ही महाभारत मुगलिया-खान्दान का भी लिखा जाना चाहिए। बीरबल ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। किन्तु, कुछ दिनों के बाद, उसने बादशाह से पूछा कि हिन्दुओं के महाभारत में तो द्रौपदी के पाँच पति दिखलाये गये हैं, लेकिन, साम्राज्ञी के लिए जहाँपनाह कितने पति रखवाना चाहेंगे। यह कहानी, संभवतः, झूठी होगी। किन्तु, हिन्दू मुसलमानों से जो बिलगाव कायम रखना चाहते थे उसी की व्याख्या करने के लिए ऐसी कहानियों की सृष्टि हुई होगी।

क्रान्तिकारी नेताओं का जो हाल होता है, अकबर का भी वही हाल हुआ। उसका साथ न तो उच्च वर्ग के हिन्दुओं ने दिया और न मुसलमानों ने। कट्टर मुसलमान उसे काफिर समझते रहे और ऊँचे तबके के हिन्दुओं ने भी उसे मुसलमान ही समझा। फिर भी, उसने जो प्रयत्न आरंभ किया था, लस्टम-पस्टम, उसका कुछ न कुछ कल्याणकारी परिणाम अवश्य निकलता, यदि शाहजहाँ के बाद, औरंगजेब भारत का सम्राट नहीं बन बैठता।

औरंगजेब इस्लाम की पाबन्दियों का पालन करने के कारण, अच्छा मुसलमान समझा जाता है, किन्तु, शासक वह बहुत बुरा निकला। बाबर से लेकर शाहजहाँ तक मोगलों ने भारत की जिस सामासिक संस्कृति को पाल-पोस कर खड़ा किया था, उसे औरंगजेब ने एक ही झटके में तोड़ डाला और साथ ही अपने साम्राज्य की कमर भी तोड़ दी। वह हिन्दुओं

का ही नहीं, सूफियों का भी दुश्मन था और सरमद-जैसे सन्त को उसने शूली पर चढ़ा दिया। हिन्दुओं पर तो उसने तरह-तरह के अन्याय किये। उन दिनों, "बिक्री के माल पर अढ़ाई रुपया सैंकड़ा चुंगी लगती थी। हिन्दुओं पर वह चुंगी पाँच रुपया सैंकड़ा कर दी गई। इसके बाद, मुसलमानों के माल पर से महसूल बिलकुल उठा दिया गया। मुसलमान बनने वालों को सरकारी ओहदे, तरक्की और कैद की माफी मिलने लगी। दिल्ली और अन्य बड़े-बड़े शहरों में संगीत बन्द करा दिया गया। शहरों में होली, दिवाली और मुहर्रम का जुलूस निकालना और स्त्रियों का कब्रें पूजना रोका गया। 'काफिरों' के मन्दिर और विद्यालय ढहा देने का हुक्म निकाला गया (१६६९ ई.)। उसके बाद, सब हिन्दू पेशकारों और दीवानों को राजकीय सेवा से निकालने का हुक्म हुआ, पर, पीछे, आधे पद हिन्दुओं को दे देने पड़े। इसके बाद, मूर्त्तिपूजा रोकने का फरमान निकाला गया। अन्त में,औरंगजेब ने गैर-मुस्लिमों पर फिर से जजिया लगा दिया (१६७९ ई.)[१]।" इस प्रकार, हिन्दुओं और मुसलमानों को दो जातियों के रूप में अलग रखने का सचेष्ट प्रयास औरंगजेब ने किया। अजब संयोग की बात कि **भारत-विभाजन की प्रथम कल्पना भी उसी की थी।** उसी ने यह वसीयत की थी कि उसके मरने के बाद, उसका सारा राज्य उसके तीन बेटों के बीच बाँट दिया जाय, यद्यपि उसका यह सपना पूरा नहीं हुआ।

इस प्रकार, औरंगजेब ने इस्लाम की सेवा तो खूब की, लेकिन, प्रजा ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया। जब मथुरा में मन्दिर तोड़ा गया, गोकुल जाट के नेतृत्व में वहाँ के किसानों ने बगावत कर दी। उज्जैन में जो कर्मचारी मन्दिर तोड़ने गये, उन्हें प्रजा ने मार डाला। दिल्ली के पश्चिम नारनौल के जिले में सतनामी लोग विद्रोह कर बैठे और महाराष्ट्र में शिवाजी ने ऐसा प्रचंड विद्रोह मचाया कि मोगल-साम्राज्य की नींव ही उखड़ गई। किन्तु, औरंगजेब की धर्मान्धता पर सब से विलक्षण टीका यह हुई कि उसके अन्याय से आहत होकर गुरु नानक का चलाया हुआ सिक्ख संप्रदाय, जो शान्त भक्तों का संप्रदाय था, खुल कर सैनिकों का संप्रदाय हो गया।

---

१. इतिहास-प्रवेश।

सिक्ख-धर्म

भारतीय वेदांत और ईरानी तसव्वुफ के मिलन से भारतवर्ष में जो धार्मिक जागर्त्ति उत्पन्न हुई, कबीर की तरह, नानक भी उसी जागर्त्ति के पुष्प थे। देश-विदेश में घूम कर उन्होंने अपने समय के बड़े-बड़े योगियों और साधकों की संगति की थी। कहते हैं, वे बगदाद भी गए थे और वहाँ उनका खूब स्वागत-सत्कार हुआ था। बगदाद में उनकी याद में एक मंदिर भी है जिस पर तुर्की भाषा में शिलालेख मौजूद हैं। गुरु नानक के सैयद-वंशी चेलों के उत्तराधिकारी अभी तक उस मंदिर की रक्षा करते हैं। ये सारी बातें बगदाद के एक अरबी पत्र 'दारुल सलाम' के ९ अप्रैल, १९१९ ई. वाले अंक में छपी हैं।[1]

गुरु नानक ने जो पंथ चलाया, वही सिक्ख-पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तत्कालीन संतधारा के अनुसार, गुरु नानक भी निराकारवादी थे। वे अवतारवाद, जात-पाँत और मूर्त्तिपूजा को नहीं मानते थे। उनका मत एक ओर जहाँ वेदांत पर आधारित है; वहाँ दूसरी ओर, वह तसव्वुफ के भी अनेक लक्षण लिये हुए है। विशेषतः गुरु नानक की उपासना के चारों अंग (सरन-खंड, ज्ञान-खंड, करम-खंड तथा सच-खंड) सूफियों के चार मुकामात (शरीअत, मारफत, उकबा और लाहूत) से निकले हैं, ऐसा विद्वानों का विचार है। गुरु नानक और शेख फरीद के बीच गाढ़ी मैत्री थी, इसके भी प्रमाण मिलते हैं।

गुरु साहब की वेशभूषा और रहन-सहन सूफियों-जैसी थी। अतएव, बहुत-से अर्वाचीन विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि गुरु नानक पर मुस्लिम प्रभाव अधिक था। अतः, उनका धर्म इस्लाम का ही स्वतन्त्र आख्यान रहा होगा। इस अनुमान के समर्थन में, अक्सर, यह भी कहा जाता है कि गुरु नानक के शिष्य केवल हिन्दू ही नहीं, बहुत-से मुसलमान भी हुए थे। इस प्रसंग में, यदि सिक्ख धर्म-ग्रंथों का प्रमाण खोजा जाय तो 'रहटनामा' में गुरु की स्पष्ट आज्ञा मिलती है कि खालसा धर्म (शुद्ध धर्म) हिंदू और मुस्लिम, दोनों धर्मों से अलग है।[2] गुरु की इस आज्ञा को सही मानना चाहिए, क्योंकि गुरु नानक यदि हिंदुत्व या इस्लाम से पूर्णरूप से संतुष्ट रहते तो उन्हें एक नवीन पंथ निकालने की चिन्ता ही नहीं होती।

हिंदुओं के आचरण से वे कितने असंतुष्ट थे, यह उनके इस कथन से जाना जा सकता है कि 'हिन्दुओं में से कोई भी वेद-शास्त्रादि को नहीं मानता, अपितु, अपनी ही बड़ाई में

---

१. दे० मेडिवल मिस्टीसिज्म आव इंडिया; आचार्य क्षितिमोहन सेन

२. दे० सिक्खिज्म—इट्स आयडियल्स एंड इंस्टीट्यूशन्स; तेजासिंह

लगा रहता है। उनके कान व हृदय सदा तुर्कों की धार्मिक शिक्षाओं से भरते जा रहे हैं और मुसलमान कर्मचारियों के निकट एक दूसरे की निन्दा करके लोग सबको कष्ट पहुँचा रहे हैं। वे समझते हैं, रसोई के लिए चौका लगा देने मात्र से हम पवित्र हो जायेंगे।' इसी प्रकार, वे अन्यत्र मुसलमानी शासन में काम करने वाले हिन्दू टैक्सकलक्टरों को लक्ष्य करके कहते हैं कि ' गौ तथा ब्राह्मणों पर कर लगाते हो और धोती, टीका एवं माला-जैसी वस्तुएँ धारण किए रहते हो। अरे भाई, तुम अपने घर पर तो पूजा-पाठ किया करते हो और बाहर कुरान के हवाले दे-देकर तुर्कों के साथ संबंध बनाए रहते हो। अरे, ये पाखंड छोड़ क्यों नहीं देते ?[१]

इन पंक्तियों में, हिन्दुओं की आलोचना तो है ही, किन्तु, उनके लिए एक तड़प, एक सहानुभूति, एक दर्द भी है और सिक्ख-धर्म का सारा इतिहास हिंदुत्व के लिए इस तड़प, इस सहानुभूति और इस दर्द से परिपूर्ण रहा है। अतएव, यह मानना अधिक युक्तियुक्त है कि जैसे उन्नीसवीं सदी में हिंदुत्व ने अपनी रक्षा करने के लिए आर्य-समाज और ब्रह्म-समाज का रूप लिया लिया था, वैसे ही, इस्लाम से बचने के लिए उसने अपना निराकार-वादी रूप प्रकट किया जिसके महान् व्याख्याता महात्मा नानक हुए।

किसी पाश्चात्य लेखक ने चमत्कारपूर्ण शैली में कहा है कि सिक्ख-धर्म सनातन धर्म की अरबी टीका और आर्य-समाज इस्लाम का संस्कृत में अनुवाद है। इसलिए, सिक्ख-धर्म को इस्लाम की शाखा मानना तो नितांत भूल है, हम उसे हिंदुत्व की ही बाँह कह सकते हैं।

सच्ची बात तो यह है कि सिक्ख-धर्म के दर्शन और इस्लाम के दर्शन में, विशेषतः, ईश्वर के स्वरूप को लेकर वही भिन्नता है जो कुरान और वेदांत के बीच मिलती है। हज़रत मुहम्मद ईश्वरवादी थे, किन्तु, ईश्वर के बारे में उनकी कल्पना यह थी कि वह सातवें आसमान पर रहता है एवं मनुष्यों के सुख-दुःख तथा भक्ति-अभक्ति से उसका संबंध है। किन्तु, गुरु नानक का ईश्वर निराकार पुरुष है। 'वह स्थान विशेष में रहकर सिंहासना-सीन होने वाला नहीं है, बल्कि सर्वात्मभाव से अणु-अणु के भीतर ओतप्रोत है और उसके सार्वभौमिक नियमों का पालन विश्व के प्रत्येक पदार्थ द्वारा, स्वभावतः, होता जा रहा है।[२] इससे विदित होता है कि गुरु नानक वेदांत की भावना से भरे हुए थे एवं उनपर सूफियों की धर्म-साधना का प्रभाव तो पड़ा था, किन्तु, इस्लामी दर्शन का उनपर कोई प्रभाव नहीं था।

उनका सृष्टि-विकास का सिद्धांत वेदांत का सिद्धांत है। वे कर्म को मानते हैं, पुनर्जन्म को मानते हैं, निर्वाण और माया को मानते हैं एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेश के

---

१. उत्तरी भारत की संत-परंपरा में 'आदिग्रंथ' से उद्धृत।

२. उत्तर भारत की संत-परंपरा।

त्रिदेवत्व में विश्वास करते हैं। उनका, गुरु-परम्परा में, जो विश्वास है, वह सूफीमत से खूब पुष्ट हुआ दीखता है। इस्लाम की मौलिक शिक्षा के विपरीत और सूफीमत की साधना के अनुसार, वे वैराग्य में भी आस्था रखते हैं। इसके सिवा, नामजप, ध्यान, समाधि और राजयोग का भी उनके यहाँ बहुत महत्व है। सब मिलाकर गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित पंथ सरल, सुकुमार, जनप्रिय एवं विनयपूर्ण पंथ था। उसकी सबसे बड़ी शिक्षा यह थी कि परमात्मा विश्व के कण-कण में व्याप्त है। इसलिए, निखिल सृष्टि को ब्रह्ममय समझकर उसे प्रणाम करो।

सिक्ख-धर्म में **'वाह गुरु'** का जो धार्मिक नारा प्रचलित है उसकी एक व्याख्या कहीं से डोरोथी फील्ड ने उद्धृत की है[१] जिसके अनुसार, 'वा' का संकेत वासुदेव, 'ह' का हरि, 'गु' का गोविंद और 'रु' का राम की ओर है।

सिक्ख-धर्म, आरंभ से ही प्रगतिशील रहा है। जात-पाँत, मूर्तिपूजा और तीर्थ के साथ वह सती-प्रथा, शराब और तंबाकू का भी वर्जन करता है। इस धर्म ने परदे को बराबर बुरा समझा है। कहते हैं, तीसरे गुरु अमर दास से एक रानी मिलने को आई, किंतु, वह परदे में थी। इसलिए, गुरु ने उससे मिलना अस्वीकृत कर दिया।[२] यह धर्म, आरंभ से ही, व्यावहारिक रहा है एवं जिस वैराग्य को गुरु उच्च जीवन के लिए आवश्यक मानते थे, उसे वे गृहस्थों पर जबर्दस्ती लादने के विरोधी भी थे। खान-पान में खालसा-धर्म में वैष्णवों की कट्टरता कभी नहीं रही। प्रतापमल नामक एक हिंदू-पंडित का बेटा जब मुसलमान होने लगा, तब उसने बेटे से कहा कि खाने-पीने की स्वतंत्रता के लिए हिंदू धर्म को छोड़ना चाहते हो तो अच्छा है कि मुसलमान नहीं होकर सिक्ख हो जाओ।[३] इससे भी ज्ञात होता है कि हिंदुओं के यहाँ खालसा-संप्रदाय पराया नहीं साझा जाता था।

सिक्ख-धर्म में, गुरु नानक से लेकर गुरु गोविंद सिंह तक दस गुरु हुए जिनके नाम, क्रमशः, नानक, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, हरगोविंद, हरराय, हरकृष्णराय, तेगबहादुर और गोविंद हैं। प्रत्येक गुरु, अंत समय में, अपने उत्तराधिकारी को अपना पद सौंप कर उसे पंथ का गुरु घोषित कर दिया करते थे। गुरु गोविंद सिंह जब स्वर्गवासी होने लगे, तब उन्होंने ग्रंथ को ही पंथ का गुरु घोषित किया और यह आज्ञा दे दी कि अब से कोई व्यक्ति गुरु नहीं होगा।

गुरु नानकदेव के वचनों को, पहले-पहल, गुरु अंगद ने 'गुरुमुखी' लिपि में लिखा। तभी से, यह लिपि चालू हुई है। सिक्खों के मुख्य धर्म-ग्रंथ, 'ग्रंथ साहिब' का संकलन और संपादन

---

१. दे० रिलीजन आव द सिक्ख्स

२. दे० सिक्खिज़्म, इट्स आयडियल्स एंड इंस्टीट्यूशन्स

३. वही

सन् १६०४ ई० में पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने किया। इस ग्रंथ में आदि के पाँच गुरु और नवें गुरु तेगबहादुर के वचन और पद संगृहीत हैं। एक दोहा गुरु गोविंदसिंहजी का भी है। एवं इस ग्रंथ में अन्य हिंदू-संतों और सुधारकोंके भी पद हैं। गुरु गोविंद सिंह साहित्यके बहुत बड़े विद्वान, कवियों के प्रबल संरक्षक और स्वयं भी हिंदी के अच्छे कवि थे। उनकी सभी रचनाओं को सिक्ख 'दशम ग्रंथ' के नाम से अभिहित करते हैं। उन्होंने विचित्र-नाटक, जफरनामा, सौ साखी, जाप और चंडी-चरित्र, आदि अनेक ग्रंथों की रचना की थी। उन्होंने एक रामायण भी लिखी थी जिसे पटियाला-कालेज के प्राध्यापक संत इंद्रसिंह चक्रवर्ती ने, अभी हाल में, **'गोविंद-रामायण'** के नाम से प्रकाशित किया है।

सिक्खों का संप्रदाय शांत, विनम्र एवं भावुक भक्तों का संप्रदाय था, किंतु, उनके भीतर सामरिकता क्यों आ गई, इसका दायित्व तत्कालीन शासकों की धर्मांध नीति और तानाशाही मिजाज़ पर है। बात यों हुई कि जहाँगीर ने जब अपने भाई खुसरो को मारने के लिए खदेड़ा तब वह अपने प्राण बचाने को भाग निकला। इस क्रम में, उसने गुरु अर्जुनदेव से कुछ आर्थिक सहायता की याचना की और गुरु ने दयाद्रवित होकर उसे पाँच हजार रुपए दिये। यह कहानी किसी चुगुलखोर ने जहाँगीर तक पहुँचा दी। इस पर, जहाँगीर ने गुरु अर्जुनदेव को दिल्ली बुलवाया एवं उन पर दो लाख रुपयों का जुर्माना ठोक दिया तथा यह भी आज्ञा दी कि ग्रंथ-साहिब में से वे सभी पंक्तियाँ निकाल दो जिनसे इस्लाम का थोड़ा भी विरोध होता है। किंतु, गुरु अर्जुन ने दोनों आज्ञाओं को मानने से इन्कार कर दिया। इसपर जहाँगीर ने गरु पर भयंकर अत्याचार किए। 'उनके ऊपर जलती हुई रेत डाली गई, उन्हें जलती हुई लाल कड़ाही में बिठाया गया और उन्हें उबलते हुए गर्म जल से नहलाया गया। गुरु ने सब-कुछ सहन कर लिया और मुंह से आह तक नहीं निकाली।'[1] फिर रावी, स्नान के बहाने वे कैद से बाहर आए और रावी के तट पर जाकर उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। सिक्खों के प्रसंग में, सुविख्यात जहाँगीरी न्याय का यही उदाहरण संसार के सामने आया।

गुरु अर्जुन के बाद, छठें गुरु हरगोविंद जी हुए। इन्हीं के समय से सिक्ख-संप्रदाय सामरिकता की ओर अग्रसर होने लगा। गुरु अर्जुन के साथ जो अमानुषिक अत्याचार हुए थे उन्हें भूलना किसी भी सिक्ख के लिए संभव नहीं था। साथ ही, इस घटना से सिक्ख होश में भी आ गए और उन्होंने देखा कि केवल जाप और माला से ही धर्म की रक्षा नहीं की जा सकती है। यदि धर्म को बचाना है तो उसके लिए तलवार भी धारण की जानी चाहिए और उसके पीछे कुछ राज्य-बल भी होना चाहिए। इसीलिए, गुरु हरगोविंद ने सेली फाड़कर गुरुद्वारे में डाली और शरीर पर राजा और योद्धा का परिधान धारण कर लिया। यहीं से सिक्ख-संप्रदाय की युद्धवीरता की परंपरा आरंभ हुई। गुरु ने आज्ञा जारी कर दी

१. उत्तर भारत की संत-परंपरा

कि अब से भक्त गुरुद्वारे में चढ़ाने के लिए द्रव्य नहीं भेजकर, अश्व और शस्त्रास्त्र भेजा करें।

जहाँगीर के बाद शाहजहाँ के राज्यकाल में भी, सिक्खों और मुगलों के बीच खटपट चलती रही। तीन बार उन्हें मोगलों से छोटी-छोटी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं और एक बार तो (बाज को लेकर आरंभ हुई लड़ाई में) सिक्ख जीत भी गए। इस विजय ने सिक्खों की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिए और पंजाब तथा काश्मीर में मुसलमानी अत्याचारों से पीड़ित लोग सिक्ख-संप्रदाय की ओर बड़ी ही आशा और अभिमान से देखने लगे।

गुरु हर राय से भी औरंगजेब की नहीं बनी। फिर, जब औरंगज़ेब ने धर्म-परिवर्तन की नीति को जोरों से चलाना चाहा, तब काश्मीर के कुछ पंडित धर्म पर आई हुई विपत्ति की कष्ट-कथा लेकर गुरु तेगबहादुर के पास पहुँचे। गुरु ने कहा कि 'किसी महापुरुष के बलिदान बिना हिंदू-धर्म की रक्षा असंभव है। कहते हैं, गुरु तेगबहादुर के पुत्र बालक गोविंद सिंह वहीं खड़े थे। पिता की बात सुनते ही वे कह बैठे कि 'पिताजी ! तो आपसे बढ़कर दूसरा महापुरुष कौन होगा ?' गुरु को बेटे की बात लग गई। उन्होंने आनन-फानन अपने बलिदान की राह सोच निकाली और ब्राह्मणों से कहा कि औरंगज़ेब को समाचार भेज दो कि तेगबहादुर इस्लाम स्वीकार कर लें तो सभी हिंदू खुशी-खुशी मुसलमान हो जायेंगे। निदान, यही हुआ और औरंगजेब नें गुरु तेगबहादुर को अपने दरबार में बुलवा भेजा। गुरु वहाँ हाजिर तो हुए, किंतु, इस्लाम को कबूल करने से उन्होंने इन्कार कर दिया। इस सत्याग्रह का जो स्वाभाविक परिणाम होना था, वह अपनी पूरी भीषणता से घटित हुआ। गुरु तेगबहादुर शेर की की तरह, पिंजड़े में डाले गए, उनपर भयानक से भयानक अत्याचार किए गए, और अंत में, उनकी हत्या भी कर दी गई।

गुरु हर गोविंद ने अपने पिता की अकाल मृत्यु से क्षुब्ध होकर सिक्ख-संप्रदाय को सैनिक रूप देना आरंभ किया था। गुरु गोविंद ने इस प्रक्रिया को पूर्णता पर पहुँचा दिया। गुरु हर गोविंद ने शांतिप्रिय सिक्ख-धर्म पर खड्गवाद की छोटी-सी कलम लगाई थी, गुरु गोविंद ने उसे विशाल वृक्ष बना दिया। सिक्ख-धर्म की सारी मानसिकता को बदलने के उद्देश्य से उन्होंने एक विचित्र लीला रची। आनंदपुरके एक वैशाखी मेलेमें, उन्होंने सभी सिक्खोंकोएकत्र किया। फिर, एक बड़े चबूतरे पर उन्होंने चारों ओर से कनात खड़ी करवाई और उसके भीतर कुछ बकरे बँधवा दिए। तब वे तलवार खींचकर कनात से बाहर आए और बोले कि धर्म की रक्षा के लिए चंडी बलिदान चाहती है। तुम में से जो प्राण देने को तैयार हो वह कनात में आवे। मैं अपने हाथों महाचंडी के आगे उसका बलिदान करूँगा। गुरु की ललकार पर एक आदमी कनात में जाता, गुरु उसे वहीं बिठा देते और एक बकरे की गरदन काट कर रक्तभरी तलवार लिये बाहर निकल आते। इस प्रकार, पाँच वीर कनात के भीतर पहुँचे। जब छठा आदमी नहीं उठा, तब गुरु ने उन पाँच वीरों को बाहर निकाला और कहा कि ये

'पाँच प्यारे'[१] धर्म के खालिस अर्थात् शुद्ध सेवक हैं और उन्हें लेकर मैं आज से खालसा धर्म की नींव डालता हूँ। उसी समय, उन्होंने एक कड़ाह में पवित्र जल भरवाया, उनकी धर्मपत्नी ने उसमें कुछ बताशे घोले और गुरु ने तलवार से उस जल को आलोड़ित किया तथा तलवार से ही उसे 'पांच प्यारों' पर छिड़का। इसी अमृत[२] को पीकर लोग खालसा-धर्म की सेवा में प्रवृत्त हुए।

गुरु गोविंद ने ही चार ककारों का प्रचलन किया जिन्हें धारण करना प्रत्येक सिक्ख के लिए आवश्यक माना जाता है। ये चार ककार हैं—(१) कंघी (बाल साफ करने के लिए। कुछ गुरु बाल रखते थे, इसलिए, शिष्यों ने भी उसे धारण किया)। (२) कच्छा (फुर्ती के लिए); (३) कड़ा (यम, नियम और संयम के लिए) तथा (४) कृपाण (आत्मरक्षा के लिए)।

गुरु गोविंदसिंह की तैयारियों से औरंगजेब घबरा उठा। उसने गुरु की राजधानी आनंदपुर पर एक बार जबर्दस्त घेरा डाला। किंतु, गुरु हाथ नहीं आए। आनंदपुर से भागते समय उनके दो बच्चे (जुझार सिंह ९ साल और फतेह सिंह ७ साल) गायब हो गए। इन्हें किसी ने सरहिंद के शासक वजीर खाँ के हाथों में सौंप दिया और उस दुष्ट ने इन दो बच्चों को सिर्फ इसलिए,दीवारों में चुनवा दिया कि पितृ-संस्कार के कारण, वे स्वेच्छा से मुसलमान होने को तैयार नहीं थे।

औरंगजेब के मरने के बाद, उसके बेटे बहादुर शाह से गुरु गोविंद सिंह की मैत्री हो गई। किंतु, उसी के राज्यकाल में, गोदावरी नदी के पास गुरु गोविंद के सोते समय एक पठान ने उनके पेट में छुरा भोंक दिया जिससे उनका स्वर्गवास हो गया। यहीं मरते समय गुरु गोविंद ने धर्म-ग्रंथ को खालसा-धर्म का गुरु घोषित किया।

गुरु नानक अपने को न तो हिंदू मानते थे, न मुसलमान। और जिसे वे सिक्ख कहते थे वह उनकी दृष्टि के अनुसार, सुधरा हुआ हिंदू और सुधरा हुआ मुसलमान, दोनों हो सकता था। आरंभ में, उनके पंथ में बहुत-से मुसलमान भी दीक्षित हुए थे और कहते हैं, जब नानक मरे तब उनकी लाश को जलाने और दफनाने के लिए हिंदू और मुसलमान उसी प्रकार झगड़ पड़े, जिस प्रकार वे कबीर की लाश पर झगड़े थे। फिर भी, कालांतर में, सिक्खों का मुसलमानों से वैर हो गया। इसे हम शासकों की धर्मांधता का ही परिणाम कहेंगे।

गुरु हर गोविंद ने जो परंपरा चलाई, उससे प्रत्येक सिक्ख के दो रूप हो गए—एक वीर

---

१. ये पाँच प्यारे थे लाहौर के दयाराम, दिल्ली के धर्मदास, द्वारका के मुहकमचंद, बीदर के साहिबचंद और जगन्नाथपुरी के हिम्मत।

२. कहावत है कि इस कड़ाह का पानी दो गोरैयों ने पी लिया था और पानी पीते ही वे आपस में लड़ने लगे थे।

और सिपाहीवाला, दूसरा संत और भक्त वाला। किंतु, गुरु गोविंद सिंह ने संत और भक्त को गौण, शूर और वीर को प्रमुख बना दिया। असल में, वे परशुराम के अवतार थे और संकट के समय, मनुष्यों को यह शिक्षा देने आए थे कि जीवन-संघर्ष में विजय पाने के लिए, केवल शास्त्र ही नहीं, शस्त्र की भी आवश्यकता होती है; केवल 'शाप' ही नहीं, 'शर' की भी आवश्यकता होती है। उनकी कविताओं के भीतर एक विचित्र प्रकार का तेज है, जो हमारी आँखों से ओझल हो गया है। जिस परमात्मा को गुरु नानक 'निरंकार पुरुख' कहते थे, उसके नाम गुरु गोविंद ने '**असिध्वज**', '**महाकाल**' और '**महालौह**' रखे थे। ये नामकरण ही बतला देते हैं कि गुरु गोविंद सिंह ने सिक्ख-धर्म को समेटकर किस दिशा में मोड़ना चाहा था। हिंदी की रीतियुगीन कविताओं के बीच, भूषण की कविता अपना अलग व्यक्तित्व रखती है, किंतु, गुरु गोविंद की कविताओं में भी कुछ वैसे ही उज्ज्वल मंत्र हैं।

सेवक सिक्ख हमारे तारिय, चुनि-चुनि शत्रु हमारे मारिय।
जो हो सदा हमारे पच्छा, श्री असिधुजजी करियहु रच्छा।
मैं न गनेसहिं प्रथम मनाऊँ, किशन-विशन कबहूँ नहीं ध्याऊँ।
महाकाल रखवार हमारे, महालोह मैं किंकर थारे।
अपना जान मुझे प्रतिपारिय, चुनि-चुनि शत्रु हमारे मारिय।

× × × ×

धन्य जियो तेहि को जग में मुख ते हरि चित्त में युद्ध बिचारे।

× × × ×

दशम कथा भागवत की, भाषा करी बनाय।
अवर वासना नाहिं कछु, धर्म-युद्ध को चाय।

कविता का उपयोग गुरु गोविंद सिंह ने अपने मतों का प्रचार करने के लिए किया, साधु-सिक्खों में सामरिकता भरने के लिए किया। युद्ध जब अवश्यंभावी हो जाता है, तब संसार-त्यागी लोग उससे भाग खड़े होते हैं। किंतु, जिन्हें संसार में रहना है, वे उसे धर्मयुद्ध मानकर सोत्साह संघर्ष करते हैं। धर्मयुद्ध की परिभाषा है वह युद्ध जिसे मनुष्य को आत्मरक्षा के लिए लड़ना पड़ता है। सिक्ख लड़ाई नहीं चाहते थे। लड़ाई उन पर जबर्दस्ती लादी गई थी। इसलिए, सिक्ख-संप्रदायमें ऐसे गुरु निकल आए, जिन्होंने युद्ध को धर्म से समन्वित कर दिया। आत्मरक्षा में लड़ाइयाँ तो राणा प्रताप और शिवाजी ने भी लड़ीं, किंतु, वे युद्ध का दर्शन नहीं निकाल सके। सिक्खों ने दर्शन भी निकाला और खिलाफत-जैसा एक संगठन भी, जिसमें एक ही व्यक्ति सारे संप्रदाय का राजा और गुरु, दोनों होता था। सच पूछिए तो सिक्ख-धर्म में संगत या संगठन की जो प्रथा थी, उसी के कारण, मुसलमान सिक्खों से घबराते थे और उसी के कारण, सिक्ख तबाह भी हुए। सभी सिक्ख एक समान बाल रखते थे,

कड़े पहनते थे, कंघी रखते थे। इसलिए, मुसलमानों को हर बालवाले के पीछे दौड़ना आसान हो जाता था। सिक्ख राजपुताने के रेगिस्तान और पहाड़ों की तराइयों में छिपते फिरते थे और पीछे-पीछे शाही फौज के आदमी बालवालों को खोजते फिरते थे। गुरुओं ने सिक्खों के हृदय में वीरता और बलिदान की जो ज्वाला जलाई, वह तत्कालीन हिंदुओं में नहीं थी। मुस्लिम-काल में धर्म के नाम पर सबसे ज्वलंत बलिदान सिक्खों ने दिए या फिर मेवाड़ के राजपूतों ने, यद्यपि, राजपूतों में धर्माभिमान कम, अपने किलों, नगरों और बहू-बेटियों की रक्षा की चिंता अधिक थी। जैसे महाराणा प्रताप और शिवाजी महाराज हिंदू-मुस्लिम-संघर्ष से उत्पन्न हुए, उसी प्रकार, सिक्ख-धर्म भी हिंदुत्व और इस्लाम के मिलन से जनमा था। किंतु, कालक्रम में यह धर्म इस्लाम के विरुद्ध हिंदुत्व की तलवार बन गया। 'सत श्री अकाल' 'अल्ला हो अकबर' का जवाब-जैसा लगता है एवं सिक्खों ने शूकर को भक्ष्य मानकर एक प्रकार से गो-भक्षण की वृत्ति का जवाब निकाला था।

सिक्ख-धर्म और हिंदुत्व, ये दो नहीं, एक ही धर्म हैं। हिंदुत्व का स्वभाव है कि उस पर जब जैसी विपत्ति आती है तब वह वैसा ही रूप अपने भीतर से प्रकट करता है। इस्लामी हमलों से बचने के लिए अथवा उनका उत्तर देने के लिए, हिंदुत्व ने इस्लाम के अखाड़े में अपना जो रूप प्रकट किया, वही सिक्ख या खालसा-धर्म है। सिक्ख-गुरुओं ने हिंदू-धर्म की रक्षा और सेवा के लिए अपनी गरदनें कटाईं, अपने जीवन का बलिदान दिया तथा उन्होंने अपना जो सैनिक संगठन खड़ा किया, उसका लक्ष्य भी हिंदूधर्म को जीवित एवं चैतन्य रखना था। इसी कारण, सिक्ख सारे भारतवर्ष में हिंदुओं के प्रिय रहे हैं।

यद्यपि, गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं ने बराबर निराकार की भक्ति पर जोर दिया, किंतु सिक्ख-संप्रदाय कभी भी साकारोपासना का विरोधी नहीं हुआ। गुरु गोविंद ने वीरता की उमंग में आकर 'किसुन-बिसुन' के अस्तित्व से इनकार तो कर दिया, किंतु, चंडी की स्तुति करना वे नहीं भूले, और उन्होंने रामकथा पर सुंदर खंडकाव्य लिखा। सिक्ख-गुरु अवतार तथा हिंदू देवी-देवताओं पर काफी श्रद्धा रखते थे। सिक्ख-धर्म-ग्रंथ में लिखा है—

रामकथा जुग-जुग अटल, जो कोई गावे नेत।
स्वर्गवास रघुवर कियो सगली पुरी समेत।

यही नहीं, हिंदू-समाज की कुरीतियाँ भी सिक्ख-समाज में कम नहीं हैं। सिक्खों में भी जात-पाँत है, छुआछूत है और विवाह-संबंधों पर बहुत-कुछ वैसे ही नियंत्रण हैं, जैसे हिंदुओं के यहाँ। सिक्ख जाट, सिक्ख माली, सिक्ख कुम्हार और सिक्ख चमार, ये नाम ही बतलाते हैं कि सिक्ख-संप्रदाय में भी हिंदुत्व ही उपसर्ग लगाकर जी रहा है।

किंतु, इतना होने पर भी आज हिंदू और सिक्ख कुछ-कुछ भिन्न समझे जाते हैं, जिसका कारण यह है कि जब अँगरेज यहाँ के शासक थे, तब उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच

भेद बढ़ाने के साथ-साथ, हिंदुओं और सिक्खों के बीच भी काफी भेद बढ़ा दिए। इस संबंध में, दिल्ली के दैनिक 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित अपने एक लेख में लाला संतराम ने लिखा है—

'जब अंगरेजों ने पहले सिक्खों को हरा कर पंजाब पर अधिकार किया, तो उन्हें सिख-पंथ तथा सिक्ख-मत को लोगों की दृष्टि में तुच्छ तथा हेय दिखलाने की आवश्यकता हुई, जिससे लोग उनसे घृणा करने लगें। इस उद्देश्य से उन्होंने ट्रंप नाम के एक विद्वान से सिक्खों के धर्म-ग्रंथ का अंगरेजी में अनुवाद कराया। वह अनुवाद मैंने देखा है। उसमें उसने सिक्ख-मत तथा गुरुओं की खूब खिल्ली उड़ाई है। उसमें परस्पर-विरोधी बातें दिखलाकर ग्रंथ-साहब को 'एक चूँ चूँ का मुरब्बा' सिद्ध करने का यत्न किया गया है। इसके बाद, एक समय आया जब अँगरेजों को हिंदुओं से सिक्खों को अलग करके फूट डालनेकी आवश्यकता हुई। तब उन्होंने मेकलाफ नामक एक दूसरे विद्वान से उसी धर्मग्रंथ का अनुवाद कराया। उसमें उसने सिक्ख-धर्म को हिन्दुओं से एक सर्वथा भिन्न धर्म प्रमाणित करने का प्रयास किया। सिक्खों के दस गुरुओं में से नौ के सिर पर लंबे केश नहीं थे। गुरु नानक के चित्रों में उनके सिर पर टोपी और छोटी छोटी कतरी हुई दाढ़ी रहती थी। परंतु मेकलाफ ने सभी गरुओं के ऐसे चित्र बनवाए जिनमें गुरुओं के सिर पर लंबे केश और पगड़ियाँ थीं। मेकलाफ के प्रचार से कई सिक्ख तो यहाँ तक कहने लगे कि सिक्खों के लिए गो-मांस भक्षण की भी मनाही नहीं है।

पहले के सिक्ख और असिक्ख, दोनों के विवाह सनातन, वैदिक रीति से होते थे। अंगरेजों ने **'आनंद मैरिज'** बनाकर सिक्खों की विवाह-पद्धति भी अलग कर दी।

अंगरेजों ने सिक्ख-सत्ता को विनष्ट किया और सिक्ख अंगरेजों के ही भारी मित्र हो गए, यह भी इतिहास का व्यंग्य है। सरदार खुशवंत सिंह ने अपनी पुस्तक 'द सिक्ख' में लिखा है कि लार्ड डलहौजी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था, 'सिक्ख-सत्ता का संपूर्ण विनाश मेरा ध्येय है। मुझे सिक्ख-वंश को समाप्त करके सारी जाति को अपने अधीन लाना है। यह कार्य मुझे शीघ्र करना है, संपूर्ण रूप से करना है और इस तरह करना है कि इस संबंध में आगे करने को कुछ भी नहीं रह जाय। डलहौजी ने जैसा सोचा था, ठीक वैसा ही किया। फिर भी, जब वह अमृतसर के स्वर्ण-मंदिर को देखने गया तब उसने जूते नहीं उतारे। पवित्र स्थान में वह जूते पहने हुए घूमता रहा और हजारों सिक्ख यह तमाशा देखते रहे। देखते क्यों नहीं? डलहौजी के स्वागत में ही तो उस रोज मंदिर में दीवाली मनाई गई थी।'

कला और शिल्प पर इस्लाम का प्रभाव

कला की भारतीय परंपरा

भारतीय जीवन चित्रों से संपृक्त है। यद्यपि, सामग्रियों के अभाव में, प्रयत्न के आधार पर, भारतीय चित्रों का इतिहास श्रृंखलामय रूप में नहीं रखा जा सकता, फिर भी, सिन्धु-सभ्यता में रंगे भाण्डों और ठीकरों पर जो चित्रकारी हुई है, वह हमारे, प्रायः, पाँच हजार वर्षों पहले के पूर्वजों के चित्र-प्रेम की साख भरती है। इन भाण्डों और ठीकरों पर अनेक प्रकार की ज्यामितिक आकृतियाँ मिलती हैं जो, मुख्यतः, काले और फीरोजी रंगों से बनी हैं। चित्रित आकृतियों में वृक्ष तो आते हैं, किन्तु, पशु-पक्षियों के अंकन नहीं के बराबर मिलते हैं। मानव-आकृति का कोई चित्र अब तक नहीं मिला है। अपवाद के रूप में, मोर की पीठ पर नृत्य करती हुई दो मानव-आकृतियाँ हैं। पशुओं के जो चित्र हैं, उनमें उनकी जातिगत विशेषताओं का अच्छा अध्ययन उपलब्ध होता है। ये जीव एकचश्म हैं और ऐसी मुद्रा में अंकित ह जिससे वे देव-लोक के जीव मालूम होते हैं। फिर भी, उनमें पशु-सुलभ वल का अभाव नहीं है।

सिन्धु-सभ्यता के वाद, एक बड़ा अन्तराल मिलता है, जिसमें चित्रों की ज्ञात सामग्री का सर्वथा अभाव है। हाँ, डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी का कहना है कि वेदों के समय में भी चित्रों का चलन भारतवर्ष में था। उनके अनुसार, ऋग्वेद में अग्नि के चित्र का हवाला है जो चमड़े पर बना रहा होगा। इसी प्रकार, यह भी भासित होता है कि उस समय, इन्द्र की मूर्त्तियाँ दस गौओं पर बिकती थीं। परन्तु, उत्तर-वैदिक-वांङमय में हम एसे शब्दों को पाने लगते हैं जो पीछे, चल कर, चित्र के प्रसंग में प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से एक शब्द "छायातप" है जो जगत् के द्वन्द्व को परिलक्षित कराने में प्रयुक्त हुआ है।

जातकों में जिस समाज का वर्णन है, उसे हम चित्रकला से पूर्णरूप से व्याप्त पाते हैं। जातकों में शिक्षा के अठारह विषयों का उल्लेख है, जिनमें से चार का पता तो चलता है, बाकी का पता नहीं चलता। इन चार विषयों में चित्रकला भी एक थी। ये विषय शिक्षा के अनिवार्य अंग थे और उस समय चित्रकला की शिक्षा भी अनिवार्य रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं। राजकुमारों की शिक्षा के लिए तो यह अनिवार्य थी ही। उस समय, कलाओं के पूर्ण अभ्यास के बिना कोई भी व्यक्ति, पूर्णतः, शिष्ट और सुसंस्कृत समझा न जाता था। समाज में चित्रकार का पूरा सम्मान था। हाँ, साथ-साथ एक आन्दोलन भी चल रहा था जिसे हम सुधारवादी अथवा पवित्रतावादी आन्दोलन कह सकते हैं। इस

आन्दोलन से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि चित्रों का समाज पर इतना अधिक प्रभाव था कि लोग उसके विरुद्ध सोचने को लाचार हो गये थे। बुद्ध के समय, चित्र इतने मोहक बनते थे कि बुद्ध ने भिक्षुओं को चित्र देखने की मनाही कर दी थी। शुक्राचार्य ने भी इसे अस्वर्ग्य अर्थात् सांसारिकता में लगाने वाला कहा है। जान पड़ता है कि बुद्ध के समय, शबीह (व्यक्ति-चित्र) बनाने की विद्या पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। फलतः,भगवान बुद्ध को अपनी शबीह बनाने और उसकी पूजा करने का निषेध करना पड़ा। और भी कई एक धर्मों में ऐसा निषेध मिलता है।

वात्स्यायन ने कामसूत्र में चित्र के षट-अंग माने हैं जो निम्नलिखित श्लोक में वर्णित हैं :—

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभंगं इति चित्र-षडंगकम् ॥[1]

मानसोल्लास, कुमार-विहार और शिल्परत्न में भी चित्रकला की व्याख्या है। उत्तर-रामचरित में अर्जुन चित्रकार-कृत वन के चित्र का जिक्र आया है। जैन ग्रन्थ नाय-धम्मकला में भी एक मनोरंजक कथा है जिससे उन दिनों चित्र की बहुलता सिद्ध होती है। और विष्णुधर्मोत्तर में तो चित्रकला की विधिवत् साँगोपांग व्याख्या ही उपलब्ध है।

सादृश्य चित्रों का विशेष गुण समझा जाता था। परवर्ती साहित्य में सादृश्य का हमें वही अर्थ मिलता है जो दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान हो। किन्तु, भारतीय कलाकार इतने से ही संतुष्ट नहीं होते थे। सादृश्य की उपलब्धि हो जाने पर भी, चित्र निष्प्राण रह सकते हैं। अतएव, चित्र को जीता-जागता बनाने के लिए उसमें भाव की प्रतिष्ठा की जाती थी। फलतः, भारतीय चित्र में आकृति निश्चल होते हुए भी, निश्चल नहीं है। वह सवेग है, व्यापार-पूर्ण है। इसकी उत्पत्ति के लिए चित्रकार दृश्य के उस चूड़ांत का अंकन करता है जिसमें सारे दृश्य की घटना-शृंखला, उसकी प्रत्येक इकाई, संपुटित हो कर, बीज-रूप में वर्त्तमान रहती है। चूडांत के इस अंकन में, अतीत की इकाइयाँ ही नहीं, भविष्य की इकाइयाँ भी संपुटित हो जाती हैं। यह दृश्य भविष्य की ओर निर्देश करने में समर्थ है, यही उसकी पूर्णता है।

परवर्ती साहित्य जिस समाज का प्रतिबिम्ब है, उसमें चित्र का विशिष्ट स्थान मिलता है। प्रत्येक घर चित्र से अलंकृत होता था और उसकी भित्ति पर चित्र बने होते थे। भित्ति-चित्र का इस देश में इतना प्रचार था कि भित्ति शब्द ही यहाँ चित्रों के आधार के लिए रूढ़ हो गया जैसे यूरोप में चित्र का आधार केनवास समझा जाता है।

---

१. तत्कालीन चीनी चित्रकार भी इन्हीं लक्षणों को मानते थे। पर्सी ब्राउन का अनुमान है कि ये लक्षण भारत से ही चीन गये होंगे।

किन्तु, भारत के उष्माप्रधान देश होने के कारण, यहाँ पर अति प्राचीन चित्रों के उदाहरण अब प्राप्त नहीं हैं। केवल साहित्य के उल्लेखों से ही हम यह जानते हैं कि अति प्राचीन काल में यहाँ चित्रकला का विकास हो चुका था।

चित्र तीन प्रकार के फलकों पर बनाये जाते थे। प्रथम फलक भित्ति या दीवार थी, जिस पर चित्र बनाने की परिपाटी भारत और इटली में खूब प्रचलित थी। दूसरा फलक चर्म या वस्त्र था, जिस पर चित्र बनाने का काम जापानियों ने बहुत किया था। और तीसरा फलक लड़की, ताल-पत्र, पत्थर और हाथी के दाँत होते थे। भारत में पुराने चित्रों के उदाहरण दीवारों पर मिलते हैं एवं उनकी अपेक्षा नवीन चित्र तालपत्रों और कागज पर। अन्य चित्रों के उदाहरण अनुपलब्ध हो गये हैं।

भित्ति-चित्र के जो उदाहरण भारत में उपलब्ध हैं, उनका वातावरण धार्मिक है। पहाड़ों को काट कर यहाँ चैत्य, विहार और मंदिर बनाने की प्रथा थी एवं उन्हीं की दीवारों पर गच (पलस्तर) लगाकर चूने-जैसे किसी पदार्थ की घुटाई करके उसपर चित्र बनाये जाते थे। ऐसी गुफाओं में सबसे अधिक प्राचीन गुफा **जोगीमारा** की गुफा है जो सरगुजा राज्य (अब मध्य प्रदेश) की रामगढ़ पहाड़ी में अवस्थित है। यह गुफा ईसा से, कम-से-कम, एक सौ वर्ष पूर्व बनी होगी, ऐसा विद्वानों का अनुमान है।

किन्तु, भारतीय चित्रकला के चमत्कारों का असली खजाना **अजंता** की गुफाओं में है। अजंता की गुफाओं में २४ विहार (मठ) और ५ चैत्य (स्तूपवाले विशाल भवन) हैं जिनमें से तेरह में दीवारों, भीतरी छतों और स्तंभों पर चित्र अंकित हैं। इन गुफाओं में से कुछ तो बहुत पुरानी अर्थात् पहली-दूसरी ईसवी पूर्व की हैं और कुछ चौथी से लेकर सातवीं सदी तक की एवं उनके चित्र भी इन्हीं तीन सौ वर्षों में बने थे। वस्तुतः, इन पहाड़ियों में गुफा बनाने का सिलसिला मौर्यों के काल में ही आरंभ हुआ था। किन्तु, बाद के राजे भी उनमें वृद्धि करते गये। "महाराष्ट्र की रमणीक अजंता पहाड़ी में, जिसमें पिछले मौर्यों और सातवाहनों के समय के दो एक गुहा-मन्दिर थे, वाकाटक राजाओं के समय वैसे अनेक नये और विशाल मन्दिर काटे गये। अजंता की दीवारों पर गुप्त-युग में, और बाद में, चित्र भी लिखे गये, जिनमें कुछ आज तक मौजूद हैं। अजन्ता गुहाओं के ये चित्र प्राचीन जगत् की चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरणों में से हैं।"[१]

अजन्ता के चित्रों के विषय, मुख्यतः, बौद्ध धर्म के विषय हैं। "उनमें गौतम बुद्ध की जीवन-घटनाएँ, मातृ-पोषक-जातक, विश्वांतर-जातक, षड्दंतजातक, रुरु-जातक और महा-हंस-जातक, आदि १२ जातकों में वर्णित गौतम बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाएँ, धार्मिक इतिहास

---

१. इतिहास-प्रवेश

तथा बुद्ध के दृश्य और राजकीय तथा लौकिक चित्र अंकित हैं।"[१] ऐसे ही, बगीचों, जंगलों, रथों, राजदरबारों, घोड़े, हाथी, हरिण, आदि पशुओं, हंस आदि पक्षियों तथा कमल आदि पुष्पों के भी अनेक चित्र हैं। कई स्थानों पर बृहत्तर भारतीय आकृतियाँ मिली हैं, जिनमें एक राजदरबार का दृश्य है। यहाँ साजसभा का पूरा ऐश्वर्य तो है ही, हमें राजा को उपायन भेंट करते हुए, दो तीन ईरानी वस्त्राभूषण एवं आकृतिवाले पुरुष भी मिलते हैं। इस काल में, पश्चिमी भारत का ईरान के साथ घनिष्ट व्यापारिक संबंध था और चालुक्यों के काल में कूटनीतिक संबंध भी स्थापित हो गया था। फलतः, विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि इस दृश्य में ६२६ ई० वाला वह दौत्य अंकित हुआ है, जो ईरानी बादशाह खुसरो ने पुलकेशी की सेवा में भेजा था। किन्तु, इस अनुमान के विपक्ष में कई तर्क हैं। शैलीगत विशेषताओं को देखते हुए, यह चित्र छठी सदी के प्रारंभ का होना चाहिए। साथ ही, अजन्ता में अन्यत्र दो-तीन स्थानों पर ईरानी व्यक्तियों का चित्रण केवल विदेशियों को लक्षित करने के लिए हुआ है। अतः, यह संभव है कि किसी जातक कथा से, जिसमें विदेशी व्यापारियों की चर्चा आती हो, यह अंकन प्रस्तुत किया गया हो। यह अटकल सबसे पहले डाक्टर मोतीचंद्र ने लगायी थी और संभव है, यह ठीक हो।

पर्सी ब्राउन ने नवीं और दसवीं गुफाओं के चित्रों को प्राचीनतम माना है तथा उनका अनुमान है कि ये गुफाएँ, अधिक से अधिक, पहली सदी में बनी होंगी। किन्तु, पहली सदी के होने पर भी, ये चित्र बतलाते हैं कि उनके पीछे कई सदियों की साधना और परम्परा विद्यमान है, जिसके उदाहरण अब नहीं मिलते। इस प्रकार, ब्राउन और ओझा जी के मतों को मिलायें तो अजन्ता के चित्र पहली से लेकर सातवीं सदी तक की भारतीय चित्रकारी के नमूने उपस्थित करते हैं। ब्राउन का यह भी विचार है कि दसवीं गुफा के चित्रों पर किंचित् गांधार-कला (भारतीय और यूनानी कलाओं का मिश्रित रूप जो टिका नहीं) का भी प्रभाव है। परन्तु, अब यह तो निश्चित-सा जान पड़ता है कि जिस समय इस गुफा का चित्रण हुआ, उस समय गांधार-कला का कोई अस्तित्व नहीं था। पुलकेशी के दरबारवाले चित्र पर वे कुछ ईरानी प्रभाव भी बतलाते हैं। परन्तु, इसमें दो-तीन विदेशी आकृतियों को छोड़, भारतीय परंपरा से कहीं भी पार्थक्य नहीं है।

अजन्ता की गुफाओं में जिस कला के उदाहरण हैं, उसी के उदाहरण सिगिरिया (श्रीलंका) और बाघ (ग्वालियर, मध्यभारत) की गुफाओं में भी मिलते हैं। सिगिरिया की चित्रकारी छठीं शती के अन्त की है और बाघ-गुफा के चित्र भी छठीं या सातवीं शती में बने होंगे। अजन्ता, सिगिरिया और बाघ में जो चित्र उपलब्ध हैं, उन्हीं में हम भारतीय चित्रकला की परिणति के प्रमाण देखते हैं। किन्तु, भारतीय चित्रकला की पूरी सामग्री इतनी

---

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—गौ. ही. ओझा

ही नहीं है। बौद्ध धर्म के साथ-साथ, भारतीय संस्कृति और कला भी भारत से बाहर पहुँची थी। अतएव, सीलोन, जावा, स्याम, बर्मा, नेपाल, खुतन, तिब्बत, जापान, हिन्दचीन और चीन में भी, भारतीय चित्रकारी के नमूने उपलब्ध हैं एवं उनके अध्ययन के बिना भारतीय कला का अध्ययन पूरा नहीं कहा जा सकता। बौद्ध धर्म के व्यापक प्रचार ने सम्पूर्ण एशिया की आत्मा को एक कर दिया था एवं यह एकता एशिया की विभिन्न संस्कृतियों के मूल में आज भी अनुस्यूत है। बोरबुदुर (जावा) में भारतीय कला का स्मारक जो स्तूप है, उसमें बुद्धदेव के सम्बन्ध की इतनी अधिक मूर्तियाँ हैं कि उन्हें यदि अगल-बगल बिठा दिया जाय तो कतार आठ मील लंबी हो जायगी। यह कला भारत से जावा गयी थी, किन्तु, आश्चर्य की बात है कि भारतीय कला का जैसा गौरवोज्ज्वल प्रमाण आज जावा में वर्तमान है, वैसा प्रमाण भारत में भी नहीं मिलता। भारत की प्राचीन चित्रकला के नमूने भी हमें बृहत्तर भारत से प्रभूत मात्रा में मिले हैं। बोरबुदुर के समान ही, कंबोडिया में **अंगकोर** नामक स्थान पर जो भारतीय शिल्प का भग्नावशेष है उससे यह कल्पना आसानी से लगायी जा सकती है कि एक समय कंबोडिया, चंपा, अन्नम और तोंकिन में भारतीय सभ्यता का प्राधान्य था। इन भूभागों में केवल भारतीय मूर्त्तियाँ और मन्दिर ही नहीं, बहुत-से चित्र भी बने होंगे जिनके प्रमाण ढूँढ़ने पर वहां अवश्य मिलेंगे।

गुप्तकाल के बाद से, हमारी चित्रकला का धीरे-धीरे ह्रास प्रारम्भ हुआ जिसके क्रमिक उदाहरण हमें वेरुल (औरंगाबाद, हैदराबाद-राज्य) बादामी (अइहोव, बंबई-राज्य) सित्तनवासल (पुद्दुकोट्टा, मैसूर-राज्य) एवं दक्षिण के अनेक मंदिरों से मिल सकते हैं। इन सब का अभी तक विस्तृत विवरण और अध्ययन अपेक्षित है। अकेले वेरुल में उत्तर-गुप्तकाल से लेकर १४ वीं-१५ वीं सदी तक, श्रृंखलित रूप में, चित्रों के पाये जाने की संभावना है। चित्रों का यह इतिहास, पर्त-पर-पर्त, कालिख और अंधकार से दबा हुआ है। जहाँ-जहाँ यह आवरण खुल कर गिर गया है, वहाँ-वहाँ से हमें उन भूले-बिसरे दिनों की चित्रकला की झाँकी मिल जाती है। किन्तु, चित्रों का असली भाण्डार तो अभी भी अलभ्य है। आश्चर्य का विषय है कि वेरुल के चित्रों की किसी ने भी सुध नहीं ली है। यहाँ के चित्रों का विषय ब्राह्मणत्व है। इन चित्रों में हम देखते हैं कि अजंता की सुकोमल और मृदुल शैली में अब जकड़बन्दी शुरू हो गयी है। आँख शून्य में अटक रही है एवं हनु और नाक नुकीली होने लगी है। प्रायः, आठवीं सदी तक रेखाओं में वेग और आकृतियों में सजीवता है। परन्तु, उसके बाद, ह्रास और भी अधिक बढ़ता है।

फलतः, इस बीच, दक्षिणी मंदिरों में हमें जो प्रमाण मिलते हैं, उनमें चित्रकला का **अपभ्रंश-रूप** स्थिर हो जाता है। उत्तरी भारत में, इस प्रकार के भित्ति-चित्र केवल ललितपुर के अन्तर्गत मदनपुर नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। पर, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि

पालवंशी राजाओं के बिहार-बंगाल-राज्य एवं नेपाल को छोड़कर, चित्रों का यह **अपभ्रंश-रूप** सारे देश में व्याप्त हो गया था। इतना ही नहीं, इसका प्रभाव बृहत्तर भारत में भी यत्र-तत्र मिलता है।

इसी परंपरा में, हमें ११वीं शती के अंत से, वे चित्र मिलने लगते हैं, जिन्हें जैन-विषयों की अधिकता के कारण, **जैन शैली** अथवा क्षेत्रगत-दृष्टि से **गुजरात या पश्चिमी भारतीय शैली** के चित्र कहते हैं। परन्तु, यह नाम ठीक है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस शैली का न तो जन्म ही पश्चिमी भारत में हुआ और न यह वहीं तक सीमित रही। फलतः, इसके लिए **अपभ्रंश शैली** से अधिक समुचित नामकरण नहीं हो सकता, क्योंकि, वस्तुतः, इस शैली में जो कुछ है, वह अजंतावाली गुप्तकालीन कला का ह्रास-मात्र है जो मध्यकाल की निश्चित विशेषता थी। यह क्रम १६वीं शती तक चला, जब इस शैली में एक बार फिर काफी सजीवता आ गयी।

देश की शिक्षा-संस्कृति पालों के समय में बहुत-कुछ सुरक्षित रही। अतः, इस काल में यहाँ जो चित्र बने वे अपेक्षाकृत बहुत ही उत्तम कोटि के थे। उनके वर्णविधान, रेखाओं और आकृतियों में अजंता की झलक मिलती है। परंतु, ये चित्र, मुख्यतः, एकाकृति वाले हैं, इनमें बड़े दृश्यों या घटनाओं का अभाव है। फलतः, महायान बौद्ध धर्म की जो गिनी-चुनी आकृतियाँ मिलती हैं, वे परंपरा से आबद्ध हैं—उनमें स्वतंत्र कल्पना का अभाव है। फिर भी, इन चित्रों की मृदुलता दर्शनीय है।

१३वीं सदी के बाद भी, इस शैली के छिट-पुट उदाहरण मिल जाते हैं, किन्तु, उनमें पहले वाली श्री नहीं है। यही दशा इसकी नेपाल में थी। परंतु, इसके बाद, वहाँ भी इसका ह्रास प्रारंभ होता है। परवर्ती तीन-चार सदियों तक वहाँ इस शैली में चित्र बनते रहे, पर वे अधिकतर निष्प्राण थे।

इस काल में, अजन्ता की परंपरा कहीं जीवित मिलती है तो तिब्बत और पूर्वी तुर्किस्तान में। खुतन (पूर्वी तुर्किस्तान) बहुत काल तक हिन्दू-राजाओं के अधीन रहा था तथा ये राजे वहाँ हिन्दू कलाओं का भी प्रचार किये हुए थे। इस सम्बन्ध में जो शोध हुए हैं, उनसे मालूम होता है कि खुतन में यूनानी, भारतीय, ईरानी और चीनी, चारों कलाओं के मिश्रण से एशियाई कला एक नया रूप ले रही थी। इस प्रांत में, भित्ति-चित्र के जो उदाहरण मिले हैं, वे, अधिकांश में, अजन्ता कला के अनुकरण हैं और उनसे यह बात भली भाँति प्रमाणित होती है कि जिस काल में भारत में भारतीय कला के उदाहरण नहीं मिलते, उस काल में, पड़ोस के देशों में यह कला कैसे फैल रही थी। यही परंपरा सातवीं-आठवीं सदियों के बाद, तिब्बत में भी जीवित मिलती है। तिब्बत के मन्दिरों और विहारों में भित्तियों पर जो चित्र हैं, वे बुद्धदेव के सम्बन्ध के हैं और उनका निर्माण अजन्ता-शैली पर हुआ है।

मुस्लिम-आगमन के बाद

जब पठान इस देश में आये, तब कला का यहाँ पूर्ण ह्रास हो चुका था। स्वभावतः, इस अर्धसभ्य जाति को चित्रकला से कोई रुचि नहीं थी और देश की आंतरिक अस्तव्यस्तता के साथ-साथ, केन्द्रीय राज्याश्रय के अभाव में, चित्रशैली का पुनर्जन्म नहीं हो सका, जो १६वीं सदी के अन्त में, महामना अकबर के हाथों होने वाला था। इस समय, पुरानी परम्पराएँ, पुराने रूप अपभ्रष्ट हो चुके थे, पर, साथ ही, उनमें एक नयी सप्राणता आविर्भूत हो रही थी। फलतः, अपभ्रंश-शैली के इस स्थल पर हम रूपों में भले ही ह्रास पाएँ, परन्तु, उनमें कहीं-कहीं ऐसी सजीवता है जो उसे लोक-शैलियों के निकट ला देती है, मानों, वह एक नई शैली को जन्म देने के लिए विकल हो रही हो। इस तरह, राज्याश्रय के अभाव में, चित्र लोक-जीवन के और निकट हो गया।

इस्लाम में मूर्त्ति-पूजा सबसे भयानक शिर्क मानी जाती थी। इससे यह सिद्धान्त निकल आया कि मूर्त्ति और चित्र-रचना भी शिर्क है। १४वीं सदी के लेखक मौलवी नबी ने लिखा है कि इस्लाम-धर्म के अनुसार, ईश्वर की सृष्टि का अनुकरण करके तस्वीरें बनाना गुनाह का काम है। इसलिए, जो लोग भी कपड़े, कालीन, सिक्के या बरतन पर चित्र बनाते हैं, वे इस्लाम के नियम से गुनाहगार हैं। इस निषेध का परिणाम यह हुआ कि साधारण मुस्लिम सभ्यता में मूर्त्ति-शिल्प और चित्रकारी को कभी भी प्रधानता नहीं मिली। मुसलमानों ने चित्रों और मूर्त्तियों का केवल भंजन ही नहीं किया, सामान्य मुस्लिम जनता ललित कलामात्र से उदासीन रहने लगी।

बाद के इस्लाम में जो उदारता आई, वह ईरान के प्रभाव के कारण। कई सौ वर्षों तक ईरानी प्रभाव को पचाने के बाद, इस्लाम की आरंभिक कट्टरता बहुत कुछ कम हो गई और मुसलमान स्वयं शेख और मुल्ला की खिल्ली उड़ाने लगे। इसी भावना से प्रेरित मुस्लिम समाज कलाओं की ओर भी आकृष्ट हुआ एवं चित्र और संगीत, ये वर्जित नहीं रहे। मोगल-काल तक आकर, भारत में हिन्दुत्व का प्रभाव भी इस्लाम की उदारता का कारण हुआ। इसके सिवा, जब बादशाह अपनी जीवनियाँ लिखवाने को उद्यत हुए, तब चित्रकारी का त्याग करना असंभव हो गया। मोगलों के कला-प्रेम का एक कारण यह भी था कि तैमूर के वंशजों ने ईरान और तुर्किस्तान में कला की अच्छी उन्नति की थी। तैमूर-वंश का नाम कला के जागरण से संबद्ध माना जाता है। बाबर इसी वंश की संतान था। अतएव, उसके वंशजों में कला का प्रेम जागा, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

कुरान में कहा गया है कि जो व्यक्ति प्राणियों के चित्र बनाता है वह सृष्टि के रचयिता के काम में दखल देता है। कयामत के दिन, भगवान उससे कहेंगे कि तूने मेरी बराबरी करना चाहा था। अतएव, अपने चित्रों में जीवन डाल कर अपना काम पूरा कर। और जब

चित्रकार यह काम नहीं कर पायेगा, तब भगवान उसे नरक भेज देंगे।

यों तो चित्रों की ओर सब से पहले ध्यान हुमायूँ ने ही दिया था, किन्तु, कुरान की इस शिक्षा का तर्कसम्मत खंडन अकबर ने किया। उसने कहा कि "बहुत-से लोग चित्रों से घृणा करते हैं, किन्तु, मैं ऐसे लोगों को नापसन्द करता हूँ। मेरा खयाल है कि ईश्वर को पहचानने का चित्रकारों का अपना अलग ढंग होता है। चित्रकार जब जीवित प्राणियों के चित्र बनाता है, तब अवयवों को तो एक-एक कर वह यथास्थान बिठा देता है, किन्तु, सब के अन्त में, वह यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि मूर्त्ति में प्राण डालने का काम भगवान ही कर सकते हैं। इस प्रकार, चित्र बनाते-बनाते वह ईश्वर की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करता है।"[१]

जो कला भारत में मोगल-कलम कही जाती है वह, वास्तव में, भारतीय चित्रशैली है। अब यह निश्चित हो गया है कि अकबर के पहले, मोगलों की सभा में जो चित्रशैली थी वह ईरानी थी। शेरशाह से हार कर हुमायूँ जब भारत से भागा, तब कोई दस साल तक वह ईरान के बादशाह तहमास्प का मेहमान रहा था। वहीं उसने ईरानी चित्रकला से परिचय प्राप्त किया और जब वह ईरान से भारत लौटा, तब पहले पहल, उसी ने अब्द-अल-समद और मीर सईद अली नामक दो चित्रकारों को ईरान से भारत बुलाया। ये दोनों चित्रकार भारत में ईरानी शैली के प्रचारक हुए। इनके चित्र मोगल-कलम के चित्र नहीं हैं। मोगल-कलम तो शुद्ध भारतीय कलम थी और उसके जन्म के लिए अकबर-जैसे भारतीयता-प्रेमी, उदारचेता एवं कल्पनाशील व्यक्ति की आवश्यकता थी। अकबर के ये सभी गुण अकबरी चित्रों में प्रतिफलित मिलते हैं। अकबरी चित्रों में से अधिकांश चित्र भारतीय एवं प्राचीन ब्राह्मण-धर्म से संबद्ध हैं। दूसरी ओर, उसके चित्रकारों में, कुछ अपवादों को छोड़कर, सभी भारतीय हैं, जिनमें हिन्दुओं की संख्या अधिक है, बाकी भारतीय मुसलमान हैं, जो उन प्रदेशों से भी आए थे, जहाँ मध्यकाल में चित्रकला के प्रसिद्ध केन्द्र थे। बहुत संभव है कि उक्त काल में चित्रकारों की एक अलग जाति बन गयी थी जो शूद्र-वर्ग के अन्दर थी—जैसे अन्य अनेक कारीगर जातियाँ, यथा रंगरेज, जुलाहे आदि हैं। इस्लाम के प्रचार के समय, ये जातियों की जातियाँ ही मुसलमान हो गईं। संभवतः, तभी, आरंभिक राजस्थानी शैली में चित्रकारों के बहुसंख्यक नाम हमें इस्लाम-परक मिलते हैं, जब कि उनकी चित्र-शैली सर्वथा पारंपरीण थी।

तैमूर-वंशी राजाओं के आश्रय में, ईरानी कला ने पंद्रहवीं सदी में सबसे ऊँची उड़ान ली। खुरासान के बादशाह सुलतान हुसेन के राज्यकाल में कमाल उद्दीन बेहजाद नामक चित्रकार हुआ, जिसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई थी। बाबर ने अपनी आत्मकथा में बेहजाद को दुनिया का सबसे बड़ा चित्रकार कहा है। जब अकबर का ध्यान चित्रकला को

---

१. कोर्ट पेंटर्स आव् द ग्रान्ड मोगल्स (लेखक—आर्नाल्ड और विनोयन)

प्रोत्साहित करने की ओर गया, उसने बेहजाद के शिष्यों को भारत बुलाया और उन्हीं कलाकारों ने भारत में मोगल-कलम की नींव डाली। अकबर और जहाँगीर के समय, अनेक विदेशी चित्रकार यहाँ के शाही दरबार में थे, इसके प्रमाण मिलते हैं। अबुल फजल ने आईने-अकबरी में कलमक के फर्रुख, शीराज के अब्दुल समद और तबरेज़ के मीर सईद अली (समद और मीर सईद हुमायूँ के लाये हुए थे) के नाम लिये हैं। जहाँगीर के दरबार में समरकन्द से भी चित्रकार आये थे। अकबरी दरबार के चित्रकारों में भी दसवंत, बसावन, मुकुन्दलाल और केशवदास के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं।

अकबर के समय में, जिस कला का बीज-वपन किया गया वह जहाँगीर के समय में बढ़कर विशाल हो गयी। मोगल दरबार में चित्रकारी की जो लहर उठी, उससे मोगल कुतुबखाना पुस्तकों ही नहीं, चित्रों का भी आगार बन गया। हिन्दुस्तान की सभी बड़ी-बड़ी रियासतों में मोगल कुतुबखानों के अवशेष मिलते हैं, जिनमें तत्कालीन चित्रों के नमूने भी उपलब्ध हैं। अकबर ने महाभारत का जो अनुवाद करवाया, उसके लिए हजारों चित्र बनवाये गये थे। इसी प्रकार, योग-वाशिष्ठ के फारसी अनुवाद के लिए भी बहुत-से चित्र बनवाये गये। मोगल-कालीन चित्रों के अधिक नमूने हिन्दुस्तान से बाहर चले गये। तब भी, देश के सार्वजनिक और वैयक्तिक संग्रहालयों में कुछ सामग्रियाँ अब भी मौजूद हैं। जयपुर दरबार के पोथीखाने में सचित्र रज्मनामे की सम्पूर्ण प्रति है। पटने की खुदाबख्श लाइब्रेरी में "तारीखे तैमूरी" की प्रति है जिसमें बहुत-से चित्र हैं। ये दोनों कृतियाँ अकबर की बनवायी हुई हैं।

अकबर के समय, पंचतंत्र का फारसी अनुवाद ऐयारे-दानिश के नाम से अबुल फजल ने तैयार किया था। पंचतंत्र का एक दूसरा अनुवाद अनवार-सुहेली के नाम से भी प्रचलित था। इन दोनों पुस्तकों की भी कई सचित्र प्रतियाँ मिली हैं। मोगल-दरबार में जो चित्र-शैली जन्मी थी, वह स्वतंत्र नहीं रह कर बहुत कुछ दरबारी हो गई। दरबारी चित्रकला के सब से अच्छे नमूने अकबरनामा, बाबरनामा आदि हैं।

अकबरी चित्रों में भारतीयता बहुत अधिक है। परन्तु, कहीं-कहीं आकृतियों में, रंगों में एवं बाहरी नक्काशियों में ईरानी परंपराएँ चली आई हैं। कहीं-कहीं तो चीनी तत्त्व भी वर्तमान हैं। अकबर के समय में, चित्रों की बड़ी उन्नति हुई जो उनकी पुष्ट रेखाओं, मीने-जैसे दबीज रंगों एवं प्रवेगपूर्ण तथा प्रकाण्ड आलेखनों से स्पष्ट है। स्वर्ग, पाताल, दानव-लोक, परी-लोक, तिलिस्म, ऐयारी आदि के बड़े-बड़े दृश्यों के अंकन में जितना अकबरी चित्रकार समर्थ हुआ है, उतना और कोई नहीं। भारतवर्ष में, चित्रकला का ऐसा ज्वलन्त रूप बहुत दिनों के बाद देखने में आया।

जहाँगीर यों चित्रों का बड़ा प्रेमी था, किन्तु, उसमें अकबर-जैसी मर्मज्ञता नहीं थी। ईरानी चित्रकारों की संगति से उसके समय में, चित्रों में नफासत और बारीकी बहुत बढ़

गई। जहाँगीर की आत्मकथा वाले चित्रों के कुछ बड़े दृश्यों को छोड़ कर, इस काल के चित्र दरबार या बादशाहों से ही संबद्ध मिलते हैं। जहाँगीर प्रकृति का भी बड़ा भारी प्रेमी था। फलतः, उसके समय में फूलों और पशु-पक्षियों के भी बड़े ही श्रेष्ठ चित्र बने। इन चित्रों में प्रकृति-निरीक्षण उत्तम कोटि का हुआ है, साथ ही, उनमें आलेखन की सुकुमारता भी है।

शाहजहाँ का ध्यान स्थापत्य की ओर अधिक रहा हो, फिर भी, उसके चित्रों में हम मोगल चित्रों के गौरव की पराकाष्ठा पाते हैं। इस काल में, बारीकी और नफासत की जितनी आराधना हुई, उतनी और कभी नहीं हुई थी। फलतः, इस काल के चित्र मीने-जैसे दीखते हैं। परंतु, यह सब शाही शान का अंग-मात्र था। उन पर चित्रकार के व्यक्तित्व की कोई छाप नहीं है। वे, मानों, आज्ञानुवर्तिता में तैयार हुए हैं। उन चित्रों में मात्र दरबार के दृश्यों से दर्शकों का जी उबने लगता है, दरबारी जकड़बन्दी के कारण, हम भी अपने आप को शाही प्राचीरों में घिरा पाते हैं, इससे मुक्ति यदि मिली है, तो संतों के चित्रों में जो मोगलशैली की पुरानी प्रवृत्ति है।

शाहजहाँ के बाद, औरंगजेब का समय आया और मोगल-कला इसी काल में समाप्त हो गयी। डा० आनन्द कुमार स्वामी ने सत्य ही कहा है कि मोगल कला का उद्भव, विकास और ह्रास, केवल दो सौ वर्षों में पूरा हो जाता है।[1] शाहजहाँ के राज्यकाल की समाप्ति के साथ, मोगल-कलम का गौरव घटने लगा। औरंगजेब ने ललित कलाओं के प्रति उपेक्षा की जो नीति बरती, उससे निराश होकर कलाकार दिल्ली छोड़कर देश में इधर-उधर बिखर गये। अवध, बिहार, बंगाल, राजपूताना और दक्षिण भारत, जिसे जहाँ आश्रयदाता अमीर मिल गये, वह वहीं जा बसा। इस छिन्न-भिन्नता का एक परिणाम यह हुआ कि जो कलाकार जहाँ बस गये, वे वहाँ की स्थानीय विशिष्टताओं को अपनी कृतियों में प्रधानता देने लगे और, इस प्रकार, देश में भौगोलिक नामों के साथ अनेक शैलियाँ चल पड़ीं।

राजस्थानी शैली

अपभ्रंश-शैली के नवीन उत्थान का हम दर्शन कर चुके हैं। १५-१६वीं शती में मालवा और राजस्थान संस्कृति, शांति और सुव्यवस्था के केन्द्र थे। फलतः, ऐसा विश्वास करने का कारण है कि १६वीं शती में ही यहाँ एक नई शैली का जन्म हुआ, जिसके कुछ निश्चित दृश्य अकबरी हम्जानामा में मिलते हैं। १७वीं शती से यह शैली राजस्थान के अनेक केन्द्रों में विकसित हुई, जिनमें मेवाड़ मुख्य है। विषय की दृष्टि से, इस शैली में, मुख्यतः, राग-माला, नायिका-भेद, कृष्ण-लीला, बारहमासा आदि कथा-चित्र बने हैं। चूँकि यह शैली परम्परावादी एवं आलंकारिक और वर्ण-विधान में अपभ्रंश के अत्यन्त निकट है, अतः,

---

१. दे० इंडियन सोसायटी आव् ओरियंटल आर्ट, कलकत्ता के समक्ष सन् १९१० ई० में "मोगल आर्ट एण्ड राजपूत पेंटिंग" पर दिया गया भाषण।

इस शैली को हिन्दू-शैली मान कर इसकी बहुत पूजा हुई है। परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, उसके आरंभिक चित्रकारों में मुस्लिम नाम ही अधिक हैं।

१७वीं शताब्दी के अन्त में, इस शैली में अलंकारिता कम होने लगी एवं इसका वर्ण-विधान भी अपेक्षाकृत कम तीखा हो गया। इस काल में, इसके चित्रों की संख्या असंख्य ही कही जा सकती है। इसी समय, इसके अनेक केन्द्रों, यथा मेवाड़, बीकानेर, जोधपुर, बूँदी आदि का पर्याप्त विकास हुआ।

१८वीं शती के मध्य में जयपुर-केन्द्र भी प्रमुखता में आया और यहां बहुत ही भाव-पूर्ण चित्र बने जिनमें रंग बहुत ही आकर्षक और कलम सधी हुई है। इसी समय, किशनगढ़-शैली भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची।

१९वीं सदी में राजस्थानी शैली का ह्रास हो गया, परन्तु, वह किसी न किसी रूप में आज भी जीवित है।

पहाड़ी कलम

राजपूताने में जैसे चित्र मिलते हैं, बहुत कुछ वैसे ही चित्र, (बल्कि उनसे भी वेधक) पंजाब की हिमालय की तराइयों में भी मिलते हैं। कांगड़ा-राज्य में बहुतायत से मिलते के कारण, इन चित्रों का नाम कांगड़ा-कलम दे दिया गया था। इस कलम के, प्रायः, सभी नमूने नूरपुर, बसोहली, चम्बा और जम्मू में मिले हैं, जो स्थान कांगड़ा से बहुत समीप हैं। इस शैली की परिपक्वता के प्रमाण अठारहवीं सदी के अपरार्द्ध से मिलने लगते हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि मोगल-कलम के चित्रकार जब दिल्ली से हटने लगे, तब उन्हीं में से कुछ लोग तराइयों में चले गये तथा वहाँ राजपूत-कलम की जो परंपरा पहले से विद्यमान थी, उसमें मोगल कलम का पुट डाल कर उन्होंने पहाड़ी नामक एक नयी कलम का विकास किया। उन्नीसवीं सदी में यह कलम तराई से बाहर निकली और अन्य राज्यों में भी वर्द्धन और विकास पाने लगी। लाहौर और अमृतसर के सिक्ख राज-दरबारों में पहाड़ी कलम को प्रश्रय मिला था एवं पंजाब के बहुत-से व्यक्तियों के पास इस कलम के चित्र पाये गये हैं। पहाड़ी-कलम राजपूत-कलम की दीर्घजीविनी परंपरा थी।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि अजन्ता ने चित्र की जो परंपरा स्थिर की थी, वह मरी नहीं थी, प्रत्युत्, लोक-जीवन में घुल-मिल कर जीती चली जा रही थी। वैष्णव-मन्दिरों और राजभवनों में उसी के अनुकरण पर भित्ति-चित्र बनते जा रहे थे। जब अकबर ने ईरान से चित्रकार मँगवाये, तब, आरम्भ में तो, उनके चित्र अभारतीय रहे, किन्तु, धीरे-धीरे ईरान की पुस्तकालेखन और लघुचित्रकारी वाली परंपरा का मेल यहाँ की भित्ति-चित्र वाली परंपरा से बैठ गया और इसी सामंजस्य से मोगल-कलम का जन्म हुआ। यह **मोगल-कलम** जब राजपूत-कलम से मिल कर और अधिक भारतीय हो गयी, तब पहाड़ी

कलम का विकास हुआ।

पहाड़ी शैली में एक ओर, **मुगल-शैली** की परिपक्वता और दूसरी ओर, भावना-पूर्ण चित्रवस्तु, इन दोनों तत्वों के मिलने से एक ऐसी उपलब्धि हुई है, जो भारतीय चित्रों के लंबे इतिहास में, अजन्ता को छोड़ कर बेजोड़ है। यहाँ चित्रकार उन्मुक्त वातावरण में आ गया है, जहाँ विलास एवं मुगलों के अन्तःपुर के सीमित वातावरण से मुक्ति पाकर उसकी कल्पना अनजान ऊँचाई तक उड़ सकी है।

पहाड़ी चित्रों का विषय अत्यन्त विस्तृत है। इन चित्रों में भारतीय ग्रंथों में से अनेक ग्रन्थ चित्रित हुए होंगे। पर, पहाड़ी चित्रों का सब से मनोहर रूप कृष्णलीला के चित्रों में है। यहां बालसुलभ स्वभाव का जितना शिष्ट रूप चित्रकारों ने अंकित किया है, वह सूर की तुलना में किसी प्रकार उन्नीस नहीं ठहरता।

श्रृंगार के कोमल पक्षों का जैसा निरूपण पहाड़ी शैली के अन्तर्गत नायिका-भेद के चित्रों में मिलेगा, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। आलेखन की कोमलता, आकृतियों की मृदुलता हल्के और आकर्षक वर्ण-विधान, रेखाओं की सजीवता और सर्वोपरि, बहुत ही सजीव दृश्य, ये यदि एक साथ कहीं मिलते हैं तो पहाड़ी चित्रों में। इस प्रकार, ब्रजभाषा के चरमोत्कर्ष के समानान्तर, चित्रों में यदि कोई आन्दोलन था, तो पहाड़ी शैली का। वह यथास्थान वज्रादपि कठोराणि भी है और मृदूनि कुसुमादपि भी।

अंगरेजों के आने के बाद, जब एक स्थान से दूसरे स्थान का संपर्क बढ़ने लगा, तब पहाड़ी अथवा कांगड़ा कलम की व्यक्तिगत विशेषताएँ भी घटने लगीं। फिर कलाकारों के वंशज भी कला-सेवा को छोड़कर जीविकोपार्जन के लिए नौकरी करने लगे। किन्तु, सब से बड़ी बात यह हुई कि सन् १९०५ ई० में जो भूकम्प आया उससे कांगड़ा नगर विध्वस्त हो गया तथा केवल पहाड़ी कलम ही नहीं, उस कलम के बहुत-से कलाकार भी उस भूकम्प में नष्ट हो गये।

हिन्दू और मुस्लिम कलाओं की विशेषताएं

जातियों का जैसा दार्शनिक विश्वास होता है, वैसी ही उनकी कला और वैसे ही उनके कर्म भी होते हैं। हिन्दुओं का विश्वास शरीर पर कम, आत्मा पर अधिक रहा है। गीता ने जिस स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ अथवा कूटस्थ पुरुष का वर्णन किया है, वही भारत-वासियों की कल्पना का आदर्श पुरुष है एवं उसी पुरुष के स्वभाव की अनुभूति और प्राप्ति को यहाँ के लोग अपना जीवनादर्श मानते रहे हैं। कला के अन्यतम आचार्य डाक्टर आनन्द कुमार स्वामी ने लिखा है कि "भारतीय धर्म का सर्वसम्मत सिद्धान्त यह है कि कर्म में अना-सक्ति होनी चाहिए। जीवन का यह ध्येय जो शब्दों में वर्णित है, वही यहाँ की मूर्तिकला एवं चित्रकला में भी अभिव्यक्त हुआ है। इन मूर्त्तियों और चित्रों में जब भी कोई देवता

या मनुष्य किसी कार्य में रत दिखाया जाता है, तब उसकी आकृति पर अविचल शान्ति की आभा वर्तमान रहती है। चित्र ध्वंसक धर्मपाल का हो अथवा आलिंगन में आबद्ध पुरुष और प्रकृति का या समाधिस्थ बुद्ध का, किन्तु, शान्ति की यह मुद्रा सर्वत्र विद्यमान मिलेगी। भारत की मूर्त्तियाँ और भारत के चित्र, सर्वत्र ही, और, कदाचित्, अज्ञातभाव से, इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं कि सारे कार्यों में काम केवल शरीर करता है, आत्मा सदैव गंभीर, अविचल एवं अनासक्त रूप से अलग खड़ी रहती है, मानों, वह द्रष्टा हो, मानों वह कोई नाटक देख रही हो जिस नाटक की अभिनेत्री भी स्वयं वही है।"[1]

लियोनार्डो द विन्सी ने एक स्थान पर कहा है कि "चित्रों में सर्वोत्तम चित्र वही होता है जो रूप में जीवन डालने वाले उद्वेगों को अधिक से अधिक अभिव्यक्ति देता हो।"[2] भारतीय परंपरा में शरीर जड़ और आत्मा चेतन मानी जाती है। अतएव, यहाँ के चित्रों और मूर्त्तियों में आत्मा के गुणों की जैसी अभिव्यंजना हुई है, वैसी शरीर के गुणों की नहीं। जीवन के वस्तुनिष्ठ रूप को भारतवासी उपेक्षा की वस्तु मानते रहे हैं एवं उनका सारा ध्यान उसके आत्मनिष्ठ रूप में केन्द्रित रहा है। हमारी मूर्त्तियों में शरीर के अवयव शोर नहीं करते। वे शान्त भाव से परस्पर मिले हुए दिखलाये जाते हैं। यहाँ की मूर्त्तियों का जो असली प्रभाव है उसे हम एक प्रकार की अनिर्वचनीय निःशब्दता की संज्ञा दे सकते हैं। हमारी अनेक बुद्ध-प्रतिमाओं के मुख पर जो रहस्यपूर्ण प्रसन्नता अथवा मुसकान की आभा मिलती है, वह उन लोगों के लिए स्वाभाविक है जो आत्मनिष्ठ जीवन के विश्वासी है। आत्मा के चित्रण की जो परंपरा इस देश में बढ़ी वह केवल देवताओं की मूर्त्तियों तक ही सीमित नहीं रही, प्रत्युत्, उसका प्रतिबिम्ब हम संतों, राजाओं—यहाँ तक कि कामिनी नारियों की मूर्त्तियों और चित्रों में भी देखते हैं।

दैवी आदर्शों को मानवीय रूपों में पचाने का यहाँ जो प्रयास हुआ है, उससे यहाँ की मूर्त्तियों और चित्रों का व्यक्तित्व बहुत कुछ निर्वैयक्तिक हो उठा है। यह सुरम्य निर्वैय-क्तिकता भारतीय कला की सबसे बड़ी विशेषता है। पाश्चात्य आलोचकों में से कइयों ने भारतीय मूर्त्तियों और चित्रों पर यह आरोप किया है कि उनमें गति और चरित्र-चित्रण का अभाव है। इस आरोप का कारण यह है कि ये आलोचक गति और चरित्र के जो अर्थ लगाते हैं, भारतीय कलाकारों के सामने उनके वे ही अर्थ नहीं थे। वस्तुतः, यहाँ के कला-कार फोटोग्राफर नहीं, सच्चे अर्थों में चित्रकार थे एवं वे उन गतियों और चरित्रों का चित्रण करते थे जो सामान्य जीवन में भले ही उपलब्ध नहीं रहे हों, किन्तु, जिन्हें जीवन में

१. आर्ट एण्ड स्वदेशी-आनन्द कुमार स्वामी

2. That drawing is best which by its action best expresses the passion that animates the figure.

उतारने का लक्ष्य यहाँ के संतों, दार्शनिकों और कलाकारों, सबके सामने मौजूद था। ऐसी आलोचनाओं का कारण यह है कि इस युग में जीवन की अनुकरणशीलता कला का मुख्य गुण मान ली गयी है एवं विज्ञान और कला के उद्देश्य परस्पर उलझ-से गये हैं।[1] प्रकृति के वस्तुनिष्ठात्मक रूपों का चित्रण एशियाई कला का ध्येय नहीं रहा है। इसका ध्येय तो ध्वनि, संकेत और विशिष्ट भावों को प्रमुखता देना है। यह कला केवल उन्हीं तत्वों पर जोर देती है जिन्हें वह जीवन की मूल-वास्तविकता से सम्बद्ध मानती है और इस प्रक्रिया में, अपने विश्वासों के निकट से निकट पहुँचने के प्रयास में, वह प्रकृति के रूपों को कुछ मोड़-मार कर भी अपना काम निकालती है।

लियो नार्डो की एक दूसरी उक्ति यह है कि "अच्छे चित्रकारों को दो वस्तुओं का चित्रण करना पड़ता है। एक वस्तु तो मनुष्य की देह है और दूसरी उसकी आत्मा की आकांक्षा। देह का चित्रण फिर भी अपेक्षाकृत सरल कार्य है, किन्तु, आत्मा की आकांक्षा का चित्रण कठिन होता है, क्योंकि इस निराकार विषय को भी चित्रकार को अंगों के घुमाव एवं अवयवों की प्रवृत्ति के द्वारा ही चित्रित करना पड़ता है।" और यही वह क्षेत्र है जिसमें भारत का कलाकार दुनिया में अपना सानी नहीं रखता। "सीलोन में स्थित सुन्दर मूर्त्ति स्वामी की आकृति में जो उत्सुकता का भाव है वह बड़ा ही उत्कट एवं जो आश्चर्य का भाव है वह अतुलित आनन्द से पूर्ण है। इन दोनों के मिश्रण से मूर्त्ति में जो सौंदर्य उत्पन्न हुआ है वह अत्यन्त अद्भुत एवं अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार, ध्यानी बुद्ध की मुद्रा में केवल शान्ति ही नहीं है, प्रत्युत्, उस शान्ति के भीतर एक प्रकार की गति भी विद्यमान है। तथा धर्मपाल (यमराज) के चित्रों और मूर्त्तियों में भी स्थिरता के वातावरण में अनिलावर्तों की गति भरी हुई है। यूरोप के लोग मानव-रूप को केवल मुखाकृति में देखते हैं एवं शरीर को उसका सहायक मात्र मानते हैं। यहाँ तक कि यूरोप के कलाकार हाथ-जैसे प्रमुख अवयव को भी ठीक से नहीं देख पाते। किन्तु, सच्चे मूर्त्तिकार के लिए मनुष्य केवल मुख ही नहीं होता, वह तो पर्वत के समान एक इकाई होता है जिसमें मुख भी एक अवयव के स्थान का अधिकारी है।"[2] मुख्य बात यह है कि जो लोग कला में केवल मनुष्य की देह का प्रतिफलन देखना चाहते हैं, उनके लिए भारतीय मूर्त्तियों और चित्रों में उसका अभाव है। किन्तु, जो चाहते हैं कि कला मनुष्य पर ही नहीं रुके, कुछ उस कल्पना की भी झाँकी दिखलाये जो मनुष्य के दृश्य रूपों से परे है, उनके आगे भारतीय मूर्त्तियाँ और भारतीय चित्र अजस्र आकर्षण के स्रोत हैं।

अजन्ता और सिगिरिया (सिंह गिरि सीलोन) में जो चित्र हैं, वे ऊपर के लक्षणों

---

१. आन् द स्टडी आव् इंडियन आर्ट—आनन्द कुमार स्वामी

२. फेसियल एक्सप्रेसन इन इंडियन् स्कल्पचर—आनन्द कुमार स्वामी

से पूर्ण रूप से युक्त हैं तथा मोगल-काल में राजपूत-कला के जो उदाहरण मिलते हैं उनकी भाव धारा भी अजन्ता के उत्स से फूट कर आगे बढ़ती दिखाई देती है। राजपूत-कलम के चित्रों की प्रशस्ति में अबुल फजल ने कहा था कि "वस्तुओं के विषय में हमारा जो ज्ञान है ये चित्र उससे बहुत आगे का संकेत करते हैं। हिन्दुत्व के संयम और वैराग्य, पवित्रता और योगाचार तथा कोमलता और क्रोध, सबका सम्यक् प्रतिनिधित्व इन चित्रों में हुआ है।"

ईरानी कला, मुख्यतः, पुस्तकों को सचित्र करने की कला थी जिसमें चमकदार रंगों के साथ बहुत काफी सोने की मिलावट रहती थी। इसके विषय भी सीमित होते थे। लड़ाई, मद्यपान और प्रेम के चोंचले, ये ही ईरानी चित्रों के मुख्य विषय थे। व्यक्ति-चित्र (पोर्ट्रेचर) अधिक नहीं बने, किन्तु, जो बने उनके पीछे तैमूरी प्रभाव समझना चाहिए जो प्रभाव भारतीय कला पर भी पड़ा था। ईरानी कला में सौंदर्य, सामंजस्य, प्रगीतमयता और रंगों की चमक, ये सब कुछ हैं, किन्तु, उसके भीतर रागों का उद्वेग शिथिल है। ये चित्र हमें सुगंधित वाटिकाओं में ले जाते हैं एवं साहस-पूर्ण जीवन से भी परिचित कराते हैं। किन्तु, ईश्वर प्रेम अथवा नर-नारी के विरह और मिलन से उत्पन्न होने वाले भावों की अनन्तता उनमें नहीं मिलती। मानवात्मा का जो स्वभाव है अथवा पशुओं, वृक्षों और पहाड़ों में जो आत्मा छिपी हुई है, उसकी झलक ईरानी चित्रोंमें कहीं भी नहीं मिलती। इन चित्रों में औपचारिकता अधिक, आदर्शवादिता बहुत अल्प है। बल्कि, दुहराहट और आडम्बर की प्रचुरता में इनका आकर्षण दब कर रह जाता है।

ऐसा लगता है कि जब अकबर ने ईरान से चित्रकार मँगवाये तब आरम्भ में (हुमायूं कालीन परंपरा के प्रभाव के कारण) ईरानी चित्रों की ये विशेषताएँ, मोगल-कला पर भी चढ़ी रहीं। सभी मोगल-कालीन चित्रों के लिए हिन्द-ईरानी नाम आनन्द कुमार स्वामी को पसन्द नहीं है। उनका कहना है कि हिन्द-ईरानी कला (जिसमें भारत और ईरान की कला प्रवृत्तियों का मिश्रण है) केवल वही है जो सन् १५५० ई० से लेकर सन् १६१० ई० तक बढ़ी। उसके बाद, वह भारतीय हो गयी। "मोगल-कलम के सोलहवीं सदी के सर्वोत्तम चित्रों में ही ईरानी प्रभाव सबसे अधिक लक्षित होता है। सतरहवीं सदी में जो चित्र बने, वे अत्यन्त भारतीय हैं।.....असली मोगल-कलम सतरहवीं सदी की कलम है, उससे पहले की नहीं, क्योंकि उसके पहले उसका जन्म और विकास हो रहा था; और उसके बाद की भी नहीं, क्योंकि सतरहवीं सदी के बाद उसका पतन आरम्भ हो जाता है।"[१]

ईरान की कला का स्वभाव स्त्रैण था। इसके प्रतिकूल, मध्य एशिया में तैमूर-वंशी शासकों के अधीन जो कला विकसित हुई, उसमें उद्दामता का अधिक जोर था। सतरहवीं सदी में इन दोनों कलाओं के साथ भारतीय कला भारतवर्ष में मिली। इन विभिन्न कला-

१. आन मोगल एण्ड राजपूत पेंटिंग (आर्ट एण्ड स्वदेशी में)

प्रवृत्तियों के योग से भारत में एक नयी कला का जन्म हुआ जो जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल में उन्नति के शिखर पर पहुँची और उसके बाद, क्रमशः, नीचे आने लगी।

इस कला में व्यक्ति की आकृति की प्रधानता है। इसकी दृष्टि केन्द्रित हो कर वर्त्तमान काल पर है तथा उसके मुख्य विषय अमीरों के कारनामे हैं। यह कला जीवन को आदर्शोन्मुख नहीं करके, खुल कर उसका प्रतिनिधित्व करती है। "वैयक्तिक चरित्रों में गहरी दिलचस्पी, संश्लेषण के स्थान पर विश्लेषण की प्रमुखता तथा संतों और महात्माओं की जगह पर राजाओं और दरबारियों से प्रेम"[1] ये मोगल-कला के कुछ मुख्य लक्षण हैं। मुसलमान मूर्त्तिपूजक नहीं थे, अतएव, इस्लाम के धार्मिक महापुरुषों के चित्र नहीं बनाये जा सकते थे। धर्म की भूमि से अलग होने के कारण, इस्लामी युग में यह कला पूर्ण रूप से लौकिक हो गयी।

राजपूत-कलम से मोगल-कलम का मुख्य भेद यह है कि मोगल-कलम का जन्म अनेक कलमों के मिश्रित प्रभाव से हुआ, किन्तु, राजपूत कलम भारत की राष्ट्रीय कला-प्रवृत्ति से फूट कर निकली है। फिर भी, विभिन्न प्रभावों के बीच से जन्मी हुई मोगल-कला ने एक प्रकार की मौलिकता प्राप्त कर ली और वह धीरे-धीरे भारतीय भी हो गयी। मोगल-कला में व्यक्ति के चित्रों की प्रधानता है। राजपूत-कला में ऐसे चित्र बहुत कम हैं। मोगल-कला जीवन को भोग, आनन्द और उल्लास की दृष्टि से देखती है। राजपूत-कलम के लिए जीवन अनन्त साधना का विषय है। मोगल-कलम आरम्भ से अन्त तक किताबों के पन्नों की चीज है। राजपूत-कलम किताब के पन्नों पर भित्ति से उतरकर आयी है। सोलहवीं सदी में राजपूत-कलम का जो रूप हम देखते हैं, वह उसके वार्द्धक्य का रूप है। अपने वार्द्धक्य में भी वह मोहक और सूक्ष्म है। किन्तु, यह आभास दिये बिना वह नहीं रह सकती कि यह उसके उतार की ऋतु थी। इसके विपरीत, तत्कालीन मोगल-कला अपने उच्छल यौवन के काल में है, उसमें प्रयोग का भरपूर साहस और विकास की अनन्त सम्भावनाएँ भरी हुई हैं। भारत के दार्शनिक दृष्टिकोण के समान ही, राजपूत-कलम में हम एक प्रकार की अपरिवर्तनशीलता की छाप देखते हैं, एक प्रकार की सनातनता की आभा देखते हैं जो बुझ कर भी नहीं बुझती और न कभी जोर से ऊपर ही उठती है। मोगल-कलम विवरणात्मक है, साहित्यिक है, वस्तुवादी और आमुष्मिक है। इसके विपरीत, राजपूत-कलम में धार्मिकता भी है और शृंगारिकता भी। उसमें आदर्श की वही प्रधानता है जो अजन्ता-कलम का गुण थी। मोगल-कलम दरबारियों के लिए थी, राजपूत-कलम जनता की हो चली थी। मोगल-कलम के विषय हैं आखेट और युद्ध के दृश्य, दरबार और मनोरंजन की कहानियाँ एवं पशु-पक्षी और फूल। राजपूत-कलम के विषय रामायण और महाभारत से आये हैं, वैष्णव धर्म और बाद

---

१. वही

को कुछ शैव धर्म से भी आये हैं। राजपूत कलम में प्रेम का चित्रण भी खूब हुआ है, किन्तु, सदैव, वह प्रेम आदर्श का स्पर्श करता है।

राजपूत-कलम की कुछ बुरी कृतियाँ सोलहवीं सदी में भी बनी थीं और कुछ अच्छी कृतियाँ उन्नीसवीं सदी में भी बनीं। सच पूछिये तो यह कलम अब भी खत्म नहीं हुई है और उसके प्रभाव अर्वाचीन कलाकारों की तूलिकाओं में भी जहाँ-तहाँ मौजूद हैं।

उम्र की दृष्टि से मोगल-कलम अल्पायु सिद्ध हुई। वह सर्वथा नवीन वस्तु नहीं होकर भारतीय चित्रकला की ही एक तरंग थी जो ईरानी कलाकारों के सहयोग से उठी थी और उठकर फिर मुख्य धारा में ही विलीन हो गयी। राजपूत-कलम की दुनिया जादू की दुनिया है जिसमें सभी पुरुष वीर और सभी रमणियाँ सुन्दर एवं लजीली होती हैं; जिसके सारे पालतू और जंगली जीव मनुष्य के मित्र होते हैं। तथा इस दुनिया के तृण-तृण इतने चेतन हैं कि नववधू के पैरों की आहट उन्हें सुनाई दे जाती है। इसके विपरीत, मोगल-कलम की दुनिया वह दुनिया है जिसमें हाथी से हाथी, बाघ से बाघ और शेर से शेर लड़ते दिखायी देते हैं। मोगल- कलम की चरम-परिणति बादशाहों एवं सरदारों के व्यक्ति-चित्रों में हुई। राजपूत-कलम ने प्रेम और विरह की अनन्तता तथा अदृश्य के अनुसंधान में अपने को उत्सर्ग कर दिया। मोगल-कलम उस वंश की समाप्ति के साथ समाप्त हो गयी जिसने उसे जन्म दिया था, किन्तु, राजपूत-कलम अब भी जी रही है।

भौगोलिक दृष्टि से राजपूत-कलम के दो क्रीड़ा-क्षेत्र रहे है, एक तो हिमालय की तराई और दूसरा राजस्थान का मैदान। तराई में इस कला का सूक्ष्म से सूक्ष्म चमत्कार कांगड़ा-शैली में अभिव्यक्त हुआ और मैदान में जयपुर की शैली में।

किन्तु, राजपूत-कलम की दुर्बलता यह है कि विकास की ओर उसके कदम नहीं हैं। बहुत दिनों की साधना के कारण, अब उसकी संभावनाएँ शून्यवत् रह गयी हैं। उसपर आ-लंकारिकता का भी प्रभाव पड़ा है एवं सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि परंपरा का अच्छा ज्ञान नही रहन से इसके चित्र बहुधा समझ में कम आते हैं। यह मनुष्य-स्वभाव के साथ एक रहना चाहती है, किन्तु, वास्तविकता की उपेक्षा करके। सच तो यह है कि राजपूत-कलम हिन्दी की रीतिकालीन कविता का अनुपूरक अंग है। जैसे, तत्कालीन काव्य का आकर्षण उसके विषय नहीं, कलाकारिता को ले कर है, वैसे ही, इन चित्रों का भी मुख्य आकर्षण उनकी मँजावट ही है। कृष्ण-लीला, नायिका-भेद और रासलीला से प्रेरणा रीति-कालीन कवियों को भी मिली और चित्र-कारों को भी। चित्रकारों ने एक फाजिल काम यह किया कि उन्होंने राग-रागिनियों के भी चित्र बना डाले। रीतिकालीन कवियों पर इन चित्रकारों की बहुत रुझान थी। इन चित्रकारों ने केशव की कविताओं पर चित्र बनाये और दतिया-राज्य में अष्टयाम, बिहारी-सतसई और मतिराम के रसराज पर भी अनेक

चित्र बनाये गये । स्पष्ट ही, यह ईरानी प्रभाव था । ईरान में पुस्तकों को सचित्र करने की परिपाटी थी । उसका अनुकरण पहले अकबर के दरबार में हुआ और बाद को हिन्दू-नरेशों के यहाँ ।

मोगलकालीन चित्रों के विषय में लिखते हुए कला-मर्मज्ञ श्रीयुत रायकृष्णदास जी ने कहा है कि "इन चित्रों में हद से ज्यादा रियाज, महीनकारी, रंगों की खूबी तथा शान-शौकत एवं अंग-प्रत्यंग की लिखाई, दरबारी अदब-कायदों की जकड़बंदी और शाही दबदबे के कारण भाव का सर्वथा अभाव, बल्कि, एक प्रकार से सन्नाटे-सा पाया जाता है जिससे जी ऊबने लगता है ।"[१] यह उक्ति बहुत-कुछ रीतिकालीन कविता पर भी लागू की जा सकती है।

रीतिकालीन हिन्दी कविता का एक लक्षण यह भी है कि उसके पिछले वर्षों की कविताएं रीति के बन्धनों से बहुत कुछ मुक्त हो जाती हैं एवं उनमें एक नया आनन्द झलकने लगता है जो परिमार्जित शैली में हृदय की सच्ची अनुभूतियों के लिखने का आनन्द है । आलम, शेख, बोधा और घनानन्द इसी आनन्द के कवि हैं । आश्चर्य की बात है कि जैसे अठारहवीं सदी में इन कवियों ने कविता में फिर से प्राण डाल दिये, वैसे ही, इस काल में पहाड़ी कलम (कांगड़ा शैली) के चलते, चित्रकला भी सजीव हो उठी । और जैसे आलम, बोधा और घनानन्द में जो आकर्षण है उसका उद्गम सूफी भाव-धारा और भारतीय भाव-धारा का मिलन-विन्दु है, वैसे ही, पहाड़ी कलम में भी ताजगी मोगल-कलम से आयी । "पहाड़ी-कलम मोगल-कलम की सद्यः संतति है । एवं यही कलम अजन्ता के बाद भारत की सबसे उच्च कलामय उड़ान भी है ।"[२] घनानन्द की कविता में जो हार्दिकता और उन्मुक्तता है वही हार्दिकता और उन्मुक्तता पहाड़ी शैली के भी गुण हैं । ये कलाकार जनजीवन के बहुत समीप थे । उन्होंने अनेक विषयों पर चित्र बनाये । "हिन्दी के प्रमुख और साधारण कवियों से लेकर जीवन की दैनिक चर्या और शबीह तक, ऐसा एक भी विषय नहीं है जिसे इस शैली के चित्रकारों ने छोड़ा हो ।"[३]

मोगल और राजपूत कलमों के मेल से जो पहाड़ी-कलम निकली वह खूब कामयाब रही और उसने भारतीय भावनाओं की अभिव्यक्ति भी सफलता से की । किन्तु, मौर्यों के समय, भारत और यूनान की कलाओं के मेल से जो गान्धार-कला निकली थी, वह टिकाऊ नहीं हो सकी, क्योंकि वह भारत की आत्मा के अनुकूल नहीं थी । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कला के क्षेत्र में भारत का एशिया से तो पूरा मेल है, किन्तु, उसका यही मेल यूरोप के साथ नहीं बैठ सकता । साहित्य में भी, ईरानी भावों का भारतीय भावों से जो

---

१. भारत की चित्रकला

२. रायकृष्ण दास

३. वही

मिश्रण हुआ उसे तो जनता ने उठा लिया है, किन्तु, यूरोप की जो विशिष्टताएँ भारतीय साहित्य में उतारी जा रही हैं, उन्हें जनता कभी भी ग्रहण करेगी या नहीं, यह संदिग्ध बात है ।

स्थापत्य या वास्तु-कला पर प्रभाव

हिन्दुओं के यहाँ मन्दिर बनाने की दो शैलियाँ प्रचलित हुईं, एक उत्तर में और दूसरी दक्षिण में, यद्यपि दोनों शैलियाँ, मूलतः, एक ही हैं । उत्तर के हिन्दू-मन्दिरों में भुवनेश्वर (उड़ीसा), खजुराहो (मध्यभारत) बोध गया, आबू और पालीतान (सौराष्ट्र) के मन्दिर प्रसिद्ध हैं । दक्षिणी शैली के अद्भुत नमूने मदुरा, तंजोर, श्रीरंगम् (त्रिची), महाबलिपुरम्, कांजीवरम् (कांची) आदि के मन्दिर हैं । सच पूछिए तो मन्दिर-रचना की जो विशुद्ध सरणी दक्षिण में देखने को मिलती है, वह उत्तर में नहीं है । हिन्दुत्व का गढ़ अब दक्षिण भारत ही रह गया है एवं जिसने दक्षिण के मन्दिरों को नहीं देखा, उसे इसका आभास दिलाना भी कठिन है कि हिन्दू-मन्दिरों की विशेषताएँ क्या होती थीं । दक्षिण के मन्दिरों की रचना में हिन्दू-दर्शन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हुई है । ये मन्दिर बाहर तो पाँच या सात प्राकारों से घिरे होते हैं और सबके केन्द्र में गर्भ-मन्दिर होता है जिसमें देवता निवास करते हैं । इस गर्भ-मन्दिर में वातायन नहीं होते, न उसका आकार ही बड़ा होता है । प्राकार शरीर के बाह्यावयवों के रूपक हैं और गर्भ-गृह आत्मा का संस्थान । तुलसीदास ने ज्ञानदीपक (उत्तरकांड) के प्रसंग में कहा है,

तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा,
उरगृह बैठि ग्रंथि निरवारा ।

मन्दिरों के गर्भ-गृह इसी उर-गृह के रूपक हैं ।

किन्तु, हिन्दू-मन्दिरों की गणना भारत में ही समाप्त नहीं हो जाती । सीलोन, जावा, कंबोडिया, श्याम, बर्मा, तिब्बत, खुतन, तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया और जापान में भी हिन्दू-शैली के मन्दिर बने थे । भारत के अनेक मन्दिर तो आक्रमणों के क्रम में ध्वस्त हो गये, किन्तु, बाहर के बहुत-से मन्दिर अब भी विद्यमान हैं और उनके अध्ययन के बिना भारतीय वास्तु का अध्ययन अधूरा रह जाता है । भारत और, प्रायः, समस्त विश्व के सर्व-श्रेष्ठ मन्दिर जावा में हैं, यह बात अन्य देशों के विद्वान भी मानते हैं ।[1] मन्दिर बनाने का शौक भारतीय राजाओं को बहुत था । सात-सात प्राकारों के जो बड़े-बड़े मन्दिर हैं, वे किसी एक राजा के राज्य-काल में नहीं बने थे. प्रत्युत्, उनमें कई पीढ़ियों का परिश्रम और धन लगा था । मन्दिर बनाने की धुन हिन्दुओं में ऐसी प्रचण्ड थी कि एक ओर तो उत्तर भारत में मुसलमान मन्दिरों को मटियामेट कर रहे थे, दूसरी ओर, दक्षिण के राजे तब भी नये मन्दिर

१. दे० विल डुराण्ट-कृत "आवर ओरियंटल हेरिटेज" ।

बनवा रहे थे। अनेक टूटे हुए मन्दिर भी हिन्दुओं ने कई बार बनवाये। सोमनाथ का मन्दिर पाँच बार तोड़ा गया था और पाँच बार किसी न किसी हिन्दू राजा ने उसे फिर से बनवा दिया।

इन मन्दिरों में जो कला और कारीगरी है उसका सम्यक् वर्णन करना लेखनी के बस के बाहर की बात है। मदुरा और तंजौर के मन्दिरों को देखते-देखते मन किसी सुदूर दिशा में उड़ने लगता है एवं यह कल्पना दिमाग में किसी भी तरह नहीं आती कि कारीगरी इससे बाल भर भी आगे जा सकती है। दक्षिण के गोपुरों में तो गुच्छ की गुच्छ सुन्दरताएँ एक साथ झूलती दिखाई देती हैं, एवं ऐसा भासता है, मानों मूर्त्तिकला, स्थापत्य की सेज पर नाना रूपों में बिहार कर रही हो। "बाड़ोली के मन्दिर की तक्षण-कला की प्रशंसा करते हुए कर्नल टाड ने लिखा है—यहाँ हुनर का खजाना खाली कर दिया गया है। इसके स्तंभ, छत और शिखर का एक-एक पत्थर छोटे-से मन्दिर का दृश्य बतलाता है। प्रत्येक स्तम्भ पर खुदाई का काम इतना सुन्दर और बारीकी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता।" भारतीय शिल्प के प्रसिद्ध विद्वान् मि० फरगुसन लिखते हैं कि आबू के मन्दिरों में, जो संगमरमर के बने हुए हैं, अत्यन्त परिश्रम सहन करने वाली हिन्दुओं की टाँकी से फीते-जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियाँ बनायी गयी हैं कि उसकी नकल कागज पर बनाने में कितने ही समय एवं परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सका।"[१]

जब मुसलमान भारत आये, उसके पूर्व ही वे ग्रेनेडा, कैरो, रूसले और बदगाद में महलों के अद्भुत निर्माता सिद्ध हो चुके थे। भारत में उन्होंने जो भवन बनवाये उनमें कुछ मस्जिदें, दिल्ली का लाल किला, फतहपुर सीकरी का किला, आगरे का ताज महल तथा ससराम और दिल्ली के मकबरे बहुत प्रख्यात हैं। अफगान बादशाहों के समय, भवन-निर्माण में हिन्दू कारीगर ही, विशेष रूप से, रखे जाते थे और कभी-कभी मन्दिरों के पाये और वन्दनवार भी तोड़ कर उनमें लगा दिये जाते थे। इसलिए, इन निर्माणों का रूप वर्णसंकर-जैसा लगता है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि हिन्दू-मन्दिरों को ही मुसलमानों ने मस्जिदों में परिणत कर दिया। धारा नगरी की यज्ञशाला का यही हाल हुआ है। कहते हैं, कुतुब-मीनार में हिन्दू-कला की जो छाप है वह इस कारण कि इसमें २७ मन्दिरों के खंडित अंश लगाये गये थे।

किन्तु, स्थापत्य में भी समन्वय का आरम्भ अकबर ने ही किया। उसके फतहपुर सीकरी के किले में जो विराटता है वह हिन्दू-वास्तु की स्वाभाविक विराटता का प्रभाव है। अकबर के समय में मोगल-कला ने अपनी प्रगति की राह पकड़ी, जहाँगीर के समय वह बढ़ी और शाहजहाँ के समय में वह अपनी चरमसीमा पर पहुँच गयी। बाहर के कला-पारखी

१. माध्यकालीन भारतीय संस्कृति

इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि ताजमहल ईरान, मिश्र या स्पेन में नहीं बनकर, भारत में क्यों बना। किन्तु, वस्तुस्थिति यह है कि ताजमहल का निर्माण मुसलमान भारत में ही कर सकते थे, क्योंकि वास्तु की जैसी सूक्ष्म और जितनी विराट परम्परा भारतवर्ष में थी वैसी संसार में और कहीं नहीं थी।

भारतीय वास्तु में प्राणवत्ता, पौरुष और वैराट्य था। ईरानी कला के लालित्य, नारीत्व और सूक्ष्मता का जब उसके साथ मिश्रण हुआ, एक नयी कला का जन्म हो गया जो अत्यन्त मनोहर और अपूर्व थी। ताज में केवल वास्तु ही नहीं है। उसके साथ मूर्त्तिकारी और चित्रकारी भी लगी हुई है। भवन के रूप में, ताज खड़ी हुई प्रतिमा के समान है एवं संगमरमर के फलक पर उसे हम चित्र भी कह सकते हैं।

मदुरा, तंजोर, भुवनेश्वर और बोध गया में हिन्दू-वास्तु का जो पौरुष, प्राणवत्ता और वैराट्य साकार है, फतहपुर सीकरी, दिल्ली और आगरे में वही ईरानी लालित्य और प्रगीतमयता को अपनी गोद में उठाये हुए है। कहते हैं कि मोगल निर्माता निर्माण तो विश्वकर्मा की तरह करते थे, किन्तु, समाप्ति उनकी जौहरियों की तरह होती थी। लेकिन, यह विश्वकर्मा भारत का था, केवल जौहरी को ही हम ईरानी कह सकते हैं। अतएव, इस कहावत को बदल कर ऐसे रखना चाहिए कि विश्वकर्मा के समान विराट् निर्माण करने की क्षमता हिन्दुओं में थी और जौहरियों के समान समाप्त करने में मुसलमान प्रवीण थे। मोगल स्थापत्य में हम जो चमत्कार देखते हैं वह इसी **विश्वकर्मा** और **जौहरी** के मिलन का चमत्कार है।

हिन्दू-वास्तु का प्रभाव आकार की विराटता के कारण पड़ता है; मुस्लिम-वास्तु का तफसीली बारीकी के कारण। एक में शक्ति की शोभा है, दूसरे में सौंदर्य का सम्मोहन। हिन्दू-निर्माताओं में राग था, उद्वेग और उद्दामता थी तथा उनकी उर्वरता का स्रोत कभी सूखता ही नहीं था। मुस्लिम-निर्माताओं में रुचि थी, कला से आनन्द लेने की उमंग थी और उद्दामता को वे नियंत्रण में रख सकते थे। हिन्दू मन्दिरों की दीवारों पर इतनी रचनाकारी कर देते थे कि सारा मन्दिर ही मूर्त्तिकला का उदाहरण बन जाता था। दीवारों को सजाने का चाव मुसलमानों में भी था किन्तु, इस चाव को उन्होंने ज्यामिति के अनुपात में लता और पुष्पों के खचन से पूरा किया।

हिन्दू-वास्तु में पौरुष और प्रताप का तेज है। मुस्लिम-स्थापत्य में रंजकता की लहर उठती है। किन्तु, विराटता रंजकता की अपेक्षा अधिक प्रभावशालिनी होती है। इसीलिए, भुवनेश्वर, तंजोर और बोरोबुदुर (जावा) के मन्दिरों के पार्श्व में, ताजमहल वैसा ही लगता है जैसे नाटकों की बगल में संगीत,[१] जैसे वाल्मीकि के पार्श्व में कालिदास, जैसे तुलसी के

---

१. विल डुरांट—आवर ओरियंटल हरिटेज

पार्श्व में बिहारी या घनानन्द ।

ऐसा लगता है कि चित्रकला में मोगल-गरिमा जिस प्रकार निखरी उससे अधिक वह स्थापत्य में निखरी है। साहित्य, चित्र और स्थापत्य, प्रायः, प्रत्येक क्षेत्र में हिंदुओं का उत्तराधिकार बहुत-कुछ महाकाव्य-कल्प था। मुस्लिम-प्रभाव ने उसे लिरिक (प्रगीत) की ओर मोड़ा। उर्दू में कोई सर्वविदित मसनवी नहीं लिखी गयी, यह भारत में इस्लामी संस्कृति की प्रगीतमयता का प्रमाण है। इसी प्रकार, पहाड़ी कलम जो मोगल-कलम की संतति है, प्रगीतात्मक रही है। एवं मुस्लिम-वास्तु की स्त्रैण माधुरी का क्या कहना ? ताजमहल तो भारतीय स्थापत्य का अद्भुत प्रगीत ही है।

हिन्दी-साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव

डाक्टर राम बाबू सक्सेना ने लिखा है कि आरंभ के हिन्दी-कवियों में फारसी शब्दों का जो आधिक्य है उसे देख कर विस्मय होता है[1]। किन्तु, सच पूछिये तो आधिक्य इस उक्ति में ही अतिरंजन का है। हिन्दी-कवियों ने फारसी और अरबी शब्दों का अधिकतर प्रयोग नहीं किया। हाँ, जो फारसी और अरबी शब्द प्रचलित हो गये थे, उनमें से दो-चार शब्द हिन्दी वाले भी लेते थे। शब्द, सदैव, अनुकूल भावों की प्रतीक्षा करते हैं। कवि के मन में जैसे भाव उठते हैं,उनके अनुरूप शब्द उसके सामने स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। यही कारण है कि हिन्दी के निर्गुण-पंथी कवियों में हम अरबी और फारसी के शब्द, बहुत अधिक तो नहीं, फिर भी काफी देखते हैं। ये कवि सूफियों से प्रभावित थे और सूफी भावधारा के साथ अरबी और फारसी शब्द लिपटे हुए थे। किन्तु, निर्गुण-पंथियों को छोड़ कर अन्य कवियों में (यानी सूर, तुलसी, केशव, मतिराम, देव आदि में) हम फारसी और अरबी शब्दों की अधिकता नहीं देखते। अधिकता तो क्या, इन कवियों में फारसी के शब्द इतनी कम मात्रा में हैं कि, बस, प्रमाण-मात्र के लिए ही उनका उल्लेख किया जा सकता है। अन्यथा भावाभिव्यक्ति में इन शब्दों से कोई खास सहायता कवि को नहीं मिली है। फिर भी, उन शब्दों को इन कवियों ने यदि ग्रहण किया तो इसका कारण यह था कि ये शब्द हिन्दी में प्रचलित हो चुके थे एवं सम्यक्-प्रचलित शब्दों को भाषा में से निकाल फेंकने की क्रूरता हिन्दी वालों में कभी नहीं रही है।

बाद के कवियों में भूषण, पद्माकर, कुलपति मिश्र, नागरीदास, ग्वाल, सीतल आदि ने फारसी और अरबी शब्द लिये हैं, किन्तु खुलकर नहीं। कुलपति, पद्माकर और ग्वाल ने तो, मानों, मौज में आ कर कुछ खास छन्द ही इसलिए लिखे कि उनमें वे फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग कर सकें। किन्तु, ये छन्द उनकी प्रतिनिधि रचनाएँ नहीं हैं और उनकी संख्या भी, प्रमाण के योग्य, केवल दस-पाँच ही होंगी। ये छन्द सत्प्रेरणा से नहीं, एक प्रकार की खिलवाड़ी-मनोवृत्ति से निकले हैं। किन्तु, भूषण के साथ यह बात नहीं है। उन्होंने फारसी और अरबी के शब्द अभिव्यक्ति की विवशता अथवा श्रोताओं की सुगमता के लिए रखे थे। भूषण की भाषा के विषय में विचार करते समय हमें यह याद रखना चाहिए कि उनके प्रधान श्रोता शिवाजी महाराज के दरबारी थे। संभव है, उस दरबार में हिन्दी का कोई रूप प्रचलित रहा हो। संभव है, वहाँ दक्खिनी हिन्दी का वाता-

---

१. ए हिस्ट्री आव उर्दू लिटरेचर।

वरण रहा हो । भूषण की भाषा ऊबड़-खाबड़ है एवं उसमें कला से अधिक प्रेषणीयता एवं शब्दों के नाद का चमत्कार है। यह भी सोचना होगा कि भूषण की कविता की भूमि राजनीति और समाज की भूमि है। उन्हें हिन्दू-धर्म या संस्कृति के सूक्ष्म भावों को अभि-व्यक्ति नहीं देनी थी, जिसके लिए फारसी और अरबी शब्द अनुपयुक्त होते। कभी-कभी तो ऐसा भी लगता है, मानों, वे शत्रु की ही भाषा में अपना आक्रोश सुना रहे हों। फिर भी,उन्होंने फारसी और अरबी शब्दों का जो प्रयोग किया, वह कुलपति, पद्माकर और ग्वाल के प्रयोगों से अधिक गंभीर वृत्ति के कारण। भूषण ने इन शब्दों का प्रयोग आवश्यकता से किया है जब कि ग्वाल आदि लोग महज मनबहलाव और मजाक के लिए, कभी-कभी फारसी-मिश्रित भाषा लिख लेते थे। "खड़ी बोली का रूप-रंग जब मुल्लमानों ने बहुत-कुछ बदल दिया और वे उसमें विदेशी भावों का भंडार भरने लगे तब हिन्दी कवियों की दृष्टि में वह मुसलमानों की खास भाषा जँचने लगी । इससे भूषण, सूदन आदि कवियों ने मुसलमानी दरबारों के प्रसंग में या मुसलमान पात्रों के भाषण में ही इस बोली का व्यवहार किया है" ।[१]

टट्टी-संप्रदाय के महंथ सीतलदास का समय, प्रायः, उन्नीसवीं सदी के पास पड़ता है। उन्होंने अपने जानते खड़ी बोली में कविता लिखी है। यह विचित्र बात है कि हिन्दी के जो भी कवि खड़ी बोली का पुट अपनी भाषा में देना चाहते थे, वे फारसी-अरबी का एकाध शब्द जरूर ले लेते थे। किन्तु, सीतल तो शुद्ध खड़ी बोली ही लिख रहे थे। इस लिए, अपनी कविताओं में अरबी-फारसी का प्रयोग उन्होंने खुलकर किया है। फिर भी, उनकी भाषा उर्दू नहीं, हिन्दी ही है और जो भी विदेशी शब्द उसमें आये हैं, वे हिन्दी शब्दों से पूरा मेल रखते हैं। उर्दू और हिन्दी के समन्वय का सीतल की भाषा अच्छा उदाहरण है।

किन्तु, कुछ नये शब्दों के आ जाने से यह नहीं कहा जा सकता कि इस्लाम का प्रभाव इस देश के साहित्य पर भी पड़ा है। नये शब्द तो जीवित भाषाओं में आते ही रहते हैं। साहित्य भाव है, भाषा उसका माध्यम है। मनुष्य के कपड़ों में बटन इटली और धागे रूस के हो सकते हैं, किन्तु, इतने से ही वह रूसी या इटैलियन नहीं हो जाता। देखना यह चाहिए कि उसका मन, उसकी सोचने की मुद्रा रूसी या इटैलियन हुई है या नहीं। जब तक साहित्य का विश्वास नहीं बदलता, भावधारा परिवर्तित नहीं होती, तब तक साहित्य में आने वाले परिवर्तन की घोषणा नहीं की जानी चाहिए ।

जब हिन्दुत्व और इस्लाम परस्पर मिले, तब निश्चित रूप से यह दो विरोधी संस्कृ-तियों का मिलन था। इनमें से एक संस्कृति अत्यन्त प्राचीन थी, लोक पर परलोक को प्रमुखता देनेवाली थी,वैराग्य और निवृत्ति उसके मूल में थी, अहिंसा से वह ओत-प्रोत

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास ।

थी तथा भावुकता से अधिक उसमें ज्ञान और अनुभव का प्राचुर्य था । और दूसरी संस्कृति उच्छल थी, जवान थी, वैराग्य को महत्व सिर्फ उसके सूफी देते थे, अन्यथा उसका मौलिक विश्वास पृथ्वी के भोग में था तथा इस संस्कृति में ज्ञान की गहराई कम, आनन्द, भावुकता और जोश का उभार अपेक्षाकृत अधिक था। हिन्दुओं का विश्वास था कि यह जीवन मनुष्य के अनन्त जीवनों में से एक है और कर्म का फल मनुष्य को भोगना ही पड़ता है। इस नियम में कहीं कोई व्यवधान नहीं है। जो दुःखी है, पूर्वजन्म के कारण दुःखी है। जो सुखी है, वह अपने पहले जन्म की कमाई खा रहा है। एक जीवन नष्ट भी हो जाय तो मनुष्य को घबराना नहीं चाहिए। मनुष्य को नये-नये जन्म और भी मिलेंगे एवं जन्म-जन्मान्तर तक साधना करते-करते वह जन्म-मरण के बंध से अवश्य छूट जायगा । इसके विपरीत, मुसलमान यह विश्वास लिये आये थे कि मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता । हमारा यह जन्म पहली और आखिरी बार हुआ है। मरने के बाद, हम बहुत काल तक कब्र में पड़े रहेंगे। तब कयामत का दिन आयेगा जब हमें भगवान के सामने उपस्थित होना पड़ेगा । उस दिन, हमारे पाप-पुण्य का लेखा-जोखा लिया जायगा और पुण्यात्मा को बहिश्त तथा पापात्मा को नरक नसीब होगा । किन्तु, मुसलमानों का यह भी विश्वास था कि कयामत के दिन, हमारे पापों के लिए भगवान हमें क्षमा भी करेंगे और इस क्षमा-प्राप्ति के प्रसंग में, नबी हमारे पैरवीकार होंगे। पाप से हिन्दू और मुसलमान, दोनों, डरते थे, किन्तु, हिन्दू अपना जिम्मा आप उठाता था और मानता था कि अगर इस जीवन में मुक्ति नहीं मिली तो अगले जन्म में वह फिर प्रयास करेगा। इसके विरुद्ध, मुसलमान का विश्वास ईश्वर की अपरिमित दया में था जिससे हिन्दुओं की अपेक्षा वह अधिक निश्चिंत था। दार्शनिक विश्वासों में इसी मौलिक भेद के कारण, औसत हिन्दू औसत मुस्लिम की अपेक्षा निश्चिंत कम, विचारमग्न अधिक रहता था और इसी भेद के कारण, मुसलमानों में निश्चिंतता आनन्दमग्नता एवं जीवन को भोगने का उल्लास अधिक था । बड़ी से बड़ी दुर्घटना और बड़े से बड़े सौंदर्य को देखकर भी, हिन्दू-हृदय में बहुत अधिक व्यथा, क्षोभ या आनन्द नहीं उपजता । हिन्दू इन घटनाओं को विचार से समझना चाहता है और विचार उसे बतलाता है कि इन कांडों से विचलित होना व्यर्थ है। गीता की शिक्षा कर्म से तटस्थ रहने की थी। हिन्दू बहुत-कुछ जीवन से तटस्थ हो गया । किन्तु, औसत मुसलमान जीवन के आलोड़न का प्रेमी होता है एवं दुर्घटनाओं से वह जितनी जल्दी शोक और क्षोभ में आता है, सौंदर्य और प्रेम से भी वह उसी शीघ्रता से आनन्द की लहरों में बहने लगता है। मर कर जीवन से भाग निकलने की आतुरता इस्लाम की मौलिक शिक्षा नहीं थी । यह चीज इस्लाम में सूफियों ने पहुँचायी । मुसलमान तो जीवन को ठोस उपभोग की वस्तु मानता है।

मुसलमानों के आगमन के पूर्व, वसुबन्धु, नागार्जुन, गौड़पादाचार्य, शांतरक्षित,

शंकर और वाचस्पति मिश्र के दार्शनिक चिन्तनों के परिणाम-स्वरूप, हिन्दू यह मान चुके थे कि संसार माया है, हम कुछ नहीं में कुछ का आभास देख रहे हैं। हमारे पाँव के नीचे, असल में, रस्सी पड़ी हुई है और नितांत भ्रम के कारण ही हम उसे सर्प समझ रहे हैं। मायावाद और कर्मफलवाद में विश्वास करने का परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं में एक प्रकार की निष्क्रियता आ गई। अन्याय का विरोध करने का उनके पास कोई दार्शनिक आधार नहीं रह गया और इसी कारण,उनकी सुधार की भावना भी कुंठित हो गई। इससे कुछ अच्छे फल भी निकले कि हिन्दू धार्मिक सहिष्णुता और शांति के प्रेमी हो गये। साम्राज्य की स्थापना हो या ऐश्वर्यों का अभ्युदय, हिन्दू उसे उदासीनता से देखने लगे, मानों, वे यह कह रहे हों कि "साम्राज्यों, ऐश्वर्यों और ऐहिक उन्नतियों के अनेक दृश्य हम देख चुके हैं। किन्तु, ये सबके सब निस्सार हैं। जिन्होंने इनका स्वाद नहीं लिया है, वे इनके लिए प्रयत्न करें, किन्तु, ये नश्वर हैं और हमारे अनुभवों के आगे निःस्वाद भी।"

स्पष्ट ही, ये भाव सत्य होते हुए भी, वृद्धत्व के भाव हैं और दार्शनिक दृष्टि से प्रत्येक हिन्दू, स्वभाव से ही, कुछ वृद्धत्व लिए जन्म लेता है। भावुकता जवानी का गुण है और ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू जवान नहीं थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब-जब हिन्दुत्व का संपर्क जवान संस्कृतियों से हुआ है, तब-तब वह बुढ़ापे को भूलकर एक प्रकार के यौवन का अनुभव करने लगा है और तब-तब उसमें भावुकता की भी लहर अवश्य उठी है। आज हिन्दुत्व में हम जो जवानी देखते हैं, वह यूरोपीय संस्कृति के संपर्क से जगी है। और उसकी अर्वाचीन भावुकता भी (रवीन्द्र, प्रसाद, पन्त, नान्हालाल, भारती आदि में) इसी जवानी की तरंग है। इस्लामी संस्कृति भी हिन्दुत्व की तुलना में बिल्कुल जवान थी, एवं चढ़ती जवानी वाली भावुकता भी इस संस्कृति में प्रचुर मात्रा में वर्त्तमान थी। इस जवानी और इस भावुकता ने हिन्दुत्व में संक्रमण किया। इसी से, हम देखते हैं कि मुस्लिम-काल में हमारे यहाँ जो साहित्य लिखा गया उसमें फारसी और उर्दू जितनी तो नहीं, किन्तु, पहले से कुछ अधिक भावुकता अवश्य प्रकट हुई।

दार्शनिक धरातल पर जीवन के प्रत्येक आलोड़न को सत्य मानने के कारण ही, मुसलमानों में भावुकता आई होगी। आज भी मुशायरों में जाकर देखिये, शब्दों के छोटे-से खेल पर, भावों की जरा-सी बेचैनी पर मुसलमान श्रोता इस प्रकार आनन्द से विह्वल हो जाते हैं, मानों,उनके हाथ में कोई अलभ्य वस्तु आ गई है। इसी प्रकार, जहाँ मर्सिया पढ़ा जाता है अथवा उर्स में किसी धार्मिक काव्य का पाठ होता है, वहाँ श्रोताओं की व्यथा, आनन्द अथवा धार्मिक उत्साह किसी भी सीमा में समाने योग्य नहीं रहता। सुनते-सुनते श्रोताओं को हालकाल (धार्मिक अथवा आध्यात्मिक बेहोशी या बेखुदी) आ जाता है और थोड़ी देर के लिए वे आनन्द की समाधि में चले जाते हैं। कवि-सम्मेलन हिंदी

में भी होते हैं, और वहां भी होहल्ला काफी मचता है। किन्तु, हिन्दी के श्रोता आनन्द की अभिव्यक्ति उस उन्मुक्तता से नहीं कर पाते जिस उन्मुक्तता से उर्दू के श्रोता अपना आनन्द व्यक्त करते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि हिन्दी-कविता में भावुकता अपेक्षाकृत कम रहती है। दूसरे, बेकली और विह्वलता की परम्परा नहीं रहने के कारण, हिन्दी में उस शैली का प्रवर्तन कभी हुआ ही नहीं जिसके अधीन चटपटी बातें चटपटे ढंग से कह दी जायें और लोगों के कलेजे में वे तीर के समान चुभ जायें। संस्कृत और यूरोपीय भाषाओं के समान, हिन्दी तथा बंगला, मराठी, गुजराती,तमिल तेलुगू, आदि भाषाओं में कविता शाब्दिक चमत्कार से संतुष्ट नहीं होती। वह गहराई में जाना चाहती है और जो कुछ उसे कहना है उसे ईषत् गांभीर्य के साथ कहती है। यह कविता चित्रों और भावों का जुलूस बांधकर निकलती है और पूरा जुलूस देखे बिना हमें भरपूर आनन्द भी नहीं मिलता। फारसी संस्कृत की सगी बहन है, किन्तु, कविता की इस दिशा में, दोनों के बीच यह भेद क्यों हो गया, यह खोज का विषय है। संभव है, अरब के सामी लोगों ने जब ईरान को जीता और फारसी को इस्लाम की भाषा बना लिया, तब सामी प्रभावों के कारण ही, फारसी में भावुकता की प्रचुरता हो गई। अथवा यह भी संभव है कि तसव्वुफ की भावुकता से लद जाने के कारण, फारसी का यह हाल हुआ हो।

किसी लेखक ने लिखा है कि यदि तुम बौद्धिक चिन्तन, सूक्ष्म विवेचन और तर्क चाहते हो तो किसी हिन्दू की संगति करो। किन्तु, यदि उछलना-कूदना, हंसना और तैरना तुम्हारा उद्देश्य हो तो कोई मुसलमान साथी अच्छा रहेगा। वैसे तो,मुसलमान भी चिन्तक और हिन्दू भी तैराक होते हैं, किन्तु, इन दोनों की मूल-संस्कृतियों में जो भेद था (अथवा है) उसपर इस उक्ति से अच्छा प्रकाश पड़ता है। यहां उस लेखक ने, स्पष्ट ही,हिन्दू को चिन्तनशील और मुसलमान को भावुक माना है जो बात ठीक है, क्योंकि हिन्दू जन्म से विचारक एवं मुसलमान जन्म से कवि होता है।

इस्लाम ने हिन्दुत्व को दार्शनिक उड़ान नहीं दी, नूतन भाव और नये विचार नहीं दिये, किन्तु, मेरा ख्याल है कि भारतीय साहित्य के भावुकतावाले पक्ष पर इस्लाम का प्रभाव अवश्य पड़ा है। कबीर और मीरा की बेचैनी, बोधा और घनानन्द की विह्वलता एवं विद्यापति, चंडीदास और सूरदास की भावाकुलता भारतीय परम्परा के लिए नवीन वस्तु थी। भावुकता के कुछ उदाहरण संस्कृत के अत्यन्त रससिद्ध कवियों में से ढूंढ कर निकाले जा सकते हैं। किन्तु, वे केवल तर्क के प्रमाण भर होंगे। भावुकता हमारे साहित्य का साधारण लक्षण नहीं थी। कविता का लक्ष्य इस देश में किसी महान् उद्देश्य की सेवा रहा

है। यहां के आचार्य उसे निरुद्देश्य आनन्द का साधन नहीं मानते थे [1]।

भारतीय साहित्य की विशेषता उसकी पारलौकिक प्रवृत्ति थी। यहां के कवियों और कलाकारों की दृष्टि वर्त्तमान जीवन पर कम, मृत्यु के बाद आने वाले जीवन पर अधिक रहती थी। ईसा के पूर्व तक, भारतीय साहित्य की दो ही धाराएं थीं। एक वह जिसके अन्दर उपनिषदें, जैन एवं बौद्ध ग्रंथ तथा दर्शन आते हैं, दूसरी वह जिसमें ब्राह्मणों, स्मृतियों और पुराणों का स्थान है। रामायण और महाभारत इन दोनों धाराओं से ईषत् भिन्न अवश्य थे, किन्तु, इन काव्यों में भी ऐहिकता कम, आमुष्मिकता अधिक प्रतिपादित हुई है।[2]

अनामुष्मिक साहित्य का आरंभ इस देश में हाल की सतसई से हुआ जिसमें पहले पहल हम स्फुट छंदों में ऐसे भाव पाते हैं जिनका परलोक से कोई संबंध नहीं है, जो पूरी कलात्मकता के साथ, जनसाधारण के प्रेम, विरह और आनन्द को चित्रित करते हैं। पंडितों का अनुमान है कि भारतीय साहित्य में यह नई परम्परा थी जिसका प्रचलन आभीरों के कारण हुआ था। अनुमानतः आभीर जाति ईसा से पूर्व भारत में आई थी। यह जाति आनन्दी और वीर थी। कई विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि राधा इसी जाति की प्रेम की देवी थी जो बाद को वैष्णवधर्म में आ गई और कृष्ण की आदि-शक्ति के रूप में पूजित होने लगी। वैदिक आर्य भावुक थे और जीवन के प्रति उनमें आस्था भी सुदृढ़ थी। किन्तु, उपनिषदों, जैनों और बौद्धों की शिक्षा के कारण, भारतीय जीवन में एक प्रकार की अस्वस्थ वैराग्य-भावना का उदय हुआ, जिसके विरुद्ध, जहां-तहां हलकी प्रतिक्रिया आभीरादि जीवन-भोगिनी जातियों के आगमन के बाद उत्पन्न हुई।

हाल की सतसई का भारतीय कवियों पर अच्छा प्रभाव पड़ा एवं उसके अनुकरण पर संस्कृत में भी रचनाएं की जाने लगीं। अमरुक-शतक और गोवर्द्धनाचार्य की आर्या-सप्तशती इसके प्रमाण हैं।[3] हाल की गाथा सप्तशती प्राकृत में है। किन्तु, प्राकृत में विरचित

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।—काव्यप्रकाश

तथा

कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहं हित होई। —तुलसीदास

२. दे० हिन्दी-साहित्य की भूमिका।—हजारीप्रसाद द्विवेदी

३. आभीर जाति शकों के समय भारतवर्ष में आई होगी। राजा हाल स्वयं भी शक या आभीर था। बृहत्कथा सरित्सागर का रचयिता गुणाढ्य हाल के ही दरबार में रहता था और कथासरित्सागर की रचना उसने भी प्राकृत में की थी। यह कथा-संग्रह भी लोक-साहित्य था।

ये गाथाएं नेसर्गिक जीवन के घात-प्रतिघातों को जिस सहजता से व्यक्त करती हैं, उस सहजता को संस्कृत में कायम रखने में गोवर्द्धन को कठिनाई अनुभूत हुई। इसीलिए, उन्होंने कहा है कि मेरी कठिनाई यह है कि नीचे के पानी को मैं ऊपर ले जाना चाहता हूं, किन्तु, पानी ठीक से ऊपर को चढ़ नहीं पाता। ये पद्य भारतीय साहित्य के लिए बिलकुल नवीन थे। इनमें स्वर्ग और अपवर्ग की परवा नहीं की जाती थी, इतिहास और पुराण की दुहाई नहीं दी जाती थी और वे बातें भुला दी जाती थीं, जिन्हें पूर्ववर्त्ती साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। गाथा-सप्तशती, अमरुक-शतक और आर्या-सप्तशती के कवियों ने परलोक की चिन्ता से छुट्टी पा ली है और वे नित्यप्रति के गार्हस्थ्य-जीवन के प्रति आकृष्ट हैं।

जब इस्लाम भारतवर्ष में आया, तब तक इस प्रकार की रचनाएं यहां काफी लिखी जा चुकी थीं एवं भारतीय साहित्य में एक ऐसी धारा भी बहने लगी थी जिसमें धर्म और परलोक की चिन्ता नहीं, जीवन के भोग्य रूपों का सरस बखान था। इसके भीतर, छिपे-छिपे, एक प्रकार की भावुकता भी पलती आ रही थी जो लड़कियों की अदाओं पर न्योछावर होती थी, जो प्रेम के ऐहिक रूपों पर कुरबान थी,जो विरह के दाह से मुरझाने लगती थी एवं मिलन की वर्षा में भीग कर क्षण-मात्र में हरी हो जाती थी। इस्लाम ने भारतीय साहित्य के इसी भावुक पक्ष को प्रभावित किया एवं उसमें अनुभूति की नई-नई दिशाएं उत्पन्न कर दीं।

हिन्दी के सबसे पहल मुसलमान कवि अब्दुर्रहमान हुए हैं जो मुलतान के निवासी और जाति के जुलाहे थे। राहुल जी ने इनका समय १०१० ई. माना है।[१] इनकी कविताएं, वस्तुतः, अपभ्रंश में हैं किन्तु, उनकी भावधारा ऐहिकतापरक है एवं नर-नारियों के मिलन और विरह का वर्णन ही इन कविताओं का उद्देश्य है। इसकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्द नहीं हैं, किन्तु, भावधारा से वे सांसारिकता के समर्थक हैं। उनमें रहस्यवाद नहीं, ऐहिक आनन्द का उल्लास प्रधान है। सच पूछिये तो उनपर इस्लाम का कोई प्रभाव नहीं दीखता। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि हिन्दी का पहला मुसलमान कवि भी आमुष्मिक नहीं हो कर, अनामुष्मिक था।

अब्दुर्रहमान के बाद, हिन्दी के दूसरे मुसलमान कवि खुसरो हुए। खुसरो सूफी संत थे और कहते हैं,फारसी में उन्होंने तसव्वुफ की बहुत ऊंची कविताएं लिखी हैं। यह उनका एक रूप रहा होगा। किन्तु, खुसरो का जो रूप हिन्दी में खुला, वह रहस्यवादी नहीं, सामान्य जन-जीवन के सरस कवि का रूप है और यह कवि मनुष्य को परलोक का संकेत नहीं देकर यहीं के प्रेम, मस्ती और चुलबुलेपन का आनन्द देता है। खुसरो चाहे पारंगत

१. दे० हिन्दी काव्यधारा।

सूफी और संत रहे हों, किन्तु, हम तो उन्हें जिस रूप में जानते हैं, वह शृंगार के मस्त आनन्दी कवि का ही रूप है।

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपनो, रैन भई सब देस।

अथवा

जे हाल मिस्कीं मकुन तग़ाफुल दुराय नैना, बनाय बतियां।
कि ताबे हिज्रां न दारम ऐ जां! न लेहु काहे लगाय छतियां।
शबाने हिज्रां दराज चूं जुल्फ व रोजे-वसलत चूं उम्र कोतह।
सखी! पिया को जो मैं न देखूं तो कैसे काटूं अंधेरी रतियां।

खुसरो के बाद, तीसरे उल्लेखनीय कवि कबीर हुए। कबीर के विचारों में हिन्दू-मुस्लिम-समन्वय का भाव अत्यन्त पुष्टता पर पहुंचा, इसमें कोई संदेह नहीं। "जो ब्रह्म हिन्दुओं की विचार-पद्धति में ज्ञान-मार्ग का एक निरूपण था, उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए, हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार, उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद,हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया।"[1] इस प्रकार, सब मिला कर कबीर धार्मिक कवि हैं तथा उनकी दृष्टि भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार, ऐहिकता पर कम, परलोक पर अधिक है। हां, समाज-सुधारक होने के कारण, वे इस जीवन को भी महत्व देते हैं। उनकी समाज-सुधार-संबंधी रचनाओं में जो डांट-फटकार है, उसे तो सिद्धों की धक्करबाजी की शाखा मानना चाहिए। किन्तु, अपने सिद्धांत का जो अंश उन्होंने सूफियों से लिया था (अर्थात् भावात्मक रहस्यवाद) उसी की स्थापना में वे इस्लामी प्रभावों के नीचे आ गये और कबीर ने प्रेम की बेचैनी और विरह की आकुलता का जो मार्मिक वर्णन किया, उससे हिन्दी में एक नई परम्परा का आरंभ हो गया अथवा यों कहना चाहिए कि भारतीय भावुकता कबीर के हाथों में इस्लामी भावुकता से मिलकर एक नये रंग में खुल पड़ी, जिसकी झांकी हमें मीरा, बोधा और घनानन्द से लेकर छायावादी कवियों (विशेषतः महादेवी) तक में मिलती है।

अँखियन तो झांई पड़ी, पन्थ निहार निहार।
जिह्वा तो छाला पड़ा, नाम पुकार पुकार।
कै बिरहिन को मीच दे, कै आपा दिखराय।
आठ पहर को दाझना मों पर सहा न जाय।

---

१. रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी-साहित्य का इतिहास।

हंसि हंसि कन्त न पाइयां, जिन पाया तिन रोई।
जो हँसे ही पिउ मिले, कौन दुहागिन होइ।
मैं अबला पिउ-पिउ करूं, निर्गुण मेरा पीव।
सून्य सनेही राम बिन, देखूं और न जीव।
अविनासी की सेज का कैसा है उनमान।
ी शोभा नहीं, देखे ही परमान।
दल प्रेम का, हम पर बरिषा आय।
भींगी आत्मा, हरी भई वनराय।

× × ×

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहीं चैन रात नहिं निंदिया तलफ-तलफ कै भोर किया।

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइं धरै तब पैठे घर माहिं।
सीस उतारो भुइं धरो, तापर रक्खो पांव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा हो तो आव।

इन पंक्तियों में, प्रेम की जो पीड़ा, प्रेमी हृदय की जो बेचैनी वर्णित है, वह भारतीय साहित्य के लिए नयी थी और इसकी दिशा कबीर को सूफी काव्यों से मिली होगी। कबीर ने भावाकुलता के लिखने की जो विदग्ध परिपाटी निकाली उसका उपयोग मीरा ने भी खूब किया।

दरद की मारी बन बन डोलूं बैद मिला नहिं कोय।
मीरां की प्रभु पीर मिटै जब बैद सांवलिया होय।

× × ×

घायल ज्यूं घूमूं सदा री म्हारी व्यथा न बूझै कोइ।

× × ×

काटि करेजो मैं धरूं रे, कौवा, तू ले जाइ।
ज्यां देसां मोरा पिउ बसे रे, वे देखे तू खाइ।

× × ×

हरि गयो मन मोहन पासी।
बिरह की मारी बन-बन डोलूं प्रान तजूं करवट ल्यूं कासी।

× × ×

या तन को दिवला करौं रे मनसा करौं बाती हो।
तेल भरावों प्रेम का बारौं दिन राती हो।

पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने "प्रेम के इस अतिरेक" को "विदेशियों की धार्मिक प्रवृत्ति" का प्रभाव माना है, किन्तु, वे इस प्रभाव को वहीं प्रत्यक्ष देखते हैं जहां "भूंज सरागन्हि वह नित मांसू" (जायसी) "सीस उतारे भुइं धरै" (कबीर) अथवा "काढ़ि

करजो में धरूं रे" (मीरा) जैसी जुगुप्साव्यंजक पंक्तियां आती हैं।[1] यह ठीक है, किंतु प्रभाव इतना ही नहीं माना जाना चाहिए। वस्तुतः, इस काल में भावुकता की जो बाढ़ आई, उसके पीछे सूफियों की विरहानुभूति का प्रभाव था।

सूफियों का दर्शन यह था कि जीव ब्रह्म से बिछुड़ा हुआ है एवं ब्रह्म-मिलन का सुख वह मरने के बाद पा सकता है। इससे दूसरा सिद्धांत यह निकला कि तब शीघ्र से शीघ्र मर कर ब्रह्म को प्राप्त करना चाहिए। भारतवर्ष में बौद्ध भी जीवन के दीपक को बुझा देने को अपना परम उद्देश्य मानते थे एवं जैन साधक तो दीपक के बुझने के पूर्व शरीर को अधमरा करके ही रखने की पक्षपाती थे। किन्तु, मृत्यु काम्य है, यह बात खुलकर किसी ने भी नहीं कही थी। कबीर को तसव्वुफ की लहर में जब ब्रह्म-वियोग की प्रखर अनुभूति हुई, तब वे यह भी बोलने लगे कि मृत्यु त्याज्य नहीं, काम्य है।

जिन मरनै थैं जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरि हूं कब देखिहूं, पूरण परमानन्द।
हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यों न मराइ।
मूवा पीछे सत करै, जीवत क्यों न कराइ।

मृत्यु को सूफी ही जीवन का विकास मानते थे। भारतवर्ष में यह भाव नहीं था। यहां तो भक्तिकाल में भी, कवियों ने यह नहीं माना था कि भगवान को पाने के लिए मरना आवश्यक है। प्रत्युत्, यहां के भक्त कवि जीवन का उपयोग भगवान की सेवा के लिए करने का उपदेश देते थे और सेवा का आनन्द उनकी दृष्टि में इतना उत्तम था कि इसके आगे वे मुक्ति को भी तुच्छ समझते थे। मुक्ति के विरुद्ध, इन कवियों ने यह तर्क निकाला था कि जब जीव ब्रह्म में लीन हो गया तब भगवान से अलग रह कर भगवान की सेवा करने का उसे अवसर कहां मिलेगा। भक्तों के हृदय का प्रधान स्वर था :—

देवा ! तेरो भक्ति न छाड़ौं, मुक्ति न मांगौं,
तब जस सुनौं सुनावौं।[2]

---

१. बिहारी की वाग्विभूति

२. **कहा करौं बैकुंठहि जाय ?**
जहं नहिं नन्द, जहां न जसोदा, नहिं जहं गोपी, ग्वाल, न गाय।
जहं नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छाय।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।
(परमानन्ददास, अष्टछाप वाले)

एक अन्य संत ने भी कहा है :—
भक्ति दे के मुक्ति खरीदे
सो तो काम मजूरों का।

लेकिन, कबीर इस भाव को नहीं अपना सके। उन पर फारसी के सूफी कवियों का प्रभाव था जो प्रभाव आगे चलकर उर्दू के कवियों में भी प्रकट हुआ :—

मर्ग इक मान्दगी का वक्फा है।
यानी आगे चलेंगे दम ले कर।

—मीर

कैदे-हयात, बन्दे-ग़म, अस्ल में, दोनों एक हैं।
मौत से पहले आदमी ग़म से नजात पाये क्यों?

—ग़ालिब

कहा पतंग ने यह दारे-शमअ पर चढ़कर।
अजब मजा है जो मर ले किसी के सर चढ़कर।

—ज़ौक

फकीरों से सुना है हमने हातिम
मज़ा जीने का मर जाने में देखा।

हिज्र की जिन्दगी से मौत भली,
कि जिसे सब कहें विसाल हुआ।

—हातिम

मृत्यु को काम्य और मोहक मानने की भावना इस देश में सूफियों के प्रभाव से फैली और वह हमारे समय तक भी पहुंची है। रवीन्द्रनाथ ने "मरिते चाइ ना आमि सुन्दर भुवने" कह कर जीवन के प्रति आस्था प्रकट की है। किन्तु, जब उन पर जवानी की भावुकता सवार थी, तब उन्हें भी मृत्यु मोहक दिखलाई पड़ी थी। रवीन्द्रनाथ की राधा कहती है :—

मरण रे तुहुं मम श्याम समान।
मेघ वरण तुझ, मेघ जटा जुट,
रक्त कमल कर, रक्त अधरपुट,
ताप विमोचन करुण कोर तव
मृत्यु- अमृत करे दान।*

रवि बाबू की "खेया" में भी एक कविता है जिससे मृत्यु के प्रति उनका प्रेम प्रकट होता है, यद्यपि, मृत्यु के रूप में भी भगवान ही आते हैं, इस आरोप के कारण, यह मृत्यु-

* ठाकुर भानुसिंहेर पदावली। कवि ने इसकी रचना केवल चौदह वर्ष की उम्र में की थी।

प्रेम सार्थक हो गया है। फिर भी, इसका संबंध सूफियों के मृत्यु-प्रेम से आसानी से बिठाया जा सकता है।

आंधारे मुख ढाकिले स्वामी ।
तोमारे तबू चिनिबो आमी ।
मरण रूपे आसिले प्रभू,
चरण धरि मरिबो हे ।

रवीन्द्रनाथ पर सूफी संस्कार का यह प्रभाव सूफी कविताओं से पड़ा होगा। ब्रह्म-समाज में सूफी कविताओं का काफी चलन था। राजा राममोहनराय और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर पर हाफिज आदि फारसी कवियों का पूरा प्रभाव था। ये लोग पूजा-स्नान के समय मंत्रों के साथ फारसी की गजलें भी गाते थे। ब्रह्म-समाज के दूसरे नेता केशवचन्द्र सेन भी हाफिज के प्रेमी थे।*

जब हिन्दी में छायावादी आन्दोलन पहुंचा, तब यह मृत्यु-प्रेम आधुनिक हिंदी-कविता में भी व्यक्त हुआ, किन्तु, इस भाव की हिन्दी में पूर्ण अभिव्यक्ति केवल महादेवी जी ने की। मृत्यु काम्य है, मृत्यु विकास है, यह भाव उनकी पंक्तियों में बार-बार आता है।

इस असीम तम में मिल कर मुझ को पल भर सो जाने दो,
बुझ जाने दो देव, आज मेरा दीपक बुझ जाने दो । †
विसर्जन ही है कर्णाधार, वही पहुंचा देगा उस पार । ‡
अमरता है जीवन का ह्रास, मृत्यु जीवन का चरम विकास ।
सृष्टि का है यह अमिट विधान, एक मिटने में सौ वरदान । §

× × ×

रहने दो हे देव ! अरे, यह मेरा मिटने का अधिकार ।¶

सूफियों ने इश्क-मजाजी को इश्क-हकीकी का सोपान कहा था। वे परमात्मा को परम सौंदर्य (परिणामतः प्रेमिका) के रूप में भजते थे। कबीर ने भी प्रेम का यह नाता ग्रहण किया, किन्तु, परमात्मा को उन्होंने पति और अपने को उनकी "बहुरिया" माना जिस का कारण यह था कि भारतीय परम्परा में प्रेम की प्रथम अभिव्यक्ति नारी ही करती

---

* दे० वेस्टर्न इनफ्लुएन्सेज आन बेंगाली लिटरेचर, लेखक- डा. प्रियरंजन सेन ।

† नीहार (निर्वाण)

‡ आधुनिक कवि ।

§ आधुनिक कवि ।

¶ वही ।

आई थी, फारसी की तरह नर नहीं। इसी "बहुरियावाद" की कल्पना के कारण, आगे चल कर, चैतन्य ने अपने को राधा माना तथा माधुर्य-भाव से भगवान को भजनेवाले भारतीय संतों और कवियों ने यह घोषणा की कि पुरुष तो एक कृष्ण हैं, बाकी सारी आत्माएं उनकी गोपियां लगती हैं। यह भाव जब कृष्ण के संबंध में पूर्ण रूप से स्थापित हो गया, तब रामाश्रयी भक्तों ने भी अपनी माधुर्य की पिपासा मिटाने के लिए अपने यहां सखी-संप्रदाय का प्रचलन किया। परमात्मा के साथ पति-पत्नी का संबंध जोड़ने के पीछे, सूफियों का प्रभाव था, इस अनुमान को माने बिना चल नहीं सकता है।

कबीर ने परमात्मा को अपना पति मानकर विरह और मिलन की बेचैनियों एवं आनन्द का इतने ढंग से मार्मिक वर्णन किया कि बाकी भक्तों पर उसका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता था।

सोवौं तो सुपने मिलै, जागौं तो मन माँहि।
लोचन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूं नाँहि।
लिखा-लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुलहा-दुलहिन मिलि गये, फीकी पड़ी बरात।
नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय।
ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहे पिय माँहि।
ऐसे जन जगमें रहैं, हरि को भूलत नाँहि।
सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आंखि न खोलूं डरपता, मति सुपना होय जाय।
सब तन तांत, रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त।
चूड़ी पटकौं पलंग से, चोली लावौं आगि।
जा कारन यह तन धरा, ना सूती गर लागि।

इस परम्परा का पालन दादू ने भी किया है :—

पुरिष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग।
जे जे जैसी ताहि सौं, खेले तिस ही रंग।

—दादू

और गुरु नानक ने भी :—

भनति नानकु समन का पिउ एको सोई।
जिस नो आदर करै सो सोहागण होई। —नानक

भारतीय भक्ति-साहित्य (विशेषत:, हिन्दी और बंगला) में शृंगार की जो अतिशयता हुई, उसका एक कारण तो भागवतपुराण, दूसरा सिद्धों का वामाचार और तंत्रवाद तथा तीसरा कारण सूफीमत के इसी सिद्धांत (भगवान से पति-पत्नी संबंधवाला) का प्रचार था । नर-नारी के शारीरिक मिलन से जीव-ब्रह्म-मिलन की उपमा देने की प्रथा यदि सूफी कवि उतने जोर से नहीं चलाते, तो कदाचित्, भारतीय भक्तिधारा में शृंगारिकता का इतना गहरा पुट नहीं आता। किन्तु, यहां भी इतना ही मानना होगा कि इस धारा का आरंभ मुसलमानों के आगमन के पूर्व ही हो चुका था। सूफियों ने इश्क-मजाज़ी को इश्क-हकीकी का सोपान क्या बताया, उर्दू कवियों को खुलकर खेलने की पूरी छूट ही दे दी । बिहारी के समकालीन और उर्दू के आदि आचार्य कवि बली कहते हैं :—

शगल बेहतर है इश्कबाजी का
क्या हकीकी व क्या मजाजी का।

संतों ने जिस प्रेम को धर्म-साधना का माध्यम कहा था, कवि लोग उसे शगल समझने लगे। शृंगारिकता के प्रचार में, सूफियों का ऐसा ही योगदान था।

भारत के प्रेमाख्यानक सूफी कवि (जायसी आदि) कहां तक भारतीय थे, यह भी विचारणीय विषय है। उन्होंने कथाएं ईरान और अरब की नहीं, भारत की ही उठायीं, यह एक बात उनके पक्ष में पड़ती है। उनकी उपमाएं, वर्णन-शैली आदि भारतीय परम्परा के अनुसार हैं तथा यह बात भी स्पष्ट विदित होती है कि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र का अच्छा अध्ययन किया था । किन्तु, उनके काव्य के ढांचे मसनवी के अनुकरण पर हैं, संस्कृत प्रबंधकाव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं। वस्तुतः, पद्मावत में संस्कृत-परिपाटी और मसनवी की पद्धति का मिश्रित रूप है। उन्होंने जिस सर्वात्मवाद का चित्र खींचा है, वह भी भारतीय पद्धति के अनुकूल ही है। केवल एक बात है कि इन काव्यों के माध्यम से उन्होंने सूफीमत का प्रचार किया, यद्यपि, उनके प्रचार में आक्रामकता की कहीं गंध भी नहीं आई है। उलटे, वह हिन्दुत्व की धारणा के पांव से पांव मिलाकर चलता है। जायसी ने अल्लाउद्दीन का जो चरित्र दिखलाया है, उसमें कहीं भी वे अल्लाउद्दीन के पक्षपाती नहीं हुए हैं। बल्कि, जैसे इतिहास अल्लाउद्दीन को छली राजा के रूप में जानता है, वैसे ही, जायसी ने भी उसे छली ही दिखलाया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि मत-प्रचार के लिए प्रेमाख्यानक काव्य लिखने की परम्परा भारत में नई नहीं थी। धर्म-प्रचार के लिए ऐसी कथाओं का उपयोग जैन कवि भी करते आये थे।

रसखान, मुबारक, आलम और शेख, इनकी कविताओं में भी जो ताजगी, निरालापन

और बेधकता मिलती है, वह उनके समकालीन कवियों का सामान्य गुण नहीं है। विशेषतः आलम और मुबारक में एक विचित्र प्रकार का सम्मोहन है, जो संस्कृत और हिन्दी की परम्परा में होता हुआ भी, अद्‌भुत और नवीन है।

अलक मुबारक तिय बदन लटकि परी यों साफ।
खुसनबीस मुनसी मदन लिख्यो कांच पर काफ।

यह हिन्दी की नख-सिख-परम्परा में किया गया वर्णन है। किन्तु, काफ की तस्वीर हिन्दी कवियों के मानसचक्षु के सामने कहां से आती? यह मुस्लिम-संस्कार द्वारा भारतीय संस्कृति की सेवा का उदाहरण है।

कहते हैं, आलम ब्राह्मण से मुसलमान हुए थे। किन्तु, मुसलमान होने पर भी, गोपी-विरह पर उन्होंने एक ऐसा चुभता हुआ सवैया कहा है जिस के सामने उसी विषय के अन्य अनेक वर्णन फीके हो जाते हैं।

जा थल कीन्हें बिहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यौ करें।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करें।
आलम जौन सी कुंजन में करी केलि तहां अब सीस धुन्यौ करें।
नैनन में जे सदा बसते तिन की अब कान कहानी सुन्यौ करें।

यह कहने का कोई आधार नहीं है कि यह सवैया मुस्लिम-प्रभाव के कारण लिखा गया। यह वर्णन तो शुद्ध भारतीय पद्धति का वर्णन है। किन्तु, इतना तो माना जाना चाहिए कि इसके भीतर जो विह्वलता है, उसका मार्जन सूफियों के प्रभाव में होता आया था।*

रहीम और रसखान की कविताओं पर इस्लामी प्रभाव दिखलाते हुए पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र† ने ये दोहे उद्धृत किये हैं :—

जुकिहारी जोबन लिये, हाट फिरै रस लेत।
आपन मांस चखाइके, रकत आन को लेत।

—रहीम

कोउ याहि फांसी कहत, कोउ कहत तरवार।
नेजा, भाला, तीर कोउ कहत अनोखी ढार।

—रसखान

यहां फिर वही जुगुप्सा उपजाने वाली बात सामने आती है, जिसे मिश्र जी फारसी साहित्य की विशेष देन मानते हैं। यह देन तो है ही, किन्तु, रसखान की भावाकुलता में

---

* आलम पर फारसी का प्रभाव शुक्लजी ने भी माना है। दे० हि.सा. का इतिहास।

† बिहारी की वाग्विभूति।

भी सूफियों की बेचैनी का कुछ अंश है। वैसे, रहीम और रसखान भारतीयता के अत्यन्त अनुकूल कवि हुए हैं। रसखान तो वैष्णव ही थे। रहीम में भी हिन्दुत्व के लिए बड़े ही आदर के भाव हैं। उनके दोहों से यह बात भली भांति प्रमाणित होती है कि हिन्दू-परम्पराओं का अध्ययन उन्होंने श्रद्धा से किया था।

अच्युत-चरन-तरंगिनी, सिव-सिर-मालति-माल।
हरि न बनाओ सुरसरी, कीजौ इन्दव-भाल।
कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय।
चिकूत्रट में रमि रहे, रहिमन अवध - नरेस।
जापर विपदा परत है, सो आवत एहि देस।
मनसिज माली की उपज कहि रहीम नहिं जाय।
फल स्यामा के उर लगे, फूल स्याम उर आय।
मान सहित विष खाय कै, संभु भये जगदीस।
बिना मान अमृत पिये, राहु कटायो सीस।

अकबर ने दीने-इलाही में हिन्दुत्व को जो स्थान दिया होगा, रहीम ने अपनी कविताओं में उसे उससे बड़ा स्थान दिया है। प्रत्युत्, यह समझना अधिक युक्तियुक्त है कि रहीम ऐसे मुसलमान हुए हैं जो धर्म से मुसलमान और संस्कृति से शुद्ध भारतीय थे।

भारतीय साहित्य की ऐहिक धारा हिन्दी के मुसलमान कवियों को अनुकूल लगी, इसका प्रमाण यह भी है कि हिन्दी में 'नायिका-भेद' की पहली पुस्तक रहीम ने ही लिखी। विशेषता यह है कि रहीम ने "बरवा-नायिका" में नायिका-भेद का जो क्रम रखा, अधिकांश आचार्यों ने भी उसी क्रम को माना है। इससे भी बड़ी बात यह है कि हिन्दी में नायक-नायिकाओं की शाखा-प्रशाखाओं का जो विस्तार हुआ, उसमें अधिक से अधिक नायिकाओं की सृष्टि भी एक मुसलमान कवि ने ही की। केशव ने नायिकाओं के ३६० भेद कहे थे, देव ने ३८४, किन्तु, सैयद गुलाम नबी "रसलीन" ने उन्हें १३५२ तक पहुंचा दिया। *

जिन कारणों से नायिका-भेद धर्म में प्रविष्ट हुआ, उनके बीज भागवत की गोपी-लीला में थे। किन्तु, उनके विकास के समय, सूफियों के इश्क-मजाजी और इश्क-हकीकी के सिद्धांत आचार्यों के सहायक अवश्य हुए होंगे। नन्ददास प्रेम के परिचय के लिए नायिका-भेद के ज्ञान को अनिवार्य बताते हैं। "रस-मंजरी" के आमुख में उन्होंने लिखा है :

* अंग-दर्पण; रसलीन-कृत।

एक मीत हम सों अस गुन्यो, मैं नाइका-भेद नहिं सुन्यो।
जब लगि इनके भेद न जानैं, तब लगि प्रेम न तत्व पिछानें।
बिन जानें ये भेद सब, प्रेम न परचै कोइ।
चरनहीन ऊंचे अचल, चढ़त न देख्यो कोइ।

इस "प्रेम-तत्व" और "प्रेम-परिचय" का चलन इस देश में सूफी-मत के प्रचार के साथ अधिक हो गया था।

सूफी-काव्यों का प्रभाव हिन्दी में किस वातायन से आया, इसकी परीक्षा करते हुए पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने कहा है कि सूफी कवियों के यहां प्रेम का आलंबन निराकार ईश्वर था। इसलिए, उस प्रेम को दीप्त करने का कोई सुस्पष्ट आधार इन कवियों को प्राप्त नहीं था। अतएव, वे (आलंबन को अदृश्य पाकर अथवा उसे आकार देने का कोई आधार न देख कर) प्रेम-भाव की महत्ता और उसकी तीव्रता का प्रतिपादन करने लगे। इसी तीव्रता को लाने के लिए, इन कवियों ने आहों से बननेवाले बादलों की कल्पना की, विरह में हृदय के फटने और सूर्य के अधिक उत्तप्त हो जाने का मज़मून बांधा एवं यह कहने लगे कि प्रेम के मार्ग पर वही चल सकता है जो शीश की दक्षिणा देने के योग्य हो, जो मस्तक को काट कर उस पर अपना पांव धर सके, जो घर फूंक कर तमाशा देख सके।

ऐसे भाव बोधा की कविताओं में बहुत मिलते हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि ये सब के सब सूफी भावों के ही परिमार्जित रूप हैं जो बोधा की कविताओं में इश्क-मजाजी को चमकाने आये हैं। बोधा में इस्लाम की भावुकता का तेज है और यही तेज उनकी कविताओं का मुख्य आकर्षण भी है। वे प्रेम की कठिनाई से घबराये हुए हैं और उन्हें यह भी क्षोभ है कि उनकी पीड़ाओं को समझने वाले लोग उनके आस-पास मौजूद नहीं हैं। उर्दू की ग़ज़लों में जो तड़प होती है, वही तड़प बोधा की इन पंक्तियों में भी है।

यह प्रेम को पन्थ कराल महा तरवारि की धार पं धावनो है।

*　　　*　　　*

लोक की भीति डेरात जो मीत तो प्रीति के पैरे परे जनि कोऊ।

*　　　*　　　*

हम कौन सों पीर पीर कहें अपनी दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं।

*　　　*　　　*

सहते ही बने, कहते न बने, मन ही मन पीर पिरैबो करै।

और घनानन्द तो 'प्रेम की पीड़ा' के गायक ही ठहरे। प्रेम को घनानन्द भी खाला का घर नहीं मानते, वह भी उसकी भयानकता से कुछ-कुछ भीत हैं। मीरा ने प्रेम को शूली माना था। घनानन्द उसे फांसी कहते हैं।

यों मरिये मरिये कहि क्यों सु परौ जनि कोऊ सनेह की फांसी।

घनानन्द को भी यह सोच है कि उनकी पीड़ा को पहचाननेवाला कोई नहीं है।

आरतिवंत पपीहन को घन आनन्द जू पहचानौ कहा तुम ।

घनानन्द पर इस्लामी भावुकता का पूरा रंग है। भावुकता के मारे वे ऐसे रोमांटिक कवि के समान हो गये हैं, जो रो-धोकर भी संसार की करुणा को अपनी ओर आकृष्ट करता है। ये लक्षण खुलकर हिन्दी के छायावादी कवियों में प्रकट हुए, किन्तु, उर्दू की गजलों में वे पहले से ही विद्यमान थे।

घनानन्द के समकालीन मीर वगैरह रहे होंगे। कितने संयोग की बात है कि जब मीर यह लिख रहे थे कि,

वसीयत मीर ने मुझ को यही की,
कि सब कुछ होना तो, आशिक न होना।

तब घनानन्द के मुख से यह पंक्ति निकल रही थी कि,

देह दहै, न रहै सुधि गेह की,
भूलिहू नेह को नांव न लीजै।

कविता में जब रोमांटिक भाव-दशा प्रकट होती है, तब कवियों का एक लक्षण यह भी होता है कि वे अपने आप को सब से अधिक प्यार करने लगते हैं तथा यह संकेत देने लगते हैं कि वे अन्य लोगों से ईषत् भिन्न हैं। यह लक्षण मीर और घनानन्द दोनों में मिलता है। फर्क यह है कि मीर उर्दू की तर्ज में कहते हैं :—

मुझ को शायर न कहो 'मीर' कि साहब मैंने,
दर्दोगम कितने किये जमा तो दीवान किया।

* * *

जहां से देखिये इक शेर शोरंगेज निकले हैं।
कयामत का-सा हंगामा है हर जा मेरे दीवां में।
जाने का नहीं शोर सखुन का मेरे हरगिज।
ता हश्र जहां में मेरा दीवान रहेगा।

और घनानन्द के एक सवैये में यह पंक्ति आती है कि,

लोग हैं लागि कबित्त बनावत,
मोहि तो मेरे कबित्त बनावत ।

तथा दूसरे में ये पंक्तियां हैं—

जग की कविताई के धोखे रहैं, ह्यां प्रबीनन की मति जात जकी।
समुझै कविता घन आनन्द की हिय-आंखिन प्रेम की पीर तकी ।

बिहारी के दोहे हाल और गोवर्द्धनाचार्य की सप्तशतियों के अनुकरण पर रचे गये थे, किन्तु, ये दोहे बहुत ही मौलिक उतरे—इतने मौलिक कि जिन कवियों के भाव बिहारी ने लिये, उनका बिहारी के दोहों पर कोई अधिकार नहीं रह गया। किन्तु,बिहारी ने फारसी के प्रभावों को भी आत्मसात् किया है और इतना आत्मसात् किया है कि यह प्रभाव आसानी से पकड़ा नहीं जा सकता। फिर भी, पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने उनके कितने ही दोहों पर विदेशी प्रभावों का होना बतलाया है।*

औंधाई सीसी सुलखि, बिरह ज्वाल बिललात।
बिच ही सूखि गुलाब गौ, छींटौ छुयौ न गात।

बिहारी के इस प्रकार के दोहों के विषय में कहा जाता है कि उनके भाव गाथा-सप्तशती और आर्यासप्तशती से आये होंगे। किन्तु, जैसे भाव इस प्रकार के दोहों में (तथा अनेक अन्य कवियों के कबित्त-सवैयों में) मिलते हैं, वैसे ही भाव उन दिनों के उर्दू शायर भी लिख रहे थे। बिहारी के समकालीन उर्दू शायर आबरू ने लिखा है:—

क्या सबब तेरे बदन के गर्म होने का सजन?
आशिकों में कौन जलता था गले जिसके लगा?

सूफी-साहित्य की प्रेम-पीड़ा का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर खूब पड़ा। "इसका स्पष्ट रूप है लौकिक प्रेम का अलौकिक प्रेम में लय, इश्कमजाजी की इश्कहकीकी में परिणति। आलम, ठाकुर और द्विजदेव शुद्ध भारतीय प्रेम-पद्धति के प्रतिनिधि कवि हैं। पर, रसखान, घनानन्द और बोधा में यह अपनी झलक मारती है। रसखान और घनानन्द ने बड़े ढंग से इसे ग्रहण किया है। पर बोधा अपने रंग में इसे रंग न सके। उन्होंने बार-बार उसकी डुग्गी पीटी है:—

इश्कमजाजी में जहां इश्कहकीकी खूब। (विरह-वारीश)।

रसखान ने भी यही कहा है, इससे भी स्पष्ट, पर ढंग से।

आनन्द अनुभव होत नहिं, बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द कै ब्रह्मानन्द बखान।†

हिन्दी के और भी कई कवि हैं जिन पर फारसी का प्रभाव ढूंढ़ा जा सकता है। "रसनिधि ने (१६६० ई०)" अपने दोहों में फारसी कविता के भाव भरने और चतुराई

---

* **करी बिरह ऐसी तऊ, गैल न छाड़त नीचु,**
दीनेहू चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु।
जौ न जुगुति पिय मिलन की धूरि मुकुति मुंह दीन।
जो लहिये संग सजन तो धरक नरक हू कीन।

† घनानन्द (भूमिका भाग)

दिखाने का बहुत प्रयत्न किया है।* "कालगति के अनुसार, फारसी काव्य का आशिकी और सूफियाना रंग-ढंग कहीं-कहीं" नागरीदास ने भी दिखाया है।† रीतिकाल के कई कवियों ने अपनी पुस्तकों के नाम फारसी या उर्दू में रखे। प्रयाग के श्रीधर (या मुरलीधर) ने फर्रुखशियर और जहांदारशाह के युद्ध का वर्णन करने के लिए जो पुस्तक लिखी उसका नाम "जंगनामा" है। नागरीदास की एक पुस्तक का नाम "इश्कचमन" और एक का नाम "मजलिस-मंडल" है। बोधा की भी एक पुस्तक का नाम "इश्कनामा" है। नागरीदास ने तो इश्क-चमन में इश्क की पूरी सर्वात्मवादी व्याख्या ही कर दी है और वह भी शुद्ध सूफियों की शब्दावली में:—

इश्क उसी की झलक है ज्यों सूरज की धूप।
जहां इश्क तहं आपु हैं कादिर नादिर रूप। (इश्कचमन)

इस्लाम के साथ आने वाली "हुस्न" और "इश्क" की कथा-कहानियों ने भी इस देश की कथा-कहानियों पर प्रभाव डाला। डाक्टर प्रियरंजन सेन ने लिखा है कि विद्यासुन्दर में हीरा और कामिनी-कुमार में सोनामुखी की जो कथाएं हैं, उनके विकास के पीछे यूसुफ-जुलेखा और लैला-मजनूं की प्रेम-कथाओं का प्रभाव है।‡

इस्लाम से आई हुई भावुकता को मैं हेय नहीं, वांछनीय ही मानता हूं। मध्यकालीन काल में जिस-जिस कवि में इस भावुकता का विम्ब पड़ा, उसकी कविता इसी गुण के कारण, चमक उठी। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि उर्दू में भावुकता का पूरा साम्राज्य होने के कारण, यह गुण वहां दुहराहट के मारे सस्ता-सा लगता है। किन्तु, भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि बौद्धिक थी। इस बौद्धिकता के मेल में आकर भावुकता महार्घ हो उठी।

छायावाद-काल में, हिन्दी-कवियों का एक विशिष्ट लक्षण उनकी रुदन-प्रियता थी। इस रुदन-प्रियता का एक कारण तो यह था कि कवि अपने को विरही मानते थे। यह विरह कभी तो ब्रह्म से अनुभूत होने वाला काल्पनिक विरह था और कभी "इश्कमजाजी" में अनुभूत होने वाला सामान्य विरह, जिस पर कवि अलौकिक विरह का परदा डाल देते थे। किन्तु, रोने का कारण बहुधा विरह की सीधी अनुभूति नहीं होती थी। कभी-कभी कवि इसलिए भी रोते थे कि रोने में उन्हें मजा आता था। आंसू, क्रंदन, व्यथा, वेदना, ये छाया-

---

* लेहु न मजनूं गोर ढिग, कोऊ लैला नाम।
दरदवंत को नेकु तो लैन देहु विसराम।

† सब मजहब सब इल्म अरु सबै देश के स्वाद।
अरे इश्क के असर बिनु, ये सब ही बरबाद।
(हिन्दी साहित्य की भूमिका से)

‡ दे० वैस्टर्न इनफ्लुएन्सेज आन बेंगाली लिटरेचर।

वादी कवियों के कुछ अत्यन्त प्रिय शब्द हो गये थे और कवि इनकी ओर बार-बार आने में एक तरह की शांति एवं संतोष का अनुभव करते थे—शांति वह जो आंसू बहाने से प्राप्त होती है और संतोष वह जो यह मान लेने से मिलता है कि मैं संसार में उपेक्षित हूं। रुदनवाद का प्रमाण थोड़ा-थोड़ा छायावाद-काल के प्रत्येक कवि में मिलता है :—

क्षण भर के सोये वियोग को छू कर दुख दूना न करो,
इस आकुलता से रोता जीवन मेरा सूना न करो।
रुको, और पल भर रुक जाओ, अन्तिम बार सदय हो लो।
मेरे हृदय-रक्त से अपनी स्मृति का धुंधलापन धो लो।

—द्विज

जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति बन छाई,
दुर्दिन में आंसू बन कर वह आज बरसने आई।
शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृगजल का,
उच्छ्वास तप्त चल-चल कर, करता है काम अनिल का।
छिल-छिल कर छाले फोड़े, मल-मल कर मृदुल चरण से।
घुल-घुल कर बह रह जाते आंसू करुणा के कण-से।

—प्रसाद

कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा वृक्षपत्र की मधु छाया में
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है अमृत-सदृश नश्वर काया में।

—प्रसाद

विश्ववाणी ही है क्रन्दन, विश्व का काव्य अश्रुकण।

—पन्त

वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पद
वेदना का ही मनोरम गान है।

—पन्त

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आंखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

—पन्त

मेरा आकुल क्रन्दन,
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर

वायु में भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ही ओर।
मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर।
—निराला

पीड़ा मेरे मानस से भींगे पट-सी लिपटी है,
डूबी-सी यह निःश्वासें ओठों में आ सिमटी हैं।
× × × ×
समाहित है अनन्त आह्वान, यही मेरे जीवन का सार।
अतिथि! क्या ले जाओगे साथ मुग्ध मेरे आंसू दो-चार।
× × × ×
तरल आंसू की लड़ियां गूंथ, इन्होंने काटी काली रात।
निराशा का सूना निर्माल्य चढ़ा कर देखा फीका प्रात।
—महादेवी

छायावाद-काल में, क्रंदनवाद की यह लहर क्यों उठी, इसका एक कारण तो यह है कि साहित्य में जब भी रोमांटिक आन्दोलन उठता है, तब उसके साथ भावुकता की घटा जरूर आती है तथा भावुकता की चरम परिणति है अश्रु और बिलाप में। भावुक कवि शेली ने करुण से करुण भावों को मधुर गीत कहा था। आज भी अनेक भावुक कवि अपने कवि-जीवन का आरंभ रुदन से ही करते हैं। छायावाद-काल में भवभूति के "एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्" वाले श्लोक का भी उद्धरण अनेक बार दिया गया था। किन्तु, शेली और भवभूति का सहारा तो कवियों ने बाद को लिया और बहुत कुछ इसलिए कि वे साहित्य में आंसू की परंपरा को सिद्ध करना चाहते थे। विचारणीय विषय यह है कि यह भाव-धारा हिन्दी में कहां पर पोषित हो रही थी और क्यों वह हिन्दी में छायावाद-काल में ही आ कर प्रकट हुई।

सतही दृष्टि से साहित्य को देखने वाले लोग यह कह देते हैं कि यह प्रथम विश्व-युद्ध से जन्मी हुई निराशा का परिणाम था अथवा यह कि असहयोग-आन्दोलन के विफल होने से देश में जो निराशा उत्पन्न हुई, उसकी अभिव्यक्ति छायावाद के रुदन-पक्ष में हुई। ये दोनों मत इसलिए खंडित हो जाते हैं कि विश्वयुद्ध से जन्मी हुई निराशा का ज्ञान भारत को तत्क्षण नहीं, प्रत्युत्, बहुत बाद को हुआ और वह भी, मुख्यतः,इलियट की कविताओं के द्वारा। तथा असहयोग-आन्दोलन की विफलता से देश में पस्ती नहीं आई थी। और अगर आई भी थी तो उसकी अभिव्यक्ति नवीन जी की उस कविता में हुई जिसकी पहली पंक्ति थी "विजय पताका झुकी हुई है लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।" इस काल की बाकी राष्ट्रीय कविताओं में उमंग ही उमंग है, पस्ती या शिथिलता के भाव नहीं हैं।

असल में, छायावाद-कालीन वेदना-प्रियता एक तो रोमांटिक मुद्रा का परिणाम थी। दूसरे, उसके मूल में, बहुत दूर पर, सूफियों की वेदना-प्रियता काम कर रही थी जिसका परिमार्जन पहले कबीर और मीरा ने तथा बाद को घनानन्द और बोधा ने हिन्दी के ढंग पर किया था। बोधा और घनानन्द छायावाद के समीपवर्ती पूर्वपुरुष हुए हैं। सूफियों की वेदना-विवृत्ति का प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ा और उर्दू पर भी। हिन्दी में वह प्रभाव कबीर, मीरा, घनानन्द और बोधा में पोषित हुआ और उर्दू की संपूर्ण सरणी में ही। यह भी ध्यान देने की बात है कि आधुनिक पाठकों की रुचि के हिसाब से जो कवि जितना ही प्यारा है, यह वेदना-विवृति भी उसमें उतनी ही प्रखर हो कर आई है। ऊपर हिन्दी-कविताओं में से जो उद्धरण दिये गये हैं, उनसे मिलते-जुलते उदाहरण उर्दू-साहित्य में असंख्य हैं।

इश्क से तबियत ने जीस्त का मज़ा पाया।
दर्द की दवा पाई, दर्द बेदवा पाया।

रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहां कोई न हो।
हमसुखन कोई न हो, और हमजबां कोई न हो।
पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार,
और अगर मर जाइये तो नौहख्वां कोई न हो।

कहते हैं, जीते हैं उम्मीद पं लोग,
हम को जीने की भी उम्मीद नहीं।
मुनहसिर मरने पै हो जिसकी उम्मीद,
नाउम्मीदी उसकी देखा चाहिए।

—ग़ालिब

बेकसी मुद्दत तलक बरसा की अपनी गोर पर,
जो हमारी ख़ाक पर से हो के गुज़रा, रो गया।

—मीर

दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।

—ग़ालिब

मुत्तसिल रोते ही रहिये तो बुझे आतिशे-दिल।
एक-दो आंसू तो और आग लगा देते हैं।

—मीर

सिर्हाने मीर के आहिस्ता बोलो,
अभी टुक रोते-रोते सो गया है।

—मीर

ऐ बूये-गुल समझ के महफ़ियो पवन के बीच,
आल्मी पड़े हैं मुर्ग हज़ारों चमन के बीच ।

—मीर

उमड़ी आती हैं आज यूं आखें,
जैसे दरिया कहीं उबलते हैं ।

—मीर

उर्दू-कवियों के जो रोने-रुलाने वाले शेर हैं, उनमें से कुछ तो इसलिए लिखे गये होंगे कि कवियों को अर्थाभाव रहा होगा अथवा उन्हें प्रेम में निराशा हुई होगी। किन्तु, बहुत-से ऐसे भी हैं जो सिर्फ दर्द की बेचैनी दिखाने को लिखे गये हैं। सूफियों ने वेदना का अनुभव ब्रह्म से काल्पनिक विरह के कारण किया था। पीछे चल कर, वेदना कला की वस्तु बन गई और कविगण उसका चित्रण इसलिए करने लगे कि इससे उनकी भावुकता को संतोष होता था। कला के लिए कला के समान, वेदना को भी वेदना के लिए पूजने का भाव हिन्दी और उर्द कविताओं में सूफी-परंपरा से बढ़ा है।

उर्दू का जन्म

मुहम्मद गज़नी, मुहम्मद ग़ोरी और बाबर, इन तीन मुस्लिम-विजेताओं में से कोई भी, खान्दान से, ईरानी नहीं था। किन्तु, ईरानी या फारसी भाषा ही इस्लाम की भाषा हो गयी थी एवं भारत में भी जो मुसलमान आये, उनकी अपनी भाषा फारसी ही थी। आरम्भ में भारत के मुसलमान या तो फारसी में कविता करते थे या फिर खुसरो, जायसी, रहीम और रसखान की तरह,ब्रजभाषा और अवधी में। किन्तु, खुसरो की हिन्दी कविताओं से एक नई चेतना जगी कि जो बोली दिल्ली और आगरे के पास बोली जाती थी, उसमें साहित्य का सर्जन संभव था।

जब हम खड़ी बोली के इतिहास को उटाते हैं, तब, निश्चित रूप से, हमें मानना पड़ता है कि इस भाषा का प्राचीनतम लिखित साहित्य खुसरो का ही है। इसलिए, खुसरो खड़ी-बोली वाली हिन्दी और उर्दू, दोनों के जनक माने जाते हैं। किन्तु, खुसरो ने केवल खड़ी बोली में ही कविता नहीं लिखी। उनके गीत और दोहे ब्रज भाषा अथवा उस काल की काव्य भाषा में ही मिलते हैं। ठेठ खड़ी अथवा बोलचाल की भाषा उनकी मुकरियों, प्रचलित पहेलियों और दो-सखुनों में ही प्राप्त होती है।*

इससे दो अनुमान निकलते हैं। एक तो यह कि खुसरो के समय में ब्रजभाषा का कोई मिश्रित रूप काव्य की भाषा हो चला था। दूसरा यह कि सामान्य जनता की भाषा खड़ी बोली थी, जिसमें खुसरो ने बच्चों, स्त्रियों एवं जन-साधारण की प्रसन्नता के लिए पहेलियां और मुकरियां कहीं। खुसरो की मृत्यु के कोई २८ वर्ष पूर्व, नरपति नाल्ह ने बीसलदेव रासो और कोई सौ वर्ष पूर्व, चन्द बरदाई ने पृथ्वीराज रासो लिखा था। किन्तु, इन काव्यों की भाषा अपभ्रंश से पीड़ित है। लगता है कि नरपति नाल्ह और चंदबरदाई उस भाषा में कविता कर रहे थे जो परंपरा से काव्य की भाषा मानी जा रही थी। तत्कालीन जनभाषा में काव्य रचने की बात उन्हें नहीं सूझी। खुसरो की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने समय की जनभाषा को पकड़ा। उनकी खड़ी बोली ही नहीं, काव्य-भाषा भी बहुत साफ है।

खुसरो रैन सोहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भये एक रंग।

जो भाषा नरपति नाल्ह को नहीं दिखाई पड़ी, वह खुसरो के ध्यान पर कैसे चढ़ गयी, इसका कारण यह हो सकता है कि खुसरो परदेशी होने के कारण यहां के साहित्य से इतने

---

* दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास; रामचंद्र शुक्ल

परिचित नहीं रहे होंगे कि उसकी परंपरा उन पर आतंक जमाती। अपने मुख्य भाव तो वे फारसी में लिखते थे। हां, जनता के मनोरंजन के लिए कुछ चीजें उन्होंने यहां की भाषा में भी कह दीं। और जनता के हृदय तक पहुंचने के लिए, उन्होंने जनता की बोली का आश्रय लिया। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में खुसरो ने बहुत बड़ी क्रान्ति की और, सत्य ही, वे हिन्दी और उर्दू के प्रवर्तक कहाने के योग्य हैं। जिस खड़ी बोली में खुसरो ने मुकरियां कही हैं, वह तत्कालीन जनभाषा थी, खुसरो का आविष्कार नहीं; इसका एक प्रमाण तो यह है कि जनभाषा को हेय मान कर परंपरा से आती हुई काव्य-भाषा में लिखने वाले कवियों की भाषा में भी यह जनभाषा जब-तब झलक मार देती थी जिसका प्रमाण हेमचंद्र (खुसरो से कोई सौ वर्ष पूर्व) की यह बहुधा-उद्धृत पंक्ति है:—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।

दूसरा प्रमाण यह है कि खुसरो के कोई सत्तर साल बाद होने वाले महाराष्ट्र के संत कवि नामदेव की रचनाओं में हम खड़ी बोली का बहुत कुछ सुस्पष्ट रूप पाते हैं।

माई न होती, बाप न होते, कर्म न होता काया।
हम नहिं होते, तुम नहिं होते, कौन कहां ते आया।

खुसरो की खड़ी बोली की अपेक्षा नामदेव की खड़ी बोली का रूप ईषत् विकृत है। प्रचलित बोली का रूप वही रहा होगा जिसके नमूने हमें खुसरो में मिलते हैं। नामदेव की भाषा के विकार का कारण कुछ तो सधुक्कड़ी प्रवृत्ति है और कुछ यह बात कि जन्म-स्थान की दृष्टि से नामदेव खड़ी बोली के क्षेत्र से दूर पड़ते थे।

खड़ी बोली पर उर्दू वालों का कभी भी एकाधिपत्य नहीं था, इस बात को सिद्ध करने के लिए हिन्दी के विद्वान् हेमचंद्र से लेकर खुसरो, कबीर, दादू दयाल, मलूक दास, कुल-पति, पद्माकर, नागरीदास, ग्वाल और सीतल तक के उदाहरण बटोर कर यह कहते हैं कि, यद्यपि, हिन्दी कविता की मुख्य भाषा अवधी या व्रज भाषा थी, फिर भी खड़ी बोली से हिन्दी-कवि अपरिचित नहीं थे तथा वे समय-समय पर उसका भी उपयोग कर लेते थे।*

---

* भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कंतु।—हेमचंद्र (११५५ ई०)
अरथ तो इसका बूझेगा, मुंह देखो तो सूझेगा।—खुसरो (१२५० ई०)
मन मेरी सूई, तन मेरा धागा, खेचर जी के चरण पर नामा सिंपी लागा।
नामदेव (१३५० ई०)
मुझ को क्या तू ढूंढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।—कबीर (१४५० ई०)
सोच विचार करे मत मन में जिसने ढूंढा उसने पाया।—नानक (१५०० ई०)
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ें ते और।—दादू दयाल (१६०० ई०)
अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम,

किन्तु, इतना कह देने से इस बात का खंडन नहीं होता कि खड़ी बोली को साहित्य की भाषा मुसलमानों ने ही बनाया। हिन्दी वाले अपभ्रंश का प्रभाव ढोते हुए एक खास परंपरा में चल रहे थे और इस परंपरा का जो मेल अवधी और ब्रजभाषा से बैठता था, वह मेल खड़ी बोली से नहीं बैठ सकता था। इस परंपरा से अनभिज्ञ अथवा अप्रभावित रहने के कारण, खड़ी बोली की ओर ध्यान मुसलमान कवियों का ही गया, क्योंकि यही वह भाषा थी जिसमें राजधानी के आसपास के लोग बात करते थे और यही वह भाषा थी जिससे उनकी नजदीकी जान-पहचान हो सकती थी। श्री जयचंद्र विद्यालंकार ने लिखा है कि "पंचाल (रुहेलखंड और कन्नौज) और शूरसेन (ब्रज) की बोलियों में से कोई एक सदा से भारत की राष्ट्र-भाषा बनती रही है क्योंकि ये बोलियां तमाम आर्यवर्ती भाषाओं की केन्द्रवर्ती हैं।"[1] मुसलमानों के आगमन के समय, इस प्रान्त में खड़ी बोली का प्रचार था। यही खड़ी बोली पहले मुसलमानों के द्वारा गृहीत हुई, क्योंकि मुसलमानों को यहां की भाषा की जरूरत थी और राजधानी के पास की भाषा आसानी से उनकी जबान पर चढ़ गयी और फिर बाद को सारे भारत में समझी जाने लगी। आरंभ के मुस्लिम शासक द्विभाषी थे। एक तो वे फारसी

दास मलूका कहि गये, सब के दाता राम। —मलूकदास (१६८५ ई०)

हूं मैं मुश्ताक तेरी सूरत का नूर देख
दिल भरपूर रहे कहने जवाब से।
देर की न ताब, जान होत है कबाब, बोल,
हयाती का आब, बोल मुख-महताब से। —कुलपति (१६७० ई०)

आया इश्क लपेट में, लागी चश्म चपेट।
सोई आया खलक में, और भरें सब पेट।—नागरीदास (१७५० ई०)

गुलगुली गिलमे गलीचा है, गुणीजन हैं,
चांदनी है, चिक है, चिरागन की माला है।—पद्माकर (१८२० ई०)

दिया है खुदा ने खूब खुशी करो "ग्वाल कवि"
खाव-पियो, देव-लेव, यही रहि जाना है।
आये परवाना पर चलै ना बहाना, यहां
नेकी कर जाना, फेर आना है न जाना है।—ग्वाल (१८२० ई०)

कर छुए गुलाब दिखाता है जो चौसर गूंथा बेली का।
गल-बीच चंपई रंग हुआ मुसकान कुंद रद केली का।
दृग स्याह मरीचि लपेटे हो रंग हुआ सोसनी सेली का।
जानी, यह तद्गुण भूषण है पचरंगा हार चमेली का।—सीतल (१८०० ई०)

१ इतिहास-प्रवेश

बोलते थे। दूसरे, भारतीय भाषा के रूप में उन्होंने खड़ी बोली को स्वीकार किया एवं शासकों के द्वारा गृहीत हो जाने पर, खड़ी बोली का चलन, आवश्यकतानुसार, सारे देश में होने लगा।

यद्यपि, खड़ी बोली इसी देश के एक प्रान्त-विशेष के हिन्दुओं की ही बोली थी, परन्तु, मुसलमान शासकों और साहित्यिकों के द्वारा पहले अपनाये जाने के कारण, हिन्दू उसे विशेष रूप से मुसलमानों की भाषा समझने लगे। यही कारण है कि जब भी कोई हिन्दी-कवि खड़ी बोली लिखता था, तब उसके साथ अरबी और फारसी के दो-एक शब्द अवश्य मिला देता था।

यदि अपभ्रंश-काव्य को बाद देकर देखें, तो अवधी और ब्रजभाषा में साहित्य-रचना पीछे आरंभ हुई; पहले वह खड़ी बोली में ही लिखी जाने लगी थी। अमीर खुसरो का काव्य-काल तेरहवीं सदी में पड़ता है जब कि "अवधी के प्रथम संत कवि कबीर १५वीं सदी में हुए। ब्रज में साहित्य-निर्माण १५वीं सदी के अन्त में, जब वल्लभाचार्य ब्रजमंडल में आकर रहने लगे, तब से आरंभ होता है। मैथिली में ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य का वर्ण-रत्नाकर १४वीं सदी के आरंभ का है। डिंगल का पृथ्वीराज-रासो पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्द का कहा जाता है, पर, इस ग्रन्थ का वर्त्तमान उपलब्ध रूप उस समय का नहीं है, और १६वीं सदी का हो सकता है"।[1]

पंडित रामनरेश त्रिपाठी[2] और डाक्टर राम बाबू सक्सेना[3] के मतानुसार, उर्दू के पहले शायर वली हुए हैं। किन्तु, इधर के शोधों से अब यह माना जाने लगा है कि वली, यद्यपि, आरंभ के बड़े कवि थे, किन्तु, दक्खिन में उनसे भी पहले दो-चार कवि हो चुके थे जो फारसी छन्दों में कविता लिखते थे।[4] श्री गोयलीयजी ने वली से पूर्व, इब्राहिम आदिल-शाह (१५७९-१६२६), मुहम्मद कुली कुतुब शाह (१५८०-१६१२ ई०), सुलतान मुहम्मद-कुतुबशाह (१६११-१६२५ ई०), सुलतान अब्दुल कुतुबशाह (१६२५-१६७४ ई०) एवं अब्दुल हसन तानाशाह को उर्दू का आदि कवि माना है। ये सभी राजे दक्षिण के मुस्लिम राज्यों के राजे थे। स्वयं वली भी (१६६८-१७४४) औरंगाबाद (दक्खिन) के रहने वाले थे। इस प्रकार, तथ्य यह निकलता है कि उर्दू का जन्म दिल्ली और आगरे में नहीं, प्रत्युत, दक्खिनी भारत में हुआ।

---

१. दक्खिनी हिन्दी; डा० बाबूराम सक्सेना
२. कविता-कौमुदी (चौथा भाग)
३. ए हिस्ट्री आव् उर्दू लिटरेचर
४. शेरो-सखुन (अयोध्याप्रसाद गोयलीय) और पं० राहुल सांकृत्यायन के निबंध।

उर्दू का जन्म दक्षिण में क्यों हुआ ?

उर्दू भाषा हिन्दू-मुस्लिम-एकता के प्रतीक के रूप में उत्पन्न हुई। यदि मुसलमान हिन्दुओं से अपनी विभिन्नता बनाये रखने का आग्रह करते, तो उन्हें यहां की देश-भाषाओं में लिखने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु, यह सम्भव नहीं था। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की विभिन्नता इस बात पर आश्रित थी कि विदेशी मुसलमान कितनी अधिक संख्या में भारत आते हैं। किन्तु, यह संख्या कभी भी बहुत बड़ी नहीं हुई। दूसरी ओर, इतने अधिक हिन्दू मुसलमान हो गए कि दोनों जातियों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन और सामाजिक रंग-ढंग, प्रायः, एक होने लगे और विलगाव से अधिक उनकी एकता प्रकट होने लगी। बाबर ने अपनी आत्म कथा में "हिन्दुस्तानी तरीके" का उल्लेख किया है जो भारत के हिन्दू और मुसलमान, दोनों का सामान्य लक्षण था। एकता को बहुत अधिक उत्तेजना संतों और सुधारकों से भी मिली, जो, पीढ़ी-दर-पीढ़ी, जनता को यह समझाते जा रहे थे कि हिन्दू हो या मुसलमान, ईश्वर दोनों का एक है; हिन्दुत्व हो या इस्लाम, सच्चा धर्म यही सिखाता है कि जात-पांत का भेद मिथ्या है, श्रेष्ठता मनुष्य को जन्म से नहीं, वरन् कर्म से मिलती है एवं मनुष्य चाहे किसी भी धर्म को माने, किन्तु, मनुष्य होने के नाते वह हर दूसरे मनुष्य का भाई है। बड़ी बात यह हुई कि अकबर ने धार्मिक उदारता की जो नीति चलायी, उसका हिन्दुओं पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा एवं मुसलमान देश-भाषाओं की ओर जिस प्रेम और उत्साह से प्रेरित हुए उससे दोनों जातियों का भेद और भी कम होने लगा।

किन्तु, ये सुधार दक्षिण में ही नहीं, सारे भारतवर्ष में हुए थे और उर्दू को जन्म लेना था तो वह आगरे में भी जन्म ले सकती थी। लेकिन, आगरे में उसका जन्म नहीं हुआ, जिसका एक कारण यह था कि दक्षिण की अपेक्षा मुसलमान उत्तर में अधिक थे और फारसी के श्रोता भी दिल्ली और आगरे में कुछ अधिक सुगमता से मिल जाते थे। फिर, बाहर से आने वाले मुसलमानों का जमघट भी उत्तर में ही था। अतएव, मुसलमानी कविता का फारसी में लिखा जाना और उसका प्रचार उत्तर में बहुत कठिन नहीं था।

परन्तु, दक्षिण में यह बात नहीं थी। असली मुसलमान सीमित संख्या में ही दक्षिण गये थे। बाकी मुसलमान वहां वे थे जो हिन्दू-वंशों से आये थे। यहां विदेशी मुसलमान भी कम पहुंचे थे, अतएव, इस्लाम की सांस्कृतिक कट्टरता यहां अपेक्षाकृत अधिक ढीली थी। दिल्ली और आगरे की खड़ी बोली इन्हीं मुसलमानों के साथ दक्षिण को गयी और यही बोली वहां की राजभाषा हो गयी। फिर, राजभाषा होने के कारण, खड़ी बोली को दक्षिण के और लोग भी सीखने लगे।

दक्षिण में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य उत्तर की अपेक्षा कुछ अधिक पनपा, इस बात के भी उदाहरण हैं। अकबर से पूर्व ही, फिरोजशाह बहमनी ने दो हिन्दू महिलाओं से विवाह किया

था जिनमें से एक विजयनगर के राजा देवराय (प्रथम) की पुत्री थी। बीजापुर के यूसुफ आदिलशाह ने मराठा सरदार मुकुंद राव की बहन से ब्याह किया था एवं इस दंपत्ति की कन्याएं पड़ोस के दक्खिनी शाही खान्दानों में ब्याही गयीं जिनमें से एक की उत्तराधिकारिणी सुप्रसिद्ध चांद बीबी हुई। हिन्दू से मुसलमान होने वाले लोग मंत्री, सरदार और राजा हो जाने पर भी, हिन्दुओं के यहां शादी-ब्याह करते रहे, इसके भी अनेक प्रमाण हैं। राजकाज में भी हिन्दुओं को ऊंचा पद देने में यहां के मुसलमान राजाओं ने कोताही नहीं की। गोलकुंडा के कुतुबशाही राजे हिन्दू मंत्री रखते थे। इसी प्रकार, यूसुफ आदिल शाह भी विश्वास के पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति उन्मुक्त भाव से करता था। बीजापुर का इब्राहिम आदिल शाह हिन्दुओं के प्रति इतना उदार था कि इसी गुण के कारण उसकी मुस्लिम प्रजा भी, उसे "जगद्गुरु" कहती थी। हिन्दू-मुस्लिम प्रेम की भावना इस भाग में इतनी सुदृढ़ थी कि कृष्ण देवराय जब विजयनगर के राजा हुए, तब वे भी अपनी सेना में काफी मुसलमानों को रखते रहे।[1]

दिल्ली से दूर, दक्षिण में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के विकास का कारण यह था कि वहां मुस्लिम-शासन का सूत्रपात ही हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य से हुआ था। बहमन-वंश का प्रथम मुस्लिम शासक हसन, गंगू नामक ब्राह्मण के प्रति इतना श्रद्धालु और विनम्र था कि जब सन् १३४७ ई० में वह बादशाह बना तो वह कृतज्ञता-स्वरूप, गंगू ब्राह्मण की स्मृति को अमर रखने के लिए, अपने नाम के आगे गंगू बिरहमन लिखने लगा जिसका अपभ्रंश बहमन हो गया। बहमन-वंश की बादशाहत के विनाश के बाद, बीजापुर, गोलकुंडा और अहमदनगर, तीन छोटे-छोटे राज्य कायम हुए। किन्तु, इन राज्यों में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की बहमनी-परंपरा पूर्ण रूप से बनी रही। बल्कि, अब तो अनेक रानियां भी ऐसी थीं जिनका हिन्दू घरानों से सम्बन्ध था। इन सारी बातों का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू और मुसलमान परस्पर खूब निकट आ गये और एक-दूसरे की भाषा और संस्कार का आदर करने लगे।

उर्दू का जन्म इसी सद्भावना की गोद में हुआ था। "दक्खिनी उर्दू में फारसी की बहुतायत नहीं पायी जाती। इसका कारण यही है कि मुसलमान शासकों ने वहां की प्रांतीय भाषाओं मरहठी, तमिल, तेलुगू और कन्नड़ को तथा हिन्दुओंको खूब अपनाया और हिन्दुओं ने भी बादशाही शासन में लगन और ईमानदारी से हाथ बटाते हुए शासकों की भाषा को सीखा। परिणाम इसका यह हुआ कि जब दो कौमें मिलीं, तो" एक नयी बच्ची को उन्होंने जन्म दिया, जो आगे चल कर अरबी-फारसी के परिधान में लपेट कर "वली" ने बादशाहों की चहेती दिल्ली बेगम को दे दिया। बड़ी मुश्किल से उसने इस सुकुमार बच्ची को पाया था। कहीं नजर न लगे, इस डर से नदीदी मां ने इसका नाम भी बिगड़ा हुआ, भद्दा नाम-

---

१. टेक्स्ट बुक आव् माडर्न इंडियन हिस्ट्री—सरकार और दत्त।

रेख्ता (परीशान, गिरा-पड़ा) रखा। और जब यह जवान हुई, तब लाड़-प्यार की वजह से काबू से बाहर होकर शोख़ हो गयी। फौजी लश्करों में जा-जाकर फौजियों से दीदे लड़ाने लगी तो इसे सब बाजारू, लश्करी (उर्दू) कहने लगे।"[1]

खड़ी बोली में जो कविताएं सुलतान कुली कुतुबशाह ने लिखी हैं उनमें फारसी और अरबी के शब्द अत्यन्त अल्प हैं, यह सच्ची बात है। उन्हें हम मुसलमानी कविता सिर्फ इस-लिए कह सकते हैं कि उनके छंद, अधिकांश में, फारसी के छंद हैं और शब्द भी कहीं-कहीं अरबी और फारसी के हैं। असल में, मुस्लिम कवियों की जो प्रेरणा आगरे और दिल्ली में फारसी भाषा में माध्यम खोजती थी, उसी प्रेरणा को कुतुबशाह ने हिन्दी में लिखने की कोशिश की है।

तुज याद में जग मोहिया, है जग उपर तेरा मया।
जो जग मंगे सो तू दिया, तूं ही जगत का है दया।

× × × ×

चंद्रमख तुज, लाल लब हैं, दसन जूं तेरे तारे हैं।
कहो यह चांद कां का है, किस असमां थे उतारे हैं ?[2]

दक्खिन के अन्य कवियों की भी भाषा यही है:—

पिउ मूरत देखो सोने में, जब जागो तब रहूं सपने में।
ला दीपक बिरहा अपने में, तन जाये झकझक जीने में।

—अली आदिलशाह

नहीं मुझ से पीत लगाये मन लेता रे।
अहला मुझे आशिक अपना तूं कंता रे।

—बुर्हानुद्दीन जानिम

स्वयं वली की कविताओं में जो भाषा मिलती है, वह भी बहुत कुछ यही भाषा है :—

विरागी जो कहाते हैं उसे घरबार करना क्या ?
हुई जोगिन जो कोई पी की उसे संसार करना क्या ?
जो पीवे पिर्त का पानी उसे क्या काम पानी सों ?
जो भोजन दुख का करते हैं उसे आहार करना क्या ?[3]

मतरूकात या बहिष्कार की नीति

जिन दिनों, खड़ी बोली में दक्खिन के मुसलमान कवि यह साधना कर रहे थे, उन

१. शेरो-सख़ुन
२. दक्खिनी हिन्दी
३. दक्खिनी हिन्दी

दिनों, वहां के राजे स्वतंत्र थे एवं दिल्ली का उनपर कोई बड़ा प्रभाव नहीं था। हिन्दू-मुस्लिम-एकता का भाव वहां बहुत मजबूत हो चुका था एवं सांप्रदायिकता की गन्ध भी नहीं थी। किन्तु, इन्हीं दिनों उत्तर में, औरंगजेब गद्दी पर आया और बाबर से लेकर शाहजहां तक एकता का जो पट बुना जा चुका था, उसके तानों-बानों को वह अलग करने में लग गया। सन् १६८६ ई० में उसने दक्षिण के राज्यों पर अधिकार किया एवं औरंगाबाद को उसने अपना केन्द्र बनाया। अब आगरे और दिल्ली के मुसलमान दक्खिन अधिक जाने लगे एवं बीजापुर और गोलकुंडा के शायर भी अब, ज्यादातर, औरंगाबाद में ही रहने लगे। यहीं से उत्तर की सांप्रदायिकता दक्षिण पहुंची और उसका प्रभाव कविता पर भी पड़ने लगा।

वली दो बार दिल्ली आये थे। एक बार सन् १७०० ई० में औरंगजेब के शासन-काल में और दूसरी बार सन् १७२४ ई० में उसके मरने के बाद। दिल्ली में वली के काव्य-संग्रह का बड़ा आदर हुआ। जो मुसलमान कवि फारसी में कविता कर रहे थे, उन्हें यथेष्ट पाठक नहीं मिलते थे। वली के प्रयोग को देख कर उन्हें पता चला कि हिन्दी में भी वे भाव प्रभावपूर्ण ढंग से कहे जा सकते हैं जिनकी अभिव्यक्ति के लिए वे फारसी का आश्रय ले रहे थे, यद्यपि, फारसी में लिखने और समझने वालों की संख्या दिनों दिन घटती जा रही थी। दिल्ली में ही शाह गुलशन ने (जो फारसी के शायर थे और वयोवृद्ध एवं समादरणीय थे) वली को सलाह दी कि अपनी कविताओं में फारसी शब्द रखो तो इन कविताओं का रंग और भी निखर जाय।[२] वली पर इस परामर्श का पूरा असर हुआ और बाद को उन्होंने जो कविताएं लिखीं, उनमें फारसी की प्रधानता हो चली। फिर भी, वली की पिछली गजलों में भी, हिन्दी का थोड़ा-बहुत रंग मौजूद ही रहा—

लिया है जब सूं मोहन ने तरीका खुद्नुमाई का।
चढ़ा है आरसी पर तब से रंग हैरत-फ़िजाई का।

उत्तरी भारत के उर्दू कवियों में "फाइज" सबसे प्राचीन माने जाते हैं। ये वली के समकालीन थे और वली की ही तरह, इनकी कविताओं में भी हिन्दी के शब्द मौजूद मिलते हैं। शेरो-सखुन में इनकी जो थोड़ी-सी पंक्तियां उद्धृत हैं, उनमें नयन, भवां, पलक, सजीले, मुख, छब, राम-राम, केवल, कली, चंपा, अनूप, रूप, सरूप, ये सभी शब्द आये हैं। ऐसा लगता है कि वली को हिन्दी-शब्दों का बहिष्कार करने का जो परामर्श दिल्ली में दिया गया था, वह अप्राकृतिक था और खुद दिल्ली के शायर भी जब तक हिन्दी शब्दों को दूर रखने के लिए लाठी लेकर तैयार नहीं हो जाते, तब तक हिन्दी शब्दों को रोकना उनके लिए कठिन होता था। उर्दू हिन्दू-मुस्लिम-सामासिक-संस्कृति की भाषा बन कर आ रही थी और फारसी छन्दों को देशज शब्दों से तैयार करने की ओर उसका स्वाभाविक झुकाव

---

२. दे० शेरो-सखुन

था। लेकिन, दिल्ली के शायर फारसी पर फिदा थे। उनकी श्रुतिचेतना देशज शब्दों का कविता में प्रयोग सह नहीं सकती थी। यह समय भी अकबर का नहीं, औरंगजेब का था, अतएव, शायरों को यह सूझा ही नहीं कि उर्दू को उसके स्वाभाविक विकास के मार्ग पर जाने देना चाहिए। मन से वे ईरानी बने रहना चाहते थे, इसलिए, उर्दू को ईरानी भावनाओं, मनोदशाओं एवं विचारों का माध्यम बनाने के प्रयास में उन्होंने चुन-चुन कर हिन्दी-शब्दों को उर्दू की गज़लों से निकालना शुरू किया और तब तक दम नहीं लिया जब तक हिन्दी के सारे शब्द दूर नहीं हो गये। "दक्खिनी हिन्दी के कवियों में संस्कृत और हिन्दी के बहुत अधिक शब्द मिलते हैं, जिन्हें आगे चलकर कम से कम करते-करते, अंत में, व्याकरण को ही हिन्दी रहने दिया गया।"[1] "कुछ थोड़े-से मुसलमान शायरों और शाहजादों ने हिन्दी में से हिन्दवीपन और हिन्दी के शब्द निकाल-निकाल कर अरबी-फारसी के तत्सम और अप्रचलित शब्दों की भरमार कर एक नयी बनावटी जबान उर्दू बना ली।"[2] उर्दू का जन्म खड़ी बोली में से संस्कृत और हिन्दी के शब्दों को निकालकर हुआ। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि जब तक खड़ी बोली में हिन्दी और संस्कृत के शब्द बने रहे तब तक उसका प्रचलित नाम भी हिन्दी, हिन्दवी अथवा रेख्ता ही रहा। किन्तु, जब इस भाषा पर फारसी और अरबी का पूरा प्रभुत्व हो गया, तब से (यानी सन् १९०० ई० के लगभग से) वह उर्दू कहलाने लगी। वली वगैरह की भाषा के विषय में लिखते हुए सुनीति बाबू ने कहा है कि "तब की भाषा पश्चात्कालीन उर्दू की तरह फारसी से बिलकुल लदी हुई नहीं थी। फारसी के शब्द अपेक्षाकृत कम संख्या में मिलाये जाते थे। एक पंक्ति में कहीं-कहीं छितरे हुए (रेख्ता) रहते थे। इसीलिए, आधुनिक उर्दू-हिन्दुस्थानी पद्य की भाषा का आद्य रूप "रेख्ता" कहलाता था।"

डाक्टर रामबाबू सक्सेना ने लिखा है[3] कि वली की भाषा में जो "भाषा" के शब्द थे उनमें से अनेक ऊटपटांग और असुन्दर थे तथा कला की कृतियों में वे खपाये नहीं जा सकते थे। इसलिए, उर्दू के कवि, पीढ़ी-दर-पीढ़ी, उनका बहिष्कार करते गये और अन्त में, उन्होंने अपनी पसन्द की एक भाषा खड़ी कर ली। फिर उन्होंने यह भी कहा है कि "भाषा" के सभी शब्दों का निकालना अच्छा नहीं हुआ। किन्तु, सोचने की बात है कि ये शब्द क्यों निकाले गये? कला की कौन वह वृत्ति थी जो भाषा के शब्दों से टकरा कर घबराने लगती थी? अवश्य ही, उर्द के कवि इस देश को अपना देश नहीं मानते थे, न यहां की संस्कृति को अपनी संस्कृति। अकबर के समय, यदि उर्दू का जन्म हुआ होता तो बहिष्कार की नीति मुसलमान

१. राहुल सांकृत्यायन ; नया समाज, अप्रैल १९५१

२. साहित्य-चिन्तन

३. ए हिस्ट्री आव उर्दू लिटरेचर

कवियों को सूझती ही नहीं। मतरूकात की नीति पर चलने की प्रेरणा उन्हें इसलिए मिली कि जब उर्दू का जन्म हो रहा था तब इस देश की राजनीति सांप्रदायिक हो गयी थी और उस राजनीति का प्रभाव साहित्य पर भी जोरों से पड़ा।

एक दूसरा कारण यह भी हुआ कि उर्द के विकास का काल, संयोग से, मोगल-गरिमा के ह्रास के समय पड़ गया। जब उर्दू का निर्माण हो रहा था, उस समय देश की सल्तनत टूट कर खंड-खंड होती जा रही थी। राजे विलासी और दरबारी पातकी हो रहे थ। कवियों का जनता से तो कोई संबंध था ही नहीं, वे सन्त-सुधारकों के आन्दोलन से भी दूर थे। ऐसे कवियों में नयी उद्भावनाएं उठें, यह असम्भव बात है। परिणाम यह हुआ कि फारसी के जो भाव इन कवियों ने देखे थे, उन्हीं के अनुकरण पर, वे उर्दू को सजाने लगे और सारा उर्दू-साहित्य जनजीवन से दूर, आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रेरणाओं से रहित, फारसी का निरा जूठन-मात्र हो गया। वली से लेकर ग़ालिब तक (समकालीन हिन्दी कवियों के समान ही) उर्दू का कोई भी कवि ऐसा नहीं हुआ जिसमें अन्याय का विरोध करने की उमंग रही हो अथवा जो कभी यह देखने की भी चिन्ता करे कि जिस समाज में वह पल रहा ह, उसका क्या हाल है। इनकी कविताओं में प्रेम और विरह के जो भी बखान हैं, सभी झूठे हैं, सभी ख्याली हैं। सच्चा स्वर अगर है तो निराशा का जो सभी कवियों में खुशनुमां और रंगीन मालूम होता है। धार्मिक या सामाजिक चेतना के अधिक से अधिक पास, इस काल में केवल अनीस और दबीर पहुंचते हैं जिनके मर्सियों में, और नहीं तो, इस्लाम की गरिमा को कुछ ताजा कर देने की शक्ति अवश्य है। या फिर उर्दू कविता का सामाजिक पक्ष नजीर अकबराबादी की रचनाओं में ऊंचा उठा। जैसे बीसवीं सदी में महाकवि अकबर ने सम्राट् अकबर के हिन्दू-मुस्लिम-एकता के स्वर को ताजा किया, वैसे ही, अठारहवीं सदी के अन्त में महाकवि नजीर ने इस एकता की लता को निश्छलता से सींचा। इसीलिए, इन दोनों कवियों को केवल मुसलमान ही नहीं, हिन्दू भी अपना प्यारा कवि मानते हैं।

खड़ी बोली में से इस देश के शब्दों का निकाला जाना अच्छा नहीं हुआ। इससे एक तो उर्दू नकली भाषा बन गयी। दूसरे, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की जो सेवा इस भाषा के द्वारा हो सकती थी, वह केवल इसी कारण नहीं हो सकी कि कवियों ने इस भाषा का रुख अरब और ईरान की ओर फेर दिया। इस स्थिति पर विलाप करते हुए मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद ने लिखा है कि "उर्दू में फारसी का रंग बहुत तेजीसे आया। यह रंग अगर उसी कदर आता कि जितना चेहरे पर उबटने का रंग या आंखों में सुर्मा, तो खुशनुमाई और बीनाई (नेत्र-ज्योति) दोनों को मुफीद होता। मगर, अफसोस कि फारसी की शिद्दत (अधिकता) ने हमारे कवते-बयान और आंखों को सख्त नुकसान पहुंचाया। और जबान (साहित्य)

को खाली बातों से फक्त तबोहुमात का स्वांग (खोखला रूप) बना दिया। नतीजा यह हुआ कि भाषा और उर्दू में जमीन-आसमान का फर्क हो गया।"[१]

कभी-कभी मन में यह विचार आता है कि क्या उर्दू के कवियों ने हिन्दुत्व से अलग रहने को ही उर्दू को फारसी शब्दों से भर दिया। क्या, सचमुच ही, उर्दू का ईरानीकरण औरंगजेब की सांप्रदायिक नीति का परिणाम था ? किन्तु, सच बात यह है कि ऐसा कहने का सुदृढ़ और सुनिश्चित आधार नहीं है। उर्दू, आरम्भ से ही, ईरानी लिपि में लिखी जाती थी। लिपि साम्य होने के कारण, यह अरबी और फारसी की तरह, विशेष रूप से, मुस्लिम-संस्कृति की भाषा मानी जाने लगी और इसी लिपि-साम्य के चलते, उर्दू के कवियों का ध्यान हिन्दी की अपेक्षा फारसी और अरबी शब्दों की ओर अधिक जाने लगा। फारसी शब्दों के "इस प्रकार के अधिकाधिक समावेश से एक तो लेखक के धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण का परिचय मिलता था और दूसरे, लेखक को अपने "मुसलमानी-भाषा" के पांडित्य-प्रदर्शन का अवसर मिलता था। इस प्रकार, हिन्दुओं की भाषा हिन्दवी को उत्तर भारतीय मुसलमानों की इच्छा एवं झुकाव के अनुरूप मुसलमानी स्वरूप दे दिया गया[२]।"

अचरज की बात है कि इतना होने पर भी, अनेक विद्वान यह कह बैठते हैं कि बहिष्कार की नीति से हिन्दी का जन्म हुआ है,[३] उर्दू का नहीं। अर्थात् भाषा तो इस देश की हमेशा से फारसी-अरबी-मिश्रित थी, हिन्दी वालों ने ही उसमें से फारसी और अरबी शब्दों को चुन-चुन कर बाहर फेंक दिया और एक कृत्रिम भाषा, हिन्दी उत्पन्न कर ली। अवश्य ही, ऐसी बातें इसलिए कही जाती हैं कि हिन्दी और उर्दू की एकता बढ़े। किन्तु, एकता की सेवा भी सचाई से ही की जा सकती है। असत्य के प्रचार से जैसे जीवन के अन्य मूल्य नष्ट होते हैं, वैसे ही, एकता और प्रेम भी।

साधु हिन्दी की परंपरा

हिन्दी नयी भाषा नहीं है और न वह उर्दू में से फारसी और अरबी शब्दों को निकाल कर बनायी गयी है। बुजुर्ग-बिन-शहरयार (अरब) की लिखी किताब "अजायबुल हिन्द" में लिखा है कि "अब्दुल्ला एराकी ने हिन्द के राजा अलूरा के लिए सन् २७० हिजरी (सन् ८९२ ई०) में कुरान का हिन्दी जबान में तर्जुमा किया था।"[४] कालिंजर के राजा नंदा

---

१. शेरो-सखुन में "आबेहयात" से उद्धृत ।

२. डाक्टर सुनीतिकुमार

3. Modern High Hindi was developed from Urdu by the ejection of Persian words and substitution of those of Sanskrit origin.

—A History of Urdu Litrature (Dr. Ram Babu Saxena)

४. कविता-कौमुदी चतुर्थ भाग (भूमिका)

ने सन् ४१३ हिजरी (१०३५ ई०) में सुल्तान महमूद की शान में हिन्दी में लिखकर शेर भेजा था। मुसलमान बादशाहों को हिन्दी से प्रेम था, इस का प्रमाण यह है कि हिन्दी में लिखे अकबर के छन्द मिलते हैं। सांप्रदायिकता से पीड़ित बादशाह औरंगजेब भी हिन्दी शब्दों के सौंदर्य को पहचानता था जिसका प्रमाण यह है कि एक बार जब उसके बेटे मुहम्मद आजमशाह ने उसे कुछ आम भेजे और उनका नामकरण करने का अनुरोध किया तब औरगजेब ने उनके नाम "सुधारस" और "रसनाविलास" रखे।[1]

डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि "मआसिरे-आलमगीरी के अनुसार, १६९० ई० के आरम्भ में जब औरंगजेब दक्खिन में था, तब बड़ी दूर बंगाल से एक मुसलमान प्रवास करता हुआ बादशाह से मिलने कृष्णा नदी वाले प्रदेश में पहुंचा और वहां पहुंच कर उसने बादशाह से कहा—"आप मुझे अपना मुरीद बना लीजिए।" इस पर औरंगजेब ने उसे निम्न देशज पद्य की पंक्तियां कह कर फटकारा :—

टोपी लेन्दे, बावरी देन्दे, खरे निलज।
चूहा खान्दा बावली, तू कल बंधे छज।

तुम अपने लम्बे बालों को छोड़ कर (फकीर की) टोपी लेना चाहते हो। अरे खरे निर्लज्ज! तुम्हारा घर तो चूहा खाये जा रहा है और तुम कल उस पर छप्पर छाने की बात करते हो।"

औरंगजेब की सांप्रदायिकता सिद्ध तथ्य है। फिर भी, उसके मुख से हिन्दी के ही शब्द निकलते थे, इसका कारण यह है कि औरंगजेब के पूर्व, सांप्रदायिक भाषा का जन्म नहीं हुआ था। वह तब बनी जब यहां की राजनीति दूषित होने लगी।

सच बात यह है कि जब मुसलमान आये, तब यहां भाषा दो रूपों में चल रही थी, जिनमें से एक का उदाहरण चंद, विद्यापति आदि की कविताओं में है और दूसरे का खसरो की पहेलियों और मुकरियों में। उस समय तक, हिन्दी वालों के यहां खड़ी बोली काव्य-भाषा के रूप में गृहीत नहीं हुई थी। सारे देश के हिन्दी कवि उस समय ब्रज या अवधी में लिखते थे, जिसमें रहीम, रसखान, मुबारक, आलम और शेख ने भी कविताएं लिखीं।

अकबर ने जिस भारतीय मुस्लिम संस्कृति का विकास करवाया था, वह ईरानी कम, भारतीय अधिक थी। यही वह संस्कृति थी जिसमें हिन्दू-मुस्लिम-एकता की वास्तविक झलक दिखायी देती थी। इस संस्कृति के पोषक मुसलमान इस देश की भाषा को अपनी भाषा मानने लगे थे। "१६ वीं सदी के अन्त तक, सभी भारतीय मुसलमान (विदेशी, देशज अथवा मिश्रित रक्तवाले) फारसी को एक विदेशी भाषा के रूप में अनुभव करने लगे थे और देशज भाषाओं को पूर्णतया स्वीकार कर चुके थे। और जब उन्होंने उत्तरी भारत में देश की भाषा

---

१. वही

में रचना करना आरम्भ किया, तब उन्होंने देशज भाषाओं में सर्वाधिक प्रतिष्ठित ब्रज-भाषा को ही चुना।" (डा० सुनीति कुमार)।

किन्तु, दिल्ली की बोली में भी ग्राम-साहित्य लिखा जा रहा था। जब खुसरो को इस देश की भाषा की आवश्यकता हुई, उन्होंने इसी ग्राम-साहित्य वाली बोली को अपना लिया जिससे उनकी दूरदर्शिता, जननिष्ठा और बड़प्पन सूचित होता है। किन्तु, खुसरो और वली के बीच में, और नहीं तो, तीन सदियों का व्यवधान है। इस बीच, मुसलमानों ने खड़ी बोली का कुछ भी उपयोग नहीं किया। वह बोली कभी-कभी हिन्दी-कविताओं में ही झलक मारती रही। इन तीन सौ वर्षों तक, खड़ी बोली का पुट केवल हिन्दी के संत-कवियों की कविताओं में ही मिलता रहा। मुसलमान इस भाषा को भूले हुए थे।

मुस्लिम-काल में हिन्दी स्वतन्त्र भाषा के रूप में जीवित थी, इसका एक प्रमाण यह भी है कि मुस्लिम बादशाह अपने कार्यालयों में फारसी-नवीस के साथ हिन्दी-नवीस भी रखते थे। प्रत्युत, राज्य से जनसम्पर्क की भाषा हिन्दी ही थी और हिसाब-किताब भी हिन्दी में ही रखे जाते थे। फारसी की, राज्य-भाषा के रूप में घोषणा अकबर ने की और वह भी राजा टोडरमल के आग्रह के कारण।

उन्नीसवीं सदी की समाप्ति के पूर्व तक, उर्दू नाम का कहीं पता भी नहीं था। हिन्दी-क्षेत्रों की भाषा का नाम लोग हिन्दी ही जानते थे जिसके प्रमाण अनेक कवियों की कविताओं में मिलते हैं।[1]

यदि गद्य की बात ली जाय तो भी यह कहने का कोई आधार नहीं है कि उर्दू गद्य का

---

१. शर्मो-हया दर हिन्दी लाज।
हासिल कहिए बाज खिराज।
—खुसरो

अरबी तुरकी हिन्दुई भाषा जेती आहि।
जेहि मह मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि।
—जायसी

मतलब को मेरे यार न समझे तो क्या अजब ?
सब जानते हैं तुर्क की हिन्दी जबां नहीं।
—आतिश (मृत्यु १८४५ ई०)

हफ़ीज अपनी बोली मुहब्बत की बोली,
न उर्दू, न हिन्दी, न हिन्दोस्तानी।
—हफीज जलन्धरी (बीसवीं सदी)

निर्माण और चलन पहले हुआ एवं उस गद्य में से फारसी और अरबी के शब्द हटा कर हिन्दी भाषा बाद को गढ़ ली गयी। डा. राम बाबू सक्सेना के अनुसार, उर्दू-गद्य का प्राचीनतम प्रमुख उदाहरण फजली का लिखा हुआ "दह-मजलिस" नामक ग्रन्थ है जिसकी रचना सन् १७३२ ई० में हुई थी। किन्तु, इसे सक्सेना महोदय कोई उत्कृष्ट या साफ गद्य का उदाहरण नहीं मानते। वे केवल यह कहते हैं कि दह-मजलिस ही उर्दू-गद्य का प्राचीन से प्राचीन उपलब्ध उदाहरण है।* और उनका ऐसा मानना ठीक भी है क्योंकि "दह-मजलिस" पर तुकबाजी सवार है एवं लेखक स्वयं भी मानता है कि उसके पांव लड़खड़ा रहे हैं।

दह-मजलिस के गद्य का एक उदाहरण कविता-कौमुदी (चतुर्थ भाग) में उद्धृत है जो इस प्रकार है :—

"फिर दिल में गुजरा कि ऐसे काम को अक्ल चाहिए कामिल और मदद किसू तरफ की होय शामिल। लिहाजा कोई इस सनअत का न हुआ और अब तक तर्जुमे-फारसी ब-इबारते-हिन्दी नसर न हुआ।"

ऐसा लगता है कि फजली समझ रहे थे कि वे हिन्दी ही लिख रहे हैं, क्योंकि उर्दू नाम का चलन इस काल तक नहीं हुआ था।

इस प्रसंग में देखा जाय तो हिन्दी-गद्य की परम्परा बहुत पीछे तक पहुंचती है। हिन्दी में प्राचीन गद्य के उदाहरण तीन शैलियों में मिलते हैं। एक तो ब्रजभाषा वाली शैली है जिसके अन्दर कुछ गोरखपंथी ग्रन्थ (१३५० ई०) भी आते हैं। किन्तु, इस शैली के पुष्ट प्रमाण पुष्टि-मार्ग के साधक बिट्ठलनाथ और गोकुलनाथ-लिखित, क्रमशः, शृंगार-रस-मंडन, "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" और "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता", आदि हैं। ये ग्रन्थ बोलचाल की व्रज भाषा में लिखे गये हैं तथा इनमें छिट-पुट फारसी के भी शब्द हैं जो इस समय तक प्रचलित हो गये थे। नाभा दास जी का "अष्टयाम" (१६०० ई० के बाद का), बैकुण्ठमणि शुक्ल का "अगहन माहात्म्य" और "बैसाख माहात्म्य" (१६२३ ई०) तथा किसी अज्ञात लेखक का "नासिकेतोपाख्यान" (१७०० ई० के बाद का) व्रजभाषा गद्य के स्वच्छ उदाहरण माने जाते हैं। इसी शैली में, सन १७१० ई० में सूरति मिश्र ने "वैताल पच्चीसी" लिखी तथा सन १८०० ई० के लगभग लाला हीरालाल ने "आईने-अकबरी" का "भाषा-वचनिका" नाम से अनुवाद किया। इनके सिवा, काव्यों पर कुछ टीकाएं भी ब्रजभाषा गद्य में की गयी थीं, किन्तु, उनका, शैली के विकास की दृष्टि से, कोई

*The earliest Specimen of note of Urdu prose is DAH-MAJLIS, written by one, Fazli in 1145 AH.. or 1732 A. D. in the reign of Muhammad Shah. Its only Value is that it furnishes the earliest specimen of any of Urdu prose now extant . . . the style is crude and immature.

(A History of Urdu Literature)

खास महत्त्व नहीं है। फोर्ट विलियम में अंगरेजों के अधीन हिन्दी गद्य का काम संभालने वाले लल्ललाल जी गद्य की इसी धारा के लेखक हुए हैं और उन्होंने राजनीति (१८०९ ई०) तथा माधोविलास (१८१७ ई०) नाम से जो दो ग्रन्थ लिखे, वे हिन्दी में व्रज भाषा वाली गद्य धारा के अन्तिम उदाहरण हैं। किन्तु, यह धारा लल्लूलाल जी तक आकर ही अवरुद्ध हो गयी। आज हम जिस गद्य का प्रयोग करते हैं, वह खड़ी बोली का गद्य है।

सच पूछिये तो व्रजभाषा का गद्य कोई सुगठित गद्य नहीं था। यह भाषा काव्य की भाषा थी। गद्य की परंपरा के नहीं रहने के कारण, इसका गद्य कभी गठन नहीं पा सका।

व्रजभाषा के ही समान, राजस्थानी गद्य के भी उदाहरण बारहवीं-तेरहवीं शती से ही मिलने लगते हैं। किन्तु, राजस्थानी का भी गद्य सदैव दुर्बल रहा। इस गद्य में संस्कृत की समासयुक्त शैली, अपभ्रंश, खड़ी बोली और व्रजभाषा, सबका प्रभाव मिश्रित है और सबने मिलकर इस गद्य की शक्ति को घटाया ही है, बढ़ाया तनिक भी नहीं।

खड़ी बोली में गद्य का आरम्भ अकबर के समय में हो गया था, जबकि उर्दू का पद्य में भी आरम्भ नहीं हो पाया था। इसका प्रमाण गंग कवि का "चन्द छन्द बरनन की महिमा" है। गंग की गद्य-भाषा उर्दू नहीं, हिन्दी है।[१] ऐसा लगता है कि अकबर और जहांगीर के समय, हिन्दी खड़ी बोली शिष्ट समाज की भाषा हो चली थी, यद्यपि गद्य-निर्माण की ओर लोगों की अभी दृष्टि नहीं थी।

किन्तु, इन उदाहरणों को हम हिन्दी-गद्य के सुनिश्चित आरंभ का प्रमाण नहीं मानते, यद्यपि गंग की भाषा में हिन्दी-गद्य का रूप काफी सुस्पष्ट दीखता है। हिन्दी-गद्य का निश्चित रूप से सुस्पष्ट प्रमाण हमें राम प्रसाद निरंजनी के "भाषा योगवाशिष्ठ" नामक ग्रन्थ में मिलता है जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी गद्य का आदि-ग्रन्थ कहा है। राम प्रसाद निरंजनी पटियाले के थे और सन् १७४१ ई० में उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया था। "दह-मजलिस" से, यद्यपि, यह ग्रन्थ दस साल बाद का है, किन्तु, इससे यह बात भली भांति प्रमाणित हो जाती है कि "खड़ी बोली को मुसलमानों द्वारा जो रूप दिया गया, उससे सर्वथा स्वतन्त्र

---

१. "सिद्धिश्री १०८ श्री पातसाहिजी श्री दलपति जी अकबर साहिजी आम-खास में तख्त ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय-आय कुरनिश बजाय जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं, सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम में रहें।"

—चन्द-छन्द बरनन की महिमा से

वह अपने प्रकृत रूप में भी दो-ढाई सौ वर्ष से लिखने-पढ़ने के काम में आ रही है ।"[1]

निरंजनी जी की भाषा और आज की प्रचलित हिन्दी में मुझे तो कोई अन्तर नहीं दीखता। "भाषा-योग-वाशिष्ठ" के गद्य का एक सुव्यवस्थित उदाहरण इस प्रकार है :—

"हे राम जी ! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में रागद्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़ कर जब तुम स्थित हो तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष, शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय, क्रोध से रहित रहोगे। जिसने आत्म-तत्त्व पाया है, वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्म-तत्व को देखो। तब विगतज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म-मरण के बन्धन में न आओगे।"

यह हिन्दी आज से, प्रायः, सवा दो सौ वर्ष पूर्व की है और तब भी यह इतनी प्रांजल है कि इसे हम पं. रामचन्द्र शुक्ल अथवा पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा में आसानी से खपा सकते हैं। यह सच है कि योगवाशिष्ठ में प्रयुक्त भाषा की प्रांजलता सर्वत्र इस कोटि तक नहीं पहुंचती, किन्तु, आज के से प्रांजल हिन्दी गद्य का रूप भाषा–योगवाशिष्ठ के अनेक स्थलों में वर्तमान है, इस बात से हिन्दी गद्य की प्राचीनता सहज ही प्रमाणित हो जाती है। क्या डा० राम बाबू सक्सेना अथवा किसी अन्य विद्वान के पास कोई प्रमाण है जिससे यह समझा जाय कि "भाषा-योग-वाशिष्ठ" से पूर्व, उर्दू-गद्य का निर्माण हो गया था और उसमें से फारसी और अरबी शब्दों को निकाल कर वर्तमान साधु-हिन्दी (High Hindi) का रूप तैयार किया गया ?

फजली की "दहमजलिस", यद्यपि, "भाषा-योग-वाशिष्ठ" से दस साल पुरानी मानी जायगी, किन्तु, उसका गद्य गद्य नहीं है। वह तो गंग के "चन्द छन्द बरनन की महिमा" से भी दुर्बल और अस्तव्यस्त है। असल में, उर्दू काव्य-भाषा के रूप में उठी और कविता में ही उसका परिमार्जन होता रहा। दह-मजलिस में फारसी-मिश्रित गद्य का प्रथम प्रयोग है। इसीलिए, उस पुस्तक की भाषा तुर्की की "रेशमी लूमें" पकड़ कर लंगड़ा-लंगड़ा कर चलती है। इसके विपरीत, भाषा-योग-वाशिष्ठ की भाषा पूर्ण रूप से "शृंखलाबद्ध, साधु और व्यवस्थित" है। यह भी ध्यान देने की बात है कि योगवाशिष्ठ के गद्य में जो प्रौढ़ता है वह राम प्रसाद निरंजनी की आकस्मिक सृष्टि नहीं रही होगी। ऐसी प्रौढ़ता काफी दिनों के अभ्यास और परिमार्जन से ही उत्पन्न हो सकती है। अतएव, इस अनुमान

---

१. पं. रामचन्द्र शुक्ल

से भागना असंभव है कि मुसलमान चाहे जैसी भी भाषा लिखते या बोलते रहे हों, किन्तु, हिन्दुओं के यहां संस्कृतनिष्ठ हिन्दी की परम्परा बराबर चली आ रही थी। उसी हिन्दी का व्यवस्थित और परिपुष्ट रूप हम योगवाशिष्ठ में देखते हैं। यदि जनता की रुचि की बात को लें तो वह इतने से ही प्रत्यक्ष है कि प्रकाश में आते ही योगवाशिष्ठ का प्रचार गांवों में उसी व्यापकता से हो गया जिस व्यापकता से राम-चरित-मानस और सुखसागर का प्रचार हुआ था।

इसी प्रकार, सन् १७६१ ई० में मध्य प्रदेश-निवासी पं. दौलतराम ने रविषेणाचार्य-कृत जैन "पद्मपुराण" का भाषानुवाद किया। इस ग्रन्थ की भाषा योगवाशिष्ठ की भाषा के समान व्यवस्थित तो नहीं है, किन्तु, इससे भी यह बात प्रमाणित होती है कि हिन्दुओं के यहां खड़ी बोली के जिस रूप का प्रचार था, उसमें ब्रजभाषा और अवधी का पुट तो रहता था, किन्तु, फारसी और अरबी के शब्द उसमें नहीं चलते थे।

ग्रामों में प्रचलित तीसरे प्राचीन गद्य-ग्रंथ "सुख-सागर" की रचना मुंशी सदासुख-लाल "नियाज़" ने की थी, जो दिल्ली के रहने वाले थे तथा जिनका जन्म सन् १७४६ ई. तथा मृत्यु सन् १८२४ ई. में हुई। सुखसागर की भाषा भी योगवाशिष्ठ की भाषा के समान ही संस्कृतनिष्ठ एवं व्यवस्था-युक्त है। यथा :—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं ; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए ओर जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि, ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने।"

सुखसागर की रचना अठारहवीं सदी के अन्त में हुई और उन्नीसवीं सदी के आरंभ से ही उसका गांवों में प्रचार होने लगा। क्या कोई कह सकता है कि सुख-सागर की भाषा उर्दू-गद्य में से अरबी-फारसी शब्दों को हटा कर गढ़ी हुई कृत्रिम भाषा है? और अगर है तो उर्दू का वह गद्य कहां है जिसके अनुकरण पर सुखसागर के गद्य का निर्माण हुआ?

दह-मजलिस में, यद्यपि, उर्दू-गद्य का प्रथम प्रयोग है, किन्तु, सभी विद्वान मानते हैं कि यह प्रयोग सफल नहीं हुआ। अर्थात् दह-मजलिस से उर्दू-गद्य का आरंभ नहीं माना जाता है। उर्दू-गद्य का वास्तविक आरंभ फोर्ट-विलियम कालेज की स्थापना (सनृ १८०० ई.) के बाद से होता है, जब कि गिलक्राइस्ट अपने यहां मौलवी रख कर उर्दू की किताबें लिखवाने लगे। किन्तु, "भाषा योगवाशिष्ठ", "पद्मपुराण" और "सुखसागर", हिन्दी गद्य के इन तीन पृथुल एवं बहु-प्रचलित ग्रंथों की रचना उससे बहुत पूर्व ही हो चुकी थी।

यह सत्य है कि हिन्दी गद्य की पुस्तकें लिखवाने को भी फोर्ट विलियम कालेज में पं० लल्लूलाल (गुजराती) और पं० सदलमिश्र (बिहारी) की नियुक्ति की गयी थी, किन्तु, लल्लूलाल ने ब्रजभाषा-सेवित गद्य का निर्माण किया जो शैली हिन्दी में आगे चली नहीं। हां, पं० सदलमिश्र की गद्य-शैली हिन्दी में स्वीकृत अवश्य हुई और वह इसलिए कि सदल-मिश्र के आदर्श रामप्रसाद निरजनी थे। और क्या कोई यह भी कह सकता है कि फोर्ट विलियम में लल्लूलाल और सदल मिश्र उर्दू गद्य में से अरबी और फारसी शब्दों को छांट कर एक नयी भाषा निकालने के काम पर नियुक्त किये गये थे ?

फारसी-निश्रित भाषा (उर्दू या हिन्दुस्तानी) को अंगरेज जरूर चलाना चाहते थे, किन्तु, इसके भी प्रमाण हैं कि उनके अफसर बार-बार यह शिकायत करते थे कि यह भाषा जनता नहीं समझती है। फिर भी, अंगरेज अपने हठ पर डटे रहे क्योंकि राजनीतिक कारणों से यह आवश्यक था। शासकों की देखादेखी, मिशनरियों ने भी, आरंभ में, फारसी-मिश्रित भाषा में अपना प्रचार आरंभ किया, किन्तु, जब उन्होंने देखा कि अपढ़ जनता इस भाषा को खाक नहीं समझती है, तब वे भी अपनी प्रचार-पुस्तिकाओं में संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का प्रयोग करने लगे। क्या इन उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि इस देश की भाषा अरबी-फारसी-मिश्रित थी और साधु हिन्दी बाद को जबर्दस्ती बनायी गयी ?

यदि फोर्ट विलियम के बाद वाले दौर को लें, तब भी, यही दिखायी पड़ता है कि हिन्दी के लेखक रामप्रसाद निरंजनी की शैली को आगे लिये जा रहे हैं। स्वामी दयानन्द (१८२४ से १८८३ ई०), पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी (कार्यकाल सन् १८५३-१८८१ ई०), नवीनचन्द्र राय (कार्यकाल सन १८६३-१८८० ई०) एवं राजा लक्ष्मण सिंह (सन् १८२६-१८६९ ई०) संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के लेखक थे और यह हिन्दी उन्होंने उद्योगपूर्वक गढ़ी नहीं थी, प्रत्युत्, उन्हें वह पूर्व पुरुषों से—रामप्रसाद निरंजनी, दौलत राम और सदासुख-लाल तथा सदल मिश्र, आदि से—सहज उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई थी। इस बीच राजा शिवप्रसाद (१८२३-१८९५ ई०) ही एकमात्र ऐसे लेखक निकले जिन्होंने फारसी और अरबी शब्दों को अपनी भाषा में जबर्दस्ती ठूंस कर अपने को गौरवान्वित[1] एवं अपने महाप्रभुओं को प्रसन्न करना चाहा। किन्तु, उनकी चेष्टा विफल हो गयी। सारे देश में तो उन्हें धिक्कारा ही, इंग्लैंड से पिनकाट नामक एक अंगरेज हिन्दी-भक्त ने भी भारतेंदु को पत्र लिखा कि "राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है। बीस बरस हुए, उसने सोचा कि अंगरेज

---

१. राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द का विश्वास था कि जो भाषा कचहरियों में चलती है, वही "फैशनेबिल" भाषा है एवं उसके शब्दों को अपनाये बिना आदमी प्रतिष्ठा का पात्र नहीं हो सकता।

साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं, उन बातों को प्रचलित करना चतुर लोगों का परम धर्म है। इसलिए, बड़े चाव से उसने काव्य को और अपनी भाषा को भी बिना लाज छोड़ कर, उर्दू के प्रचलित करने में बड़ा उद्योग किया। राजा शिवप्रसाद को अपना ही हित सबसे भारी बात है।"

वास्तव में, यह कहने का कोई आधार नहीं है कि हिन्दी का गद्य नया और उर्दू का गद्य अपेक्षाकृत प्राचीन है। सच्ची बात यह है कि जिस भाषा को अब उर्दू कहते हैं वह मुसलमानों के बीच शायरी में पोषित हो रही थी, किन्तु, उसके प्रभावों से सर्वथा मुक्त संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का विकास हिन्दुओं के यहां स्वयमेव होता आ रहा था। आज हम जिस हिन्दी का व्यवहार करते हैं उसकी अविच्छिन्न धारा कोई ढाई सौ वर्ष से बहती आ रही है। रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, सदासुख लाल, सदल मिश्र, स्वामी दयानन्द और लक्ष्मणसिंह, ये इस धारा के मुख्य प्रकाशस्तंभ हैं। इन में से किसी के भी सामने उर्दू का प्रांजल गद्य मौजूद नहीं था, जिसमें से अरबी-फारसी के शब्दों को निकाल कर उन्हें नयी भाषा गढ़नी पड़ती।

नयी भाषा हिन्दी नहीं, उर्दू है। किन्तु, वह उर्दू नहीं जो वली तक लिखी गयी थी, प्रत्युत्, वह जो उनके बाद के शायरों द्वारा मतरूकात की नीति से सजायी गयी। मत-रूकात और बहिष्कार, ये शब्द ही जहरीले हैं। इनसे सामासिक संस्कृति मारी जाती है और जनता के बीच वैर और दुराव बढ़ता है। अकबर ने जब हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य पर संजीवनी छिड़की, तब रहीम के मुख से ये दोहे निकले थे :—

अच्युत-चरन-तरंगिनी, सिव-सिर-मालति-माल।
हरि न बनाओ सुरसरी, कीजौ इन्दव-भाल।
धूरि धरत गज सीस पर, कहु रहीम केहि काज,
जेहि रज मुनि-पतनी तरी, सो ढूंढ़त गजराज।

किन्तु, साहित्यिकों के हृदय में जब मतरूकात का ज़हर फैला, वे एकता को भूल गये और अपने पड़ोसी भाइयों की भावना का कुछ भी ख्याल किये बिना बड़ी ही सहजता से उन्होंने लिख दिया कि

गर हो कशिशे-शाहे-खुरासान तो "सौदा"।
सिजदा न करूं हिन्द की नापाक ज़मीं पर।

दु:ख की बात यह है कि इससे मिलते-जुलते भाव ढूंढ़ने पर हिन्दी में भी मिल जायंगे। किन्तु, यह उन्माद आगे चलने वाला नहीं है। भारत के दर्जनों उर्दू-शायर आज मतरूकात की नीति से निकल कर अपनी भाषा को भारतीय रूप देने की कोशिश कर रहे हैं। और

उर्दू की बहुत-सी कविताओं में अब फिर वही रंग दमकने लगा है जो उर्दू के जन्म के समय चमका था।[1] यह शुभ लक्षण है और हम इसका स्वागत करते हैं। बिहार के सुप्रसिद्ध उर्दू-कवि अल्लामा जमील मजहरी ने तो अपने कवि-बान्धवों को खुली सलाह ही दी है कि—

कीज न जमील उर्दू का सिंगार अब ईरानी तलमीहों से।
पहनेगी विदेशी गहने क्यों यह बेटी भारत माता की ?

---

१. तुझे चांद की है अगर लगन तो सुखी के बदले दुखी न बन।
वो छटा गहन वो छटा गहन, वो छटा गहन, वो छटा गहन।
—जोश मलीहाबादी।

युद्ध की अग्नी की लपटों से जीवन की जूही कुम्हलाये,
लय की डोरी टूट रही है, गाये तो भौंरा कैसे गाये ?
—राही मासूम रजा।

जब भी रात को बादल बरसे, हमको ध्यान में लाकर, इतना
रोओ कि आंखों का काजल बह कर सुन्दर गाल भिगो दे।
—मुनीर नियाजी

भारत माता है दुखियारी, दुखियारे हैं सब नर-नारी,
तू ही उठा ले सुन्दर मुरली, तू ही बन जा श्याम मुरारी।
—हफ़ीज जालन्धरी

तू सच्चा मोती, मैं हीरा, फिरा जो बरसों हातों हात,
तू ऊषा की पहली किरन है और मैं जैसे भींगी रात।
—अख़तरुल ईमान

अमर ज्योति ये कूक है तेरी, अमृत की है धार
मधुर बोल से तेरी गूंजे बस्ती और कोहसार।
—अख़तर उरैनवी

साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं, उन बातों को प्रचलित करना चतुर लोगों का परम धर्म है। इसलिए, बड़े चाव से उसने काव्य को और अपनी भाषा को भी बिना लाज छोड़ कर, उर्दू के प्रचलित करने में बड़ा उद्योग किया। राजा शिवप्रसाद को अपना ही हित सबसे भारी बात है।"

वास्तव में, यह कहने का कोई आधार नहीं है कि हिन्दी का गद्य नया और उर्दू का गद्य अपेक्षाकृत प्राचीन है। सच्ची बात यह है कि जिस भाषा को अब उर्दू कहते हैं वह मुसलमानों के बीच शायरी में पोषित हो रही थी, किन्तु, उसके प्रभावों से सर्वथा मुक्त संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का विकास हिन्दओं के यहां स्वयमेव होता आ रहा था। आज हम जिस हिन्दी का व्यवहार करते हैं उसकी अविच्छिन्न धारा कोई ढाई सौ वर्ष से बहती आ रही है। रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, सदासुख लाल, सदल मिश्र, स्वामी दयानन्द और लक्ष्मणसिंह, ये इस धारा के मुख्य प्रकाशस्तंभ हैं। इन में से किसी के भी सामने उर्दू का प्रांजल गद्य मौजूद नहीं था, जिसमें से अरबी-फारसी के शब्दों को निकाल कर उन्हें नयी भाषा गढ़नी पड़ती।

नयी भाषा हिन्दी नहीं, उर्दू है। किन्तु, वह उर्दू नहीं जो वली तक लिखी गयी थी, प्रत्युत्, वह जो उनके बाद के शायरों द्वारा मतरूकात की नीति से सजायी गयी। मतरूकात और बहिष्कार, ये शब्द ही जहरीले हैं। इनसे सामासिक संस्कृति मारी जाती है और जनता के बीच वैर और दुराव बढ़ता है। अकबर ने जब हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य पर संजीवनी छिड़की, तब रहीम के मुख से ये दोहे निकले थे :—

> अच्युत-चरन-तरंगिनी, सिव-सिर-मालति-माल।
> हरि न बनाओ सुरसरी, कीजौ इन्दव-भाल।
> धूरि धरत गज सीस पर, कहु रहीम केहि काज,
> जेहि रज मुनि-पतनी तरी, सो ढूंढ़त गजराज।

किन्तु, साहित्यिकों के हृदय में जब मतरूकात का ज़हर फैला, वे एकता को भूल गये और अपने पड़ोसी भाइयों की भावना का कुछ भी ख्याल किये बिना बड़ी ही सहजता से उन्होंने लिख दिया कि

> गर हो कशिशे-शाहे-खुरासान तो "सौदा"।
> सिजदा न करूं हिन्द की नापाक ज़मीं पर।

दु:ख की बात यह है कि इससे मिलते-जुलते भाव ढूंढ़ने पर हिन्दी में भी मिल जायंगे। किन्तु, यह उन्माद आगे चलने वाला नहीं है। भारत के दर्जनों उर्दू-शायर आज मतरूकात की नीति से निकल कर अपनी भाषा को भारतीय रूप देने की कोशिश कर रहे हैं। और

उर्दू की बहुत-सी कविताओं में अब फिर वही रंग दमकने लगा है जो उर्दू के जन्म के समय चमका था।[1] यह शुभ लक्षण है और हम इसका स्वागत करते हैं। बिहार के सुप्रसिद्ध उर्दू-कवि अल्लामा जमील मजहरी ने तो अपने कवि-बान्धवों को खुली सलाह ही दी है कि—

कीज न जमील उर्दू का सिंगार अब ईरानी तलमीहों से।
पहनेगी विदेशी गहने क्यों यह बेटी भारत माता की ?

---

१. तुझे चांद की है अगर लगन तो सुखी के बदले दुखी न बन।
वो छटा गहन वो छटा गहन, वो छटा गहन, वो छटा गहन।
—जोश मलीहाबादी।

युद्ध की अग्नी की लपटों से जीवन की जूही कुम्हलाये,
लय की डोरी टूट रही है, गाये तो भौंरा कैसे गाये ?
—राही मासूम रजा।

जब भी रात को बादल बरसे, हमको ध्यान में लाकर, इतना
रोओ कि आंखों का काजल बह कर सुन्दर गाल भिगो दे।
—मुनीर नियाजी

भारत माता है दुखियारी, दुखियारे हैं सब नर-नारी,
तू ही उठा ले सुन्दर मुरली, तू ही बन जा श्याम मुरारी।
—हफ़ीज जालन्धरी

तू सच्चा मोती, मैं हीरा, फिरा जो बरसों हातों हात,
तू ऊषा की पहली किरन है और मैं जैसे भीगी रात।
—अख्तरुल ईमान

अमर ज्योति ये कूक है तेरी, अमृत की है धार
मधुर बोल से तेरी गूंजे बस्ती और कोहसार।
—अख्तर उरैनवी

मुस्लिम-काल में सामासिक संस्कृति का स्वरूप

पठानों और मोगलों का भारत में आगमन व्यापार करने अथवा उपनिवेश बसानेवाले विदेशियों के रूप में नहीं हुआ था। वे यहां बसने को आये थे। अतएव, जब वे इस देश में बस गये, उन्होंने, एक हद तक, इसे अपना ही देश मान लिया। भारत को अपना देश पहले की भी कुछ विदेशी जातियों ने माना था, किन्तु,उनके और मुसलमानों के बीच एक भारी भेद था। शक और हूण भारत में कभी वह राजनीतिक प्रबलता प्राप्त नहीं कर सके थे, जो प्रबलता मुसलमानों ने प्राप्त की। इस देश पर मुसलमानों का राज, प्रायः, छह सौ वर्षों तक रहा था। इसलिए, शक और हूण धीरे धीरे हिन्दुत्व में समा गये, किन्तु, मुसलमान हिन्दुत्व से अलग बने रहे। एक तो वे देश के शासक थे और शासितों के झुण्ड में उनके विलीन होने की बात ही नहीं उठती थी। दूसरे, हिन्दुत्व की पाचन-शक्ति भी अब बहुत खराब हो चुकी थी। इससे भी वह मुसलमानों को अपने भीतर नहीं पचा सका। यदि ऐसा होता कि बहु-संख्यक हिन्दू मुसलमान हो जाते तो, शायद, हिन्दुओं और मुसलमानों का अन्तर बिल्कुल न्यून हो जाता। किन्तु, कई बादशाहों के बहुत उत्साह दिखाने पर भी, अधिक हिन्दू मुसलमान नहीं हुए। परिणाम यह हुआ कि भारत हिन्दुओं का देश रह गया और मुसलमान उसमें अल्पसंख्यक के रूप में रहने लगे।

मुसलमानों के आगमन के पूर्व, भारत में एक प्रकार की सांस्कृतिक एकता कायम थी। धर्म, रीति-रिवाज, भाषाएं और संस्कृतियां तो तब भी अनेक थीं, किन्तु, सब लोगों के हिन्दू होने के कारण, ये विविधताएं एक ही भाषा की अनेक बोलियों के समान एक-दूसरी के समीप थीं, एक दूसरी से गुंथी हुई थीं। किन्तु, मुस्लिम-धर्म के आगमन से भारत में संस्कृति की दो धाराएं बहने लगीं। ये दोनों धाराएं समानान्तर रूप से चलती हैं। जगह-जगह पर वे एक दूसरी का स्पर्श और आलिंगन भी करती हैं, किन्तु, वे मिल कर एक नहीं हो पातीं। सामासिक संस्कृति के द्वारा इन्हें एक करने का प्रयास किया जा रहा है।

जब तक मोगल-साम्राज्य उन्नति के शिखर पर अवस्थित रहा, बहुसंख्यक हिन्दू-अल्प-संख्यक मुसलमानों की अधीनता में जीते रहे और देश में हिन्दू-मुस्लिम-संबंध के बारे में वह चिन्ता ही नहीं उठी जो उन्नीसवीं सदी के बाद उठनेवाली थी। किन्तु, जभी मुसलमानों के हाथ से सल्तनत निकलने लगी, उनमें एक प्रकार की घबराहट का भाव जगने लगा। मुसलमान, यद्यपि, अरब और ईरान से चले आये थे, फिर भी, उनकी भक्ति अरब और ईरान से छूटी नहीं थी। मुसलमानी शासन के समय भी, अरब और ईरान से नये

मुसलमान यहां आते रहते थे और उनकी इज्जत इस देश में उन लोगों से अधिक होती थी जिनके बाप-दादे ईरानी नहीं, प्रत्युत्, भारतीय थे। इस्लाम-धर्म की भाषा और संस्कृति अरबी और ईरानी थी, अतएव, मुसलमान होते ही अरब और ईरान की ओर देखने लगना हर व्यक्ति अपना धर्म समझता था। संस्कृति और तहज़ीब के क्षेत्र में, उन दिनों एशिया में ईरान का लगभग वैसा ही आदरणीय स्थान था, जैसा स्थान अब यूरोप में फ्रांस का है। कुछ इस कारण भी, संसार भर के मुसलमान ईरान से अपनी सांस्कृतिक प्रेरणा लेते थे। लेकिन, और देशों में तो नहीं, किन्तु, भारत में मुसलमानों की यह अरब और ईरान-प्रियता रहस्यात्मक हो गयी। जब से मोगल-राज्य टूटा, भारत के मुसलमान, एक प्रकार की आध्यात्मिक पस्ती में पड़कर, अरब और ईरान की ओर एक विचित्र आशा और प्रेम से देखते रहे हैं।

हिन्दू और मुसलमान घुल-मिल कर एक तो नहीं हो सके, फिर भी, दोनों जातियों की बहुत-सी बातें एक हो गयीं। प्रहार और बचाव के काम शिक्षितों एवं पंडितों में ही चला करते हैं। बाकी जनता आपस में मित्रता का नाता आसानी से पैदा कर लेती है। वह नाता हिन्दू और मुस्लिम जनता के बीच, स्वभावतः ही, जुट गया तथा शहरों की अपेक्षा गांवों के लोग इस एकता के तार में अधिक स्वाभाविकता से बंध गये। दुर्भाग्य की बात यह रही कि शिष्ट और सुसंस्कृत मुसलमान गांवों में कम, नगरों में बहुत अधिक रहते थे। सच पूछिये तो मुस्लिम-संस्कृति के केन्द्र भारत के नगर ही थे। अतएव, गांवों की एकता का प्रभाव नगरों पर नहीं पड़ सका।

हिन्दुओं के बीच अंधविश्वास और रूढ़ियां बहुत अधिक प्रचलित थीं। इनके प्रभाव से मुस्लिम-समाज में भी कुछ रूढ़ियां उत्पन्न हो गयीं और हिन्दुओं की देखादेखी, मुसलमान जनता भी गजनी मियां, पांच पीर, पीर बदर, ख्वाजा खिजिर आदि कल्पित देवताओं की पूजा करने लगी। मुसलमानों के ये पीर, अक्सर, ग्राम-देवता बन बैठे और हिन्दू-मुस्लिम, सब, दरगाह पर माथा टेकने लगे। दशहरा और रथयात्रा उत्सवों के अनु-करण पर, मुहर्रम में ताजिये निकाले जाने लगे एवं ताजियों में हिन्दू और मुसलमान बिना किसी भेद-भाव के सम्मिलित होने लगे। ताजियों के पीछे चूंकि हजरत अली के बेटे हजरत इमाम हुसेन की याद थी और हजरत अली बल के आगार थे, इसलिए, ताजियों की संरक्षकता गांवों के नामी पहलवान करते थे जिन में बहुधा हिन्दू पहलवानों की भी गिनती होती थी। अखाड़ों में जैसे हिन्दू "जय महावीर" का नारा लगाते थे, वैसे ही, ताजियों के जुलूसों में सभी हिन्दू उल्लास के साथ "या अली" पुकारते थे। हिन्दू मुसलमान का छुआ हुआ नहीं खाते थे, फिर भी, दोनों जातियों के लोग भोजभात में भी सम्मिलित होने लगे और एक घर से दूसरे घर में मिठाइयों के उपहार भी भेजे जाने लगे।

रमल फेंक कर सगुन विचारने की प्रथा अरब में भी थी, किन्तु, यह प्रथा इस्लाम में अच्छी नहीं समझी जाती थी। भारत में बसने के बाद, मुसलमान हिन्दुओं के समान ही सगुन में विश्वास करने लगे। सौभाग्यवती मुस्लिम स्त्रियां भी मांग में सिन्दूर लगाने तथा नाक में नथ और हाथ में शंख की चूड़ियां पहनने लगीं। विवाह के अवसर पर सोहागपुरा ले चलने की प्रथा भी मुसलमानों के यहां हिन्दुओं की देखादेखी चली है। हिन्दू जैसे श्राद्ध करते हैं, कुछ उसी प्रकार, मुसलमान भी मृत व्यक्तियों के नाम पर भोज करने और खैरात बांटने लगे। हिन्दुओं की जाति-प्रथा ने भी मुस्लिम-समाज को प्रभावित किया और मुसलमान भी शरीफ और रज़ील जातों का भेद करने लगे एवं जुलाहों और धुनियों के साथ शरीफ़ जातवालों को खानेपीने में आपत्ति होने लगी। बिहार में छोटी जात के मुसलमान भी छठ का व्रत (सूर्य-पूजा) रखने लगे और बंगाल में वे शीतला-माता की पूजा करने लगे। सच पूछिये तो हिन्दुत्व के दर्शन-पक्ष का प्रभाव इस्लाम पर उतना ही रहा जितना सूफी-मत पर पड़ चुका था। बाकी बातों में हिन्दू-समाज की रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का ही प्रभाव मुस्लिम-समाज पर पड़ा और वह इस कारण कि मुसलमान तो, प्रायः, छोटे हिन्दू ही हुए थे जो बड़े हिन्दुओं के नैतिक रोब-दाब में थे। ये बेचारे इस्लाम में दीक्षित होने पर भी, अपने पैतृक समाज की कुरीतियों को नहीं छोड़ सके।

हिन्दुओं ने मुसलमानों को जातिवाद का जहर पिलाया, बदले में मुसलमानों ने हिन्दुओं को परदे का शाप दिया। हिन्दुओं की देखादेखी, मुसलमानों में भी ऊंच-नीच का भेद चलने लगा एवं यह प्रथा प्रचलित हो गयी कि सैयद शेख की बेटी ले सकता है, किन्तु, शेख सैयद की बेटी से ब्याह नहीं कर सकता। परदे की चाल प्राचीन विश्व की कई जातियों में थी। महाभारत में द्रौपदी की कथा से परदे की थोड़ी-बहुत झलक जरूर मिलती है और यह प्रथा सिद्ध-साधुओं के युग में भी बढ़ी। किन्तु, इसकी कट्टरता मुसलमानों के समय में बढ़ी, क्योंकि एक तो मुसलमानों में परदे का रिवाज था (रजिया बेगम दरबार में भी परदे में बैठती थी)। दूसरे, हिन्दू गृहस्थ अपनी बहू-बेटियों को भय से भी छिपा कर रखना चाहते थे। हिन्दुओं में परदे की प्रथा पठानों के कारण बढ़ी और पठान मोगलों के आने के बाद, परदे को और भी कड़ा करने लगे।

स्नान की आदत मुसलमानों ने हिन्दुओं से ली। पर्व-त्योहार में भी शबे-बरात, शायद, शिवरात्रि से प्रभावित पर्व है। ऊंचे तबके के हिन्दुओं ने मुसलमानी खान-पान और पोशाकें खुशी-खुशी अपना लीं। बाकी तबकों में भी, हिन्दुओं की पगड़ी मुसलमानों ने और मसलमानों की अचकन हिन्दुओं ने अपना ली। पुलाव और बिरियानी पकाने का रिवाज़ भारत में मध्य-पूर्वी एशिया से आया और हुक्के का रिवाज़ यहां इसलिए चला कि

पुर्तगाली लोगों ने मुसलमानों के समय में ही भारत में तम्बाकू का प्रचार किया था। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो समान रीति-रिवाज और आदतें प्रचलित हैं, उनकी काफी लंबी सूची राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, "खंडित-भारत" में दी है।

हिन्दुओं के बीच साधु हिन्दी की परम्परा मुसलमानों के समय भी चालू थी एवं ग्रन्थों की टीका, संतों और पंडितों के उपदेश तथा ग्रन्थ-रचना के काम इसी संस्कृत-निष्ठ-भाषा में चलते थे। मुसलमानों के समय संस्कृत टोल भी काफी थे। फिर भी, राजकीय कारणों से, दरबारदारी और नौकरी के प्रभाव से, फारसी की इज़्ज़त बहुत बढ़ी हुई थी एवं हिन्दू भी उसके रोब में थे। मुस्लिम-काल में, प्रायः, हर भले आदमी का विश्वास था कि फारसी सीखे बिना बच्चों में "तमीज़" नहीं आती है। इसलिए, खाने-पीने से अच्छे लोग अपने दरवाजे पर मौलवी रखा करते थे। बहुत जगहों पर तो यह रिवाज था कि संस्कृत के साथ-साथ बच्चों को फारसी भी पढ़ायी जाती थी।

फारसी का यही प्रभाव आगे चलकर उत्तर भारत में एकता का बाधक हुआ। अंगरेजों के आने के समय, इस देश की राज्यभाषा फारसी थी, अतएव, यह स्वाभाविक था कि अंगरेज भी फारसी को ही चलायें। किन्तु, जब अंगरेजों ने अंगरेजी को यहां की राज्यभाषा बना दिया, तब भी वे (अब केवल मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए) फारसी और उर्दू के पक्षपानी बने ही रहे। इधर हिन्दुओं ने उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक जागरण के समय, अपनी खोयी हुई सांस्कृतिक सत्ता पुनः प्राप्त कर ली थी और वे उसी साधु हिन्दी को सर्वत्र चलाने की मांग करने लगे जिसे मुस्लिम-काल में खुल कर फैलने की राह नहीं मिली थी। इससे एक स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसमें मुसलमान कहने लगे कि हिन्दी नकली भाषा है तथा, वास्तव में, भारत की भाषा फारसी-मिश्रित भाषा ही हो सकती है।

इस्लाम का प्रभाव अमीरों की पोशाक और खानपान पर भी पड़ा तथा रहन-सहन एवं लिबास में ऊंचे तबके के हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई फर्क नहीं रह गया। मोगल अमीरों ने बहुत-सी बातें हिन्दुओं की अपना लीं। इसी प्रकार, हिन्दू अमीर भी बहुत-सी बातों में मुसलमानी ढंग अपनाने लगे।

संगीत इस्लाम में विवर्जित था, किन्तु, सूफी तब भी संगीत के बड़े प्रेमी थे, बल्कि, यह कहना चाहिए कि सूफियों के यहां संगीत साधना का एक अंग समझा जाता था। भारतीय ध्रुपद का प्रभाव ईरानी संगीत पर पड़ा और भारतीय एवं ईरानी संगीत के मिलन से नयी-नयी चीजें निकल पड़ीं। ख्याल का आविष्कार पोलपुर-निवासी सुलतान

हुसेन शाह शर्की ने किया था एवं कौव्वाली भी इसी समन्वय की प्रक्रिया से निकली ।[१] कौव्वाली का आरम्भ और प्रचार धार्मिक संगीत के रूप में हुआ, यद्यपि, मस्जिदों में कौव्वाली भी नहीं पहुंच सकी । बाजों में रबाब, सरोद, दिलरुबा और ताऊस ऐसे हैं जो, शायद, मुसलमानों के लाये हुए हैं अथवा इनके ये नाम मुसलमानों के दिये हुए हैं । अमीर खुसरो के बारे में कहा जाता है कि वीणा को देख कर सितार का आविष्कार उसीने किया था तथा मृदंग से तबले भी उसी ने निकाले थे । कई धातुओं से रसायन बनाने का रिवाज मुस्लिम-आगमन के बाद विकसित हुआ । कागज बनाना और कलई करना भी यहां मुसलमानों ने आरंभ किया । पत्थर, चांदी और सोने पर मीनाकारी के काम, जामदानी, कलाबत्तू जरदोजी, किमखाब और जामेवार भी मुस्लिम-काल में ही चले ।

गणित, ज्योतिष और वैद्यक में हिन्दू बहुत उन्नति किये हुए थे एवं, इन विद्याओं का ज्ञान इस्लाम के भारत-आगमन के पूर्व ही, अरब पहुंच चुका था । अरबवाले, बाद को कुछ ज्ञान यूनान से भी लाये एवं इन दोनों को मिलाकर उन्होंने भी इन विद्याओं में अच्छी प्रगति की थी । जब मुसलमान भारत आये, उनका यह सामामिक ज्ञान भारत को भी प्राप्त हुआ । ज्योतिष के कुछ पारिभाषिक शब्द, इस प्रकार, इस्लाम की देन हैं । हमारी देशान्तर और अक्षांश रेखाएं गिनने की प्रणाली भी मुसलमानों से ली हुई है । जन्मपत्री बनाने की ताजक-पद्धति भी यहां मुसलमानों के आगमन के बाद चालू हुई । ज्योतिष की अरबी पद्धति के आने के बाद ही, महाराज जयसिंह ने हिन्दू-पंचांग का सुधार किया और जयपुर, मथुरा, दिल्ली तथा काशी में वेधशालाएं बनवायीं ।

ज्योतिष पर विदेशी प्रभाव इसलिए पड़ा कि भारत में इस विद्या का व्यवसाय अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहा है । राजाओं और धनियों को बराबर ग्रहशांति करवाने अथवा अपना भविष्य जंचवाने की उत्सुकता रहती थी और इस उत्सुकता का अनुकूल फल पंडितों को प्राप्त होता था । इसलिए, राजे जब जिस भाषा के प्रेमी हुए, तब यहां के ज्योतिषियों ने उस भाषा का थोड़ा-बहुत सहारा लिया । यूनानियों के आगमन के बाद, भारतीय ज्योतिष में रोमकशास्त्र लिखा गया जिसके नाम में ही रोमन या यूनानी शब्द मौजूद है । कहते हैं, होरा-चक्र की पद्धति भी यूनान से ही यहां आयी थी । जब शासन मुसलमानों का हुआ, तब अरब का प्रभाव भारतीय ज्योतिष पर पड़ना स्वभाविक हो गया । ताजक-शास्त्र वर्षफल, मासफल आदि बताने की अरबी पद्धति है और इस शास्त्र के बीस-पच्चीस ग्रंथ अपने यहां लिखे गये । इसी प्रकार, अरबों के बीच रमल फेंक कर सगुन विचारने की जो प्रथा थी वह भी भारत पहुंची और रमल-शास्त्र पर भी यहां काफी पुस्तकें लिखी गयीं । ताजक-शास्त्र की पुतकों में जो श्लोक मिलते हैं उनमें

---

१. दे० लिगेसी ऑव इंडिया में अब्दुल कादिर का लेख ।

अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग खुल कर किया गया है।

स्यादिक्कबालः इशराफयोगः

* * *

खल्लासरम् रद्दमुथोबुफालिः

कुत्थम् तदुत्थोथदिवीरनामा।[1] —इत्यादि

यूनानी संपर्क के समय होरा, कौर्प्य, जूक, लेय, हेलि आदि दर्जनों यूनानी शब्द थे जिनका रूप भी संस्कृतवत् हो गया था। कितने ही अरबी और फारसी शब्द भी संस्कृत के हो गये। एक श्लोक में तारीख शब्द का ऐसा प्रयोग है मानों वह पाणिनि का ही शब्द हो। सुलतान शब्द का "सुरत्राण" रूप मुसलमान बादशाहों के सिक्कों पर भी पाया गया है।

सिद्धों के समय से भारत में जो निराकारवादी संप्रदाय पनपते आ रहे थे उनके बहुत-से सदस्य तो मुसलमान हो गये और बहुत ऐसी जगहों पर रह गये जो हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों से नजदीक थीं। बंगाल के बाउल ऐसे ही संप्रदायों के यादगार हैं। अजमेर में कुछ लोग अपने को हुसैनी ब्राह्मण कहते हैं। ये न तो कट्टर हिन्दू हैं और न कट्टर मुसलमान। राजपुताने और आगरा जिले के मलकाना राजपूत मुसलमान हैं, मगर, वे हिन्दू के समान रहते हैं, राम-नाम जपते हैं और दरगाहों पर भी जाते हैं। गुजरात के खोजा-संप्रदाय पर वैष्णव धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा था। वल्लभाचार्यी वैष्णवों के समान, खोजा लोग भी अपने को गुरु का परम दास मानते हैं एवं गुरु को वे साक्षात् कृष्ण का अवतार समझते हैं। इनके बहुत-से रीति-रिवाज हिन्दुओं के-से थे। किन्तु, इधर वे भी कट्टरता की ओर लौट रहे हैं। बंगाल के बाउल घरों में तो मुसलमानों की तरह रहते हैं, किन्तु, वे न तो कट्टर हिन्दू हैं और न कट्टर मुसलमान।

बंगाल में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के बीच जो मिश्रण हुआ उसका एक प्रमाण सत्यपीर की पूजा भी मानी जा सकती है। यह पूजा हुसैन शाह के समय प्रवर्तित हुई एवं सत्यनारायण की पूजा इसका मूल स्रोत थी। विशेषता यह हुई है कि सत्य-पीर का पूजन करने एवं उनका माहात्म्य सुनने को हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जातियों के लोग जमा होते थे। बंगाल में रमाई पंडित ने एक शून्यपुराण भी लिखा (१४ वीं सदी) जिसमें कहा गया है कि ब्राह्मणों से सतधर्मी जब बहुत पीड़ित होने लगे, तब उनकी रक्षा के लिए धर्म ने ही मुसलमानी रूप धारण किया और सभी देवता पैजामा पहन-पहन कर ब्राह्मणों को मारने के लिए आ गये।

हिन्दू-धर्म की विशेषता यह है कि वह बाहर से आई हुई संस्कृतियों से मिलकर

१. पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी-कृत 'हमारी साहित्यिक समस्या' से।

जाग्रत और नवीन हो जाता है। इस दृष्टि से देखने पर, इस्लाम से हिन्दुत्व का मिलन अनेक अंशों में मंगलकारी हुआ। इस्लाम के आगमन के बाद, भारत की राष्ट्रीय एकता में वृद्धि हुई एवं जनता को मोगलों के समय सुदृढ़ केंद्रीय सत्ता के आश्रय में शांति और सु-व्यवस्था का सुख मिला। सांपत्तिक दृष्टि से भी, मोगलों का राज्यकाल भारत के लिए सुवर्णकाल के समान रहा। और सांस्कृतिक दृष्टि से तो इस काल का और भी महत्व है। हमारी सारी देश-भाषाएं इसी काल में उठकर खड़ी हुई एवं जिस प्राचीन साहित्य का अभिमान ये भाषाएं करती हैं उसका अधिकांश इसी काल में लिखा गया। भारत की मृतप्राय कला इसी युग में आकर पुनरुज्जीवित हुई। किन्तु, सबसे बड़ी बात यह हुई कि बुद्धदेव ने बृहत् मानवता का जो आन्दोलन चलाया था, वह इस काल के संतों और सुधारकों के प्रचार से और भी पुष्ट हो गया।

मोगलों के पतन के समय, ऊंचे तबके के लोग विलासी, अकर्मण्य और सदाचारी अवश्य हो गये थे, किन्तु, निर्गुनियां संतों की परम्परा तब भी अपना काम करती रही और निचले तबकों की जनता के सामने जीवन का पवित्र आदर्श तब भी कायम रहा। राम-लीला, रासलीला और उस में सम्मिलित होनेवाली जनता अंधविश्वासी भले रही हो, किन्तु, अमीरों के दरबारों में जो पतनशीलता आ गई थी उससे निम्न जनता का वर्ग बेदाग बच गया। इस काल में लालदासी, नारायणदासी और सतनामी संप्रदाय जनता को जाग्रत रखने का काम करते रहे। धरणीदास, चरणदास और उनकी शिष्याएं सहजोबाई और दयाबाई ने भी इस परम्परा को आगे बढ़ाया। १९वीं सदी में भी इस परम्परा के सन्त दूलनदास, भीखादास और पलटूदास हुए। इनके चेले गृहस्थ और, साधारणतः, सदाचारी होते थे। इनकी बानियों में चिन्तन की गहराई नाम को भी नहीं है। ये केवल बानियों के द्वारा नैतिक मूल्यों का प्रचार करते थे। फिर भी, ऊंचे ज्ञान के लिए इन्होंने जनता में सात्विक तृषा को जगाये रखा तथा, इस प्रकार, आगे आनेवाले संतों——दायानन्द और रामकृष्ण परमहंस——के लिए इन्होंने जमीन तैयार रखी।

मुसलमानों की राजसत्ता ज्यों-ज्यों हिलती गयी, त्यों-त्यों उनका स्वभाव भी कोमल होता गया एवं हिन्दुओं के हृदय का भय भी निकलता गया। इससे, इस काल में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना, जनता के धरातल पर, आपसे आप पुष्ट होती गई। राज्य-सत्ता से अलग रहने वाले हिन्दू और मुसलमान आपस में इस काल में जितना समीप आये उतना पहले कभी नहीं आये थे।

किन्तु, इस काल में ऊपर वाले तबकों के हिन्दुओं और मुसलमानों में सड़ांध समा गयी थी एवं दिनोंदिन वे खोखले होते जाते थे। एक ओर, वे विलास में मग्न थे, दूसरी

ओर, देश की छाती पर यूरोप की दो-तीन जातियां हड़कम्प मचा रही थीं। मुसलमानों के आगमन के समय, हिन्दुओं की जैसी दयनीय स्थिति थी, मोगल-राज्य की समाप्ति के समय, मुसलमान भी बहुत-कुछ वैसी ही स्थिति में आ गए थे। शराब, इश्क और गजलों की खुमार से देश तंद्रा में झूम रहा था कि इतने में पलासी के मैदान में क्लाइव की तोपें गरज उठीं। यह गर्जन, असल में, एक नये युग की पुकार थी जिसका विवरण हम आगे के अध्याय में पढ़ेंगे।

चौथा अध्याय

(भारतीय संस्कृति और यूरोप)

भारत में यूरोप का आगमन

पुर्तगाल

बहुत प्राचीन काल में भी, रोम और भारत एक-दूसरे से अपरिचित नहीं थे। सिकन्दर के समय में (ई. पू. चौथी सदी) यूरोप में भारत का नाम काफी प्रसिद्ध था। लोग जानते थे कि भारत धन और ज्ञान, दोनों का आगार है। इसी प्रसिद्धि ने सिकन्दर को भारत की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी थी। और सिकन्दर की चढ़ाई के बाद तो, भारत और यूरोप का सम्बन्ध और भी गहरा हो गया। दोनों देशों में विद्वान् आते-जाते थे, और दोनों देशों के बीच व्यापार सीधे होता था। उस समय, दर्जनों यूनानी शब्द भारत पहुंचे और संस्कृत भाषा में ग्रहीत हो गये। आज 'केन्द्र' शब्द को देखकर किसी को भ्रम भी नहीं होता है, कि यह विदेशी शब्द होगा। किन्तु, तथ्य यह है कि यह, मूलतः यूनानी शब्द (कैंटर) से निकल कर संस्कृत में आ मिला है। इसी प्रकार हमारे ज्योतिष के रोमक-शास्त्र और पौलिश-शास्त्र भी यूनान के ज्योतिष से आये हैं। किन्तु, जब यूरोप और भारत के बीच के देशों में मुस्लिम-साम्राज्य स्थापित हो गया, तब रोम और भारत के बीच का सीधा सम्बन्ध टूट गया एवं व्यापार के मामले में अरब के मूर और दूसरे मुसलमान भारत और यूरोप के बीचवान हो गये। भारत का माल भारतीय एवं मुस्लिम व्यापारियों के द्वारा अरब और मिश्र तक जाने लगा और इटली तथा वेनिस के व्यापारी मिश्र से यूरोप तक का व्यापार करने लगे। भारत में रूढ़ियां बढ़ने लगीं और यह माना जाने लगा कि जिन देशों में आर्य नहीं बसते वहां जाना पाप है। इस प्रकार भारतवासियों की सांस्कारिक जकड़बन्दी का प्रभाव उनके व्यापार पर भी पड़ा और वे सारी दुनिया को भूल कर केवल अपने देश के आदमी रह गये।

इस बीच, यूरोप वाले भी भारत का भौगोलिक पता भूल गये, यद्यपि, यह बात उन्हें भली भान्ति याद थी कि यूरोप से पूर्व, भारत नाम का कोई देश है जहां कोई पहुंच जाए तो वह सोने से अपनी नाव भरकर लौट सकता है। सन् १४९२ ई. में, कोलंबस नामक स्पेन का व्यापारी भारत का पता लगाने को समुद्र की राह से निकला, पर भटकता-भटकता अमेरिका पहुंच गया। कुछ साल तक यूरोप अमेरिका को ही भारत मानता रहा, किन्तु कुछ लोगों को यह शंका भी बनी रही कि असली भारत का अभी पता नहीं लगा है। तब सन् १४९८ ई. में पुर्तगाल का एक नाविक, वास्को-डि-गामा अपनी नावों का बेड़ा लिये, सचमुच ही, भारत आ पहुंचा और कालीकट में समुद्र के किनारे उसकी नाव २७ या २८ मई को लगी। कहते हैं, वास्को-डि-गामा का मार्ग-प्रदर्शक कोई अरबी मुलसमान था,* जिसने उसे सीधे

*रत्नस्वामी ने (इंडिया फ्राम द डान) में लिखा है कि यह मार्ग-प्रदर्शक गुजराती था।

भारतवर्ष पहुँचा दिया। पहली शती में, भारत के व्यापारी इटली केवल १६ सप्ताहों में पहुंच जाते थे, किन्तु वास्को-डि-गामा को लिस्बन से भारत पहुंचने में कोई ग्यारह महीने लगे थे। कालीकट में वास्को-डि-गामा से जमोरिन ने जब यह पूछा कि 'कहां आये हो ?' तब उसने कहा, 'ईसाइयों और मसालों की खोज में।' सत्य ही, यूरोप वाले भारत की ओर दो कारणों से प्रवृत्त हो रहे थे। एक तो ईसाइयत का प्रचार करने को, दूसरे व्यापार द्वारा धन बटोरने को।

कालीकट का राजा वास्को-डि-गामा से मिलकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने पुर्तगाल के राजा को पत्र लिखा कि अब से हम और तुम मित्र हैं और हम दोनों के देशों के बीच, खुलकर व्यापार चलना चाहिए। लेकिन, पुर्तगाल के राजा ने, जवाब में, कालीकट को अपना उपनिवेश मान लिया और यह हुक्म देकर पुर्तगाल से एक बड़ा-सा बेड़ा भारत भेज दिया कि उस देश में ईसाइयत का प्रचार करो और, जहां जरूरत हो, वहां युद्ध भी।

मालाबार-तट के सरदार व्यापार चाहते थे, इसलिए, उन्हें पुर्तगालियों का आना अच्छा लगा, किन्तु, गुजरात के सुलतान महमूद बेगड़ा को नवागन्तुकों के आगमन में खतरे की घंटी सुनाई पड़ी। विशेषतः, उसे यह चिन्ता हुई कि इन पुर्तगालियों को हिन्द-महासागर पर आधिपत्य न मिल जाय। अतएव उसने समुद्र में उनके साथ कई लड़ाइयां लड़ीं। लेकिन, अन्ततोगत्वा, इन लड़ाइयों का कोई परिणाम नहीं निकला और पुर्तगाली लोग गोआ में अपना किला बनाने में (सन् १५१० ई.) सफल हो गये।

भारतवर्ष की कमजोरी यह थी कि इस देश के राजे नावों और जहाजों के महत्त्व को नहीं जानते थे। सच तो यह है कि समुद्र भी राज्य का अंग होता है, इस बात पर यहां के राजाओं का ध्यान ही नहीं था। अतएव, पुर्तगाली लोग पानी पर अपना अधिकार बढ़ाते गए और बहुत शीघ्र इस अवस्था पर पहुँच गए कि उनका हुक्म लिये बिना समुद्र में कोई अपनी नाव ही नहीं भेज सकता था। कहते हैं, कि अकबर को भी अपनी नाव लाल सागर की ओर भेजने के पूर्व, पुर्तगालियों से परवाना लेना पड़ता था।

पुर्तगालियों को यह विजय कैसे मिली, कैसे वे इस्लाम के द्वारा शासित देश में अपनी सत्ता बनाने में सफल हो गए ; इसका मुख्य कारण यह था कि दक्षिण भारत के हिन्दू राजे मुसलमानी सत्ता के खिलाफ थे। जब उन्होंने देखा कि पुर्तगाली भी इस्लाम के दुश्मन हैं, तब वे खुलकर या भीतर-भीतर पुर्तगालियों की सहायता करने लगे। विजयनगर के हिन्दू राजाओं से तो पुर्तगालियों की प्रगाढ़ मैत्री थी। हिन्दू राजे सबसे अधिक प्रसन्न इस बात से थे कि पुर्तगालियों के हाथों उन्हें शस्त्रास्त्र मिलते थे और पुर्तगालियों को खुशी इस बात की थी कि ये हिन्दू भी इस्लाम के वैसे ही विरोधी थे, जैसे स्वयं पुर्तगाल के लोग। इस्लाम के विरुद्ध पुर्तगाली लोग एशिया में भी उसी प्रकार पड़े हुए थे, जैसे यूरोप में। क्रूसेड या धर्म-

युद्ध की भावना ने सभी यूरोपीय लोगों को इस्लाम का द्रोही बना दिया था। एशिया में आने पर भी, पुर्तगाली इस द्रोह को जोर से निभाना चाहते थे। जब पुर्तगाली लोग मलाया पहुँचे, उन दिनों, वहां इस्लाम भी नया-नया ही पहुँचा था और सभी द्वीपों में हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच संघर्ष चल रहा था। पुर्तगालियों ने इस संघर्ष से पूरा लाभ उठाया। मलाया में अपने आदमियों को प्रोत्साहित करते हुए अलबूकर्क ने कहा था, "मलाया में हमें परमात्मा की बड़ी सेवा करनी है। हमें मूरों (मुसलमानों) को निकाल कर इस देश से बाहर फेंक देना है और मोहम्मद के सम्प्रदाय की आग को इस तरह बुझा देना है कि वह फिर नहीं जले। यदि ये लोग इन द्वीपों से निकल गये तो फिर सारे यूरोप को मसाला पहुँचाने का काम पुर्तगाल करेगा।" धर्म-प्रचार का काम, और मसालों का व्यापार, पुर्तगालियों की दृष्टि में दोनों उद्देश्य एक ही वृक्ष की दो शाखायें थीं।

जमीन पर पुर्तगालियों का अधिकार केवल बन्दरगाहों तक सीमित रहा। ये बन्दरगाह कभी तो उन्होंने बल से जीते, और कभी हिंदू राजाओं से सौदा करके। किंतु, जहां-जहां वे रहे, वहां उनकी आत्मतंत्रता अक्षुण्ण रही, वहां उनका अपना कानून चलता रहा और वहां के लोगों पर उन्होंने पुर्तगाली धर्म और तरीके लादने शुरू कर दिये। यूरोप में इस्लाम और ईसाइयत के बीच काफी दुश्मनी थी, इसलिये, पुर्तगालियों ने यहां भी मुसलमानों के प्रति दुश्मनी का भाव बनाये रक्खा। किन्तु, हिन्दुओं के भी वे मित्र नहीं हुए। सन १५४५ ई० में गोआ के गवर्नर ने कहा था कि इस देश में हम एक हाथ में क्रूस (ईसाइयों का धर्म-चिह्न) और दूसरे में तलवार लिये हुए आये हैं। पुर्तगाल वालों का यह बर्बर अहंकार आज भी गोआ के वाइसराय-गेट पर मूर्तिमान है, जहां एक पुर्तगाली साधु एक भारतवासी की छाती पर खड़ा होकर तलवार से भारतवर्ष की ओर इंगित कर रहा है।

पुर्तगाली गवर्नर अलबूकर्क (१५०९ से १५१५ ई० तक) कुछ भला आदमी जरूर था, किन्तु वह पुर्तगाली अन्याय का अवरोध नहीं कर सका। पुर्तगाली राज्य स्वेच्छाचारियों का राज्य था, अन्यायियों का राज्य था एवं हिन्दू और मुसलमानों के सामने उन्होंने इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं छोड़ा था कि चाहे तो वे क्रिस्तान हो जायें, अथवा पुर्तगाल के गुलाम बनकर अपनी जिन्दगी बितायें। भारतवासियों की बहू-बेटियों पर गोरे जुल्म तो करते ही थे, किन्तु, यदि कोई गृहस्थ उन पर हाथ छोड़ता तो बिना किसी जांच-पड़ताल के उसके हाथ काट लिये जाते थे। सन् १५६० ई० में पुर्तगालियों ने अपने कब्जे के नगरों और गांवों में इनक्विजिशन की प्रथा जारी की, जिसके अनुसार, पुर्तगाल या ईसाइयत की हलकी आलोचना करने वाला व्यक्ति भी गिरफ्तार कर लिया जाता था और उसे क्रूर-से-क्रूर सजायें दी जाती थीं। यही नहीं, ऐसे व्यक्तियों को वे पुर्तगाल भेज देते थे, जहां उनकी किस्मतों का आखिरी फैसला इनक्विजिटर-जेनरल के हाथों होता था। किस्मत का आखिरी

फैसला यह था कि अपराधी जीवित ही आग में झोंक कर जला दिया जाय।

ईसाइयत का आगमन भारत के दक्षिणी तट पर दूसरी या तीसरी सदी में ही हो चुका था,* किन्तु उसके प्रति भारतवासियों का कोई द्वेष नहीं था। किन्तु, पुर्तगालियों ने ईसाइयत को जिस रूप में उपस्थित किया, उससे भारतवासियों को इस धर्म के प्रति भयानक घृणा हो गई और अठारहवीं सदी के अपरार्द्ध तक पुर्तगाल के अधिकार में जो बस्तियां थीं, उन्हें छोड़ कर बहुत-से लोग अन्यत्र भाग गए।

पुर्तगालवालों की कोठियां पूर्वी भारत में भी थीं, जहां उनका प्रधान केन्द्र हुगली था। अतएव, पुर्तगालियों के जुल्मों के नमूने देश के विभिन्न भागों में दिखलाई पड़ने लगे। भारत के राजे पुर्तगालियों को दंडित करना तो चाहते थे, किन्तु, इन मक्कार लोगों को दंड पूरा कभी मिल नहीं पाता था। वे डाके डालते थे, दिन-दहाड़े लूट मचाते थे और भारतवासियों की इज्जत पर धावा करते थे। 'माडर्न इंडिया एण्ड द वेस्ट' में मनूची-नामक यूरोपीय यात्री का यह मत उद्धृत है कि चटगांव के पास पुर्तगालियों ने ऐसे-ऐसे जुल्म किये कि उन्हें देख कर ग्लानि से मनुष्य का मस्तक झुक जाता है। आदमी को गुलाम बनाकर बेचने की उन्हें चाट लग गई थी। औरत, मर्द और बच्चे—यहां तक कि दूध पीते बच्चे को भी वे मां की छाती से छीन कर बाजार में बेच देते थे। मनूची लिखता है कि "ऐसे लोगों को ईसाई तो क्या, मनुष्य कहना भी गुनाह है।" आखिर, शाहजहां को एक बार क्रोध आया और उसने बंगाल में दस हजार पुर्तगालियों को कत्ल करवा डाला और पांच हजार को जेलों में बन्द कर दिया। सन् १६३२ ई. में हुगली और बंगाल में पुर्तगालियों का ऐसा दमन हुआ कि वे बंगाल में फिर कभी मस्तक नहीं उठा सके।

हालैण्ड का आगमन

इसी के आसपास, भारत-समुद्र में हालैंड के नाविकों ने प्रवेश किया और प्रवेश करते ही, वे इस समुद्र पर छा गए। उन्होंने पुर्तगालियों को खदेड़ कर सभी स्थानों से निकाल बाहर किया। सन् १६४८ ई. में हालैंड और पुर्तगाल के बीच जो संधि हुई उसके अनुसार, गोआ, दामन और दिउ के सिवा, सभी स्थानों से पुर्तगाल वाले निकल गये और उनपर अधिकार डच जाति का हो गया। किन्तु, हालैंड वाले भारत में ठहरे नहीं। वे मसालों के व्यापार के लिए भारत आये थे और मसाले जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि द्वीपों में अधिक थे। अतएव डच लोग भारत से खिसक कर मलाया की ओर चले गये, जहां उन्होंने इन्डोनेशिया में अपना साम्राज्य स्थापित किया। इन्डोनेशिया से हालैंड वाले तब निकले, जब अंग्रेज भारत से निकलने को मजबूर हुए।

---

*कहते हैं, इंग्लैंड वालों को यह पता था कि मद्रास के मयलापुर में सन्त टामस का गिरजाघर है और राजा आल्फ्रेड ने उस गिरजे में उपहार चढ़ाने को कोई दूत भी भारत भेजा था।

पुर्तगाल का सांस्कृतिक प्रभाव

पुर्तगाल वाले सिमट कर तीन ही जगहों पर रहे, किन्तु, उन्होंने जो संस्कार फैलाया था, वह सारे भारत में फैल गया। लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक, वे एकमात्र यूरोपीय थे जो भारत में स्वच्छन्द विहार कर रहे थे। देश के प्रत्येक कोने में उनके अड्डे थे, व्यापार के क्रम में वे सारे भारत में आते-जाते थे और समुद्र का मालिक होने के कारण उनका कुछ रोब भी था। वे लोग अंग्रेजों की आदत के विपरीत भारत की स्त्रियों से विवाह-सम्बन्ध भी करते थे। अतएव उनकी संतानों से एक नई जाति भारत में उत्पन्न हुई जिसका समावेश यूरेशियन-संप्रदाय में हुआ। किन्तु, इससे भी अधिक भारतीय संस्कृति को उनकी सबसे बड़ी देन नये-नये शब्दों के रूप में थी। उनकी भाषा कुछ तो हिन्दुस्तानी नौकरों और कुछ व्यापारियों में फैली थी, किन्तु, टूटी-फूटी किस्म की पुर्तगाली उन दिनों, भारत और यूरोप के सम्बन्ध की मुख्य भाषा हो चली थी। पुर्तगालियों के बाद, जो डच, फ्रांसीसी और अंगरेज यहां आये, उन्हें बाध्य होकर पुर्तगाली सीखनी और बोलनी पड़ती थी, क्योंकि यही वह यूरोपीय भाषा थी जिसे कुछ भारतवासी जानते थे। यह परम्परा काफी दिनों तक चलती रही। लार्ड क्लाइव कोई भी भारतीय भाषा नहीं जानता था, किन्तु, पुर्तगाली थोड़ी-बहुत उसे भी आती थी। अतएव, वह भी भारतीयों के साथ स्थान-स्थान पर पुर्तगाली में ही बातें करता था। इसी समय, पुर्तगाली भाषा के सैंकड़ों शब्द भारतीय भाषाओं में प्रवेश पा गये। हिन्दी में तो ये शब्द इस प्रकार घुल-मिल गये हैं कि अब उन्हें कोई अलग ही नहीं कर सकता। कमरा, नीलाम, पादरी, मारतौल, मेज, कुंजी, कमीज, ये और ऐसे अन्य अनेक शब्द पुर्तगाली भण्डार के हैं।

पुर्तगाल की दूसरी देन हुक्का और तम्बाकू है। यूरोप के लोग तम्बाकू की खेती अमेरिका से अपने देश में लाये थे। वहां से पुर्तगालियों ने उसे भारतवर्ष पहुंचाया। कहते हैं, तम्बाकू भारत में आते ही, सभी तबकों के लोगों में आसानी से फैल गया और घर आने वाले अतिथि को हुक्का या चिलम पिलाना स्वागत का सबसे सुलभ एवं प्रिय रूप हो उठा। तम्बाकू के इस व्यापक प्रचार से शाहजहां को घबराहट हुई थी। उसने फरमान निकाल कर लोगों को समझाना चाहा कि तम्बाकू बुरी चीज है; क्योंकि इसका परिणाम मनुष्य के शरीर और मन के लिए अनिष्टकारी होता है। किन्तु, बादशाह की बात पर भी लोगों ने ध्यान नहीं दिया और बहुत से लोग अनेक रूपों में इस नयी वस्तु का उपयोग करने लगे।

पुर्तगाल की और भी अनेक देनें हैं। अनानास, पपीता और अमरूद, ये पुर्तगाल वालों के लाये हुए हैं। कोबी (गोभी) की खेती भी यहां पुर्तगाल वालों ने चलायी और, आलू भी उन्होंने दिया है। कलमी आम का विकास विशेषतः बम्बई के अलफेंजो का विकास पुर्तगालियों ने किया था। भारत के फल-फूल और पौधों का पहला विवरण यूरोपीय भाषा में

पुर्तगाल वालों ने लिखा। भारत में पहला छापाखाना भी गोआ में ही खुला था।

पुर्तगाली लोग व्यापार भी चाहते थे, राज्य और रियासत भी तथा अपने धर्म का प्रचार भी। यहां की स्त्रियों से विवाह करके उन्होंने एक नई जाति भी खड़ी की थी। किन्तु, डचों के सामने, व्यापार ही प्रधान था। वे राज्य नहीं चाहते थे, अथवा चाहते भी थे तो उतना ही, जिससे उनके व्यापार के अड्डे सुरक्षित रहें। यहां की स्त्रियों से विवाह करने की नीति भी उन्हें पसन्द नहीं आयी और वे बहुत-कुछ उसी ढंग से अलग रहने लगे जैसे उनके बाद अंगरेज रहते थे। हां, एक बात हुई कि उन्होंने यह भाव स्पष्ट कर दिया कि व्यापार भी तभी निभ सकता है जब कि व्यापार के अड्डे किलों के समान हों, उनमें सेनाओं की टुकड़ियां रखी जाएं और संभव हो तो आसपास के गांव भी अपने अधीन रहें। इस नीति का पूरा लाभ अंगरेजों ने उठाया। भारत में अंगरेजी राज्य कैसे-कैसे बढ़ा, इसकी व्याख्या करते हुए इंगलैंड के प्रधान मंत्री लार्ड पामर्स्टन ने कहा था, "आरम्भ की यूरोपीय जाति ने व्यापार के अड्डे बनाये, अड्डे बढ़ते-बढ़ते किले हो गये, किले बढ़कर जिलों में परिवर्तित हुए और जिलों से फिर प्रान्तों का विकास हुआ।"

फ्रांस का आगमन

डचों के बाद, फ्रांसीसी लोग आये, किन्तु, उनका भारतीय संस्कृति पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। ओमैले ने लिखा है* कि फ्रांसीसियों ने जो नीति बरती उसका भी फायदा अंगरेजों ने ही उठाया। भारतीय राजाओं से संधि-सम्बन्ध बढ़ाने का काम पहले-पहल फ्रांसीसियों ने किया था। भारतीयों को यूरोपीय ढंग की सैनिक शिक्षा भी सबसे पहले उन्हों ने दी थी और उन्होंने ही इन सैनिकों के सहारे बन्दरगाह से बढ़ कर देश के भीतर घुसने का पहले-पहल साहस किया था। किन्तु, फ्रांसीसी शक्ति डांवाडोल रही। सन् १७४१ ई. में डुप्ले ने पांडिचेरी में फ्रांसीसी राज्य स्थापित किया। किन्तु बीस वर्ष बाद ही, मद्रास में फ्रांसीसियों की शक्ति चौपट हो गई। तब भी फ्रांसीसी सेनापति यहां के राजाओं के काम करते रहे। उन दिनों का जो विवरण मिलता है, उससे मालूम होता है कि फ्रांसीसी अफसर और सैनिक भारतवासियों के साथ अच्छा व्यवहार करते थे एवं जनता के बीच वे बदनाम नहीं थे।

हां, फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के दिनों में, फ्रांसीसी लोग एक बार फिर भारत में उठते दिखायी दिये। मैसूर के सुलतान टीपू ने क्रान्तिकारी फ्रांस से संधि की और सिरंगापट्टम में उसने **स्वतन्त्रता के वृक्ष** का रोपण किया। हैदराबाद के निजाम का सेनापति उन दिनों फ्रांसीसी योद्धा रेमाण्ड था। क्रान्ति के जो-जो चिह्न फ्रांस में चलते थे, उनका प्रचलन रेमाण्ड ने हैदराबाद में भी किया था। अतः कहा जा सकता है कि फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से

---

*माडर्न इंडिया एण्ड द वेस्ट

एक तरह का प्रतीकात्मक संबंध भारतवर्ष का भी था।

पुर्तगाल वाले पन्द्रहवीं सदी के अन्त में आये थे। सतरहवीं सदी में हालैंडवालों ने आकर उन्हें अपदस्थ कर दिया। अठारहवीं सदी में फ्रांसीसी और अंगरेज आये और उन्होंने डचों को पीछे ढकेल दिया। इस प्रकार, भारत की जमीन पर तीन-चार यूरोपीय जातियों का संघर्ष चलता रहा। मजे की बात यह रही कि यह संघर्ष इस बात को लेकर छिड़ा था कि कौन भारतवासियों को सभ्य बनाता है और कौन इस दीक्षा की दक्षिणा वसूल करता है।

अंगरेज

अंगरेज जाति का कौन आदमी पहले-पहल भारत आया, इसका ठीक पता नहीं है, लेकिन जो अंगरेज पहले-पहल भारत में आ बसा, उसका नाम टामस स्टीफेन्स था और वह ईसाइयत का प्रचार करने के उद्देश्य से सन् १५७९ ई. में गोआ आया था। स्टीफेन्स ने इस देश में चालीस वर्ष तक रहकर ईसाइयत की सेवा की।

तब महारानी एलिजाबेथ का पत्र लेकर तीन अंगरेज भारत आये और सम्राट् अकबर के दरबार में उपस्थित हुए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना सन् १६०० ई. में हुई एवं १६०८ ई. में जहांगीर ने कम्पनी को सूरत में तम्बाकू की कोठी खोलने की आज्ञा दी। तभी से तम्बाकू का भारत में एक नाम "सुरती" प्रचलित हुआ।

अंगरेज भारत में, मुख्यत: व्यापार के लिए आये थे, अतएव, आरम्भ में राज्य स्थापना अथवा धर्म और संस्कृति पर उनका ध्यान नहीं था। फिर भी, कुछ यात्रियों ने भारत का जो विवरण यूरोप में उपस्थित किया उससे वहां के लोग दंग रह गये। यूरोपवालों के मन में भारत सोना-चांदी, हीरा-जवाहर और रेशम तथा किनखाब से सुसज्जित देश हो उठा। मिल्टन की कविताओं में भारत तथा पूर्वी देशों का जहां भी उल्लेख आया है, वहां रेशम और जवाहर की जगमगाहट खूब उतरी है। १७वीं सदी का भारत मोगलों का भारत था, जो सोने से चमचमा रहा था। इस भारत की सुनहरी झांकी ड्राइडन के नाटक 'औरंगजेब' में भी आयी है। यूरोप में भारत की धनधान्यपूर्णता का प्रचार फ्रांस के दो भारत यात्री टर्बनियर और बर्नियर ने भी किया, जिससे सारा यूरोप भारत आ कर सोना लूटने को बेकरार हो उठा।

गुजरात के सूबेदार बहादुरशाह से हुमायूं की जो लड़ाई हुई थी, उसमें पुर्तगालियों ने बहादुरशाह का साथ दिया था, जिसके पुरस्कार-स्वरूप शाह ने पुर्तगाल वालों को मुम्बई और बसई के द्वीप दे दिये थे। सन् १६६१ ई. में यही मुम्बई द्वीप इंगलैंड के राजा को दहेज में प्राप्त हुआ।

बंगाल के एक सूबेदार ने एक अंगरेज डाक्टर के इलाज से खुश होकर सन १६५१ ई.

में अंगरेजों को हुगली में कोठी बनाने की आज्ञा दे दी। सन् १६७९ ई. में औरंगजेब ने उन्हें हुगली नदी में जहाज चलाने का भी अधिकार दे दिया।

सन् १६९० ई० में अंगरेजों ने कलकत्ते में फोर्ट विलियम किले का निर्माण किया। अब उनके भीतर राज्य स्थापित करने का लोभ जगने लगा, यद्यपि, औरंगजेब के जीते-जी उनका यह मनसूबा पूरा नहीं हो सकता था। किन्तु, औरंगजेब के बाद जब देश की केंद्रीय सत्ता कमजोर होने लगी और राजे आपस में लड़ाइयां लड़ने लगे, तब बहती गंगा में पांव पखारने की घड़ी अंगरेजों को साफ दिखायी पड़ने लगी और उन्होंने इससे लाभ उठाने में एक क्षण भी विलंब नहीं किया। भारत में लड़ाइयां तो अंगरेजों ने पहले भी लड़ी थीं, किन्तु, देश में उनकी धाक बिठाने वाली विजय उन्हें पलासी के मैदान में मिली (१७५७ ई०) और बक्सर की लड़ाई उन्होंने सन् १७६४ ई० में जीती जिसमें अवध के नवाब शुजाउद्दौला और बादशाह शाहआलम ने मीर कासिम का साथ दिया था। इस लड़ाई में, भारतवासियों की पराजय का अर्थ था समस्त भारतीय शक्तियों की पराजय। हारे हुए नवाब और बादशाह से, इलाहाबाद में, क्लाइव ने अपनी शर्तें मंजूर करवाईं (१७६५ ई०) और इस प्रकार, मनमाने ढंग पर उसने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली। भारत में अंगरेजी शासन का वास्तविक आरम्भ यहीं से होता है।

भारत असंगठित था। भारत वैर-फूट से पीड़ित था, भारत सैनिक और सामुद्रिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था और भारत के मुसलमान राजे विलासी और कमजोर थे। फिर भी, अंगरेज भारत को उस सरलता से अपने अधीन नहीं ला सके, जिस सरलता से मुसलमान विजयी हुए थे। भारत विजय में अंगरेजों को सौ साल लग गये। यहीं के रुपयों और यहीं के आदमियों को लेकर अंगरेजों ने भारत में छोटी-बड़ी १११ लड़ाइयां लड़ीं। तब कहीं जाकर भारत उनके अधीन हुआ।

सन् १८५७ ई० तक भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज्य रहा। तब गदर के रूप में भारत ने अचानक महाक्रान्ति कर दी। यह क्रान्ति दबा दी गयी, किन्तु उसी के बाद भारत का भार, अंगरेजी सरकार ने अपने ऊपर ले लिया और यह भार उसके कंधों से ९० साल बाद उतरा, जब सन् १९४७ ई० में भारत स्वाधीन हुआ एवं अंगरेज अफसर, सैनिक और व्यापारी शान्ति के साथ अपने देश को लौट गये।

जब तक भारत गुलाम रहा, अंगरेज यही कहते रहे कि हम भारत में अपने लिए नहीं हैं। असल में भारत में हम सभ्यता का विस्तार कर रहे हैं, वहां के लोगों को आपसी मार-काट में पड़ने से बचा रहे हैं। किन्तु, जैसा कि अमरीकी दार्शनिक श्री विल डुरांट ने लिखा है, "भारत-विजय का काम धर्म और सभ्यता के सिद्धान्त से नहीं, डारविन और नीत्से के सिद्धान्त से जायज था। जिस जाति में अपना शासन आप चलाने की शक्ति नहीं

रहती, जो जाति अपने धन-जन का आप विकास नहीं कर सकती और जिस देश का एक प्रान्त दूसरे प्रान्त को तथा एक जाति दूसरी जाति को बराबरी का दर्जा देने को खुद तैयार नहीं होती, वह जाति और देश उन लोगों का गुलाम होकर रहता है, जिन्हें लोभ की बीमारी और शक्तिमत्ता का रोग है।"

ईसाइयत के प्रचारक

पुर्तगाली लोग जुल्मी और अविचारी तो थे, पर जनता से उनका सम्पर्क जरूर था। बाद के यूरोपीय लोगों की कमजोरी यह रही कि वे यहां की जनता से कभी भी एकाकार नहीं हुए। एकाकार होने की बात तो दूर रही, अंगरेज भारत में जहां भी रहे, इंग्लैण्ड में रहे; उन्होंने कभी यह सोचा ही नहीं कि जिस देश में बस रहे हैं, वहां के लोगों से हिलना-मिलना भी उचित है।

यूरोपीय जातियों की इस कमी को ईसाइयत के प्रचारकों (मिशनरियों) ने पूरा किया। भारत में धर्म-प्रचार करने वाले मिशनरी-संघों में तीन के नाम बहुत उल्लेखनीय माने जाते हैं। सबसे पहले सोलहवीं सदी में **पुर्तगाली मिशन** आया; तब सतरहवीं सदी में (१६०६ ई.) **इटली वालों** का दल पहुंचा और अन्त में, अठारहवीं सदी में **डेनमार्क** के मिशनरी भी भारत में धर्म-प्रचार करने लगे। बहुत दिनों तक, इनका प्रचार-क्षेत्र भारत के दक्षिणी भाग में सीमित रहा, जहां पहले से ही ईसाइयत का थोड़ा-बहुत प्रचार था। किन्तु, वहां भी धर्म-परिवर्तन करने वाले हिन्दु, मिशनरियों को कठिनाई से मिलते थे। पुर्तगाली मिशन के प्रधान, फ्रांसिस जेवियर ने काफी दिनों तक प्रयास किया किन्तु जब उसे धर्म बदलने वाले लोग यहां नहीं मिले, तब वह यह कहकर जापान चला आया कि "**इस देश में तो ईसा को शरण में जाने के उपदेश को लोग मृत्यु की शरण में जाने का उपदेश मानते हैं।**"

भारतवासियों को धर्म के तत्त्व किताबों में कम, धार्मिक मनुष्यों के व्यक्तित्व में अधिक दिखायी देते हैं। किन्तु, पुर्तगाली और कुछ दूसरे ईसाइयों के जो भयानक रूप उन्होंने देखे थे, उससे भारतवासी घबरा उठे और ईसाइयत से उन्हें चिढ़-सी हो गयी। **टेरी** नामक एक अंगरेज ने जब कुछ हिन्दुओं से ईसाई बन जाने को कहा, तब वे लोग बोल उठे, "ईसाई लोग बुरे होते हैं, वे शराब पीते हैं; दूसरों को पीटते और गालियाँ देते हैं।" एक दूसरे पादरी से किसी हिन्दु दुकानदार ने कहा था, "क्या मैं भी ईसाई हूं कि तुम्हें धोखा दूंगा ?"*

स्पष्ट ही, भारतवासियों ने ईसाइयत के विषय में ऐसा मत, लोभ और क्रूरता में संलग्न यूरोपीय लोगों को देखकर बनाया था। अन्त में, पादरियों ने आजिज आकर हिन्दुत्व

---

* माडर्न इंडिया एण्ड द वेस्ट।

की सीधी राह पकड़ी। उन्होंने अत्यन्त सरल और साधु जीवन बिताने को ब्राह्मणों का बाना धारण किया ; वे छुआछूत को मानने लगे और ईसाई तथा हिन्दु दोनों ही सम्प्रदायों में, जाति की प्रथा का भी पालन करवाने लगे। अचरज यह है कि ऐसा करने की अनुमति उन्हें खुद पोप ने दी थी। इस आडम्बर से, ईसाइयत का प्रचार तो कुछ बढ़ा, किन्तु वह स्थायी नहीं हुआ। अतएव सन् १७५९ ई. में पोप ने इस नकली प्रथा को रोक दिया।

अकबर ईसाई धर्म का भी प्रेमी था, अतएव उसने ईसाइयत के प्रचार में रोड़ा नहीं अटकाया। जहांगीर के समय में भी, ईसाइयत का प्रचार चलता रहा, बल्कि उसके समय में तो ईसाइयों ने आगरे में एक कालेज और एक गिरजाघर भी बनवा लिया। उन्हीं दिनों, ईसाई प्रचारक बंगाल में भी काम करने लगे।

ईसाइयों ने बहुत शीघ्र धर्म-प्रचार के लिए स्कूल और विद्यालय खोलने शुरु कर दिये और वे यहां की भाषाएं सीखकर ईसाइयत का साहित्य भी देश में फैलाने लगे। बाइबिल का अनुवाद उन्होंने तमिल में किया एवं तमिल में मिशनरी-कवियों ने प्रार्थना के गीत भी लिखे। **टामस स्टोफेन्स** (जो १५७९ ई. में गोआ आया था) ने मराठी और कोंकणी पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया एवं कोंकणी में उसने एक **ईसा-पुराण** भी लिखा जिसका उन दिनों यथेष्ट आदर हुआ था। मराठी भाषा की स्टोफेन्स ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है एवं उसकी उपमा उसने फूलों में जूही, पक्षियों में मोर और सुगन्धों में मश्क से दी है।

तमिल-साहित्य में **बेश्ची** ने बड़ा नाम किया। वह मदुरा मिशन में १७०० ई. में आया था और सन् १७४२ ई. में तमिल का अपने समय का सर्वश्रेष्ठ पंडित कहला कर मरा।

जो काम दक्षिण की भाषाओं में मदुरा आदि स्थानों में हो रहा था, वही काम सिराम-पुर (बंगाल) के मिशन में हिन्दी, बंगला और उर्दू के लिए किया जाने लगा। सिरामपुर में मिशनरियों ने छापेखाने खोले, अखबार और पुस्तकें निकालीं एवं गद्य में उन्होंने ढेर का ढेर साहित्य तैयार किया। वस्तुतः उत्तरी भारत में धर्म-प्रचार की राजधानी ईसाइयों ने सिरामपुर में ही स्थापित की।

मनुष्य अभी यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि उसका कोई भी धर्म-बन्धु अपने धर्म को छोड़कर किसी अन्य धर्म को स्वीकार करे। इस दृष्टि से, ईसाइयत का प्रचार भारत में भी लोकप्रिय नहीं हुआ है। किन्तु, ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भारत की नई भाषाओं की जो सेवा की, वह भूलने की चीज नहीं है। आवश्यकता तो उनकी अपनी थी कि यहां की भाषाओं को सीखकर लोगों को अपनी बात समझायें, किन्तु यह कार्य उन्होंने बड़े मनोयोग से किया। प्रायः, प्रत्येक भाषा के उन्होंने प्राथमिक व्याकरण लिखे, प्रायः प्रत्येक भाषा के अक्षरों के उन्होंने टाइप ढलवाये और, प्रायः, प्रत्येक भाषा के गद्य को उन्होंने आगे बढ़ाया। हिन्दी का गद्य, यद्यपि, पहले से ही आ रहा था, किन्तु, यहां भी ईसाई धर्म-प्रचारकों की एक सेवा

प्रत्यक्ष है। अंगरेजों ने राजनीतिक कारणों से यह चाहा था कि नागरी में भी उर्दू ही चलाई जाय, जिसे वे हिन्दुस्तानी कहते थे। उनके अफसर बार-बार यह शिकायत करते थे कि उर्दू-भाषा यहां की जनता नहीं समझती, किन्तु शासक अपनी जिद पर अड़े थे। मगर, प्रचारकों को तो भाषा लादनी नहीं थी। जब उन्होंने देखा कि नागरी में लिखी फारसी-मिश्रित हिन्दी से उनका काम नहीं चलता है, तब वे अपनी पुस्तकों में खुलकर संस्कृत-निष्ठ अथवा साधु-हिन्दी का प्रयोग करने लगे जिसकी परम्परा हिन्दुओं के यहां बहुत पहले से आ रही थी और जिसमें योगवसिष्ठ एवं पद्म-पुराण जैसे ग्रन्थ लिखे जा चुके थे।

बनियाँ राज

अंगरेजों की राजधानी कलकत्ते में थी। वे राजा नहीं, व्यापारी थे और समुद्र के किनारे राजधानी रखने में उनके व्यापार को लाभ था। किन्तु धीरे-धीरे, जब उनमें राजमद उभरा, उन्होंने मुगलों की नक़ल करनी चाही, ताजमहल का जवाब लिखने को कलकत्ते में विक्टोरिया मेमोरियल बनवाया और सन् १९१२ ई. में वे राजधानी को कलकत्ते से उठा कर दिल्ली ले गये। उस समय महाकवि अकबर इलाहाबादी ने एक शेर लिखा था जो बड़ा ही अर्थपूर्ण था।

कदम अंगरेज कलकत्ते से अब दिल्ली में धरते हैं।
तिजारत देख ली, देखें, हुकूमत कैसी करते हैं।

मगर हुकूमत अंगरेजों का उद्देश्य नहीं था। हुकूमत वे इसलिए कर रहे थे कि इससे उनकी तिजारत को फायदा था। जब तिजारत को फायदा नहीं रहा, वे हुकूमत छोड़ कर चले गये।

भारत में अंगरेजों के आरम्भिक आवास व्यापार के केन्द्र थे; जिनमें कारखाने थे, दूकानें थीं और गोदाम थे। इन आवासों में से प्राय: सबके सब या तो समुद्र के किनारे पड़ते थे या किनारे से बहुत समीप। पश्चिम में उनके आवास सूरत, अहमदाबाद और कालीकट में थे तथा पूर्व में उनके केन्द्र मद्रास, मछलीपट्टम, गंजाम, बालासोर और कलकत्ते में। केवल बम्बई ऐसा द्वीप था जो चार्ल्स द्वितीय को पुर्तगाल से दहेज में मिला था। राजा ने सन् १६८१ ई. में बम्बई को भी कम्पनी के हवाले कर दिया।

लेकिन व्यापार के केन्द्र बढ़ते-बढ़ते राज्य क्यों बन गये, इसके कारण अनेक थे। सबसे बड़ा कारण यह था कि इस देश की राज्य-व्यवस्था कड़ी नहीं थी। यहां की केन्द्रीय सत्ता कमजोर थी और अपने राज्य की सीमा के बाद वाले भाग में जनता का क्या हाल है, इस पर यहां के राजाओं की दृष्टि नहीं थी। जब-जब राज्यहीनता की अवस्था उत्पन्न हुई, व्यापारियों को अपने हित में, वहां का राज्यभार संभालना पड़ा। भारत में यह परम्परा तो पुर्तगालियों के ही समय से आ रही थी कि जहां व्यापार का केन्द्र हो वहां कानून भी अपने देश का चले। अंगरेज भी उसी राह पर चले और शांति-सुव्यवस्था कायम रखकर व्यापार करने के लिए उन्हें कुछ फौज भी रखनी पड़ी, तथा कुछ पुलिस और मैजिस्ट्रेट भी। इस प्रकार, अंग्रेजी राज्य का विकास यहां व्यापार की रक्षा और विकास की दृष्टि से किया गया। जिसका प्रभाव अंगरेजी ढंग के राज्य-संगठन पर अब तक विद्यमान है। लार्ड वेलेस्ली (१७९८-१८०५) ने इस बात की शिकायत की थी कि "भारत पर राज राजधानी से

नहीं बल्कि, पैसा गिननेवाले दफ्तर से चलाया जा रहा है। यहां राज राजे नहीं, बल्कि वे लोग चला रहे हैं जो मलमल और नील की खुदरा बिक्री का काम करते हैं।"

अंगरेजी राज की इंडियन सिविल सर्विस-जैसी प्रतिष्ठित संस्था भी व्यापार के बीच से जन्मी थी। पब्लिक स्कूल से निकला हुआ कोई अंगरेज लड़का जो कम्पनी के मालिकों का कृपापात्र होता था, कम्पनी के दफ्तर में काम करने को भारत भेज दिया जाता था। यहां कम्पनी उसे, सबसे अधिक, हिसाब-किताब का काम सिखलाती थी। ये ही लोग आगे चलकर इंडियन सिविल सर्विस के आरंभिक सदस्य हुए। ये लड़के पहले किरानी (Writer) होते थे, पीछे फैक्टर (फैक्टरी से) और तब वे जूनियर सौदागर बना दिये जाते थे। कम्पनी के प्रधान कार्यालय में जो मुख्य अफसर होता था, उसे प्रेसिडेंट कहते थे। उसी के नाम पर आगे चलकर मद्रास, बंगाल और बंबई के प्रांत प्रेसिडेंसी कहे जाने लगे। राइटर (किरानी) के नाम के कारण ही, पश्चिमी बंगाल का सेक्रेटेरियेट अभी तक राइटर्स बिल्डिंग कहलाता है। व्यापार के सामने नौकरी क्या चीज है? व्यापारी को जो वेतन मिलता है वह क्या किसी भी नौकर को दिया जा सकता है? किन्तु कम्पनी के राज में यही हुआ। जो छोटे सौदागर आइ. सी. एस. बनाये जाने लगे, उनकी क्षतिपूर्ति के लिए तरह-तरह से उनकी आमदनी बढ़ाने की शर्तें रखी गईं, उनका वेतन तो बहुत अधिक रखा ही गया; यहां तक कि गवर्नरजनरल का वार्षिक वेतन २०हजार पौंड, प्रेसिडेंसी के गवर्नर का वेतन १०हजार पौंड और कौंसिलर का वेतन ६ हजार पौंड रख दिया गया। वेतन की इस भयानक दर पर सारा संसार आश्चर्य प्रकट करता है। किन्तु, विधान-परिषद् में जब यह बात उठी कि आइ. सी. एस. के अफसरों का वेतन घटाया जाना चाहिये तब सरदार पटेल बिगड़ उठे और उन्होंने कहा कि ऐसा करोगे तो मैं सरकार छोड़कर बाहर चला जाऊंगा। दुःख है कि आइ. सी. एस. वालों को खुद भी यह नहीं सूझता है कि वे अपने वेतन में स्वेच्छा से उचित कटौती कर दें। ईस्ट इंडिया कम्पनी अपने सौदागर अफसरों को जो वेतन देती थी, गरीब भारतवर्ष को अपने अफसरों को वही वेतन देना पड़ रहा है।

कंपनी-राज की एक दूसरी विशेषता यह थी कि चूंकि कंपनी का प्रधान दफ्तर इंग्लैंड में था इसलिए रिपोर्ट, नोट और मिनट (विवरण) लिखने की अफसरों को बहुत जरूरत थी। यह भी था कि अफसर यहां की भाषा नहीं समझते थे, यहां की अवस्था का उन्हें काफी ज्ञान नहीं था, इसलिए, रिपोर्टों पर भरोसा करना जरूरी समझा जाने लगा और जो अफसर बढ़िया-से-बढ़िया रिपोर्ट लिख सके, वही श्रेष्ठ माना जाने लगा। इस प्रकार, शासन की सारी योग्यता सिमट कर कलम में आ गई और कर्म से अधिक वाणी (लिखित) के आदर की परंपरा चल पड़ी। आज भी वे अफसर बुरे नहीं समझे जाते जिनसे वास्तविक काम तो कम होता है, किन्तु, जो लिखने में होशियार हैं। मैकाले ने कहा था कि पूर्व की

ओर जाने वाले अंगरेज राजनीतिज्ञ के लिए यह आवश्यक है कि वह खूब लिख सके, जैसे इंग्लैंड में रहने वाले राजमंत्रियों के लिए यह जरूरी है कि वे सभाओं में गरज सकें।

व्यापार की वृद्धि और करों की वसूली, ये ही दो उद्देश्य थे जिनके लिए कंपनी इस देश पर राज कर रही थी। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण रहा कि अंगरेजी राज के सबसे क्रिया-शील और शक्तिशाली अफसर का नाम ही कलक्टर (तहसीलदार) पड़ गया।

अंग्रेजी राज का देशी रजवाड़ों से जो संबंध था, वह भी व्यापार पर आधारित था। अवध की बेगमों के बारे में पार्लमेंट में शेरिडान ने जो भाषण दिया था, उसमें उसने **"नीलाम की डाक बोलने वाले राजदूत", "व्यापार करने वाले सेनापति", "एफ.डेविट के जरिये क्रान्ति करने वाले क्रान्तिकारी"** और **"गिरफ्तारी के काम पर निकलने वाली सेनाओं"** की काफी निन्दा की थी। उसने यह भी कहा था कि हुंडनोट की वसूली के लिए हिन्दुस्तान के नगरों पर घेरा डाला जाता है और बादशाह गद्दी से इसलिए उतार दिये जाते हैं कि उनके पास अंग्रेजों के कुछ पैसे बाकी हैं।

शिक्षा में क्रान्ति

जब इस देश में अंग्रेजी राज फैलने लगा, उस समय ऐसा नहीं था कि यहां शिक्षा का प्रचार नहीं रहा हो। मुसलमानों के समय में उत्तर भारतभर में फारसी का खूब प्रचार हुआ था और फारसी सिखाने को मदरसे सारे देश में खुले हुए थे। जगह-जगह धनी-मानी लोग अपने घर पर भी मौलवी रखा करते थे जो बच्चों को पढ़ाया करते थे। इसके सिवा, देश भर में संस्कृत टोल और पाठशालाएं भी काम कर रही थीं। ये विद्यालय अंग्रेजी ढंग पर सुसंगठित भले ही न रहे हों, किन्तु, उनका प्रचार अच्छी संख्या में था। पुराने ढंग के प्राथमिक विद्यालय भी थे जिनमें पढ़-लिख कर लोग व्यावहारिक काम-काज में लग जाते थे और उच्च विद्यालय भी थे जिनका उद्देश्य न्याय, व्याकरण, दर्शन अथवा साहित्य और आयुर्वेद की शिक्षा देना था। सन् १८२१ ई. में मद्रास के गवर्नर सर टामस मनरो ने जो जांच करवायी थी, उससे यह पता चला था कि मद्रास की सवा करोड़ जनसंख्या में से कोई दो लाख लोग विद्यालयों में पढ़ रहे थे।

किन्तु, भारत की यह शिक्षा-पद्धति जीर्ण-शीर्ण, गतानुगतिक और निष्प्राण थी। जो पुरानी बातें लिखी हुई थीं, उन्हें लोग पढ़ाते जा रहे थे। नई बातें सोचने अथवा नये ज्ञान को संगठित करने की ओर किसी का ध्यान नहीं था। व्याकरण, साहित्य और दर्शन के सिवा, यदि कोई और पाठ्यक्रम था तो वह अत्यन्त सामान्य गणित का था। इतिहास, भूगोल, ज्यामिति और स्वास्थ्य-विज्ञान तक का प्रचार इस देश से उठ गया था। पुराणों में जो कुछ लिखा था अथवा बाप-दादों से अतिरंजित कथाओं के रूप में जो सुनने को मिल जाता था, वहीं तक छात्रों की इतिहास-विषयक शिक्षा थी। और धार्मिक शिक्षा के नाम पर मुसलमानों

के यहां कुरान और हिन्दुओं के यहां स्तोत्र रटवाने की परिपाटी थी। कविता और काव्य-शास्त्र का देश में अच्छा प्रचार था, किन्तु, अन्य आवश्यक विद्याएं अत्यन्त सीमित अवस्था में थीं।

मोगलों के समय से शासन की भाषा फारसी रही थी और वही फारसी धीरे-धीरे कंपनी की भी राजभाषा बन गई। फारसी पढ़े-लिखे लोग आसानी से मिल जाते थे, इसलिए आरम्भ में, कंपनी को स्कूल खोलने की फिक्र ही नहीं हुई। कंपनी-राज जनता को शिक्षित करने का दायित्व उठाना नहीं चाहता था और न जनता ही तब तक स्कूलों की मांग करने की अवस्था में थी। अतएव काफी लंबे समय तक शिक्षा की ओर अंग्रेजी शासन का ध्यान नहीं गया।

फिर भी, अंग्रेजों के भारत में आ जाने से अंग्रेजी भाषा थोड़े-बहुत पांव फैलाने लगी थी और इस काम में उसके सहायक कुछ तो कंपनी के कर्मचारी थे, कुछ धनी, मानी, उदार भारतीय लोग और सबसे अधिक ईसाई धर्म-प्रचारक। कंपनी के कर्मचारी भारतवासियों को अंग्रेजी सिखाना इसलिए चाहते थे कि उनके अपने काम में आसानी हो, धर्म-प्रचारक इसलिए कि अंग्रेजी पढ़ा हुआ व्यक्ति आसानी से क्रिस्तान बनाया जा सकता था* और भारतीय अमीर इस भाव से प्रेरित थे कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे बाबुओं का अंग्रेजों के यहां सम्मान था। किन्तु, कंपनी-शासन इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना नहीं चाहता था। इसका एक कारण तो यह था कि अंग्रेज इस देश में अपने राज की जड़ जमाना चाहते थे, अपने देश की सभ्यता फैलाना नहीं। दूसरे, अभी तक उन्होंने यह भी नहीं सोचा था कि भारतवर्ष को अंग्रेजी सिखाना ठीक होगा या नहीं। प्रत्युत अभी तक उनका भाव यही था कि भारत की हिन्दू और मुसलमान प्रजाओं पर राज उन्हीं के कानूनों के अनुसार चलाया जाना चाहिए।

तब सन् १७८१ ई. में वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ते में एक मदरसा खोला जिसमें एक मौलवी (उनका नाम मजीदउद्दीन था) और चालीस मुस्लिम छात्र थे और जिसका उद्देश्य मुसलमानों को धार्मिक शिक्षा देना था। भारतवर्ष में शिक्षा का यही पहला काम था जिसे कंपनी सरकार ने अपने कंधे पर लिया था। इसके ठीक दस वर्ष बाद, सन् १७९१ ई. में बनारस के रेजिडेंट जोनाथन डंकन के कहने पर लार्ड कार्नवालिस ने बनारस में हिन्दुओं के

---

*पाश्चात्य संपर्क के बाद, भारत में जो पहले मेधावी गणितज्ञ निकले उनका नाम रामचंद्र था। वे दिल्ली में रहते थे, किन्तु, क्रिस्तान थे। सुप्रसिद्ध कवयित्री तोरूदत्त क्रिस्तान थीं, उनके पिता गोविन्द चंद्रदत्त भी क्रिस्तान थे। बंगाल में अंग्रेजो के जो पहले विद्वान हुए उनका नाम साहेबचंद्र बनर्जी था, वे भी क्रिस्तान थे। और माईकेल मधुसूदन के धर्म-परिवर्तन की बात तो प्रसिद्ध ही है।

लिए भी एक संस्कृत कालेज की स्थापना की जो शिक्षा के क्षेत्र में कंपनी-सरकार का दूसरा कदम कहा जा सकता है।

भारतवासियों को अंगरेजी की शिक्षा दी जाय, यह विचार पहले पहल सर चार्ल्स ग्रान्ट के मस्तिष्क में सन् १७९२ ई. में आया और उन्होंने कंपनी के बोर्ड आव् डायरेक्टरों के समक्ष यह प्रस्ताव सन् १७९७ ई. में रखा। किन्तु, इस प्रस्ताव पर उस समय गंभीरता से विचार करने को बोर्ड का कोई भी सदस्य तैयार नहीं हुआ। सिरामपुर मिशन के धर्म-प्रचारक बड़े उत्साह में थे। उनके संसर्ग में आने वाले हिन्दुओं में से कुछ लोग अंगरेजी सीख गये थे और खासकर, ऐसे ही लोग आरम्भ में क्रिस्तान भी हुए। इससे प्रोत्साहित हो कर ईसाई धर्मप्रचारक अंगरेजी शिक्षा के पक्ष में आ गये थे। किन्तु, ठीक इसी कारण से कंपनी के डायरेक्टर डरते भी थे। पुर्तगालियों ने भारत में ईसाइयत का प्रचार करके जो दुर्नाम कमाया था, वह अंगरेजों के लिए सबक हो गया था। अतएव, वे इस गलती को दुहराना नहीं चाहते थे। सन् १८०८ ई. में डायरेक्टरों ने कंपनी को सुनिश्चित आदेश दे दिया था, कि भारतवासियों के धर्म में हस्तक्षेप बिलकुल नहीं किया जाना चाहिए। फिर भी, ये ईसाई धर्म-प्रचारक बाज नहीं आये और वे ईसाइयत का प्रचार करते ही गये।

सच पूछिये तो धर्म-प्रचार के लिए केवल अंगरेजी ही नहीं, देश-भाषाओं की भी शिक्षा आवश्यक थी। ईसाई धर्म-प्रचारक अपना मौखिक उपदेश और लिखित साहित्य, दोनों ही हिन्दुओं के बीच बिखेरने लगे थे। अतएव, यह आवश्यक था कि जनता में शिक्षा का प्रचार हो जिससे वह लिखित साहित्य से प्रभावित की जा सके। धर्म-प्रचार के हित में ही मिशनरी स्कूलों की भी जरूरत समझी गई क्योंकि छात्रों के धार्मिक विश्वास में सीधे हस्तक्षेप नहीं करने पर भी स्कूलों में उन्हें, अन्य बीसियों प्रकार से, प्रभावित किया जा सकता था। सिरामपुर मिशन वालों ने अपना छापाखाना ही नहीं, कागज का कारखाना भी कर रखा था और उन्होंने बाइबिल का अनुवाद इस देश की छब्बीस भाषाओं में प्रकाशित कर दिया था। इन अनुवादों का सदुपयोग तभी संभव था जबकि देश-भाषाओं के स्कूल खुलते और खास ढंग की स्कूली पुस्तकें तैयार की जातीं।

कलकत्ते के मदरसे और काशी के संस्कृत कालेज के बाद, कंपनी सरकार ने कई वर्ष तक शिक्षा की दिशा में तीसरा कदम नहीं उठाया। कलकत्ते में सन् १८०१ ई. में, जो फोर्ट विलियम कालेज खुला वह तो सिर्फ कंपनी के नये अफसरों को देशभाषाओं की शिक्षा देने को था। इसी प्रकार, सन् १८२० ई. में धर्म-प्रचारकों ने कलकत्ते में एक अपनी संस्था खोली जिसका नाम बिशप कालेज था। बंगाल में इस समय तक कुछ लोग उत्पन्न हो गये थे जो अंगरेजी भाषा की महिमा जानते थे। स्पष्ट ही, ऐसे लोगों में राममोहनराय अग्रणी थे। इनके उद्योग से काशी में एक स्कूल खुला जिसमें अंगरेजी के साथ-साथ, हिन्दी, फारसी और

बंगला पढ़ाने का भी प्रबन्ध था। राजा राममोहन राय बराबर कंपनी सरकार के सामने यह आन्दोलन कर रहे थे कि भारत में अंगरेजी शिक्षा का आरम्भ अविलंब किया जाना चाहिए, किन्तु सरकार तब तक इस बात के लिए तैयार नहीं थी। अतएव, अपने दो मित्रों की सहायता से (जिन में से एक मिस्टर डेविड हेयर नामक घड़ीसाज और दूसरे सर हाइड ईस्ट, चीफ जस्टिस थे) राममोहन राय ने सन् १८१६ ई. में कलकत्ते में हिन्दु महाविद्यालय की स्थापना की, जो आगे चलकर प्रेसिडेन्सी कालेज कहलाने लगा। इस कालेज की स्थापना इस प्रकार हुई कि राममोहन राय के आग्रह से सर हाइड ईस्ट ने कलकत्ते के कुछ संभ्रांत सज्जनों को अपने घर पर बुलाया और उनके समक्ष यह बात रखी कि हिन्दु युवकों की शिक्षा के लिए कलकत्ते में एक कालेज का खोला जाना अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्ताव को सभी लोगों ने सहर्ष स्वीकार किया और कोई पचास हजार रुपये का वचन भी तत्क्षण प्राप्त हो गया। किन्तु, जब लोगों को यह ज्ञात हुआ कि इस योजना के पीछे राममोहन राय का हाथ है, तब वे सब के सब उलट गये और उन्होंने राय के साथ सहयोग करने से बिलकुल इनकार कर दिया। किन्तु, राममोहन राय ने इस अवसर पर बड़े ही धैर्य का परिचय दिया और दूरदर्शितापूर्वक उन्होंने समिति से अपना नाम वापस ले लिया। इस प्रकार, उनकी बुद्धि-मत्ता के फलस्वरूप, इस कालेज की स्थापना की जा सकी। राममोहन राय फारसी और अरबी के प्रगाढ़ विद्वान तो थे ही, उनका रहन-सहन और खान-पान भी मुसलमानों के समान था और मूर्तिपूजा के विरुद्ध उन्होंने खुल कर प्रचार भी किया था। परिणाम यह हुआ कि उनके ही धर्म के लोग उनका बहिष्कार कर बैठे थे।

शिक्षा की दिशा में ये, सब के सब, गैर-सरकारी प्रयत्न थे। सरकारी प्रयत्न का वास्तविक आरंभ तो सन् १८१३ ई. के ईस्ट इंडिया ऐक्ट में हुआ जिसमें पहले पहल कानूनी तौर पर यह बात दर्ज की गई कि भारत में शिक्षा के काम पर भी प्रतिवर्ष सरकारी कोष का एक लाख रुपया खर्च किया जा सकता है। किन्तु इस अनुदान की रकम भी शिक्षा-प्रसार के नाम पर कलकत्ता बुक सोसायटी और कलकत्ता स्कूल सोसायटी को दे दी गई। असल में, एक लाख रुपया भी सरकार ने इसलिए दिया था कि उससे भारतीय विद्याओं की रक्षा और उन्नति की जा सके। अभी तक सरकार ने यह बात स्वीकार नहीं की थी कि भारतवासियों को अंगरेजी पढ़ाने का काम आरंभ किया जाय। अतएव, राजा राम-मोहन राय के आग्रही बने रहने पर भी कि भारतवर्ष में संस्कृत की शिक्षा फैलाने से प्रकाश नहीं आयेगा, सरकार ने एक कालेज कलकत्ते में (सन् १८२४ ई.) तथा दूसरा दिल्ली में (सन् १८२५ ई.) इस उद्देश्य से खोल दिया कि इन संस्थाओं के द्वारा भारत की तीन प्राचीन भाषाओं (संस्कृत, अरबी और फारसी) की शिक्षा दी जा सके। सरकार के इस कृत्य की राममोहन राय ने घोर रूप से आलोचना की और लार्ड एमहर्स्ट को पत्र लिख

कर उन्होंने कहा कि इंग्लैण्ड की पार्लमेंट के सदस्य यह चाहते ही नहीं कि भारत में ज्ञान का प्रकाश फैले। अन्यथा वे अंगरेजी के बदले भारत की प्राचीन भाषाओं का इतना पिष्टपेषण क्यों करते? राममोहन राय दूरदर्शी पुरुष थे। वे समझ गये थे कि भारत का भविष्य विज्ञान, शिल्प, इतिहास, राजनीति और पाश्चात्य शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने में है और यह ज्ञान भारत में अंगरेजी के द्वारा ही फैलाया जा सकता है। अतएव, वे सुगठित ढंग से अंगरेजी के प्रचार के लिए अत्यन्त बेचैन थे। यहीं से शिक्षा के क्षेत्र में प्राच्यवादियों और अंगरेजी के समर्थकों के बीच द्वन्द्व आरंभ हुआ।

शिक्षा के लिए जितना सुचिन्तित प्रयास बंगाल में किया गया, उतना अन्यत्र नहीं। मद्रास में टूटी-फूटी अंगरेजी का ज्ञान बहुत-से लोगों को आप से आप हो गया था क्योंकि वहां अंगरेजी कितने ही भारतवासियों के बीच भी स्थानीय बोली के समान चलने लगी थी। बम्बई में अरबी, फारसी और संस्कृत का स्थान सुदृढ़ नहीं था। उधर के लोग देश-भाषा के पक्ष में थे और देश-भाषाओं की शिक्षा के क्रम में अंगरेजी आप से आप आ गई थी। प्राच्य और पाश्चात्य का झगड़ा, मुख्यतः, कलकत्ते में ही चला और वहीं लार्ड मेकाले के परामर्श से लार्ड विलियम बेंटिक ने अपनी सन् १८३५ ई. वाली घोषणा में यह ऐलान किया कि भारतवर्ष में शिक्षा का माध्यम अंगरेजी होगी। यह बड़े ही महत्त्व की घोषणा थी, क्योंकि इसी के कारण, भारत का मानसिक काया-कल्प पूर्ण हुआ। इस घोषणा के अनुसार, प्रत्येक जिले में एक जिला स्कूल खोलने का काम तुरंत आरंभ हो गया और उनकी देखा-देखी और भी स्कूल खुलने लगे। कहते हैं, यह ज्ञान की अपूर्व जाग्रति का समय था। हिन्दू कालेज से निकले हुए नौजवान जगह-जगह स्कूल खोल कर लोगों को अंगरेजी की शिक्षा देने लगे और प्रत्येक अंगरेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति को सरकारी नौकरी से मिलने वाली प्रतिष्ठा और सुविधा का उपभोग करते देख कर बहुत-से छात्र अंगरेजी शिक्षा की ओर दौड़ पड़े। अंगरेजी शिक्षा, सहसा इतनी लोकप्रिय हो उठी कि उत्सुक छात्रों के लिए स्कूलों और स्कूली किताबों का प्रबन्ध करना सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं के लिए असंभव हो गया।

सन् १८३५ ई. के बाद, अंगरेजी शिक्षा का जोर बेतरह बढ़ने लगा और जनता के उत्साह को देख कर सरकार भी शिक्षा-विषयक व्यय में वृद्धि करने लगी, यद्यपि, भीतर ही भीतर, सरकार यह जानती थी कि शिक्षा का जो प्रबन्ध किया जा रहा था उसका लाभ केवल उच्च वर्ग वालों को ही पहुंचने वाला था। सरकार की आशा यह थी कि ऊंचे वर्ग वालों में जब ज्ञान पहुंच जायगा तब उसका बहुत-सा अंश देश-भाषाओं के द्वारा सामान्य जनता में भी प्रसारित हो जायगा। किन्तु, शिक्षा-विशेषज्ञों की यह आशा पूरी नहीं हुई, और अंगरेजी के माध्यम होने के कारण, शिक्षित भारतीयों का ज्ञान अशिक्षित समुदाय

के बीच नहीं पहुंच सका। इस ज्ञान का जो भी अंश जनता को प्राप्त हुआ, वह राष्ट्रीय आन्दोलनों के बाद, जबकि अंगरेजी पढ़े-लिखे लोग जनता के पास जाने लगे।

जिस वर्ष भारत में सिपाही-विद्रोह हुआ, ठीक उसी वर्ष कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में यूनिवर्सिटियां भी कायम की गईं। आगे चल कर, सन् १८८२ ई. में, लाहौर में पंजाब यूनिवर्सिटी बनी और सन् १८८७ ई. में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई। फिर तो, देश में स्कूलों और कालेजों की धूम मच गई—यहां तक कि सन् १८८२ ई. में. इन संस्थाओं में अंगरेजी पढ़ने वाले भारतीय नवयुवकों की संख्या २०-२५ लाख थी।

आरंभ में अंगरेज क्यों रुके रहे, बाद में उन्होंने क्यों संस्कृत और फारसी को बढ़ाया और फिर वे कैसे अंगरेजी की अनिवार्यता पर आ गये, इन बातों को लेकर काफी आलोचना चलती है। एक मत यह है कि शिक्षा-प्रचार के पीछे ईसाई धर्म-प्रचारकों का जो इतना बड़ा समर्थन रहा, उसका कारण यह था कि वे भारतीयों के बीच अपने ढंग की शिक्षा-पद्धति चला कर इस देश भर को क्रिस्तान बनाना चाहते थे। आदिम जातियों के बीच उनका प्रवेश शिक्षा के सहारे हुआ था और शिक्षा के सहारे ही उन्होंने इन जातियों के लोगों को अपने धर्म में भी दीक्षित किया था। कुछ उच्च वंशीय बंगाली हिन्दू भी शिक्षा के जाल में ही खिसकते-खिसकते क्रिस्तान हो गये थे। अतएव, धर्म-प्रचारकों को बहुत बड़ी आशा थी कि शिक्षा के माध्यम से ही वे सारे हिन्दू-समाज को ईसाई बनाने में समर्थ हो जायंगे। सरदार के. एम. पन्निकर का भी अनुमान है कि अंगरेजी को भारत में शिक्षा का माध्यम बनाने वाले अधिकारियों के मन में यही आशा थी*। सरदार पन्निकर के अनुमान का थोड़ा-सा समर्थन मोनियर विलियम्स की बातों से भी होता है। उन्होंने **संस्कृत इंगलिश-डिक्शनरी** नामक अपने महाग्रंथ की भूमिका (१८९९ ई.) में लिखा है कि मेरे गुरु कालोनल बोडेन की अन्तिम इच्छा थी कि "**ईसाइयत के धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत में किया जाना चाहिए जिससे हमारे देशवासी भारतीयों को ईसाइयत में दीक्षित करने के कार्य में प्रगति कर सकें।**" मोनियर विलियम्स ने भी अपने गुरु का अनुसरण करते हुए ही यह बृहत् कोष तैयार किया जिससे ईसाई धर्मग्रन्थों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद के काम में सहायता हो और धर्म-प्रचारकों को यह पता चल सके कि "हमारे पूर्वी साम्राज्य के लोगों की धार्मिक आवश्यकताएं क्या हैं?"†

एक दूसरा अनुमान यह है कि अंगरेजी की शिक्षा भारत में इस उद्देश्य से चलायी गई थी कि यहां के अंगरेजी पढ़े-लिखे लोग तन से भारतीय, किन्तु, मन से अंगरेज हो जायें

* It is true that the authors of the scheme had hoped that as a result of infiltration, Hindu Society which was then considered to be in the process of dissolution would disappear and the population of India would be saved for Christ. [Asia and Western Dominance]

† Sanskrit-English Dictionary, By Monier Williams.

जिससे अंगरेजों का विरोध करने की उनकी इच्छा ही नहीं हो। किन्तु, दो में से एक आशा भी पूरी नहीं हुई। अंगरेजी के संपर्क से हिन्दू धर्म में जाग्रति की ऐसी लहर उठी कि हिन्दुत्व का रोग ही दूर हो गया और अंगरेजी पढ़ने के कारण ही, भारतीयों में राष्ट्रीयता की उमंग उठी जिससे वे अपने अधिकारों की मांग करने लगे। अंगरेजी भाषा और भारत में चलने वाले अंगरेजी शासन में कभी सामंजस्य उत्पन्न नहीं हुआ। अंगरेजी भाषा के द्वारा भारतीय छात्रों को वे विचार सिखाये जाते थे जो स्वतंत्रता के विचार थे, जो क्रान्ति के विचार थे, जो गौरव, वीरता और बलिदान के विचार थे। किन्तु, इन विचारों से प्रेरित भारतीय जब अपने मस्तक को ऊपर उठाना चाहते थे, तब उन पर दमन की लाठी चलायी जाती थी। सन् १९२० ई. के बाद से, भारत के कालेजों में बेथाम, कारलाइल और मिल-जैसे उत्तेजक विचारकों के लेख छात्रों के लिए निर्धारित कम किये जाने लगे और बी. ए. की कक्षाओं में उन्हें शैली-सौंदर्य का लोभ दिखा कर "ट्रैवेल्स विद ए डंकी" (आर. एल. स्टीवेंसन) जैसी तृतीय श्रेणी की पुस्तकें पढ़ायी जाने लगीं, किन्तु, इससे कुछ बिगड़ा नहीं। इन विचारकों की पुस्तकें भारत भर में उपलब्ध थीं और अंगरेजी जानने वाला कोई भी व्यक्ति उन्हें कहीं से भी पढ़ सकता था। वास्तव में, पाश्चात्य विचारों को इस देश में फैला कर अंगरेज शासक उनके प्रभावों को रोक नहीं सकते थे। डाडवेल ने एक वाक्य खूब लिखा है कि "हम ने विद्रोह का साहित्य पढ़ा कर शासकों की जाति खड़ी करनी चाही।"*

जब से भारत में राष्ट्रीयता का आविर्भाव हुआ, लोग अंगरेजी शिक्षा के विरुद्ध बहुत-सी बातें कहने लगे हैं। इस शिक्षा का सब से बड़ा दोष यह बताया जाता है कि इस के कारण भारत के शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच एक खाई-सी खुद गई और जो भी आदमी ग्रैजुएट हुआ, वह अपने ही लोगों के बीच अजनबी बन गया। इसी प्रकार का अपरिचय अंगरेजी शिक्षा वालों का उन लोगों के भी साथ है जो केवल हिन्दी, संस्कृत, फारसी, बंगला, तमिल या और देश-भाषाएं पढ़ कर शिक्षित हुए हैं। एक दूसरा दोष यह है कि अंगरेजी सीखने के लिए जो श्रम किया जाता है वह तो फिर भी सार्थक है कि हम एक नई भाषा सीख लेते हैं, किन्तु, इतिहास, भूगोल, अर्थ-शास्त्र और अन्य सारी विद्याओं का अंगरेजी में ही सिखाया जाना अनावश्यक बोझ है। यदि देश-भाषाओं के द्वारा हम विविध विद्याओं की शिक्षा देते तो युवकों के मस्तिष्क पर उतना बड़ा बोझ नहीं पड़ता जितना अंगरेजी के माध्यम से सीखने में पड़ता है। यह भी हुआ कि भाषा की साधना में सदैव लीन रहने के कारण, छात्रों का सारा मन साहित्यिक हो उठा, ज्ञान-संचय की

---

* We tried to raise a race of administrators on the literature of revolt.

[A Sketch of the History of India—1858-1918]

विशेषता की ओर उनका कभी ध्यान ही नहीं जा सका। आज तक हमारे सारे छात्र केवल इसी चिन्ता से त्रस्त रहे हैं कि शुद्ध-शुद्ध अंगरेजी लिखने की योग्यता वे कैसे प्राप्त कर सकते हैं। भाषा की योग्यता से अलग जो ज्ञान के अनेक क्षेत्र हैं, उनमें विचरण करने का अवकाश छात्रों को मिलता ही नहीं है। एक यह दोष भी बताया जाता है कि विदेशी भाषा के साथ जो विदेशी मनोदशा, विदेशी चिन्तन-पद्धति और विदेशी संस्कृति आई उसे पचाने के क्रम में दो-तीन पीढ़ियों का समय व्यर्थ ही नष्ट हो गया।

किन्तु, इस शिक्षा से, हानि की तुलना में, लाभ बहुत अधिक हुआ है, इसे अस्वीकार करने का प्रयास व्यर्थ है। वस्तुतः, वर्त्तमान भारत का जन्म ही अंगरेजी-शिक्षा-पद्धति की गोद में हुआ। जब अंगरेज आये, भारत का बहुत ही बुरा हाल था। भारतवासी अपने इतिहास को भूल चुके थे, वे बाहर का तो क्या, अपने देश का भी भूगोल ठीक से नहीं जानते थे। वैयक्तिकता का विष जो भारत में बहुत दिनों से चला आ रहा था इस काल में आ कर और भी बढ़ गया था। समाज और देश के प्रति भी हमारा कोई कर्त्तव्य है, इस बात को लोग बिलकुल ही भूल बैठे थे। इस अव्यवस्था के बीच, पहले-पहल अंगरेजी शिक्षा के द्वारा ही वह दल आविर्भूत हुआ जिसका उद्देश्य सामाजिक था, जो केवल अपने को ही नहीं, अपने देश और समाज को भी पहचानने की इच्छा रखता था। समाज और देश के प्रति जो नवीन चेतना जगी, उसी के भीतर से हमारी सारी राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रांतियों का जन्म हुआ है। सामाजिक चेतना ही वह गुण है जो आज के औसत भारतवासी को प्राचीन अथवा मध्ययुगीन भारतवासी से विभक्त करता है और यह चेतना भारत को यूरोपीय संपर्क से मिली है। यह ठीक है कि भारतीय जनता को अशिक्षा एवं अन्धविश्वास की जकड़बन्दी से छुड़ाने अथवा उसके भीतर प्रगतिशील विचारों को प्रेरित करने का काम अंगरेज शासकों ने नहीं किया, किन्तु, नई विद्या के प्रचार से ये सारे कार्य आप से आप हो गये। नई शिक्षा का एक अन्य श्रेष्ठतम परिणाम यह हुआ कि अंगरेजी के भीतर से यूरोप के तेजपूर्ण विचारों का सेवन करते-करते सारे भारतवर्ष की मानसिक एकता में वृद्धि हुई। संस्कृत के सार्वदेशिक भाषा होने के कारण, पहले भी सारा भारत एक था, किन्तु, संस्कृत का भारत में जितना प्रचार था उससे बहुत अधिक प्रचार अब अंगरेजी का हो गया। अतएव, भारत की भौगोलिक एकता अब कुछ और प्रबल हो गई एवं देश-भाषाओं की विभिन्न दीवारें जो एक भाषा-क्षेत्र को दूसरे भाषा-क्षेत्र से अलग किये हुए थीं, स्वयमेव छोटी हो गईं। फारसी के जरिये, जो भाषागत एकता उत्पन्न हुई थी, वह दक्षिण तो पहुंची ही नहीं थी, उत्तर में भी वह बहुत कमजोर थी। किन्तु, अंगरेजी के सार्वदेशिक प्रचलन के कारण देश की एकता बहुत ही पुष्ट हो गई। आज भी हमारी एकता का सब से बड़ा आधार अंगरेजी भाषा ही है, जिसमें हमारी सरकार और संसद् के अधिकतर काम

चल रहे हैं। देश ने यह निर्णय किया है कि जिस राष्ट्रीय एकता को आज अंगरेजी संभाले हुए है वह बोझ हिन्दी उठा ले और जनता अपनी देश-भाषाओं में ही अपना काम करे, किन्तु ऐसा लगता है कि यह कार्य शनैः-शनैः ही पूरा होगा।

सब से बड़ी बात यह हुई कि जब अंगरेजी भाषा भारत में अपना पांव फैला रही थी, ठीक उसी समय, यूरोप में स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता ,प्रजातंत्र और उदार भावनाओं के जोरदार आन्दोलन चल रहे थे। अठारहवीं सदी में, यूरोप में क्रान्तिकारी विचारों के जो नेता उत्पन्न हुए, अनेक हलचलों और क्रांतियों के बाद, उन्नीसवीं सदी में आ कर उनके विचारों ने दर्शन का रूप ले लिया और वे यूरोप को आन्दोलित करने लगे। विचारों का यह आन्दोलन सहस्र धाराओं में चल रहा था एवं कविता, नाटक, उपन्यास, आलोचना, निबंध, दर्शन, भाषण और विवाद तथा राजनीतिक दलों एवं सरकारों के संगठनों में से, सब के सब, इन विचारों से ओत-प्रोत हो रहे थे। फ्रांसीसी क्रांति का "स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व" वाला महान् उद्घोष अब पिघल कर उदारतावाद में ढल गया था। खुद इंगलैण्ड में उस समय कानूनी सुधारों को लेकर घमासान आन्दोलन चलरहा था। राज्य वही अच्छा है जिसमें अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक कल्याण हो, ये और ऐसे अनेक अन्य विचार इंग्लैण्ड में भी ग्रहीत होते जा रहे थे। इन सारे विचारों और आन्दोलनों का उत्तराधिकार भारत को आप से आप प्राप्त हो गया क्योंकि अंगरेजी भाषा के द्वारा इस देश के चिंतक यूरोपीय विचारों के गहन संपर्क में थे। भारतवर्ष में अंगरेजी की पुस्तकें और समाचारपत्र धड़ल्ले से आ रहे थे, अतएव, यूरोप मे चलने वाले वैचारिक आन्दोलनों के साथ भारत अनायास संबद्ध हो गया एवं जिन भावनाओं की चोट से यूरोप के मस्तिष्क की शिराएं थरथरा रही थीं उन भावनाओं की चोट भारत को भी महसूस होने लगी। यूरोप की वैचारिक-क्रान्तियों में उस समय भारत ने अपना योगदान, विचारक की हैसियत से भले ही नहीं दिया हो, किन्तु, उनका प्रभाव ग्रहण करने में यह देश यूरोप से पीछे नहीं रहा।

स्कूलों और कालेजों में जो यूरोपीय ज्ञान सिखाया जा रहा था, वह मनुष्य की आंख खोलने वाला था। किन्तु, इसके साथ ही, एक और कार्य हुआ जिसने धीरे-धीरे भारतवासियों में आत्म-गौरव की भावना को जगाया और अन्त में, उनके भीतर यह विश्वास कूट-कूट कर भर दिया कि भारत महान् देश है, उसकी सम्यता अत्यन्त प्राचीन है और उसका प्राचीन साहित्य और दर्शन ऐसा है जिसकी बराबरी संसार के अन्य देशों के दर्शन और साहित्य नहीं कर सकते। इस कार्य का श्रीगणेश सन् १७८४ ई. में बंगाल की एशियाटिक सोसायटी की स्थापना से हुआ। किन्तु, उसके बाद ही, अनेक यूरोपीय विद्वान् भारत के प्राचीन साहित्य में डूब कर उसके लुप्त इतिहास को जीवित

स्वरूप देने लगे। फिर, उनकी देखादेखी भारतीय विद्वान् भी अनुसन्धान के क्षेत्र में आये और उनकी सेवाओं से भी भारत का प्राचीन इतिहास देदीप्यमान हो उठा। इतिहास लिखने की कला की शिक्षा भी भारत को यूरोप से ही प्राप्त हुई है।

शिक्षा का माध्यम तो अंगरेजी थी, किन्तु, साथ-साथ संस्कृत के भी सामान्य और उच्च अध्ययन का प्रबन्ध स्कूलों और महाविद्यालयों में चल रहा था। फल-स्वरूप, संस्कृत के साहित्य का भी विधिवत् वैज्ञानिक अध्ययन अंगरेजी की शिक्षा-पद्धति के साथ आरंभ हुआ और भारत के इतिहास के प्रणयन के काम में संस्कृत के इस नूतन ज्ञान ने बड़ी सहायता की।

प्राचीन भारत पर नवीन यूरोप की भक्ति

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यूरोप का भारत-आगमन भारतीय ज्ञान के लिए नहीं, प्रत्युत, मसालों के व्यापार और ईसाइयत के प्रचार के लिए हुआ था। यूरोप भारत को धन-धान्य से पूर्ण देश समझता था, नवाबों और मोगल बादशाहों का देश समझता था एवं नवाब और मोगल, ये शब्द यूरोप में व्यंग्य के पर्याय हो गये थे। यूरोप वालों का विश्वास था कि सभ्यता का आरंभ यूनान और फिलस्तीन में हुआ है एवं इन देशों से अधिक पुरातन सभ्यता वाला देश संसार में और है ही नहीं। भारत को तो यूरोप वाले अर्धसभ्य ही मानते थे।

किन्तु, जब ईसाई धर्म-प्रचारक इस देश में आये, उन्होंने पहले तो यहां की देश-भाषाएं सीखीं। फिर वे संस्कृत सीखने का भी प्रयत्न करने लगे। कहते हैं, पांडिचेरी के धर्म-प्रचारकों ने यजुर्वेद का कच्चा-पक्का एक फ्रांसीसी अनुवाद L' EZOUR VEDAM नाम से तैयार किया था जिसकी प्रति वाल्तेयर ने भी देखी थी।* एक अन्य पादरी ने सन् १७३२ ई. में संस्कृत का एक व्याकरण तैयार किया था जो सन् १७९० ई. में रोम में छपा था। सन् १७४० ई. में एक दूसरे पादरी ने भारत का एक विवरण लिखा जिसमें भारत के षड्-दर्शन के सिवा जैन और बौद्ध मतों का भी परिचय था। किन्तु, भारतीय जीवन का प्रथम विशद विवरण यूरोप वालों को एबी दुबोय के "हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड सिरीमनीज" नामक ग्रन्थ से प्राप्त हुआ जिसका प्रकाशन सन् १८१७ ई० में हुआ था।

किन्तु, इन विवरणों से यूरोप का मन चमत्कृत नहीं हुआ। यूरोप को चमत्कृत करने वाले कार्यों का आरंभ दुंपरोन (Anqwefil Duperron) के "औप-निखत" नामक ग्रन्थ से होता है। दुपरोन फ्रांस का नवयुवक विद्वान् था जो १७६० ई. के लगभग भारत आया था। यहां से वह कोई अस्सी पाण्डुलिपियां अपने साथ फ्रांस ले

* माडर्न इंडिया एण्ड द वेस्ट

गया। उनमें से एक पाण्डुलिपि **दाराशिकोह-कृत उपनिषदों के फारसी अनुवाद की थी।** दुपरोन ने इसी का लातीनी अनुवाद **औपनिखत** (OUPNEKHAT) के नाम से दो जिल्दों में प्रकाशित करवाया। जर्मनी के दार्शनिक **आर्थर शापेनहार** को इसी अनुवाद की प्रति मिली थी, जिसे पढ़ कर वह विस्मय विमुग्ध हो गया था और उपनिषदों की विचारधारा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसने कहा था कि **"यह अनुपम ग्रन्थ आत्मा की गहराइयों को हिलकोर डालता है। इसके प्रत्येक वाक्य से मौलिक, गंभीर और बड़े ही ज्योतिष्मान् विचार ऊपर उठते हैं। हमारे चारों ओर भारतीयता का वातावरण आप से आप खड़ा हो जाता है तथा ऐसा प्रतीत होता है, मानों, ये विचार हमारे अपने आत्मिक बन्धु के विचार हों। हमारे मनों पर यहूदी संस्कारों की जो रूढ़ियां और अन्ध-विश्वास छाये हुए हैं, वे इन विचारों के स्पर्श मात्र से एकबारगी धुल जाते हैं। सारे संसार में इसके जोड़ का कोई और ग्रन्थ नहीं हो सकता। जीवन भर में मुझे यही एक आश्वासन प्राप्त हुआ है और मृत्यु-पर्यन्त यह आश्वासन मेरे साथ रहेगा।"**

उपनिषदों के अध्ययन से जर्मनी में विचारों का जागरण कुछ उसी प्रकार आया, जैसे, रिनासा के काल में यूनानी प्राचीन साहित्य के संपर्क से सारे यूरोप में जागा था। **जोहान फिक्टे** और **पाल डूसान** ने भी वेदान्त के सत्य को संसार का सब से बड़ा सत्य माना। **नीत्से** को जब **मनुस्मृति** देखने को मिली तब उसने भी मनुस्मृति को बाइबिल से अनेक गुना श्रेष्ठ स्वीकार किया।†

इस बीच, भारत के अंगरेज शासकों का ध्यान भी संस्कृत की ओर जा रहा था। **वारेन** हेस्टिंग्स को यह सूझा कि न्याय के क्षेत्र में हिन्दुओं पर शासन उनके धर्म-शास्त्रों के अनुसार किया जाना चाहिए। अतएव, उसने धर्मशास्त्रों का अनुवाद पहले फारसी में करवाया और फिर अंगरेजी में। किन्तु, इतना ही यथेष्ट नहीं था। निदान, इंग्लैण्ड से आये हुए जजों और वकीलों को संस्कृत की ओर लगाना अनिवार्य हो गया। ये विद्वान् संस्कृत की ओर गये तो थे कचहरी की आवश्यकता से, किन्तु, वहां भावों और विचारों का जो अद्भुत पुंज इन्हें दिखायी पड़ा, उससे वे पूर्णरूपेण अभिभूत हो उठे। सन् १७८५ ई. में **सर चार्ल्स विलिकन्स** ने **भगवद्गीता** का अंगरेजी अनुवाद प्रकाशित किया। **सर विलियम जान्स** ने, जो जज थे और सन् १७८४ ई. में जिन्होंने **एशियाटिक सोसायटी** की स्थापना की थी, कालिदास के **शकुंतला-नाटक** का अनुवाद किया। उन्होंने **ऋतु संहार** का भी संपादन करके उसका एक संस्करण निकलवाया था। सन् १७९४ ई. में उन्होंने **मानव-**

---

† "A work which is spiritual and superior beyond comparison, which even to name in one breath with the Bible would be a sin against the holy ghost." नीत्से (एनार्किस्ट में)।

धर्म शास्त्र के नाम से मनुस्मृति का प्रकाशन किया। जोन्स संस्कृत भाषा के अपूर्व भक्त थे। एशियाटिक सोसायटी के १७८६ ई. वाले अधिवेशन में उन्होंने यह घोषणा की थी कि **"संस्कृत परम अद्भुत भाषा है। यह यूनानी से अधिक पूर्ण और लातीनी से अधिक संपन्न है।"** जोन्स ने ही पहले पहल यह अनुमान भी लगाया था कि गोथिक और केल्टिक, दोनों परिवारों की भाषाएं उसी उद्गम से निकली होंगी, जिससे संस्कृत निकली है। इस प्रकार, तुलनात्मक भाषा विज्ञान का जो महल, **फ्रांज बाप, मैक्समूलर** और **ग्रिम** ने खड़ा किया उसकी नींव जोन्स ने ही रखी थी। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारत से संपर्क के पूर्व, यूरोप में किसी को फोनेटिक्स से परिचय नहीं था। **भारतीय निरुक्त और व्याकरण को देख कर ही यूरोप के विद्वानों ने फोनेटिक्स लिखना आरंभ किया।**

विलियम जोन्स के बाद, सब से बड़े प्राच्य-विद्या-विशारद **कोल ब्रुक** हुए। उन्होंने हिन्दू धर्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष, और धर्म का बड़ा ही विलक्षण अध्ययन प्रस्तुत किया, जो एशियाटिक रिसर्चेज में प्रकाशित हुए। सन् १८०५ ई. में वेदों का भी प्रामाणिक विवरण सब से पहले उन्होंने ही निकाला। कोई आश्चर्य नहीं कि उन दिनों इंग्लैण्ड में एक कहावत चल पड़ी थी कि **मेधावी अंगरेज अब ब्राह्मण होते जा रहे हैं।**

ठीक इसी समय, एक विलक्षण घटना घटी। ईस्ट इंडिया कंपनी का एक कर्मचारी **अलेक्जेण्डर हैमिल्टन** सन् १८०२ ई. में पेरिस में ठहरा हुआ था कि अंगरेजों और नैपोलियन के बीच खटपट शुरू हो गई और हैमिल्टन कैद हो गया। हैमिल्टन संस्कृत जानता था। अतएव, उसने जेल में लोगों को संस्कृत पढ़ाना आरंभ किया। **चेजी** नामक एक फ्रांसीसी विद्वान् स्वयं ही थोड़ी सी संस्कृत सीख चुका था। किसी प्रकार, चेजी का संपर्क हैमिल्टन से हो गया और उससे चेजी ने अच्छी संस्कृत सीख ली। बाद में, चेजी और हैमिल्टन से **श्लीगल** नामक दो भाइयों ने संस्कृत सीखी। एक अन्य फ्रांसीसी विद्वान् **यूजीन बर्नाक** ने भी संस्कृत पर अच्छा अधिकार प्राप्त किया। **मैक्समूलर** इसी **बर्नाफ** का शिष्य था जिसने सायण के भाष्य पर तीन वर्ष तक काम किया और उसके बाद, वेदों पर उसका जो भाष्य प्रकाशित हुआ उससे यूरोप-समेत भारत के सभी विद्वान् चकित रह गये। लगता है, सायण की आत्मा ही जर्मनी में मैक्समूलर बन कर जन्मी थी, क्योंकि वेदों के उद्धारकों में जैसा स्थान इस विद्वान् का माना जाता है, वैसा और किसी का नहीं है।

किन्तु, वेदों का भाष्य करने से भी बढ़ कर, मैक्समूलर ने यह काम किया कि उसने तुलनात्मक भाषा विज्ञान और तुलनात्मक धर्म के अध्ययन की परंपरा आरंभ की। तुलनात्मक भाषा विज्ञान से जो तथ्य सामने आया, उससे यूरोप की अज्ञानता दूर हुई एवं उन लोगों का मोह फट गया जो यह मानते थे कि फिलस्तीन और यूनान से पुराना और कोई देश नहीं है तथा हेब्रू भाषा से प्राचीन कोई और भाषा नहीं हो सकती। बाइबिल के

अनुसार, यह भी माना जाता था कि यह सृष्टि केवल चार हजार वर्ष पुरानी है। अतएव, वेदों का काल निर्णय करने में पाश्चात्य विद्वानों को कठिनाई हुई और वे जोर-जबर्दस्ती करके उसे ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व से आगे जाने देने को तैयार नहीं हुए। किन्तु, बीसवीं सदी में जब महंजोदरो और हरप्पा की खुदाई हुई, तब यह सीमा भी टूट गई और यूरोप के धर्ममूढ़ विद्वान् भी यह मानने लगे कि सृष्टि चार हजार वर्ष से अधिक पुरानी हो सकती है।

मैक्समूलर के कामों से यह बात प्रत्यक्ष हो गई कि संसार की प्राचीनतम भाषा हेब्रू नहीं, संस्कृत है और विश्व की प्राचीनतम जाति यूनानी और यहूदी नहीं, प्रत्युत, हिन्दू और ईरानी जातियां हैं। भारतीय साहित्य, दर्शन और धर्म का जो बखान जर्मन विद्वानों ने किया, उससे एक लाभ यह भी हुआ कि ईसाई धर्म-प्रचारक भारत से बाहर भारत-वासियों के विषय में जो मिथ्या प्रचार कर रहे थे, उसका खोखलापन चिन्तकों के सामने प्रत्यक्ष होने लगा एवं धीरे-धीरे यह परिस्थिति भी बनने लगी कि अंगरेज यह सोच कर गौरव अनुभव करें कि उनके साम्राज्य में भारत जैसा देश है। मैक्समूलर ने भारत की सेवा अनेक प्रकार से की। उसने परमहंस रामकृष्ण का जीवन चरित लिखा, उसने पूर्वी विश्व के धर्मग्रन्थों की ग्रन्थ माला प्रकाशित की और एक पुस्तक केवल इस विषय पर लिखी कि भारत विश्व को क्या सिखा सकता है।

यूरोप के रोमांटिक आंदोलन पर भारतीय प्रभाव

जर्मनी और इंग्लैण्ड में जो रोमांटिक जागरण हुआ, उसके पीछे कुछ-न-कुछ भारतीय प्रभाव भी था, ऐसा मानने का सुनिश्चित आधार है। श्लीगल बन्धुओं ने जर्मन भाषा के द्वारा यूरोप में भारतीय ज्ञान का अपरिमित आख्यान किया। वेद, उपनिषद्, भगवद्-गीता और मनुस्मृति तथा शकुंतला और ऋतुसंहार को देख कर जर्मनी के कवि और विद्वान् अभिभूत थे। चूंकि यह साहित्य अनपेक्षित देश से आया था, इसलिए, उनका विस्मय और भी प्रखर था। फिर, इस साहित्य में जो भाव और विचार थे वे सर्वथा नवीन क्षितिज से उतरते दिखाई देते थे। इन सबका मिश्रित प्रभाव यह हुआ कि इस अछूती सुन्दरता को देख कर जर्मन कवियों का मन किसी रोमांटिक लोक में विचरण करने लगा। श्लीगल ने जब भगवद्गीता पढ़ी, तब भगवान कृष्ण की स्तुति में उसके मुख से एक पूरी गद्य कविता ही फूट पड़ी कि **"गुरु के आदर को ब्राह्मण सभी कर्मों में श्रेष्ठ मानते हैं। अतएव ओ परम पवित्र पैगम्बर! ओ ईश्वरत्व के व्याख्याता! ओ इस काव्य के कर्त्ता! अथवा सत्यों के बीच तुम्हारा जो भी नाम हो, तुम्हारी वाणी के प्रभाव से मनुष्य का हृदय ऐसे अकथनीय आनन्द की भूमि पर पहुंच जाता है, जो अत्यन्त उच्चता पर अवस्थित तथा सनातन और ईश्वरीय है। मैं तुम्हें प्रणाम करता हूं और**

तुम्हारे चरणों पर अपना अभिनन्दन भेंट करता हूं।"[1]

भारतीय काव्य की विलक्षणताओं का आख्यान **रुकर्ट** (Rukert) ने भी किया और **गेटे** ने तो शकुंतला की प्रशंसा में जो कविता लिखी उसे अनेक भारतवासी जानते हैं।[2] गेटे के **फौस्ट** नाटक में जो प्रोलोग (पूर्वाभास) है उसका गुम्फन उसने भारतीय नाटकों के सूत्रधार वाले दृश्य के अनुकरण पर किया है। **शीलर** की **"मेरिया स्टूअर्ट"** नामक कविता में निर्वासित रानी बादलों को जो संदेश देती है वह कालिदास के मेघदूत से प्रेरित है। ये कुछ स्फुट उदाहरण हैं। कहा जाता है कि **श्लीगल** से लेकर **हाइने** (Heine) तक जर्मन कविताओं में भारतीय भाव और चित्र सर्वत्र बिखरे हुए हैं।

अचरज की बात है कि समकालीन अंगरेजी कविताओं पर भारतीय प्रभाव के उतने प्रमाण नहीं मिलते जितने जर्मन भाषा की कविताओं में मिलते हैं। किन्तु, इसका कारण, कदाचित् यह है कि अंगरेज "अति सामीप्यात् अवज्ञा" के भाव में थे। यह तो सत्य है कि शासक होने के कारण, अंग्रेज यह नहीं चाहते थे कि यूरोप में भारत की प्रशंसा हो अथवा यूरोप के लोग भारतीय भावों का अनुकरण करें। उन्हें भारत में अपना राज चलाना था और कम्पनी के साहब इंग्लैंड वालों पर यह प्रकट होने देना नहीं चाहते कि भारत कोई महान् देश है। अथवा यह भी संभव है कि अंगरेजी कविता नेतृत्व के लिए सचमुच ही बराबर फ्रांस और जर्मन की ओर देखती रही हो। फिर भी **शैली, वर्डस्वर्थ** और **कारलाइल** में भारतीय प्रभावों के स्पष्ट लक्षण विद्यमान हैं। कारलाइल पर वेदान्त का प्रभाव जर्मनी होकर पड़ा था। **"ओड आन इंटीमेशन्स आव इमार्टलिटी"** नामक अपनी कविता में वर्डस्वर्थ आत्मा के पूर्वजन्म की ओर संकेत करता है, जो स्पष्ट ही भारतीय प्रभाव है। उसने वनस्पतियों में जो चेतना के होने की बात की है वह भी जैन विचारों की छाया-सी लगती है। **शैली** की एडोनाय (Adonai's) नाम्नी कविता की कल्पना उपनिषदों की कल्पना पर आधारित है एवं उक्त कविता के कितने ही भाव शुद्ध वेदान्त के भाव हैं।

---

1. श्री रावलीसन के लेख में उद्धृत अंश का अनुवाद (माडर्न इंडिया एण्ड द वेस्ट)
2. Wouldst thou the young year's blossoms
   and the fruits of its decline,
   And all by which the soul is charmed,
   enrapturd, feasted, fed,
   Wouldst thou the earth and Heaven itself,
   in one sole name combine ?
   I name thee, O Sakuntala !
   and all atonce is said.

   (गेटे की जर्मन कबिता का अंगरेजी अनुवाद)

भारतीय विचारों का यह संक्रामक प्रभाव अमेरिका भी पहुंचा था, यह बात **एमर्सन और थरो** की रचनाओं से स्पष्ट हो जाती है। एमर्सन ने **ब्रह्म** शीर्षक देकर एक पूरी कविता ही लिखी है और भारत नाम की पवित्रता का जो प्रभाव थरो पर पड़ा था, यह उसके इस वाक्य से प्रत्यक्ष है कि **"वाल्डन का जल गंगा के पवित्र प्रवाह से मिल कर एकाकार हो गया है।"** एक अन्य अमेरिकन कवि **जे. जी. व्हीटियर** ने **सोम** पर कविता लिखी है जिसका शीर्षक **"ब्रूइंग आव सोम"** है।

महारानी विक्टोरिया के युग में, अंग्रेजी कविता पर भारतीय प्रभाव कम लक्षित हुआ[१] किन्तु उसके बाद, आयर्लैंड के दो कवियों पर भारतीय दर्शन का प्रभाव अत्यन्त सुस्पष्टता से लक्षित हुआ। **जार्ज रसल (ए. ई.)** ने कई कविताएं लिखीं—(1. Over Soul, 2. Krishna, 3. The Veils of Maya, 4. Om और 5. Indian Song) जिनमें शुद्ध भारतीय भाव हैं। इसके सिवा, अपने एक पत्र में उन्होंने खुलकर भारतीय चिन्ताधारा की प्रशंसा की है। **"जीवनी-शक्ति और ज्ञान की उच्चता की दृष्टि से गेटे, वर्ड्स्वर्थ, एमर्सन और थरो, आधुनिकों में ये चार ही चिन्तक श्रेष्ठ हैं। किन्तु, उन्होंने जो कुछ भी कहा है वह और उससे बहुत अधिक बातें हमें पूर्वी विश्व के ग्रन्थों में मिलती हैं। भगवद्गीता और उपनिषदों में प्रत्येक विषय पर ज्ञान की ऐसी सम्यक पूर्णता है कि ऐसा लगता है, मानों इनके रचयिताओं ने अपने पीछे के सहस्र जीवनों को अत्यन्त समीप से देखा हो और उनके सम्बन्ध में इतने सहज विश्वास से लिखा हो कि उनकी बातों को हमारी आत्मा अनायास स्वीकार कर लेती है।"**

डबल्यू. बी. येट्स ने भी कई कविताओं में (1. Anushay and Vijay, 2. The Indian upon God तथा 3. The Indian to his love) भारतीय भाव रखे हैं। उन्होंने कुछ उपनिषदों के अनुवाद भी निकाले थे। जिस कार्य में **श्री भगवान पुरोहित** नामक एक भारतीय, विद्वान् उनके सहायक थे। स्काटलैण्ड के एक कवि **जोन स्टुअर्ट ब्लैकी** (१८०९-१८९५) ने भी एक कविता लिखी है जिसका नाम त्रिमूर्त्ति है।

किन्तु, अंगरेजी कविता के क्षेत्र में भारतीयता का संपूर्ण आख्यान कहीं मिलता है तो वह **"लाइट आव् एशिया"** में है जिसके रचयिता **सर एडविन आर्नाल्ड** (१८३२-१९०४ ई.) पूना में डेकन कालेज के प्रिंसिपल थे। जिस भक्ति से आर्नाल्ड ने बुद्धदेव पर श्रद्धांजलि चढ़ायी है वह अत्यन्त विलक्षण और श्रद्धा उपजाने वाली है। बुद्ध के प्रति भक्ति के भाव से देखें तो कहना कठिन है कि **अश्वघोष** बड़े हैं या **एडविन आर्नाल्ड**।

वर्तमान युग में **इलियट** भारतीयता के प्रभाव से, पूर्णतः ओतप्रोत हैं। अब भारत भी अंगरेजों के अधीन नहीं है। अतएव, संभव है कि इंग्लैण्ड के विचारक और कवि भारतीय भावधाराओं की ओर और भी वेग से उन्मुख हों।

---

१. यद्यपि टेनिसन की दो कविताओं (1. Siege of Lucknow तथा 2. Akbar's dream) की याद यहां हो आती है।

ईसाई धर्म और भारतीय जनता

संसार के धर्मों में तीन ही बहुत प्राचीन हैं, हिन्दू धर्म, जरथुस्त्र-धर्म और यहूदी-धर्म। इनमें से पहले दो आर्यों के बीच उत्पन्न हुए और तीसरा धर्म सामी जाति के बीच जन्मा। विचित्रता की बात यह है कि जैसे प्राचीन हिन्दुत्व (वैदिक धर्म) से बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार, ईसाई धर्म भी यहूदी धर्म की कुक्षि से उत्पन्न हुआ है। दूसरी विचित्रता यह हुई कि भारत में पिता (हिन्दुत्व) ने पुत्र (बौद्ध मत) को निर्वासन दिया, किन्तु, फिलस्तीन में पुत्र (ईसाइयत) ने ही पिता (यहूदी-धर्म) को अपदस्थ कर दिया।

एक तरह से देखिये तो यहूदी धर्म से, ईसाइयत और इस्लाम, दोनों का संबंध है। यहूदियों की तरह, ईसा और मुहम्मद भी सामी जाति के सदस्य थे। सामी जाति घोर रूप से मूर्त्तिपूजक थी। मूर्त्तिपूजा छोड़ने का उपदेश उसे सबसे पहले हजरत **इब्राहीम** ने दिया जो यहूदियों के आदि पैगम्बर हुए हैं। चूंकि हजरत इब्राहीम ने मूर्त्तिपूजा का विरोध किया और एकवाद की प्रथा चलायी, इसलिए, मुसलमान भी उनकी पैगम्बरी में विश्वास करते हैं। इन्हीं हजरत इब्राहीम के खानदान में ईसा और मुहम्मद, दोनों हुए हैं। हजरत **दाऊद, ईसा** और **मुहम्मद**, ये तीन पैगम्बर हजरत इब्राहीम के बड़े बेटे हजरत **इसहाक** के खानदान में हुए और हजरत मुहम्मद इब्राहीम के छोटे बेटे **इस्माइल** के वंश में हुए हैं।

यहूदी-धर्म के दो पैगम्बरों के नाम हजरत **दाऊद** (DAVID) और हजरत **मूसा** (MOSES) हैं। बाइबिल दो प्रकार की मिलती है। **पुरानी बाइबिल** (अथवा ओल्ड टेस्टामेंट) का कुछ भाग हजरत दाऊद का लाया हुआ है और अधिकांश हजरत मूसा का। हजरत ईसा ने जो **नई बाइबिल** कही उसका नाम न्यू टेस्टामेंट है। इन दोनों बाइबिलों में बहुत कुछ वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध वेद और उपनिषद् अथवा वेद और बौद्ध-धर्म में हो सकता है। किन्तु यहूदी लोग नई बाइबिल को नहीं मानते हैं। इसी प्रकार ईसाइयों का विश्वास पुरानी बाइबिल में नहीं है। मुसलमान जनता दाऊद, मूसा और ईसा को पैगम्बर जरूर मानती है, हां, इस्लाम यह स्वीकार नहीं करता कि हजरत ईसा परमात्मा के पुत्र थे। फिर भी, इन पैगम्बरों के प्रति इस्लाम के बड़े ही आदरयुक्त भाव हैं। मुसलमान हजरत मूसा को **कलीम-उल्लाह** (प्रभु से बातें करने वाला), हजरत ईसा को **रूह-उल्लाह** (प्रभु की आत्मा) और हजरत मुहम्मद को **रसूल-उल्लाह** (प्रभु का दूत) कहते हैं।

भारत का वैदिक धर्म प्रवृत्तिमार्गी धर्म था। उसमें यज्ञों की प्रधानता थी। पशु-

हिंसा निषिद्ध नहीं थी और यज्ञ लोग इसलिए करते थे कि यज्ञों से वृष्टि होती थी, अच्छी फसल उपजती थी, देवता प्रसन्न और शत्रु दुर्बल होते थे। किन्तु, पशुहिंसा की अति से जब चिंतकों का जी उकताने लगा तब उन्होंने, कर्मकाण्ड-प्रचुर वैदिक धर्म में से उपनिषदों का ज्ञानमार्ग निकाला और यही ज्ञानमार्ग बौद्ध धर्म के अभ्युदय का भी कारण हुआ। नई बाइबिल का ईसाई धर्म भी, इसी प्रकार, पुरानी बाइबिल में प्रतिपादित यहूदी धर्म का सुधरा हुआ रूप है। यहूदी-भाषा (हेब्रू) में ईश्वर को "इलोह" (अरबी "इलाह") कहते हैं। किन्तु, हजरत मूसा ने यहूदियों के मुख्य उपास्य देव का नामकरण "जिहोवा" कर दिया। यह जिहोवा शब्द यहूदी भाषा का शब्द नहीं है। वह खाल्दी भाषा के "यवे" (संस्कृत "यल्ह") से निकला बताया जाता है। "यहूदी लोग मूर्तिपूजक नहीं हैं। उनके धर्म का मुख्य आचार यह है कि अग्नि में पशु या अन्य वस्तुओं का हवन करे; ईश्वर के बतलाये हुए नियमों का पालन करके जिहोवा को संतुष्ट करे और उसके द्वारा इस लोक में अपना तथा अपनी जाति का कल्याण प्राप्त करे। अर्थात् , संक्षेप में कहा जा सकता है कि वैदिकधर्मीय कर्मकाण्ड के अनुसार, यहूदी धर्म भी यज्ञमय तथा प्रवृत्ति-प्रधान है। इसके विरुद्ध, ईसा का अनेक स्थानों पर उपदेश है कि "मुझे (हिंसाकारक) यज्ञ नहीं चाहिए, मैं ईश्वर की कृपा चाहता हूं" (मैथ्यू; ९/१३); "ईश्वर तथा द्रव्य, दोनों को साध लेना संभव नहीं" (मैथ्यू ; ६/२४), "जिसे अमृतत्व की प्राप्ति करनी हो, उसे बाल बच्चे छोड़कर मेरा भक्त होना चाहिए।" (मैथ्यू १९/२१)। और जब उसने शिष्यों को धर्म-प्रचारार्थ, देश-विदेश में भेजा तब संन्यास-धर्म के इन नियमों का पालन करने के लिये उनको उपदेश किया कि "तूम अपने पास सोना-चांदी तथा बहुत-से वस्त्र-आभरण भी न रखना।"*

राजनीति, समाज और साहित्य के समान धर्म में भी कोई सिद्धांत अचानक नहीं निकल पड़ता। उसकी कुछ न कुछ पृष्ठभूमि होती है। वैदिक धर्म से बौद्ध धर्म सीधे नहीं निकल सकता था। वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रिया पहले उपनिषदों में ध्वनित हुई और तब उस प्रतिक्रिया ने बौद्ध क्रांति का रूप लिया। इस दृष्टि से देखने पर, यह सहसा समझ में नहीं आता कि प्रवृत्तिमय यहूदी धर्म से अचानक ईसा का संन्यासयुक्त भक्ति-मार्ग कैसे निकल पड़ा। इसका समाधान यह कहकर किया जाता है कि ईसा से कोई दो सौ वर्ष पूर्व, यहूदियों के बीच एसी या एसीन नामक संन्यासियों का एक पंथ आविर्भूत हुआ था जिसके सदस्य हिंसात्मक यज्ञ-याग को छोड़कर अपना समय किसी शांत स्थान में बैठ कर ईश्वर-चिंतन में बिताया करते थे। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि ये लोग उदरपोषणार्थ "खेती के समान निरुपद्रवी व्यवसाय किया करते थे। क्वांरे रहना, मद्य-

---

* गीतारहस्य—बा. गं. तिलक

मांस से परहेज रखना, हिंसा न करना, शपथ न खाना, संघ के साथ मठ में रहना और जो किसी को कुछ द्रव्य मिल जाय उसे पूरा संघ की सामाजिक आमदनी समझना, आदि उनकी मंडली के मुख्य तत्व थे।" पंडितों का अनुमान है कि संन्यास की यह प्रेरणा यहूदी-धर्म में कहीं बाहर से आई होगी और इस संबंध में पाश्चात्य पंडितों को आभास होता है कि वह यूनान के दार्शनिक पिथेगोरस के अनुयायियों की देन रही होगी। किन्तु, इतना कहने से समस्या का पूरा समाधान नहीं होता। यह सच है कि पिथेगोरस पर भारतीय विचार-धारा का प्रभाव खूब पड़ा था, किन्तु, ईसाई धर्म और बौद्ध धर्म में समानता इतनी अधिक है कि उसे बौद्ध धर्म का सीधा प्रभाव माने बिना चल नहीं सकता। जीवों पर दया तथा सबके साथ मैत्री, करुणा और अहिंसा का व्यवहार, पाप से घृणा और पापी से प्यार, संन्यास और यति-वृत्ति, साधुओं का मठों में रहना और लंबा झूल पहनना, ये सारी बातें ऐसी हैं जिनका आख्यान और प्रचलन जैन एवं बौद्ध साधुओं ने किया था। और तो और, जिस **क्रास** को ईसाई लोग शूली का चिन्ह जानकर धर्म भाव से धारणा करते हैं वह **स्वस्तिक-चिह्न** के सिवा और कुछ नहीं है। वैदिक तथा बौद्ध धर्म वाले भारतीय, ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व से ही, स्वस्तिक चिन्ह को पवित्र और शुभदायक मानते आये थे। अजब नहीं कि स्वस्तिक का प्रचार सभी देशों में ईसा के पहले से ही रहा हो। फिर वही चिन्ह ईसाई धर्म का चिन्ह हो गया।

ईसा और बुद्ध के जीवन में भी विलक्षण समता है। बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व, बुद्ध को मार की चढ़ाइयों का सामना करना पड़ा था। और ईसा को भी शैतान ने लुभाने के अनेक प्रयत्न किये थे। ईसा ने सिद्धि-प्राप्ति के पूर्व, चालीस दिनों का उपवास किया था। बुद्ध के विषय में भी कथा है कि नेरंजना-नदी के तट पर सुजाता के हाथों खीर खाने के दिन से लेकर बुद्धत्व-प्राप्ति के समय (अर्थात् ४९ दिनों) तक उन्होंने वायु के सिवा कोई आहार नहीं लिया था। बुद्ध ने अंगुलिमाल डाकू का उद्धार किया एवं वेश्या अम्बपाली को संन्यासिनी बनाया। ईसा द्वारा भी शरणागत चोरों और वेश्याओं के सद्गति दिये जाने की कथा कही जाती है। वस्तुतः, ईसा और बुद्ध के व्यक्तित्व तथा उपदेशों में इतनी अधिक समता है कि लोग यह अनुमान लगा बैठे हैं कि हो न हो, ईसा अपने साधना के दिनों में भारत आये थे और उन्होंने यहां के साधुओं की संगति की थी तथा बौद्ध धर्म का विशेष रूप से अध्ययन किया था।†

---

† (क) था शिष्य ईसा हिंदुओं का यह पता भी है चला।
ईसाइयों का धर्म भी है बौद्ध सांचे में ढला। (भारत भारती)

(ख) "नैपाल के एक बौद्ध मठ के ग्रंथ में यह स्पष्ट वर्णन है कि उस समय ईसा हिंदुस्थान में आया था और वहां उसे बौद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त हुआ। यह ग्रंथ निकोलस

किन्तु यह अनुमान ही अनुमान है। इस बात का निश्चित पता तो अब तक भी नहीं चला है कि ईसा भारत आये थे या नहीं। हां, यह सत्य है कि ईसाई धर्म का विकास बुद्ध के प्रयोगों की दिशा में हुआ है और इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि यह प्रमाणित हो चुका है कि जिस भू-भाग में ईसाई धर्म उठा वहां ईसा के बहुत पूर्व से ही, बौद्ध साधुओं का आना-जाना जारी था। आरम्भ में ईसाई धर्म में भी त्याग, संन्यास, अनासक्ति अनामुष्मिकता और साधना का वही महत्व था जो भारतीय अथवा एशियाई धर्मों का लक्षण था। किन्तु, जब ईसाइयत यूरोप पहुंची, उसके रूप-रंग बदल गये, वह सांसारिकता के बहुत समीप आ गई। अतएव, ईसाई धर्म के दो रूप देखने में आये। एक तो वह जो एशियाई और मौलिक था। दूसरा वह जो यूरोपीय और सांसारिकता से अनति दूर था। भारत में ईसाइयत के इन दोनों रूपों का आगमन हुआ। एशियाई रूप तो, शायद, ईसा के दो-तीन सौ वर्ष बाद ही, पहुंच गया था। भारत के ये ईसाई सीरियन ईसाई कहलाते हैं क्योंकि अपना धर्म उन्होंने सीरिया से लिया था। किन्तु, ईसाइयत का यूरोपीय रूप भारत में पुर्तगालियों के साथ आया।

पुर्तगालियों के पहले, ईसाई धर्म का भारत में यथेष्ट आदर था। दक्षिण के हिन्दू राजे गिरजाघरों की भी सेवा उसी प्रकार करते थे जैसे हिन्दू-मन्दिरों की। गिरजा घरों के लिये भूमि का दान दिया जाता था और ईसाई सन्तों की सुविधा और सत्कार के लिये भी दान दिये जाते थे, यह प्रमाणित बात है। ईसाई धर्म के सम्मुख बाधा तब आई जब भारतीय जनता ने पुर्तगालियों के दुर्व्यवहार देखे और जब अंग्रेज यहां के शासक हो गये। जब ईसाइयत शासकों का धर्म हो गई, भारतीय जनता का चौकन्ना हो जाना बिलकुल स्वाभाविक हो गया।

यह ठीक है कि महारानी विक्टोरिया की घोषणा के पहले भी, अंगरेज शासक ईसाई धर्म-प्रचारकों की सहायता खुलकर नहीं करते थे, किन्तु, धर्मप्रचारक शासक जाति के हैं, इस बात का कोई काट नहीं था। इसके सिवा, यह बात भी शासकों के मन में अवश्य थी

नोटोविश नाम के एक रूसी के हाथ लग गया था। उसने फ्रेंच भाषा में उसका अनुवाद सन् १८९४ ई. में प्रकाशित किया है।" (गीतारहस्य : परिशिष्ट भाग ७)।

(ग) There was a book written a year or two ago by a Russian gentleman, who claimed to have found out a very curious life of Jesus Christ and in one part of the book he says that Christ went to the temple of Jagannath to study with the Brahmins, but, became disgusted with their exclusiveness and their idols and so he went to the Lamas of Tibet instead, became perfect and went home,"

(विवेकानन्द, द सेजेज आव् इंडिया में)

कि धर्मप्रचारक भारत में अच्छा कार्य कर रहे हैं, अतएव उन्हें सफलता मिलनी चाहिये। धर्म-प्रचारक शासक-जाति के थे। इसलिये, जनता पर उनका रोब आप से आप जम जाता था।

उन्नीसवीं सदी के आरंभ काल में, भारतीय जनता का अत्यन्त बुरा हाल था। हिंदुत्व की तो अवस्था ऐसी जर्जर और विषण्ण थी कि वैसी अवस्था उसकी पहले कभी नहीं हुई थी। और ऐसे समय में, एक ऐसी जाति भारत की शासक हो गई जो पुरुषार्थ में प्रवीण, साहस में अग्रणी और लोभ में अतिशय प्रचण्ड थी। किन्तु, सब कुछ होते हुए भी जो इंग्लैंड भारत आया था वह ट्यूडर या स्टीवर्ट काल का इंग्लैंड नहीं था। ट्यूडर और स्टीवर्ट कालीन इंग्लैंड में धार्मिक जोश बहुत अधिक था। यदि उन्नीसवीं सदी में भी इंग्लैंडवालों में वही धर्मोन्माद रहा होता, तो भारत में हिन्दुत्व और इस्लाम, दो में से एक भी जीवित रहता या नहीं, यह संदिग्ध है। किन्तु, सौभाग्य से उन्नीसवीं सदी तक इंग्लैंड वाले बहुत कुछ सुधर चुके थे। यूरोपीय रिनासां के समय से, यूरोप में उदार भावनाओं का जो विकास होता आया था, उन्नीसवीं सदी तक वे यूरोप के चिन्तकों और शिक्षित लोगों के बीच भली भांति पच-खप गई थी। फ्रांसीसी राज्यक्रांति का भी सांस्कृतिक प्रभाव लोगों की उदारता को विकसित करनेवाला सिद्ध हुआ। विज्ञान के जो नाना आविष्कार हुए, उनके फलस्वरूप भी, यूरोप में बुद्धिवाद का जोर बढ़ा और दार्शनिक चिन्तनों के कारण, यूरोप के पंडितों में यह भाव जगा कि धार्मिक उन्माद ठीक नहीं है। संभव है, हमारे धर्म में जितनी गहराई है, दूसरे धर्मों में उससे कुछ अधिक गहराई हो। ये गुण ईसाइयत के विरोधी तो नहीं थे, किंतु, इतना अवश्य था कि अब यूरोप वाले अपने धर्म को फैलाने के लिये अधिक जोर-जबर्दस्ती नहीं करना चाहते थे। यही कारण है कि इस्लाम के प्रचार के लिये, भारत में जो बर्बरता बरती गई थी, उसका सहस्रांश भी ईसाइयत के प्रचार में दिखायी नहीं पड़ा। अपने धर्म बन्धुओं के बीच, अन्य धर्मों का प्रचार किसी को भी अच्छा नहीं लगता, किन्तु, तब भी ईसाई शासकों और प्रचारकों का शील भारत में कभी भी बहुत निन्दित नहीं हुआ। यही कारण है कि हमारे अंगरेजी पढ़े-लिखे विद्वान् जब क्रूरता के लिये किसी की निन्दा करते हैं तब उनके मुख से अ-ईसाई या अन-क्रिश्चियन शब्द निकल जाता है। यह इस बात का पक्का प्रमाण है कि हम भारतवासी ईसाइयत को आदमी का अच्छा गुण और ईसाई धर्म को, अपनी जगह पर, अच्छा धर्म समझते हैं।

यह भी सोचने की बात है कि भारत में ईसाई धर्म का लगातार प्रचार सन् १५०० ई. से होता आया है। औरंगजेब के बाद से तो, दिनों दिन भारत की राजनीतिक स्थिति बिगड़ती ही गई और ईसाइयों को घटते पानी में मछली मारने का काफी अवसर मिला।

किन्तु, इसका लाभ उन्हें बहुत ही कम पहुंचा है। दो सौ साल के अंगरेजी राज्य में ईसाई धर्म-प्रचारकों ने कोई बात उठा नहीं रखी। फिर भी, सारे भारत में ईसाइयों की संख्या आज साठ लाख से अधिक नहीं है और इनमें भी, प्रायः, सबके सब वे ही लोग हैं जो हिन्दुत्व के अन्दर छोटी जातों में गिने जाते थे अथवा जो आदिवासी और वन्य होने के कारण प्रचलित हिन्दू-वृत्त से दूर थे। इस्लाम का प्रचार भी इसी वर्ग के भीतर हुआ था, किन्तु, मुसलमान कुछ अच्छे हिन्दू भी हुए थे। किन्तु, कितने उच्चवंशीय हिन्दू या मुसलमान क्रिस्तान हुए हैं, इस प्रश्न का उत्तर नगण्य है। भारत में धर्म-परिवर्तन, मुख्यतः, उन्हीं लोगों ने किया है जो हिन्दुत्व के भीतर अनादृत और त्रस्त थे, जिनकी सुधि लेने वाला कोई नहीं था। इतने आलोड़नों और झकोरों की चपेटें खाने के बाद भी, हिन्दू-जाति की धर्मप्राणता ढीली नहीं हुई। और बातों में वह चाहे जिसे भी अपना गुरु मान ले, किन्तु, धर्म के क्षेत्र में वह अब भी अपने को निखिल भूमंडल का गुरु समझती है।

एबी दुबोय (Abbe Dubois) ने सन् १८१५ ई. में धर्म-प्रचार-संबंधी अपना जो अनुभव लिखा, उससे ज्ञात होता है कि तब तक भारत में ईसाइयत को फैलने की राह नहीं मिल रही थी। वह लिखता है कि "मैंने आंसू तो बहुत बहाये, किन्तु, वे नंगे पत्थरों पर गिरे हैं। जो लोग ईसाई हुए थे, उनमें से दो-तिहाई धर्म को छोड़कर अपने मूल वृत्त में वापस चले गये हैं। जो बाकी बचे हैं, उनकी संख्या केवल ३३००० है। साठ साल से हम लोग प्रचार कर रहे हैं, किन्तु, उच्चवर्गीय हिन्दुओं पर हमारा कोई प्रभाव नहीं पडा है। पिछले तीस वर्षों में, हमने केवल तीन सौ लोगों का धर्म-परिवर्तन किया है, जिनमें से दो सौ तो केवल अछूत हैं। हिन्दुओं का धर्म बदलना आसान नहीं है। इनके बीच प्रचलित किसी भी रिवाज को छूते ही, सारी जनता विरोध में खड़ी हो जाती है। जिस दिन सरकार इस काम में हाथ डालेगी, उसी दिन उसके राजनीतिक अस्तित्व का लोप हो जायगा।"*

किन्तु, हिन्दुत्व का यह अवरोध उस समय था जबकि अंगरेज शासन भारत में ठीक से अपनी जड़ जमा नहीं सका था। जड़ के जमते ही, बातें बदलने लगीं और धर्म-प्रचारकों का आगमन अधिकाधिक संख्या में होने लगा। शासन खुलकर तो उनके साथ नहीं था, किन्तु, वह काफी बचाव के साथ, उन्हें पूरा प्रोत्साहन दे रहा था। अंगरेजों की आशा थी कि भारतवर्ष एक-न-एक दिन अवश्य ईसाई हो जायगा।

धर्मप्रचारकों पर जो प्रतिबंध था, वह सन् १८१३ ई. में उठा लिया गया। फिर तो, सारा उत्तरी भारतवर्ष ईसाइयत के प्रहारों के लक्ष्य में आ गया। कैरी, डफ और विलसन के नेतृत्व में सारा धर्म-प्रचारक-समुदाय हिन्दू-समाज पर टूट पड़ा और इस बार, वह अपना लक्ष्य उच्चवर्गीय हिन्दुओं को बनाने लगा। अंगरेजी शिक्षा से, कदाचित्, उन्हें

---

* माडर्न इंडिया एण्ड द वेस्ट

कुछ विशेष आशा हो चली थी। अतएव, बाइबिल के उपदेश और सड़कों तथा गलियों में भाषण, यह आम बात हो गई। इसी काल में मिशनरियों ने अनेक कालेजों की स्थापना की। कलकत्ते के बिशप कालेज और डफ कालेज (अब चर्च असेम्बली कालेज), त्रिचिनापल्ली के विलसन और एस. पी. जी. कालेज, ये सारी संस्थायें इसी काल में खुलीं और शिक्षा के माध्यम से ये ईसाई धर्म का प्रचार करने लगीं।

इस आन्दोलन का प्रभाव ईसाइयों के लिये अनुकूल सिद्ध हुआ। कहते हैं, सन् १८१५ ई. में ईसाइयों की संख्या भारत में कोई दो लाख तक पहुंच गई थी। शिक्षा के साथ-साथ ईसाई धर्म जिस प्रकार फैलने लगा था, शायद, उसी को देखकर **मेकाले ने कहा था कि थोड़ी-सी पाश्चात्य शिक्षा से ही बंगाल में मूर्त्ति पूजने वाला कोई नहीं रह जायगा।"** और ईसाई सन्त, मेकाले की इस आशा से, पूर्ण रूप से सहमत थे। चर्चों की एक सभा के समक्ष, सन् १८३५ ई. में डाक्टर डफ ने यह घोषणा की थी कि "**जिस-जिस दिशा में पाश्चात्य शिक्षा प्रगति करेगी, उस-उस दिशा में हिन्दुत्व के अंग टूटते जायगे। और अन्त में जाकर ऐसा होगा कि हिन्दुत्व का कोई भी अंग साबत नहीं रहेगा।**" उन्हीं दिनों, लार्ड शाफ्ट्सबरी ने कहा था कि "जो भी हिन्दू ईसाई-परमात्मा का ध्यान करेगा, वह ब्रह्मा और विष्णु को स्वयमेव भूल जायगा।" और, सत्य ही, अंगरेजी शिक्षा हिन्दुत्व का प्रचंडतम शत्रु होती जा रही थी।

हिन्दुत्व में कंपन

हिन्दुत्व का स्वभाव रहा है कि वह कठिनाइयों के अभाव में सो जाता है और निद्रा उसकी तब टूटती है, जब उसके अंग पर वज्राघात किया जाय। ईसाई लोग, काफी अरसे से, अपना धर्म-प्रचार कर रहे थे, किन्तु, हिन्दुत्व की नींद नहीं टूटी थी। यही देखकर धर्म-प्रचारकों का मनसूबा बढ़ता जा रहा था। किन्तु, धीरे-धीरे वज्राघात का समय आ गया। अंगरेजी शिक्षा से जो प्रकाश निकला, उससे हिन्दू युवक सभी दिशाओं से मुड़कर केवल पश्चिम की ओर देखने लगे। उन्होंने जो दृष्टि प्राप्त की उससे पूरब के संसार में उन्हें केवल दोष-ही-दोष दिखाई देने लगे। और यह बिलकुल स्वाभाविक बात थी। उपनिषदों के युग में और बौद्ध काल में, भारत के मनीषियों ने जो सूक्ष्म चिन्तन किया था, जिस प्रकार शंकाओं, प्रश्नों और बौद्धिक समस्याओं का सामना किया था, उसकी कहानी अब किसी को याद नहीं थी। सिद्धों और निर्गुणियों सन्तों ने क्रांति की जिस मशाल को जीवित रखा था, मोगलकालीन विलास से वह भी बुझ चुकी थी। कबीर के बाद, न तो भारत में विचारों का कोई क्रांतिकारी सन्त जन्मा था, न तुलसी और कृष्ण-चैतन्य के बाद, उनके समान कोई भक्त। हिन्दुत्व सिमट कर पौराणिक हो गया था और अन्धविश्वास को छोड़कर उसका कोई और रूप दिखाई नहीं देता था। इधर, अंगरेजी

पढ़कर जो हिन्दू नवयुवक तैयार हो रहे थे, उनका मस्तिष्क बुद्धिवादी तर्कों से भरा हुआ था, वे मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं मानना चाहते थे, तीर्थों और मन्दिरों के पीछे किसी आध्यात्मिक सत्य का पता उन्हें नहीं चलता था, न वे धर्म के हिन्दू-अनुष्ठानों को बुद्धि से समझ सकते थे। एक तो उनके मन में बुद्धिवाद का जोर था और उनका हृदय उदारता और क्रान्ति के भावों से भरा हुआ था; दूसरे, उनके काम में अनवरत ईसाई धर्म-प्रचारक हिन्दुत्व की निन्दा की वृष्टि कर रहे थे।* हिंदू धर्म पर चारों ओर से आलोचना के बाण बरस रहे थे, किन्तु, उनका उत्तर देनेवाला कोई नहीं था। हिन्दूधर्म का नेता पंडा और पुरोहित वर्ग था जिसकी सबसे बड़ी पूंजी रूढ़ियां और अन्धविश्वास थी। भला यह वर्ग क्या कह कर निन्दकों को जवाब देता ?

निदान, हिन्दू कालेज से निकला हुआ हिन्दू युवकों का पूरा का पूरा दल एकदम बहक गया और वह बड़ी ही निर्ममता के साथ, ठीक उसी प्रकार, हिन्दुत्व की निन्दा करने लगा जिस प्रकार से ईसाई मिशनरी कर रहे थे। ये नौजवान प्रतिभामंजक क्रांतिकारी थे। उन्होंने, सचमुच ही, मूर्त्तियों पर तो हाथ नहीं उठाया, किन्तु, अपने पूर्वजों के धार्मिक और नैतिक असबाबों पर उनकी कोई श्रद्धा नहीं रह गई। घर-घर में यह विवाद छिड़ गया कि ईश्वर को मानना ठीक है या नहीं। ईश्वर साकार है या निराकार ? मन्दिरों में जाना अन्धविश्वास और मूर्त्ति की पूजा रूढ़ि की आराधना क्यों नहीं है ? जाति की प्रथा दूषित और सारा हिन्दू धर्म ही कलंकित और दोषपूर्ण क्यों नहीं माना जाय ? उनका निश्चित मत हो गया कि पुराण की कथाएं गप्पों का अम्बार हैं और यज्ञोपवीत, चन्दन, कंठी, माला और शिखा, ये फालतू चीजें हैं। जो नौजवान कुछ अधिक जोशीले थे उन्होंने

---

*(क) "वह (ईसा मसीह) तुम्हारे देवतों के समान नहीं है जो मर-मिटे हैं। रामचंद्र लक्ष्मण के शोक में सरजू नदी में डूब मरा। कृष्ण प्रयास-तीर्थ के बन में भील के शर से मारा गया। ब्रह्मा का सिर शिव ने काटा। विष्णु को शिव जो उसके काले बाल का अवतार था, निगल गया। शिव ने भीमसेन के डर के मारे हिमालय में प्राण तजा। इस रीति सब देवते जिन पर तुम मुक्ति की आशा रखते हो मर मिटे।"

(ख) "मैं बुरा तो हूं परन्तु देवताओं से बुरा तो नहीं हूं। वरन् उनसे कहीं भला हूं। शिव के समान जाति से अनादर और अप्रतिष्ठित नहीं हुआ और ब्रह्मा की नाईं कामातुर हो के अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया और विष्णु की नाईं पराई स्त्री को नहीं ठगा और उनके अवतारों की रीति प्रतिज्ञा भंजक और निर्दोषियों का घातक और नास्तिक मत और अधर्म का उपजायक नहीं हुआ और इन्द्र के समान अपने गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया।"

(श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के आधुनिक साहित्य में उद्धृत)

कस कर मदिरा पान करना आरम्भ किया और अपने पिता, चचा और बांधवों को वे यह दिखलाने लगे कि वे उनसे सर्वथा भिन्न हैं। इनसे भी अधिक उन्मत्त नवयुवक बीसियों प्रकार से अपने बाप-दादों को चिढ़ाने लगे और मन्दिरों में गोमांस अथवा गाय की हड्डी फेंक देना आम बात हो गई।

इनमें से जो अधिक विचारवान थे, उन्होंने भी घोषणा कर दी कि हिन्दुत्व के नवीन और प्राचीन, वैदिक और पौराणिक, साकारवादी और निराकारवादी, सभी रूप व्यर्थ हैं। पाठ्य क्रम में धर्म का स्थान नहीं रहने के कारण, इन्हें अपने धर्म से तनिक भी परिचय नहीं था। संस्कृत भाषा से वे अनभिज्ञ थे, यदि संस्कृत ये पढ़ते भी थे तो काव्य और नाटक के लिये। इसके विपरीत, उन विज्ञान-सम्मत विचारों से ये ओत-प्रोत थे जिनकी कसौटी पर यूरोप में भी धर्म की आलोचना चल रही थी। फिर अपने धर्म की ये निन्दा भी काफी सुन रहे थे। परिणाम यह हुआ कि धर्म के मामले में, वे बिलकुल शून्य में जा लटके। ये लोग अपने को मुक्त चिन्तक कहते थे। विचारों से वे अंगरेजों की सन्तान हो गये थे, किन्तु, सामाजिक दृष्टि से वे किसी भी समाज के सदस्य नहीं थे। अपने घर में वे विदेशी थे, अपने गांव में उनका कोई आत्मीय नहीं था। ये ठीक उसी प्रकार के भारतीय थे जिनकी कल्पना मेकाले ने की थी— तन से भारतीय, किन्तु, मन से अंगरेज। ये ही वे शिक्षित युवक थे जिन्हें देखकर शासकों और धर्मप्रचारकों को यह आशा हो चली थी कि भारतवासियों को क्रिस्तान बनाने के लिये किसी विशेष आयोजन की आवश्यकता नहीं है, केवल अंगरेजी पढ़ाना काफी होगा। इनकी वाणी, इनके विचार और इनके व्यवहार से सारा हिन्दू-समाज दुःखी हो उठा और वे हिन्दुत्व के सबसे बड़े शत्रु माने जाने लगे। पर्सिवल (P. Percival) ने अपनी "लैण्ड ऑव् दा वेदाज़" पुस्तक में तत्कालीन एक समाचार-पत्र का उद्धरण दिया है जिसमें संपादक ने कहा था कि "क्या हिन्दू कालेज में एक नये ढंग के मनुष्यों की नींव नहीं रखी जा रही है? हिन्दू कालेज से समाज की धार्मिक भावनाओं को जैसी गहरी ठेस पहुंची है, क्या उसका शतांश भी मिशनरियों के आन्दोलनों से लगा था?"

जहां शून्य होता है, वहीं अवांछित वस्तुएं अपनी राह बनाती हैं। इन मुक्त चिंतकों ने जब हिन्दू धर्म में अपनी जगह छोड़ दी तब वे क्रिस्तान भी होने लगे। किन्तु, धर्म-परिवर्तन वे इसलिये नहीं करते थे कि ईश्वर में उनका अटल विश्वास था अथवा आत्मा के लिये वे उपयुक्त वातावरण खोज रहे थे। अक्सर धर्म-परिवर्तन का उद्देश्य सामाजिक सुविधा होती थी।* बहुतों ने इसलिये भी धर्म छोड़ा कि हिन्दू-समाज में जाति की कड़ी प्रथा

* "एक बार प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त किसी काम से दक्षिणेश्वर आये थे। वे अपने काम को समाप्त करके श्री रामकृष्ण से भेंट करने गये। शास्त्रीजी (नारायण

और परदे का रिवाज था। इन दोनों नियंत्रणों के रहते हुए, प्रेम की लीला मनोवांछित ढंग से नहीं चल सकती थी। स्वयं माइकेल का भी धर्म-परिवर्तन पेट से अधिक प्रेम के कारण हुआ था। यूरोपीय रोमांटिक कविताएं और कहानियां तथा नाटक पढ़कर युवकों म उद्दाम प्रेम की तृषा जगी और उसकी तृप्ति की राह हिन्दू-समाज में अवरुद्ध देखकर, उनमें से कितने ही लोग ईसाई हो गये। दिमाग में स्वतंत्र विचारों के तूफान और दिल में जवानी की रंगीन उमंगें, किन्तु, सारा समाज परदे के प्रथा से पीड़ित। निदान, युवकों ने प्रेम के कारण भी अपने धर्म का परित्याग किया।

भारतीय युवकों में जो उच्छृंखलता दिखायी पड़ी वह ईसाई धर्म का परिणाम नहीं थी। धर्म का काम मनुष्यों को उच्छृंखल बनाना नहीं है और न ईसाई धर्म इस नियम का अपवाद है। उच्छृंखलता का कारण यूरोपीय साहित्य में अभिव्यक्त निर्बन्ध विचार थे, उच्छृंखलता का कारण यूरोप से गृहीत यह विश्वास था कि धर्म की हो अथवा व्यवहार की, कोई भी ऐसी बात मानने योग्य नहीं है जो बुद्धि की पकड़ में नहीं आती हो। भारतवर्ष में मुक्त चिन्तन का मार्ग कई सौ वर्ष पहले ही अवरुद्ध हो चुका था। धर्म और समाज, दोनों ही क्षेत्रों में भारतवासी अपने शास्त्र को देखकर चलते थे और शास्त्र के मानी वे सभी पुराण भी थे जिनमें परस्पर विरोधी बातें गुंथी हुई थीं। भारतवासियों की बुद्धि इतनी जड़ हो गई थी कि कोई यह सोचता ही नहीं था कि छुआछूत मनुष्यता के प्रति घोर पाप है, कि विधवा-विवाह नहीं होने देना नारी-जाति के प्रति अन्याय है, कि शूद्र और नारी को वे ही अधिकार मिलने चाहिएं जो उच्च वर्णों के पुरुषों को प्राप्त हैं। समाज में भ्रूण-हत्यायें चलती थीं, बालिकाओं का वध चलता था, जहां-तहां सती की प्रथा भी कायम थी और लोग छिपकर नीच जाति की स्त्रियों से भी संबंध करते थे। किन्तु, इन बातों के खिलाफ समाज में कोई नहीं सोचता था। तीर्थों में व्यभिचार के अड्डे बने हुए थे, महन्तों के घर पापाचार के आश्रय थे और मूर्त्तियों को पुजवानेवाले पंडे विलास में डूबे हुए थे। किन्तु, इन बातों को रोकने वाला कोई नहीं था। सब समझते थे कि इन्हें रोकने से धर्म का अपमान होगा।

शास्त्री) उस समय वहीं थे। शास्त्रीजी ने माइकेल से ख्रिस्ती धर्म स्वीकार करने का कारण पूछा। माइकेल बोले, "मैंने पेट के लिये ऐसा किया।" इस उत्तर को सुनकर शास्त्रीजी क्रोध में आकर बोल उठे, "क्या इस क्षणभंगुर संसार में पेट की खन्दक को भरने के लिये अपने स्वधर्म का त्याग किया? धिक्कार है ऐसे मनुष्य को। एक दिन मरना तो है ही। यदि अपने धर्म में रहते हुए ही आप मर जाते तो क्या संसार सूना हो जाता?" माइकेल के चले जाने पर शास्त्रीजी ने श्री रामकृष्ण के दरवाजे पर कोयले से लिख दिया, "पेट के लिये स्वधर्म त्यागनेवालों को धिक्कार है।" (रामकृष्ण-लीलामृत; प्रथम भाग)

यूरोप से जो ज्ञान आया था उसके प्रकाश में वे लोग समाज की बुराइयों और धर्म की रूढ़ियों को स्पष्ट देखने लगे जिन्हें अंगरेजी की शिक्षा मिली थी। यूरोप और भारतवर्ष की टकराहट से एक बार फिर वह भाव सोते से जाग पड़ा जो बुद्ध के समय प्रकटा था, जो कबीर के समय प्रत्यक्ष हुआ था और लोग गंभीरता से धर्म और समाज के ढांचे पर एक बार फिर उसके मूल से ही सोचने लगे। किन्तु, ये चिंतक सामान्य कोटि के लोग थे। असल में, उन्हें चिन्तक कहना भी नहीं चाहिए। वे शंकाओं से त्रस्त छोटे-छोटे मनुष्य थे जिन्हें हिन्दुत्व की हर चीज छूंछी और निस्सार दिखाई देती थी, जो अपने समाज और धर्म की कुरूपताओं से शरमाये हुए थे और जिन्हें इस रहस्य का तनिक भी पता नहीं था कि बुद्धिवाद और उदारता के भी तत्त्व हिन्दुत्व में विद्यमान हैं। इन नव-शिक्षितों की मनोवृत्ति पराजितों की मनोवृत्ति हो गई और अपने ईसाई शिक्षकों, ईसाई दोस्तों एवं अंगरेजी से रोशन दिमाग वालों के सामने अपने मस्तक को उठाये रखने के लिये उन्होंने खुलकर अपने धर्म की भर्त्सना आरम्भ कर दी। धर्म-त्याग इनमें से थोड़े ही लोगों ने किया। किन्तु, जो किसी भी कारण से अपने धर्म के भीतर रह गये, वे भी हिन्दुत्व को निर्ममता से झकझोरने लगे। ये भारत में प्रविष्ट यूरोप के नवीन विचारों के आरम्भिक नेता थे और घर, छात्रावास, गांव, शहर एवं विद्यालयों में इनकी जो बकवास चलती थी, उससे हिन्दुत्व का पक्ष दिनोंदिन कमजोर पड़ता जा रहा था और ईसाई धर्म का मार्ग खुलता जाता था। किन्तु, एक बात हुई जिससे ईसाई धर्म का मार्ग, पूर्णतः नहीं खुला। और वह बात यह थी कि भारत के नवशिक्षित हिन्दू धर्म की निन्दा और ईसाइयत की प्रशंसा चाहे जितनी भी करते हों, किन्तु, स्वयं उनके भीतर धार्मिकता का कोई चिन्ह नहीं था। वे हैट-बूट से सुसज्जित घोर रूप के संसारी मनुष्य थे, जिनके आमिष भोजन और मदिरा-पान की कहानियां सर्वत्र प्रचलित थीं। भारत में धर्म के साथ एक प्रकार की फकीरी, एक प्रकार का आत्म-त्याग और अपरिग्रह का भाव सदा से वर्तमान रहा है। अतएव, इन बकवासी युवकों का भारतीय जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उलटे, वह उनसे घृणा करने लगी।

इस घृणा के शिकार ईसाई धर्म-प्रचारक भी हुए। भारत में इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारों की तुलना करने पर एक बात स्पष्ट दिखायी देती है कि भारत में इस्लाम का अधिक प्रचार इसलिये भी संभव हुआ कि उसके प्रचारक सूफी सन्त थे, जो सांसारिकता से दूर थे, जो अपने शरीर को कष्ट में रखने के अभ्यासी थे, जिनका राजदरबारों से कोई संबंध नहीं था और जो शासक मुसलमानों के गिरोह के आदमी नहीं थे। इसके विपरीत ईसाई धर्म-प्रचारकों को यहाँ की जनता ने संन्यासी नहीं समझा। जनता को वे नये शासन की धार्मिक सेना के सिपाही नजर आये। सूफियों और संन्यासियों के जीवन की सरलता

और तपश्चर्या यदि ईसाई प्रचारकों के जीवन में रही होती तो, निश्चय ही, उन्हें अधिक सफलता मिली होती और हिन्दुत्व का अधिक विनाश हुआ होता। हिन्दू-जनता बराबर उस आदमी को पूजती है जो इच्छामात्र से संसार-त्याग कर संन्यास ले सके। ईसाई प्रचारकों में इस त्याग का अभाव था और जनता यह भांप गई थी कि ये प्रचारक मौका पाते ही गद्दीनशीन हो सकते हैं।

हिन्दुत्व पर आक्रमण का काम इसलिये भी कठिन है कि हिन्दू-धर्म रेजिमेंटेशन (जकड़बन्दी) से घृणा करता है। इस धर्म का दार्शनिक पक्ष अधिक-से-अधिक उदारता को मनुष्य का उत्तम गुण मानता है। अपने विचारों के लिये उचित से अधिक आग्रह करना, दूसरों के धर्म, मत या विचार का निर्ममतापूर्वक अनादर करना अथवा अपने विश्वास पर कट्टर होकर खड़ा रहना, ये बातें हिन्दुत्व के खिलाफ हैं और प्रत्येक हिन्दू अपने अन्तर्मन में ऐसा काम करनेवालों का अविश्वास करता है। ईसाई धर्म-प्रचारक प्रचार के उत्साह में आकर इस प्रकार के काम खूब करते थे। अतएव, यहां की जनता का विश्वास उन्हें प्राप्त नहीं हो सका। जिस प्रकार, अंगरेज शासक भारत में राज करते हुए भी, इंग्लैंड में ही बने रहे, उसी प्रकार, ईसाई प्रचारक भी यहां की जनता के झुंड में प्रवेश नहीं पा सके।

चूंकि ईसाई प्रचारक समाज से अलग रहते थे, इसलिये, जनता को यह जानने का अवसर नहीं था कि उनके वैयक्तिक जीवन में क्या सरलता, और तप है। उनकी प्रशंसा करने वाले नवशिक्षित हिन्दुओं ने समाज में अपने आचार का जो प्रमाण दिया, वही आचार ईसाई पादरियों का भी मान लिया गया और दोनों के दोनों भोगवादी समझे जाकर आंखों से उतार दिये गये। गांगुली नामक एक बंगाली ब्राह्मण क्रिस्तान हो गया था और धर्म प्रचारकों में उसका आदर भी यथेष्ट था। सन् १८६० ई. में उसने लिखा था कि "ईसाई धर्म के विषय में हिन्दुओं का यह ख्याल है कि ईसाई होने के लिये यह आवश्यक है कि आदमी पहले अपने माता-पिता से दुर्व्यवहार करे*, गाय और सूअर का मांस खाये तथा मदिरा का पान करे। यह भी कि ईसाई होने की दूसरी शर्त यह है कि आदमी भी जानवरों के समान खाने के बाद मुंह नहीं धोये और उन सारी चीजों से घृणा करे जो हिन्दुत्व से संबद्ध हैं, चाहे वे सुन्दर और उपयोगी ही क्यों नहीं हों।"

भारत में ईसाइयत अंग्रेजों के प्रताप के काल में भी उतना नहीं फैल सकी, जितने की आशंका थी। और इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि वह भारतीयता का वरण करने में असमर्थ रही। ईसाई धर्म इस देश को यूरोप बनाना चाहता था। सन्

*यह उदाहरण अधिकतर उन लोगों ने उपस्थित किया जिन्हें इंग्लैंड या यूरोप जाने का अवसर मिला। वहां से लौटने के बाद ये युवक अपने पिता को प्रणाम करने में शरमाते थे और अगर अपने साथ मेम लाते तो मां-बाप को छोड़कर अलग घर बसा लेते थे।

१९३१ ई. में प्रोफेसर शेषाद्रि ने एक बार कहा था, कि भारतीय ईसाई ईसाई होते ही मांस खाना, हैट पहनना, शराब पीना और भारतीयता की द्योतक प्रत्येक वस्तु से अपने आप को अलग रखना आवश्यक समझने लगते हैं। आरंभ में स्वयं गांधीजी भी यह समझते थे कि जो आदमी ईसाई बनना चाहता हो उसे गोमांस खाना, शराब पीना और यूरोपीय लिबास पहनना ही पड़ेगा। केशवचन्द्र सेन ब्रह्मसमाजी थे। किन्तु, विचारों में वे सोलह नहीं तो बारह आना क्रिस्तान अवश्य थे। किन्तु, उन्हें भी ईसाइयत का यह पाश्चात्य रूप खटकता था। उन्होंने एक बार कहा था कि "लगता यह है कि ईसा हम लोगों के बीच अंग्रेज बनकर आये हैं। उनके रंग-ढंग और तौर-तरीके अंग्रेजी हैं। उनका मिज़ाज और उनकी आत्मा भी अंग्रेजों का मिजाज और अंग्रेजों की आत्मा है। इसीलिए, हिन्दू उनसे बिदकते हैं। यदि आप ईसा को हमारे बीच लाना ही चाहते हैं तो उन्हें सुसभ्य यूरोपीय व्यक्ति बनाकर मत लाइये। बल्कि, उन्ह एशिया के सन्त के रूप में भेजिये जिसकी सारी पूंजी उसकी समाधि और जिसका सारा धन उसकी प्रार्थना में है।"

स्वयं विवेकानन्दजी महाराज को तत्कालीन शिक्षित युवकों से असंतोष था। "तुम बकवास करते हो, आपस में विवाद और झगड़े करते हो तथा उन सभी वस्तुओं की खिल्ली उड़ाते हो जो हमारे लिए पवित्र हैं। तुम्हें इसका ध्यान ही नहीं है कि प्राचीरों के बाहर असंख्य भारतीय जनता उस अमृत की एक बूंद पीने को बेचैन है जो हमारे प्राचीन शास्त्रों में भरा पड़ा है।"* ईसा का यूरोपीय रूप विवेकानन्द को भी पसन्द नहीं था। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था कि "लोग अक्सर यह भूल जाते हैं कि ईसा एशियाई थे। वे चित्रों में ईसा की आंखें नीली और बाल पीले दिखलाते हैं। किन्तु, इससे कुछ आता-जाता नहीं। ईसा तो फिर भी एशियाई ही हैं। बाइबिल में जो उपमाएं हैं, जो चित्र हैं, जो दृश्य, प्रवृत्ति, काव्य और प्रतीक हैं, वे एशिया के हैं, पूर्वी विश्व के हैं। बाइबिल का आकाश चमकीला है, उसके वातावरण में गर्मी है, उसके भीतर मरुप्रदेश का सूर्य है, उसके भीतर प्यासा आदमी और पिपासित जीव हैं। बाइबिल में उन कूपों का उल्लेख है जिनसे पानी लेने को नर और नारियां दूर गांवों से आते हैं।—ये सारे दृश्य एशिया के हैं, यूरोप के नहीं।"†

हिन्दू समाज पर ऐसा प्रभाव इसलिए पड़ा कि नवशिक्षित हिन्दू युवक लिबास और विचार से अंग्रेज हो रहे थे एवं भारतीयता की द्योतक प्रत्येक वस्तु से उन्हें घृणा होने लगी थी। नई शिक्षा आवश्यक थी क्योंकि रोज़ी अब फारसी नहीं, अंग्रेजी पढ़कर ही कमायी जा सकती थी। किन्तु, अंग्रेजी का प्रभाव हिन्दुत्व के लिए घातक होता जा रहा था। बाहर मिशनरी थे जो पुस्तकें छापकर, अखबार निकालकर और सड़कों, गलियों, कचहरियों,

---

* कलकत्ता-अभिनन्दन का उत्तर। † क्राइस्ट, द मैसेंजर।

बाजारों और स्कूलों तथा कालेजों में भाषण देकर निर्भीकतापूर्वक हिन्दू-धर्म की धज्जियां उड़ा रहे थे। और घरों में नवशिक्षित हिन्दू युवकों का तेजस्वी समुदाय था जो हिन्दुत्व को सैंकड़ों प्रकार से अपमानित करके अपने समाज की छाती कुरेद रहा था। राजा ईसाई, प्रचारक ईसाई, शिक्षा ईसाई और शिक्षितों पर ईसाइयत का दिनोंदिन बढ़ता हुआ व्यापक प्रभाव। धर्म एक बार फिर महाविपत्ति के घेरे में था और आस्तिकों के मन में भगवान की यह वाणी अस्फुट स्वरों में गूंज रही थी—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

हिन्दू नवोत्थान

"भारतीय नवोत्थान की धारा के क्रम में छोटे-बड़े अनेक व्यक्तित्व उत्पन्न हुए हैं। यह धारा अब भी प्रवाह में है और आज भी ऐसे व्यक्तित्वों का आविर्भाव अवरुद्ध नहीं हुआ है। किन्तु, इन सारे व्यक्तित्वों के आध्यात्मिक पिता राममोहन राय हैं।"

– एच. सी. ई. जकारिया*

गीता का यह वचन ठीक है कि जब-जब धर्म का पतन और अधर्म का उत्थान होता है तब-तब संसार में ऐसी आत्माएं अवतीर्ण होती हैं जिन्हें अवतार कहते हैं। ये अवतार साक्षात् भगवान होते हैं या नहीं, इस विचिकित्सा में पड़ना व्यर्थ है। प्रत्येक व्यक्ति जिस ब्रह्म का स्वरूप है औसत व्यक्तियों से बड़े व्यक्ति भी उसी ब्रह्म के स्वरूप होते हैं। किन्तु स्वर्ग में कोई खास चाक नहीं है जिस पर अवतारों, पैगम्बरों और सुधारकों का निर्माण होता हो। निर्माण उनका इसी भूमि पर होता है और स्वभाव एवं विचार उनके क्या हों, इसका निर्णय भी उस समाज की आवश्यकताएं करती हैं जिसके बीच इन अवतारों का जन्म होता है। सन्त और सुधारक, मुख्यतः, अपने ही समय की शंकाओं का उत्तर देने को आते हैं। अतएव, एक सुधारक की वाणी दूसरे सुधारक की वाणी से ईषत् भिन्न होती है क्योंकि समाज की शंकाएं सदा एक-सी नहीं रहतीं। बुद्ध का उपदेश हिंसा के त्याग का उपदेश था, निर्वृत्ति और संन्यास का उपदेश था क्योंकि जिस समाज में बुद्ध उत्पन्न हुए थे, वह याज्ञिक हिंसा से पीड़ित था और लोग प्रवृत्ति के मार्ग पर इतनी दूर तक चले गए थे कि मरकर भी वे स्वर्ग में वही सुख भोगना चाहते थे जो उन्हें इस संसार में उपलब्ध था। इसी प्रकार, शंकराचार्य ने निराकार ब्रह्म और मायावाद को प्रमुखता इसलिए दी कि शून्यता के सिद्धान्त को अंगीकृत किये बिना ब्राह्मण-धर्म बौद्ध-धर्म को पराजित नहीं कर सकता था। फिर रामानुज, वल्लभ आदि आचार्यों ने साकार ईश्वर पर इसलिए जोर दिया कि जनता निराकार और निर्गुण की उपासना से संतुष्ट नहीं थी, न निराकार ब्रह्म को लेकर उसके भीतर भक्ति का ज्वार उठाया जा सकता था। इसी प्रकार, कबीर और नानक फिर निराकार की ओर इसलिये चले गये कि अब भारत में इस्लाम आ गया था एवं सुधारकों ने देखा कि निराकार ब्रह्म की उपासना के द्वारा ही हिन्दुओं और मुसलमानों की पारस्परिक दूरी कम की जा सकती है। किन्तु, सूर, तुलसी, मीराबाई और कृष्ण चैतन्य साकार से, तब भी, इसलिए लिपटे रहे कि साकार भक्ति की धारा, दबना नहीं

*Renascent India.

चाहती थी, न ब्राह्मण-धर्म का वैदिक स्रोत उपेक्षित होने को तैयार था ।

उन्नीसवीं सदी से पूर्व, भारत में जो भी सुधारक संत हुए, उनका एकमात्र विषय धर्म था, क्योंकि धर्म ही तत्कालीन समाज की मुख्य सांस्कृतिक धारा थी एवं राजनीति और समाज की चेतना तब तक उसके वृत्त से बाहर की चीज़ थी अथवा यह कहना चाहिए कि राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना तब तक उतना नहीं बढ़ी थी कि वे धर्म को भी अपने प्रभाव में लाना चाहे । किन्तु, उन्नीसवीं सदी तक आकर समस्या का रूप बदल गया और जो धर्म पहले अपने आप में ही पूर्ण समझा जाता था उसकी जांच अब सामाजिकता की कसौटी पर की जाने लगी । भारत में यूरोपीय ज्ञान के आगमन के बाद, भारतीय धर्मों की जो आलोचना चलने लगी थी, उसका भी मुख्य कारण यह नहीं था कि हिन्दू-धर्म और इस्लाम ईसाइयत के सामने तुच्छ थे अथवा भारतीय धर्मों की त्रुटियां ईसाई धर्म में नहीं थीं । बल्कि, इस आलोचना को प्रेरणा इस बात से मिल रही थी कि ईसाई धर्म चाहे जैसा भी रहा हो, किन्तु, ईसाई समाज हिन्दू और मुस्लिम समाजों से अधिक जागृत, अधिक कर्मठ और अधिक उन्नत एवं उदार था । भारत यूरोप के साथ आने वाले धर्म से नहीं डरा; बल्कि, भय उसे यूरोप के विज्ञान को देखकर हुआ, उसकी बुद्धिवादिता, साहस और कर्मठता से हुआ । अतएव, भारत में नवोत्थान का जो आन्दोलन उठा उसका लक्ष्य अपने धर्म, अपनी परंपरा और अपने विश्वासों का त्याग नहीं, प्रत्युत, यूरोप की विशिष्टताओं के साथ उनका सामंजस्य बिठाना था ।

जब से यूरोप का आधिभौतिक उत्थान हुआ है, संसार में ईसाइयों की संख्या बेहद बढ़ी है । गरीब के कान का सच्चा सोना भी सन्देह से देखा जाता है, किन्तु, अमीरों के गले में कोई पीतल भी डाल दे तो लोग इसे पीतल समझने का साहस नहीं करेंगे । ईसाई धर्म यों भी बहुत उत्तम धर्म था । किन्तु, प्रतापी यूरोपीय जातियों का धर्म होने के कारण उसका प्रताप और भी चमक उठा और जहां भी यूरोप के सौदागर और विजेता गये, वहां की सभ्य या अर्ध-सभ्य जातियों ने अनेक प्रकार के रोब में आकर उनका धर्म अपना लिया । केवल भारत ही ऐसा देश निकला जहां शासकों का धर्म होने पर भी ईसाइयत उतनी प्रगति नहीं कर सकी, जितनी की संभावना थी । और यह स्वाभाविक भी था । क्योंकि भारत कोई हाल-साल का देश नहीं है । न यहां की सभ्यता ही हजार पांच सौ वर्ष की चीज़ है । यहां की सभ्यता कम से कम छः हजार वर्ष प्राचीन है एवं जितना धार्मिक संस्कार अनेक अन्य देशों के लोग जीवन भर साधना करके प्राप्त करते हैं, उतना संस्कार यहां के अशिक्षित व्यक्ति को भी, बहुधा, पैतृक उत्तराधिकार के रूप में आप से आप प्राप्त हो जाता है । यदि आधिभौतिक चाकचिक्य को लें तो उसका भी भारतीयों के मन पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता । वैभव-विलास के अनेक दृश्य यह देश देख चुका है । अनेक बार यहां वैभव

के सूर्य उगे और अनेक बार वे अस्त हुए हैं। और प्रत्येक बार भारतीयों को यही दिखलायी पड़ा कि यह बाहरी चमक केवल टीप-टाप है। जीवन जिसे खोज रहा है, मनुष्य जिसे प्राप्त करके शांति लाभ करता है, वह पदार्थ रुपयों के हुड़दंग में नहीं, मनुष्य के शील में छिपा हुआ है। ऐसी अनुभवी जाति कभी आधिभौतिकता के शिकंजे में नहीं आ सकती है। और यूरोप की अधीनता में पड़ने के बाद भी, भारत इस शिकंजे में गिरफ्तार नहीं हुआ। हां, इतना अवश्य हुआ कि आधिभौतिकता की टकराहट से भारत की ऊंघती हुई बूढ़ी सभ्यता की नींद खुल गई और वह इस भाव से अपने घर के सामानों पर नजर दौड़ाने लगी कि जो चीजें लेकर यूरोप भारत आया है, वे हमारे घर में हैं या नहीं। भारतीय सभ्यता का यही जागरण भारत का नवोत्थान था।

चूंकि भारत पराधीन था और केवल ईसाई पादरी ही नहीं, बल्कि, अंगरेजी पढ़े-लिखे भारतीय भी भारत के धर्म और संस्कृति की निन्दा कर रहे थे, इसलिए, यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीय संस्कृति ने यूरोप को अपने से सर्वतोभावेन श्रेष्ठ मानकर उसके सामने घुटने टेक दिये या वह अपना सब कुछ भूलकर यूरोप का अनुकरण करने लगी। यूरोप का अनुकरण तो वे कर रहे थे जो भारतीय धर्म और संस्कृति के खिलाफ थे। ये लोग नवोत्थान के नेता नहीं, प्रत्युत, बदले में उसकी आलोचना और दंड के पात्र थे। नवोत्थान उनके नेतृत्व में नहीं, प्रत्युत, उनके विरुद्ध आया था और उसका उद्देश्य उन लोगों को भारतीय वृत्त में सुरक्षित रखना था जो नई लहर में बहते हुए परिधि से बाहर जा रहे थे। नवोत्थान उस प्रक्रिया का नाम है जिससे भारत संभला, जिससे उसने यूरोप से नैतिक कुश्ती लड़ते समय अपने हिलते हुए पांवों को स्थिर किया, जिससे उसे यह विश्वास हुआ कि मैं, सचमुच, उतना बुरा नहीं हूँ जितना कि नये लोग बता रहे हैं, बल्कि, मेरे पास कुछ ऐसे अनुभव भी हैं जिनका इन बच्चों को पता भी नहीं है।

भारतीय नवोत्थान का एक प्रधान लक्षण अतीत की गहराइयों का अन्वीक्षण था। यूरोप के पास जो पूंजी थी, उसमें विज्ञान ही एक ऐसा तत्त्व था, जो भारत को नवीन लगा और जिसे भारत ने खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया। बाकी प्रत्येक दिशा में, भारत ने अपने अतीत की पूंजी टटोली और अपने प्राचीन ज्ञान को नवीन करके वह नए मार्ग पर अग्रसर होने लगा। अंगरेजी भाषा में एक शब्द 'रिवाइवलिज्म' है जो दूषित अर्थ देता है। जो भी व्यक्ति आज के सत्य को अनादृत करके भूतकाल की मरी हुई बातों को दुहराता है, उसे हम पुनर्जागरणवादी या रिवाइवलिस्ट कहते हैं। और पुनर्जागरणवादी होना कोई अच्छा काम नहीं है। किन्तु, नवोत्थान में भी अतीत की बातें दुहरायी जाती हैं। जब नवोत्थान का समय आता है, जातियों के कुछ पुरातन सत्य दुबारा जन्म लेते हैं। यह पुनर्जागरण नहीं, सत्यों का पुनर्जन्म है। बहुत से सत्य ऐसे होते हैं, जो मिटना नहीं जानते, जो कुछ दिनों के

लिये प्रच्छन्न तो हो जाते हैं, किन्तु समय पाकर जिन्हें मनुष्य फिर से प्राप्त कर लेता है। भारत में ऐसे सत्य वेदान्त के सत्य रहे हैं। जब जब भारत में नवोत्थान हुआ है, तब-तब वेदान्त की भूमिका मनुष्य के सामने प्रकाशित हो उठी है। वेदान्त ने बुद्ध का साथ दिया, वेदान्त ने शंकर को चमकाया, वेदान्त के आधार पर कबीर और नानक सत्य सिद्ध हुए और उसी वेदान्त की नई व्याख्या करके रामानुज ने भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। जब ईसाइयत और विज्ञान भारत पहुँचे और भारत को उनके स्वागत-सत्कार की व्यवस्था करनी पड़ी, तब भारत ने एक बार फिर वेदान्त का सहारा लिया। जिस नवोत्थान का आरम्भ राममोहनराय, दयानन्द और विवेकानन्द ने किया था, और जिसकी धारा में हम आज भी तैरते हुए आगे जा रहे हैं, वेदान्त उस आन्दोलन की रीढ़ है।

नवोत्थान का दूसरा प्रधान लक्षण निवृत्ति का त्याग था। कुश्ती का अखाड़ा यदि केवल धार्मिक रहा होता तो संभव था कि भारत इस बार भी निवृत्ति को नहीं छोड़ता क्योंकि उपनिषदों और बुद्ध के समय से यह ज़हर उसकी नसों में बराबर उतारा जा रहा था और निवृत्तिवाद भारतीय स्वभाव का अंग हो गया था। किन्तु इस बार यूरोप के क्रांतिकारी विचारों का भागीदार बन जाने के कारण, भारत पराधीनता के दाह को बेचैनी से अनुभव करने लगा था,और उसे यह अनुभव होने लगा था कि यूरोप की श्रेष्ठता का कारण केवल यही नहीं है कि उसके पास युद्ध के अधिक उन्नत शस्त्र हैं, बल्कि यह भी कि जीवन-विषयक उसका दृष्टिकोण प्रवृत्तिमय है। वह जीवन से भागकर अपना सुख नहीं खोजता, प्रत्युत, उसके भीतर पैठकर उसका उपयोग करता है। इस्लाम भी हिन्दुत्व की तुलना में प्रवृत्ति-मार्गी ही था, किन्तु, हिन्दुओं ने इस्लाम से प्रवृत्ति की शिक्षा नहीं ली थी, प्रत्युत इस्लाम का भी सूफी अंश ही हिन्दुओं को पसंद आया था और यह सूफी अंश उतना ही निवृत्ति-प्रधान था, जितना हिन्दुओं का वेदान्त समझा जाता है। बल्कि, भारत में रहते-रहते निवृत्तिवाद का जहर अब इस्लाम में भी प्रवेश कर गया था। किन्तु, अब जो हिन्दुत्व और इस्लाम यूरोप से टकराये तो उन्हें यह सोचने को बाध्य होना पड़ा कि निवृत्ति जीवन की सच्ची राह नहीं है। लेकिन, यहां भी यह आभास नहीं मिलता कि प्रवृत्ति को भारतवासियों ने नया दर्शन समझकर अपनाया। नहीं, स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक ने वेदान्त और गीता की ही नई व्याख्या करके यह प्रतिपादन किया कि भारतीय वैदिक धर्म का मूल उपदेश निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति है। यह हिन्दुत्व की बात है। इस्लाम का विश्लेषण हम अलग से करेंगे। जीवन सत्य है, संसार सपना नहीं है, वैराग्य जीवन की पराजय को नहीं कहते हैं, तथा कर्माकर्म का विचार ऐसा नहीं होना चाहिए कि मनुष्य के इहलौकिक सुखों का ही नाश हो जाय। ये और ऐसे उपदेश इस काल के चिन्तकों के मुख से बार-बार सुनायी देते हैं। असल में, उन्नीसवीं सदी का नवोत्थान, भारत में प्रवृत्तिवाद का ही अनुपम उत्थान है। राममोहन, दयानन्द, रामकृष्ण,

विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक ने प्रवृत्ति पर इतना अधिक जोर दिया कि सारा हिन्दू दर्शन प्रवृत्ति के ही उत्स-सा दीखने लगा और संन्यास से गार्हस्थ्य को श्रेष्ठ समझने में जो बाधा थी, वह आप से आप क्षीण होने लगी। जातियां जैसे दर्शनों में विश्वास करती हैं, उनके कर्म भी वैसे ही हो जाते हैं। हिन्दुओं का दुर्भाग्य यह था कि वे जीवन को निस्सार मानने लगे थे। अतएव जीवन का अपमान एक ऐसी वस्तु का अपमान था, जिसका अस्तित्व नहीं था। निवृत्ति की धारा में बहते-बहते हिन्दू एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचे थे, जहां स्वाधीनता और पराधीनता में कोई भेद नहीं था। अन्याय और न्याय में कोई अन्तर नहीं था और न कोई अत्याचार ही ऐसा था, जिसका उत्तर देना आवश्यक हो। यह बड़ी ही अर्थपूर्ण बात है कि उन्नीसवीं सदी से पूर्व भारतीय साहित्य में कोई भी लेखक या कवि ऐसा नहीं हुआ जो यह कहने का साहस करे कि यह अन्याय है और हम इस अन्याय का विरोध करने को आये हैं। किन्तु, उन्नीसवीं सदी के बाद से भारतीय साहित्य में क्रांतिकारी और अनय-विरोधी स्वर बड़े जोर से गूंजने लगते हैं। यह स्पष्ट ही, गीता और वेदान्त की प्रवृत्तिमार्गी टीका का परिणाम है। इसीलिए, हमें ऐसा लगता है कि यद्यपि भारत में संस्कृति के बड़े-से-बड़े नवोत्थान हुए हैं, किन्तु, वर्तमान नवोत्थान उन सबसे अधिक शक्तिशाली और श्रेष्ठ है। इसने वैदिक धर्म की प्रवृत्तिमार्गी धारा को प्रत्यावर्तित किया है, इसने संसार की सत्यता में मनुष्य के विश्वास को बढ़ाया है। इसने मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता में वृद्धि की है, इसने शूद्रों को गौरव का मार्ग बताया है और नारियों को सहस्राब्दियों की कारा से विमुक्त किया है। इसने भारत के विस्मृत इतिहास को जीवित रूप दिया है तथा सबसे अधिक इसने मनुष्यों में सात्विक शंका की प्रवृत्ति स्फुटित कर दी है, जिससे मनुष्य किसी भी बात को केवल इसलिए मानने को तैयार नहीं है कि वह शास्त्रों द्वारा अनुमोदित है अथवा वह बाप-दादों के समय से चली आ रही है। इस नवोत्थान से भारत का कायाकल्प हुआ है, धर्म की रूढ़ियां धूलिवत् झड़ गई हैं, मनुष्य की उदारता में वृद्धि हुई है और हिन्दू धर्म संशोधित होकर इस रूप में खड़ा हुआ है कि जिसे हम विश्वधर्म की भूमिका कह सकते हैं। नवोत्थान ने किन प्रक्रियाओं से अपने को प्रकट किया, इसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इसके कुछ सांस्कृतिक आन्दोलनों और नेताओं से परिचय प्राप्त कर लें।

ब्रह्म-समाज

भारत में ईसाइयत का प्रचार, ईसाइयों के द्वारा भारतीय धर्मों की निन्दा, यूरोप के क्रांतिकारी बुद्धिवादी विचार और अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दुओं द्वारा हिन्दुत्व की भर्त्सना, ये कुछ कारण थे जिनसे हिन्दुत्व की नींद टूटी। उसकी पहली अँगड़ाई ब्रह्म-समाज में प्रकट हुई और उसके नवोत्थान के आदि पुरुष राजा राममोहनराय हुए। राममोहन साधक की अपेक्षा राजनीतिज्ञ और सामाजिक नेता अधिक थे। इसलिए, धर्म के अध्ययन और विश्लेषण से उन्होंने वह शक्ति निकालनी चाही जिससे हिन्दू क्रिस्तान होने से बच सकते थे; जिससे वे यूरोप के ज्ञान और यूरोप की पद्धति को अपनाकर अपने खोये हुए अधिकार फिर से प्राप्त कर सकते थे। वे धार्मिक सुधारक कम, सामाजिक सुधारक अधिक थे। उन्होंने जो कुछ किया, उसे हम **सांस्कृतिक राष्ट्रीयता** का कार्य कह सकते हैं। भारत की **राजनीतिक राष्ट्रीयता** इसी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का विकसित रूप है।

राममोहनराय का जन्म २२ मई सन् १७७२ ई० में बंगाल के बर्दवान जिले के राधा-नगर गांव में हुआ था। वे जाति के ब्राह्मण थे। आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा के बाद वे अरबी और फारसी पढ़ने को पटने आये और पटने से वे इन भाषाओं के महापंडित होकर घर लौटे। पटने में इस्लाम और उसके तसव्वुफ अंश का राममोहन ने जो अध्ययन किया उससे प्रतिमा-पूजन के विषय में उनके मन में भयानक शंका उत्पन्न हो गई, यहां तक कि मूर्त्ति-पूजा से उनका विश्वास ही उठ गया। संभव है, इसका कुछ कारण तो इस्लाम की शिक्षा और कुछ ईसाइयों का प्रचार रहा हो। कहते हैं, सोलह सत्रह साल की उम्र में जब वे घर पर पिता के साथ थे, उन्होंने मूर्त्ति-पूजा के खंडन में फारसी में कोई पुस्तक लिखनी आरम्भ की। यह पुस्तक पूरी हुई या नहीं, इसका प्रमाण नहीं मिलता क्योंकि उसका कोई भी अंश अब तक प्राप्त नहीं हुआ किन्तु, पिता ने उनके इस प्रयास से अप्रसन्नता प्रकट की और राममोहन पिता का गृह छोड़कर भाग गए। उनकी आत्मकथा से विदित होता है कि घर से भाग कर उन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया एवं इसी क्रम में उन्होंने तिब्बत जाकर लामाओं के यहां बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। उनके जीवन के आरम्भिक तीस वर्षों का विवरण नहीं मिलता। हां, सन् १८०३ ई० में मुर्शिदाबाद से उन्होंने **'तुहफतुल-मुवाहिदीन'** नामक एक पुस्तक फारसी में निकाली, जिसकी भूमिका अरबी भाषा में थी। इस पुस्तक में उन्होंने मूर्त्ति-पूजा का खंडन किया था, एकेश्वरवाद की प्रशंसा तथा विश्व-धर्म की आवश्यकता बतलाई थी। इन्हीं दिनों या इससे कुछ पूर्व वे कम्पनी सरकार की नौकरी में आये

और सन् १८०९ ई० में रंगपुर के कलक्टर के दीवान हो गए। बाद में वे किसी नाबालिग़ जमींदार के मैनेजर नियुक्त किये गए, और सन् १८१५ ई० में उन्होंने नौकरी से अवकाश ग्रहण कर लिया। राममोहन राय अरबी, फारसी और संस्कृत तो जानते ही थे, किन्तु अंग्रेजी सीखना उन्होंने २२ वर्ष की अवस्था में आरम्भ किया। पीछे चलकर उन्होंने हीब्रू और ग्रीक भाषाएँ भी सीख लीं एवं यहूदी और ईसाई बाइबिलों का अध्ययन उन्होंने मूल भाषाओं में किया।

जब अंगरेज शासक इस विचिकित्सा में पड़े हुए थे कि भारतीयों की शिक्षा अंगरेजी में हो या देश-भाषाओं के द्वारा, तब राममोहन राय ने बड़ी ही दूरदर्शिता के साथ अंगरेजी का पक्ष लिया। आज हम देश-भाषाओं के द्वारा सारी शिक्षा देने की अवस्था में आ गए हैं। किन्तु, उन दिनों देशभाषाएं अर्ध-विकसित अवस्था में थीं। अतएव, राममोहन राय ने उचित ही समझा कि विज्ञान, राजनीति, शिल्प आदि का ज्ञान भारत में फैलाने के लिए यह अनिवार्य है कि शिक्षा का माध्यम अंगरेजी हो। भारत में प्रचलित सती-प्रथा के उन्मूलन का प्रयास सबसे प्रथम अकबर ने किया था, किन्तु, तब भी यह प्रथा चलती ही आ रही थी। राममोहन की अनुपस्थिति में उनके बड़े भाई का देहान्त हो गया एवं उनकी भावज सती हो गईं। इस दुर्घटना का राममोहन राय के हृदय पर भयानक आघात लगा तथा उन्होंने सती-प्रथा के विपक्ष में तभी से आन्दोलन आरम्भ किया। सन् १८२९ ई० में लार्ड विलियम बेंटिक ने सती-प्रथा को गैर कानूनी घोषित करके इसके विरुद्ध कड़ा कानून बना दिया। यह राम-मोहन राय के ही प्रयत्नों का शुभ परिणाम था। राममोहनराय ने 'संक्षिप्त वेदान्त' नाम से वेदान्त का एक सटीक संग्रह प्रकाशित किया तथा केन, ईश, मुंडक, और कठ उपनिषदों का अनुवाद भी। हिन्दू-ईश्वरवाद एवं सती-प्रथा पर 'शास्त्रार्थ' नामक भी उनके निबन्ध मिलते हैं।†

सन् १८२० ई० से सन् १८२३ ई० तक उनका विवाद ईसाई पादरियों से भी चला था और इसी सिलसिले में उन्होंने ईसाई धर्म पर एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम 'The Precept of Jesus, the guide to peace and happiness' था। इस ग्रंथ में उन्होंने ईसा की विवेकपूर्ण शिक्षाओं को उनके व्यक्तित्व के चमत्कार वाले अंशों से अलग करके दिखलाया था। इस ग्रंथ को देखकर सिरामपुर के पादरी नाराज हो गए और उसके लेखक को उन्होंने मूर्त्ति-पूजक अथवा नास्तिक कह डाला। इस पर राममोहन राय ने **'ईसाई जनता से अपील'** शीर्षक के अन्दर तीन लेख लिखे और यह सिद्ध कर दिखाया कि ईसा ईश्वर के पुत्र नहीं थे, न ईसाइयों का ईश्वर-त्रय वाला सिद्धांत (फादर, सन एण्ड दी होली घोष्ट) ही ठीक है। उन्होंने ईसाइयत के इस सिद्धांत पर भी शंका की

† Abridgement of Vedant, Defence of Hindoo Theism तथा Conferences on Sati.

कि पश्चात्ताप करने से मनुष्य सारे पापों से छूट जाता है। इन निबन्धों में राममोहन ने बाइबिल तथा ईसाई पुराणों का ऐसा गहरा ज्ञान प्रदर्शित किया कि ईश्वर-त्रय में विश्वास करने वाला एक ईसाई पादरी अपना धर्म छोड़ कर एकेश्वर-शाखा (यूनिटेरियन) में चला आया।

ईसाई पादरी हिन्दू धर्म की जिस प्रकार छीछालेदर कर रहे थे, उससे राममोहन राय अत्यंत दुःखी थे। इन्हीं निबन्धों में एक जगह वे कहते हैं "यह स्वाभाविक बात है कि जब एक जाति दूसरी जाति पर विजय प्राप्त करती है, तब उसका अपना धर्म चाहे जितना भी हास्यास्पद हो, किन्तु, हँसी वह उनके धर्म की उड़ाया करती है, जो उसके पांव के नीचे आये हुए हैं। उदाहरणार्थ, मुसलमानों ने जब भारत को जीता, तब हिन्दुओं के धर्म से उन्होंने शत्रुता दिखलायी। चंगेज़ खां* के अनुयायी स्वयं तो ईश्वरहीन एवं स्वभाव में जंगली जानवरों के समान थे, किन्तु, जब वे पश्चिमी भारत में आये, तब उन्होंने वहां के लोगों की आस्तिकता एवं परलोक संबंधी विश्वासों का काफी मजाक उड़ाया। प्राचीन काल के यूनानी और रोमन लोग मूर्तिपूजक थे एवं उनके जीवन में पापाचार का भी आधिक्य था। किन्तु, वे अपनी यहूदी प्रजा के धर्म की खिल्ली उड़ाते थे क्योंकि यहूदी जनता एकेश्वरवाद में विश्वास करती थी। इसलिए, आज यदि अंगरेज धर्म-प्रचारक, जो विजेता-वर्ग के हैं, भारतवासियों के धर्म की भर्त्सना करते हैं अथवा उसका मजाक उड़ाते हैं तो यह कोई असाधारण बात नहीं है।"

किन्तु ईसाइयत की पौराणिक बातों एवं ईसाई धर्म-प्रचारकों के दुष्प्रचारों के वे जितने विरोधी थे, उससे कहीं कठोर आलोचक वे अपने धर्म और समाज के थे। हिन्दू धर्म को रूढ़ियों से मुक्त करके वे उसे एक नया रूप देना चाहते थे। हिन्दू जनता, धर्म के विषय में, बिल्कुल पौराणिक संस्कारों से दबी हुई थी। इस चट्टान को तोड़कर वे हिन्दू-हृदय को शुद्ध धर्म के आलोक से भरना चाहते थे। कभी-कभी लोग यह कह बैठते हैं कि राममोहन राय पूरे भारतीय नहीं थे। वे ईसाई पादरियों के प्रहारों से भीत होकर हिन्दू धर्म का ईसाई अनुवाद प्रस्तुत करना चाहते थे, जिससे कि ईसाइयों की आलोचना बन्द हो जाय और हिन्दू जनता क्रिस्तान नही बने। यह निरी भ्रमपूर्ण बात है। ईसाई आलोचकों का मुंह बन्द करना वे अवश्य चाहते रहे होंगे, और उनका यह तो निश्चित मत था कि हिन्दू जनता हिन्दू ही रहे। किन्तु उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म-समाज हिन्दू धर्म का ईसाई अनुवाद नहीं था। ब्रह्म-समाज को ईसाइयत की ओर केशवचंद्र सेन ने मोड़ा। राममोहनराय ने हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत, तीनों धर्मों का गहन अध्ययन किया था और तीनों धर्मों पर वे समान अधिकार के

---

* चंगेज़ खां मुसलमान नहीं भ्रष्ट किस्म का बौद्ध था, यह हम पहले ही कह आये हैं। —लेखक

साथ बोल सकते थे। हिन्दुत्व की पवित्रता, इस्लाम की रुचि और विश्वास तथा ईसाइयत की सफाई (तर्क) उन्हें बेहद पसंद थी।‡ उनका वैयक्तिक रहन-सहन मुसलमानों जैसा था, और एकेश्वरवाद में अटल विश्वास तथा मूर्त्ति-पूजा का विरोध, ये दो बातें उन्होंने इस्लाम से ली थीं। ईसाई धर्म से, कदाचित्, उन्होंने कुछ भी नहीं लिया। जो कुछ लिया, वह ईसाई देशों के सामाजिक जीवन से, ईसाई देशों के राजनीतिक संगठन और विज्ञान से। एकेश्वरवादी और प्रतिमा-पूजन का विरोधी होने के कारण हिन्दुत्व में उन्हें अपना आश्रय केवल वेदान्त में मिला। इसलिए, उनकी इस्लाम-प्रियता उनके हिन्दुत्व की विरोधिनी नहीं हुई। विभिन्न धर्मों का गंभीर अध्ययन करने से एवं वैज्ञानिक दृष्टि उत्पन्न हो जाने के कारण वे विश्ववादी हो गए। फ्रांस के वैदेशिक मंत्री को सन् १८३१ ई० में पत्र लिखते हुए उन्होंने कहा था कि, "केवल धर्म से ही नहीं, प्रत्युत अदूषित सामान्य बुद्धि एवं विज्ञान से भी यही ज्ञात होता है कि सारी मनुष्य जाति एक परिवार है तथा जो अनेक जातियां और राष्ट्र हैं, वे उसी एक परिवार की शाखायें हैं।" यह विश्ववाद तभी से भारतीय नवोत्थान का अंग बन गया एवं राममोहन के बाद, भारत में जो भी महापुरुष उत्पन्न हुए, उन्होंने विश्ववाद पर सबसे अधिक ज़ोर डाला। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि स्वतंत्र भारत की वैदेशिक नीति इस विश्ववाद की भावना से ओत-प्रोत है।

राममोहन ने शिक्षा-दीक्षा से जो संस्कार अर्जित किया था, एवं उनके आगे जो समस्यायें खड़ी थीं, उन दोनों की प्रेरणा से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत के प्राचीनतम सत्यों का यूरोप के नवीन सिद्धांतों के साथ सामंजस्य बिठाए बिना भारत का कल्याण नहीं है। सभी धर्मों के समान, ईसाई धर्म में भी पौराणिक बातें थीं; रूढ़ियों, चमत्कार की कहानियों और अन्धविश्वासों का ढेर था। किन्तु, जो सैनिक उस धर्म को इस बार भारत ले आये थे, वे अन्धविश्वासी नहीं थे, न वे रूढ़ियों के आगे मस्तक झुकाने को तैयार थे। एवं ईसाई धर्म हिन्दुत्व से कई गुना बलवान् दीखता था। उसका सामना करने के लिए यह आवश्यक था कि भारत यूरोप की वैज्ञानिकता को ग्रहण करे और इस वैज्ञानिकता के साथ अपने धर्म को भी संसार के सामने रखे। अतएव, वैज्ञानिकता का वेदान्त से मणिकांचन-संयोग नवोत्थान का प्रधान लक्षण हो गया और राममोहन राय हिन्दुत्व के उस पक्ष का आख्यान करने लगे, जिसमें मूर्त्ति-पूजा नहीं थी, अवतारवाद नहीं था, और न जिसमें मन्दिर और तीर्थों की ही कोई बात थी। राममोहन की विशेषता यह थी कि एक ओर तो वे वेदान्त के स्थान से हिलने को तैयार नहीं थे; दूसरी ओर, वे अपने देशवासियों को अंगरेजी के द्वारा

‡ कहा जाता है कि भोजन के विषय में भी राममोहन राय का कहना था कि सबसे अच्छा भोजन मुसलमान का है यदि वह हिन्दू के घर में पके और अंगरेज की मेज पर खाया जाय।

पाश्चात्य विद्याओं में निष्णात बनाना चाहते थे। भारतवासी संस्कृत, अरबी और फारसी पढ़कर बस मान लें अथवा वे अंगरेजी पढ़कर क्रिस्तान हो जाएं, इन दोनों खतरों से वे भारतवर्ष को बचाना चाहते थे। किन्तु, उनका यह भी मत था कि हिन्दुत्व का कोई भी ऐसा रूप मान्य नहीं रहना चाहिए जो विज्ञान और बुद्धिवाद की कसौटी पर खरा नहीं उतरता हो। उनकी जीवनी-लेखिका मिस कालेट ने यह खूब लिखा है कि "**इतिहास में राममोहन का स्थान उस महासेतु के समान है जिस पर चढ़कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है।** प्राचीन जाति प्रथा और नवीन मानवतावाद के बीच जो खाई है, अन्ध विश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य और जनतंत्र के बीच जो अन्तराल है तथा बहुदेववाद एवं शुद्ध ईश्वरवाद के बीच जो भेद है, उन सारी खाइयों पर पुल बांधकर भारत को प्राचीन से नवीन की ओर भेजने वाले महापुरुष राममोहन राय हैं।"

हिंदुओं के बीच नए धर्म के मंतव्यों का प्रचार करने के उद्देश्य से राममोहन राय ने सन् १८१६ ई०में कलकत्ते में **वेदांत कालेज** की स्थापना की। उससे एक वर्ष पूर्व, वे धार्मिक चर्चा के उद्देश्य से **आत्मीय सभा** की स्थापना कर चुके थे। कलकत्ते के तत्कालीन रईसों और पंडितों में से अनेक इस सभा के सदस्य थे। इसके अधिवेशनों में धर्म के रहस्य पर चर्चा और विवाद होता था तथा अन्त में सब लोग मंत्रों एवं प्रार्थनाओं का गान करते थे। एक बार इसी सभा के तत्त्वावधान में मद्रास के पंडित सुब्रह्मण्य शास्त्री के साथ राममोहन राय का मूर्ति-पूजा के विषय में शास्त्रार्थ हुआ था। जिसमें शास्त्री जी को राममोहन से हार माननी पड़ी थी। यह सभा सन् १८१९ ई० तक ठीक से चली। उसके बाद वह बन्द हो गई। तब राममोहन राय ने कलकत्ता **यूनिटेरियन सोसायटी** के नाम से एक अन्य सभा स्थापित की जो मूल उद्देश्य में **आत्मीय सभा** का ही अंगरेजी रूप थी। इसके सदस्य कुछ अंगरेज बैरिस्टर भी थे और कुछ वे लोग भी (द्वारकानाथ टैगोर, प्रसन्नकुमार टैगोर आदि) जो आत्मीय सभा के सदस्य रह चुके थे। यूनिटेरियन सोसायटी पर किस दृष्टि से विचार किया जाय, इसका ठीक निश्चय नहीं हो सकता। इसके सदस्य अंगरेज भी थे, अतएव, हिन्दू धर्म का सुधार इस समिति का मूल उद्देश्य तो नहीं ही रहा होगा। हां, कुछ हिन्दू ऐसे भी हैं जो ईसाई धर्म के एकेश्वरवादी रूप को भी अपना ही धर्म समझते हैं, इस प्रचार से ईसाइयों के बीच हिन्दू धर्म का सुयश बढ़ता होगा। अतएव, इस समिति का प्रचारात्मक पक्ष ही प्रधान रहा होगा। किन्तु, इस समिति से राममोहन के हृदय को संतोष नहीं हुआ। वे हिन्दू धर्म में जो सुधार लाना चाहते थे, उसके लिए यह पाश्चात्य समिति बिल्कुल अयोग्य थी। अतएव राममोहन राय ने एक ऐसी सभा स्थापित करने का विचार किया, जो शुद्धतः औपनिषदिक सत्यों पर आधारित हो। तदनुसार २० अगस्त, सन् १८२८ ई० को उन्होंने **ब्राह्मो समाज** की स्थापना कलकत्ते में की। इस

समाज का रूप निर्विवाद रूप से भारतीय था और भारतीय परंपरा में कहें तो कह सकते हैं कि यह अद्वैतवादी हिन्दुओं की संस्था थी। इस सभा के अधिवेशन में दो तेलुगू ब्राह्मण वेद का पाठ करते थे। वे वेदों का पाठ परदे के भीतर से करते थे जहां अब्राह्मणों का प्रवेश निषिद्ध था। उत्सवानन्द उपनिषदों का पाठ करते थे और रामचंद्र विद्यावागीश उसका अर्थ बंगला में समझाते थे। कभी-कभी राममोहन-रचित उपदेशों का पाठ भी किया जाता था और अधिवेशन की समाप्ति के पूर्व प्रार्थना नियमपूर्वक गायी जाती थी।*

यूरोप के संपर्क से जैसे भारत में नई मानवता का जन्म हो रहा था, वैसे ही, हिन्दू-धर्म भी नया रूप ले रहा था। ब्राह्मो-समाज इस अभिनव हिन्दुत्व का एक रूप था। इसने मूर्त्ति-पूजा का बहिष्कार किया, अवतारों को नहीं माना और लोगों का ध्यान उस निराकार, निर्विकार, एक ब्रह्म की ओर आकृष्ट किया, जिसका निरूपण वेदान्त में हुआ है। किन्तु, ब्राह्मो-समाज की इससे भी बड़ी विशेषता यह थी कि वह सभी धर्मों के प्रति सहानुभूतिशील और उदार था। राममोहन राय ने समाज के लिए जो भवन खड़ा किया, उसके ट्रस्ट के दस्तावेज में (सन् १८३० ई०) स्पष्ट प्रतिबन्ध रखा गया था कि इस समाज में होने वाली पूजा में किसी भी ऐसी सजीव या निर्जीव वस्तु की निन्दा नहीं की जायगी, जिसकी थोड़े-से लोग भी पूजा या आराधना करते हों तथा इस समाज में केवल ऐसे ही उपदेश दिये जायेंगे, जिनसे सभी धर्मों के लोगों के बीच एकता, समीपता और सद्भाव की वृद्धि होती हो। कहा जा सकता है कि ऐसे प्रतिबन्ध इसलिए रखे गए कि समाज के प्रवर्त्तक का उद्देश्य राजनीतिक और राष्ट्रीय था। क्योंकि एक ओर जहां हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता आवश्यक थी, वहां दूसरी ओर ईसाई मत का उस समय डटकर विरोध भी संभव नहीं था। किन्तु, इसका दूसरा पक्ष यह है कि नवोत्थान के समय हिन्दू सुधारकों ने जो आत्म-मंथन किया, उससे उन्हें स्पष्ट भासित होने लगा कि एक धर्म और दूसरे धर्म में विभेद करना मूर्खता है। सभी धर्म समान हैं और संसार के सभी लोग आपस में भाई-बहिन होते हैं।

समाज की स्थापना के केवल दो वर्ष बाद, राममोहन राय विलायत गए जहां से वे फिर लौटे नहीं। २७ सितम्बर, १८३३ ई० को ब्रिस्टल में उनका देहान्त हो गया। उनके समस्त कार्य-कलाप पर दृष्टिपात करने के बाद, ऐसा लगता है कि उनका प्रधान विषय धर्म नहीं, समाज था। धार्मिक सुधारों की बात उन्होंने, शायद, इसलिए उठाई थी कि एक ओर उन्हें जहां ईसाइयों का सामना करना था, वहां, दूसरी ओर, उन्हें हिन्दू समाज को भी कुरीतियों और अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध सचेत करना था। फिर भी वे अधार्मिक नहीं, धार्मिक थे। यह बड़े ही मार्के की बात रही कि अठारहवीं सदी का यूरोप वहां के नवोत्थान के जोश में आकर धर्म से दूर होता जारहा था। किन्तु, उन्नीसवीं सदी में भारत में जो नवोत्थान हुआ,

* शिवनाथ शास्त्री-लिखित हिस्ट्री आव् ब्राह्मो-समाज, जिल्द १

उसका आधार धर्म था। यह भी ध्यान देने की बात है कि राममोहन ने विश्व-मानवता की जो बात कही, वह यूरोप में पहले ही उद्भूत हो चुकी थी। किन्तु, यूरोप की विश्व-मानवता संकीर्ण थी, क्योंकि उसमें पूर्वी जगत् के लिए स्थान नहीं था, दुर्बल जातियों की गणना नहीं थी। यूरोप की दृष्टि में विश्व-इतिहास का अर्थ यूरोप और अमेरिका का इतिहास तथा विश्व-मानवता से अभिप्राय यूरोप और अमेरिका की मानवता से था। किन्तु, राममोहन राय की विश्व-मानवता का वृत्त बहुत अधिक विस्तृत था, जिसमें समस्त भूमंडल की स्वतंत्र, समृद्ध, पराधीन, दलित और निष्पेषित जातियों के लिए एक समान स्थान था। नवोत्थान ने भारत में विश्व-मानवता की जो कल्पना की थी, वह भारत की स्वाधीनता के बाद, भारत की ही वैदेशिक नीति में आकार लेने लगी है।

राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद ब्रह्मो समाज के नेतृत्व का भार महर्षि देवेन्द्र-नाथ ठाकुर के कंधों पर पड़ा। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर संत और रहस्यवादी हिन्दू थे, किन्तु, यूरोप से आने वाले बुद्धिवाद पर उनकी अपार भक्ति थी और हिन्दुत्व के रूढ़िवादी रूप से लज्जित होकर वे भी अपने धर्म का बुद्धिसम्मत रूप संसार के सामने रखना चाहते थे। राममोहन राय के भी निश्चित रूप से ऐसे ही भाव थे। किन्तु, उनकी विशेषता यह थी कि वेद और उपनिषदों पर उनका अचल विश्वास था एवं किसी भी अवस्था में वे वेदों पर अविश्वास करने को तैयार नहीं थे। राममोहन राय ने ब्रह्मो समाज की स्थापना इसलिए की थी कि वे हिन्दू धर्म के मौलिक (वेद सम्मत) रूप को ईसाइयत की महफिल में प्रतिष्ठा के साथ बिठाना चाहते थे। जिससे कि ईसाई लोग भी यह जान जावें कि हिन्दुत्व का मूल रूप ऐसा नहीं है, जिसकी हँसी उड़ाई जा सके। किन्तु, महर्षि देवेन्द्रनाथ के समय में आकर ब्रह्मो समाज अपनी जड़ (हिन्दुत्व) से दूर जाने लगा और केशवचंद्र के समय में तो वह हिन्दुत्व से इतना अलग और ईसाइयत के इतना समीप जा पहुँचा कि लोगों को सात्विक भ्रम हो गया कि यह और कुछ नहीं, संपूर्ण हिन्दू समाज को एक साथ ईसाइयत में दीक्षित करने का आयोजन मात्र है।

महर्षि देवेन्द्रनाथ की भी अपनी एक सभा थी, जिसका नाम तत्व-बोधिनी सभा था। इस सभा में भी लोग धार्मिक विचार-विमर्श किया करते थे। सन् १८४२ ई० में यह सभा ब्रह्मो समाज में मिला दी गई और देवेन्द्रनाथ ठाकुर के सभी अनुयायी ब्रह्मो समाज में सम्मि-लित हो गए। इसी समय से ब्रह्मो समाज उनके नेतृत्व में काम करने लगा। देवेन्द्रनाथ ने आरम्भ में ब्रह्मोपासना की जो विधि और स्तोत्र तैयार किया, वह हिन्दुत्व के परम अनुकूल था क्योंकि उपासना के सारे मंत्र उपनिषदों और तंत्र ग्रंथों से लिये गए थे। किन्तु, कुछ ही दिनों के बाद ब्रह्म समाजी पंडित और विद्वान् इस संशय में जा पड़े कि वेद अंतिम प्रमाण हैं या नहीं। विवाद के बाद यह निश्चय हुआ कि अन्तिम प्रमाण वेदों को भी नहीं माना जा

सकता। वेदों के उपदेश भी वहीं तक मान्य हैं, जहां तक वे हमारी बुद्धि से मेल खाते हैं।

केशवचंद्र सेन ने ब्रह्म-समाज में प्रवेश सन् १८५७ ई० में किया, जब उनकी उम्र केवल उन्नीस साल की थी। वे बड़े ही तेजस्वी एवं मेधावी नवयुवक थे तथा आरम्भ से ही देवेन्द्रनाथ उनके प्रभाव में आने लगे। अंगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू नव-युवकों में हिन्दुत्व के खिलाफ जो विद्रोह की आग भड़क रही थी, केशवचंद्र सेन में भी उसका पूरा जोर था। वे यूरोप के धर्म और संस्कृति, दोनों पर आसक्त थे, एवं ब्रह्मसमाज को वे आरम्भ से ही अभीप्सित दिशा में मोड़ने लगे। पहले उन्होंने देवेन्द्रनाथ के द्वारा ब्रह्म-समाजियों को यह शिक्षा दी कि हिन्दू-अनुष्ठानों में प्रतिमा-पूजन के संस्कार भरे होते हैं, अतएव, हमें इन अनुष्ठानों से अलग ही रहना चाहिए। तब वे इस बात पर आये कि जाति-प्रथा गलत चीज है, हम ब्रह्मसमाजियों को इससे भी कोई सरोकार नहीं रखना चाहिये। परिणाम यह हुआ कि सभी द्विज सदस्यों ने अपना जनेऊ उतार कर फेंक दिया। इसके बाद केशवसेन ने अन्त-र्जातीय विवाह का समर्थन किया और उनके प्रत्येक सुधार को देवेन्द्रनाथ अनिच्छापूर्वक मानते गए। देवेन्द्रनाथ हिन्दू थे, वे ब्रह्म-समाज को भी हिन्दू संस्था ही रखना चाहते थे। किन्तु, केशवचंद्रसेन में सामाजिक क्रांति के लिए पूरा उत्साह था। वे असल में ईसा के परम भक्त थे और हिन्दू धर्म को भी वे ईसाइयत की दिशा में ले जाना चाहते थे। अन्त में, गुरु और शिष्य में मतभेद हो गया एवं केशवचंद्र सेन ने सन् १८६६ ई० में अपना समाज अलग कर लिया जिसका नाम ब्रह्म-समाज ही बना रहा। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के अधिकार में जो समाज रह गया, उसे वे आदि ब्रह्म-समाज कहने लगे। इन दोनों समाजों का संबंध इतना कटु हो गया कि जब सन् १८७२ ई० में केशवचंद्र सेन ब्रह्म-विवाह कानून बनवाने लगे तब आदि समाज वालों ने उसका घोर विरोध किया।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाया से निकलने के बाद, ब्रह्म-समाजी लोग ईसाइयत की ओर निश्चिन्त होकर चलने लगे। बाइबिल और ईसाई पुराणों का अध्ययन समाज के अन्दर उत्साह से चलने लगा और ईसामसीह सभी ब्रह्म समाजियों के पूज्य पथ-प्रदर्शक हो गए। इस समय, चारों ओर लोग एक ही बात कहते थे कि केशवचंद्र सेन अब क्रिस्तान होंगे। किन्तु, वे क्रिस्तान हुए नहीं। हां, अपने समाज को विश्व-धर्म का व्याख्याता बताने के लिए उन्होंने सभी धर्मों की उपासना आरंभ की। उनके पथ-प्रदर्शन में समाज का जो प्रार्थना-संग्रह तैयार हुआ, उसमें हिन्दू, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, मुस्लिम और चीनी सभी धर्मों की प्रार्थनाएँ सम्मिलित थीं। साथ ही, केशवचंद्र ने वैष्णव कीर्तन के भी गीत अपनी प्रार्थना में मिला लिये और ढोलक झांझ के साथ वे कीर्तन गाते हुए सड़कों पर भी निकलने लगे। किन्तु, वैष्णवी-कीर्तन उनके ईसा-विषयक प्रेम में कमी नहीं ला सका। मिशनरियों के यहां उनकी काफी इज्जत थी और सन् १८७० ई० में जब वे इंगलैण्ड गए,

तब वहां के ईसाइयों ने उनका भव्य स्वागत किया।

सारी बातें ठीक चल रही थीं कि बीच में एक भयानक काण्ड उपस्थित हो गया। केशव बाबू प्रचंड समाज-सुधारक थे। वे हिन्दुओं से संबंध नहीं रखना चाहते थे। साथ ही, ब्रह्म-समाजियों के विवाह-संबंध के लिए उन्होंने जो कानून बनवाया था, उसमें वर-वध के बालिग होने का प्रतिबन्ध था। किन्तु, कूच बिहार के राजकुमार से जब केशव बाबू की पुत्री के ब्याह का प्रस्ताव आया, तब चारों ओर कानाफूसी चलने लगी कि देखें, अब केशव-चंद्र क्या करते हैं। कूच बिहार के राजा हिन्दू थे। यह पहली बाधा थी। दूसरी बाधा यह थी कि वर और वधू दोनों नाबालिग थे। ब्रह्म-समाज की प्रतिष्ठा इस बात में थी कि केशवचंद्र इस प्रस्ताव को ठुकरा देते। किन्तु, यह उनसे नहीं हो सका। उलटे, अपने अनुयायियों से उन्होंने यह कहा कि ईश्वर का आदेश है कि यह विवाह होना चाहिए। ईश्वर का आदेश तो पूरा हो गया, किन्तु, केशवचंद्र की प्रतिष्ठा पर भयंकर आंच आ पड़ी, और ब्रह्म-समाज एक बार फिर टूट गया। जो समाजी केशवचंद्र के विरोधी थे, उन्होंने अपने समाज को साधारण ब्रह्म-समाज कहना आरम्भ किया और केशवबाबू ने जो सभा अपने साथ रक्खी, उसका नाम उन्होंने नव विधान सभा रखा। नव विधान अंगरेजी के न्यू डिस्पेंसेसन का अनुवाद था और केशव बाबू का निश्छल मत था कि जैसे प्रथम विधान यहूदी धर्म और द्वितीय विधान ईसाई धर्म है, उसी प्रकार नव विधान को ईसाई समाज तृतीय विधान मान ले।

शेख ने काबा बना मिस्मार बुतखाना किया।
तब तो इक सूरत भी थी अब साफ वीराना किया।।

ब्रह्मसमाज तक तो, खैर, यह कहा जा सकता था कि यह, अधिक से अधिक, सर्व-धर्म-समन्वय का प्रयास है; किन्तु, नव विधान सभा ने तो खुलकर अपने को यहूदी और ईसाई धर्मों का वारिस ही बना लिया। होम, आरती और कुछ व्रतों के नवीन संस्करण, बस ये ही दो चार बातें हिन्दू-धर्म की रहीं, नव विधान में बाकी सारी बातें ईसाई धर्म की आ गईं। यह कहना बहुत अधिक अनुचित नहीं है कि ब्रह्म-समाज के जिस रूप का प्रवर्तन केशवचंद्र सेन ने किया वह ईसाइयत का ही प्रतिरूप था, केवल उसके पूज्य ईसा-मसीह नहीं थे।

यूरोपीय संस्कृति, धर्म और विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण ही, ब्रह्म-समाज सदैव थोड़े से लोगों का धर्म रह गया। इसमें अधिकतः वे ही लोग सम्मिलित हुए जिनके पास धन या विद्या अथवा दोनों का प्राचुर्य था। बंगाल में भी जन साधारण ने इस धर्म को कभी कोई प्रश्रय नहीं दिया। फिर भी ब्रह्म-समाज-आन्दोलन भारतीय संस्कृति के महान आन्दोलनों में से एक है क्योंकि यूरोप से आने वाले अनेक विचारों ने आरंभ में ब्रह्म-समाज के भीतर से ही हिन्दू धर्म में प्रवेश किया। भारतवर्ष यूरोप के साथ

अपना समन्वय खोज रहा था। ब्रह्म-समाजियों ने प्रयोग करके मानों यह घोषणा की कि इस समन्वय का रूप ऐसा होगा। किन्तु, स्मरण रहे कि ब्रह्म-समाज यूरोप का भारतीकरण नहीं, प्रत्युत, भारत के ही यूरोपीकरण का प्रयास था।

फिर भी याद रखने की बात है कि राममोहन राय का उद्देश्य भारत को यूरोप बनाना नहीं था। वे तो भारत के प्राचीन सत्यों का समन्वय यूरोप के नवीन अनुसन्धानों के साथ करना चाहते थे। साथ ही, उनका उद्देश्य ईसाइयत के आक्रमणों से हिन्दुत्व की रक्षा करना भी था। यह उद्देश्य देवेन्द्रनाथ ठाकुर में भी स्पष्ट था। जब उमेशचंद्र सरकार ईसाई हो गये तब कलकत्ते में इस धर्म-परिवर्तन से बड़ी खलबली मच गई और देवेन्द्रनाथ ने कलकत्ते के सभी नामी हिन्दुओं को अपने यहां बुलाकर सब के विचारार्थ यह प्रस्ताव रखा कि ईसाइयत की यह बाढ़ कैसे रोकी जा सकती है। केशवचंद्र सेन भी अपने जीवन के अन्तिम काल में भारतीयता और एशियाईपन की ओर बहुत अधिक झुक गये थे। किन्तु एक बात सच है कि ब्रह्म समाज के सभी नेता हिन्दुत्व की घबराहट के प्रतीक थे। वे हिन्दुत्व की रक्षा उसके संपूर्ण रूप में करने से घबराते थे। निदान, वे हिन्दु-धर्म की उन्हीं बातों को ऊपर ला रहे थे जो बुद्धिवाद की कसौटी पर ठहर सकती थीं, जिनका मजाक उड़ाने में ईसाइयों को दुबिधा हो सकती थी। किन्तु, यह बहुत कुछ शरमाये हुए लोगों का युद्ध था। यह रक्षापरक लड़ाई थी। यह बहुत कुछ कबीर की-सी उलझन की आवृत्ति थी। कबीर ने राम का नाम तो लिया था, किन्तु कौन राम, ऐसा पूछे जाने पर उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि मैं दाशरथि राम का भक्त नहीं हूं।

संतो, आवै जाय सो माया।
दसरथ के घर ब्रह्म न जनमे, ई छल माया कीन्हों।

ब्रह्म-समाजी विद्वान् भी हिन्दुत्व की ओर से बोलने को खड़े हुए थे। किन्तु, उनकी यह हिम्मत नहीं हुई कि वे हिन्दुत्व के समग्र रूप—पुनर्जन्म, अवतारवाद, तीर्थ, मन्दिर और मूर्त्तिपूजा आदि—का समर्थन कर सकें। हिन्दुत्व का जो रूप उन्होंने लिया वह ईसाइयत और इस्लाम से अधिक भिन्न नहीं था। ईसाइयत और हिन्दुत्व के युद्ध का यह पहला मोर्चा था, जिसमें हिन्दुत्व कुछ लजाया हुआ और प्रतिपक्षी की प्रबलता से आतंकित था। वे लोग बाद को आये जिन्होंने हिन्दुत्व के समग्र रूपों का समर्थन वीरता से किया। पहले भी कबीर के बाद तुलसी आये थे और जिस राम का उपासक बनने में कबीर को शर्म लगी थी, उस राम में अपना अटल विश्वास प्रकट करते हुए तुलसीदास ने घोषणा की थी कि हां, मेरा देवता तो दशरथ का ही पुत्र है।

मंगल भवन अमंगल हारी।
द्रवहु सु दसरथ अजिर बिहारी।

ब्रह्म-समाजी नेता और स्वामी दयानन्द, इनका भाव बहुत कुछ कबीर का ही भाव था। यद्यपि, स्वामी दयानन्द पर लज्जित होने का दोष ठीक से नहीं बैठता है। हां, तुलसी की वीरता और निश्छलता की आवृत्ति परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द में हुई।

महाराष्ट्र में नवोत्थान

उन्नीसवीं सदी के हिन्दू-नवोत्थान की मूल प्रेरणा सामाजिक थी । यद्यपि बंगाल में उसने धार्मिक रूप लिया था । किन्तु, महाराष्ट्र में वह आरंभ से ही सामाजिक रही । सन् १८४९ ई. में बम्बई में परमहंस समाज नामक एक संस्था बनी थी जिसका उद्देश्य जाति-प्रथा का भंजन था । इसके सदस्य छिपकर तथाकथित नन्हीं जातिवालों के हाथ की रसोई खाते थे और समझते थे कि छिपकर वे क्रांति का बीज वपन कर रहे हैं । किन्तु, एक बार जो यह भेद खुला तो ऊंची जातवालों में खलबली मच गई । परिणाम यह हुआ कि यह संस्था समाप्त हो गई ।

तब सन् १८६४ ई. में केशवचंद्र सेन बम्बई गये और वहां उन्होंने ब्रह्म-समाज की शाखा खोलनी चाही । उनके प्रभाव से बम्बई में ब्रह्म-समाज की शाखा प्रार्थना-समाज के नाम से खुली जिसके मुख्य उद्देश्य चार थे । १. जाति-प्रथा का विरोध, २. विधवा-विवाह का समर्थन, ३. स्त्री-शिक्षा का प्रचार और ४. बाल-विवाह का अवरोध । हिन्दू-समाज के इन चार दोषों पर बाहर वालों की दृष्टि सीधे पड़ती थी और इन दोषों का समर्थन कट्टर लोग भी नहीं कर पाते थे । अतएव, सुधारवादियों ने सब से पहले इन्हीं पर ध्यान दिया । महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज की और भी कई शाखाएं खोली गई जिनमें से कुछ संस्थाएं अपने को ब्रह्म-समाज भी कहती थीं ।

जिस प्रकार बंगाल में हिन्दू-नवोत्थान के पहले नेता राजा राममोहन राय हुए, उसी प्रकार महाराष्ट्र में इस आन्दोलन का श्रीगणेश महादेव गोविन्द रानाडे ने किया । बौद्धिक ऊंचाई में रानाडे प्रायः राममोहन राय के समकक्ष थे । उनकी मेधा, उनका ज्ञान और उनका पावन चरित्र, सब ने मिलकर उन्हें देश के सर्वोच्च महापुरुषों में स्थान दे रखा था एवं महाराष्ट्र में उनकी पूजा होती थी । गोपाल कृष्ण गोखले रानाडे के शिष्य थे । उन्होंने लिखा है कि "रानाडे ने, प्रायः तीस वर्ष तक भारतवर्ष के ऊंचे से ऊंचे विचारों तथा ऊंची से ऊंची आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व किया था ।" प्रोफेसर कर्वे ने लिखा है कि कोई बाईस साल तक पूने का सारा इतिहास रानाडे के कृत्यों का ही इतिहास था ।

रानाडे चितपावन ब्राह्मण थे । उनका जन्म सन् १८४२ ई. में नासिक जिले में हुआ था । वे साहित्य, राजनीति और अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे । वे सरकारी नौकरी में थे एवं अन्त में वे हाईकोर्ट के जज भी हुए थे । नौकरी के सिलसिले में वे जहां-जहां गये, वहां-वहां उन्होंने लोगों में नया जीवन डाल दिया । उनके हाथों अनेक संस्थाओं का जन्म

हुआ। पूने में तो उन्होंने इतनी संस्थाएं खोलीं कि पूना सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का तीर्थ ही हो गया।

ईसाइयत और यूरोपीय विचारों के आक्रमणों से बचने के लिए हिन्दुत्व ने जैसे बंगाल में राममोहन राय को उत्पन्न किया था, वैसे ही, महाराष्ट्र में उसने रानाडे को जन्म दिया। और राममोहन राय के समान ही, रानाडे भी यूरोप का जवाब यूरोप के साधनों से देना चाहते थे। वे उत्कट सुधारवादी थे एवं रूढ़ियों को मिटाकर वे हिन्दुत्व का निर्मल रूप प्रस्तुत करना चाहते थे। किन्तु, उनका समय सुधारों के केवल जन्म का समय था एवं हिन्दू-कट्टरता सुधारकों से उस समय दबने को तैयार नहीं थी। कुछ वह दुर्भाग्य भी उनके साथ रहा जिसने बंगाल में केशवचंद्र का पीछा किया था। बात यह हुई कि रानाडे की पहली पत्नी का स्वर्गवास हो गया और दूसरा विवाह उन्होंने विधवा से नहीं करके एक ग्यारह साल की कुमारी बालिका से किया। कहते हैं, यह विवाह उन्हें अपनी इच्छा और भावना के विरुद्ध, अपने पिता के दुराग्रह के कारण करना पड़ा था। किन्तु, दण्ड इसका उन्हें भोगना पड़ा और आजीवन वे आलोचकों के ताने नीरव होकर सुनते रहे।

यह भी इतिहास का व्यंग्य ही था कि रानाडे जिन सुधारों को समाज में लाना चाहते थे उनका विरोध लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को करना पड़ा। जीवन भर रानाडे और तिलक दो विरोधी शिविरों में विभक्त रहे और जीवन भर रानाडे पर तिलक के बाण बरसते रहे।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'लैंड मार्क्स इन लोकमान्यस लाइफ'* में श्रीयुत केलकर ने लिखा है कि "तिलक जी न तो पाषण्डी हैं, न सामाजिक सुधारों के मामले में वे आगा-पीछा करने वाले मनुष्य हैं। अपने ढंग पर वे भी व्यावहारिक सुधारक हैं। अपनी बेटियों को उन्होंने अच्छी शिक्षा दी है और उनका विवाह भी उन्होंने शास्त्र-निर्धारित सीमा के अन्तिम छोर पर ही पहुंच कर किया है। उन्होंने जाति-प्रथा की कट्टरता को मिटाने की बात कही है और सामाजिक सुधारों के प्रति उनकी साधारणतः सहानुभूति रही है। फिर भी, वे सुधारवादी दल के विरोधी रहे हैं जिसका कारण यह है कि ये सुधारक, उनके तरीके और सुधार के लिए उनके द्वारा नियत काल तिलकजी को पसन्द नहीं हैं।"

किन्तु, इतना होते हुए भी तिलकजी रानाडे के आलोचक रहे। यही नहीं, श्रीयुत आगरकर से भी उनकी नहीं पटी क्योंकि आगरकर भी क्रान्तिकारी सुधारक थे और हिन्दुत्व की कट्टरता कहीं न कहीं से तिलकजी की सहानुभूति पर अपना अधिकार रखती थी। सन् १८९१ ई. में जब 'एज आव् कान्सेन्ट बिल' इंपीरियल काउन्सिल में पेश हुआ तब उसका तीव्र विरोध तिलक ने किया।

ऐसा लगता है कि तिलकजी अपने समकालीन अन्य सुधारकों से कुछ अधिक व्याव-

हारिक और कालज्ञ थे। उन्नीसवीं सदी की हिन्दू जनता भयानक रूप से कट्टर थी। वह जात-पांत और छुआछूत के मामलों में अत्यन्त सतर्क रहती थी और किसी को भी थोड़ी-सी भी छूट देने को तैयार नहीं थी। सन् १८९० ई. में पूने के कोई पचास ब्राह्मण एक मिशनरी के निमंत्रण पर उसके घर गये। वहां आतिथेय ने अतिथियों के स्वागतार्थ मेज पर चाय और बिस्कुट रखवाये। कहते हैं, तिलक और रानाडे ने चाय और बिस्कुट का स्पर्श भी नहीं किया। किन्तु, दूसरे ही दिन नगर में कोलाहल मच गया और धर्मधुरीण पंडितों ने इतना बावेला मचाया कि तिलक और रानाडे, दोनों को प्रायश्चित्त करना पड़ा।

दूसरी घटना शारदा-सदन नामक संस्था को लेकर घटी। यह संस्था पंडिता रामा बाई की कायम की हुई थी। पंडिता रामा बाई ब्राह्मणी थीं एवं संस्कृत विद्या पर उनका असाधारण अधिकार था। हिन्दू-समाज में नारियों का जो अत्यन्त निम्न स्थान था उससे रामा बाई बहुत क्षुब्ध थीं एवं देश भर में वे नारी-जागरण का संदेश लिये घूमती फिरती थीं। बंगाल पहुंचकर उन्होंने एक अब्राह्मण से विवाह कर लिया था, यद्यपि वे शीघ्र ही विधवा हो गईं। उनके इस साहस से महाराष्ट्र की जनता बहुत कुपित हो उठी। इसी बीच, रामा बाई इंग्लैण्ड और अमेरिका चली गईं तथा वहां से वे ईसाई बनकर वापस आईं।

शारदा-सदन उन्होंने बालिकाओं की शिक्षा के लिए खोला था। किन्तु, उनके उग्र विचारों और आचरणों के कारण बहुत से लोग उनके खिलाफ हो गये। रानाडे और आगरकर मानते थे कि हिन्दू बालिकाएं शारदा-सदन में पढ़ें, इसमें कोई दोष नहीं है। किन्तु, तिलकजी का कहना था कि यह संस्था हिन्दू बालिकाओं को ईसाइयत की राह पर ले जाने वाली है। अतएव, इसका बहिष्कार होना चाहिए। आरंभ में लोग तिलकजी की बातों को अनसुनी करते रहे। किन्तु, जब तिलकजी ने अपने पक्ष के अनेक प्रमाण प्रकाशित कर दिये तब रानाडे और भंडारकर ने भी शारदा-सदन से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।

महाराष्ट्र में सुधार की हवा जोर से उठी थी, किन्तु, कई कारणों से उसके परिणाम थोड़े रह गये। कांसेंट बिल, शारदा-सदन काण्ड और मिशनरी के यहां चाय और बिस्कुट वाली घटना से सुधारकों का आदर घट गया था। उस पर, सन् १८९३-९४ ई. में बम्बई और पूने में जो हिन्दू-मुस्लिम-दंगे हुए उन्होंने परिस्थिति को और भी बिगाड़ दिया। इन्हीं दंगों के बाद, तिलकजी ने महाराष्ट्र में गणेश-पूजा और शिवाजी-महोत्सव का प्रवर्तन किया जिससे हिन्दू-राष्ट्रीयता के भाव ज़ोर से लहरा उठे। भावनाओं की इस बाढ़ के सामने सुधारकों के पांव उखड़ गये और महाराष्ट्र का नेतृत्व तिलकजी के हाथ में चला गया। श्रीयुत केलकर ने लिखा है कि उस समय सुधारकों का दल गणेश-पूजा

पर जितनी ही बौखलाहट मचाये हुए था, मुसलमानों के अत्याचारों पर वह उतना ही मौन था।* सरकार मुसलमानों के साथ थी। अतएव, जनता ने समझा कि सुधारक सरकार के भय से नहीं बोलते हैं। स्पष्ट ही, यह तिलकजी के सुयश और सुधारकों के अपयश के बढ़ने की घड़ी थी।

नवोत्थान के क्रम में महाराष्ट्र में विचारों के चार नेता उत्पन्न हुए जिनमें से केवल आगरकर का प्रभाव अपने प्रान्त तक सीमित रहा। बाकी तीन नेताओं——रानाडे, गोखले और तिलक——का प्रभाव सारे देश पर पड़ा। रानाडे, प्रधानतः, समाज-सुधारक थे, किन्तु, गोखले और तिलक राजनीति के भी अग्रणी नेता हुए हैं। गोखले और तिलक की तुलना करते हुए श्रीयुत पट्टाभिसीतारमैया ने लिखा है† कि गोखले का विषय शासन और उसमें सुधार था, किन्तु, तिलक सारे राष्ट्र को बदलना चाहते थे। गोखले का आदर्श सेवा और प्रेम था, किन्तु, तिलकजी सेवा और यातनाओं के प्रेमी थे। गोखले विदेशियों पर ज्ञान, तर्क और प्रेम से विजय पाना चाहते थे, तिलक का उद्देश्य उन्हें देश से बाहर निकाल देना था। गोखले अपनी बातें बुद्धिजीवियों को सुनाना चाहते थे; तिलक का श्रोता जनता का विशाल समुदाय था। गोखले के जौहर काउन्सिल चैम्बर में खुलते थे, तिलक का तेज ग्रामों के मंडपों में प्रकट होता था। गोखले का लक्ष्य स्वायत्त शासन की प्राप्ति था, तिलकजी स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार कहते थे। गोखले के भाषणों की भाषा अंगरेजी थी किन्तु, तिलकजी के भाषण और लेख मराठी में होते थे। तिलकजी गोखले से कोई दस साल बड़े थे, यद्यपि गोखले तिलक से पांच वर्ष पूर्व ही स्वर्ग सिधार गये।

इंडियन अनरेस्ट (प्रथम प्रकाशित १९१० ई.)‡ के लेखक ने तिलकजी को भारतीय विद्रोह का पिता कहा है, किन्तु, हम लोग राममोहन राय के समान उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता का जनक कहते हैं। राष्ट्रीयता के साथ लोगों में एक ओर जहां शासन करने वाली जाति के प्रति घृणा जगती है, वहां स्वदेश के लिए गौरव और अभिमान का भी उदय होता है। राममोहन राय और रानाडे में इस राष्ट्रीयता का केवल गौरव जगा था; उसका अभिमानपक्ष लोकमान्य तिलक में आकर साकार हुआ। तिलक से पूर्व के लोगों एवं उनके आरंभिक समकालीनों में राजनीतिक कर्म की प्रेरणा नहीं थी। यह प्रेरणा भी भारत में तिलकजी ने जगायी। इसी लिए, उनमें केवल स्वदेश-प्रेम ही नहीं, विदेशियों के विरुद्ध घृणा के भी भाव थे और इसी लिए देश को निर्भयता का पाठ पढ़ाने का आदि श्रेय भी तिलक को ही प्राप्त हुआ। श्री डी. एस. शर्मा§ ने खूब कहा है कि जब तिलकजी

---

* लाइफ एण्ड टाइम्स आव् तिलक

† कांग्रेस का इतिहास

‡ लेखक सर वलेनटाइन चिरोल

§ हिन्दू रिनासाँ

का दाय गांधीजी को मिला तब यह एक प्रकार से राष्ट्रीयता के धनुष का भार परशुराम से छूटकर राम के हाथों आने के समान था। गांधीजी से पूर्व तिलकजी ने ही यह घोषणा की थी कि स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। गांधीजी से पूर्व तिलकजी ने ही यह कहा था कि प्रस्तावों और भाषणों से कुछ होने वाला नहीं है, हमें कोई ठोस काम करना चाहिए। और गांधीजी से पूर्व तिलकजी ने यह भी बताया था कि हमारा ठोस काम असहयोग का रूप ले सकता है। गांधी-युग में देश में बलिदानों का तांता लग गया था, किन्तु, इस सरणी का भी आरंभ लोकमान्य ने अपने बलिदानों से किया था।

रानाडे, यद्यपि, राजनीति में नहीं उतरे, किन्तु, सांस्कृतिक धरातल पर उन्होंने जो कुछ किया उससे भारत की राष्ट्रीयता को यथेष्ट उत्तेजना मिली। उनका प्रार्थना-समाज, यद्यपि, बंगाल के ब्रह्म-समाज का ही नूतन संस्करण था, किन्तु, रानाडे नव विधान की बात नहीं करते थे। प्रार्थना-समाज को हिन्दू धर्म से अलग ले जाकर उसे एक नये संप्रदाय का रूप देना उनका अभीष्ट नहीं था। प्रार्थना-समाज जाति-प्रथा का विरोधी था, जन्मना एक मनुष्य को उत्तम और दूसरे को अधम मानने की प्रथा को वह तोड़ना चाहता था एवं स्त्री-शिक्षा तथा नर-नारी की समानता का वह पोषण करना चाहता था। इस समाज के लोग निराकारवादी थे, यह ठीक है; किन्तु, मूर्तिपूजा एवं परंपरागत अनुष्ठानों के त्याग की शर्त इस समाज में नहीं थी जैसी अनेक शर्तें बंगाल में ब्रह्म-समाजियों ने लगा रखी थीं। ब्रह्म-समाजी बंगाल में केवल धनी और विद्वान वर्गों के ही लोग हुए थे, किन्तु, रानाडे चाहते थे कि प्रार्थना-समाज में अशिक्षित जनता का भी प्रवेश हो। यद्यपि, उनका यह अरमान कभी पूरी नहीं हुआ। मध्यकालीन महाराष्ट्र में भक्ति का जो आन्दोलन उठा था उसी के समान रानाडे प्रार्थना-समाज को भी सर्वत्र ले जाना चाहते थे और इसमें कोई दोष भी नहीं था। क्योंकि ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास, और जनार्दन पंत, ये संत बहुत उदार थे। उन्होंने मनुष्य से मनुष्य की समानता को प्रश्रय दिया था। वे धर्म के बाह्याचारों के आलोचक थे और जातिप्रथा की कट्टरता का उन्होंने विरोध किया था। इसी भक्ति-आन्दोलन को सामने रख कर रानाडे प्रार्थना-समाज को सर्व-जन-ग्राह्य बनाना चाहते थे। सन् १८९३ ई. में लाहौर में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि "हिन्दू जनता इतनी बुरी नहीं है कि हम उसे सड़ांध से भरा हुआ बर्बादियों का अम्बार कहें। यह जनता कुछ दूर तक कट्टर अवश्य है, किन्तु इसी कट्टरता ने उसकी रक्षा भी की है। जो जाति अपने विश्वास और नैतिकता को, अपने आचारों और सामाजिक आचरणों को फैशन के समान आसानी से बदल दे, वह इतिहास में किसी बड़े उद्देश्य की प्राप्ति से वंचित रहेगी। साथ ही, यह भी सच है कि हमारी कट्टरता इतनी भयानक भी नहीं है कि हम नये विचारों और नूतन प्रयोगों को अपने भीतर धीरे-धीरे नहीं

पचा लें।"†

रानाडे बिलकुल ठीक थे। उस समय समाज ने सुधारकों का चाहे जो भी विरोध किया हो, किन्तु, आज तो ऐसा लगता है कि हिन्दू समाज ने रानाडे और आगरकर, राम-मोहन राय और केशवचंद्र सेन तथा दयानन्द और विवेकानन्द के एक-एक उद्देश्य को अपने हृदय में बिठा लिया है और उनमें से प्रत्येक का हम यथाशक्ति आचरण भी करते जा रहे हैं। किन्तु, यह भी ठीक है कि ब्रह्म-समाज या प्रार्थना-समाज के धार्मिक सिद्धान्तों को इस देश की जनता ने पसन्द नहीं किया।

मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन और उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक नवोत्थान में थोड़ी-सी समता जरूर है। विशेषतः ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज की निराकारोपासना निर्गुणवादी संतों की निराकारोपासना की प्रतिध्वनि के समान लगती है। जाति-प्रथा, मूर्त्ति-पूजा और तीर्थ आदि के विरुद्ध जिस जोर से उन्नीसवीं सदी के नेता पड़े उससे कदा-चित् अधिक जोर से कबीर, दादू आदि बोले हुए थे। उन्नीसवीं सदी का नवोत्थान परं-पराओं और रूढ़ियों का उतना ही विरोधी था जितना कि मध्यकालीन नवोत्थान। किन्तु एक बात थी जिसके कारण ब्रह्मसमाज के पांव इस देश में नहीं जम पाये और जिसके कारण वह भक्ति आन्दोलन से भी पूरा मेल नहीं खाता है। डाक्टर शर्मा ने बताया है कि ईसाई धर्म के सभी तत्त्वों पर ब्रह्म-समाज ने बहुत अधिक जोर दिया। समाज ने धर्म के वास्तविक पक्ष पर जोर नहीं देकर अपना विरोधी मत ही अधिक प्रचलित किया जिससे वह प्रतिमा भंजकता के दोष में फंस गया। मूर्त्ति-पूजा का खंडन तो खैर अलग बात थी, किन्तु, अवतारवाद का खंडन करके इसने मनुष्य को ईश्वर से अविच्छिन्न कर डाला और धरती तथा आकाश के बीच फिर वही खाई खोद दी जो बुद्ध के दिनों में खुदी थी।

सच पूछिये तो ब्रह्म-समाज का जन्म ही घबराई हुई मनोवृत्ति से हुआ था। राम-मोहन राय मोक्ष के लिए व्याकुल संत नहीं थे। वे तो ईसाइयत की चोट से हिन्दुत्व की रक्षा करने को आये थे। उनका उद्देश्य सामाजिक था एवं ब्रह्म-समाज उसी सामाजिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए बनाया गया था। देवेन्द्रनाथ और केशवचंद्र ने, व्यर्थ ही, उसे आध्यात्मिक सिद्धि का सोपान बनाना चाहा।

---

† रिनासाँ आव हिन्दुइज्म

आर्य-समाज

सत्यार्थ-प्रकाश के एकादश समुल्लास में स्वामी दयानन्द ने ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज के विषय में निम्नलिखित बातें लिखी हैं :—

"जो कुछ ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाजियों ने ईसाई मत में मिलने से थोड़े मनुष्यों को बचाए और कुछ-कुछ पाषाणादि मूर्त्ति-पूजा को हटाया, अन्य जाल-ग्रंथों के फंदों से भी बचाये, इत्यादि अच्छी बातें हैं। परन्तु, इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत-से लिये हैं। खान-पान विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं। अपने देश की प्रशंसा और पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके बदले पेट भर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंगरेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत, ऐसा कहते हैं कि बिना अंगरेजों के सृष्टि में आज पर्यंत कोई विद्वान् नहीं हुआ। आर्यावर्त्ती लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु, निन्दा करने से भी पृथक् नहीं रहते। ब्रह्म-समाज के उद्देश्य के पुस्तक में साधुओं की संख्या में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक और चैतन्य लिखे हैं। किसी ऋषि-महर्षि का नाम भी नहीं लिखा।"

केशवचंद्र और रानाडे की तुलना में दयानन्द वैसे ही दीखते हैं जैसे गोखले की तुलना में तिलक। जैसे राजनीति के क्षेत्र में हमारी राष्ट्रीयता का सामरिक तेज पहले-पहल तिलक में प्रत्यक्ष हुआ, वैसे ही, संस्कृति के क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द में निखरा। ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज के नेता अपने धर्म और समाज में सुधार तो ला रहे थे, किन्तु, उन्हें बराबर यह खेद सता रहा था कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह विदेश की नकल है। अपनी हीनता और विदेशियों की श्रेष्ठता के ज्ञान से उनकी आत्मा कहीं न कहीं दबी हुई थी। अतएव, कार्य तो प्राय: उनके भी वैसे ही रहे, जैसे स्वामी दयानन्द के किन्तु, आत्महीनता के भाव से अवगत रहने के कारण वे दर्प से नहीं बोल सके। यह दर्प स्वामी दयानन्द में चमका। रूढ़ियों और गतानुगतिकता में फँसकर अपना विनाश करने के कारण उन्होंने भारतवासियों की कड़ी निन्दा की और उनसे कहा कि तुम्हारा धर्म पौराणिक संस्कारों की धूल में छिप गया है। इन संस्कारों की गंदी पर्तों को तोड़ फेंको, तुम्हारा सच्चा धर्म वैदिक धर्म है जिस पर आरूढ़ होने से तुम फिर से विश्व-विजयी हो सकते हो। किन्तु, इससे भी कड़ी फटकार उन्होंने ईसाइयों पर और मुसलमानों पर भेजी जो दिन-दहाड़े हिन्दुत्व की निन्दा करते फिरते थे। ईसाई और मुस्लिम पुराणों में घुसकर उन्होंने इन धर्मों

में भी वैसे ही दोष दिखला दिये, जिनके कारण ईसाई और मुसलमान हिन्दुत्व की निन्दा करते थे। इससे दो बातें निकलीं। एक तो यह कि अपनी निन्दा सुनकर घबराई हुई हिन्दू जनता को यह जानकर कुछ संतोष हुआ कि पौराणिकता के मामले में इस्लाम और ईसाइयत भी हिन्दुत्व से अच्छी नहीं है। दूसरी यह कि हिन्दुओं का ध्यान अपने धर्म के मूल रूप की ओर आकृष्ट हुआ एवं वे अपनी प्राचीन परम्परा के लिए गौरव का अनभव करने लगे।

राममोहन और रानाडे ने हिन्दुत्व के पहले मोर्चे पर लड़ाई लड़ी थी जो रक्षा या बचाव का मोर्चा था। स्वामी दयानन्द ने आक्रमकता का थोड़ा-बहुत श्रीगणेश कर दिया, क्योंकि वास्तविक रक्षा का उपाय तो आक्रमण की ही नीति है। सत्यार्थ प्रकाश में जहां हिन्दुत्व के वैदिक रूप का गहन आख्यान है, वहां उसमें ईसाइयत और इस्लाम की आलोचना पर भी अलग-अलग दो समुल्लास हैं। अबतक हिन्दुत्व की निन्दा करनेवाले लोग निश्चित थे कि हिन्दू अपना सुधार भले करता हो, किन्तु, बदले में हमारी निन्दा करने का उसे साहस नहीं होगा। किन्तु, इस मेधावी एवं योद्धा संन्यासी ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया। यही नहीं, प्रत्युत, जो बात राममोहन, केशवचन्द्र और रानाडे के ध्यान में भी नहीं आई थी, उस बात को लेकर स्वामी दयानन्द के शिष्य आगे बढ़े और उन्होंने घोषणा कर दी कि धर्मच्युत हिन्दू प्रत्येक अवस्था में अपने धर्म में वापस आ सकता है एवं अहिन्दू भी यदि चाहें तो हिन्दू धर्म में प्रवेश पा सकते हैं। यह केवल सुधार की वाणी नहीं थी, अपितु, यह जागृत हिन्दुत्व का समर-नाद था। और सत्य ही, रणारूढ़ हिन्दुत्व के जैसे निर्भीक नेता स्वामी दयानन्द हुए, वैसा और कोई नहीं हुआ।

इतिहास का क्रम कुछ ऐसा बना कि स्वामी दयानन्द की गिनती महाराणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्द की सरणी में की जाने लगी। किन्तु, स्वामी दयानन्द मुसलमानों, के विरोधी नहीं थे। स्वामी जी का जब स्वर्गवास हुआ तो सुप्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सैयद अहमदखां ने जो समवेदना और शोक प्रकट किया, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुस्लिम जनता के बीच भी स्वामी जी का यथेष्ट आदर था। स्वामी जी के बाद, आर्यसमाज और मुस्लिम संप्रदाय के बीच का सम्बन्ध अच्छा नहीं रहा, यह सत्य है। किन्तु, स्वामी जी के जीवन-काल में ऐसी बात नहीं थी।

सच पूछिये तो स्वामी जी केवल इस्लाम के ही आलोचक नहीं थे, वे ईसाइयत और हिन्दुत्व के भी अत्यंत कड़े आलोचक हुए हैं। सत्यार्थ-प्रकाश के त्रयोदश-समुल्लास में ईसाई मत की आलोचना है और चतुर्दश समुल्लास में इस्लाम की। किन्तु, ग्यारहवें और बारहवें समुल्लासों में तो केवल हिन्दुत्व के ही विभिन्न अगों की बखिया उधेड़ी गई है और कबीर, दादू, नानक, बुद्ध, चार्वाक, जिन एवं हिन्दुओं के अनेक पूज्य पौराणिक देवताओं में से एक भी बेदाग नहीं छूटा है। वल्लभाचार्य ओर कबीर पर तो स्वामी जी इतना बरसे हैं कि

उनकी आलोचना पढ़कर सहनशील लोगों की भी धीरता छूट जाती है। किन्तु, यह सब अवश्यंभावी था। यूरोप के बुद्धिवाद ने भारतवर्ष को इस प्रकार झकझोर डाला था कि हिन्दुत्व के बुद्धिसम्मत रूप को आगे लाये बिना कोई भी सुधारक भारतीय संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकता था। स्वामी जी ने बुद्धिवाद की कसौटी बनायी और उसे हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत पर निश्छल भाव से लागू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पौराणिक हिन्दुत्व तो इस कसौटी पर खंड-खंड हो ही गया, इस्लाम और ईसाइयत की भी सैकड़ों कमजोरियां लोगों के सामने आ गईं।

चूंकि ईसाइयत और इस्लाम हिन्दुत्व पर आक्रमण कर रहे थे, इसलिए, हिन्दुत्व की ओर से बोलने वाला प्रत्येक व्यक्ति ईसाइयत या इस्लाम अथवा दोनों का द्रोही समझ लिया गया। किन्तु, इस प्रसंग से अलग हटने पर स्वामी दयानन्द विश्व-मानवता के नेता दीखते हैं। उनका उद्देश्य सभी मनुष्यों को उस दिशा में ले जाना था, जिसे व सत्य की दिशा समझते थे। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में स्वयं लिखा है कि "जो जो सब मतों में सत्य बातें हैं, वे वे सबमें अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं, उन उनका खंडन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रखा है कि जब मत-मतान्तरों की गुप्त वा प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान्-अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रखा है, जिससे सबसे सबका विचार होकर परस्पर प्रेमी होके एक सत्य मतस्थ होवें। यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न करके यथातथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसे ही, दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी वर्त्तता हूँ। जैसा स्वदेश वालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्त्तता हूँ वैसा विदेशियों के साथ भी, तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है। क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता, तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मंडन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता। परन्तु, ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं।" अन्यत्र चौदहवें समुल्लास के अन्त में भी स्वामी जी ने कहा है कि "मेरा कोई नवीन कल्पना व मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। किन्तु, जो सत्य है, उसे मानना-मनवाना और जो असत्य है, उसे छोड़ना-छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त के प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु, जो जो आर्यावर्त्त वा अन्य देशों में अधर्म-युक्त चाल-चलन है, उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नहीं करता न करना चाहता हूँ क्योंकि ऐसा करना मनुष्य-धर्म के बहिः है।"

उन्नीसवीं सदी के हिन्दू-नवोत्थान के इतिहास का पृष्ठ-पृष्ठ बतलाता है कि जब यूरोप वाले भारतवर्ष में आये, तब यहां के धर्म और संस्कृति पर गंदगी की पर्तें जमी हुई

थीं, एवं यूरोप के मुकाबले में उठने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि ये पर्तें एकदम उखाड़ फेंकी जायें और हिन्दुत्व का वह रूप प्रकट किया जाय जो निर्मल और बुद्धिगम्य हो। स्वामी जी के मत से यह हिन्दुत्व वैदिक हिन्दुत्व ही हो सकता था। किन्तु, यह हिन्दुत्व पौराणिक कल्पनाओं के नीचे दबा हुआ था, उस पर अनेक स्मृतियों की धूल जम गई थी एवं वेद के बाद के सहस्रों वर्षों में हिन्दुओं ने जो रूढ़ियां और अन्ध विश्वास अर्जित किये थे उनके ठूहों के नीचे यह धर्म दबा पड़ा था। राममोहन राय, रानाडे, केशवचंद्र और तिलक से भिन्न स्वामी दयानन्द की विशेषता यह रही कि उन्होंने धीरे-धीरे पपड़ियां तोड़ने का काम नहीं करके उन्हें एक ही चोट से साफ कर देने का निश्चय किया। परिवर्तन जब धीरे-धीरे आता है, तब सुधार कहलाता है। किन्तु, वही जब तीव्र वेग से पहुँच जाता है, तब उसे क्रांति कहते हैं। दयानन्द के अन्य समकालीन सुधारक केवल सुधारकमात्र थे, किन्तु, दयानन्द क्रांति के वेग से आये और उन्होंने निश्छल भाव से यह घोषणा कर दी कि हिन्दू धर्म-ग्रंथों में केवल वेद ही मान्य हैं, अन्य शास्त्रों और पुराणों की बातें बुद्धि की कसौटी पर कसे विना मानी नहीं जानी चाहिएं। छः शास्त्रों और अठारह पुराणों को उन्होंने एक ही झटके में साफ कर दिया। वेदों में मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थों और अनेक पौराणिक अनुष्ठानों का समर्थन नहीं था, अतएव, स्वामी जी ने इन सारे कृत्यों और विश्वासों को गलत घोषित किया।

वेद को छोड़कर कोई और अन्य धर्म-ग्रंथ प्रमाण नहीं है, इस सत्य का प्रचार करने के लिए स्वामी जी ने सारे देश का दौरा करना आरम्भ किया और जहां-जहां वे गए, प्राचीन परम्परा के पंडित और विद्वान् उनसे हार मानते गए। संस्कृत भाषा का उन्हें अगाध ज्ञान था। संस्कृत में वे धारावाहिक रूप से बोलते थे। साथ ही वे प्रचंड तार्किक थे, उन्होंने ईसाई और मुस्लिम धर्म-ग्रंथों का भी भली-भांति मंथन किया था। अतएव, अकेले ही, उन्होंने तीन मोर्चों पर संघर्ष आरम्भ कर दिया। दो मोर्चे तो ईसाइयत और इस्लाम के थे, किन्तु तीसरा मोर्चा सनातनधर्मी हिन्दुओं का था जिनसे जूझने में स्वामी जी को अनेक अपमान, कुत्सा, कलंक और कष्ट झेलने पड़े। उनके प्रचंड शत्रु ईसाई और मुसलमान नहीं, सनातनी हिन्दू ही निकले, और कहते हैं, अन्त में इन्हीं हिन्दुओं के षड्यंत्र से उनका प्राणान्त भी हुआ। दयानन्द ने बुद्धिवाद की जो मशाल जलायी थी, उसका कोई जवाब नहीं था। वे जो कुछ कह रहे थे, उसका उत्तर न तो मुसलमान दे सकते थे न ईसाई और न पुराणों पर पलने वाले हिन्दू पंडित और विद्वान्। हिन्दू नवोत्थान अब पूरे प्रकाश में आ गया था और सभी समझदार लोग मन ही मन यह अनुभव करने लगे थे कि सच ही पौराणिक धर्म में कोई सार नहीं है।

सन् १८७२ ई. में स्वामी जी कलकत्ते पधारे। वहां देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशव चंद्र सेन ने उनका बड़ा सत्कार किया। ब्रह्म-समाजियों से उनका विचार-विमर्श भी हुआ।

किन्तु, ईसाइयत से प्रभावित ब्रह्मसमाजी विद्वान् पुनर्जन्म और वेद की प्रामाणिकता के विषय में स्वामीजी से एकमत नहीं हो सके। कहते हैं, कलकत्ते में ही केशवचंद्र सेन ने स्वामीजी को यह सलाह दी कि यदि आप संस्कृत छोड़कर हिन्दी में बोलना आरंभ करें तो देश का असीम उपकार हो सकता है। तभी से स्वामीजी के व्याख्यानों की भाषा हिन्दी हो गई और हिन्दी प्रांतों में उन्हें अगणित अनुयायी मिलने लगे। कलकत्ते से स्वामीजी बम्बई पधारे और वहीं १० अप्रैल सन् १८७५ में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। बम्बई में उनके साथ प्रार्थना-समाज वालों ने भी विचार-विमर्श किया। किन्तु,यह समाज तो ब्रह्म-समाज का ही बम्बई संस्करण था। अतएव, स्वामीजी से इस समाज के लोग भी एकमत नहीं हो सके।

बम्बई से लौटकर स्वामीजी दिल्ली आये। वहां उन्होंने सत्यानुसन्धान के लिए ईसाई, मुसलमान और हिन्दू पंडितों की एक सभा बुलाई। किन्तु, दो दिनों के विचार-विमर्श के बाद भी लोग किसी निष्कर्ष पर नहीं आ सके। दिल्ली से स्वामीजी पंजाब गये। पंजाब में उनके प्रति बहुत अधिक उत्साह जाग्रत हुआ और सारे प्रांत में आर्यसमाज की शाखाएं खुलने लगीं। तभी से पंजाब आर्यसमाजियों का प्रधान गढ़ रहा है।

जब थियोसोफिस्ट लोग भारत आये, तब थोड़े दिन उन लोगों ने भी आर्य-समाज से मिलकर काम किया। किन्तु, थियोसोफिस्टों की भी बहुत-सी बातें स्वामीजी के सिद्धान्तों के विपरीत पड़ती थीं। अतएव, वे लोग भी आर्यसमाज से अलग हो गये। किन्तु, अलग होने पर भी स्वामीजी पर थियोसोफिस्टों की भक्ति ज्यों की त्यों बनी रही। स्वामीजी के देहावसान के बाद मादाम ब्लेवास्की ने लिखा था कि "जन-समह के उबलते हुए क्रोध के सामने कोई संगमर्मर की मूर्त्ति भी स्वामीजी से अधिक अडिग नहीं हो सकती थी। एक बार हमने उन्हें काम करते देखा था। उन्होंने अपने सभी विश्वासी अनुयायियों को यह कहकर अलग हटा दिया कि तुम्हें हमारी रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। भीड़ के सामने वे अकेले ही खड़े हो गये। लोग उतावले हो रहे थे, क्रुद्ध सिंह के समान वे स्वामीजी पर टूट पड़ने को तैयार थे। किन्तु, स्वामीजी की धीरता ज्यों की त्यों बनी रही। .... यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।"† स्वामीजी की मृत्यु के बाद थियोसोफिस्ट अखबार ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था कि "उन्होंने जर्जर हिन्दुत्व के गतिहीन ढूह पर भारी बम का प्रहार किया और अपने भाषणों से लोगों के हृदयों में ऋषियों और वेदों के लिए अपरिमित उत्साह की आग जला दी।

† 'रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म' से उद्धृत।

सारे भारतवर्ष में उनके समान हिन्दी और संस्कृत का वक्ता दूसरा कोई और नहीं था।"

कहा जाता है कि जैसे सिक्ख-धर्म सनातन-धर्म का अरबी अनुवाद है, वैसे ही आर्य-समाज भी इस्लाम की संस्कृत टीका है। सिक्ख-धर्म के विषय में यह उक्ति कुछ दूर तक सही समझी जा सकती है, किन्तु, आर्य-समाज के विषय में वह कहां तक सत्य है यह बताना कठिन है। स्वामीजी ने ईश्वर, जीव और प्रकृति, तीनों को अनादि माना है, किन्तु, यह तो इस्लाम से अधिक भारतीय योग-दर्शन का मत है। भिन्नता यह है कि स्वामीजी यह नहीं मानते कि भगवान पापियों के पाप को क्षमा करते हैं। बल्कि, भगवान की कृपा के सहारे पाप करने की बात के लिए उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की बार-बार आलोचना की है। हां, जिन बुराइयों के कारण हिन्दू-धर्म का ह्रास हो रहा था तथा अन्य धर्म के लोग जिन दुर्बलताओं का लाभ उठाकर हिन्दुओं को ईसाई बना रहे थे, उन बुराइयों को स्वामीजी ने अवश्य दूर किया जिससे हिन्दुओं के सामाजिक संगठन में वही दृढ़ता आ गई जो इस्लाम में थी। स्वामीजी ने छुआछूत के विचार को अवैदिक बताया और उनके समाज ने सहस्रों अन्त्यजों को यज्ञोपवीत देकर उन्हें हिन्दुत्व के भीतर आदर का स्थान दिया। आर्य-समाज ने नारियों की मर्यादा में वृद्धि की एवं उनकी शिक्षा-संस्कृति का प्रचार करते हुए, विधवा-विवाह का भी प्रचलन किया। कन्या-शिक्षा और ब्रह्मचर्य का आर्य-समाज ने इतना अधिक प्रचार किया कि हिन्दी-प्रांतों में साहित्य के भीतर एक प्रकार की पवित्रतावादी भावना भर गई और हिन्दी के कवि कामिनी नारी की कल्पना मात्र से घबराने लगे। पुरुष शिक्षित और स्वस्थ हों, नारियां शिक्षिता और सबला हों, लोग संस्कृत पढ़ें और हवन करें, कोई भी हिन्दू मूर्त्ति-पूजा का नाम न ले, न पुरोहितों, देवताओं और पंडों के फेर में पड़े, ये उपदेश उन सभी प्रांतों में कोई पचास साल तक गूंजते रहे, जहां आर्य-समाज का थोड़ा-बहुत प्रचार था।

यह विस्मय की बात है कि स्वामीजी ने संहिताओं को तो प्रमाण माना, किन्तु, उपनिषदों पर वही श्रद्धा नहीं दिखायी। वेद से उनका अभिप्राय केवल "चारों वेद (विद्या-धर्म युक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मंत्र-भाग) और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अंग, छः उपांग चार उपवेद और ११२७ वेदों की शाखा"* से है। इसी प्रकार, युग-युग से पूजित गीता को उन्होंने कोई महत्त्व नहीं दिया और कृष्ण, राम आदि को तो परम पुरुष माना ही नहीं। वर्णाश्रम उन्होंने गुण-कर्म की योग्यता से माना। उन्होंने 'देव' का अर्थ विद्वान 'असुर' का अविद्वान्, 'राक्षस' का पापी और 'पिशाच' का अनाचारी माना। पुरुषार्थ को उन्होंने प्रारब्ध से बड़ा बताया तथा सुख-भोग को स्वर्ग तथा दुःख-भोग को नरक

---

*—सत्यार्थ प्रकाश स्वमंतव्यामंतव्य प्रकाश प्रकरण।

कहा । यह हिन्दूधर्म की बुद्धिवादी टीका थी, यह विज्ञान की कसौटी पर चढ़े हुए हिन्दुत्व का निखार था ।

किन्तु, स्वामीजी ने भी देश में एक नूतन अन्धविश्वास को जन्म दिया । उनके पूर्व भी वेद हिन्दुओं के पूज्य ग्रंथ थे और वे आज भी पूज्य हैं । किन्तु, पूज्य होने के मानी यह तो नहीं हैं कि वेद में त्रिकाल का ज्ञान समाहित है । स्वामीजी ने कहा है कि वेद में केवल धर्म की ही बातें नहीं हैं, उसमें विज्ञान की भी सारी बातें प्रच्छन्न हैं । पुराणों, शास्त्रों और स्मृतियों के पाश से मुक्त करके जनता को वेदों की ओर ले जाने का यह ढंग प्रशंसनीय अवश्य था, किन्तु, वेदों को सभी ज्ञानों का कोष मान लेने से लोगों के ज्ञानोन्मेष में बाधा भी पड़ी ।

आश्चर्य की बात है कि श्री अरविन्दो ने स्वामी दयानन्द का समर्थन ही नहीं किया है, प्रत्युत्, यह भी शिकायत की है कि स्वामीजी ने वेदों के महत्त्व को घटा कर ही कहा है ।[1]

उन्नीसवीं सदी के नवोत्थान से एक और बात निकली जिसका कुफल देश को आज भोगना पड़ रहा है । जब इस्लाम और ईसाइयत से हिन्दुत्व संघर्ष कर रहा था, उस समय नेताओं, सुधारकों और पंडितों ने हिन्दुत्व की ओर से जो कुछ प्रमाण दिये, संस्कृत से ले कर दिये और यह भी ठीक था क्योंकि सारे देश में फैले हुए हिन्दुत्व की भाषा संस्कृत थी । पीछे जो यूरोपीय इतिहासकार भारत के अतीत का इतिहास तैयार करने लगे उसमें भी मूल-उद्धरण संस्कृत से ही आये । और स्वामी दयानन्द ने तो संस्कृत की सभी सामग्रियों को छोड़कर केवल वेदों को पकड़ा और उनके सभी अनुयायी भी वेदों की दुहाई देने लगे । परिणाम इसका यह हुआ कि वेद और आर्य, भारत में ये दो ही सर्व-प्रमुख हो उठे । और इतिहास वालों में भी यह धारणा चल पड़ी कि भारत की सारी संस्कृति और सभ्यता वेदवालों अर्थात् आर्यों की रचना है । भारत में जो अनेक जातियों का समन्वय हुआ था, उसकी ओर उस समय किसी ने देखा भी नहीं । हिन्दू केवल उत्तर भारत में ही नहीं बसते थे और न यही कहने का कोई आधार था कि हिन्दुत्व की रचना में दक्षिण भारत का कोई योगदान नहीं है । फिर भी, स्वामीजी ने आर्यावर्त की जो सीमा

---

१ वेदों में केवल धर्म ही नहीं, विज्ञान भी है, दयानन्द के इस विचार में चौंकने की कोई बात नहीं है । मेरा विचार तो यह है कि वेदों में विज्ञान की ऐसी बातें भी हैं जिनका पता आज के वैज्ञानिकों को नहीं चला है । इस दृष्टि से देखने पर तो यह दीखता है कि दयानन्द ने वेदों में निहित ज्ञान के विषय में अत्युक्ति नहीं, बल्कि, अल्पोक्ति से काम लिया है ।" —श्री अरविन्दो (दयानन्द, द मैन एण्ड हिज़ वर्क) ।

बांधी है वह विंध्याचल पर समाप्त हो गई।† आर्य-आर्य कहने, वेद-वेद चिल्लाने तथा तमिल भाषा में सन्निहित हिन्दुत्व के उपकरणों की उपेक्षा करने का ही यह परिणाम है कि आज दक्षिण भारत में आर्य-विरोधी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है। हिन्दू सारे भारत में बसते हैं तथा उनकी नसों में आर्य के साथ द्रविड़ रक्त भी प्रवाहित है। हिन्दुत्व के उपकरण केवल संस्कृत में ही नहीं, प्रत्युत्, संस्कृत के ही समान प्राचीन भाषा तमिल में भी उपलब्ध हैं और दोनों भाषाओं में निहित उपकरणों को एकत्र किये बिना हिन्दुत्व का पूरा चित्र नहीं बनाया जा सकता, इस सत्य पर यदि उत्तर के हिन्दू ध्यान देते तो दक्षिण के भाइयों को वह कदम उठाना ही नहीं पड़ता जिसे वे उपेक्षा और क्षोभ से विचलित होकर उठा रहे हैं।

यह दोष चाहे जितना बड़ा हो, किन्तु, आर्य-समाज हिन्दुत्व की खड्गधर बांह साबित हुआ। स्वामीजी के समय से लेकर अभी हाल तक इस समाज ने सारे हिन्दी प्रांत को अपने प्रचार से औंट डाला। आर्य-समाज के प्रभाव में आकर बहुत-से हिन्दुओं ने मूर्त्ति-पूजा छोड़ दी, बहुतों ने अपने घर के देवी-देवताओं की प्रतिमाओं को तोड़कर बाहर फेंक दिया, बहुतों ने श्राद्ध की पद्धति बन्द कर दी और बहुतों ने पुरोहितों को अपने यहां से विदा कर दिया। जो विधिवत् आर्य-समाजी नहीं बने, शास्त्रों और पुराणों में उनका भी विश्वास हिल गया और वे भी मन ही मन शंका करने लगे कि राम और कृष्ण ईश्वर हैं या नहीं, कि पाषाणों की पूजा से मनुष्य को कोई लाभ हो सकता है या नहीं। आर्यसमाजियों ने जगह-जगह अपने उद्देश्यानुकूल विद्यालय स्थापित किये जिनमें संस्कृत की विशेष रूप से पढ़ाई होती है और जहां से स्नातक स्वामी दयानन्द के उद्देश्यों के मूर्त्ति-मान रूप बनकर बाहर आते हैं। इन विद्यालयों में कन्या और युवक ब्रह्मचर्य-वास भी करते हैं।

आगे चलकर आर्यसमाज ने शुद्धि और संगठन का भी प्रचार किया। सन् १९२१ ई. में मोपला (मालाबार) में लोगों ने भयानक विद्रोह किया और उन्होंने पड़ोस के हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया। आर्यसमाज ने इस विपत्ति के समय संकट के सामने छाती खोली और कोई ढाई हजार भ्रष्ट परिवारों को फिर से हिन्दू बना लिया। इसी काण्ड के बाद आर्यसमाजियों ने राजस्थान के मलकाना राजपूतों की भी शुद्धि आरंभ

---

† "आर्यावर्त्त देश इस भूमि का नाम इसलिए है कि इसमें आदि सृष्टि से आर्य लोग निवास करते हैं, परन्तु, इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है उसको आर्यावर्त कहते और जो इनमें सदा रहते उनको भी आर्य कहते हैं।"

(सत्यार्थप्रकाश : स्वमंतव्यामंतव्य प्रकाश)

की जिससे मुस्लिम-संप्रदाय में क्षोभ उत्पन्न हुआ और लोग कहने लगे कि आर्यसमाजी मुसलमानों से शत्रुता कर रहे हैं। किन्तु, शत्रुता की इसमें कोई बात नहीं है। जब अन्य धर्मवालों को यह अधिकार है कि चाहे जितने हिन्दुओं को मुसलमान बना सकते हैं, तो फिर धर्मभ्रष्ट हिन्दुओं को फिर से हिन्दू बना लेने में ऐसा क्या अन्याय है? किन्तु, आर्यसमाजियों के इस साहस से मुसलमान बहुत घबराये एवं भारतीय एकता का शकट कुछ पीछे की ओर घुड़क गया।

आर्यसमाजियों ने अपने साहस का दूसरा परिचय सन् १९३७ ई. में दिया जबकि हैदराबाद की निजाम सरकार ने यह फरमान जारी किया था कि हैदराबाद राज्य में आर्यसमाज का प्रचार नहीं होने दिया जायगा। इस आज्ञा के विरुद्ध आर्यसमाजियों ने सत्याग्रह का शस्त्र निकाला और एक-एक करके कोई बारह हजार आर्यसमाजी सत्याग्रही जेल चले गये।

ईसाइयत और इस्लाम के आक्रमणों से हिन्दुत्व की रक्षा करने में जितनी मुसीबतें आर्यसमाज ने झेली हैं, उतनी किसी और संस्था ने नहीं। सच पूछिये तो उत्तर भारत में हिन्दुओं को जगाकर उन्हें प्रगतिशील करने का सारा श्रेय आर्य-समाज को ही है। पंडित चमूपति ने सत्य ही कहा है कि "आर्य-समाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुसफुसिया जीव था। उसके मेरुदंड की हड्डी थी ही नहीं। चाहे कोई उसे गाली दे, उसकी हंसी उड़ाये, उसके देवताओं की भर्त्सना करे या उस धर्म पर कीचड़ उछाले जिसे वह सदियों से मानता आ रहा है, फिर भी इन सारे अपमानों के सामने वह दांत निपोड़ कर रह जाता था। लोगों को यह उचित शंका हो सकती थी कि यह आदमी भी है या नहीं, इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं अथवा यह गुस्से में आकर प्रतिपक्षी की ओर घूम भी सकता है या नहीं। किन्तु, आर्यसमाज के उदय के बाद, अविचल उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गई। हिन्दुओं का धर्म एक बार फिर जगमगा उठा है। आज का हिन्दू अपने धर्म की निन्दा सुनकर चुप नहीं रह सकता, जरूरत हुई तो धर्मरक्षार्थ वह अपने प्राण भी दे सकता है।*"

---

* द कलचरल हेरिटेज आव् इंडिया—जिल्द—२

थियोसाफिकल सोसायटी या ब्रह्मविद्या समाज

थियोसाफिकल सोसायटी का नाम विदेशी है और यह संस्था भी विदेश में ही जन्मी थी। इसके सदस्यों की संख्या भी कभी इतनी नहीं हुई कि इसको गिनती भारत के महान् सांस्कृतिक आंदोलनों में की जा सके। किन्तु, फिर भी इस संस्था की एक सभा-नेत्री श्रीमती एनी बेसेंट ने हिन्दुत्व के नवोत्थान एवं भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के लिए इतना कुछ किया कि उनकी सेवा भुलायी नहीं जा सकती। आजकल एक दर्शन प्रचलित है जिसके अनुसार व्यक्ति कुछ भी नहीं है। जो कुछ है वह समूह है। किन्तु, एनी बीसेंट जैसे व्यक्तियों के विषय में यह दर्शन गलत ठहरता है। मानवता का रथ प्रायः मन्द-मन्द ही चलता है, यह समूह की गति है। किन्तु, कोई-कोई व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके एक ही धक्के से यह रथ बहुत आगे निकल जाता है। श्रीमती एनी बेसेंट ऐसा ही व्यक्तित्व रखती थीं और उनके जीवन का सबसे बड़ा कार्य यह रहा कि उन्होंने ऊंघते हुए हिन्दुओं में आत्माभिमान भर दिया एवं जब ईसाई मिशनरी भारत के बाहर भारत के विषय में कुप्रचार करके यहां के लोगों को ईसाई बना रहे थे, तब इस ईसाई महिला ने खुलकर भारत और हिन्दुत्व का पक्ष लिया।

थियोसाफी शब्द दो यूनानी शब्दों से बना है। यूनानी में (Theos) ईश्वर को कहते हैं और सोफिया (Sophia) का अर्थ ज्ञान है। अतएव, थियोसाफी का अर्थ ब्रह्मविद्या बताया जाता है।

इस संस्था का जन्म यों हुआ कि रूस में एक महिला थीं जिनका नाम हेलेना पेट्रोवना ब्लेवास्की था। वे प्रेतविद्या की जानकार समझी जाती थीं। उन दिनों अमेरिका में भी प्रेतविद्या की चर्चा छिड़ी हुई थी और कोलोनल आलकाट नाम के एक सज्जन इस विद्या से गहरी दिलचस्पी रखते थे। ब्लेवास्की न्यूयार्क गई तब वहां उनका परिचय आलकाट साहब से हुआ और वहीं दोनों ने मिलकर थियोसाफिकल सोसायटी की नींव ७ सितंबर १८७५ ई. में रखी। कहा जाता है कि तिब्बत में कुछ श्रेष्ठ आत्माएं थीं जिनका संपर्क श्रीमती ब्लेवास्की से था। इन्हीं आत्माओं के पथ-प्रदर्शन में ब्लेवास्की काम करती थीं। अतएव, अपनी संस्था का मुख्य उद्देश्य उन्होंने उन अगोचर नियमों का अनुसंधान और प्रचार रखा जिनके अधीन यह सृष्टि संचालित होती है।

पीछे चलकर इस संस्था के उद्देश्य कुछ और विशद एवं विस्तृत हो गये। सृष्टि के परोक्ष नियमों के अनुसंधान की बात तो रही ही। आगे यह भी जोड़ दिया गया कि

संस्था के सदस्यों का कर्त्तव्य होगा कि वे उच्च नैतिकतापूर्ण पवित्र जीवन व्यतीत करें एवं विज्ञान के साथ जिस आधिभौतिकता की वृद्धि हो रही है उसका विरोध करें। यह भी कि किसी भी धर्म की कट्टरता को वे प्रश्रय नहीं देंगे। संस्था का एक उद्देश्य यह भी माना गया कि पूर्वी देशों में धर्म और ज्ञान के जो तत्व छिपे हुए हैं उनका सम्यक् प्रचार पाश्चात्य देशों में किया जाना चाहिए। इस प्रकार वेद, बौद्ध ग्रंथ, जेन्दावेस्ता और कनफ्युसियस के उपदेश, ये सभी साहित्य थियोसाफिस्टों के विशेष अध्ययन के विषय बन गये। किन्तु, संस्था का सबसे महान् और उपयोगी उद्देश्य यह करार दिया गया कि विश्व-मानवता के आविर्भाव और प्रचार के लिए यह दिखलाया जाय कि धर्म की भिन्नता से एक मनुष्य दूसरे से भिन्न नहीं हो जाता है। सभी मनुष्य एक ही परम-सत्ता से निकले हैं और सभी धर्मों के अच्छे लोग एक समान पवित्र हैं।

आगे चलकर तिब्बत की सन्त आत्माओं ने ब्लेवास्की को यह संदेश दिया कि तुम अपनी संस्था को लेकर भारत चली जाओ। तदनुसार ब्लेवास्की और आलकाट १६ फरवरी १८७९ ई. को बंबई आ पहुंचे जहां आर्य-समाज ने उनका भव्य स्वागत किया। आते ही वे लोग ईसाई मिशनरियों के प्रचार को रोकने का उपाय सोचने लगे एवं इस बात पर जोर देने लगे कि भारत की शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन होना चाहिए एवं यहां संस्कृत विद्या का पठन-पाठन अधिक महत्वपूर्ण ढंग से चलना चाहिए। सन् १८८२ ई. में थियो-साफी समाज का प्रधान कार्यालय अडयार (मद्रास) ले जाया गया जहां वह आज तक अवस्थित है। कुछ दिनों के बाद ब्लेवास्की बीमार होकर इंग्लैंड चली गई और फिर नहीं लौटीं। इंग्लेंड में उन्होंने 'दि सिक्रेट डाकट्रिन' नामक पुस्तक प्रकाशित की जिस पर पत्रों में कई प्रकार की आलोचनाएं निकलीं। इसी पुस्तक को पढ़कर श्रीमती एनी बेसेंट थियोसाफी समाज में दीक्षित हुई थीं। कहते हैं, ब्लेवास्की ने उनका संपर्क तिब्बत की आत्माओं से करा दिया था और उनमें भी परोक्ष शक्तियों का विकास हो गया था।

श्रीमती एनी बेसेंट १६ नवंबर सन् १८९३ में भारत आईं जब उनकी अवस्था छियालीस साल की थी। आते ही, वे भारत के सांस्कृतिक आंदोलन में कूद पड़ीं और भारत के साथ-साथ उन्होंने थियोसाफी समाज का भी नाम बहुत ऊंचा कर दिया। कोलोनल आलकाट का देहान्त सन् १९०७ ई. में हुआ और तब से लेकर अपनी मृत्युपर्यन्त (१९३३ ई.) थियोसाफी समाज की सभानेत्री श्रीमती एनी बेसेंट ही रहीं।

श्रीमती एनी बेसेंट मानती थीं कि पूर्वजन्म में वे हिन्दू थीं। आते ही उन्हें भारतवर्ष ऐसा लगा मानों अनेक जन्मों से वे यहीं जन्म लेती आई हों। हिन्दू धर्म को वे विश्व के धर्मों में सबसे प्राचीन ही नहीं, सबसे श्रेष्ठ भी मानती थीं। यहां आते ही उन्होंने गाउन छोड़कर साड़ी पहनी और शुद्ध भारतीय खान-पान को अपना लिया। वे तीर्थों में भी

घूमती थीं एवं अमरनाथ तक पैदल ही गई हुई थीं। हिन्दुत्व की प्रधान गढ़ी काशी उन्हें अत्यन्त प्रिय थी। बनारस में रहकर उन्होंने सेंट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की जिसका विकसित रूप आज का हिन्दू विश्वविद्यालय है। बनारस में ही रहते हुए उन्होंने गीता का अनुवाद किया, रामायण और महाभारत की संक्षिप्त कथाएं लिखीं एवं हिन्दू धर्म एवं संस्कृति विषयक अनेक ओजस्वी भाषण दिये।

श्रीमती बेसेंट अंगरेज थीं एवं अत्यन्त कुलीन वंश की कन्या थीं। इंग्लैंड में वे फेबियन सोसायटी में काम करती थीं जहां उनके सहकर्मी जार्ज बर्नार्ड शॉ थे। शॉ ने लिखा है कि उस समय इंग्लैंड में उनके समान ओजस्वी भाषण देनेवाला कोई व्यक्ति नहीं था।† अंग्रेजी भाषा पर उनका असाधारण प्रभुत्व था। और उनके मुख से निकलने वाला प्रत्येक वाक्य उच्च साहित्य का वाक्य होता था। ऐसे बहुत से लोग अभी इस देश में मौजूद हैं जिन्हें श्रीमती बेसेंट का भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनमें से कितनों ही का कहना है कि जब वे सभा में बोलने को खड़ी होती थीं तब ऐसा दीखता था, मानों, स्वयं सरस्वती ही आकाश से उतरकर पृथ्वी पर आ गई हों। उनके भाषण का विषय हिन्दुत्व होता था। काशी में एक बार उनका भाषण सुनकर एक प्रतिष्ठित पंडित ने उन्हें **सर्व-शुक्ला-सरस्वती** की उपाधि दे डाली थी।

भारत और हिन्दुत्व को श्रीमती बेसेंट एक-दूसरे का पर्याय मानती थीं। अपने एक भाषण में उन्होंने हिन्दुओं से कहा था कि भारत और हिन्दुत्व की रक्षा भारतवासी और हिन्दू ही कर सकते हैं। हम बाहरी लोग आपकी चाहे जितनी भी प्रशंसा करें, किन्तु, आपका उद्धार आपके ही हाथ है। आप किसी प्रकार के भ्रम में न रहें। हिन्दुत्व के बिना भारत के सामने कोई भविष्य नहीं है। हिन्दुत्व ही वह मिट्टी है जिसमें भारतवर्ष का मूल गड़ा हुआ ह। यदि यह मिट्टी हटा ली गई तो भारत-रूपी वृक्ष सूख जायगा; भारत में प्रश्रय पाने वाले अनेक धर्म हैं, अनेक जातियां हैं, किन्तु, इनमें किसी की भी शिरा भारत के अतीत तक नहीं पहुंची है, इनमें से किसी में भी यह दम नहीं है कि भारत को एक राष्ट्र के रूप में जीवित रख सके। इनमें से प्रत्येक भारत से विलीन हो जाय तब भी भारत भारत ही रहेगा। किन्तु, यदि हिन्दुत्व विलीन हो गया तो क्या शेष रहेगा ? तब, शायद, इतना याद रह जायगा कि भारत नामक कभी कोई भौगोलिक देश था। भारत के इतिहास को देखिये, उसके साहित्य, कला और स्मारकों को देखिये, सब पर हिन्दुत्व स्पष्ट रूप से खुदा हुआ है।"

यह दर्द और उत्साह किसी भारतीय में ही हो सकता था। दर्द इसलिए कि इतने सुन्दर देश को मिशनरी यूरोप में बदनाम कर रहे थे। और उत्साह इसलिये कि श्रीमती

† शॉ के शब्द हैं—Greatest orator in England and possibly in Europe

बेसंट मानती थीं कि हिन्दुत्व के जागरण से ही अखिल विश्व का कल्याण हो सकता है। श्रीमती बेसेंट ने भारत में रहकर तो हिन्दुओं को जगाया ही, वे यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया जाकर वहां के लोगों को हिन्दू-धर्म की गरिमा का दर्शन कराती थीं और उनके इन प्रयत्नों से भारत के विषय में बाहरवालों की उत्सुकता एवं एक प्रकार की अस्पष्ट भक्ति बढ़ती जा रही थी।

श्रीमती बेसेंट ने उन्नीसवीं सदी के भारत का जो हाल देखा था, वह काफी दर्दनाक था। "लोग आस्तिकता और नास्तिकता के बीच झटके खा रहे थे। आधिभौतिकता की बाढ़ के मारे राष्ट्र का जीवन विश्रृंखलित हो गया था। अंगरेजी पढ़े-लिखे लोग हक्स्ले, मिल और स्पेंसर के अनुयायी हो रहे थे, किन्तु, अपने साहित्य का उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। वे अपने अतीत से घृणा करते थे, अतः, भविष्य के विषय में उनका कोई विश्वास नहीं था। वे अन्धे होकर अंगरेजों के तौर-तरीकों की नकल कर रहे थे एवं अपने कला-कौशल और शिल्प का विनाश करके अंगरेजी असबाबों से अपना घर सजा रहे थे। राष्ट्रीय जोश का उनमें लेश भी नहीं था। राष्ट्रीय जीवन की गति बतानेवाली कोई भी क्रिया कहीं दिखाई नहीं पड़ती थी एवं यह संदिग्ध था कि भारतीय राष्ट्र के हृदय में कोई धड़कन भी शेष है या नहीं।"[1]

कोलनल आलकाट ने सन् १८७९ ई. में भारत-पदार्पण के बाद जो पहला व्याख्यान दिया था उसपर विचार करते हुए 'अमृत बाजार पत्रिका' की टिप्पणी थी कि "जब रोगी ही ऐंठकर अकड़ गया हो तब डाक्टर की सहायता से क्या होगा ? भारत का गौरव और अभिमान मृतप्राय है। भारतीयों से भारत के उद्धार की बात करना वैसा ही व्यर्थ है जैसा समुद्र की सिकता को सिखावन देना।"[2]

मुर्दनी, पस्तहिम्मती और निराशा की इस खाई को भरने के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दुओं के भीतर अपने धर्म के प्रति आस्था और अपने इतिहास के प्रति अभिमान जगाया जाय। आखिर जिस जाति के पास उपनिषदें, गीता और दर्शन, विचारों एवं भावों का इतना अपार साहित्य मौजूद रहा हो उसे किसी से लज्जित होने की क्या आवश्यकता थी ? यही कार्य ब्रह्मसमाजी और आर्यसमाजी कर रहे थे। किन्तु, उनके कार्यों में एक त्रुटि थी। इन दोनों समाजों के नेता केवल संशोधित हिन्दुत्व का समर्थन करना चाहते थे। किन्तु, केवल संशोधित हिन्दुत्व से समग्र हिन्दुत्व का त्राण नहीं था। आखिर, इस बात का क्या जवाब था कि ब्रह्मसमाजियों और आर्यसमाजियों के होते हुए भी सारी जनता

---

१. राष्ट्रीय जोश तो अब है, किन्तु, और बातों में क्या भारत में आज भी कोई सुधार हुआ है ? उत्तर पाने के लिये एक बार दिल्ली को देख लेना अच्छा होगा। —लेखक

२. 'रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म' से उद्धृत।

पत्थर को पूज रही थी, राम और कृष्ण को अवतार मान रही थी एवं पुराणों और पुरोहितों को छोड़ने को तैयार नहीं थी ? ब्रह्मसमाजियों का संशोधित हिन्दुत्व ईसाइयत का भारतीय संस्करण हो गया था। उसी प्रकार आर्य-समाज भी प्रचलित हिन्दुत्व से बहुत पृथक् दीखता था। ऐसी अवस्था में श्रीमती एनी बेसेंट और उनके समाज को यह श्रेय अवश्य दिया जायगा कि उन्होंने खंडित नहीं, अखंड हिन्दुत्व का वीरतापूर्ण आख्यान किया। उन्होंने केवल वेद, उपनिषद् और गीता का ही हवाला नहीं दिया, प्रत्युत् स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र और महाकाव्य, जब जहां जो बात मिली, सब के द्वारा हिन्दुत्व के प्रचलित समग्र रूप का समर्थन करना आरंभ किया। उनके मुख से पुनर्जन्म, अवतार, देवता, योग और अनुष्ठान तथा चौरासी लाख योनियों की बातें सुनकर ऊंघते हुए हिन्दू भी अकचका कर बैठ गये और उनमें से कितनों का हिलता हुआ विश्वास फिर से स्थिर हो गया। और यह भी नहीं है कि हिन्दुत्व के इन रूपों का समर्थन उन्होंने किसी जोश में आकर किया हो। सन १९१४ ई. में उन्होंने एक भाषण में कहा था कि "चालीस वर्षों के सुगंभीर चिन्तन के बाद मैं यह कह रही हूं कि विश्व के सभी धर्मों में हिन्दू धर्म से बढ़कर पूर्ण, वैज्ञानिक, दर्शनयुक्त एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म दूसरा और कोई नहीं है।"

भारत की निन्दा करनेवाले यूरोपियनों और भारतवासियों को जैसा मुंहतोड़ जवाब श्रीमती बेसेंट ने दिया, वैसा किसी और से नहीं हो सका। यूरोप के मिशनरी भारत और विशेषतः हिन्दू धर्म के प्रति भयंकर विष का वमन कर रहे थे। उनका प्रतिविष भी भगवान ने यूरोप से ही मंगाया। यह एनी बेसेंट और मैक्समूलर जैसे लोगों की ही निष्पक्षता और उदारता का परिणाम था कि मिशनरियों के दंश में कमी आई और संसार भारत के सात्विक रूप को पहचानने में समर्थ हुआ। सर वैलेनटाइन शिरोल ने सत्य ही लिखा है कि "जब अत्युच्च बौद्धिक शक्तियों एवं अद्भत वक्तृत्व-शक्ति से सुसज्जित यूरोपियन भारत जाकर भारतवासियों से यह कहे कि उच्चतम ज्ञान की कुंजी यूरोप वालों के नहीं, तुम्हारे पास है तथा तुम्हारे देवता, तुम्हारे दर्शन तुम्हारी और नैतिकता की यरोपवाले छाया भी नहीं छू सकते, तब इसमें क्या आश्चर्य है कि भारतवासी हमारी सभ्यता से पीठ फर ल ?"†

सन् १९१४ ई. से श्रीमती एनी बेसेंट भारत की राजनीति में भी भाग लेने लगीं। तिलक जी के द्वारा चलाये हुए होम रूल आन्दोलन का पक्ष उन्होंने बड़े ही जोर से लिया। इस अपराध में मद्रास सरकार ने उन्हें सन् १९१७ ई. में नजरबन्द कर डाला। इस पर देश में इतने जोर का वावेला मचा कि नजरबन्दी फौरन उठा ली गई। इसी अवसर पर देश ने उन्हें भारतीय कांग्रेस का सभापतित्व अर्पित किया जिस पद को उन्होने बड़े ही गौरव से

† 'इंडियन अनरेस्ट' से।

संभाला। असल में, एनी बेसेंट और एंड्रूज, ये दो अंगरेज ऐसे हुए हैं जो हृदय से बिलकुल भारतीय थे।

तीन चार साल तक एनी बेसेंट राजनीति में भी भारत की परम मंत्रदात्री रहीं एवं इस सुप्त देश में राजनीतिक चेतना जगाने की दिशा में भी उन्होंने बड़ा काम किया। किन्तु, गांधीजी के आगमन के बाद से उनका प्रभाव घटने लगा एवं गांधीजी के तौर-तरीकों को नहीं समझ सकने के कारण वे देश की राजनीति से पीछे छूट गईं। फिर भी यह सत्य है कि गांधीजी के आविर्भाव के लिए जमीन तैयार करने वालों में एक अमर नाम श्रीमती एनी बेसेंट का भी है। अथवा हम गांधीजी के ही शब्दों में कह सकते हैं कि "जब तक भारतवर्ष जीवित है, एनी बेसेंट की वे सेवाएं भी जीवित रहेंगी जो उन्होंने इस देश के लिए की थीं। उन्होंने भारत को अपनी जन्मभूमि मान लिया था, उनके पास देने योग्य जो कुछ भी था उसे उन्होंने भारत के चरणों पर चढ़ा दिया था। इसीलिए, भारतवासियों की दृष्टि में वे उतनी प्यारी और श्रद्धेय हो गईं।"

थियोसाफिस्ट लोगों की संख्या तो नगण्य रही, किन्तु, उसके साथ होनेवाले लोग बहुधा ऊंचे विचारक, चिंतक और साहित्यकार थे। साथ ही, यह संस्था अन्तर्राष्ट्रीय थी। अतएव, उसके द्वारा भारत के पक्ष में सारे संसार में अच्छा प्रचार हुआ। थियोसाफिस्टों ने आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धांत में वैसा ही विश्वास अभिव्यक्त किया जैसा विश्वास हिन्दुओं का है। परिणाम इसका यह हुआ कि बहुत से अभारतीयों के द्वारा पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकृत होते देखकर उन भारतवासियों की आंख खुली जो इस्लाम और ईसाइयत के प्रभाव में आकर हिन्दुत्व को शंका से देखने लगे थे।

थियोसाफी कोई स्वतंत्र धर्म नहीं है। वह सभी धर्मों में समन्वय चाहती है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, यहूदी आदि जो भी चाहे, अपने धर्म को मानते हुए थियोसाफिस्ट हो सकता है। थियोसाफी धर्म नहीं, धर्म का आश्रय है। थियोसाफिस्ट के होने के लिये अपना धर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं होती। बल्कि, आवश्यकता यह होती है कि आदमी अपने धर्म में और भी जोर से विश्वास करे। मुसलमान अच्छा मुसलमान, हिन्दू अच्छा हिन्दू और ईसाई अच्छा ईसाई हो, थियोसाफी का यही उद्देश्य है। प्रत्येक धर्म में जो उसका असली तत्व है, उसे थियोसाफिस्ट अपने विश्वास का उपकरण मानते हैं। धर्म का मुख्य तत्व उसका बाह्याचार नहीं, प्रत्युत वह अंश है जिससे मनुष्य परमात्मा को सान्निध्य प्राप्त करता है। इस प्रकार देखने पर, मुसलमानों में सूफी, ईसाइयों में नास्टिक्स और हिन्दुओं में ब्रह्मवादी वास्तविक थियोसाफिस्ट हैं। थियोसाफी वह असली गहराई है जिसमें से सभी धर्म निकले हैं, अतएव, इस आंदोलन का ध्येय है कि सभी धर्मों में जो तत्व समान हैं उन्हें लेकर सभी धर्मों के बीच एकता स्थापित की जानी चाहिए। उन्नीसवीं सदी में भारत

में तीन धर्म आपस में बुरी तरह टकरा रहे थे। अतएव, उस समय सभी धर्मों की एकता पर जोर देने वाले इस अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का भारत पधारना अत्यंत मंगलकारी हुआ। ये धर्म एक तो अब भी नहीं हुए हैं, किन्तु, सभी धर्मों में ऐसे लोग उत्पन्न हो गये हैं जो कट्टरता को मनुष्य का दोष मानते हैं, जो सच्चे मन से यह प्रयास कर रहे हैं कि धर्मों का पारस्परिक द्वेष-भाव शमित हो जाय। विश्व-बन्धुत्व, तुलनात्मक धर्म और परलोक-विद्या का संधान, थियोसाफी के ये तीन उद्देश्य अत्यन्त स्पष्ट हैं। इनमें से केवल परलोक-विद्या के संधान को ही बुद्धिवादी लोग व्यर्थ समझते हैं। बाकी दो उद्देश्य तो ऐसे हैं जिनपर पहुंचे विना विश्व का कल्याण नहीं है। विश्वबंधुत्व के लिए प्रयास अब सारे संसार में होने लगा है। लक्ष्य दूर अवश्य है, किन्तु, मनुष्य वहां पहुंचकर रहेगा। अधीर होने की कोई बात नहीं है। मनुष्य के विकास का कदम धीमा होता ही है।

कितनी धीमी गति है, विकास कितना अदृश्य हो चलता है,
इस महावृक्ष में एक पत्र सदियों के बाद निकलता है।

(रश्मिरथी)

धर्म के जीते-जागते स्वरूप परमहंस रामकृष्ण

स्वामी दयानन्द से परमहंस रामकृष्ण की भेंट हुई थी। स्वामीजी स्वयं रामकृष्ण के पास नहीं गये थे, वही स्वामीजी के कलकत्ता पधारने पर उनसे मिलने आये थे। रामकृष्ण के मन पर इस भेंट का जो प्रभाव पड़ा, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है—"दयानन्द से भेंट करने गया। मुझे ऐसा दिखा कि उन्हें थोड़ी बहुत शक्ति प्राप्त हो चुकी है। उनका वक्षःस्थल सदैव आरक्त दिखाई पड़ता था। वे वैखरी अवस्था में थे। रात-दिन लगातार शास्त्रों की ही चर्चा किया करते थे। अपने व्याकरण-ज्ञान के बल पर उन्होंने अनेक शास्त्र-वाक्यों के अर्थ में उलट-फेर कर दिया है। 'मैं ऐसा करूंगा, मैं अपना मत स्थापित करूंगा' ऐसा कहने में उनका अहंकार दिखाई देता है।"*

इसी प्रकार, बहुत-से बंगाली ब्रह्मसमाजी विद्वान परमहंस रामकृष्ण के अनुगत थे। ब्रह्मसमाजियों के सिरमौर केशवचंद्र सेन तो परमहंसजी के परम भक्तों में से थे। केशव-चंद्रसेन परमहंस रामकृष्ण के आश्रम में अक्सर जाया करते थे और रामकृष्ण भी जब-तब केशवचंद्र सेन के घर या उनके ब्रह्म-मन्दिर में पधार जाते थे। एक बार रामकृष्ण ब्रह्म-मन्दिर में पहुंचे तो वहां उपासना चल रही थी। रामकृष्ण ने वहां जो कुछ देखा वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है—"ईश्वर के ऐश्वर्य का बहुत समय तक वर्णन करके वक्ता महाशय बोले, 'अच्छा, अब आइये, हम सब ईश्वर का ध्यान करें।' मैं समझा, अब ये लोग बहुत समय तक ध्यानस्थ रहेंगे। पर हुआ क्या? दो मिनट में ही उनका ध्यान समाप्त हो गया। इस प्रकार के ध्यान से कहीं ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है? उन लोगों के ध्यान करते समय मैं सभी के चेहरे की ओर देख रहा था और ध्यान समाप्त होने के बाद मैं केशव से बोला, "तुममें से बहुतों को ध्यानावस्थित देखकर मुझे कैसा लगा, बताऊं? वहां दक्षिणेश्वर में कई बार आऊतला की ओर वानरों का झुंड आता है। वे सब वानर कैसे चुपचाप बैठे रहते हैं। देखने वाले समझते हैं। 'अहा, कितने अच्छे हैं ये। इनको छन्द-फन्द, छलछिद्र कुछ भी मालूम नहीं है। ये कितने शांत हैं।' पर, क्या वे सचमुच शान्त रहते हैं? छिः, राम का नाम लो।' किसके बगीचे में फूल लगे हैं, किसकी बाड़ी में ककड़ी और कुम्हड़ा है, कहां इमली है। यही सारे विचार उनके मन में चलते रहते हैं। बस, थोड़ी ही देर में एकदम हुप करके कूदते-फांदते, वे क्षणार्ध में अदृश्य हो जाते

---

* श्री रामकृष्ण लीलामृत—पहला भाग।

हैं और किसी बगीचे में धड़ाधड़ कूदकर उसका सत्यानाश कर डालते हैं। यहां भी मुझे बहुतों का ध्यान वैसा ही दिखाई दिया।"*

आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज बड़े ही प्रबल सांस्कृतिक आन्दोलन थे। किन्तु, उनकी जो कमजोरियां थीं वे रामकृष्ण को ठीक दिखाई पड़ीं। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द बाल-ब्रह्मचारी, निरीह संन्यासी, प्रचंड तार्किक और उद्भट विद्वान् थे, किन्तु, संतों की नम्रता और निरहंकारिता उनमें नहीं थी। ब्रह्म-समाज में तार्किकता अधिक नहीं थी। भक्ति और उपासना का उसमें अच्छा प्रचार था। किन्तु, ब्रह्मसमाजी लोग अपने को जितना भक्ति-विह्वल दिखलाना चाहते थे, वस्तुतः, उतनी भक्ति-विह्वलता उनमें थी नहीं।† ब्रह्मसमाजियों की भक्ति ज्ञान की नोंक से उठाई हुई चीज थी। उद्देश्य ब्रह्मसमाजियों का सामाजिक सुधार था, किन्तु, अखाड़ा उन्होंने धर्म का चुना था। असल में ईसाइयों के मुख से अपने धर्म की निन्दा सुनते-सुनते वे लजा गये थे, किन्तु, किसी प्रकार हिन्दुत्व की इज्जत ढकने के लिए उन्होंने धर्म का एक साधन खड़ा कर लिया था और अपने धर्म पर अचल विश्वास नहीं रहने के कारण वे अधिकाधिक ईसाइयत की ओर ढुलके जा रहे थे। वस्तुतः, उनका विश्वास हिन्दू-ईसाई का विश्वास था। ऐसे लोगों में भक्ति की आकुलता उत्पन्न कहाँ से होती ?

इसके सिवा, इन आन्दोलनों का एक दोष और था। हिन्दुत्व को निन्दित और आक्रांत देखकर राममोहनराय, दयानन्द और केशवचंद्र में यह उत्साह जगा कि हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए कुछ न कुछ अवश्य किया जाना चाहिए। किन्तु, जब वे रक्षा को तत्पर हुए तब उन्हें यह दिखाई पड़ा कि हिन्दुत्व का समग्र रूप रक्षित होने के योग्य नहीं है। निदान, ऋषि दयानन्द ने उतने ही हिन्दुत्व को रक्षणीय माना जिसका आख्यान वेदों में मिलता है अर्थात् जिसमें मूर्त्तिपूजा नहीं है, जिसमें तीर्थ-व्रत-अनुष्ठान और श्राद्ध का अभाव है, जिसमें अवतारवाद, स्वर्ग, नरक, देवी, देवता कुछ भी नहीं हैं। इसी प्रकार, राममोहन राय ने उपनिषदों का पल्ला थामा और वे अद्वैत को लेकर बैठ गये। किन्तु, हिन्दुत्व इतना ही नहीं है। उसके अन्दर उन अनन्त विश्वासों का भी स्थान है जो अपार हिन्दू-जनता के हृदय में घर किये हुए हैं। सच पूछिए तो दयानन्द और राममोहन राय ने जिस हिन्दुत्व की रक्षा की वह हिन्दुत्व का एक खंडमात्र था। यही कारण हुआ कि यद्यपि दयानन्द और राममोहन राय ने हिन्दू-विचारों की दिशा में महान् क्रान्ति उपस्थित की, किन्तु, हिन्दू-जनता का अत्यन्त विशाल भाग उनकी ओर उत्साह से नहीं दौड़ा। सच पूछिए तो

* श्री रामकृष्ण लीलामृत—दूसरा भाग।

† ब्रह्मसमाज से प्रेरित काव्य में भी भक्ति और रहस्यवाद का जो रूप उतरा उसमें सहजता कम, बौद्धिकता अधिक थी।

हिन्दुत्व का इससे अधिक प्रतिनिधित्व श्रीमती एनी बेसेंट ने किया, क्योंकि वे शास्त्र, पुराण, स्मृति, और गीता, हिन्दुओं के देवी-देवता और उनके द्वारा पूजित अवतार एवं यश विद्या और परलोक, सब की ओर से एक समान उत्साह से बोल रही थीं। हां, इतना अवश्य हुआ कि जब थियोसाफी और ब्रह्मसमाज सिमट कर धनियों और विद्वानों की महफिल में बैठे रहे, तब आर्यसमाज का प्रचार समाज के कुछ निम्न स्तरों पर भी हुआ।

किन्तु, जिसे सचमुच जनता का मुक्त सहयोग कहते हैं, वह इन तीनों आन्दोलनों में से किसी को भी प्राप्त नहीं हो सका। हिन्दू और थियोसाफी-पंडित ईसाई और मुस्लिम पंडितों से विद्या का विवाद कर रहे थे, किन्तु, जनता इस विवाद से रस लेने को तैयार नहीं थी।

भारतवर्ष की परंपरा है कि यहां की जनता विद्या से आतंकित नहीं होती। पंडितों का वह सत्कार करती है, उनकी पूजा और भक्ति नहीं। हम तर्क से पराजित होने वाली जाति नहीं हैं। हां, कोई चाहे तो नम्रता, त्याग और चरित्र से हमें जीत सकता है। धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म का अर्थ नहीं खुलता, न मोटी-मोटी पोथियां रच देने से धर्म किसी की समझ में आता है। दयानन्द और राममोहन राय तथा एनी बेसेंट के प्रचारों से यह तो सिद्ध हो गया कि हिन्दू धर्म निन्दनीय नहीं, वरेण्य है, किन्तु, जनता तो यह देखना चाहती थी कि धर्म का जीता-जागता रूप कैसा होता है। धर्म का यह जीता जागता रूप उसे तब दिखाई पड़ा जब परमहंस रामकृष्ण (सन् १८३६ से सन् १८८६ ई.) का आविर्भाव हुआ।

दयानन्द और राममोहन राय तथा केशवचंद्र सेन से रामकृष्ण अनेक बातों में भिन्न थे। दयानन्द भारतीय परंपरा के उद्भट पंडित और ब्रह्मसमाजी नेता अंगरेजी ढंग के विद्वान् थे। किन्तु, रामकृष्ण बहुत-कुछ अपढ़ मनुष्य थे। दयानन्द, राममोहनराय और केशव सार्वजनिक जीवन में इसलिए आये थे कि विधर्मियों की आलोचना से उन्हें चोट लगी थी, किन्तु, रामकृष्ण को किसी भी धर्मवालों के प्रति कोई आक्रोश नहीं था। दयानन्द, राममोहन और केशवचंद्र संस्कृति के आन्दोलनकारी नेता थे, किन्तु, रामकृष्ण को आन्दोलन से कोई सरोकार नहीं था। वे अपनी बातें सुनाने को अपने आश्रम से बाहर नहीं गये और न हिन्दुओं से कभी यह कहा कि तुम्हारा धर्म खतरे में है।

पंडित और सन्त में वही भेद होता है जो हृदय और बुद्धि में है। बुद्धि जिसे लाख कोशिश करने पर भी नहीं समझ पाती, हृदय उसे अचानक देख लेता है। विद्या समुद्र की

सतह पर उठती हुई तरंगों का नाम है। किन्तु, अनुभूति समुद्र के अन्तरात्मा में बसती है।* अनुभूति का एक कण मनों ज्ञान से कहीं अधिक मूल्यवान है। परमहंस रामकृष्ण अनुभूतियों के आगार थे और उनके जीवन को देखकर एक बार फिर यह स्पष्ट हो गया कि जिसे अनुभूति प्राप्त हो जाती है, ज्ञान का द्वार उसके सामने स्वयं उन्मुक्त हो जाता है तथा सारी विद्याएं उसे स्वयमेव उपलब्ध हो जाती हैं।

उन्नीसवीं सदी के सुधारकों के सामने विचित्र प्रकार की परिस्थिति थी। हिन्दू-धर्म बहुत दिनों से रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से जकड़ा चला आ रहा था। किन्तु, अब अंगरेजी शिक्षा के प्रसार एवं ईसाइयों के कुप्रचार से ये रूढ़ियां और अन्धविश्वास स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे थे। अंगरेजी भाषा और साहित्य के साथ भारतवर्ष का संबंध अत्यन्त सघन हो चुका था, किन्तु, दुर्भाग्यवश तत्कालीन अंगरेजी साहित्य में नास्तिकता के ओजस्वी विचार भरते जा रहे थे एवं उन्नीसवीं सदी में वैज्ञानिक अनुसन्धानों के द्वारा जिन आधिभौतिक सिद्धान्तों का पता चला था उनसे भी यह साहित्य पूर्णरूपेण व्याप्त था। परिणाम इसका यह हुआ कि अंगरेजी भाषा के प्रचार के साथ भारत में भी नास्तिकता का प्रचार होने लगा। अतएव, भारतीय सुधारकों के सामने एक नहीं तीन शत्रु थे। १. हिन्दू-धर्म की रूढ़ियां और अन्धविश्वास, २. ईसाई मिशनरियों के द्वारा निरंतर की जाने वाली हिन्दुत्व की निन्दा तथा ३. अंगरेजी पढ़े-लिखे समाज में नास्तिकता का प्रचार। इन तीन मोर्चों पर लड़ने के लिए जो ढंग और साधना अनिवार्य थे उनका संधान इन सुधारकों ने कर लिया था, किन्तु, धर्म वास्तव में कैसा होता है इसका प्रमाण वे नहीं दे सके थे।

तर्क और पांडित्य से धर्म प्रमाणित किया भी नहीं जा सकता है, ठीक वैसे ही, जैसे तर्क और पांडित्य से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती है। विशेषतः हिन्दुत्व का मूलाधार विद्या और ज्ञान नहीं, सीधी अनुभूति है। हमारा धर्म पंडितों नहीं, संतों और द्रष्टाओं की रचना है। हम फिलासफी को और कुछ नहीं कह के 'दर्शन' कहते हैं, क्योंकि हमारे दार्शनिक सत्य सोचे या समझे नहीं गये थे, प्रत्युत, ऋषियों ने आत्मा के चक्षु से उनका दर्शन किया था। वाद-विवाद, तर्क और पांडित्य अथवा बड़े-बड़े सिद्धान्तों और संगठनों से धर्म की सिद्धि नहीं होती। धर्म अनुभूति की वस्तु है और धर्मात्मा भारतवासी उसी को मानते आये हैं जिसने धर्म के महासत्यों को केवल जाना ही नहीं, उनका अनुभव और साक्षात्कार किया है।

* अपढ़ अफगानियों की प्रशंसा करते हुए मुस्लिम कवि इकबाल ने कहा है:—

तेरी बेइल्मी ने रख ली बेइल्मों की लाज,
आलिम-फाजिल बेच रहे हैं अपना दीन-ईमान।

रामकृष्ण के आगमन से धर्म की यही अनुभूति प्रत्यक्ष हुई। उन्होंने अपने जीवन से यह बता दिया कि धार्मिक सत्य केवल बौद्धिक अनुमान की वस्तु नहीं है, वे प्रत्यक्ष अनुभव के विषय हैं और उनके सामने संसार की सारी तृष्णाएं, सारे सुख-भोग तृणवत् नगण्य हैं।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी का हिन्दू-जागरण केवल ईसाइयत से हिन्दुत्व की रक्षा के प्रश्न तक सीमित नहीं था, प्रत्युत, भारत के शिक्षित नास्तिकों के प्रसंग में उसका यह भी उद्देश्य था कि धर्म पर मे शिक्षितों की हिली हुई श्रद्धा फिर से स्थिर बनायी जाय। धर्म और ईश्वर के अस्तित्व को लेकर आज भी बड़े-बड़े विवाद चलते हैं। किन्तु, इन विवादों से उभय पक्ष में से एक को भी शान्ति नहीं मिलती। ईश्वर-वादी चाहे जितने भी तर्कों का सहारा ले, किन्तु, ईश्वर-सिद्धि के लिए उसके सारे तर्क नगण्य सिद्ध होते हैं। और निरीश्वरवादी पंडित भी चाहे जितने तर्क निकालकर यह सिद्ध करे कि ईश्वर नहीं है, अतएव, धर्म की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए किन्तु, उसके अन्तर्मन में एक विरल शंका बनी ही रह जाती है कि क्या यह सारी सृष्टि आकस्मिक घटना के सिवा और कुछ नहीं है। पश्चिम के एक अभिनव विचारक[1] ने ठीक ही कहा है कि "ईश्वर की परिभाषाएं लुप्त होती जा रही हैं; मूर्त्तियां डगमगा रही हैं और प्रतीक टूटकर बिखरते जा रहे हैं, किन्तु, तब भी मनुष्य का अगोचर अस्तित्व बराबर उभरना चाहता है, वह बराबर किसी अतल गहराई में से बाहर आने को बेचैन है।" एक अन्य चिन्तक ने[2] भी कहा है कि "तीन कारणों से मैं नास्तिक नहीं हूं। पहला कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकता का सिद्धान्त अनुर्वर और रूढ़िग्रस्त होता है। दूसरा कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकों का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से नकारात्मक होता है। और तीसरा कारण यह है कि नास्तिकता किसी भी मर्म का उद्घाटन नहीं कर सकती, किन्तु, सृष्टि का तकाजा है कि इसके रहस्यों का उद्घाटन किया जाय।"

किन्तु, सृष्टि के रहस्य बुद्धि से उद्घाटित नहीं होते। इसके लिए एक विचित्र प्रकार की शक्ति अपेक्षित होती है जो पंडित नहीं, सन्त के साथ आती है। सहजानुभूति ज्ञान से अधिक शक्तिशालिनी वस्तु है। विज्ञान की छड़ी ने सृष्टि के रंध्र-रंध्र में प्रवेश करके मनुष्य को यह तो बता दिया है कि अब कहीं भी कोई तत्व अविश्लिष्ट नहीं है। फिर भी, एमर्सन की यह अनुभूति जब कानों में पड़ती है कि "प्रकृति का परदा अत्यन्त झीना और महीन है। सर्वत्र विद्यमान प्रभु की सत्ता इस परदे के तार-तार से झांक रही है। अय मेरे भाइयो! ईश्वर का अस्तित्व है। प्रकृति के केंद्र में एक आत्मा बसती है; मनुष्य की इच्छा के ऊपर एक देवता का वास है। आत्मा के प्रत्येक कार्य में ईश्वर और मनुष्य का मिलन हो रहा है।" तब भावुक मनु य अगोचर अस्तित्व के इस आभास से चौंके बिना नहीं रहता।

---

1. O. B. Frothingham 2. J. H. Holmes

जब आस्तिक और नास्तिक हिन्दू, ईसाई और मुसलमान आपस में इस प्रश्न पर लड़ रहे थे कि किस का धर्म ठीक है और किस का नहीं, तब परमहंस रामकृष्ण ने सभी धर्मों के मूल तत्व को अपने जीवन में साकार करके, मानों, सारे विश्व को यह संदेश दिया कि धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओ। हो सके तो उसकी सीधी अनुभूति के लिए प्रयास करो। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जानेवाले अनेक मार्ग हैं। और जो उनका उपदेश था उसे उन्होंने अपने जीवन में उतारा। उन्होंने हिन्दुत्व के सभी मार्गों की साधना की। यही नहीं, वे कुछ दिन सच्चा मुसलमान बनकर इस्लाम की भी साधना करते रहे और कुछ काल तक उन्होंने ईसाइयत का भी अभ्यास किया था। भारतवर्ष की धार्मिक समस्या का जो समाधान रामकृष्ण ने दिया है, उससे बड़ा और अधिक उपयोगी समाधान और कोई हो नहीं सकता। क्रम-क्रम से वैष्णव, शैव, शाक्त, तांत्रिक, अद्वैतवादी, मुसलमान और ईसाई बनकर परमहंस रामकृष्ण ने यह सिद्ध कर दिखाया कि धर्मों के बाहरी रूप तो केवल बाहरी रूप हैं। उनसे मूलतत्व में कोई फर्क नहीं पड़ता है। साधन और मार्ग अनेक हैं। उनमें से मनुष्य किसी को भी चुन सकता है। प्रतिष्ठा मार्ग नहीं, अनुभूति के कारण होती है। जब तक तुम अनुभूति की ऊंचाई पर हो तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान।

परमहंस रामकृष्ण उस ऊंचाई के मनुष्य थे जहां से सभी धर्म सत्य और सब के सब समान दीखते हैं। जहां विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नहीं पहुंचती, जहां धर्म अपनी राजनीतिक एवं सामाजिक गंध को छोड़कर केवल धर्म के रूप में अवस्थित रहता है। आजीवन वे बालकों के समान सरल और निश्छल रहे। आजीवन वे उस मस्ती में डूबे रहे जिसके दो-एक छींटों से ही जन्म-जन्म की तृष्णा शांत हो जाती है। आनन्द उनका धर्म, अतीन्द्रिय रूप का दर्शन उनकी पूजा और विरह उनका जीवन था। उनका चरित ऐसे महापुरुष का चरित है जो जीवन के अन्तिम सत्य एवं अतीन्द्रिय वास्तविकता के उसके आमने-सामने खड़ा होता है। उनके समकालीन अन्य सुधारक और सन्त पृथ्वी के वासी थे एवं पृथ्वी ही से ऊपर की ओर उठे थे। किन्तु, रामकृष्ण दैवी अवतार की भांति आए, पृथ्वी पर वे भटकती हुई स्वर्ग की किरण के समान आये। दृश्य की ओर से चलकर दयानन्द, केशवचन्द्र और थियोसाफिस्ट लोगों ने जिस सत्य की ओर संकेत किया, अदृश्य की ओर से आकर परमहंस रामकृष्ण ने उस सत्य को अपने ही जीवन में साकार कर दिया। भारतीय जनता की पांच हजार वर्ष पुरानी धर्म-साधना रूपी लता पर रामकृष्ण सबसे नवीन पुष्प बनकर चमके और उन्हें देखकर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगानेवाले जिन अनन्त ऋषियों और संतों की कथाएं सुनी जाती हैं वे झूठ नहीं हैं।

रामकृष्ण में आकर ही वे देवी-देवता, पौराणिक आचार और अनुष्ठान, धर्म की विविध साधनाएं एवं जनता के अनेक धार्मिक विश्वास भी सत्य हुए जिनकी ओर से बोलने का साहस किसी भी सुधारक को नहीं हुआ था। अन्य सभी सुधारक नवीन भारत के प्रतिनिधि थे, यद्यपि, सत्य उन्होंने प्राचीन भारत का ही अपनाया था, किन्तु, रामकृष्ण के रूप में भारत की सनातन परम्परा ही देह धरकर खड़ी हो गई।

रामकृष्ण न तो अंग्रेजी जानते थे, न वे संस्कृत के ही जानकार थे। न वे सभाओं में भाषण देते थे, न अखबारों में वक्तव्य। उनकी सारी पूंजी उनकी सरलता और उनका सारा धन महाकाली का नामस्मरणमात्र था। दक्षिणेश्वर की कुटी में एक चौकी पर बैठे-बैठे वे उस धर्म का आख्यान करते थे जिसका आदि छोर अतीत की गहराइयों में डूबा हुआ है और जिसका अन्तिम छोर भविष्य के गह्वर की ओर फैल रहा है। घर बैठे उन्हें गुरु पर गुरु मिलते गये। अद्वैत साधना उन्होंने महात्मा तोतापुरी से ली जो स्वयं उनकी कुटी में आ गये थे। तंत्र-साधना उन्होंने एक भैरवी से पायी जो स्वयं घूमते-फिरते दक्षिणेश्वर तक आ पहुंची थी। इसी प्रकार, इस्लामी साधना के उनके गुरु कोई गोविंद राय थे जो हिन्दू से मुसलमान हो गये थे और ईसाईयत की साधना उन्होंने शम्भुचरण मल्लिक के साथ की थी जो ईसाई धर्म ग्रंथों के अच्छे जानकार थे। किन्तु, सभी साधनाओं में रमकर धर्म के गूढ़ रहस्यों की छानबीन करते हुए भी काली के चरणों में उनका विश्वास अचल रहा। जैसे अबोध बालक स्वयं अपनी चिन्ता नहीं करता, उसी प्रकार रामकृष्ण अपनी कोई फिक्र नहीं करते थे। जैसे बालक प्रत्येक वस्तु की याचना अपनी मां से करता है, वैसे ही, रामकृष्ण भी हर चीज काली से मांगते थे और हर काम उनकी आज्ञा से करते थे। यह नवयुग के मनुष्यों के सामने पोंगा-पंथी कहानी-सी लगती है। किन्तु, यह लिखित इतिहास की घटना है। स्वयं तोतापुरी जब दक्षिणेश्वर आये तब रामकृष्ण में कुछ अलभ्य लक्षण देखकर उन्होंने सहसा कहा कि क्या तू अद्वैत की साधना करेगा? रामकृष्ण बोले, मैं कुछ नहीं जानता। माता से पूछ कर अभी आता हूं। यदि उन्होंने आज्ञा दी तो अवश्य करूंगा। तोतापुरी ने समझा इसकी सचमुच की कोई मां होगी। किन्तु, रामकृष्ण जब मन्दिर में जाकर लौट आये और कहा कि माता की आज्ञा है, तो तोतापुरी को महान् आश्चर्य हुआ कि कोरी प्रतिमा में इसकी ऐसी अटल आस्था है।

हिन्दू धर्म में जो गहराई और माधुर्य है, परमहंस रामकृष्ण उसकी प्रतिमा थे। उनकी इन्द्रियां पूर्णरूप से उनके वश में थीं। रक्त और मांस के तकाजों का उनपर कोई असर न था। सिर से पांव तक वे आत्मा की ज्योति से परिपूर्ण थे। आनन्द, पवित्रता और पुण्य की प्रभा उन्हें घेरे रहती थी। वे दिन-रात परमार्थ चिन्तन में निरत रहते थे। सांसारिक सुख समृद्धि, यहां तक कि सुयश का भी उनके सामने कोई अस्तित्व नहीं था।

साधना करते-करते शरीर को उन्होंने इतना शुद्ध कर लिया था कि वह ईश्वरत्व का निर्मल यंत्र हो गया था और सांसारिकता के स्पर्शमात्र से उसमें विचित्र प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होने लगती थीं। रुपये, पैसे, सोने-चांदी, आदि का स्पर्श वे सह नहीं सकते थे और यह कोई बहानेबाजी या ढोंग नहीं था। विवेकानन्द होने के पूर्व नरेन्द्र बड़े ही शंकालु व्यक्ति थे। उन्हें रामकृष्ण अपनी ओर खींच रहे थे और वे बार-बार उनसे भागना चाहते थे। रामकृष्ण रुपये-पैसे को नहीं छूते, द्रव्य के स्पर्श मात्र से उन्हें पीड़ा होने लगती है। इस बात की जांच करने के लिए उन्होंने एक दिन चोरी-चोरी परमहंस जी के बिस्तर के नीचे एक रुपया रख दिया। रामकृष्ण लौटकर जो सदा के अनुसार बिस्तर पर बैठे तो उन्हें ऐसा लगा, मानो, बिच्छू ने डंक मार दिया हो और वे उचक कर खड़े हो गये। लोगों ने चारों ओर देखा, मगर, कहीं भी कोई चीज नहीं थी। निदान, उन्होंने बिस्तर हटाकर नीचे देखा तो क्या देखते हैं कि उसके नीचे एक रुपया पड़ा है। सब लोग अकचकाये हुए थे। केवल विवेकानन्द अचरज के मारे गम्भीर थे। रामकृष्ण उनकी शैतानी को लख गये और बोले, ठीक है रे; गुरु की जांच जी भर कर लेनी चाहिए।

द्रव्य की यह वितृष्णा उनमें बढ़ती ही गई। अन्त समय तो ऐसा हो गया कि हाथ में कपड़ा लपेटे बिना वे कांसे के बरतन को भी नहीं छू सकते थे। निदान, उनका खान-पान मिट्टी के ही बरतनों में चलने लगा था।

रामकृष्ण एक ऐसे संन्यासी हुए हैं जो अन्त समय तक अपनी धर्मपत्नी के साथ रहे। गृह-त्याग उन्होंने विवाह के बाद किया था और सच पूछिए तो विधिवत् उन्होंने गृह-त्याग किया भी नहीं था क्योंकि सिद्धावस्था आने पर भी वे अपने गांव गये और वहां अपने परिवार के साथ वैसे ही घुलमिल कर रहे जैसे गृहस्थ को रहना चाहिए। इसी यात्रा के बाद उनकी पत्नी दक्षिणेश्वर में उनसे आन मिलीं एवं परमहंसजी ने उन्हें अपने साथ रखने में तनिक भी आनाकानी नहीं की। उनकी माता वहीं दक्षिणेश्वर मठ के नौबतखाने में रहती थीं। उन्हीं के पास रामकृष्ण ने अपनी पत्नी को भी रख दिया। किन्तु, पत्नी के साथ उनका शारीरिक सम्बन्ध नहीं हुआ, यह सभी विवरणों से विदित होता है। श्रीरामकृष्ण लीलामृत नामक जो रामकृष्ण का जीवन चरित है उससे अच्छा जीवन चरित मैंने और नहीं देखा। वह हर रोज की लिखी डायरी पर आधारित जीवनी है एवं उसका प्रत्येक विवरण सत्य मालूम होता है। उसमें लिखा है कि "एक दिन उनके पैर दबाते-दबाते माताजी ने (रामकृष्ण की पत्नी ने) उनसे एकाएक पूछा, "मुझ को आप कौन समझते हैं?" श्रीरामकृष्ण बोले, "जो माता उस काली-मन्दिर में है, वही इस शरीर को जन्म देकर अभी नौबतखाने में निवास करती है और वही यहां पर इस समय मेरे पैर दबा रही है। तू मुझे, सचमुच ही, सदा साक्षात् आनन्दमयी के रूप में दिखाई देती है।"

ऐसा लगता है कि रामकृष्ण प्रकृति के प्यारे पुत्र थे और प्रकृति उनके द्वारा यह सिद्ध करना चाहती थी कि जो मानव शरीर भोग का साधन बन जाता है, वही चाहे तो त्याग का भी पावन यंत्र बन सकता है। द्रव्य का त्याग उन्होंने अभ्यास से सीखा था, किन्तु, अभ्यास के क्रम में उन्हें द्वन्द्वों का सामना करना नहीं पड़ा। हृदय के अत्यन्त निश्छल और निर्मल रहने के कारण वे प्रणय की ओर संकल्प-मात्र से बढ़ते चले गये। काम का त्याग भी उन्हें सहज ही प्राप्त हो गया। लिखा है कि "एक दिन अपनी पत्नी को अपने समीप ही सोती हुई देखकर अपने मन को संबोधन करते हुए श्रीरामकृष्ण विचार करने लगे, 'अरे मन, इसी को स्त्री-शरीर कहते हैं। सारा संसार इसी को परम भोग्य वस्तु मानकर उसकी प्राप्ति के लिए सदा लालायित रहकर अनेक प्रयत्न करता है, परन्तु, इसके ग्रहण करने से देहासक्ति में सदा के लिए फंस जाने से सच्चिदानन्द ईश्वर को प्राप्त करना असंभव हो जाता है। हे मन, सच सच बोल, भीतर एक और बाहर दूसरा, ऐसा मत रख, तुझे यह शरीर चाहिए कि ईश्वर चाहिए ? यह शरीर चाहिए तो यह देख, वह यहां तेरे पास ही पड़ा है, इसे ग्रहण कर।' ऐसा विचार करके रामकृष्ण ज्यों ही अपनी पत्नी के शरीर का स्पर्श करने वाले थे कि उनका मन कुंठित होकर उन्हें इतनी गहरी समाधि लग गई कि रात भर उन्हें देह की सुधि न रही।" अन्यत्र अपनी पत्नी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा है "वही (पत्नी) यदि इतनी शुद्ध और पवित्र न होती और कामासक्ति से विवेकहीन बन जाती तो हमारे संयम का बांध टूट कर मन में देहबुद्धि का उदय हो जाता या नहीं, यह कौन कह सकता है ?"

नानक और कबीर, ये भी विवाहित थे और पत्नी के साथ रहकर ही उन्होंने धर्म की सिद्धि की थी। इनमें से काम पर किस की क्या प्रतिक्रिया रही, इसका लेखा-जोखा उप-लब्ध नहीं है। हां, कबीर का एक दोहा चलता है :

नारी तो हमहूं करी, तब ना किया विचार,
जब जानी तब परिहरी, नारी महा विकार।

किन्तु, रामकृष्ण ने नारी की ऐसी निन्दा कभी नहीं की। अपनी पत्नी की तो उन्होंने प्रशंसा ही की है। हां, काम-भोग को साधना की बाधा वे भी मानते थे और उनका भी उपदेश यही था कि नर-नारी एक दूसरे से अलग रहकर ही अध्यात्म के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। अपना उदाहरण देते हुए उन्होंने एक बार कहा था, "उन दिनों तो मुझे स्त्रियों से डर लगता था। . . . . अब वह अवस्था नहीं रही। अब मैंने मन को बहुत कुछ सिखा-पढ़ा कर इतना कर लिया है कि स्त्रियों की ओर आनन्दमयी माता के भिन्न-भिन्न रूप जान कर देखा करता हूं। तो भी, यद्यपि स्त्रियां जगदम्बा के ही अंश हैं, तथापि साधक-साधु के लिए वे त्याज्य ही हैं।"

कामिनी और कांचन के विषय में किसकी क्या दृष्टि है तथा इनके आकर्षण से कौन कहां तक बचता है, यही वह कसौटी है जिस पर भारतीय महापुरुषों की जांच होती आई है। रामकृष्ण इस कसौटी पर खरे उतरे। उन्होंने पत्नी को अपने साथ रहने दिया, उन्हें अपनी साधना के पथ पर आगे बढ़ाया, इससे यह भी प्रकट होता है कि नारियों के प्रति उनके मन में कोई घृणा या द्वेष नहीं था।

रामकृष्ण के अद्‌भुत गुणों से आकृष्ट हो कर तत्कालीन बड़े-बड़े तार्किक और विद्वान उन्हें घेरे रहते थे। इनमें ऐसे नवयुवक भी थे जो नास्तिक थे, जो शंकालु थे, जो साधु-सन्तों के चमत्कारों को ढोंग समझते थे। किन्तु, रामकृष्ण के सामने शंकाओं के उठने या टिकने का सवाल ही नहीं था। न तो वे चमत्कार दिखा कर लोगों को प्रभावित करते थे, न किसी से आस्तिकता नास्तिकता को लेकर विवाद। उनका जीवन उन्मुक्त ग्रन्थ था और धर्म के लक्षण वे मुख से नहीं कह कर अपने आचरणों से बताते थे। फिर आंखों देखी बात पर शंका होती क्यों ?

वे, प्रायः, अपढ़ मनुष्य थे, किन्तु, साधना के कारण वे उस मूल उत्स पर पहुंचे हुए थे जहां से सभी ज्ञान उठकर ऊपर आते हैं, जहां से दर्शनों की उत्पत्ति और धर्मों का जन्म होता है। इसीलिए, उनके उपदेश विद्वान और अविद्वान् सभी के लिए ग्राह्य हैं, वे सबकी समझ में आते हैं एवं जिसमें उड़ने की जितनी शक्ति है वह उन्हें लेकर उतनी दूर उड़ सकता है। उनके वचनामृत की धारा जब फूट पड़ती थी तब बड़े-से-बड़े तार्किक अपने आप में खो कर मूक हो जाते थे। केशवचंद्र सेन से एक बार रामकृष्ण ने कहा, "केशव ! तू अपनी वक्तृता के द्वारा सभी को हिला देता है, मुझे भी तो कुछ बता।" केशवचंद्र इस पर नम्रता से बोले, "मैं क्या लोहार की दुकान में सुई बेचने आऊं ? आप ही कहते जाइये। मैं सुनता हूं। आप के ही श्रीमुख की दो-चार बातें मैं लोगों को बताता हूं जिन्हें सुनकर वे गद्‌गद हो जाते हैं। बस, यही मैं करता हूं।"

उनके विषय-प्रतिपादन की शैली ठीक वही थी जिसका आश्रय भारत के प्राचीन ऋषियों तथा पार्श्वनाथ, बुद्ध और महावीर ने लिया था तथा जो परंपरा से भारतीय संतों के उपदेश की पद्धति रही है। वे तर्कों का सहारा कम लेते थे, जो कुछ समझाना होता उसे उपमाओं और दृष्टान्तों से समझाते थे। संत सुनी-समझी बातों का आख्यान नहीं करते, वे तो आंखों देखी बातें कहते हैं, अपनी अनुभूतियों का निचोड़ दूसरों के हृदय में उतारते हैं।

देह और आत्मा दो भिन्न वस्तुएं हैं, इस सिद्धान्त को समझाते हुए उन्होंने कहा, "कामिनी-कांचन की आसक्ति यदि पूर्ण रूप से नष्ट हो जाय तो, देह अलग है और आत्मा अलग है, यह स्पष्ट रूप से दीखने लगता है। नारियल का पानी सूख जाने पर जैसे उसके

भीतर का खोपरा (गरी) नरेटी से खुलकर अलग हो जाता है, खोपरा और नरेटी दोनों अलग-अलग दीखने लगते हैं (वैसे), या जैसे म्यान के भीतर रखी हुई तलवार के विषय में कह सकते हैं कि म्यान और तलवार दोनों भिन्न चीज हैं, वैसे ही देह और आत्मा के बारे में जानो।"

प्रतिमा-पूजन का भी ईश्वराराधन में वास्तविक महत्त्व है। इस विचार को समझाने के लिए वे कहते, "जैसे वकील को देखते ही अदालत की याद आती है, उसी तरह प्रतिमा पर से ईश्वर की याद आती है।"

"माया ईश्वर की शक्ति है, वह ईश्वर में ही वास करती है, तब क्या ईश्वर भी हमारे समान ही मायाबद्ध है ?" इस गुत्थी को सुलझाने के लिए वे कहते, "अरे, नहीं रे भाई ! वैसा नहीं है। .... यही देखो न ? सर्प के मुंह में सदा विष रहता है। उसी मुंह से वह हरदम खाता-पीता है, पर, वह स्वयं उस विष से नहीं मरता।"

मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं है, इस शिक्षा को समझाने का ढंग यह था कि "मनुष्य मानो, केवल तकिये के गिलाफ हैं। गिलाफ जैसे भिन्न-भिन्न रंग और आकार के होते हैं, वैसे ही मनुष्य भी कोई सुरूप, कोई कुरूप, कोई साधु, कोई दुष्ट होता है। बस, इतना ही अन्तर है। पर, जैसे सभी गिलाफ में एक ही पदार्थ—कपास भरा रहता है, उसी के अनुसार सभी मनुष्यों में वही एक सच्चिदानन्द भरा हुआ है।"

ईश्वराराधन का व्यावहारिक मार्ग बताते हुए वे कहते, "जब तुम काम करते होओ तो एक हाथ से काम करो और दूसरे हाथ से भगवान के पांव पकड़े रहो। जब काम समाप्त हो जाय तो भगवान के चरणों को दोनों हाथों से पकड़ लो।"

संकल्प-शुद्धि के लिए उनका उपदेश था, "अभागा मनुष्य ही यह मानता है कि मैं पापी हूं। ऐसा सोचते-सोचते वह पापी हो भी जाता है।"

तर्कों से वे बहुत घबराते थे। कहते, "शास्त्रार्थ को मैं नापसंद करता हूं। ईश्वर शास्त्रार्थ की शक्ति से परे है। मुझे तो प्रत्यक्ष दीखता है कि जो कुछ है वह ईश्वरमय है। फिर तर्कों से क्या फायदा। बागीचों में तुम आम खाने जाते हो न कि पेड़ों के पत्ते गिनने। फिर मूर्त्ति-पूजा, पुनर्जन्म और अवतारवाद को लेकर यह विवाद क्या चलता है ?"

बुद्धि का तो अविश्वास वे करते ही थे, सहज ज्ञान पर भी उनकी अचल श्रद्धा नहीं थी। सहज ज्ञान के द्वारा बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण किया जाता है। किन्तु, बुद्धि के परे की अनुभूति वाली भूमि में सहज ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। तब तो ईश्वरीय कृपा का ही एकमात्र प्रकाश बच जाता है। इसलिए, वे कहा करते थे कि पांव में एक कांटा गड़ जाय तो उसे दूसरे कांटे से निकालना होता है। किन्तु, कांटे के निकल जाने पर हो दोनों कांटों को फेंक ही देना चाहिए।

परिपक्व मनुष्य जाति-भेद को नहीं मानता, यह समझाने को रामकृष्ण कहा करते थे कि ताड़ और खजूर को देखो न ! आरम्भ में कितने पत्ते लिये रहते हैं । किन्तु, उनके खूब बढ़ जाने पर क्या होता है ? व्यर्थ के सारे बोझ झड़ जाते हैं और कुछ थोड़े से पत्ते ही शेष रह जाते हैं ।

एक बार ईश्वरचंद्र विद्यासागर की प्रशंसा करते हुए बोले, पक्का विद्वान् कभी भी अहंकार नहीं दिखाता । आलू सिद्ध होने पर नर्म हो जाता है ।

विद्वत्ता और पांडित्य के साथ वे मनुष्य में शील और सदाचार भी चाहते थे । अनुशासन और नैतिकता से विहीन विद्वानों के लिए उनमें आदर का भाव नहीं था । कहते, विद्या की बड़ी शक्ति है । लेकिन, केवल विद्या से क्या होगा ? गिद्ध बहुत ऊंचा उड़ता तो है, मगर आंख उसकी बराबर मरी पर लगी रहती है । बहिर्मुखी विद्वान् समुद्र के समान होता है । परन्तु, वरुणदेव को पता ही नहीं कि उनके भीतर कितनी चीजें छिपी हुई हैं । बहुत-से अमीर अपने सभी नौकरों के नाम भी नहीं जानते, न उन्हें यही पता होता है कि कौन चीजें कहां रखी हैं !

संसार में रहते हुए परमार्थ की साधना कैसे करें, इस विषय में उपदेश देते हुए वे कहते, कटहल छूने के पहले उंगली में तेल लगा लिया करो । मन दूध है और दुनिया पानी । दूध को पहले जमा लो, फिर उसका मन्थन करो । तब जो मक्खन निकलेगा, वह पानी में नहीं घुलेगा ।

धन मनुष्य के जीवन का ध्येय नहीं होना चाहिए, इस उपदेश को वे यों रखते थे कि धन से क्या मिलता है ? भोजन, वस्त्र और मकान । मगर, इनसे ऊंची चीजें धन से नहीं मिल सकतीं । इसलिए, जीवन का उद्देश्य धन नहीं हो सकता ।

विनोदप्रियता रामकृष्ण में कूट-कूट कर भरी थी । और उनके विनोद मार्मिक होते हुए भी बड़े ही आनन्ददायी होते थे । एक बार केशवचंद्र सेन ब्रह्म-समाज की व्यास गद्दी से प्रार्थना कर रहे थे । प्रार्थना करते-करते उन्होंने एक वाक्य कहा कि हे प्रभो ! हमें अपने आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न कर लो । प्रार्थना के बाद किसी दूसरे प्रसंग में रामकृष्ण ने कहा, अरे केशव ! आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न होने की प्रार्थना बेकार है । तुम्हारे आंगन में तो साड़ियां सूखती हैं । तुम्हारे लिए यही उचित है कि समुद्र में एक डुबकी लगाकर फिर बाहर आ जाओ ।

नरेन्द्रनाथ (आगे चल कर विवेकानन्द) दिन में दो बार प्रार्थना करते थे । एक दिन एक पद गाते-गाते वे बोले, "भजन साधन तार करो रे निरन्तर ।" रामकृष्ण एकदम बोल उठे—"छि: ऐसा मत कह । उसके बदले 'भजन-साधन तार कररे दिने दुबारे' ऐसा कह ! अपने को जो कभी करना ही नहीं है उसे जोर-जोर से कहने से क्या मतलब ?"

केशवचंद्र सेन से वे, अक्सर, मजाक करते थे। कभी कहते, "तेरी पूंछ झड़ गई है। जब तक पूंछ नहीं झड़ जाती तब तक मेंढक पानी से बाहर नहीं निकलता, पर, जब पूंछ झड़ जाती है तब वह पानी में भी रह सकता है और पानी से बाहर भी रह सकता है।" कभी कहते "केशव, तुम वह पक्षी हो जिसकी दुम में पत्थर बंधा है। यह पक्षी समाधि में जा सकता है, मगर, बाल बच्चे उसे नीचे खींच लेते हैं।"

ब्रह्मसमाज बंटकर दो पक्षों में विभक्त हो गया था, किन्तु, उसके दोनों पक्षों के लोग रामकृष्ण के यहां आते-जाते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि केशवचंद्र अपने कुछ अनुयायियों के साथ रामकृष्ण के पास बैठे हुए थे कि विजयकृष्ण भी अपने अनुगामियों के साथ आ पहुंचे। ऐसी अचानक भेंट हो जाने से दोनों पक्ष वालों को संकोच-सा होने लगा। यह बात रामकृष्ण की दृष्टि में आते ही वे बोले—"सुनिये! एक बार ऐसा हुआ कि भगवान शंकर और श्रीरामचंद्र में कुछ विवाद हो गया और दोनों में युद्ध होने लगा। अब शंकर के गुरु राम और राम के गुरु शंकर होने के कारण, युद्ध समाप्त होने पर, उन दोनों में पूर्ववत् मैत्री होने में देरी नहीं लगी। पर, शंकर की सेना के भूत-प्रेतों और राम की सेना के वानर-रीछों की मैत्री नहीं हुई। इसीलिए कहता हूं, कि जो होना था सो हो गया। अब कम से कम तुम दोनों के मन में तो एक-दूसरे के प्रति परस्पर वैर-भावना या वैमनस्य नहीं रहे। ओर यह भाव यदि रहे तो रहने दो अपने वानर-रीछों और भूत-प्रेतों में।"

ऐसा था वह मनुष्य जिसने भाषण और वक्तव्य दिये बिना तथा सभा-सम्मेलनों में शास्त्रार्थ किये बिना केवल अपने आचरणों और अपनी अनुभूतियों से यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दुत्व का केवल वेद-उपनिषद वाला ही नहीं बल्कि, यह रूप भी सत्य है जिसका आख्यान पुराणों एवं संतों की जीवनियों में मिलता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि रामकृष्ण के भीतर से हिन्दुत्व ने अपनी रक्षा अन्य धर्मों को पछाड़ कर नहीं, प्रत्युत, उन्हें अपना बनाकर की। हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत पर रामकृष्ण की श्रद्धा एक समान थी। क्योंकि, बारी-बारी से सब की साधना करके उन्होंने एक ही सत्य का साक्षात्कार किया था।

रामकृष्ण का नाम उनके जीवन-काल में भी दूर-दूर तक पहुंचा था। किन्तु, उनके देहान्त के बाद तो उनके उपदेशों को स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार फैलाया कि संसार के कोने-कोने में उनका नाम गूंज गया। उनकी जीवनी मैक्समूलर ने लिखी थी। फिर जीवनचरित रोम्यां रोलां ने प्रकाशित किया। गांधीजी का वचन है कि रामकृष्ण की जीवनी व्यवहार में आये हुए जीवित धर्म की कहानी है। कहते हैं, केशवचंद्रसेन के समय ब्रह्म-समाज में भक्ति और साधना का जो प्रचलन हुआ वह ब्रह्म-समाजियों को

रामकृष्ण से संगति का परिणाम था। प्रसिद्ध ब्रह्म-समाजी साधक और विद्वान् आचार्य प्रतापचंद्र मजूमदार ने लिखा है कि "श्री रामकृष्ण के दर्शन होने के पूर्व, धर्म किसे कहते हैं, यह कोई समझता भी नहीं था। सब आडम्बर ही था। धार्मिक जीवन कैसा होता है, यह बात रामकृष्ण की संगति का लाभ होने पर जान पड़ी।" आचार्य प्रतापचंद्र मजूमदार की एक और उक्ति है....... जिसके उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धिवादी विद्वानों पर रामकृष्ण के व्यक्तित्व का कैसा प्रभाव था। प्रतापचंद्र लिखते हैं कि "उनके और मेरे बीच समानता क्या है? मैं यूरोपीकृत, सुसभ्य, अर्धनास्तिक और तथाकथित सुशिक्षित तार्किक व्यक्ति हूं जिसकी सारी चिन्ता अपने ही निमित्त है; और वे निर्धन, अशिक्षित, व्यवहार में भद्दे, मूर्त्तिपूजक एवं निस्सहाय हिन्दू भक्त हैं। भला मैं उनकी सेवा में घंटों क्यों बैठा करूं—मैं जिसने डिज़रेली और फाकेट के विचार सुने हैं, जिसने स्टानले और मैक्समूलर की विद्याएं प्राप्त की हैं, जिसने यूरोप के बीसियों विद्वानों और धर्म पुरुषों के विचारों का पान किया है? किन्तु, केवल मैं ही नहीं, यहां तो मेरे जैसे दर्जनों लोग हैं जो यही करते हैं।... वे (रामकृष्ण) राम की पूजा करते हैं, शिव की पूजा करते हैं, काली को पूजते हैं और साथ ही, वेदान्त में भी उनका अडिग विश्वास है। वे प्रतिमापूजक हैं, किन्तु, निरंजन और निराकार की पूर्णता का ज्ञान कराने में भी उनसे बढ़कर कोई और माध्यम नहीं हो सकता। उनका धर्म आनन्द है, उनकी पूजा समाधि है। अहर्निश उनका समस्त अस्तित्व एक विचित्र विश्वास और भावना की ज्वाला से प्रदीप्त रहता है।*

---

* 'रामकृष्ण एण्ड स्पिरिचुअल रिनासां' (लेखक—स्वामी निर्वेदानन्द) में उद्धृत।

कर्मठ वेदान्त; स्वामी विवेकानन्द

परमहंस रामकृष्ण ने साधनापूर्वक धर्म की जो अनुभूतियां प्राप्त की थीं, स्वामी विवेकानन्द ने उनसे व्यावहारिक सिद्धान्त निकाले। रामकृष्ण आध्यात्मिकता के अद्भुत यंत्र थे। उनकी दृष्टि समाज या व्यक्ति के सुधार पर नहीं थी, न वे इस्लाम या ईसाइयत के आक्रमणों से हिन्दुत्व की रक्षा करने को आतुर थे। देश में बौद्धिकता के साथ नास्तिकता का प्रचार बढ़ता जा रहा था, किन्तु, रामकृष्ण को इसकी भी चिन्ता नहीं थी। वस्तुतः, संसार से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं था। वे आत्मानन्द की खोज में थे एवं आनन्द का सबसे सुगम मार्ग उन्हें यह दिखाई पड़ा था कि अपने आप को वे काली की कृपा के भरोसे छोड़ दें। उनका सारा जीवन प्रकृति के निश्छल पुत्र का जीवन था, वे अदृश्य सत्ता के हाथ में एक ऐसा यंत्र बन गये थे जिसमें कालिमा नहीं थी, मैल नहीं थी, अतएव, जिसके भीतर से अदृश्य अपनी लीला का चमत्कार अनायास दिखा रहा था। बहुत दिनों से हिन्दुओं का विश्वास रहा है, कि हृदय के पूर्ण रूप से निर्मल हो जाने पर, मन से स्वार्थ की सारी गन्ध निकल जाने पर एवं चित्त में छल की छाया भी नहीं रहने पर मनुष्य की सहज वृत्ति पूर्ण रूप से जाग्रत हो जाती है एवं तब धर्म की अनुभूतियां उसके भीतर आप से आप जागने लगती हैं। रामकृष्ण के जीवन में यह सत्य साकार हो उठा था। अतएव धर्म की सारी उपलब्धियां उन्हें आप से आप प्राप्त हो गई। उन उपलब्धियों के प्रकाश में विवेकानन्द ने भारत और समग्र विश्व की समस्याओं पर विचार किया एवं उनके जो समाधान उन्होंने उपस्थित किये वे, असल में, रामकृष्ण के ही दिये हुए समाधान हैं। रामकृष्ण और विवेकानन्द, ये दोनों एक ही जीवन के दो अंश, एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। रामकृष्ण अनुभूति थे, विवेकानन्द उसकी व्याख्या बनकर आये। रामकृष्ण दर्शन थे, विवेकानन्द ने उनके क्रिया-पक्ष का आख्यान किया। **स्वामी निर्वेदानंद** ने रामकृष्ण को हिन्दू धर्म की गंगा कहा है जो वैयक्तिक समाधि के कमंडलु में बन्द थी। विवेकानन्द इस गंगा के भागीरथ हुए और उन्होंने देवसरिता को रामकृष्ण के कमंडलु से निकालकर सारे विश्व में फैला दिया।

स्वामी विवेकानन्द का घर का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। वे सन् १८६३ ई० की १२ जनवरी को कलकत्ते में एक क्षत्रिय परिवार में पैदा हुए थे। उन्होंने कालेज में शिक्षा पायी थी और बड़ी योग्यता के साथ बी. ए. पास किया था। अपने छात्र-जीवन में वे उन हिन्दू युवकों के साथी थे जो यूरोप के उदार एवं विवेकशील चिन्तकों की विचारधारा पर अनुरक्त थे तथा जो ईश्वरीय सत्ता एवं धर्म को शंका से देखते थे। विवेकानन्द का आदर्श उस

समय यूरोप था एवं यूरोपीय उद्दामता को वे पुरुष का सबसे तेजस्वी लक्षण मानते थे। नरेन्द्रनाथ का शरीर काफी विशाल और मांस-पेशियां सुपुष्ट थीं। वे कुश्ती, बाक्सिग, दौड़, घुड़दौड़ और तैरना सभी के प्रेमी और सबमें भलीभांति दक्ष थे। वे संगीत के भी प्रेमी और तबला बजाने में उस्ताद थे। इस प्रकार, विवेकानन्द में वे सभी गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे, जो रामकृष्ण को नहीं मिले थे। रामकृष्ण का शरीर कोमल और कमजोर था। उनके स्वभाव में भी स्त्रीत्त्व का अंश अधिक था एवं आरम्भ से ही उनमें सात्त्विकता बहुत उच्च कोटि की थी। इसके विपरीत, विवेकानन्द का शरीर पुष्ट तथा स्वभाव पौरुष के वेगों से उच्छल एवं उद्दाम था तथा आरम्भ से ही उनके भीतर राजसिकता के भाव थे। विद्या की दृष्टि से भी देखें तो रामकृष्ण करीब-करीब अपढ़ व्यक्ति थे तथा उनकी सारी पूंजी उनकी सहज वृत्ति थी, जबकि नरेन्द्रनाथ संस्कृत और अंगरेजी के उद्भट विद्वान् एवं यूरोप के तार्किकों एवं दार्शनिकों की विद्याओं में परम निष्णात थे। उनमें सहज-वृत्ति के बदले तार्किकता और विवेकशीलता की ज्वाला प्रचंड रूप से जल रही थी। उनमें यूरोपीय सभ्यता की वह प्रवृत्ति अत्यंत प्रखर थी जो निरन्तर खोज और सतत अनुसंधान में लगी रहती है; जो किसी भी कथन को प्रमाण नहीं मानकर प्रत्येक विषय का विश्लेषण स्वयमेव करना चाहती है, तथा जो सत्य की खोज में विवेक और बुद्धि को छोड़कर और किसी वस्तु का सहारा नहीं लेती। नरेन्द्रनाथ हर्बर्ट स्पेंसर और जोन स्टुअर्ट मिल के प्रेमी थे। वे शेली के सर्वात्मवाद और वर्डस्वर्थ की दार्शनिकता के प्रेमी एवं हीगेल के वस्तु-निष्ठात्मक आदर्शवाद पर अनुरक्त थे। फ्रांसीसी राज्य-क्रांति का प्रभाव, उस समय, साहित्य के माध्यम से भारत में जोरों से फैल रहा था एवं नरेन्द्रनाथ भी उसके स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धांत-त्रय में बड़े उत्साह से विश्वास करते थे। यूरोपीय संस्कारों का उनमें पूरा जोर था और, कहते हैं, अपने छात्र-जीवन में वे केवल शंकावादी ही नहीं, प्रचण्ड नास्तिक के समान बातें करते थे। किन्तु, बौद्धिकता के इन समस्त उद्वेगों के बीच उनके भीतर वह जिज्ञासा काम कर रही थी जो पैगम्बरों में उठा करती है, अवतारों और धर्म-संस्थापकों में जगा करती है, जो सभी प्रश्नों से ऊपर उठकर, यह समझना चाहती है कि सृष्टि है क्या ? जीव सान्त है या अनन्त ? जन्म के पूर्व हम कहां थे ? मृत्यु के पश्चात् हम कहां जायेंगे ? सृष्टि कोई आकस्मिक घटना है या इसके भीतर कोई नियम काम कर रहा है ? यदि हां, तो उस नियम का निर्माता कौन है ? यही जिज्ञासा आरम्भ में उन्हें ब्रह्म-समाज की ओर ले गई और वहां से निराश होने पर यही जिज्ञासा उन्हें दक्षिणेश्वर ले आई जहां रामकृष्ण अपनी वैयक्तिक साधना में लीन थे, किन्तु, जहां से यह संवाद सारे बंगाल में फैल रहा था कि भारत में धर्म फिर से जीता-जागता रूप लेकर अवतरित हुआ है, जिसके प्रमाण रामकृष्ण हैं।

रामकृष्ण हिन्दू-धर्म की समग्रता के प्रतिनिधि थे। हिन्दुत्व के पौराणिक रूपों की ईसाइयों और बुद्धिवादियों ने कसकर निन्दा की थी। राममोहन राय और दयानन्द जब हिन्दुत्व की ओर से बोलने को खड़े हुए तब उन्हें भी हिन्दुत्व के पौराणिक रूपों की ओर से बोलने का साहस नहीं हुआ। क्योंकि धर्म के इन रूपों की ओर से ऐसा तर्क ही नहीं दिया जा सकता था जो बुद्धिवादियों को मान्य हो। निदान हिन्दुत्व ने रामकृष्ण में अपना जीवित रूप प्रकट किया और आलोचकों से यह कहा कि जिसे तुम बुद्धि से नहीं समझ सकते, उसे आंखों से देख लो। अतएव, रामकृष्ण धर्म के उन रूपों के प्रतिनिधि हुए, जिन पर ईसाई प्रचारकों का कोप था तथा जो बुद्धिवादी हिन्दुओं की भी समझ में नहीं आते थे। किन्तु, नरेन्द्रनाथ बुद्धिवाद की प्रतिमा थे। यूरोपीय विचारधाराओं के मूर्तिमान रूप थे एवं उनके भीतर वे सारे संस्कार वर्तमान थे जिनके कारण अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू भी हिन्दू-धर्म की आलोचना करने लगे थे। वस्तुतः, नरेन्द्रनाथ जब रामकृष्ण की शरण गए, तब असल में, नवीन भारत ही प्राचीन भारत की शरण गया था। अथवा यूरोप भारत के सामने आया था। रामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ का मिलन श्रद्धा और बुद्धि का मिलन था, रहस्यवाद और बुद्धिवाद का मिलन था। इन दो मूर्त्तियों में से एक तो पुराणों के सत्यों में लिपटी हुई थी, धर्म के बाह्याचारों को भी सत्य मानकर उन्हें कायम रखना चाहती थी तथा प्राचीन भारत की सभी साधनाओं को सत्य बतलाना चाहती थी और दूसरी तर्क से उच्छल एवं धर्म के बाह्य बन्धनों को तोड़कर प्राचीनता से बाहर निकल जाने को बेचैन थी। रामकृष्ण ने नरेन्द्र-नाथ से कुछ भी नहीं लिया, हां, अपनी साधना का तेज और अपनी अदृश्यदर्शिनी दृष्टि को नरेन्द्रनाथ में उतारकर उन्होंने उन्हें विवेकानन्द अवश्य बना दिया। कदाचित्, रामकृष्ण और विवेकानन्द के मिलन में पूर्वी और पश्चिमी जगतों का ही मिलन संपन्न हुआ है और, शायद, जिस दिन पश्चिमी जगत् के लोग पूर्वी जगत् के आध्यात्मिक संस्कारों को आत्मसात् करेंगे, भूमंडल का कल्याण उसी दिन होगा और उसी दिन विश्व भर के शांति-साधकों के सपने साकार होंगे। किपलिंग ने जो यह बात कही है कि पूर्व पूर्व और पश्चिम पश्चिम है तथा दोनों का मिलन नहीं होगा, वह असत्य है। सत्य तो यही दीखता है कि पश्चिम पूर्व से मिलगा और ठीक उसी प्रकार मिलेगा, जैसे नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण से मिले थे।

उपनिषदों के समय से भारतवर्ष निवृत्तिवादियों का देश रहा था। एक दृष्टि से देखिये तो निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म के भीतर की राजनीति हैं, जैसे साहित्य की राजनीति क्लासिक और रोमांटिक का विवाद है। किन्तु, राजनीति यह केवल पंडितों की है। पंडित ही निवृत्ति के पर्दे में प्रवृत्ति का रस लेते हैं, बाहर त्याग का उपदेश देते हैं, संसार को निस्सार बताते हैं और भीतर उसे सारपूर्ण मानकर उसका उपभोग करते हैं। किन्तु, इस दगाबाजी से जन-साधारण मारा जाता है। जनता के पास छल-प्रपंच और दांव-पेंच इतने नहीं होते

जितने पंडितों के पास होते हैं। परिणाम यह होता है कि पंडित देश में जैसी दार्शनिक धारा चला देते हैं, जनता के कर्म बहुत कुछ उस: के अनुरूप हो जाते हैं। वैदिक हिन्दू प्रवृत्ति-मार्गी थे। उनके ऋषि भी गृहस्थ और धर्माचार्य भी बाल-बच्चों वाले होते थे। जो लोग वैदिक मंत्रों के द्रष्टा थे, ऊँचे दार्शनिक सिद्धांतों के आविष्कर्त्ता और व्याख्याता थे, वे भी खेतों में काम करते थे तथा गउओं का पालन-पोषण करके परिवार का पालन एवं अतिथियां की सेवा करते थ। जब समाज प्रवृत्तिमार्गी होता है, तब शारीरिक श्रम निन्दा की वस्तु नहीं होता। उस समय हलवाहे और विद्वान् दोनों एक समान उद्यमी होते हैं। वैदिक काल का समाज ऐसे ही कर्मठ लोगों का समाज था, जब हाथ और मस्तिष्क में कोई वैर नहीं था। तब उपनिषदों का समय आया और पंडितों ने यह सिद्धांत निकाला कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष पाने के लिए कामिनी और कंचन का त्याग आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त नौजवान संन्यासी होने लगे और नारियों की मर्यादा समाज में घटने लगी। फिर भी, वैदिक संस्कार अभी निःशेष नहीं हुआ था, इसीलिए उपनिषदों में कहीं-कहीं हम यह उपदश भी देखते हैं कि भोग निरे अनादर की वस्तु नहीं ह, यदि वह त्याग के साथ किया जाय (तेन त्यक्तेन भुंजीथा)। किन्तु, जैन और बौद्ध धर्माचार्यों न संन्यास की इतनी महिमा गायी कि सारा समाज संन्यासियों से भर गया। फिर तो भारत में सदियों तक निवृत्ति-निवृत्ति की भयानक ध्वनि गूंजती रही और कोई भी सुधारक ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ जो समाज को फटकारे कि निवृत्ति की अतिशयता मनुष्य को कायर एवं दरिद्र बना दती है। भक्ति-काल में आकर निवृत्ति का जहर कुछ कम अवश्य हुआ, किन्तु, भक्त पंडित और कवि स्वयं निवृत्ति के संस्कारों से ग्रसित थे और यद्यपि कहने को वे द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत की बातें कह रहे थे, किन्तु अन्तर्मन उनका भी यह मानता था कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाला सिद्धांत सत्य है। कबीर, नानक और उधर वल्लभाचार्य ने गृहस्थी बसाकर संसार को सम्मान अवश्य दिया, किन्तु, जनता को प्रवृत्ति के मार्ग पर लाने का सचेष्ट प्रयास उनमें भी नहीं था। कबीर आदि निर्गुण लोगों के उपदेश तो निश्चित रूप से निवृत्ति को बढ़ावा देने वाले थे। दार्शनिक स्तर पर जीवन को असत्य कहते-कहते हिन्दुओं ने, उसे सचमुच ही, असत्य मान लिया और देश और समाज से उनकी दिलचस्पी दिनोंदिन कम होती चली गई। प्रत्येक हिन्दू मां के पेट से ही इस विश्वास को लेकर आने लगा कि परलोक की साधना सबसे श्रेष्ठ सुकर्म है चाहे लोक हमारे हाथों से छूट ही क्यों न जाय। इसीलिए, कंठी, माला, आरती और घंटे में मग्न हिन्दुओं को यह बात कभी अखरी ही नहीं कि उनका देश पराधीन है अथवा वे निर्धन और दरिद्र होते जा रहे हैं। यह विचित्र बात है कि धर्म को अफीम कहने वाला चिन्तक यूरोप में जन्मा जबकि धर्म ने सबसे अधिक विनाश हिन्दुओं का किया है।

उन्नीसवीं सदी के अंगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू अपने धर्म के इन कुपरिणामों को समझने लगे थे। एक यह भी कारण था कि धर्म पर से उनकी श्रद्धा हटने लगी थी। अतएव, जब स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ, उन्हें अपने सामने कई प्रकार के उद्देश्य दिखाई पड़े। सबसे बड़ा काम धर्म की पुनःस्थापना का काम था। बुद्धिवादी मनुष्यों की श्रद्धा धर्म पर से केवल भारत में ही नहीं, प्रत्युत, सभी देशों में हिलती जा रही थी। अतएव, यह आवश्यक था कि धर्म की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जाय जो अभिनव मनुष्य को ग्राह्य हो, जो मनुष्य की इह-लौकिक विजय के मार्ग में बाधा नहीं डाले। दूसरा काम हिन्दू धर्म पर कम से कम हिन्दुओं की श्रद्धा को जमाये रखना था। किन्तु, हिन्दू यूरोप के प्रभाव में आ चुके थे तथा अपने धर्म और इतिहास पर भी वे तब तक विश्वास करने को तैयार नहीं थे जब तक कि यूरोप के लोग उनकी प्रशंसा नहीं करें। और तीसरा काम भारतवासियों में आत्म-गौरव की भावना को प्रेरित करना था, उन्हें अपनी संस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिक परम्पराओं का योग्य उत्तराधिकारी बनाना था।

स्वामी विवेकानन्द का देहान्त केवल ३९ वर्ष की आयु में हो गया, किन्तु, इस छोटी सी अवधि में ही उन्होंने उपर्युक्त तीनों कार्य संपन्न कर दिये। राममोहनराय के समय से भारतीय संस्कृति और समाज में जो आन्दोलन चल रहे थे, वे विवेकानन्द में आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँचे। राममोहन, केशवसेन, दयानन्द, राणाडे, एनीबेसेंट, रामकृष्ण एवं अन्य चिन्तकों तथा सुधारकों ने भारत में जो जमीन तैयार की, विवेकानन्द उसमें से आश्वत्थ होकर उठे। अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु हैं जिसपर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद और विज्ञान, सबके सब समाहित होते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, "यदि कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।" अरविन्दो का वचन है कि "पश्चिमी जगत् में विवकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नहीं जगा है, वरन् वह विश्व-विजय करके दम लेगा।" और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने लिखा है कि "स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाला धर्म था। नई पीढ़ी के लोगों में उन्होंने भारत के प्रति भक्ति जगायी, उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की। उनके उद्गारों से लोगों में आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं। स्वामी जी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी संदेश नहीं दिया, किन्तु, जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के सम्पर्क में आया, उसमें देशभक्ति और राजनीतिक मानसिकता आप से आप उत्पन्न हो गई।"

ये सारी प्रशंसायें सही हैं। इनमें कोई भी अत्युक्ति नहीं है। स्वामी जी धर्म और संस्कृति के नेता थे। राजनीति से उनका कोई सरोकार नहीं था। किन्तु, राजनीति तो स्वयं संस्कृति की चेरी है। उसका एक लघु अंगमात्र है। स्वामी जी ने अपनी वाणी और कर्तृत्व से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं। हमारे धार्मिक ग्रंथ संसार में सबसे उन्नत और हमारा इतिहास सबसे महान् है; हमारी संस्कृत भाषा विश्व की सबसे प्राचीन भाषा और हमारा साहित्य सबसे उन्नत साहित्य है; यही नहीं, प्रत्युत, हमारा धर्म ऐसा है जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है और जो विश्व के सभी धर्मों का सार होता हुआ भी उन सबसे कुछ और अधिक है। स्वामी जी के भीतर से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने अथवा लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनीतिक राष्ट्रीयता बाद को जन्मी है और इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थे।

सन् १८९३ ई० में शिकागो (अमेरिका) में निखिल विश्व के धर्मों का एक महासम्मेलन हुआ था। स्वामी विवेकानन्द के हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि वे इस सम्मेलन में अवश्य जायेंगे और अनेक प्रचण्ड बाधाओं के होते हुए भी वे इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए। और हिन्दुत्व एवं भारतवर्ष के लिए यह अच्छा हुआ कि स्वामी जी इस सम्मेलन में जा सके क्योंकि इस सम्मेलन में हिंदुत्व के पक्ष में ऐसा ऊँचा प्रचार हुआ जैसा न तो कभी पहले हुआ था और न उसके बाद से लेकर आज तक हो पाया है। हां, गूंज और प्रतिध्वनि की दृष्टि से स्वामी जी की अमेरिका-यात्रा उतनी ही सफल हुई, जितनी कि पंडित जवाहरलाल की रूस-यात्रा (१९५५ ई०) समझी जाती है।

स्वामी जी के विदेश गमन के कई उद्देश्य थे। एक तो वे भारतवासियों के इस अन्धविश्वास को तोड़ना चाहते थे कि समुद्र-यात्रा पाप है तथा विदेशियों के हाथ का अन्न और जल ग्रहण करने से जाति चली जाती है। दूसरे, भारत के अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों को वे यह भी दिखलाना चाहते थे कि भारतवासी अपना आदर आप भले ही नहीं करें, किन्तु, उनके सांस्कृतिक गुरु पश्चिम के लोग भारत से प्रभावित हो सकते हैं। उनका यह अटल विश्वास था कि भारत के आध्यात्मिक विचारों और आदर्शों का प्रचार यदि पश्चिम के उन्नत देशों में किया जाय तो इससे वहां के लोग अवश्य प्रभावित होंगे तथा पृथ्वी पर एक नई कल्पना, एक नए जीवन का सूत्रपात होगा। स्वामी रामकृष्ण ने साधनापूर्वक यह जान लिया था कि विश्व के सभी धर्म एक ही धर्म के विभिन्न अंग हैं एवं संपूर्ण विश्व में एक प्रकार की धार्मिक एकता का भाव जगना ही चाहिए। अजब नहीं कि स्वामी जी इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी शिकागो के धार्मिक सम्मेलन में जाने को आतुर हो उठे हों।

शिकागो-सम्मेलन में स्वामी जी ने जिस ज्ञान, जिस उदारता, जिस विवेक और जिस वाग्मिता का परिचय दिया, उससे वहां के सभी लोग मंत्र-मुग्ध और पहले ही दिन से उनके भक्त हो गए। प्रथम दिन तो स्वामी जी को सबसे अन्त में बोलने का अवसर इसलिए दिया गया था कि उनका कोई समर्थक नहीं था, उन्हें कोई जानता या पहचानता नहीं था। किन्तु, उसके बाद सम्मेलन में जो उनके दस-बारह भाषण हुए वे भाषण भी उन्होंने प्रतिदिन सभा के अन्त में ही दिये क्योंकि सारी जनता उन्हीं का भाषण सुनने को अन्त तक बैठी रहती थी। उनके भाषणों पर टिप्पणी करते हुए 'द न्यूयार्क हेराल्ड' ने लिखा कि "धर्मों की पार्लमेंट में सबसे महान् व्यक्ति विवेकानन्द हैं। उनका भाषण सुन लेने पर अनायास यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए धर्म-प्रचारक भेजने की बात कितनी बेवकूफी की बात है!"

शिकागो-सम्मेलन से उत्साहित होकर स्वामी जी अमेरिका और इंग्लैण्ड में तीन साल तक रह गए और इस अवधि में भाषणों, वार्तालापों, लेखों, कविताओं, विवादों और वक्तव्यों के द्वारा उन्होंने हिन्दू धर्म के सार को सारे यूरोप में फैला दिया। प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से ईसाई धर्म-प्रचारक संसार में हिन्दुत्व की जो निन्दा फैला रहे थे, उस पर अकेले स्वामी जी के कर्तृत्व ने रोक लगा दी और जब भारतवासियों ने यह सुना कि सारा पश्चिमी जगत् स्वामी जी के मुख से हिन्दुत्व का आख्यान सुनकर गद्गद हो रहा है तब हिन्दू भी अपने धर्म और संस्कृति के गौरव का अनुभव करने लगे। अंगरेजी पढ़कर बहके हुए हिन्दू बुद्धिवादियों को समझाना बहुत ही कठिन कार्य था। किन्तु, जब उन्होंने देखा कि स्वयं यूरोप और अमेरिका के नर-नारी स्वामी जी के शिष्य बनकर हिन्दुत्व की सेवा में लगते जा रहे हैं, तब उनके भीतर भी ग्लानि की भावना जगी और बकवास छोड़ कर वे भी स्थिर हो गए। इस प्रकार हिन्दुत्व को लीलने के लिए, अंगरेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के पेट से जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय जैसे विशाल वक्ष से टकराकर लौट गया। हिन्दू-जाति का धर्म है कि वह जब तक जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती जाय जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि की याद करती है।

स्वामी जी की व्यावहारिकता यह थी कि यूरोप तथा अमेरिका को उन्होंने संयम और त्याग का महत्त्व समझाया था, किन्तु, भारतवासियों का ध्यान उन्होंने भारतीय समाज की आर्थिक दुरवस्था की ओर आकृष्ट किया एवं धर्म को उनके सामने ऐसा बनाकर रखा जिससे मनुष्य की आधिभौतिक उन्नति में कोई बाधा नहीं पड़े। अमेरिका की उच्छल जीवनी-शक्ति, वहां की स्वच्छता, वहां का संगठन, वहां की सौंदर्य-भावना और वहां के वैज्ञानिक साधनों का उपयोग ये बातें स्वामी जी को बहुत पसंद आई थीं, किन्तु यूरोपीय सभ्यता के जो दोष हैं, वे भी उनकी आंखों से ओझल नहीं रहे। बोस्टन में दिये गए अपने एक भाषण में स्वामी

जी ने इन दोषों का ऐसा परदा फाश किया कि वहां की जनता उनसे रुष्ट हो गई। फिर भी, स्वामी जी ने अमरीकी और यूरोपीय लोगों को उनकी सभ्यता का दोष दिखाना बन्द नहीं किया। यूरोप और अमेरिका में जो जातीय अहंकार है, स्वार्थ-साधन और विलासिता के लिए जो पारस्परिक होड़ है, धर्म और संस्कृति के मामले में वहां जो भयानक असहिष्णुता है, गरीबों के आर्थिक शोषण का जो विकराल भाव तथा राजनीतिक चालबाजियां और हिंसा के जो उद्वेग हैं, उन्हें स्वामी जी यूरोपीय सभ्यता के पाप कहते थे और पश्चिमी देशों के श्रोताओं के सामने वे इनका खुल कर उल्लेख करते थे। व्यक्ति और समाज, दोनों की रक्षा और शांति के लिए स्वामी जी धर्म को आवश्यक मानते थे, अतएव, यूरोप को धर्म से विमुख होते देखकर, उन्हें चिन्ता हुई। उनका विचार था कि धर्म-हीन सभ्यता निरी पशुता का उज्ज्वल रूप है तथा उसका विनाश उसी प्रकार अवश्यम्भावी है जैसे अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए हैं। उन्होंने कई बार यह चेतावनी दी कि आध्यात्मिकता को अनादृत करके यूरोप उस ज्वालामुखी के मुख पर बैठ गया है जो किसी भी क्षण विस्फोट कर सकता है।

रूढ़ियों, आडम्बरों और बाह्याचारों से ऊपर उठकर स्वामी जी ने धर्म की विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की। "धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है।" "धर्म न तो पुस्तकों में है, न धार्मिक सिद्धांतों में। वह केवल अनुभूति में निवास करता है।" "धर्म अन्ध-विश्वास नहीं है, धर्म अलौकिकता में नहीं है, वह जीवन का अत्यंत स्वाभाविक तत्त्व है।" मनुष्य में पूर्णता की इच्छा है, अनन्त जीवन की कामना है, ज्ञान और आनन्द प्राप्त करने की चाह है। पूर्णता, ज्ञान और आनन्द, ये निचले स्तर पर नहीं हैं; उनकी खोज जीवन के उच्च स्तर पर की जानी चाहिए। जहां ऊँचा स्तर आता है, वहीं धर्म का आरम्भ होता है। "जीवन का स्तर जहां हीन है, इंद्रियों का आनन्द वहीं अत्यंत प्रखर होता है। खाने में जो उत्साह भेड़िये और कुत्ते दिखाते हैं, वह उत्साह मनुष्य में भोजन के समय नहीं दिखाई देता। कुत्तों और भेड़ियों का सारा आनन्द उनकी इंद्रियों में केन्द्रित होता है। इसी प्रकार, सभी देशों के निचले स्तर के मनुष्य इंद्रियों के आनन्द में अत्यंत उत्साह दिखाते हैं। किन्तु, जो सच्चे अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, उनके आनन्द का आधार विचार और कला होती है, दर्शन और विज्ञान होता है। किन्तु, आध्यात्मिकता तो और भी ऊँचे स्तर की चीज है, अतएव, इस स्तर का आनन्द भी अत्यंत सूक्ष्म और प्रचुर होता है।" यूरोप और अमेरिका के निवासियों पर स्वामी जी ने यह प्रभाव डालना चाहा कि व्यक्ति अथवा समूह के जीवन की सफलता उसकी आधिभौतिक समृद्धि अथवा बौद्धिक उपलब्धियों पर निर्भर नहीं करके आध्यात्मिक उन्नति पर निर्भर करती है। अतएव, मनुष्य को चाहिए कि पहले वह पवित्रता, भक्ति, विनयशीलता, सच्चाई, निःस्वार्थता और प्रेम का विकास करे, तथा बाद को अन्य

गुणों का।

यूरोप और अमेरिका में भोग की सामग्रियां प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थीं। इसलिए स्वामी जी ने वहां के निवासियों को संयम और त्याग की शिक्षा दी। किन्तु, भारत में दरिद्रता का साम्राज्य था, निर्धनता का नग्न वास था एवं यहां के लोग धनाभाव के कारण भी जीवन के ऊँचे गुणों से वियुक्त हो गए थे। अतएव, भारतवासियों को उन्होंने जो उपदेश दिया वह केवल धर्म के लिए नहीं था, प्रत्युत्, उन्होंने यहां के लोगों में असंतोष जगाना चाहा, उन्हें कर्म की भावना से आन्दोलित करने की चेष्टा की तथा शताब्दियों से आती हुई निवृत्ति की विषैली जंजीरों से मुक्त करके उन्होंने भारतवासियों को प्रवृत्ति के कर्म-मार्ग पर आरूढ़ करने का प्रयास किया। शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में भी स्वामी जी ने ईसाइयों के समक्ष निर्भीक गर्जना की थी, "तुम ईसाई लोग मूर्तिपूजकों की आत्मा के बचाव के लिए भारत में धर्म-प्रचारक भेजने को बहुत ही आतुर दीखते हो, किन्तु, इन मूर्तिपूजकों के शरीर को क्षुधा की ज्वाला से बचाने के लिए तुम क्या कर रहे हो? भयानक दुर्भिक्षों के समय लाखों भारतवासी निराहार मर गये, किन्तु, तुम ईसाइयों से कुछ भी नहीं बन पड़ा। भारत की भूमि पर तुम गिरजों पर गिरजे बनवाते जा रहे हो, किन्तु, तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि पूर्वी जगत की आकुल आवश्यकता रोटी है, धर्म नहीं। धर्म एशियावालों के पास अब भी बहुत है। वे दूसरों से धर्म का पाठ नहीं पढ़ना चाहते। जो जाति भूख से तड़प रही है, उसके आगे धर्म परोसना, उसका अपमान है। जो जाति रोटी को तरस रही है, उसके हाथ में दर्शन और धर्म-ग्रंथ रखना उसका मजाक उड़ाना है।"

कहते हैं,एक बार कोई नवयुवक स्वामी जी के पास गया और उनसे बोला, "स्वामी जी! मुझे गीता समझा दीजिये।" स्वामी जी ने सच्चे मन से कहा, "गीता समझने का वास्तविक स्थान फुटबाल का मैदान है। जाओ घंटे भर खेल-कूद लो। गीता तुम स्वयं समझ जाओगे।"

स्वामी विवेकानन्द संसार में घूमकर देख चुके थे कि नई मानवता कितनी उच्छल और बलवती है। उसकी तुलना में भारत के लोग उन्हें बौने और बीमार दिखाई दिये। अतएव, भारत में उनके अधिकांश उपदेश शारीरिक उन्नति, साहस, सेवा और कर्म की महत्ता सिद्ध करने को दिये गए। भारतवर्ष को वे क्षीण और कोमल-वपु संन्यासियों का देश बनाना नहीं चाहते थे। न उनका यही उद्देश्य था कि यहां के लोग शाकभोजी होकर धर्म की साधना करते हुए निर्धनता और गुलामी का दंश सहते हुए मौन रहें। अपने एक शिष्य द्वारा यह पूछे जाने पर कि संन्यासियों को मांस-मछली खाना चाहिए या नहीं, स्वामी जी ने कहा, "हां, निन्दा का भय माने विना मांस-मछली तुम जी भर खा सकते हो। शाक-पात खाकर जीने वाले आमाशय के रोगी साधुओं से सारा देश भर गया है। ये लक्षण सत्त्व के नहीं, भयानक तमस के हैं और तमस मृत्यु की कालिमा का नाम है। आकृति में दमकती हुई कांति, हृदय में अदम्य

उत्साह, कर्म-चेष्टा की विपुलता और उद्वेलित शक्ति, ये सत्त्व की पहचान हैं। इसके विपरीत तमस का लक्षण आलस्य और शैथिल्य है, अनुचित आसक्ति और निद्रा का मोह है। ... कौन भोजन शुद्ध और कौन अशुद्ध है, क्या इसी विचिकित्सा में जीवन बिता दोगे अथवा इंद्रिय-निग्रह का भी कुछ ध्यान है ? हमारा लक्ष्य इन्द्रियों का निग्रह है, मन को बस में लाना है। अच्छे और बुरे का भेद, शुद्ध और अशुद्ध का विचार इन्द्रिय-निग्रह नहीं, उस ध्येय के सहायक मात्र हैं।"

स्वामी जी बार-बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है। जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे साकार करना है। जन-जन में जो साहस और जो विवेक प्रच्छन्न है,हमें उसे बाहर लाना है। "मैं भारत में लोहे की मांस-पेशियां और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है जो शंपाओं एवं वज्रों से निर्मित होता है। शक्ति, पौरुष, क्षात्र-वीर्य और ब्रह्म-तेज इनके समन्वय से भारत की नई मानवता का निर्माण होना चाहिए।" "मृत्यु का ध्यान करो, प्रलय को अपनी समाधि में देखो, तथा महाभैरव रुद्र को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उसकी अर्चना से ही भय बस में आयेगा।...संभव हो तो जीवन को छोड़ कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र शिव से एकाकार हो जाओ।"

संस्कृति का ध्यान करते-करते भारत का स्वाभिमान जग चुका था। अब दूसरा सोपान उसकी वीरता, निर्भयता और बलिदान की भावना को जाग्रत करना था। स्वामी जी ने वीरता, बलिदान और निर्भयता की शिक्षाएँ भी धर्म से निकालीं एवं रुद्र-शिव तथा महाकाली को लोगों का आराध्य बना दिया। स्वामी जी की अहिंसा और वैराग्य-भावना में भी क्षात्र-धर्म का स्पर्श था। जिन विचारों, जिन धर्मों और आचारों से कायरता की वृद्धि एवं पौरुष का दलन होता है, स्वामी जी उनके अत्यन्त विरुद्ध थे। इसीलिए, बुद्ध की अहिंसा की स्वामी जी ने कभी भी खुल कर प्रशंसा नहीं की, बल्कि एक बार तो उन्होंने कह भी दिया कि बुद्ध की शिक्षाओं के पीछे, "भयानक दुर्बलता की छाया विद्यमान है।" स्वामी जी न तो धर्म-युद्ध के प्रेमी थे, न उनकी यही सम्मति थी कि क्रोध के प्रत्येक उफान पर मनुष्य को तलवार लेकर दौड़ना ही चाहिए। किन्तु, हिंसा को, कदाचित् वे सभी स्थितियों में त्याज्य नहीं मानते थे। एक बार उनसे किसी भक्त ने पूछा कि "महाराज ! कोई शक्तिशाली व्यक्ति यदि किसी दुर्बल का गला टीप रहा हो, तो हमें क्या करना चाहिए ?" स्वामी जी ने तड़ाक से उत्तर दिया, "क्यों ? बदले में उस शक्तिशाली की गर्दन टीप दो। क्षमा भी कमजोर होने पर अक्षम्य है, असत्य और अधर्म है। युद्ध उससे उत्तम धर्म है। क्षमा तभी करनी चाहिए जबकि तुम्हारी भुजा में विजय शक्ति वर्तमान हो।"

आधिभौतिकता ने भारत के सामने जो चुनौती रखी थी, उसका भी समीचीन उत्तर

विवेकानन्द ने दिया। वे उस प्रकार के सुधारक और संत थे जिनकी अनुभूति में पुराने धर्म नवीन रूप ग्रहण करते हैं। प्राचीन दर्शन की परतें छूटकर गिर जाती हैं और जंग लगे विचार धुलकर चमकने लगते हैं। वे इस बात को कब बर्दाश्त कर सकते थे कि परम्पराएँ भारत-बासियों की उन्नति का मार्ग रोकें, अथवा धर्म उन्हें निर्धन और गुलाम रहने को लाचार करे? उपनिषदों का उपदेश है कि सभी आत्माएँ एक हैं क्योंकि वे सबकी सब एक ही परब्रह्म के असंख्य प्रतिविम्ब मात्र हैं। इस सिद्धांत से स्वामी जी ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिसे परब्रह्म कहते हैं वह सभी जीवों के योग से अधिक नहीं है। अतएव, सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानव-बंधुओं की सेवा में अपने आपको लगा दें। जब पड़ोसी भूखा मरता हो, तब मन्दिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं, पाप है। जब मनुष्य दुर्बल और क्षीण हो तब हवन में घृत जलाना अमानुषिक कर्म है। "संसार के अगणित नर-नारियों में परमात्मा भाग्यमान है।" तथा "मेरे जीवन का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध संघर्ष करना है जो परलोक में आनन्द देने के बहाने इस लोक में मुझे रोटियों से वंचित रखता है, जो विधवाओं के आंसू पोंछने में असमर्थ है, जो मां-बाप से हीन बच्चे के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता।" केष्टा नामक संथाल को भोजन कराके उन्होंने कहा था, "तुम साक्षात् नारायण हो। आज मुझे संतोष है कि भगवान ने मेरे समक्ष भोजन किया।" वे कहते थे, "वास्तविक शिव की पूजा निर्धन और दरिद्र की पूजा है, रोगी और कमजोर की पूजा है।" निर्धनता, पुरोहितवाद और धार्मिक अत्याचार सिखाने वाले दर्शनों के स्वामी जी प्रचंड विरोधी थे। इसी प्रकार, धनियों के प्रति भी उनमें आदर का भाव नहीं था। "भारत की एकमात्र आशा उसकी जनता है। ऊँची श्रेणी के लोग तो शरीर और नैतिकता, दोनों ही दृष्टियों से मर चुके हैं।"

स्वामी जी स्वयं संन्यासी थे। संन्यासियों का एक बृहत् मठ भी उन्होंने ही खड़ा किया एवं समाजसेवी युवकों को वे अविवाहित रहने का उपदेश देते थे। किन्तु, गृहस्थों को वे हीन नहीं मानते थे। उलटे,उनका विचार था कि गृहस्थ भी ऊँचा और संन्यासी भी नीचा होसकता है। "मैं संन्यासी और गृहस्थ में कोई भेद नहीं करता। संन्यासी हो या गृहस्थ, जिसमें भी मुझे महत्ता, हृदय की विशालता और चरित्र की पवित्रता के दर्शन होते हैं, मेरा मस्तक उसी के सामने झुक जाता है।"

नारियों के प्रति उनमें असीम उदारता का भाव था। वे कहते थे, "ईसा अपूर्ण थे क्योंकि जिन बातों में उनका विश्वास था, उन्हें वे अपने जीवन में नहीं उतार सके। उनकी अपूर्णता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने नारियों को नरों के समकक्ष नहीं माना। असल में उन्हें यहूदी संस्कार जकड़े हुए था, इसीलिए, वे किसी भी नारी को अपनी शिष्या नहीं बना सके। इस मामले में बुद्ध उनसे श्रेष्ठ थे क्योंकि उन्होंने नारियों को भी भिक्षुणी होने का अधि-कार दिया। एक बार उनके एक शिष्य ने पूछा, "महाराज! बौद्ध मठों में भिक्षुणियां बहुत

रहती थीं। इसीलिए तो देश में अनाचार फैल गया।" स्वामी जी ने इस आलोचना का उत्तर नहीं दिया, किन्तु, वे बोले, "पता नहीं, इस देश में नारियों और नरों में इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदान्त तो यही सिखाता है कि सबमें एक ही आत्मा का वास है। तुम लोग नारियों की सदैव निन्दा ही करते रहते हो, किन्तु, कह सकते हो कि उनकी उन्नति के लिए अब तक तुमने क्या किया है ? स्मृतियां रचकर तथा गुलामी की कड़ियां गढ़कर पुरुषों ने नारियों को बच्चा जनने की मशीन बना कर छोड़ दिया। नारियां महाकाली की साकार प्रतिमाएँ हैं। यदि तुमने इन्हें ऊपर नहीं उठाया तो यह मत सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति का कोई अन्य मार्ग है। ... संसार की सभी जातियां नारियों का समुचित सम्मान करके ही महान् हुई हैं। जो जाति नारियों का सम्मान करना नहीं जानती वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।"

स्वामी जी हिन्दुत्व की शुद्धि के लिए उठे थे तथा उनका प्रधान क्षेत्र धर्म था। किन्तु, धर्म और संस्कृति, ये परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते चलते हैं। भारतवर्ष में राष्ट्रीय पतन के कई कारण आर्थिक और राजनीतिक थे। किन्तु, बहुत से कारण ऐसे भी थे जिनका धर्म से संबंध था। अतएव, स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का परिष्कार भारतीय समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर करना आरम्भ किया और इस प्रक्रिया में उन्होंने कड़ी से कड़ी बातें भी बड़ी ही निर्भीकता से कह दीं। "शक्ति का उपयोग केवल कल्याण के निमित्त होना चाहिए। जब उससे पाप का समर्थन किया जाता है, तब वह गर्हित हो जाती है। युगों से ब्राह्मण भारतीय संस्कृति का थातीदार रहा है। अब उसे इस संस्कृति को सबके पास विकीर्ण कर देना चाहिए। उसने इस संस्कृति को जनता में जाने से रोक रखा, इसीलिए, भारत पर मुसलमानों का आक्रमण संभाव्य हो सका। ब्राह्मण ने संस्कृति के भंडार पर ताला लगा रखा, जन-साधारण को उसमें से कुछ भी लेने नहीं दिया, इसीलिए हजारों साल तक जो भी जातियां भारत आ पड़ीं, हम उनके गुलाम होते गए। हमारे पतन का कारण ब्राह्मण की अनुदारता रही है। भारत के पास जो भी सांस्कृतिक कोष है, उसे जन-साधारण के कब्जे में जान दो। और चूंकि ब्राह्मण ने यह पाप किया था, इसलिए प्रायश्चित्त भी सबसे पहले उसी को करना है। सांप का काटा हुआ आदमी जी उठता है, यदि वही सांप आकर फिर से अपना जहर चूस ले। भारतीय समाज को ब्राह्मण-रूपी सर्प ने डसा है। यदि ब्राह्मण अपना विष वापस ले ले तो यह समाज अवश्य जी उठेगा।"

ऊँची और तथाकथित नीची जातियों के बीच सामाजिक पद-प्रतिष्ठा को लेकर जो संघर्ष है, स्वामी जी ने उससे पैदा होने वाले खतरों पर भी विचार किया था। इस संबंध में उनका समाधान यह था कि यदि ब्राह्मण कहलाने से सभी जातियों को संतोष होता है तो उचित है कि वे अपनी-अपनी सभाओं में यह घोषणा कर दें कि हम ब्राह्मण हैं। इससे भारत

को बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त होगी। एक तो देश में जातियों का भेद आप से आप समाप्त हो जायगा, दूसरे सभी वर्ण के लोग ब्राह्मण संस्कृति को स्वीकार करके आज के सांस्कृतिक धरातल से स्वयमेव ऊपर उठ जायेंगे। हां, स्वामी जी का यह भी विचार था कि रुपए चाहे जिस विद्या से भी प्राप्त हो जायँ, किन्तु, सामाजिक प्रतिष्ठा भारतवर्ष में अब भी संस्कृत भाषा के ज्ञान से मिलती है। अतएव, जो भी भारतवासी ब्राह्मण की प्रतिष्ठा वाला पद प्राप्त करना चाहता है, उसे संस्कृत में दक्षता अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

भारतीय एकता का महत्त्व स्वामी जी ने जनता के समक्ष अत्यन्त सुस्पष्ट रूप में रखा। "अथर्व वेद में एक मंत्र है जिसका अर्थ होता है कि मन से एक बनो, विचार से एक बनो। प्राचीन काल में देवताओं का मन एक हुआ तभी से वे नैवेद्य के अधिकारी रहे हैं। मनुष्य देवताओं की अर्चना इसलिए करते हैं कि देवताओं का मन एक है। मन से एक होना समाज के अस्तित्व का सार है। किन्तु, द्रविड़ और आर्य, ब्राह्मण और अब्राह्मण, इन तुच्छ विवादों में पड़कर तुम जितना ही झगड़ते जाओगे, तुम्हारी शक्ति उतनी ही क्षीण होती जायेगी। तुम्हारा संकल्प एकता से उतना ही दूर पड़ता जायगा। स्मरण रखो कि शक्ति-संचय और संकल्प की एकता, इन्हीं पर भारत का भविष्य निर्भर करता है। जब तक महान् कार्यों के लिए तुम अपनी शक्तियों का संचय नहीं करते, जब तक एकमन होकर तुम आत्मोद्धार के कार्य में नहीं लगते, तब तक तुम्हारा कल्याण नहीं है। प्रत्येक चीनी अपने ही ढंग पर सोचता है, किन्तु, मुट्ठी भर जापानियों का मन एक है। इसके जो परिणाम निकले हैं, उन्हें तुम भली-भांति जानते हो। विश्व के समग्र इतिहास में यही होता आया है।" व्यावहारिक नेता के समान स्वामीजी ने भारतीयों के चरित्र के एक भीषण दोष पर अपनी उँगली रखी और काफी जोर देकर कहा कि "हमारे देशवासियों में से कोई व्यक्ति जब ऊपर उठने की चेष्टा करता है, तब हम सब लोग उसे नीचे घसीटना चाहते हैं, किन्तु, यदि कोई विदेशी आकर हमें ठोकर मारता है, तो हम समझते हैं, यह ठीक है। हमें इन तुच्छताओं की आदत पड़ गई है। लेकिन, अब गुलामों को अपना मालिक आप बनना है। इसलिए, दास-भावना को छोड़ दो। अगले पचास वर्षों तक भारतमाता को छोड़कर हमें और किसी का ध्यान नहीं करना है। भारतमाता को छोड़ कर और सभी देवता झूठे हैं। उन्हें अपने मन से निकाल कर फेंक दो। यही देवी, यही हमारी जाति वास्तविक देवी है। सर्वत्र उसके हाथ दिखाई पड़ते हैं, सर्वत्र उसके पांव विराजमान हैं, सर्वत्र उसके कान हैं और सब कुछ पर उसी देवी का प्रतिविम्ब छाया हुआ है। बाकी जितने देवता हैं, नींद में हैं। यह विराट् देवता हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसे छोड़कर हम और किस देवता की पूजा करेंगे?"

धर्म-साधना के लोभ में जीवन से भागकर गुफा में नाक-कान दबाकर प्राणायाम करने की परम्परा की भारत में बड़ी महिमा थी। स्वामी विवेकानन्द ने इस परम्परा की

महिमा एक झटके में उड़ा दी। "आधा मील की खाई तो हमसे पार नहीं की जाती, मगर, हनुमान के समान हम समग्र सिन्धु को लांघ जाना चाहते हैं। यह होने वाली बात नहीं है। हर आदमी योगी बने, हर आदमी समाधि में चला जाय, यह गलत बात है। यह असंभव है, यह अकरणीय है। दिन भर कर्म-संकुल विश्व के साथ मिलन और संघर्ष, तथा संध्या समय बैठकर प्राणायाम! क्या यह इतना सरल कार्य है? तुमने तीन बार नाक बजायी है, तीन बार नासिका से भीतर की वायु को बाहर किया है, तो क्या इतने से ही ऋषिगण आकाश से होकर तुम्हारे पास चले आयेंगे? क्या यह भी कोई मजाक है? ये सारी बेवकूफी की बातें हैं। जिस चीज की जरूरत है वह है चित्त शुद्धि और चित्त शुद्धि कैसे होगी? सबसे पहली पूजा विराट् की होनी चाहिए, उन असंख्य मानवों की जो तुम्हारे चारों ओर फैले हुए हैं। संसार में जितने भी मनुष्य और जीव-जन्तु हैं, सभी परमात्मा हैं, सभी परब्रह्म के रूप हैं। और इनमें भी सर्वप्रथम हमें अपने देशवासियों की पूजा करनी चाहिए। आपस में ईर्ष्या-द्वेष रखने के बदले, आपस में झगड़ा और विवाद करने के बदले तुम परस्पर एक दूसरे की अर्चना करो, एक दूसरे से प्रेम रखो। हम जानते हैं कि किन कर्मों ने हमारा सर्वनाश किया, किन्तु, फिर भी हमारी आंखें नहीं खुलतीं।"

गांधी, रवीन्द्रनाथ, राधाकृष्णन् और जवाहरलाल में हम इस आशा को गतिशील पाते हैं कि भारत के पास जो संदेश है, भारत के पास जो दीर्घकालीन अनुभव है, उससे सारे विश्व का कल्याण हो सकता है। एशिया साधनहीन और दुखी, किन्तु, यूरोप समृद्ध एवं असंतुष्ट है। एशिया उच्च जीवन की कामना लिये अनेक दुर्गतियों को झेलता आ रहा है। यूरोप ने दुर्गतियों पर तो विजय प्राप्त कर ली, किन्तु, उच्च जीवन की राह उसे, मानों, मिली ही नहीं। विश्व का कल्याण इसमें है कि एशिया यूरोप की आधिभौतिकता को ग्रहण करे और इस प्रकार ग्रहण करे कि उसकी मानसिकता को आंच नहीं आये। इसी प्रकार यूरोप के दुर्दांत शरीर के भीतर जो आत्मा सोती जा रही है, उसे जगकर सचेष्ट होना चाहिए। यूरोप का यह आत्मिक जागरण एशिया की संगति से आयेगा। स्वामी जी की दृष्टि इस आवश्यकता पर भी पड़ी थी और जब सारा भारतवर्ष यूरोप के चाकचिक्य से मोहित हो रहा था, तब उन्होंने घोषणा की कि जीवन का धर्म आदान-प्रदान है। क्या यह अच्छा होगा कि हम सदैव पश्चिम वालों के चरणों के पास बैठ कर सब कुछ, यहां तक कि धर्म भी, सीखते रहें! क्या हम केवल लेते ही रहेंगे? देना हमें कुछ भी नहीं है? पश्चिम से हम यंत्रवाद की शिक्षा ले सकते हैं। और भी कई बातें अच्छी हैं, जिन्हें पश्चिम से ग्रहण करना आवश्यक दीखता है। किन्तु, हमें उन्हें कुछ सिखाना भी है। हम उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा दे सकते हैं। विश्व-सभ्यता अभी अधूरी है। पूर्ण होने के लिए वह भारत की राह देख रही है। वह भारत की उस आध्यात्मिक संपत्ति की प्रतीक्षा में है, जो

पतन, गन्दगी और भ्रष्टाचार के होते हुए भी भारत के हृदय में जीवित और अक्षुण्ण है। ... इसलिए संकीर्णता को छोड़कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिम वालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के विना मैत्री संभव नहीं होती और समानता वहां आयेगी कहां से जहां एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है और दूसरा उसका सनातन शिष्य ?"

हिन्दुत्व का प्रबल समर्थक होने पर भी स्वामी विवेकानन्द में इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था। उनके गुरु परमहंस रामकृष्ण ने तो छः महीनों तक विधिवत् मुसलमान होकर इस्लाम की साधना भी की थी। इस संस्कार के कारण इस्लाम के प्रति उनका दृष्टिकोण यथेष्ट रूप से उदार था। उन्होंने कहा है कि "यह तो कर्म का फल था कि भारत को दूसरी जातियों ने गुलाम बनाया। किन्तु, भारत ने भी अपने विजेताओं में से प्रत्येक पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। मुसलमान इस प्रक्रिया के अपवाद नहीं हैं। शिक्षित मुसलमान, प्रायः सूफी होते हैं जिनके विश्वास हिन्दुओं के विश्वास से भिन्न नहीं होते। इस्लामी संस्कृति के भीतर भी हिन्दू विचार प्रविष्ट हो गए हैं। विख्यात मोगल सम्राट् अकबर हिन्दुत्व के काफी समीप था। यही नहीं, प्रत्युत, काल-क्रम में इंग्लैण्ड पर भी भारत का प्रभाव पड़ेगा।"

सिस्टर निवेदिता की पुस्तक (माइ मास्टर) में इस बात का उल्लेख है कि एक बार स्वामी जी तीन-चार दिनों की एकान्त समाधि से लौटकर निवेदिता से बोले, "मेरे मन में यह सोचकर बराबर क्षोभ उठता था कि मुसलमानों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को क्यों तोड़ा, उनके देवी-देवताओं की मूर्तियों को क्यों भ्रष्ट किया। किन्तु, आज माता ने (काली ने) मेरे मन को आश्वस्त कर दिया। उन्होंने मुझसे कहा, "अपनी मूर्तियों को मैं कायम रखूं या तुड़वा दूं, यह मेरी इच्छा है। इन बातों पर सोच-सोचकर तू क्यों दुःखी होता है ?"

इस्लाम और हिन्दुत्व के मिलन का महत्त्व स्वामी जी ने एक और उच्च स्तर पर बतलाया है। सामान्यतः, वेदान्त ज्ञान का विषय समझा जाता है, जिसमें त्याग और वैराग्य की बातें अनिवार्य रूप वे आ जाती हैं किन्तु, इस्लाम, मुख्यतः भक्ति का मार्ग है तथा हजरत मुहम्मद का पंथ देह-दंडन, संन्यास और वैराग्य को महत्त्व नहीं देता। किन्तु, स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या का वेदान्त निवृत्ति से मुक्त शुद्ध प्रवृत्ति का मार्ग था एवं तात्त्विक दृष्टि से इस्लाम के प्रवृत्तिमार्ग से उसका कोई विरोध नहीं रह गया था। इसलिए, स्वामी जी की कल्पना थी कि इस्लाम की व्यावहारिकता को आत्मसात् किये विना वेदान्त के सिद्धांत जनता के लिए उपयोगी नहीं हो सकते। सन् १८९८ ई० में उन्होंने एक चिटठी में यह भी लिखा था कि "हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो धर्म, हिन्दुत्व और

इस्लाम, मिलकर एक हो जायँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।" भारत में विश्व-धर्म, विश्व-बन्धुत्व और विश्ववाद की भावना का आरंभ राममोहनराय की अनुभूतियों में हुआ था एवं उन्होंने हिन्दू धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत की, वह विश्वधर्म की भूमिका से तनिक भी कम नहीं थी। मुक्त चिन्तन, वैयक्तिक स्वातंत्र्य और प्रत्येक प्रकार का विश्वास रखकर भी धर्म-च्युत नहीं होने की योग्यता, हिन्दू धर्म के ये पुराने लक्षण रहे हैं। हिन्दू नास्तिक भी रहा है और आस्तिक भी, साकारवादी भी रहा है और निराकारवादी भी, उसने महावीर का भी आदर किया है और बुद्ध का भी ; उसने वेदों को अपौरुषेय भी माना है और सादि भी। विश्वासों में यह जो प्रचंड भिन्नता है, उससे हिन्दू का हिन्दुत्त्व दूषित नहीं होता। हिन्दू जन्म से ही उदार होता है एवं किसी एक विचार पर सभी को लाठी से हांककर पहुँचाने में वह विश्वास नहीं करता। जब थियोसोफिस्ट लोग हिन्दुत्व का प्रचार करने लगे तब हिन्दुत्व का यह सार्वभौम पक्ष कुछ और विकसित हो गया। और रामकृष्ण ने तो बारी-बारी से मुसलमान और क्रिस्तान होकर इस सत्य पर अपनी अनुभूति की मुहर लगा दी कि संसार के सभी धर्म एक हैं, उनके बीच किसी प्रकार का भेद-भाव मानना नितान्त अज्ञता की बात है। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के सार्वभौम रूप का और भी व्यापक विस्तार किया। संसार में जो अनेक धर्म फैले हुए हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने कहा कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु, देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियां अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है, एवं देश-देश में उसके भी अनेक रूप हैं।

संसार के धर्मों में एकता कैसे लायी जाय; इसका समाधान नहीं मिलता। प्राचीन काल में अनेक लोग यह मानते थे कि जो धर्म सबसे अच्छा हो, संसार भर के मनुष्यों को उसी धर्म में दीक्षित हो जाना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म के लोग अपने ही धर्म का व्यापक प्रचार करने लगे जिनमें से इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारकों ने सबसे अधिक उत्साह दिखलाया। शिकागो में जो विश्व-धर्म-सम्मेलन हुआ था, उसका भी एक आशय यह था कि संसार में सर्वोत्तम धर्म कौन-सा है, इसका निर्णय कर लिया जाय। किन्तु, उस सम्मेलन में स्वामी जी ने अपना जो विचार रखा, उससे सभी प्रतिनिधि चमत्कृत हो उठे। उन्होंने कहा कि "धार्मिक एकता कैसे हो, इस बात की यहां काफी विचिकित्सा हुई है। इस संबंध में मेरा जो अपना मतवाद है, उसे प्रस्तुत करने का साहस मैं नहीं करूँगा। किन्तु, इतना कहना आवश्यक है कि यदि कोई व्यक्ति यह समझता हो कि धार्मिक एकता का मार्ग एक धर्म की विजय और बाकी का विनाश है, तो मैं उससे निवेदन करूँगा, कि बन्धु! तुम्हारी आशा पूरी नहीं होगी।" क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी ईसाई हिन्दू हो जायँ? भगवान करे कि ऐसा नहीं हो। क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी हिन्दू और बौद्ध

ईसाई हो जायँ ? ईश्वर न करे कि ऐसा हो। ··· ईसाई को हिन्दू या बौद्ध तथा हिन्दू और बौद्ध को ईसाई नहीं होना है। किन्तु, इनमें से प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि वह अन्य धर्मों का सार अपने भीतर पचा ले और अपनी वैयक्तिता की पूर्ण रूप से रक्षा करते हुए उन नियमों के अनुसार अपना विकास खोजे, जो उसके अपने नियम रहे हैं।" अन्यत्र उन्होंने कहा है, "आत्मा की भाषा एक है, किन्तु, जातियों की भाषायें अनेक होती हैं। धर्म आत्मा की वाणी है। वही वाणी अनेक जातियों की विविध भाषाओं तथा रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त हो रही है।"

धर्म को स्वामी जी व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी मानते थे। धर्म के विरुद्ध संसार में जो भयानक प्रतिक्रिया उठी है, उसका निदान वह यह देते थे कि दोष धर्म का नहीं, धर्म के गलत प्रयोग का है। ठीक वैसे ही जैसे विज्ञान से उठने वाली भीषणताओं का दायित्व विज्ञान पर नहीं होकर उन लोगों पर है जो विज्ञान का गलत उपयोग करते हैं। स्वामी जी का विचार था कि "धर्म को समाज पर जिस ढंग से लागू किया जाना चाहिए था, उस ढंग से वह लागू किया ही नहीं गया है।" हिन्दू अपनी सारी धार्मिक योजनाओं को कार्य के रूप में परिणित करने में असफल भले ही रहा हो, किन्तु, यदि कभी भी कोई विश्व-धर्म जैसा धर्म उत्पन्न होने वाला है तो व हिन्दुत्व के ही समान होगा जो देश और काल में कहीं भी सीमित या आबद्ध नहीं होगा, जो परमात्मा के समान ही अनन्त और निर्बंध होगा तथा जिसके सूर्य का प्रकाश कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, सन्तों और अपराधियों पर एक समान चमकेगा। यह धर्म न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई होगा, न मुसलमानी, प्रत्युत, वह इन सबके योग और सामञ्जस्य से उत्पन्न होगा।"

विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति की जो सेवा की, उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। उनके उपदेशों से भारतवासियों ने यह सीखा कि भारतवर्ष का अतीत इतना उज्ज्वल और महान् है कि उसके प्रति गौरव और अभिमान होना ही चाहिए। उनके उपदेशों से हमें यह ज्ञान हुआ कि हमारी प्राचीन संस्कृति प्राणपूर्ण एवं आज भी विश्व का कल्याण करने वाली है। अंगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू, जो अपने धर्म और संस्कृति की खिल्ली उड़ाने में ही अपनी सार्थकता समझते थे, विवेकानन्द के उपदेशों और कर्तृत्व से ही अन्तिम बार पराजित हुए। यह भी हुआ कि विवेकानन्द के उपदेशों से ही भारतवासी अपने पतन की गहराई माप सके, अपने शारीरिक क्षय एवं आधिभौतिक विनाश, अपनी क्रिया-विमुखता और आलस्य तथा अपने पौरुष के भयानक ह्रास को पहचान सके। और विवेकानन्द की वाणी में ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ एवं लोगों में अपने भविष्य के प्रति उज्ज्वल आशा संचरित हुई। "साहस का सूर्य उदित हो चुका है, भारत का उत्थान अवश्य होगा।···किसी में यह दम नहीं है कि वह अब भारत को रोक सके। भारत अब फिर से निद्रा में नहीं पड़ेगा।

यह भीमाकार देश फिर से अपने पांवों पर खड़ा हो रहा है।"

जब नरेन्द्रनाथ परमहंस रामकृष्ण की संगति में आये, तो रामकृष्ण ने उनकी प्रतिभा को फौरन पहचान लिया। एक बार परमहंस जी ने कहा था, जिस एक शक्ति के उत्कर्ष के कारण केशव जगद्विख्यात हुआ है, वैसी अठारह शक्तियों का नरेन्द्र में पूर्ण उत्कर्ष है।" स्वयं नरेन्द्रनाथ के समक्ष प्रार्थना की मुद्रा में रामकृष्ण ने कहा था, "प्रभो ! मुझे मालूम है कि तू पुरातन नारायण ऋषि है, और जीवों की दुर्गति का निवारण करने के लिए पुनः शरीर धारण करके आया है।" यह भक्त की परम्परागत भाषा है। किन्तु, विवेकानन्द की प्रतिभा लोकोत्तर थी, यह हम भी कह सकते हैं। वर्तमान भारत जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसका सारा आख्यान विवेकानन्द कह चुके थे। बाद के महात्मा और नेता उस ध्येय को कार्य का रूप देने का प्रयास करते रहे हैं। जिस स्वप्न के कवि विवेकानन्द थे, गांधी और जवाहरलाल उसके इंजीनियर हुए हैं।

प्रवृत्ति का उत्थान; लोकमान्य तिलक

यूरोपीय सभ्यता और विचारधारा से भारत का जो संपर्क हुआ उसका सबसे कल्याणकारी प्रभाव प्रवृत्ति की दिशा में पड़ा। प्रवृत्ति का अर्थ है 'संन्यास न लेकर मरण-पर्यन्त चातुर्वर्ण्य-विहित निष्काम कर्म' करते जाना। प्रवृत्तिवादी विश्व को निस्सार नहीं मानता, न उसका यही भाव होता है कि मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य ध्यान और समाधि है। इसके विपरीत, निवृत्ति का मार्ग संन्यास का मार्ग है, कर्म-त्याग का मार्ग है एवं निवृत्तिवादी यह मानता है कि विश्व माया है, सारहीन है, 'कुछ नहीं' में कुछ का भ्रम है; अतएव, मनुष्य का चरम लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह संन्यास लेकर अपने मोक्ष की खोज करे तथा लोक का त्याग करके परलोक को सुधारने की चेष्टा में मग्न हो जाय। यह पिछला दृष्टिकोण भारत का सबसे बड़ा शाप प्रमाणित हुआ और इसी दर्शन में आ-सक्त रहने के कारण भारतवासियों ने लोक की उपेक्षा कर दी। कहावत प्रसिद्ध है कि जब यूरोप वाले जीवन के व्यूह में प्रविष्ट होकर रस और आनन्द का उपभोग करते रहे, पूर्व के लोग, विशेषत: भारतवासी, अंधेरे में भटकते हुए जीवन के अर्थ की खोज करते रहे हैं।

भारत का वैदिक काल जीवन के प्रति आस्था का काल था। वैदिक आर्य मरणोत्तर आरंभ होने वाले जीवन की कल्पना में बहुत ग्रस्त नहीं थे। तब, उपनिषदों का युग आया और समाज में संन्यास की भावना फैलने लगी। किन्तु, उपनिषदों के युग में भी प्रवृत्ति का एक आदर्श जनक के व्यक्तित्व में विकसित हुआ जिसका लक्ष्य यह था कि संसार का कोई भी कर्म इतना गर्हित नहीं है कि उसे करते हुए हम मोक्ष से वंचित रह जायें। योग को भोग में निहित रखो अथवा यह कि सच्चा योग वह है जो भोग के भीतर भी अक्षुण्ण रहता है। यह जनक के जीवन की सबसे बड़ी शिक्षा थी। किन्तु, औपनिषदिक विचारधारा से जब बौद्ध और जैन धर्म निकले, तब उन्होंने संन्यास को बहुत अधिक महत्त्व दे डाला एवं लोका-राधना का महत्त्व उसी परिमाण में न्यून हो गया। तब से भारतवासी कर्म को हीन, गार्हस्थ्य को मलिन तथा संन्यास को देदीप्यमान कर्म समझने के आदी हो गये। बौद्ध और जैन विचारधाराओं का प्रभाव हिन्दुत्व पर भी पड़ा और उसी के फलस्वरूप प्रस्थानत्रयी की टीका निवृत्ति की सिद्धि के लिए की जाने लगी। परिणाम यह हुआ कि हजारों वर्ष तक यह सुनते-सुनते कि गार्हस्थ्य हीन एवं संन्यास उच्च धर्म है, भारत के गृहस्थ भी विचारों से संन्यासी हो गये। एवं समाज में फैले हुए अविचारों तथा देश पर आने वाली विपत्तियों का सामना करने की अपेक्षा वे सदैव मन्दिरों में आरती सजाने तथा प्राणायामपूर्वक मोक्ष

खोजने को अपना महत कर्म मानने लगे।

किन्तु, उन्नीसवीं सदी में जो सांस्कृतिक नवोत्थान हुआ, उससे भारतीयों की आंखें खुल गईं और वे स्पष्ट देखने लगे कि संपूर्ण इतिहास में उनका सब से बड़ा दोष इसी निवृत्ति की उपासना थी। अतएव, इस नवोत्थान के सभी नेताओं ने यह घोषणा की कि प्रवृत्ति का मार्ग जीवन पर विजय का मार्ग है एवं जो भी निवृत्ति की ओर जाता है वह, वास्तव में, पलायनवादी होकर जीवन से भाग रहा है। वेदान्त को लोग संन्यास का पन्थ मानते आये थे। किन्तु, स्वामी विवेकानन्द के मुख से वही वेदान्त घोर कर्मनिष्ठा का समर्थक बन कर उतरा तथा हिन्दुत्व का सारा दर्शन उनकी वाणी में प्रवृत्तिवादी हो उठा। किन्तु, इस दिशा में, दर्शन के स्तर पर, सबसे बड़ा काम लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने किया जिनका गीता-विषयक ग्रन्थ **कर्मयोगशास्त्र** अभिनव-हिन्दुत्व का सर्वश्रेष्ठ आचार-ग्रन्थ माना जाता है। वास्तव में, राममोहन से लेकर विवेकानन्द तक, भारतीय दर्शन में जो विपुल मंथन हुआ था, कर्म-योग-शास्त्र में हम उसका तर्कसम्मत दार्शनिक रूप देखते हैं। यह ग्रन्थ हिन्दुत्व की उस अवस्था का परिचायक है जबकि यूरोपीय संस्कृति की टकराहट से उठने वाला कंपन समाप्त हो जाता है एवं हिन्दुत्व नवीन जन्म ग्रहण करके अपने अनुयायियों को नई परिस्थितियों से लोहा लेने का उपदेश देता है।

स्वामी विवेकानन्द और तिलक समकालीन थे, किन्तु, स्वामी जी, प्रधानतः, धर्म के मनुष्य थे एवं उनका उद्देश्य मनुष्य-मनुष्य को समीप लाकर विश्व-मानव के जन्म को संभव बनाना था। अतएव, विश्व-मानवता के जो गुण उन्हें भासित हुए, उन्हें हिन्दुत्व में प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया से ही उन्होंने उसका सुधार किया। किन्तु, तिलकजी, प्रधानतः, समाज और राजनीति के पुरुष थे तथा विश्ववाद से उन्हें अधिक प्रेम नहीं था। वे हिन्दुओं की पतनशीलता से दु.खी थे, वे पराधीनता से क्षुब्ध थे। वे हिन्दू जाति की निवृत्ति-भावना से आकुल और उसकी कर्त्तव्य-विमुखता से अधीर थे। अतएव, गीता की व्याख्या के बहाने उन्होंने समस्त हिन्दू-दर्शन को मथकर उसे नवीन कर दिया तथा हिन्दू-जाति में वह प्रेरणा भर दी जिससे मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय पाता है, जिससे कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विनिश्चय में दार्शनिक सूक्ष्मताएं उसके मार्ग का अवरोध नहीं कर सकतीं तथा जिससे वह परिस्थितियों के अनुसार धर्माधर्म का ठीक-ठीक समाधान कर पाता है। हिन्दुओं की पराजयों में से अनेक का कारण यह था कि व्यवहार और धर्म में द्वंद्व उपस्थित होने पर हिन्दू किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते थे। तिलकजी ने कर्मयोगशास्त्र के द्वारा हिन्दुओं की यह द्विधा दूर कर दी एवं उन्हें इस योग्य बना दिया कि ऐसे द्वन्द्व के समय वे धर्म के व्यावहारिक पक्ष का सहारा ले सकें।

वेद, वेदान्त और गीता, ये हिन्दुओं के प्रधान ग्रन्थ रहे हैं तथा समय-समय पर

हिन्दुत्व के भीतर जो भी सन्त और सुधारक उत्पन्न हुए, उनमें से कइयों ने इन तीनों पर टीकाएं लिखकर हिन्दुत्व को उस दिशा की ओर मोड़े की कोशिश की जिधर वे उसे ले जाना चाहते थे। तिलकजी ने इन तीनों में से केवल गीता को लिया क्योंकि वेद और वेदान्त के अपेक्षाकृत पीछे छूट जाने पर भी गीता का हिन्दुओं के घर-घर में प्रचार था और उसकी व्याख्या के द्वारा ही तिलकजी हिन्दुओं के भीतर नई मानसिकता उत्पन्न करना चाहते थे।

बौद्ध धर्म के पतन के बाद, भारतवर्ष में, वैदिक धर्म के जो अनेक संप्रदाय उत्पन्न हुए (जैसे अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी और द्वैत तथा त्रैतवादी) उनमें से प्रत्येक संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर टीकाएं लिखीं। इनमें से शंकराचार्यकृत टीकाओं का भारत में व्यापक प्रचार हुआ, प्रत्युत, यह कहना चाहिए कि बौद्ध धर्म के दलन के बाद, हिन्दुत्व का जो रूप प्रचलित हुआ वह वही था जिसका आख्यान शंकराचार्य ने किया था। किन्तु, शंकर भी वैदिक धर्म के प्रवृत्तिमार्गी रूप को जनता के समक्ष नहीं ला सके। उन्होंने श्रुति-स्मृति-सम्मत वैदिक धर्म की रक्षा करते हुए जिन दार्शनिक विचारों को उत्थान दिया वे निवृत्ति के विचार थे। उन्होंने जिस धर्म को जनता के सम्मुख रखा वह उपनिषदों का संन्यास धर्म था। स्मृतियों में गृहस्थ के जो कर्त्तव्य बताये गये हैं, उन्हें शंकराचार्य ने आवश्यक तो बताया, किन्तु, उन्होंने यह भी कहा कि "इन कर्मों का आचरण सदैव न करते रहना चाहिए, क्योंकि इनका त्याग करके, अन्त में, संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। इसका कारण यह है कि कर्म और ज्ञान, अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर विरोधी हैं, इसलिए, सब कर्मों और वासनाओं से छूटे बिना ब्रह्म ज्ञान की पूर्णता नहीं हो सकती।" यही निवृत्ति का मार्ग है और इसी को संन्यास-निष्ठा तथा ज्ञान-निष्ठा भी कहते हैं। शंकराचार्य ने उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र की टीकाओं में इसी ज्ञान-मार्ग का निरूपण किया तथा गीता पर जो शांकर भाष्य है वह भी यही शिक्षा देता है कि गीता का मार्ग संन्यास का मार्ग है, संसार-त्याग और कर्म-न्यास का मार्ग है। गीता जब पहले-पहल लिखी गई थी तब, शायद, वह संन्यास का समर्थन नहीं करती थी। किन्तु, शंकराचार्य ने उसकी जो व्याख्या प्रस्तुत की उससे सभी के हृदय पर यह बात बैठ गई कि गीता का उपदेश केवल योग और ज्ञान का उपदेश है तथा उसमें प्रयुक्त योग का अर्थ सांसारिक कर्म नहीं, केवल साधना और समाधि है। तिलकजी का विचार है कि "गीता के प्रवृत्ति-विषयक रूप को निकाल बाहर करके उसे निवृत्ति-मार्ग का सांप्रदायिक रूप शांकर भाष्य के द्वारा ही मिला है।"

शंकराचार्य के बाद भी, गीता पर कई टीकाएं लिखी गई, किन्तु, किसी भी टीका में यह भाव प्रत्यक्ष नहीं हो सका कि गीता प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन देती है अथवा वह कर्म की विरोधी नहीं है। रामानजाचार्य ने प्रस्थानत्रयी की टीका से यह तो सिद्ध किया कि

शंकराचार्य का माया-मिथ्यावाद और अद्वैत सिद्धान्त, दोनों झूठे हैं, किन्तु, गीता में प्रवृत्ति की प्रेरणा अथवा कर्म के लिए स्थान है, इसे वे भी स्वीकार नहीं कर सके। "शांकर संप्रदाय के अद्वैत-ज्ञान के बदले विशिष्टाद्वैत और संन्यास के बदले भक्ति स्थापित करके रामानुजाचार्य ने भेद तो किया, परन्तु, आचार-दृष्टि से उन्होंने भक्ति ही को अन्तिम कर्त्तव्य माना है, इससे वर्णाश्रम-विहित सांसारिक कर्मों का मरण-पर्यन्त किया जाना गौण हो जाता है और यह कहा जा सकता है कि गीता का रामानुजीय तात्पर्य भी, एक प्रकार से, कर्म-संन्यास-विषयक ही है। कारण यह है कि कर्माचरण से चित्त-शुद्धि होने के बाद ज्ञान की प्राप्ति होने पर, चतुर्थाश्रम स्वीकार करके ब्रह्म-चिन्तन में निमग्न रहना या प्रेमपूर्वक निस्सीम वासुदेव-भक्ति में तत्पर रहना कर्मयोग की दृष्टि से एक ही बात है। ये दोनों मार्ग निवृत्ति-विषयक ही हैं।" इसी प्रकार, माध्वाचार्य ने भी अपने गीता-भाष्य में यह बताया कि यद्यपि गीता में निष्काम कर्म के महत्त्व का वर्णन है, तथापि वह केवल साधन है; अन्तिम निष्ठा तो केवल भक्ति है। भक्ति की सिद्धि हो जाने पर कर्म करना और न करना समान हो जाता है। और यही हाल वल्लभाचार्यजी का रहा क्योंकि उन्होंने भी पुष्टि-मार्ग में परमात्मा के अनुग्रह को ही सब कुछ माना एवं "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" वाले श्लोक से यह अर्थ निकाला कि भगवदनुग्रह प्राप्त होने पर कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

गीता की टीकाओं में महात्मा ज्ञानेश्वर-कृत भाष्य (ज्ञानेश्वरी) का भी बड़ा नाम है। किन्तु, ज्ञानेश्वर महाराज का भी यही कहना है कि गीता में सांसारिक कर्मों का समर्थन नहीं है। वह मुख्यतः योग का ग्रन्थ है और भगवान ने अर्जुन को सर्वतोभावेन योगी होने की शिक्षा दी है। ज्ञानेश्वर स्वयं योगी थे, अतएव, योग को उन्होंने 'पथराज' कहा है एवं यह माना है कि गीता की सब से बड़ी शिक्षा योग ही है।

सारांश यह कि हिन्दू धर्म के जितने भी आचार्य हुए, उनमें से किसी ने भी यह नहीं कहा कि गृहस्थ के कर्म भी धार्मिक कर्म हो सकते हैं अथवा यह कि गृहस्थ भी अपने आप में पूर्ण मनुष्य है। परंपरा से एक बात देश में चली आ रही थी कि जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष संन्यास से प्राप्त होता है। स्पष्ट ही, यह सिद्धान्त गृहस्थ के पद को नीचे ले जाने वाला सिद्धान्त है। गार्हस्थ्य को लोग बहुत कुछ अनिवार्य हीनता के रूप में देखते थे तथा प्रत्येक गृहस्थ के मन में यह भाव रहता था कि कब उसे सुयोग मिले कि वह संन्यासी हो जाय। भक्तों और योगियों ने संन्यास के स्थान पर भक्ति और योग को अवश्य प्रतिष्ठित किया किन्तु, जहां तक सांसारिक कर्मों का संबंध था, सभी ने उन्हें त्याज्य ही बताया। योगी और संन्यासी तो प्रत्यक्ष ही गृहस्थ धर्म से दूर थे। रह गये भक्त, सो, उनमें भी कर्मचेष्टा उद्दामता तक जा ही नहीं सकती थी, क्योंकि भक्त के हृदय में भी यह कामना तो रहती ही

थी कि बाल-बच्चों की चिंता और सांसारिक कर्मों के जाल से आदमी जितना ही शीघ्र मुक्ति पाये, उसके लिए उतना ही अच्छा होगा। मूल्यों की दृष्टि से देखें तो संन्यास, भक्ति और योग, ये सभी पन्थ गृहस्थ के मूल्य को गिराने वाले थे, क्योंकि, सब के सब यह मान कर चलते थे कि गार्हस्थ्य निश्चित रूप से त्याज्य है। हां, गार्हस्थ्य को छोड़कर व्यक्ति क्या करे, इस संबंध में उनके अलग-अलग सिद्धान्त अवश्य थे। एक तो गृहस्थों को संन्यासी बनाना चाहता था, दूसरा योगी और तीसरा भक्त। किन्तु, कोई भी पन्थ कर्मठ गृहस्थ को योगी, संन्यासी अथवा भक्त के समकक्ष मानने को तैयार नहीं था। यह अवस्था, बहुत कुछ, उपनिषदों के समय से आ रही थी। बौद्धों ने उसके ज़हर को और भी बढ़ा दिया था। तथा शंकराचार्य और उनके बाद के वैष्णवाचार्य, यद्यपि, यह सोचते होंगे कि निवृत्ति को ग्राह्य बताकर हिन्दुत्व की वे रक्षा कर रहे हैं, किन्तु, दर्शन के भीतर जो विष पहुंच गया था उससे हिन्दुओं की रक्षा इनमें से कोई भी नहीं कर सका। यह कार्य विवेकानन्द और, उनसे भी अधिक, लोकमान्य तिलक के लिए रुका हुआ था तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दुत्व के भीतर प्रविष्ट जिस कालकूट को किसी भी तत्त्वचिंतक की दृष्टि नहीं देख सकी थी, उसे तिलक की आंखों ने देख लिया। तिलकजी ने उसे केवल देखा ही नहीं, प्रत्युत, अपनी प्रखर बुद्धि से उसे उन्होंने दूर भी कर दिया। इसीलिए, हमारा मत है कि गीता एक बार तो भगवान् कृष्ण के मुख से कही गई। किन्तु, दूसरी बार उसका सच्चा आख्यान लोकमान्य ने ही किया है। इन दोनों के बीच की अन्य सारी टीकाएं और व्याख्याएं गीता के सत्य पर केवल बादल बन कर छाती रही हैं।

सदियों से चली आती हुई परंपराओं के विरुद्ध 'गीता रहस्य' में तिलकजी ने सुस्पष्ट घोषणा की कि गीता का उद्देश्य निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति का प्रतिपादन है। "भारतीय युद्ध का आरंभ होने के पहले जब कुरुक्षेत्र में दोनों पक्षों की सेनाएं लड़ाई के लिए सुसज्जित हो गई थीं और जब एक-दूसरे पर शस्त्र चलने ही वाला था कि इतने में अर्जुन ब्रह्म-ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें बतलाने लगा और विमनस्क होकर संन्यास लेने को तैयार हो गया। तभी, उसे क्षात्र-धर्म में प्रवृत्त करने के लिए भगवान् ने गीता का उपदेश दिया है।.... भगवान श्री कृष्ण का यह उद्देश्य नहीं था कि अर्जुन संन्यास-दीक्षा लेकर और वैरागी बनकर भीख मांगता फिरे या लंगोटी लगाकर और नीम के पत्ते खाकर मृत्यु-पर्यन्त हिमाचल में योगाभ्यास साधता रहे। भगवान् का यह भी उद्देश्य नहीं था कि अर्जुन धनुष-बाण को फेंक दे और हाथ में वीणा तथा मृदंग लेकर कुरुक्षेत्र की धर्म-भूमि में उपस्थित भारतीय क्षात्र-समाज के सामने, भगवन्नाम का उच्चारण करता हुआ, बृहन्नला के समान और एक बार अपना नाच दिखावे।" योग और भक्ति में अकर्मण्यता का जो पुट है, उसकी ओर हिन्दू-जाति का ध्यान पहले-पहल तिलक जी ने ही आकृष्ट किया। ऊपर के उद्धरण में योग

और भक्ति पर जो सूक्ष्म व्यंग्य हैं, वे तिलक महाराज के इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हैं ।

निवृत्तिवादियों ने हिन्दुओं को पग-पग पर अहिंसा बरतने को कहा था, जीवन के आनन्द से मुख फेर लेने का उपदेश दिया था एवं संसार को निस्सार बताकर उसके कर्माकर्म से तटस्थ रहने की शिक्षा दी थी । परिणाम यह हुआ कि उच्च मानवता की खोज करते-करते हिन्दू सामान्य मानवता भी खो बैठे । अन्याय का प्रतिकार, पराधीनता का उच्छेदन और स्वाभिमान की रक्षा, ये महान् उद्देश्य हैं, किन्तु, अति धार्मिक मनुष्य के लिए ये कर्म रुचिकर नहीं कहे जा सकते । परोपकार के निमित्त आत्म-नाश का वरण यदि श्रेष्ठ कर्म है तो फिर धर्म यही है कि हम पर चाहे जो बीते, किन्तु, हम हाथ नहीं उठायेंगे । हिन्दू-जाति इस अति-धार्मिकता के महाजाल में फंसी हुई थी । तिलकजी ने पहले पहल उसके सामने धर्म का व्यावहारिक पक्ष उपस्थित किया और उसे यह बात समझायी कि धर्म वही नहीं है जो स्मृतियों में लिखा हुआ है, प्रत्युत, योग्य उपायों के द्वारा आत्म-रक्षा का प्रयास एवं अन्याय का विरोध भी धर्म का ही अंग है । "किसी की हिंसा मत करो, नीति से चलो, सच बोलो, गुरु और बड़ों का सम्मान करो, चोरी और व्यभिचार मत करो इत्यादि, सब धर्मों में पायी जाने वाली साधारण आज्ञाओं का यदि पालन किया जाय तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के झगड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु, इसके विरुद्ध यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि जब तक इस संसार के सब लोग उक्त आज्ञाओं के अनुसार बर्ताव करने नहीं लगते हैं तब तक सज्जनों को क्या करना चाहिए ? क्या ये लोग अपने सदाचार के कारण दुष्ट जनों के फन्दे में अपने को फंसा लें ? या अपनी रक्षा के लिए 'जैसे को तैसा' होकर उन लोगों का प्रतिकार करें ।* यद्यपि उक्त साधारण नियमों को नित्य और प्रमाण-भूत मान भी लें, तथापि कार्यकर्त्ताओं को अनेक बार ऐसे मौके आते हैं कि उस समय उक्त साधारण नियमों में से दो या अधिक नियम एकदम लागू होते हैं । उस समय 'यह करूं या वह करूं' इस चिन्ता में पड़कर मनुष्य पागल-सा हो जाता है । . . . . अहिंसा धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ माना गया है । परन्तु अब कल्पना कीजिए कि हमारी जान लेने के लिए या हमारी स्त्री या कन्या पर बलात्कार करने के लिए अथवा हमारे घर में आग लगाने के लिए या हमारा धन छीनने के लिए कोई दुष्ट मनुष्य हाथ में शस्त्र लेकर तैयार हो जाय और उस समय हमारी रक्षा करने वाला कोई न हो तो उस समय हमको क्या करना चाहिए ? क्या 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर ऐसे आततायी मनुष्य की उपेक्षा की जाय ? यदि वह सीधी तरह नहीं माने तो यथाशक्ति उसका शासन किया जाय ? मनुजी कहते हैं:—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।।

* शठम् प्रति शाठ्यं इति तिलकः । शठं प्रत्यपि सत्यं इति गान्धिः । (गांधीसूत्रम्)

अर्थात् ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्य को अवश्य मार डाले, किन्तु यह विचार न करे कि वह गुरु है, बूढ़ा है, बालक है या विद्वान् ब्राह्मण है। शास्त्रकार कहते हैं (मनु ८।३५०) कि ऐसे समय हत्या करने का पाप हत्या करने वाले को नहीं लगता, आततायी मनुष्य अपने ही अधर्म से मारा जाता है। .... इस जगत् में ऐसे-ऐसे सूक्ष्म जन्तु हैं जिनका अस्तित्व यद्यपि नेत्रों से दीख नहीं पड़ता तथापि तर्क से सिद्ध है। ऐसे जन्तु इतने हैं कि हम अपनी आंखों की पलक हिलावें उतने ही से उन जन्तुओं का नाश हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि हम मुख से कहते रहें कि 'हिंसा मत करो, हिंसा मत करो' तो उससे क्या लाभ होगा ? .... अहिंसा धर्म के साथ क्षमा, दया, शान्ति आदि गुण शास्त्रों में कहे गये हैं परन्तु सब समय शान्ति से कैसे काम चल सकेगा ? सदा शान्त रहने वाले मनुष्यों के बाल-बच्चों को भी दुष्ट लोग हरण किये विना नहीं रहेंगे। .... न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा । तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता ।*

गांधी-युग के भारतीयों को तिलकजी का यह कर्माकर्म विचार अपूर्ण दीखता है। अपूर्ण इसलिए कि कर्तव्य की जिस कल्पना का आख्यान तिलकजी ने किया है वह बहुत दिनों से संसार में आचरित होती रही है और उसी का यह परिणाम है कि संसार में युद्ध आज भी चल रहे हैं। सभी लोग यदि यही सोचें कि मुझे जो आंखें दिखायेगा उसकी आंखें निकाल लूंगा तो फिर युद्ध की इति हो चुकी ! किन्तु दूसरा प्रश्न यह है कि व्यक्ति तो दूसरों को अपनी आंखें निकाल लेने दे, किन्तु, क्या समाज को भी उसका अनुकरण करना चाहिए ? परन्तु, यदि सभी समाज एक से उन्मत्त रहे तो विश्व में शान्ति कैसे आयेगी ? प्रश्न बड़ा विकट है। यह प्राचीन असिव्रत पालन करने के समान है। यह ज्वालाओं में बैठ कर यह दिखाने का प्रयास करना है कि मैं जल नहीं रहा हूं। गांधीजी का प्रयोग नष्ट नहीं हुआ। उससे जो परिणाम निकले हैं उन्हें पाथेय मानकर स्वतंत्र भारत की वैदेशिक नीति चल रही है। शंकाएं अब भी हैं। किन्तु, यह प्रयोग बड़ी-बड़ी संभावनाओं से भी युक्त है। इसके विपरीत, तिलकजी ने जो विश्लेषण प्रस्तुत किया था वह भी अभी नष्ट नहीं हुआ है। भारत से बाहर तो आज भी उसी नीति का बोलबाला है।

ये आज की बातें हैं। किन्तु, जिस समय तिलकजी का आविर्भाव हुआ, उस समय उस तिलक के ये उपदेश वीरता, निर्भीकता और सचाई के सब से बड़े उपदेश थे। हिन्दू-जाति लोकमान्य की चिर ऋणी रहेगी कि निवृत्ति का आलस छुड़ाकर उन्होंने उसे प्रवृत्ति के पथ पर लगा दिया। जातियां जैसे दर्शनों में विश्वास करती हैं, उनका स्वभाव भी वैसा ही हो जाता है, उनका आचरण और साहित्य भी वही रूप ले लेता है। यही कारण है कि जब कि हमारा अधिकांश प्राचीन साहित्य हमें जीवन से विमुख करने का काम करता था,

* गीता-रहस्य।

आज का सारा-का-सारा भारतीय साहित्य मनुष्यों को जीवन पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दे रहा है ।

योग शब्द का सामान्य अर्थ भारत में प्राणायाम और हठ योग किया जाता था । तिलकजीने ही यह बतलाया कि योग का अर्थ गीता में कर्म है । "योगी और कर्मयोगी, दोनों शब्द गीता में सामानार्थक हैं और इनका अर्थ युक्ति से कर्म करने वाला होता है । बड़े भारी कर्मयोग शब्द का प्रयोग करने के बदले गीता और महाभारत में छोटे-से योग शब्द का ही अधिक उपयोग किया गया है । . . . . महाभारत में भी योग और ज्ञान, दोनों शब्दों के विषय में स्पष्ट लिखा है, 'प्रवृत्तिर्लक्षणो योगः ज्ञानं संन्यास लक्षणम् ।' . . . . अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित में यह दिखलाने के लिए कि गृहस्थाश्रम में रहकर भी मोक्ष की प्राप्ति कैसे की जा सकती है, जनक का उदाहरण दिया है । जनक के दिखलाये हुए मार्ग का नाम योग है । इसलिए, गीता के योग शब्द का भी यही अर्थ लगाना चाहिए । क्योंकि गीता के अनुसार (३।२०) जनक का ही मार्ग उसमें प्रतिपादित किया गया है ।"

पृथ्वी का स्वर्गीकरण; महायोगी अरविन्द

हिन्दू नवोत्थान का विवरण अधूरा रह जाय यदि उसमें अरविन्द की साधना का उल्लेख नहीं हो। किन्तु, उनकी साधना का विश्लेषण आसान नहीं है। भौतिक क्षेत्र में आइन्स्टीन के सापेक्षवाद की व्याख्या जितनी कठोर है, अध्यात्म में अरविन्द के अतिमानव और अतिमानस की व्याख्या भी उतनी ही दुरूह सिद्ध हुई है। अरविन्द, आरम्भ में, अंगरेजी के कवि और चिन्तक तथा देश के प्रतापी राजनीतिक नेता थे। कदाचित् उनकी आध्यात्मिक साधना तब भी भीतर-भीतर चल रही थी। वे तेजस्वी पत्रकार भी थे और एक समय उनके पत्र 'वन्देमातरम्' ने देश के भीतर उग्र राष्ट्रीयता के उद्‌बोधन की दिशा में बड़ा ही अद्‌भुत काम किया था। आज देश के जो भी बड़े-बूढ़े नेता जीवित हैं उनके हृदयों में 'वन्दे-मातरम्' द्वारा ही देश-भक्ति की पहली हिलकोर उठी थी। अरविन्द पर आतंकवादी होने का आरोप करके सरकार ने उनपर मुकदमा भी चलाया था। किन्तु, उस मुकदमे से वे निर्दोष छूट गये। इसी बीच, उनके भीतर आध्यात्मिक प्रेरणाएं उद्‌बुद्ध हो उठीं एवं उन्होंने राजनीति को छोड़कर आध्यात्मिक साधनाओं में अपने को मग्न कर दिया।

अरविन्द के आविर्भाव का काल भारत में राष्ट्रीयता के आरंभिक ताप का काल था। यूरोप के आगमन और संपर्क से हिन्दुत्व में जो कंपकंपी जगी थी, वह अब खत्म हो चुकी थी एवं कुछ तो पुरातत्व की प्रगति से भारत के उज्ज्वल अतीत के साकार हो उठने के कारण, और कुछ दयानन्द और विवेकानन्द के द्वारा भारतवासियों में स्वाभिमान जगाने के प्रयास से, हिन्दू अब यूरोप के सामने मस्तक झुकाने के बदले, गर्व से सिर तानने लगे थे। यह वह समय था जब इटली के राष्ट्रीय नेता मैजिनी के विचार भारत में जोर से फैलने लगे थे और भारतवासियों का भी यह विश्वास हो चला था कि प्रत्येक जाति का कोई न कोई सन्देश होता है जिसे समग्र विश्व को उसे देना ही चाहिए। मैजिनी का कहना था कि जातियां जब तक पराधीन रहती हैं, उनका व्यक्तित्व दबा रहता है तथा जो सन्देश उनके पास निहित हैं उनकी अभिव्यक्ति पराधीनता के काल में नहीं की जा सकती। इसलिए, आवश्यक है कि जातियां पराधीनता से मुक्ति पायें और तब विश्व के निमित्त उनके पास जो संदेश हैं उन्हें अपने आचरणों के द्वारा अभिव्यक्त करें। भारतवासी जान चुके थे कि यूरोप की उन्नति, यद्यपि, श्लाघनीय और काम्य है, किन्तु, वह मनुष्य का सम्पूर्ण ध्येय नहीं हो सकती। मनुष्य का सम्पूर्ण ध्येय तो अपने चौकोर व्यक्तित्व का निर्माण होना चाहिए जिससे कि वह बाहर और भीतर के दोनों जगतों में सम्यक् रूप से अपना विकास कर

सके। यूरोप में बाह्य समृद्धि बहुत काफी थी, किन्तु, भीतर से वह रिक्त दीख रहा था। अतएव, भारत के विचारकों में यह चेतना जगने लगी कि हो न हो, यूरोप की पीड़ाओं का समाधान उसके आभ्यंतर विकास से होगा और यह आभ्यंतर विकास केवल भारत दे सकता है। तभी से, भारत के कवि, विचारक और संत यह संकेत देते आ रहे हैं कि यूरोप का अनुकरण हमें काफी सावधान रह कर करना है; कहीं ऐसा न हो कि अपने आपको यूरोपीय बनाने के प्रयास में भारतवासी उन मूल्यों को ही खो बैठें जो भारत के अपने मूल्य हैं, जिनका प्रयोग भारत में सदियों से होता आया है और जिनकी ओर चंचलता से पीड़ित विश्व इस आशा से देख रहा है, मानों, इन मूल्यों की स्वीकृति से उसकी पीड़ाएं मिट सकती हों।

विश्ववाद की कल्पना का सूत्रपात भारत में राममोहन राय ने किया था और विवेकानन्द में आकर यह कल्पना प्रत्यक्ष रूप ले चुकी थी। परमहंस रामकृष्ण ने बारी-बारी से इस्लाम, ईसाइयत और हिन्दुत्व के अनेक पंथों की साधना करके यह अनुभव प्राप्त कर लिया था कि सभी धर्म समान हैं तथा सब के द्वारा मनुष्य का आध्यात्मिक उत्थान हो सकता है। वस्तुतः, राममोहन से लेकर रामकृष्ण तक हिन्दुत्व ने अपने भीतर जो संशोधन स्वीकार किया उससे उसकी प्राचीनता की परतें झर गयी थीं और वह विश्व-धर्म की भूमिका बन गया था। भारतीय सुधारकों की विशेषता यह रही कि हिन्दुत्व का सुधार उन्होंने इस दृष्टि से नहीं किया कि उन्हें केवल भारतीय समस्याओं का समाधान करना था, प्रत्युत्, इस दृष्टि से कि हिन्दुत्व का नवीन रूप उपस्थित करके वे समग्र विश्व को यह सन्देश देना चाहते थे कि यदि अपनी विविधताओं में सामंजस्य चाहते हो तो इसका मार्ग वह है जिसे भारत ने अपनाया है तथा यदि आधिभौतिक समृद्धियों के बीच भी तुम्हारे मन को शान्ति नहीं मिलती तो कुछ उस पंथ पर भी विचार करो जिसे हजारों वर्ष से भारत-वासियों ने जुगा रखा है।

श्री अरविन्द पर विवेकानन्द और रामकृष्ण—दोनों का प्रभाव था, किन्तु, अपनी समस्त बौद्धिकता को लिये हुए भी वे विवेकानन्द से अधिक रामकृष्ण के समान थे। सन्त तो विवेकानन्द भी थे, किन्तु, भगवान का भरोसा करने से अधिक वे मनुष्य के भीतर कर्म-भावना को जगाना चाहते थे। किन्तु, अरविन्द में दिव्य शक्ति के भरोसे काम करने का भाव अधिक था। विवेकानन्द की दृष्टि भारत के आधिभौतिक उत्थान पर थी और उन्होंने धर्म को यह कहकर ग्राह्य बनाना चाहा कि धर्म आधिभौतिक उन्नति का बाधक नहीं है। आरंभ में, अरविन्द भी, कदाचित्, यही चाहते थे, किन्तु, साधना-मन्दिर में पहुंचते ही उनकी दृष्टि भारत से निकलकर मानव जाति पर जा पड़ी और वे उन दुर्बलताओं के मूल में पहुंच गये जिनके कारण मनुष्य शोषण करता है, लोभ में आकर दूसरों को दुःख देता है, दूसरों को अपनी पराधीनता में रखता है, तथा विविध इच्छाओं की अधीनता में रहकर स्वयं भी

दुःखी तथा अशान्त रहता है। विश्व-पीड़ाओं का निदान और समाधान घोषित करते हुए उन्होंने कहा कि "मानव-जाति की मुक्ति का मार्ग यह है कि व्यक्ति और समाज के भीतर जो संभावनाएं छिपी हुई हैं उनका विकास आज की अपेक्षा अधिक सावधानता एवं अधिक विवेक से किया जाय। यूरोप की कुशल यह मानने में है कि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक है। इसी प्रकार, एशिया का कल्याण यह स्वीकार करने में है कि जीवन और मन की भौतिक स्थितियां सत्य हैं क्योंकि उनके जीवन के आध्यात्मिक ध्येय को कार्य में परिणत करने का आधार नहीं मिल सकता। मनुष्य की चिन्तन-शक्ति के समान सब से बड़ी समस्या यह है कि वह इस बात का पता लगाये कि मानव-जीवन का सम्यक् आदर्श क्या हो सकता है तथा भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सम्यक् सामंजस्य स्थापित करने का उपाय क्या है? मनुष्य के भीतर प्राचीन काल से जो सनातन सत्य गूंजता आया है उसे अभिव्यक्ति मिलनी चाहिए जिससे वह हमारी आधिभौतिक प्रवृत्तियों को प्रभावित कर सके, उनके भीतर अपनी व्याप्तियां फैला सके। मनोवैज्ञानिक आत्मानुशासन तथा आत्म-विकास के गंभीर साधन क्या हो सकते हैं, इस पर मनुष्य को विचार करना है तथा उनके विकास से अपने मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक जीवन को इस योग्य बनाना है कि उनके द्वारा जीवन के आध्यात्मिक ध्येय की अभिव्यक्ति हो सके।"

अरविन्द को सारा विश्व रूपान्तरण की अवस्था से गुज़रता दिखाई पड़ा। उन्होंने कहा है कि इस रूपान्तरण के वेग का केन्द्र, यद्यपि, प्रगतिशील यूरोप है, किन्तु, पूर्वी विश्व भी इस मंथनशील विचार-समुद्र की ओर बड़ी ही तेजी से खिंचता जा रहा है तथा इस क्रम में पुराने विचार और पुरानी संस्थाएं टूटती जा रही हैं। "कोई भी देश या जाति अब विश्व से अलग नहीं रह सकती। इस युग की प्रधान समस्या यह है कि मनुष्य की भावी प्रगति आधुनिक जगत् की आर्थिक एवं आधिभौतिक बुद्धि के नेतृत्व में होगी जो पश्चिम का गुण है अथवा उस आध्यात्मिक संस्कृति और ज्ञान के अनुशासन में जो बुद्धि से ऊंची और आर्थिक विचारों से श्रेष्ठ है।" अरविन्द आधिभौतिकता का तिरस्कार नहीं करते, न यूरोप की समृद्धियों को ही वे दुर्गुण मानते हैं। उनका मत है कि जैसे सारा संसार बदल रहा है, उसी प्रकार भारत को भी बदलना ही चाहिए। भारत भौतिक समृद्धि से हीन है, यद्यपि, उसके जर्जर शरीर में आध्यात्मिकता का तेज वास करता है। यह देश यदि पश्चिम की शक्तियों को ग्रहण करे और अपनी शक्तियों का भी विनाश नहीं होने दे तो उसके भीतर से जिस संस्कृति का उदय होगा वह अखिल विश्व के लिए कल्याणकारिणी होगी, वास्तव में, वही संस्कृति विश्व की अगली संस्कृति बनेगी।

बुद्धि को विकास का आवश्यक सोपान मानते हुए भी अरविन्द उसे शंका से देखते हैं। आज की बुद्धि मनुष्य के सारे ध्यान को आर्थिक और भौतिक जीवन पर केन्द्रित किये

हुए हैं। परिणाम यह है कि मनुष्य एक प्रकार की सुसभ्य बर्बरता के गर्त के कगारे पर आ बैठा है। मनुष्य के भीतर भविष्य की कल्पना मुरझा गयी है, उसके सामने अध्यात्म की झांकी नहीं रह गयी है, वह अपने आगे के मार्ग को देखने में असमर्थ हो रहा है। उसकी मानसिक शक्तियों का प्रबल विकास अवश्य हुआ है, किन्तु, ये शक्तियां मानव के उस अहं की दासी हो रही हैं जो स्वयं अंधा है, जो स्वयं अंधी इच्छाओं और वासनाओं के इशारों पर नाच रहा है। विज्ञान ने मनुष्य के चरणों पर जो अपरिमेय शक्ति रख दी है उससे मनुष्य का आधि-भौतिक जीवन तो एक हो गया है, किन्तु, उसके आभ्यंतर जीवन की एकता का मार्ग उसे नहीं सूझ रहा है। उलटे, मनुष्य का सारा जीवन इच्छाओं की बेचैनी और विचारों के कोलाहल से पूर्ण है। संसार में सर्वत्र व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सुख, आनन्द और संतोष प्राप्त करने के परस्पर-विरोधी अधिकारों को लेकर आपस में टकरा रहे हैं। संसार में तरह-तरह के नारे सुनायी पड़ रहे हैं और लोग प्रत्येक नारे के लिए मरने और मारने को तैयार हैं तथा सब के सब इसी भ्रम में उत्साह दिखला रहे हैं, मानों, उनका आदर्श, सचमुच, सब से महान् हो।

आदर्श और विचारों की इस अराजकता से विश्व को ऊपर ले जाने का जो मार्ग अरविन्द को दिखाई पड़ा है वह विकास की महान् प्रक्रिया का मार्ग है। अरविन्द यह नहीं मानते कि छोटे-मोटे उपदेशों अथवा आचरण के सामान्य नियमों पर ज़ोर देने से मनुष्य सुधर सकता है। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार भूत से जीवन और जीवन से मानसकी उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार, मानस से अब **अतिमानस** का विकास होना चाहिए। मानस अथवा बुद्धि के स्तर पर मनुष्य यथेष्ट समय तक रह चुका, अब विकास की प्रक्रिया में उसे एक और नया कदम उठाना चाहिए। यह कदम जिस स्तर पर पड़ने वाला है उसका नाम अरविन्द **अतिमानस** का स्तर देते हैं, जहां पहुंच कर मनुष्य को यह समझना नहीं पड़ेगा कि प्रत्येक अन्य मनुष्य उसका अपना ही अंश है, प्रत्युत, इस सत्य को वह स्वयं अनुभव कर लेगा। अतिनामस की कल्पना क्या है, यह बात आसानी से समझायी नहीं जा सकती। यह, कदाचित्, वह अवस्था है जब मनुष्य की जानकारी सूचना की स्थिति से ऊपर उठ जायगी, जब मनुष्य तर्कों से किसी बात को समझने के बदले उसे प्रत्यक्ष रूप से जान लेगा जैसे हम आंखों-देखी चीज को बुद्धि की प्रक्रिया से समझने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते हैं। अतिमानस के उदय होने पर मानस समाप्त हो जायगा, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य भूत से निकलकर जीव-कोटि में आया और सोचने की शक्ति पाकर वह जीव-कोटि से भी ऊपर उठ कर मानव-कोटि में आ गया है। फिर भी, भूत उसके साथ है और जीव तो वह है ही। किन्तु, उसका व्यक्तित्व पशुओं से भिन्न हो गया है क्योंकि पशु सोच नहीं सकते, और, मनुष्य सोच सकता है। सोचने की शक्ति ही मानस है और मानस अतिमानसी के भी

साथ रहेगा। किन्तु, मानस की शक्तियां सीमित हैं और मन अज्ञान की दिशा में भी सोचने का आदी रहा है। अतिमानस की सार्थकता यह होगी कि मनुष्य सोचने में गलती नहीं करेगा, प्रत्युत, कहना यह चाहिये कि उसका प्रत्येक ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान का रूप ले लेगा जिस से मन को भूल करने का अवसर ही नहीं मिलेगा। इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए अरविन्द कहते हैं, "व्यक्तियों में सर्वथा नवीन चेतना का संचार करो; उनके अस्तित्व के समग्र रूप को बदलो जिससे पृथ्वी पर नये जीवन का समारम्भ हो सके।"

स्पष्ट ही, मनुष्य समाज को इस स्थिति में ले जाने के लिए उन मूल्यों को कसकर पकड़ने की आवश्यकता है जिनके प्रतीक धर्म और अध्यात्म हैं। धर्महीन बुद्धि की आराधना से जो फल निकलते हैं उनका स्वाद संसार काफी ले चुका। इस आराधना में और देर तक लगे रहने का परिणाम सर्व-विनाश होगा। अतएव, अरविन्द मनुष्यों के सामने दो विकल्प रखते हैं। निरे तर्क और बुद्धि पर आश्रित होने का परिणाम तुमने देख लिया। अब कुछ उन संभावनाओं की भी परीक्षा करो जिन तक मनुष्य आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को जगा कर जा सकता है। बुद्धि सीमित है। वह जब भी किसी वस्तु की परीक्षा करती है, उससे अलग रह कर करती है। इससे वस्तुओं के आभ्यंतर संबंधों का उसे पता नहीं चलता और मनुष्य अंश को संपूर्ण मानकर गलती कर जाता है। *अरविंद कहते हैं कि मनुष्य चाहे तो इस गलती से बच सकता है क्योंकि ज्ञान के और भी साधन मनुष्य को सुलभ हैं जिनमें दैवी शक्ति से एकाकार होकर विश्व के आभ्यंतर अर्थ तक पहुंचने का मार्ग सबसे सही मार्ग है। बुद्धि के विरुद्ध अरविन्द की सब से बड़ी शंका इस बात को लेकर है कि बुद्धि से अर्जित ज्ञान सतह पर का ज्ञान होता है। साथ ही, बुद्धि विश्लेषण की पद्धति पर चलती है एवं वस्तुओं का संश्लिष्ट ज्ञान उसे प्राप्त नहीं हो पाता। वस्तुओं के विश्लिष्ट एवं विभक्त रूपों को अरविन्द सत्य नहीं मानते। उन्हें वे अवास्तविक वास्तविकता का नाम देते हैं। इसीलिए, विज्ञान की उपलब्धियों से उन्हें संतोष नहीं है। ये सारी उपलब्धियां विभाजन के दोष से पूर्ण हैं। असल में, सारा जीवन निखिल ब्रह्माण्ड एक है और इस एकत्व का ज्ञान अध्यात्मपोषित सहज ज्ञान से ही होता है।

भारत पर अरविन्द की अचल भक्ति का भी कारण यही है कि इस देश में जो द्रष्टा

---

*"मस्तिष्क उसका नाम है जो कुछ नहीं जानता है, जो जानने की कोशिश तो करता है, किन्तु, असल में कुछ जान नहीं पाता। उसे जो कुछ दिखलायी पड़ता है, वह धूमिल दर्पण में पड़ने वाली धुंधली छाया के समान है। तब भी इस शक्ति का एक उपयोग है कि वह सांसारिक व्यवहार के प्रसंग में सार्वभौम सत्य की एक प्रकार की सीमित व्याख्या कर सकती है। किन्तु, सार्वभौम सत्य का न तो उसे परिचय प्राप्त है, न उसका वह पथ-प्रदर्शन ही कर सकती है।" (लाइफ डिवाइन)

और संत हुए उनका सत्यान्वेषण का मार्ग बुद्धि नहीं, सहज ज्ञान का मार्ग था, विश्लेषण नहीं, संश्लेषण का मार्ग था। उन्होंने जिस सत्य को प्राप्त किया, सभी इन्द्रियों की गवाही में प्राप्त किया। केवल तर्क और ऊहा को वे अपूर्ण मानते थे और सत्य की जब तक पूरी अनुभूति उन्हें नहीं हो जाती, वे अपने अनुसंधानों के परिणाम विश्व को नहीं सुनाते थे।*

जिस प्रवृत्ति-मार्ग का आख्यान तिलक और विवेकानन्द ने किया, अरविन्द में भी उसका खंडन नहीं मिलता है। जड़वादी कहता है कि दृश्य के परे और कुछ नहीं है, इसलिए, दृश्य जगत् के सुखों का खुल कर भोग करना ही श्रेयस्कर कार्य है। इसके विपरीत, निवृत्ति-मार्गी मानता है कि दृश्य माया है, वह नश्वर और निस्सार है, तथा सच्चे सुख का देश वह है जो मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होता है; अतएव, उचित यह है कि हम दृश्य के लोभ में न पड़ें तथा जीवन की जो आवश्यकताएं छोड़ी जा सकती हैं, उन्हें छोड़ते ही चले जायं। अरविन्द दोनों की सार्थकता मानते हुए भी मनुष्य को दोनों से आगे जाने का उपदेश देते हैं। सच्चिदानन्द सर्वत्र विद्यमान है। भेद केवल यह है कि निचले स्तर पर (जड़ तत्व में) वह सोता हुआ है, अचेतन अथवा अवचेतन का आवरण लिये हुए है। किन्तु, उसकी अवज्ञा भी सच्चिदानन्द की ही अवज्ञा है। जड़वादी और वैरागी, दोनों के मार्ग सीमित और अपूर्ण हैं। जड़वाद आत्मा के विरुद्ध भूत का विद्रोह है। इसी प्रकार, निवृत्ति या वैराग्यवाद भूत के विरुद्ध आत्मा का विद्रोह कहा जा सकता है। सच तो यह है कि आत्मा का स्वतंत्र होकर फैलने का दावा उतना ही उचित है जितना भूत या द्रव्य का यह आग्रह कि वह आत्मा की इस उड़ान का सांचा या आधार बनेगा।

ये कुछ स्थूल बातें हैं जो अरविन्द-साहित्य के पाठकों की पकड़ में आसानी से आ जाती हैं। किन्तु, हमारा विचार यह है कि इतने से अरविन्द की वह महत्ता सिद्ध नहीं होती, जिसका अनुमान उनकी भुवन-व्यापिनी कीर्ति से होता है। अरविन्द जन-साधारण के संत या दार्शनिक नहीं हैं, न सामान्य पाठक उन्हें अपना कवि ही मान सकता है। वे उन विद्वानों, चिंतकों और दार्शनिकों के विचारक और संत हैं जो प्रत्येक देश में वहां की जनता के वैचारिक नेता समझे जाते हैं, जो मानवता के नवनीत और विश्व-विचारों के स्तम्भ हैं। अतएव, मनुष्य की समस्याओं का उन्होंने कोई न कोई ऐसा समाधान अवश्य उपस्थित किया होगा जो अब

---

* "भारत में सहज-ज्ञान का उद्भव पहले हुआ और बौद्धिक शक्तियों का विकास बाद को, जब दर्शन और विज्ञान रचने का समय आया। वैदिक युग की पीठ पर ही भारत में वह युग आया जिसे हम दर्शन और बौद्धिकता के विस्फोट का काल कह सकते हैं। किन्तु इस युग में भी विचारों के आधार आध्यात्मिक थे एवं जिन आध्यात्मिक सत्यों को लोग पहले सहज ज्ञान से जान चुके थे, उन्हीं का परिचय अब वे नये ढंग से बुद्धि द्वारा कर रहे थे।"
('आर्य' से)

तक किसी भी संत, साधक या उपदेष्टा को दिखाई नहीं पड़ा था।

मनुष्य की समस्याएँ दो प्रकार की हैं। एक समस्या शरीर की है जिसका समाधान रोटी और वस्त्र तथा अन्य आधिभौतिक सुविधाएँ मानी जा सकती हैं। किन्तु, सब प्रकार से सुखी मनुष्य भी दुःख, दौर्मनस्य, रोग, शोक, जरा और मरण का शिकार होता है। इस समस्या का समाधान न तो रोटी और वस्त्र, न मोटर और महल ही हो सकते हैं। प्राचीन और मध्यकालीन विश्व शारीरिक समस्याओं से अधिक अपनी आध्यात्मिक समस्याओं को प्रमुख मानता था। इसी से, उस समय अध्यात्म-विद्या का सभी देशों में विकास हुआ। तब विज्ञान का उत्थान हुआ और मनुष्य मानने लगा कि जो सत्य प्रयोगशाला में परखा नहीं जा सकता, डाक्टर के स्टेथस्कोप और सर्जन की छुरी से छुआ नहीं जा सकता, वह या तो सत्य ही नहीं है अथवा है तो ऐसा है जिसकी ओर मनुष्य को ध्यान नहीं देना चाहिए। और विज्ञान ज्यों-ज्यों नई विजय प्राप्त करता गया, त्यों-त्यों अधिकाधिक मनुष्य उसके भक्त बनते गए, यहां तक कि अध्यात्मवादियों को भी आवश्यकता अनुभूत होने लगी कि अपनी बातों को वे, जहां तक संभव हो, विज्ञान की भाषा में रखें। किन्तु, विज्ञान की वृद्धि से भी मनुष्य की शाश्वत समस्याएँ दूर नहीं हुई। वह आज भी दुखी है, वह आज भी रोग, शोक, जरा और मरण का शिकार होता है तथा सबसे बड़ी बात तो यह है कि पहले जिन सुखों की लोग कल्पना भी नहीं कर सकते थे, उन सुखों के शैल पर बैठा हुआ मनुष्य भी चंचल, विषण्ण और अशांत है तथा उतना अशान्त है जितना पहले के युग में, शायद ही, कोई होता हो। अतएव, चिंतकों पर यह प्रतिक्रिया हुई कि मनुष्य की समस्याओं का समाधान विज्ञान भी नहीं है, क्योंकि विज्ञान से शरीर चाहे जितना सुखी हो जाय, आन्तरिक संतोष में वृद्धि नहीं होती, उल्टे दिनों-दिन उसकी मात्रा घटती जाती है।

भौतिकता, विज्ञान और बुद्धिवाद के विरुद्ध, विश्व भर में जो गहन गंभीर चिंता-धारा फूटी है, अरविन्द उसी धारा के ऋषि हैं। संसार विज्ञान को पाकर धर्म से अलग हो गया था। अब उसे दिखलायी पड़ने लगा कि विज्ञान भी यथेष्ट नहीं है। संसार के सामने यह समस्या नहीं है कि धर्म और विज्ञान में से हम किसे लें और किसे छोड़ दें, प्रत्युत्, उसकी समस्या का रूप यह है कि कौन वह उपाय है जिससे धर्म वैज्ञानिक तथा विज्ञान धार्मिक बनाया जा सकता है। एक बात और है कि जब से संसार में व्यक्ति और समाज को लेकर द्वंद्व छिड़ा है, तब से हमारी प्रत्येक समस्या के साथ यह प्रश्न भी उपस्थित होने लगा है कि समाधान व्यक्ति के लिए खोजा जाय या समष्टि के लिए। प्राचीन और मध्यकालीन विश्व में, प्रायः, प्रत्येक देश के लोग वैयक्तिक मुक्ति को मानव-जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य मानते थे। किन्तु, उन्नीसवीं सदी में जाकर मार्क्स ने कहा कि व्यक्ति की मुक्ति की कल्पना हास्यास्पद और निरी मूर्खता, निरे स्वार्थ की बात है। मुक्ति, वास्तव में, समाज की होनी चाहिए। मार्क्स की इस घोषणा

का विश्व के विचारकों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य समूह को प्रधानता देने लगा। किन्तु, समूह तो निराकार होता है। उसके सुख और दुःख की कल्पना कैसे की जाय ? समूह दुःखी है, इसका सामान्य अर्थ तो यही होता है कि उसमें रहने वाला व्यक्ति दुःखी है। और समाज सुखी है, इसका भी अर्थ इतना ही होता है कि उसमें रहने वाला व्यक्ति सुखी है। अतएव, भारत में एक नया संदेश मुखरित हुआ। गांधी जी ने कहा कि समाज की मुक्ति की कल्पना केवल कल्पना ही हो सकती है। वास्तव में, मुक्ति समाज की नहीं, व्यक्ति की ही होती है। हाँ, वैयक्तिक मुक्ति की खोज का उपाय यह नहीं है कि मनुष्य संसार छोड़कर वन या गुफा में चला जाय, प्रत्युत्, यह कि समाज में रहकर उसकी सेवा करे और समाज-सेवा का भी अर्थ समाज में बसने वाले व्यक्तियों की ही सेवा है।

अरविन्द इन सभी धरातलों से ऊपर उठे हुए हैं। वैयक्तिक मुक्ति की उन्हें परवाह नहीं है, न वे यही मानते हैं कि मुक्ति मृत्यु के उपरान्त ही पायी जा सकती है। केवल वैयक्तिक मुक्ति की आशा में साधना और समाज-सेवा करने में जो नैतिक दोष है, वे उससे भी भली-भांति परिचित हैं तथा वैयक्तिक मुक्ति के संधान को वे जीवन का बहुत बड़ा आदर्श नहीं मानते। बल्कि उनका विचार है कि मोक्ष के रूप में जिस दिव्य जीवन की कल्पना अब तक होती आयी है, वह इसी देह से भोगा जा सकता है, वह इसी पृथ्वी पर उतारा जा सकता है। समाज-सेवा का उपयोग चाहे जितना बड़ा समझा जाय, अरविन्द उसे भी मनुष्य की समस्या का मौलिक समाधान नहीं मानते। समाज-सेवा दया का कार्य है, इसलिए, वह सत्कर्म माना जाता है, किन्तु, समाज-सेवियों की चाहे जितनी बड़ी सेना प्रस्तुत कर ली जाय, व्यक्ति को वे रोग और शोक सताते ही रहेंगे, जिनसे आक्रांत हो जाने पर उसे समाज-सेवी की आवश्यकता होती है। उत्तम सरकार, उत्तम शासन, शांति रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और मनुष्यों में सद्गुणों का प्रचार, ये सभी अच्छे और आवश्यक कार्य हैं, किन्तु, वे भी, मानव की समस्याओं के अन्तिम समाधान नहीं हैं। इन संगठनों का उतना ही महत्त्व है जितना उन पहरेदारों का जो किसी एक ऐसे गांव पर पहरा देते हैं जिसके निवासी स्वेच्छया उपद्रवों से अलग नहीं रह सकते। अरविन्द मनुष्यों के स्वभाव में आमूल परिवर्तन चाहते हैं और इसके लिए उन्हें संगठन और सदुपदेश बहुत ही अयथेष्ट लगते हैं। कदाचित् यही कारण है कि जब कि अन्य धर्माचार्यों और संतों के उपदेश अलग से संकलित मिलते हैं, पांडिचेरी से ऐसी कोई भी पुस्तक नहीं निकली है जिसमें अरविन्द के उपदेश संग्रहीत हों।

अरविन्द की शिक्षा छोटे-छोटे उपदेशों में नहीं, प्रत्युत्, कठोर-सुदीर्घ साधना में विद्यमान है। जहां कपड़ फट जाय, वहा पैबन्द लगाना आवश्यक हो जाता है और वैसे पैबन्द लगाना फटेहाल घूमने से अच्छा काम भी है। किन्तु, अरविन्द कदाचित् यह मानते हैं कि मानवता के वस्त्र बिल्कुल चिथड़े-चिथड़े हो गए हैं और आवश्यक है कि उसे कोई नया परिधान

दिया जाय। यह नया परिधान अतिमानस की अवतारणा और अतिमानव का विकास है। अरविन्द की दृष्टि में मानवता की समस्याओं का उचित समाधान यह है कि मनुष्य जिस बौद्धिक स्तर पर बैठा हुआ है, उससे ऊपर उठकर वह एक नई भूमि पर अवस्थित होने का प्रयास करे जो अतिमानस की भूमि है। आज का मनुष्य जितने भी कलुष और अत्याचार करता है, बुद्धि से प्रेरित होकर करता है। और आज के संतों, सुधारकों का और विचारकों का उपदेश भी यही है कि मानवीय बुद्धि को निर्मल बनाओ, उसका कलुष धो डालो, मनुष्य के कर्म आप से आप सुधर जायेंगे। अरविन्द का ऐसा विश्वास नहीं है। वे बुद्धि से बुद्धि का सुधार करने में विश्वास नहीं करते। उनके विचार से यह अंधकार से अंधकार हटाने के समान असम्भव कार्य है। बुद्धि के कलुष तभी दूर होंगे जब मनुष्य अति-मानस का स्वामी होगा। बुद्धि में बहुत सारा अज्ञान भी रहता है, किन्तु, अतिमानस पूर्ण रूप से प्रकाशित स्थिति है। अतएव, मनुष्य यदि अज्ञान से बचना चाहे तो उसे अतिमानस में प्रवेश करना चाहिए। विश्व के अन्य चिंतकों और विचारकों की प्रक्रिया संशोधन और सुधार की प्रक्रिया है। अरविन्द सुधारों से संतुष्ट नहीं हैं। उनकी आस्था विकास पर है; द्रव्य से जीवन और जीवन से मस्तिष्क, ये तीन कदम मनुष्य उठा चुका है। मस्तिष्क से ऊपर अतिमानस का देश है। जब तक मनुष्य इस देश में पांव नहीं रखता, उसका कल्याण नहीं होगा।

अरविन्द मानव को अति-मानव बनाना चाहते हैं। अति-मानव (सुपरमैन) यह नाम सर्वथा नवीन नहीं है। अरविन्द से पूर्व, जर्मन दार्शनिक नीत्से ने अतिमानव की कल्पना की थी। किन्तु, उसने यह सोचा था कि अति-मानव दबंग मानव ही होगा जो सबको मार-पीट कर आगे निकल जायेगा। और हुआ भी यही कि नीत्से की कल्पना के अनुसार ही जर्मनी में हिटलर का जन्म हुआ। एक दूसरी कल्पना उर्दू और फारसी के विख्यात भारतीय कवि इकबाल में भी प्रस्फुटित हुई। इकबाल की कल्पना का अति-मानव भी व्यक्ति ही है, अति-मानवीय समाज की कल्पना इकबाल ने भी नहीं की है। इकबाल कहते हैं कि औरों से अनूठा और भिन्न होना, यही व्यक्तित्व का गुण है। किन्तु, विश्व-ब्रह्मांड में सबसे अनूठा व्यक्तित्व ईश्वर का है, अतएव, सबसे बड़ा व्यक्ति भी वही होगा जो ईश्वर के अधिक से अधिक समान होगा। जो व्यक्ति ईश्वर के अधिक से अधिक समान हो, इकबाल उसे ही अति-मानव कहते हैं और धरती पर उसी का वे राज्य भी चाहते हैं। उनका विचार है कि प्रजा-सत्ता कोई वस्तु नहीं है। मनुष्य पर सबसे अच्छा शासन अति-मानव का शासन होता है, वह एक साथ मनुष्यों का धर्म-गुरु और उनका राजा भी होता है। अति-मानव का राज्य पृथ्वी पर परमेश्वर का ही राज्य होगा। बल्कि, अति-मानव अपना शासन परमेश्वर का नायब (वाइस-रिजेंट) बनकर चलायेगा।

अरविन्द की अति-मानव की कल्पना इन दोनों कल्पनाओं से भिन्न है। वे यह नहीं

मानते कि एक व्यक्ति अति-मानव होगा तथा बाकी सभी लोग सामान्य मनुष्य बन कर उसकी अधीनता में रहेंगे। बल्कि, उनका विचार है कि अति-मानस से संवलित सभी मनुष्य अति-मनुष्य हो जायेंगे। उनका यह भी कथन है कि अति-मानस, सम्भव है, पहले किसी समूह या व्यक्ति में उतरे। किन्तु, उसके बाद वह फैलता ही जायेगा, एवं फैलते-फैलते एक दिन वह अखिल मनुष्य जाति को अति-मनुष्यों की जाति में बदल देगा।

तो अरविन्द ने घूम-घूमकर उपदेश देने के बदले अपने को एक आश्रम में क्यों बन्द कर लिया ? यह प्रश्न अत्यंत स्वाभाविक है। किन्तु, उसका उत्तर भी कम समीचीन नहीं है। अपनी साधनाओं के द्वारा अरविन्द को यह दिखलायी पड़ा कि विकास की दो गतियां हैं। एक तो यह है कि नीचे के धरातल पर के जीव ऊपर उठने का प्रयास करते हैं। किन्तु, ऊपर के धरातल पर जो चित्-शक्ति है, वह भी नीचे आना चाहती है। अर्थात्, परमात्मा की कृपा और मनुष्य के प्रयास, इन दोनों के योग के विना विकास नहीं होता। अरविन्द की यह भी मान्यता है कि एक या अनेक व्यक्ति यदि चाहें तो वे अपनी साधना के द्वारा चित्-शक्ति को नीचे उतरने को प्रेरित या बाध्य कर सकते हैं। क्योंकि विश्व के सभी मनुष्यों को साधना और तपस्या में लगाना असंभव है, इसलिए, अरविन्द ने अपने तथा अपने आश्रमवासी शिष्यों के ऊपर यह भार रखा कि वे साधनापूर्वक दिव्य जीवन को पृथ्वी पर अवतरित होने को बाध्य करें। और इस साधना का जो मार्ग उन्होंने निर्धारित किया है, उसका नाम योग है—वह योग नहीं जो हठयोग का पर्याय है, प्रत्युत, वह योग जिसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों समाहित हैं। अरविन्द संश्लिष्ट योग के पक्षपाती हैं जिसमें साधक अपने कर्मों को निर्मल रखकर तथा सत्य का शुद्ध ज्ञान लिये हुए संपूर्ण भावावेग से परमात्मा का चिन्तन और ध्यान करता है। कर्म, ज्ञान और भक्ति के इस संश्लेषण से भी यही शिक्षा निकलती है कि अरविन्द भूत, जीवन और मस्तिष्क, इन तीनों को दिव्य बनाकर इसी जीवन में दिव्य जीवन की अवतारणा करना चाहते हैं।

स्वर्ग का भूमिकरण ; महात्मा गांधी का प्रयोग

महात्मा गांधी ने भारतीय संस्कृति में इतनी अधिक दिशाओं में प्रकाश डाला है कि उनके समस्त अवदान का सम्यक् मूल्य निर्धारित करना अभी किसी के लिए भी संभव नहीं दीखता। खान-पान, रहन-सहन, भाव-विचार, भाषा और शैली, परिच्छेद और परिधान, काव्य और चित्रकारी, दर्शन और सामाजिक व्यवहार एवं धर्म-कर्म, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, भारत में आज जो भी आचार या विचार प्रचलित है, उनमें से प्रत्येक पर कहीं न कहीं गांधी जी की छाप है, यहां तक कि उनके आलोचकों और विरोधियों में भी ऐसे अनेक लोग हैं जिनकी पोशाक नहीं तो खान-पान में, जिनके विचार में नहीं तो सामाजिक आचार में, महात्मा गांधी का प्रभाव मौजूद है। आज का भारत गांधी का भारत है और गांधी नाम आज के भारत का पूरा पर्याय है, इसमें कोई संदेह नहीं। गांधी जी के इस महाव्यापक प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए यह सरल कार्य नहीं है कि हिन्दू-नवोत्थान की पृष्ठ-भूमि पर उनका समग्र रूप आंका जा सके। जन्म और विकास तो उनका भी सांस्कृतिक नवोत्थान के कारण ही हुआ, किन्तु, काल को खींचकर वे बरबस अपनी दिशा की ओर ले गये। महापुरुषों के संकेत पर इतिहास अपना रूप बदलता है। किन्तु, चूंकि प्रकरण यहां हिन्दू-नवोत्थान की व्याप्तियों के विश्लेषण का उपस्थित है, इसलिए, उसी के पृष्ठाधार पर हम महात्मा जी के विचारों और प्रयोगों को समझने की चेष्टा करेंगे।

संसार का ध्यान गांधी जी की ओर इसलिए आकृष्ट हुआ कि उन्होंने पशुबल के समक्ष आत्म-बल का शस्त्र निकाला, तोपों और मशीनगनों का सामना करने के लिए अहिंसा का आश्रय लिया। किन्तु, सोचने की बात यह है कि अहिंसा का आश्रय उन्होंने लिया क्यों ? क्या इसलिए कि अँगरेजों के विरुद्ध वे हिंसा का आश्रय लेकर भारत को स्वाधीन नहीं कर सकते थे ? अथवा इसलिए कि मानव समाज को वे यह शिक्षा देना चाहते थे कि मनुष्य जब तक पाशविक साधनों का प्रयोग करने को बाध्य है तब तक वह पूरा मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता ? पहली बात अहिंसा को किंकर्तव्यविमूढ़ एवं निरुपाय व्यक्ति का साधन बनाती है जिसका अर्थ कि तोपें जब हमारे पास नहीं हैं तब सत्याग्रह ही सही। किन्तु, दूसरी बात अहिंसा को मनुष्य के विकास का साधन बनाती है, उसके रूप को निर्मल बनाने का उपाय सिद्ध करती है। यह सच है कि गांधी जी के नेतृत्व में जब भारतवासी ब्रिटेन से संघर्ष कर रहे थे, तब उनमें से अधिकांश का यही भाव था कि अहिंसा साधन भर है जिसका अवलम्ब हमने इसलिए लिया है कि हिंसक साधनों से अँगरेजों का सामना करने की हमें

सुविधा और सुयोग नहीं है। किन्तु, स्वयं गांधी जी इस विचार को नहीं मानते थे। अहिंसा को गँवाकर वे भारत को स्वाधीन करने के पक्षपाती नहीं थे। भारतीय स्वाधीनता बहुत बड़ा लक्ष्य थी, किन्तु, उससे भी बड़ा ध्येय, मानव-स्वभाव में परिवर्तन लाना था, मनुष्य को यह विश्वास दिलाना था कि जिन ध्येयों की प्राप्ति के लिए वह पाशविक साधनों का सहारा लेता है, वे ध्येय मानवोचित साधनों से भी प्राप्त किये जा सकते हैं। गांधी जी का मुख्य उद्देश्य अपने देशवासियों के कष्टों का निवारण नहीं, प्रत्युत्, मनुष्य के पाशवीकरण का अवरोध था। घृणा, क्रोध और आवेश, यह पशुओं को भी होता है और वे भी अपने प्रतिपक्षी का सामना उन शस्त्रों से करते हैं जो प्रकृति की ओर से उन्हें मिले हुए हैं। मनुष्य पशु से भिन्न है, अतएव, उचित है कि वह अपने आवेगों पर नियंत्रण लगायें और अपने दैनिक जीवन की समस्याओं के सुलझाने में उन उपायों से काम लें, जो पशुओं के लिए दुर्लभ, किन्तु, मनुष्य के लिए सुलभ हैं।

प्रश्न उठता है कि गांधी जी ने ऐसा निश्चय क्यों किया ? और अहिंसा का यह प्रयोग किसी अन्य देश में आरम्भ नहीं होकर भारत में ही क्यों आरम्भ हुआ। बहुत से लोग इस प्रश्न को यह कहकर टाल देंगे कि यह आकस्मिक बात थी। किन्तु, आकस्मिक बात यह थी नहीं। कहते हैं, सत्याग्रह अथवा सविनय अवज्ञा की कल्पना अमेरिका के चिन्तक थुरो ने भी की थी और इसकी थोड़ी-बहुत झलक रूस के संत साहित्यकार टालसटाय को भी मिल चुकी थी। गांधी जी थुरो और टालसटाय दोनों के विचारों से परिचित थे। यहां अपने देश में भी गांधी जी से पूर्व अरविन्द सविनय अवज्ञा और असहयोग का सुझाव देश के सामने रख चुके थे।* फिर भी बात रह जाती है कि इसका प्रयोग सबसे पहले भारत ने ही क्यों किया ?

---

* एक बार श्री गोपालकृष्ण गोखले ने अरविन्द के अनुयायी राष्ट्रवादियों पर यह आक्षेप लगाया कि उनके आशय शांतियुक्त हैं या नहीं, इसमें हमें संदेह है। इसके उत्तर में अरविन्द ने अपने एक भाषण में कहा था कि "हम तो जनता से कह चुके हैं कि शांतिमय उपायों से स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। हमने कहा है कि अपना सहायक आप होकर हम सविनय-अवज्ञा के साधन से स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। सविनय अवज्ञा के दो अर्थ हैं। एक अर्थ तो यह है कि कुछ बातों में हम देश की सरकार से तब तक असहयोग करेंगे, जब तक कि हमारा जन्मसिद्ध अधिकार हमें प्राप्त नहीं हो जाय। दूसरा यह कि असहयोग के क्रम में यदि हम पर दमन होने लगे तो उसका प्रतिकार हम हिंसा से नहीं करके कष्ट-सहिष्णुता, सविनय अवरोध और कानूनी तरीकों से करेंगे। अपने नौजवानों से हमने यह तो नहीं कहा है कि जब अत्याचार हों तो तुम प्रतिशोध लो। हमने तो यही कहा है कि दमन की वेदनाओं को सहन करो।"

(श्रीयुत दिवाकर कृत 'महायोगी' से)

उत्तर स्पष्ट है कि आत्म-बल शारीरिक बल से श्रेष्ठ है, इस सत्य को जितना भारतवासी जानते थे, उतना अन्य देशों के लोग नहीं। थुरो, टाल्सटाय अथवा एमर्सन और रोम्या रोलां में इस प्रकार की जब भी कोई भावना जगी तो उसके पीछे भारतीय दर्शन की उत्तेजना काम कर रही थी। यह ठीक है कि थुरो और टालस्टाय ने सविनय अवज्ञा की कल्पना भारत के किसी बहु-प्रचलित उपदेश को सुनकर नहीं की होगी, क्योंकि ऐसा कोई उपदेश राजनीति की भाषा में तब तक भारत में भी प्रचलित नहीं हुआ था। किन्तु, सविनय अवज्ञा की कल्पना तक जाने का दर्शन इस देश में विद्यमान था और इस कल्पना तक वही व्यक्ति जा सकता था जो या तो भारतीय विचारधारा से प्रभावित हो अथवा अनायास उस प्रकार की चिंतन-पद्धति पर आ गया हो जो भारत की पद्धति रही है। थुरो एवं टालस्टाय के संबंध में दोनों ही विकल्प संभव रहे होंगे। रह गए अरविन्द, सो वे तो भारतीय थे ही।

एक प्रकार से देखिये तो जिस नवोत्थान के सांस्कृतिक नेता राममोहन और केशवचंद्र, दयानन्द और एनी बेसेंट, रामकृष्ण और विवेकानन्द तथा अरविन्द और रवीन्द्र हुए, उसके राजनीतिक नेता महात्मा गांधी ही हो सकते थे। प्रत्येक महापुरुष अपने समय का परिणाम होता है। काल के हृदय में जो अनुभूतियां एकत्र होती हैं, उन्हीं की अभिव्यक्ति के लिए वह कवि, संत और सुधारक को जन्म देता है। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ से भारत जो कुछ भी सोच रहा था, वह इस दिशा में नहीं था कि भारतवासी भी यूरोप का अन्धानुकरण करके इंद्रियोंके वैसे ही दास होजायें, जैसे सुखी और संपन्न देशोंके लोग हैं, तथा वे भी शारीरिक बल की अति वृद्धि करके अपने देश को स्वाधीन बनायें तथा अन्य देशों को जीतकर उन पर राज्य करें। हिन्दू-नवोत्थान की शिक्षा यह नहीं थी, प्रत्युत्, हमारे सभी नेता और सुधारक, यूरोपीय सभ्यता की दुर्बलताओं अर्थात् उसकी धन-लोलुपता एवं विलास के निमित्त अन्य राष्ट्रों का शोषण करने की नीति के विरोधी थे। इसके सिवा, विवेकानन्द जैसे लोग यूरोप की हिंसा-परायणता को भी उसकी संस्कृति का दोष मानते थे। इधर, भारत में राममोहनराय से लेकर विवेकानन्द तक विश्व-प्रेम की जो भावना फैली, वह उच्च मानवता को उत्तेजना देने वाली थी। यदि ध्यान से देखा जाय तो हमारे समक्ष नवोत्थान के भीतर एक ही भावना काम कर रही थी कि एक ब्रह्म ही विभिन्न रूपों में प्रत्यक्ष है, कि मनुष्य-मनुष्य भाई हैं, कि सभी धर्म आदरणीय हैं, कि विश्व-मानवता में विश्वास करने से बढ़कर और कोई धर्म नहीं हो सकता। नवोत्थान के सभी नेताओं ने प्रेम को मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म एवं परोपकार को उसका सर्वश्रेष्ठ साधन बताया। शासकों के प्रति घृणा का उत्कट भाव केवल लोकमान्य तिलक में था और उन्हीं में हम हिंसा का यत्किंचित् समर्थन भी पाते हैं। बाकी सुधारकों में घृणा और विद्वेष नहीं था, न वे हिंसा का उपदेश देने वाले थे। वास्तव में, भारतवर्ष में राष्ट्रीयता भी संस्कृति की कुक्षि से उत्पन्न हुई। पहले इस देश में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का उदय हुआ

और लोग इस स्वाभिमान से भरने लगे कि हम अत्यंत प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं तथा यूरोप में आधिभौतिक सुखों का चाहे जैसा भी अम्बार लग गया हो, किन्तु, हम उन मूल्यों के उत्तराधिकारी हैं जिन्हें ऊँची मानवता वरण करती है। इस चेतना के जन्म ले लेने पर उसी के निष्कर्ष स्वरूप भारत में राजनीतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। यह भी ध्यान दने की बात है कि भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के उन्नायक धार्मिक व्यक्ति थे। हिन्दुत्व के धार्मिक पक्ष पर विधर्मियों के प्रहार से यह देश जगा था। अतएव, धार्मिक व्यक्ति ही इस जागरण के आदि उन्नायक हुए। यही कारण था कि उनके अनुसंधानों और उपदेशों से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वह धर्म के स्तर से नीचे नहीं उतरी। न उसने आधिभौतिक उन्नति के प्रस्ताव को उचित से कभी अधिक महत्त्व दिया। हमारे नवोत्थान की सारी प्रक्रिया का क्रम कुछ इस ढंग का रहा है, मानो, भगवान भारत की आध्यात्मिक साधनाओं को फिर से जीवित करके शेष विश्व के सामने कोई समाधान उपस्थित कर रहे हों। और इसमें कोई संदेह नहीं कि नवोत्थान के भीतर से भविष्य की ओर प्रगति करती हुई भारत की प्राचीन परम्परा ने महात्मा गांधी के व्यक्तित्व और प्रयोग में अपनी परिणति प्राप्त की। ऐसा लगता है, मानो, गांधीजी के जन्म और विकास को संभव बनाने के लिए ही राममोहनराय ने सांस्कृतिक जागरण का आरम्भ किया था। लगभग सौ वर्षों तक इस आध्यात्मिक देश ने जो आत्म-मंथन किया, पराधीनता की ग्लानि को धोने के लिए अपनी श्रेष्ठ शक्तियों का जो चिंतन और ध्यान किया, गांधी जी उसी तपस्या के वरदान बनकर प्रकट हुए। नवोत्थान से प्रेरित भारत अपनी भी स्वाधीनता खोज रहा था और विश्व की समस्याओं का समाधान भी। महात्मा गांधी ने उसकी दोनों कामनाएँ पूर्ण कीं।

गांधी जी न तो दयानन्द और अरविन्द के समान मेधावी पंडित एवं बहुपठित विद्वान् थे, न उनमें विवेकानन्द की ही तेजस्विता थी। अपने समग्र जीवन में उन्होंने कोई भी ऐसी बात नहीं कही, जो उनके पूर्ववर्ती लोगों ने नहीं कही हो।* किन्तु, साधनापूर्वक उन्होंने सभी प्राचीन सत्यों को अपने जीवन में उतारकर संसार के सामने यह उदाहरण उपस्थित किया कि जो उपदेश अनन्त काल से दिये जाते रहे हैं, वे सचमुच ही जीवन में उतारे जाने के योग्य हैं। गांधी जी से पहले के संतों और सुधारकों ने पुस्तकीय ज्ञान के बल पर अथवा अनुभवों के आधार पर जितनी भी अच्छी बातें कही थीं, गांधी जी ने उन सब पर आचरण करके मनुष्यता को चौंका दिया और उसके भीतर इस आशा को जाग्रत कर दिया कि दुर्बल से दुर्बल मनुष्य भी चाहे तो मानवता के चरम-शिखर पर पहुंच सकता है। ज्ञानी संसार में बहुत

---

* नये सिद्धांतों को जन्म देने का दावा मैं नहीं करता। मैंने तो केवल अपने ढंग पर सनातन सत्यों को दैनिक जीवन और समस्याओं पर लागू करने का प्रयास किया है। (हरिजन, २८ मार्च, १९३६ ई०)

हुए थे। गांधी जी ने यह बतलाया कि मनुष्य की सार्थकता **जानने नहीं, करने में है**।

संसार की बातें तो जाने ही दीजिये। अपने इस धर्मप्राण देश में भी लोग यही समझते आये थे कि जीवन की सारी भूमि धर्म की भूमि नहीं है। उपनिषदों के युग में तथा बौद्धों और जैनों के उदय-काल में धर्म को वरण करने वाला व्यक्ति गृहस्थी छोड़ कर संन्यास ले लेता था। उस समय समझा यह जाता था कि गृहस्थ और राजा के कर्तव्य सदा धार्मिक नहीं हो सकते, न उनका धार्मिक होना अनिवार्य है। धर्म तो एक विशेष प्रकार की साधना है जिसका सहारा परलोक के लिए अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिए लिया जाता है। जब भक्ति का काल आया तब भी धर्म जीवन-व्यापी कर्तव्य का स्थान न ले सका। जनक जैसे योगी का आदर्श पुस्तकों में था, किन्तु, वह अपवाद समझा जाता था। उपेक्षा और अपवाद के अन्धकार से उस आदर्श का उद्धार गीता-रहस्य में तिलक जी ने किया, किन्तु, वे उसका प्रयोग सामाजिक धरातल पर नहीं कर सके। संसार के और देशों में भी किसी समय किसी संत या सुधारक ने धर्म को समस्त जीवन और समाज पर लागू करने का प्रयत्न किया था या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। विचार, कदाचित्, कइयों के मन में उठे होंगे, किन्तु, गांधी जी का महत्त्व यह है कि उन्होंने धर्म को जीवन-व्यापी बनाने का दुस्साहसी प्रयोग केवल अपने वैयक्तिक जीवन पर ही नहीं, अपने पास आये हुए सारे समाज पर किया। अरविन्द और गांधी में यही भेद है। अरविन्द ने मानव समाज की समस्याओं का यह निदान किया कि ये समस्यायें मनुष्य की बुद्धि से निकली हैं और इनका समाधान यह है कि मानव-समाज बुद्धि के स्तर से उठ कर अति-मानस की अवस्था में पहुंच जाय। किन्तु, उनकी अति-मानस की कल्पना क्या है, यह समझने में मनुष्य असमर्थ था, अतः अरविन्द और उनके शिष्यों ने अति-मानस की अवतारणा का दायित्व अपने ऊपर लेकर तपस्या आरम्भ कर दी। निदान तो गांधी जी का भी बहुत कुछ वही है, जो अरविन्द का है, किन्तु, समाधान में दोनों महात्माओं में भेद है। अरविन्द का समाधान अति-मानस का विकास है। गांधी जी मनुष्य में धर्म की भावना जगाकर उसकी पीड़ाएँ दूर करना चाहते हैं।

गांधी जी ने बार-बार कहा है कि मनुष्य का जन्म धर्म की साधना के लिए होता है और अपने जीवन का उद्देश्य भी वे धर्म की ही उपासना मानते थे। "मेरा उद्देश्य धार्मिक है, किन्तु, मानवता से एकाकार हुए बिना मैं धर्म-पालन का मार्ग नहीं देखता। इसी कार्य के लिए मैंने राजनीति का क्षेत्र चुना है क्योंकि इस क्षेत्र में मनुष्यों से एकाकार होने की संभावना है। मनुष्य की सारी चेष्टाएँ, उसकी सारी प्रवृत्तियां एक हैं। समाज और राजनीति से धर्म अलग रखा जाय, यह संभव नहीं है। जो मनुष्य में क्रियाशीलता है, वही उसका धर्म भी है। जो धर्म मनुष्य के दैनिक कार्यों से अलग होता है, उससे मेरा परिचय नहीं है।"

जीवन और समाज के धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष (सेक्युलर) तत्त्वों के बीच बहुत

दिनों से विभाजक रेखा चली आ रही थी। गांधीजी ने इस रेखा को मिटा दिया। कबीर ने जैसे सहज मार्ग का आख्यान करते हुए कहा था, **"जहँ-जहँ डोलूं सो परिचर्या, जो-जो करूं सो पूजा"**, उसी प्रकार, गांधी जी ने अपने आचरण से यह सिद्ध कर दिया कि धर्म किसी खास दिन, किसी लग्नविशेष का कृत्य नहीं है, प्रत्युत्, वह मनुष्य के प्रत्येक कार्य में विद्यमान रह सकता है। यहां तक कि राजनीति भी धर्म की अभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम हो सकती है। शिक्षा, संस्कृति, कला, विज्ञान, व्यापार और उद्योग तथा सामाजिक आन्दोलन, गांधी जी सबका आध्यात्मीकरण चाहते थे और इन क्षेत्रों में उन्होंने जो भी प्रयोग किये, उन सब में उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट था। विवेकानन्द और अरविन्द के समान ही, वे भी मानते थे कि केवल आधिभौतिक विजयों, और उपलब्धियों पर अवस्थित सभ्यता न तो शांतिदायिनी हो सकती है, न उसमें स्थायित्व ही आ सकता है। शांति और स्थायित्व उसमें तब आयेगा, जब धर्म से वह पूर्ण-रूपेण व्याप्त हो जाय। जीवन धर्म से वियुक्त होने पर नीचे गिर जाता है और जब धर्म से उसका मेल होता है, वह ऊपर को उठने लगता है। अतएव, गांधी जी जीवन के धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष तत्त्वों के बीच कोई भेद रहने देना नहीं चाहते थे।

योग और प्राणायाम, पूजा और होम यज्ञ और तपस्या तथा संसार से अलग रहकर एकान्त साधना के द्वारा वैयक्तिक मुक्ति खोजने की परम्परा सारे संसार में थी। कुछ लोग ऐसे भी हुए जिन्होंने काव्य और संगीत के माध्यम से अपने मोक्ष की खोज की। किन्तु, गांधी जी से पूर्व किसी को भी यह नहीं सूझा था कि राजनीतिक आन्दोलन एवं समाज-सेवा के कार्य भी वैयक्तिक मुक्ति के साधन हो सकते हैं। इस प्रकार की शिक्षा जनक के जीवन से अवश्य निकाली जा सकती थी। किन्तु, उस शिक्षा को अपने जीवन में चरितार्थ करने वाला पुरुष नहीं आया था। लोकमान्य तिलक ने भी गीता-रहस्य में जनक-मार्ग को ही गीता का मार्ग बतलाया था। किन्तु, व्यवहार में उस मार्ग को प्रत्यक्ष करने का काम गांधी जी के लिए रुका हुआ था। जब उन्होंने अपना प्रयोग आरम्भ किया, संसार आश्चर्य से चकित रह गया। फिर भी, गांधी जी का यह प्रयोग भारतीय परंपरा के पुनःसंजीवित होने का स्वाभाविक परिणाम था। ज्ञान के स्तर पर रामकृष्ण, विवेकानन्द, लोकमान्य और अरविन्द ने जो दर्शन तैयार किया था, कर्म की भूमि में उसका वही रूप हो सकता था जो उसे गांधी जी के हाथों प्राप्त हुआ। मुक्ति तो व्यक्ति की ही होती है, किन्तु, उसे खोजने का मार्ग कर्मन्यास अथवा वैराग्य नहीं है, प्रत्युत्, सबकी मुक्ति के लिए श्रद्धापूर्वक कष्ट सहने से ही व्यक्ति अपना मोक्ष प्राप्त कर सकता है। "मैं सत्य का विनम्र सेवक हूँ। मैं आत्म-ज्ञान प्राप्त करने को अधीर हूँ। मैं इसी जीवन में मोक्ष चाहता हूँ। मेरी राष्ट्र-सेवा मेरी आध्यात्मिक साधना है, जिसके द्वारा मैं अपनी आत्मा को शरीर के बंधन से मुक्त करना चाहता हूँ। विश्व के नश्वर राज्य की मुझे

कामना नहीं। मैं तो उस स्वर्ग-राज्य के लिए साधना में लीन हूँ, जिसे मुक्ति कहते हैं। अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए गुफा-सेवन की मुझे आवश्यकता नहीं दीखती। गुफा तो मेरे भीतर भी मौजूद है, यदि उसे मैं जान पाऊँ। गुफावासी योगी भी हवाई महल की कल्पना में फँस सकता है, किन्तु, राजमहल का वासी जनक ऐसी कल्पनाओं से मुक्त है। शरीर गुफा में और मन संसार में रहे तो गुफावासी को भी शांति नहीं मिल सकती। किन्तु, महलों के चाकचिक्य के भीतर बसने वाले जनक को ऐसी शांति प्राप्त हो सकती है, जिसे वे ही जानते हैं जिन्हें शांति मिल चुकी है। मेरे लिए तो मोक्ष का मार्ग स्वदेश एवं निखिल मानवता की सेवा का ही मार्ग है। मेरी यात्रा मोक्ष और सनातन शांति की ओर है। देश-भक्ति तो इस यात्रा का पंथ है। इसीलिए, मेरी दृष्टि में राजनीति धर्म से हीन नहीं हो सकती। राजनीति को सदैव धर्म की आधीनता में चलना चाहिए। धर्म-हीन राजनीति मृत्यु-पाश के समान है क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।"*

चाणक्य और मैकियावेली जैसे पंडितों की राजनीति गांधी जी की राजनीति नहीं है। चाणक्य और मैकियावेली उस राजनीति के व्याख्याता हैं जिसमें छल-प्रपंच, मिथ्या भाषण, और दांव-पेंच, ये सभी दुर्गुण गुण समझे जाते हैं। राजनीति की शक्ति अत्यंत व्यापक हो उठी है। प्रत्येक देश के असंख्य मानवों का भाग्य आज राजनीति के हाथों निर्णीत हो रहा है और यह सारी की सारी राजनीति ईर्ष्या, द्वेष, छल-प्रपंच और असत्य पर आधारित है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि अपने वैयक्तिक जीवन में हम झूठ बोलें तो लोग हमारी आलोचना करते हैं, किन्तु, राजनीति में हम राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय मंच से झूठ बोलने वाले राजपुरुष का स्वागत तुमुल करतल ध्वनि से किया जाता है। यह मनुष्यता के घोर पतन का दृष्टांत है। जब तक राजनीति का यह रूप प्रचलित है, विश्वैकता की कल्पना कल्पना ही रहेगी और विज्ञान की शक्तियों का प्रयोग मनुष्य की हानि के लिए होता ही जायेगा। इसलिए, गांधी जी ने धर्म को जीवन-व्यापक बनाकर संसार के सामने यह प्रस्ताव रखा कि राजनीति एवं अर्थ-नीति भी धर्म एवं आचरण-शास्त्र के ही अंग हैं। राजनीति अर्थ और अधिकार-संचय का साधन नहीं, प्रत्युत, मानवता को ऊपर उठाने का मार्ग है। मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों को सुधारकर उन्हें सुखी बनाने का साधन है। गांधी जी की राजनीति छल-प्रपंच का पर्याय न होकर मनुष्य के धर्माचरण का ही एक रूप है। वह अधिकारों के हथियाने को अपना मुख्य ध्येय नहीं मानती, प्रत्युत्, उसका उद्देश्य मानवीय धरातल को उन्नत बनाना तथा मनुष्यों के बीच स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व की भावना को उद्दीप्त करना है। राजनीति के जीवन के मलिन प्रसंगों की स्वामिनी एवं संतों और सुधारकों के व्यंग्य की पात्री समझी जाती थी। किन्तु, गांधी जी ने अपने प्रयोगों के द्वारा उसे मनुष्यों को आध्यात्मिक गांभीर्य एवं सामाजिक

* यंग इंडिया, ३ अप्रैल, १९२४ ई०

सामञ्जस्य तक ले जाने का साधन बना दिया।

अहिंसा

अहिंसा की शिक्षा भारत के लिए पुरानी चीज है। केवल बौद्ध और जैन धर्मों में ही नहीं, अहिंसा की महिमा उनसे पूर्व उपनिषदों में भी गाई गयी है। सच पूछिए तो अहिंसा का उपदेश भारत में इतनी बार दिया गया कि शेष विश्व भारत को अहिंसा और निवृत्ति का देश ही मान बैठा। किन्तु, इतना होते हुए भी, वर्तमान जगत में अहिंसा के प्रवर्त्तक महात्मा गांधी माने जाते हैं। अहिंसा को लेकर गांधी जी को संसार में जो सुयश प्राप्त हुआ वह बुद्ध के सुयश से अधिक है क्योंकि बुद्ध ने यद्यपि अहिंसा का पालन स्वयं किया तथा शिष्यों से भी करवाया, किन्तु, संतों को अहिंसा-व्रत के पालन में वही कठिनाई नहीं होती, जो गृहस्थ को होती है। फिर यह बात भी है कि व्यक्ति के लिये अहिंसा का पालन उतना दुस्साध्य नहीं होता, जितना समष्टि के लिए होता है। अहिंसा परम धर्म के रूप में युगों से पूजित चली आ रही थी किन्तु, गांधी जी से पूर्व किसी ने भी समष्टि के धरातल पर अथवा कोटि-जन-व्यापी महा आन्दोलनों के भीतर से अहिंसा का प्रयोग नहीं किया था। गांधी जी ने यह प्रयोग किया और उनके प्रयोग से संसार के असंख्य लोगों में यह आस्था उत्पन्न हुई कि अहिंसा की साधना सामूहिक कार्यों में भी चल सकती है।

जिस प्रकार, अरविन्द ने मनुष्य की शक्तियों एवं उसके स्वभाव को विकसित करके उसे अति-मनुष्य बनाने की कल्पना की है, कुछ वैसी ही कल्पना महात्मा गांधी में भी थी और उनका भी विचार था कि मनुष्य का वैयक्तिक एवं सामूहिक उद्धार इस बात में है कि वह अपने भीतर की पशुता को बिल्कुल छोड़कर उन गुणों की वृद्धि करे जो उसे पशु से भिन्न करने वाले हैं। उनका प्रयास मनुष्य के यत्नों के प्रक्षालन का प्रयास था। उनका उद्देश्य मनुष्य को इस प्रकार रूपान्तरित कर देना था कि वह किसी भी बात में पशुओं का भागीदार नहीं रह जाय। और उनका यह क्रांतिकारी उद्देश्य अहिंसा के प्रयोग में जितना निखरा, उतना और कहीं नहीं। अहिंसा, यह शब्द ही गांधी-धर्म का निचोड़ है तथा हिंसा से पूरित विश्व में यह एक शब्द गांधी जी का जितना व्यापक प्रतिनिधित्व करता है, उतना उनके और सारे उपदेश मिल कर भी नहीं कर पाते। और यह ठीक भी है, क्योंकि गांधी जी की अहिंसा केवल अनाघात का ही पर्याय नहीं है, प्रत्युत, वह सभी जीवों के प्रति आन्तरिक भक्ति और प्रेम को भी अभिव्यक्त करती है। यह अहिंसा सत्य का ही दूसरा रूप है। मनुष्य गलतियां इसलिए करता है कि वह अज्ञान की अवस्था में है। अज्ञान से ज्ञान अथवा सत्य तक जाने के लिए विवेक चाहिए, तर्क और विचार चाहिए तथा इसके लिए उस बुद्धि की भी आवश्यकता है, जो पूर्वाग्रह से पीड़ित नहीं है, जो अन्धी होकर अपने ही पक्ष का प्रमाण खोजना नहीं चाहती, जो उस निष्कर्ष का भी स्वागत करने को तैयार है, जो उसके विपक्ष में पड़ने वाला है। ऐसी निर्मल

बुद्धि उसी व्यक्ति की हो सकती है, जो आत्म-शुद्धि और आत्म-विश्लेषण की योग्यता से युक्त है। जिसमें नैतिक बल का अभाव है, वह सत्य की उपलब्धि नहीं कर सकता। विचारों के स्वच्छ हो जाने पर उनमें सत्य का प्रेम प्रकट होता है। और जब विचार सत्यवादी हो जाते हैं, तब मनुष्य की वाणी और क्रिया भी सत्यवादिनी हो उठती है। जिस मनुष्य में निखिल मानवता के लिए हार्दिक प्रेम नहीं होगा, उसके विचार, वाणी और कार्य सत्य से परिचालित नहीं होंगे। मनुष्य सत्य इसलिए बोलता है कि अन्य मनुष्यों के प्रति उसमें आदर और प्रेम है। किसीसे प्रेम भी करना तथा वाणी और क्रिया के द्वारा उसे धोखा भी देना, ये परस्पर-विरोधी बातें हैं। जहां प्रेम है, सत्य वहीं निवास करता है तथा जहां प्रेम और सत्य रहते हैं वहां क्रिया निश्चित रूप से अहिंसामयी हो जाती है।

गांधी जी की अहिंसा क्रोधी, द्वेषी या असत्य-सेवी व्यक्ति की अहिंसा नहीं है। इसलिए, वे जीवन भर में एक बार भी उन लोगों से सहमत नहीं हो सके, जो अहिंसा को सिद्धांत नहीं मानकर केवल नीति मानते थे। अहिंसा को गांधी जी ने उपयोगिता के लोभ में आकर ग्रहण नहीं किया था, प्रत्युत्, इस भाव से कि वह ही मनुष्य का एकमात्र धर्म है, जैसे हिंसा पशुओं का स्वाभाविक धर्म समझी जाती है। पशुओं की तरह बात-बात पर हूल मारना मनुष्य का धम नहीं हो सकता। उसकी गरिमा इस बात में है कि वह अपने ऊपर ऊँची नैतिकता का नियंत्रण स्वीकार करे जिसका पशुओं को ज्ञान भी नहीं। अँगरेजों के विरुद्ध अपने संघर्ष में वे पशु और मनुष्य के संघर्ष का रूपक देखते थे। "अँगरेज हमारे संघर्ष को बन्दूकों के धरातल पर ले आना चाहते हैं, क्योंकि बन्दूकें उनके पास हैं जिन्हें वे चला सकते हैं। किन्तु, हम तो उसी धरातल पर डट कर लड़ेंगे, जिस धरातल के शस्त्र हमारे पास हैं और अंगरेजों के पास नहीं हैं।"

गांधी जी के अहिंसा के प्रयोग पर एक समय सारा संसार हँसता था और बड़े-बड़े लोग यह कहकर शंका से सिर हिलाया करते थे कि इतिहास में कभी भी तो अहिंसक क्रांति नहीं हुई। किन्तु, अहिंसा में जो शक्ति छिपी है उसे केवल गांधी जी की ही दृष्टि देख सकती थी। "सच्ची अहिंसा भय नहीं, प्रेम से जन्म लेती है; निस्सहायता नहीं, सामर्थ्य से उत्पन्न होती है। जिस सहिष्णुता में क्रोध नहीं, द्वेष नहीं और न निस्सहायता का भाव है, उसके समक्ष बड़ी-से-बड़ी शक्तियों को भी झुकना ही पड़ेगा।" चूंकि अहिंसा के पीछे द्वेष और दुर्भावना नहीं होकर प्रतिपक्षी के प्रति भी प्रेम ही रहता है, इसलिए, गांधी जी का उपदेश था कि सत्याग्रहियों को इस भाव से सत्याग्रह नहीं करना चाहिए कि उन्हें प्रतिपक्षी को नीचा दिखाना है, वरन्, इस भाव से कि प्रतिपक्षी के हृदय की कटुता हटाकर उसके भीतर सद्भावना को जन्म देना है। अहिंसा वह साधन है जिससे संघर्ष के दोनों पक्षों का कल्याण होता है, दोनों के भीतर ऊँची मानवता स्फुटित होती है। गांधी जी की अहिंसा केवल हनन से विरति का नाम

नहीं है। "अहिंसा हृदय की गहराई से आनी चाहिए, अतएव, यह आवश्यक है कि सत्याग्रही के मन में घृणा, क्रोध और प्रतिकार की भावना नहीं रहे। जो भीतर तो इन दुर्भावनाओं को छिपाए हुए है और बाहर केवल भय के मारे हिंसक प्रहार करने से घबराता है, वह सच्ची अहिंसा का पालक नहीं है। उसे तो दंभी और कायर समझना चाहिए।" अहिंसा, वास्तव में, शक्तिशाली और वीर का गुण है, कायरों का नहीं। गांधी जी ने कहा है, "मेरी अहिंसा अत्यंत क्रियाशील शक्ति है। उसमें कायरता तो क्या, दुर्बलता के लिए भी स्थान नहीं है।" यही नहीं, प्रत्युत, गांधी जी तो यह कहते हैं कि "जहां सारा चुनाव केवल कायरता और हिंसा के बीच सीमित हो रहा हो, वहां मैं हिंसा का समर्थन करूँगा।"*

अनेकान्तवादी दृष्टिकोण

गांधी जी के वचन और प्रयोग से जो अनुमान निकलता है, उसके अनुसार, हिंसा केवल रक्तपात करने अथवा दूसरों को शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुंचाने में ही नहीं है। उसका एक विकृत रूप दुराग्रही होना भी है, अपने मतवाद पर अहंकारपूर्वक अड़ जाना भी है। भारत में अहिंसा के सब से बड़ प्रयोक्ता जैन मुनि हुए हैं, जिन्होंने मनुष्य को केवल वाणी और कार्य से ही नहीं, प्रत्युत, विचारों से भी अहिंसक बनाने का प्रयत्न किया। किसी भी बात पर यह मान कर अड़ जाना कि यही सत्य है तथा बाकी लोग जो कुछ कहते हैं वह सब का सब झूठ और निराधार है, विचारों की सबसे भयानक हिंसा है। मनुष्यों को इस हिंसा के पाप से बचाने के लिए ही जैन मुनियों ने अनेकान्तवाद का सिद्धान्त निकाला जिसके अनुसार प्रत्येक सत्य के अनेक पक्ष माने जाते हैं, तथा हम जब जिस पक्ष को देखते हैं तब हमें वही पक्ष सत्य जान पड़ता है। अनेकान्तवादी दर्शन की उपादेयता यह है कि वह मनुष्य को दुराग्रही होने से बचाता है, उसे यह शिक्षा देता है कि केवल तुम्हीं ठीक हो, ऐसी बात नहीं है, शायद, वे लोग भी सत्य ही कह रहे हों जो तुम्हारा विरोध करते हैं। भाषा की दृष्टि से अनेकान्तवादी मनुष्य स्याद्वादी होता है क्योंकि वह यह नहीं कह कर कि "यही सत्य है" सदैव यह कहना चाहता है कि "शायद यह सत्य हो।" भारतीय साधकों की अहिंसा-भावना स्याद्वाद में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंची क्योंकि यह दर्शन मनुष्य के भीतर बौद्धिक अहिंसा को प्रतिष्ठित करता है, संसार में जो अनेक मतवाद फैले हुए हैं उनके भीतर सामंजस्य को जन्म देता है तथा वैचारिक भूमि पर जो कोलाहल और कटुता उत्पन्न होती है उससे विचारकों के मस्तिष्क को मुक्त रखता है।

अनेकान्तवाद जैन दर्शनों में सोचा हुआ था। भारतवासी जैसे अपने दर्शन की अन्य बातें भूल चुके थे, वैसे ही अनेकान्तवाद का यह दुर्लभ सिद्धान्त भी उनकी आंखों से ओझल हो गया था। किन्तु, नवोत्थान के क्रम में जैसे हमारे अनेक अन्य प्राचीन सत्यों ने दुबारा जन्म

* धीरेन्द्रमोहन दत्त कृत 'फिलासाफी आफ गांधी' से।

लिया, वैसे ही गांधी जी में आकर अनेकान्तवाद ने भी नवजीवन प्राप्त किया। संपूर्ण सत्य क्या है, इसे जानना बड़ा ही कठिन है। तात्विक दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक सत्यान्वेषी सत्य के जिस पक्ष के दर्शन करता है, वह उसी की बातें बोलता है। इसीलिए सत्य के मार्ग पर आये हुए व्यक्ति की सब से बड़ी पहचान यह होती है कि वह दुराग्रही नहीं होता, न वह यही हठ करता है कि मैं जो कुछ कह रहा हूं वही सत्य है। अपने ऊपर एक प्रकार का विरल संदेह, विरोधी और प्रतिपक्षी के मतों के लिए एक प्रकार की श्रद्धा तथा यह भाव की कदाचित् प्रतिपक्षी का मत ही ठीक हो, ये अनेकान्तवादी मनुष्य के प्रमुख लक्षण हैं।

गांधी जी पर ये सभी लक्षण घटित होते हैं क्योंकि उनकी अहिंसा कायिक और वाचिक होने के साथ बौद्धिक भी थी। और इसी बौद्धिक अहिंसा ने उन्हें समझौतावादी एवं विरोधियों के प्रति श्रद्धालु बना दिया था। जब गांधी जी 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की योजना बना रहे थे, सुप्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार श्री लूई फिशर ने उनसे पूछा कि "आपके इस कार्य से युद्ध में बाधा पड़ेगी और अमरीकी जनता को आपका यह आन्दोलन पसंद नहीं आयेगा। अजब नहीं कि लोग आपको मित्र राष्ट्रों का शत्रु समझने लगें।" गांधी जी यह सुनते ही घबरा उठे। उन्होंने कहा, "फिशर, तुम अपने राष्ट्रपति से कहो कि वे मुझे आन्दोलन छेड़ने से रोक दें। मैं तो, मुख्यतः, समझौतावादी मनुष्य हूं, क्योंकि मुझे कभी भी यह नहीं लगता कि मैं ठीक राह पर हूं।"*

चूंकि अनेकान्तवाद से परस्पर विरोधी बातों के बीच सामंजस्य आता है तथा विरोधियों के प्रति भी आदर की वृद्धि होती है, इसलिए, गांधीजी को यह वाद अत्यन्त प्रिय था। उन्होंने लिखा है, "मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य ही होता हूं, किन्तु, मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझे में गलती देखते हैं। पहले मैं अपने को सही और उन्हें अज्ञानी मान लेता था। किन्तु, अब मैं मानता हूं कि अपनी-अपनी जगह हम दोनों ठीक हैं। कई अंधों ने हाथी को अलग-अलग टटोल कर उसका जो वर्णन किया था, वह दृष्टान्त अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धान्त ने मुझे यह बतलाया है कि मुसलमान की जांच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की परीक्षा ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों को प्यार करता हूं क्योंकि अब मैं अपने को विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूं। मेरा अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा, इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।†

---

*लूई फिशर कृत 'ए वीक विद गांधी' से।

† हरिजन २१ जुलाई, १९४६ ई.

सत्य के किसी एक पक्ष पर अड़ जाना तथा वाद-विवाद में आंखें लाल करके बोलने लगना, ये लक्षण छोटे लोगों के ही होते हैं। जो कदाचित, सत्य की राह पर अभी आये ही नहीं हैं। सत्य के मार्ग पर आया हुआ मनुष्य हठी नहीं होता। गांधी जी हठी नहीं थे। ईसामसीह भी हठी नहीं थे। गांधी जी के समान ईसा मसीह भी अनेकान्तवाद के प्रेमी रहे होंगे क्योंकि उन्होंने भी कहा था कि "मेरे पिता के यहां अनेक मकान हैं। मैं किसी भी मकान को तोड़ने नहीं आया, प्रत्युत, सबकी रक्षा और पूर्णता मेरा उद्देश्य है।" जब तक संसार के विचारक और शासक स्याद्वादी भाषा का प्रयोग नहीं सीखते, न तो संसार के धर्मों में एकता होगी, न विश्व के विचार और मतवाद एक होंगे। सह-अस्तित्व, सह-जीवन और पंचशील, इन सब का आधार अनेकान्तवाद ही हो सकता है।

नारी और वैराग्य

गांधी जी के नाम के साथ महात्मा की उपाधि पहले पहल रवीन्द्रनाथ ने लगायी थी। रवि बाबू धर्म के पुरुष तो थे, किन्तु, वैराग्य (जीवन के आनन्द को त्याज्य मानने के अर्थ में) से उन्हें विरक्ति थी। यही दृष्टिकोण नवोत्थान के सभी हिन्दू नेताओं का भी था। नवोत्थान से प्रवृत्तिमार्गी दर्शन को उत्तेजना मिली थी एवं धर्म की इस नई व्याख्या में इस बात पर जोर नहीं था, कि संसार असार है, इसलिए, हमें अपनी वैयक्तिक मुक्ति की खोज के लिए जंगलों में भाग जाना चाहिए एवं कामिनी और कंचन का परित्याग करके प्राणायाम और समाधि में लीन हो जाना चाहिए। इसके विपरीत, जनता में यह भाव जगाया जा रहा था कि जीवन सत्य है एवं जीवन के क्षेत्र में जो नाना कर्तव्य हमारे सामने आते हैं उन्हें सम्यक् विधि से सम्पन्न करके ही हम अपनी मुक्ति भी खोज सकते हैं। हां, 'त्येन त्यक्तेन भुंजीथाः' वाला औपनिषदिक संदेश फिर से सजीव हो उठा था। जिसके परिणामस्वरूप संस्कृति के नेता यह कह रहे थे कि भारत की कृच्छ्र वैराग्य-साधना और यूरोप का उद्दाम भोगवाद, ये दोनों ही अतिवादी दृष्टिकोण हैं। उचित यह है कि हम दोनों के बीच कोई समन्वय स्थापित करें और मध्यम-मार्ग का सहारा लें। यह विचार के धरातल पर की कल्पना थी। व्यावहारिक जीवन में तो यही दिखलाई पड़ा कि ब्रह्म-समाजियों में से अधिकांश लोग, जन्मना धनिक-वर्ग के होने के कारण, त्याग करने पर भी त्याग के कष्टों को नहीं जान सके। परमहंस रामकृष्ण ने सुखों को त्याग दिया और दयानन्द संन्यास के प्राचीन आदर्श पर ही चलते रहे। हां, विवेकानन्द ने संन्यास का नया आदर्श अवश्य स्थापित किया जिसमें संन्यासी कौमार्य और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भी बहुत कुछ गृहस्थों के ही समान थे, क्योंकि वे ध्यान और समाधि में थोड़ा ही समय लगाते थे; बाकी उनका काम संसार की सेवा करना था जो परोपकारी गृहस्थ भी करते रहते हैं। महर्षि अरविन्द में आकर संन्यास ने एक और परिवर्तन स्वीकार किया जिससे गैरिक वसन की अनिवार्यता जाती रही और

बाल-बच्चों से अलग भागना धर्म-साधना का प्रधान सोपान नहीं माना जाता है। स्पष्ट ही, नवीन हिन्दुत्व किसी लग्न-विशेष अथवा दिन-विशेष का धर्म नहीं रहकर मनुष्य के दिन-दिन, क्षण-क्षण का धर्म होना चाह रहा था। धर्म-साधना अलग और जीवन-साधना अलग, इसमें विरोधाभास था एवं अभिनव हिन्दुत्व इस विरोध को तोड़ कर संसार और धर्म को एकाकार कर देना चाहता था। इसी प्रयास में उसने गृहस्थ ब्रह्म-समाजियों और आर्य-समाजियों में किंचित संन्यासवृत्ति जगायी थी। एवं इसी प्रयास में उसने विवेकानन्द के संन्यासियों को गार्हस्थ्य के प्रति श्रद्धालु बना दिया था। अरविन्द-आश्रम में जो संन्यासी और गृहस्थ एकाकार होकर एक ही साधना में प्रवृत्त हुए उसके पीछे भी अभिनव हिन्दुत्व का यही प्रभाव काम रहा था एवं इसी प्रेरणा से गांधीजी ने समाज-सेवा एवं उच्च नैतिक आचरण को धर्म का एकमात्र आधार मान लिया एवं संन्यासी और गृहस्थ का भेद मिटा कर यह घोषणा की कि धर्म में वैरागी के लिए एक और संन्यासी के लिए दूसरा मार्ग नहीं है। अरविन्द और गांधी में उद्देश्य की समानता है। केवल उनके साधनों में ही भेद है। और साधन-भेद से ही उनके उद्देश्य विभिन्न दिखाई देते हैं। दोनों का मूल उद्देश्य मानव-स्वभाव को निर्मल बना कर आज की अपेक्षा अधिक सुन्दर, सुखद और पवित्र विश्व का निर्माण करना है। हां, अरविन्द यह कहते हैं कि नया विश्व अस्तित्व में तब आयेगा जब मनुष्य मानस की स्थिति से उठकर अति-मानस की स्थिति में पहुंचेगा। अतएव, उनका उद्देश्य पृथ्वी को उठाकर स्वर्ग तक ले जाना अथवा भूमि का स्वर्गीकरण है। इसके विपरीत, गांधीजी का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने आप को सुधार ले तो स्वर्ग स्वयमेव पृथ्वी पर उतर पड़ेगा। अतएव, गांधीजी का उद्देश्य स्वर्ग को ही भूमि पर लाना अथवा स्वर्ग का भूमिकरण है। परन्तु, यह तो केवल भाषा का भेद है। मूल ध्येय तो पृथ्वी को स्वर्ग बनाना ही है, अब चाहे स्वर्ग पृथ्वी पर उतरे अथवा पृथ्वी ही स्वर्ग पहुंच जाय। इस ध्येय का सामाजिक रूप यह है कि धर्म को चंदन, कंठी, माला, पूजा, होम और मन्दिर तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। प्रत्युत, उसे समग्र जीवन को अपनी गोद में उठा लेना चाहिए। धर्म की साधना संन्यासी और जीवन की साधना गृहस्थ करें, यह उचित स्थिति नहीं है। आदर्श समाज वह होगा जिसके संन्यासी भी गृहस्थ और गृहस्थ भी संन्यासी होंगे अथवा दोनों के बीच कोई भेद नहीं रह जायगा। धर्म को जीवन-व्यापी बनाने का यह उद्देश्य प्राचीन काल में भी झलका था जिसके प्रमाण जनक हुए हैं। मध्यकालीन भारत में भी वीर-शैव संप्रदाय इसी उद्देश्य को लेकर चला था जिसका परिणाम यह हुआ कि संन्यास का आदर्श इस संप्रदाय के गृहस्थों का भी आदर्श हो गया।

गांधीजी के प्रयोगों में धर्म को जीवन-व्यापी बनाने की साधना ने और भी प्रगति की। गांधी जी वैरागी के वैरागी और गृहस्थ के गृहस्थ थे। रवि बाबू ने लिखा है कि गांधी जी

स्वयं वैरागी हैं, किन्तु, गृहस्थों के आनन्द में वे बाधा डालना नहीं चाहते। वे स्वयं निर्धन और दरिद्र हैं, किन्तु, सबको "सुखी एवं सम्पन्न बनाने की दिशा में वे सब से अधिक क्रियाशील हैं। वे घोर रूप से क्रान्तिकारी हैं, किन्तु, क्रान्ति के पक्ष में वे जिन शक्तियों को जाग्रत करते हैं, उन्हें अपने नियंत्रण में भी रखत हैं। वे एक साथ प्रतिमापूजक और प्रतिमाभंजक भी हैं। मूर्तियों को यथास्थान रखते हुए वे आराधकों को उच्च स्तर पर ले जाकर प्रतिमाओं के दर्शन करने की शिक्षा देते हैं। वे वर्णाश्रम के विश्वासी हैं, किन्तु, जाति-प्रथा को चूर्ण किये जा रहे हैं। काम-भावना को वे भी मनुष्य की नैतिक प्रगति का बाधक मानते हैं, किन्तु, टालस्टाय की भान्ति वे सौंदर्य और नारी को संदेह से नहीं देखते। प्रत्युत, उनकी मान्यता है कि नारियों के लिए आदर और कोमलता का भाव पुरुष-चरित्र का सर्वश्रेष्ठ गुण है। गांधीजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जो सुधार वे दूसरों को सिखाते हैं, उन सुधारों की कीमत पहले वे आप चुका देते हैं। गांधीजी में सभी महान् गुण हैं, किन्तु, उनका व्यक्तित्व उनके गुणों से भी अधिक महान् है।

किन्तु, इतना होते हुए भी, गांधी जी की याद हमारे मनों में उन लोगों की याद जगा देती है जो जीवन के आनन्द को मनुष्य का शत्रु समझते थे, जो नारी को तपःशक्ति की भक्षणी कहते थे और जो यह मानते थे कि शरीर की पुष्टि से आत्मा की दुर्बलता की वृद्धि होती है।† उनका सारा दृष्टिकोण सदाचार-सेवी और पवित्रतावादी था तथा वे काव्य, संगीत, चित्र और मूर्त्ति कलाओं में भी केवल उसे ही ग्रहण करते थे जो शिव और सत्य था। सौंदर्य और आनन्द, उनके दर्शन में ऊंचा तो क्या, उचित स्थान भी नहीं प्राप्त कर सके।

किन्तु, यहां यह याद रखना होगा कि पवित्रतावाद और सदाचार-प्रियता गांधीजी की बहक नहीं थी, बल्कि, ये सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शन से निकले थे। सत्य और अहिंसा उनके दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं, किन्तु, सत्य और अहिंसा का पालन सभी लोग नहीं कर सकते। इनका सम्यक् पालन करने के लिए षड्विकारों का शमन आवश्यक है। षड्विकारों में भी गांधी जी काम को अत्यन्त प्रबल मानते थे क्योंकि लोभ और क्रोध तब

†आत्मा जैसे-जैसे पाप से मुक्ति पाती है, शरीर वैसे ही वैसे, नीरोग होता जाता है। किन्तु, नीरोग शरीर का अर्थ यहां शक्तिशाली शरीर नहीं है। शक्तिशाली आत्मा का वास दुर्बल शरीर में ही होता है। आत्मा की शक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती है, शरीर का बल त्यों-त्यों घटता जाता है। इसलिए, पूर्ण रूप से नीरोग शरीर दुर्बल और क्षीण हो सकता है। शक्तिशाली शरीर में तो, प्रायः, रोग ही बसते हैं। रोग न भी हों तब भी बली शरीर को रोग की छूत आसानी से लग जाती है। किन्तु, नीरोग शरीर को रोगों की छूत नहीं लगती।

(नवजीवन ५ जून, १९२४ ई.)

तक जीते नहीं जा सकते जब तक काम वश में नहीं आ जाय। उन्होंने लिखा है कि "ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ जननेन्द्रिय की क्रियाओं का शारीरिक नियंत्रण माना जाता है। किन्तु, इस संकीर्ण अर्थ ने ब्रह्मचर्य को कुरूप तथा उसकी साधना को असंभव बना डाला है। क्योंकि जब तक सभी इंद्रियां नियंत्रित न हो जायं तब तक जननेन्द्रिय को नियंत्रित रखना दुस्साध्य कर्म है। इंद्रियां तो परस्पर मिली हुई हैं एवं वे एक-दूसरे पर निर्भर भी करती हैं। अपने निचले धरातल पर मन भी इन्द्रिय ही है। मन पर अधिकार पाये बिना यदि हठयोग से अथवा और किसी प्रकार जननेन्द्रिय पर अधिकार प्राप्त भी हो जाय तो उस नियंत्रण को मैं अनुपयोगी और निस्सार कहूंगा। वायु का नियंत्रण जितना कठिन है, मन का नियंत्रण उससे भी कठोर है। किन्तु, परमात्मा के प्रति आस्था रहने से मन भी बस में आ जाता है।"*

काम-विजय के लिए गांधीजी ने जिह्वा-विजय को सोपान कहा है।† और जिह्वा पर नियंत्रण कैसे किया जाय, इस उद्देश्य से परिचालित होकर वे जीवन भर भोजन के भिन्न-भिन्न प्रयोग करते रहे। प्रश्न उठता है कि क्या गांधी जी का प्रयोग अथवा उनका विश्वास गलत था ? क्या आनन्द की उपेक्षा सचमुच ही, जीवन के साथ अत्याचार है ? इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जा सकते हैं और दोनों के दोनों भारतीय साधना के इतिहास में विद्यमान हैं। बौद्धों और जैनों ने सदियों तक ब्रह्मचर्य और कृच्छ् साधना पर जोर दिया। किन्तु, पांचवीं सदी के बाद, उनके संयम का बांध टूट गया एवं बुद्ध-मार्ग से ही वज्रयान आदि संप्रदायों का जन्म हो गया। यह और कुछ नहीं, ब्रह्मचर्य की सुदीर्घ साधना की ही प्रतिक्रिया थी कि साधु-महात्मा भी खुलकर नारी को अपनी मुद्रा मानने लगे एवं मैथुन को उन्होंने योग-सिद्धि का सोपान घोषित कर दिया। तब सहजयान आया। उसने भी यही सिद्धान्त रखा कि चित्तरत्न के क्षुब्ध होने से सिद्धि में बाधा पड़ती है, अतएव, इन्द्रियों के साथ जबर्दस्ती मत करो। यह सिद्धान्त बहुत कुछ वैसा ही दीखता है जैसाकि आज के मनो-

---

*बोस कृत 'सेलेक्शन्स फ्राम गांधी' से।

†मेरा अनुभव है कि जिसे जिह्वा पर नियंत्रण प्राप्त नहीं है वह पाशविक वासनाओं पर नियंत्रण नहीं पा सकेगा। जिह्वा को जीतना कोई आसान काम नहीं है। लेकिन, वासना-विजय जिह्वा-विजय के साथ बंधी हुई है। जिह्वा-विजय का एक उपाय मसालों का त्याग है। इससे भी बड़ा उपाय यह हो सकता है कि हम बराबर मन को समझाते रहें कि भोजन का उद्देश्य शरीर को कायम रखना है, भांति-भांति के स्वाद लेना नहीं। वायु तो हम शरीर-धारण के लिए ही लेते हैं, स्वाद के निमित्त नहीं। पानी भी हम केवल प्यास बुझाने को पीते हैं। तो फिर भोजन भी क्षुधा-तृप्ति के भाव से ही किया जाना चाहिए।

(नवजीवन ५ जून, १९२४ ई.)

वैज्ञानिक लोग कहते हैं। किन्तु, गांधीजी इस मार्ग को नहीं मानते। उनका भाव यह दीखता है कि यदि मनुष्य को धर्म के मार्ग पर आना है तो उसे इन्द्रिय-निग्रह करना ही होगा, क्योंकि, इन्द्रियों से भिन्न मनुष्य-कुछ है ही नहीं। इन्द्रियां खुलकर हरियाली चरती फिरें और मनुष्य का मन धर्म के मार्ग पर आरूढ़ रहे, यह कल्पना ही परस्पर विरोधी है। मनुष्य के सामने दो से अधिक विकल्प नहीं हैं। या तो वह इन्द्रियों की दासता स्वीकार कर ले और जिधर-जिधर इन्द्रियां जाने को कहें, उधर-उधर भागता फिरे। अथवा इन्द्रियों को वश में लाकर वह धर्म के पालन में तत्पर हो। इन्द्रियों की अनियंत्रिता पशु धर्म है और जो व्यक्ति भी इन्द्रियों को अनियंत्रित रखने का पक्षपाती है उसे यह भी मानना चाहिए कि मनुष्य पशु से भिन्न नहीं है, न पशु से अधिक दूर भागने की उसे चेष्टा ही करनी चाहिए। किन्तु, जो लोग यह मानते हैं कि मनुष्य पशु से भिन्न प्राणी है, उन्हें, इन्द्रिय-निग्रह को माने विना चारा नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों को नियंत्रण में रख कर ही मनुष्य पशुता से दूर जा सकता है। इन्द्रियों का उल्लंग नृत्य, पशुता का प्रमाण है। इन्द्रियों को घाट में बांध कर चलाना, यह मनुष्यता है, यह मनुष्य की संस्कृति है।

नर-नारी का पारस्परिक संबंध सदा से विवाद का विषय रहा है। सच पूछिए तो नारी गृहस्थ-जीवन का प्रतीक है। इसीलिए, जब-जब प्रवृत्ति का उत्थान हुआ, नारी और गृहस्थ, दोनों की पद-मर्यादा में वृद्धि हुई। किन्तु, अपने देश में तो वैदिक काल को छोड़ कर प्रायः सदैव निवृत्ति का ही बोलबाला रहा। अतएव, नारी की मर्यादा यहां सदैव दबी रही। समाज में प्रतिष्ठा उनकी थी जो वैयक्तिक मुक्ति के लिए वैराग्य ले लेते थे। नारी वैरागियों के किसी काम की चीज नहीं थी। अतएव, सभी संत उसे पाप की खान बताते गये। बुद्ध और महावीर ने भिक्षुणी होने का अधिकार दे कर नारियों को नरों के समकक्ष अवश्य माना, किन्तु, जिस कारण नारी पाप की खान मानी जाती थी, उसका विलाप भी दोनों धर्मों में मिलता है। नारियों को भिक्षुणी होने का अधिकार देकर बुद्ध ने विलाप किया, "आनन्द ! जो धर्म मैंने चलाया था, वह पांच सहस्र वर्ष तक चलने वाला था, किन्तु, अब वह केवल पांच सौ वर्ष चलेगा, क्योंकि नारियों को मैंने भिक्षुणी होने का अधिकार दे दिया है।" और हुआ भी यही। बुद्ध देव के पांच सौ वर्ष बाद ही, महायान संप्रदाय निकला (यद्यपि इसका दायित्व भिक्षुणियों पर नहीं था) और बौद्ध-मत धीरे-धीरे हिन्दुत्व के अंक में लौटने लगा। ठीक इसी समय, जैनों में दिगम्बर-संप्रदाय का प्रवर्तन हुआ जिसके आचार्यों ने मुनि-धर्म में यह संशोधन उपस्थित किया कि नारियों का भिक्षुणी होना व्यर्थ है क्योंकि पुरुष-योनि में जन्मे विना उन्हें मुक्ति नहीं मिलेगी। कबीर आदि संतों ने विवाह करके यह दिखलाना अवश्य चाहा कि गृहस्थ-जीवन धर्म-साधना का बाधक नहीं है, न नारी धर्म का शत्रु है किन्तु, निवृत्ति-भाव के उदय होते ही वे भी कहने लगे:—

नारी तो हम हूँ करी, तब ना किया विचार,
जब जानी तब परिहरी, नारी महा विकार।

इसके विपरीत, पाश्चात्य जगत् में जन्मे हुए उदार विचारों का यह परिणाम हुआ कि नारी अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने लगी और नारी के जागते ही पुरुष इस ग्लानि से भर गया कि संपूर्ण इतिहास में नारी पर वह अत्याचार ही तो करता आया है। स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ आर्थिक स्वाधीनता है। नारी जब तक यह स्वाधीनता नहीं प्राप्त करती, उसका यह दावा झूठ है कि वह स्वतंत्र है। किन्तु, पुरुष यह नहीं चाहता कि नारी आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो; क्योंकि, उसका कामुक संस्कार इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकता कि नारियां खेतों में जायं, कारखानों में काम करें और इस प्रकार, अपने रंग को मद्धिम एवं अपनी चमड़ी को खुरदुरी बना लें। इसलिए, पुरुष कहता है, "मेरी महीने भर की कमाई तुम्हारे चरणों पर अर्पित है। तुम जिस तरह चाहो, इसे खर्च करो। खेतों और कारखानों में जाने की तुम्हें आवश्यकता क्या है?" और प्रत्येक देश में नारी इस उत्कोच को सहर्ष स्वीकार कर रही है। वह मग्न है यह प्रशस्ति सुन कर कि नारी रूप है, नारी सुधा और चांदनी है, नारी पुरुष के गले में मन्दार की माला है, उसकी बांहों में झूलती हुई जुही की लड़ी है। कवियों और दार्शनिकों ने भी नारी को एक उत्कोच यह कह कर दिया है कि वह पुरुष की प्रेरणा का उत्स है, नारी का प्रेम पाकर मनुष्य बड़े-बड़े काम कर डालता है। यह नारी-समस्या का समाधान नहीं है। नारियां यह सुनकर प्रसन्न क्यों होती हैं कि वे पुरुषों के प्रेरणास्रोत हैं, उनकी शक्ति और प्रताप के केन्द्र हैं? क्या नारियों का सारा जीवन केवल पुरुषों को प्रेरित करने के लिए है? क्या उनका अपना कोई ध्येय नहीं हो सकता? क्या नरों के समान नारियों को अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं करना है? और यदि उनका जन्म पुरुषों में प्रेरणा भरने को है तो क्या वे अल्प विकास के लिए पुरुषों से वैसी ही प्रेरणा पाने का दावा नहीं कर सकतीं? ये प्रश्न हैं जिनका समाधान नारियों को खोजना चाहिए। किन्तु, सदियों के कुसंस्कारों के कारण नारियों का ध्यान इस ओर नहीं जा रहा है। युद्ध रोकने और वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के कामों से नारियों को दिलचस्पी नहीं दीखती। वे पुरुष-प्रदर्शनी आयोजित करती हैं और बन-ठन कर समाज में सुरभि बिखेर कर अपने अस्तित्व की इतिश्री मान लेती हैं।

हमारा विचार है कि नर-नारी के संबंधों पर जैसा निश्चित निदान गांधीजी और मार्क्स ने दिया है वैसा और कोई विचारक नहीं दे सका। ये दोनों नेता नर-नारी को सहज एवं समान दृष्टि से देखते हैं और यह मानते हैं कि जिस क्षेत्र में एक की विजय है, उसमें दूसरे को भी विजय मिल सकती है। खेत और कल-कारखाने, ये दोनों के क्षेत्र हैं। ज्ञान और विज्ञान, इन पर भी दोनों का समान अधिकार है। प्रकृति ने नर और नारी की रचना

एक ही तत्व से की है अतएव, एक के लिए जो सहज और संभाव्य है, वह दूसरे के लिए भी असंभव नहीं हो सकता। हां, मातृत्व एक ऐसा गुण अवश्य है जिसके कारण नारी नर से भी श्रेष्ठ हो जाती है।

फर्क यह है कि भौतिकवादी होने के कारण मार्क्स को अपने समाधान पर पहुंचने में कठिनाई नहीं हुई। नर-नारी के बीच जिन कारणों से प्राचीन संत और सुधारक भय की स्थिति देखते थे, उन कारणों को मार्क्सवादी मानते ही नहीं। इसीलिए, विवाह उनकी दृष्टि में अनिवार्य संस्था नहीं है, न ब्रह्मचर्य, पातिव्रत अथवा एकपत्नीव्रत को ही वे जीवन का कोई दुर्लभ गुण मानते हैं। और स्पष्ट ही, इन परंपरागत मूल्यों से यदि हम आंख मूंद लें तो मार्क्सवादी समाधान नर-नारी समस्या का पूरा समाधान है।

किन्तु, गांधीजी इन मूल्यों से आंखें नहीं मूंद सकते। यदि वे आंखें मूंद लें तो उनका सारा दर्शन, पृथ्वी पर स्वर्ग की अवतारणा की उनकी सारी कल्पना क्षणभर में ढह पड़ेगी। मनुष्य के सुधार का मार्ग सत्य और अहिंसा का मार्ग है और सत्य एवं अहिंसा का सम्यक् पालन काम को नियंत्रित रखे विना नहीं हो सकता। गांधीजी के भीतर प्राचीन परंपरा के संत और आधुनिक विचारक, दोनों विद्यमान हैं। विचारक का कहना है कि नर और नारी के संबंध को स्वाभाविकता प्रदान करो। संत को भय है कि स्वाभाविकता के प्रचलित अर्थ से तो दोनों काम के दास हो जायेंगे और दोनों में सत्य एवं अहिंसा की भावना दुर्बल पड़ जायगी। इसलिए, गांधीजी मध्य-मार्ग पर आते हैं। उनका कहना है कि नर और नारी, दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे से स्वतंत्र है और दोनों अपने-अपने व्यक्तित्व का विकास करने को जन्म लेते हैं। यदि रूप और सौन्दर्य तथा आधिभौतिक सुखों के लोभ में आकर वे एक-दूसरे से मिलते हैं, तो यह ऊंचा मिलन नहीं है।* व्याकुलता तो दोनों में आत्म-विकास के लिए होनी चाहिए जिसका साधन समाज-सेवा और स्वार्थ-त्याग है। हां, विचारों में एकता अथवा उद्देश्यों में समानता होने के कारण वे यदि एक-दूसरे के समीप आना चाहें तो वे विवाह भी कर सकते हैं। किन्तु, विवाह के उपरान्त बाल-बच्चे उत्पन्न

---

*कहते हैं, जब कोई युवक और युवती आपस में संदिग्ध संबंध जोड़ बैठते थे, तब गांधीजी उनका इलाज करने को युवती का माथा मुंडवा देते थे और दोनों को दो विभिन्न दिशाओं में काम पर भेज देते थे। युवती के माथे के बाल उतरवा देने में, शायद, उनका यह भाव था कि प्रेमी इस नारी को भी देखे और समझे कि वह प्रेम-पात्री रह गई है या नहीं। साज-शृंगार प्रसाधन और बनाव इन्हें वे नारी के व्यक्तित्व को छिपाने वाला आवरण समझते थे। उनकी इच्छा थी कि पुरुष नारी के उस मूल व्यक्तित्व को प्यार करना सीखे जो प्रसाधनों के नीचे है, जो यौवन और जरा से अलिप्त और अप्रभावित रहता है।

—लेखक

करना कोई ऊंचा ध्येय नहीं है। एक तो इससे जनसंख्या में अनुचित वृद्धि होती है। दूसरे, बाल-बच्चों की वृद्धि से समाज-सेवी की सेवा की योग्यता न्यून पड़ जाती है। अतएव, नर-नारी को या तो विवाह ही नहीं करना चाहिए अथवा करना अनिवार्य हो तो दोनों का आनन्द बौद्धिक मिलन अथवा आध्यात्मिक समीपता का आनन्द होना चाहिए। बस, इतनी-सी शर्त लगा कर गांधीजी नर-नारी को स्वतंत्र छोड़ देते हैं और उन्हें परस्पर समकक्ष भी मानते हैं।* गांधीजी प्रत्येक कर्म का मूल्य इस कसौटी पर आंकते हैं कि उससे मुक्ति में सहायता मिलती है या नहीं। विवाह मुक्ति का सहायक नहीं है, इसलिए वे विवाह को अनावश्यक मानते हैं। उनकी मान्यता है कि मुक्ति से दूर रहने के कारण मनुष्य का पुनर्जन्म होता है तथा मुक्ति से और अधिक दूर होने के कारण वह विवाह करता है। नर-नारी दोनों समान हैं और दोनों को चाहिए कि वे अपने मोक्ष के लिए साधना करें। बहुत प्राचीन काल से लोग जो यह कहते आये थे कि नर और नारी परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं, उस सिद्धान्त का गांधी और मार्क्स, दोनों ने, प्रयोगों द्वारा खंडन कर दिया है।

धर्म की अनुभूति

राजनीति गांधीजी को लील तो नहीं सकी, किन्तु, उसने उनके असली रूप पर परदा अवश्य डाल दिया जो उनके मोक्ष-लाभ के बाद से शनैः-शनैः उठ रहा है। राष्ट्रों को स्वाधीन करने वाले अथवा नये राज्य स्थापित करने वाले महापुरुषों की पंक्ति में बिठा कर हम गांधीजी को ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। राजनीति का पात्र अत्यन्त छोटा होता है। उसमें सागर क्या कभी आ सकता है? गांधीजी राजनीति के पुरुष नहीं थे। वे धर्म के नेता, मनुष्य के उद्धारक और नये मूल्यों के संस्थापक थे। उनके वास्तविक रूप के विषय में दूसरों को कोई भ्रम रहा हो तो हो सकता है, गांधीजी को स्वयं कोई भ्रम नहीं था। बहुत-से राजनीतिज्ञ हुए हैं जो धर्म के परिधान में छिप कर चलते थे; गांधीजी शुद्ध-शुद्ध धार्मिक मनुष्य थे जिन्हें राजनीति के वेष में रहना पड़ा।

किन्तु, गांधीजी का धर्म क्या था, इसे हम उसी आसानी से नहीं समझ सकते जिस आसानी से कुछ अन्य धर्माचार्यों का धर्म हमारी समझ में आ जाता है। उनका धर्म किसी गुरु-मुख से लिया हुआ धर्म नहीं था, न उन्होंने संप्रदाय-विशेष के धर्म को अपना धर्म माना, यहां तक कि प्राचीन धर्म-ग्रन्थों का भी प्राचीन अर्थ वे ज्यों का त्यों नहीं ग्रहण कर सके। "मैं धर्म की किसी भी ऐसी व्याख्या को मानने से इनकार करता हूं जो महाविद्वानों की

---

*गांधीजी प्रत्येक नर को अर्धनारीश्वर और प्रत्येक नारी को अर्धनरेश्वरी बनाना चाहते थे, ऐसा हमारा अनुमान है। इसीलिए, उनके नर चरखा कातते हैं और उनकी नारियां फावड़े चलाने को केवल पुरुष का कार्य नहीं मानतीं।

—लेखक

होने पर भी नैतिक भावना और बुद्धि के विरुद्ध है।" "मेरा धर्म हिन्दू-धर्म नहीं, बल्कि, वह धर्म है जो हिन्दुत्व से भी आगे जाता है, जो हिन्दुत्व के भीतर के सत्यों पर आधारित है, जो क्षण-क्षण पवित्रता प्रदान करने वाला है, जो आत्मा को तब तक बेचैन रखता है जब तक कि वह परमात्मा से एकाकार न हो जाय।" "किसी को भी इस धोखे में नहीं रहना चाहिए कि संस्कृत में जो कुछ लिखा है एवं शास्त्रों में जो कुछ मुद्रित है उसे आंख मूंदकर मानना ही धर्म है। नैतिकता के मूल-सिद्धान्त और सुनियोजित बुद्धि के जो विरुद्ध है, उसे नहीं मानना ही धर्म है, चाहे वह कितना भी प्राचीन क्यों न हो।"

सांस्कृतिक नवोत्थान के साथ भारत में बुद्धिवाद की जो लहर उठी, उसे गांधीजी ने सर्वतोभावेन ग्रहण किया। किन्तु, उनका बुद्धिवाद उन्हें यह समझाने में असमर्थ रहा कि जो कुछ दृश्य है, वही सत्य है तथा अदृश्य और अगोचर की ओर विवेकशील मनुष्य को ध्यान ही नहीं देना चाहिए। प्रत्युत्, उन्होंने अगोचर और अदृश्य को अपनी प्रेरणा का मूल-स्रोत माना तथा सभी कठोर परीक्षाओं के अवसर पर अपनी आत्मा के भीतर वे इसी अगोचर और अदृश्य की आवाज सुन कर शांति पाते रहे।

गांधीजी के सभी धार्मिक विचार उनके निजी अनुभवों से निकले थे, इसलिए, उनकी भाषा में वही बेधकता और सचाई मिलती है जो उपनिषदों में दिखाई देती है, जो बुद्ध और ईसा तथा परमहंस रामकृष्ण के उद्‌गारों में भरी हुई है। पुस्तकीय और तर्क-सम्मत ज्ञान में सचाई की वह आग नहीं होती जो अनुभव-जनित ज्ञान में होती है। गांधीजी ने धार्मिक सत्यों को सीखा नहीं, अपने ही जीवन में उनकी अनुभूति की थी। इसलिए, उनके विचारों में कहीं-कहीं वह विरोधाभास भी है जो उपनिषदों में मिलता है। उदाहरण के लिए, सुस्पष्ट शब्दों में यह बताना बड़ा ही कठिन है कि गांधीजी द्वैतवादी या अद्वैतवादी थे अथवा उनकी भक्ति साकार या निराकार पर थी। वे अपने को वैष्णव कहते थे और रामनाम के जप तथा कीर्तन में उनका बड़ा विश्वास था। यहां तक कि अन्त में आकर उनका विश्वास हो गया था कि रामधुन से पाप तो क्या, शारीरिक रोग भी छूट जाते हैं। पराकाष्ठा यह हुई कि हत्यारे की गोलियां खा कर जब वे गिरे तब भी उनके मुख से "हे राम" ये दो शब्द अनायास निकल पड़े। बल्कि अनायास तो इसे कहना ही नहीं चाहिए। जनम-जनम मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं*। किन्तु, अन्त में भी उनके मुख से अपने आराध्य का नाम निकल सका, यही बतलाता है कि जीवन भर वे किस तैयारी में रहे थे। गांधीजी का जीवन महान् था, किन्तु, उनकी मृत्यु उससे भी महान् निकली। ईसा जब शूली पर चढ़ाये गये, तब वे लोग भी अपना हृदय टटोलने को बाध्य हुए जो जीवन भर उनकी उपेक्षा करते आये थे। कुछ ऐसी ही बात गांधीजी के साथ भी हुई है। उनका सारा जीवन ही ईश्वर

---

*तुलसीदास

के प्रति उनकी गहन आस्था की अभिव्यक्ति था। यदि इसमें कहीं कुछ कोर-कसर रह गई थी तो उसे उनकी मृत्यु ने पूरा कर दिया।

किन्तु, जिस राम का नाम गांधीजी आजीवन जपते रहे तथा जिसका नाम लेते हुए उन्होंने अपने प्राण त्यागे, वह राम कौन था, यह विवाद का विषय है। "मेरे राम, हमारी प्रार्थनाओं के राम, ऐतिहासिक राम नहीं हैं, वे दशरथ के पुत्र और अयोध्या के राजा नहीं हैं। वे तो सनातन हैं, वे अजन्मा हैं, वे अद्वितीय हैं। मैं उन्हीं की पूजा करता हूं। उन्हीं से सहायता और वरदान मांगता हूं। वे सब के हैं। इसलिए, मैं यह समझ नहीं पाता कि कोई मुसलमान या अन्य व्यक्ति उनका नाम लेने पर आपत्ति क्यों करता है। ईश्वर को वह राम न माने, यह संभव है, किन्तु, राम की जगह वह अल्लाह या खुदा का नाम तो ले ही सकता है।*" यह गांधीजी के राम का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष तब सामने आया जब एक जिज्ञासु ने उनसे यह प्रश्न किया कि "कहने को तो आप यह कहते हैं कि आपके राम दाशरथि राम नहीं हैं। फिर ऐसा क्यों है कि आपकी प्रार्थना में सीताराम और राजाराम शब्द बार-बार आते हैं?" इस प्रश्न के उत्तर में गांधीजी ने हरिजन में एक टिप्पणी लिखी कि "यह ठीक है कि रामधुन के क्रम में सीताराम और राजाराम शब्द बार-बार आते हैं। किन्तु, ध्यान देने की बात यह है कि राम से अधिक शक्तिशाली उनका नाम है।† हिन्दू-धर्म तो महासिन्धु के समान है जिसमें असंख्य बहुमूल्य मोती भरे पड़े हैं। .... इस धर्म में ईश्वर के अनेक नाम हैं। हजारों लोग असंदिग्ध रूप से राम और कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं तथा यह विश्वास करते हैं कि वे ईश्वर के अवतार थे। इतिहास, कल्पना और सत्य, हिन्दुत्व में सब मिलकर एकाकार हो गये हैं। इनमें से किसी एक को तोड़कर अलग करना दुःसाध्य कर्म है। ईश्वर के जितने भी नाम और रूप कहे गये हैं, मैंने निराकार एवं सर्वव्यापी राम को उन सब का प्रतीक मान लिया है। इसलिए राम को सीतापति अथवा दशरथपुत्र, जो चाहो कहो, मेरे लिए तो वह सर्वशक्तिमान् तत्व है जिसका नाम यदि हृदय में अंकित हो जाय तो मानसिक, नैतिक और शारीरिक कष्ट क्षण में दूर हो जाते हैं।‡"

राम को निराकार मानते हुए भी, गांधीजी वैष्णव-श्रेणी के भक्त थे। शांकर मत का शून्यवाद और ज्ञान-मार्ग उन्हें पसन्द नहीं था। शंकर के विपरीत, गांधीजी का प्रपत्ति और शरणागति में अटल विश्वास था एवं शुद्ध अन्तःकरण से वे अपने को सब तरह से निस्सहाय मान कर केवल निराकार राम की कृपा के भरोसे जीते थे। ये सभी लक्षण द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत विश्वासी वैष्णव भक्तों में देखे जाते हैं एवं सिद्धान्ततः देखा जाय तो गांधीजी

---

*हरिजन, २८ अप्रैल, १९४६ ई.

† **कहौं कहां लगि नाम बराई, राम न सकहिं राम गुन गाई। —तुलसीदास**

‡हरिजन, २ जून, १९४६ ई.

इसी प्रकार के भक्त थे। किन्तु, कहीं-कहीं उन्होंने अद्वैतवादी होने का भी दावा किया है। "मैं अद्वैतवादी हूं तथा मैं द्वैतवाद का भी समर्थन कर सकता हूं। संसार क्षण-क्षण परिवर्तित हो रहा है, अतएव वह असत्य है; उसका स्थायी अस्तित्व नहीं है। किन्तु, संसार में कोई ऐसा भी तत्व है जो परिवर्तित नहीं होता। इसलिए, संसार को सत्य भी कह सकते हैं। विश्व सत्य भी है और असत्य भी, यह मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं दीखती। अतएव, कोई मुझे अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहे तो कह सकता है। किन्तु, मेरा स्याद्वाद भी पंडितों का नहीं हो कर मेरा अपना ही है।"*

परमात्मा ने सृष्टि बनायी या नहीं, इस सनातन प्रश्न पर भी उनके विचार अनेकान्तवादी थे। "मैं उसे रचयिता भी मानता हूं और रचना से तटस्थ भी। जैनों के मंच से मैं ईश्वर की तटस्थता का समर्थन करता हूं और रामानुज के मंच से उसकी रचयित्री शक्ति का। वास्तव में, हम अज्ञेय को ज्ञेय बनाने का प्रयास कर रहे हैं; इसीलिए, हमारी वाणी तुतलाने लगती है, निश्चित रूप से कुछ कहने में असमर्थ हो जाती है और हम परस्पर-विरोधी बातें भी बोलने लगते हैं।"†

परमात्मा को सर्वात्मवादी साधक फूलों, नदियों, पहाड़ों, लताओं और समुद्रों इत्यादि में झिलमिलाते देखता है। रहस्यवादी अपनी समाधि में अदृश्य वास्तविकता का स्पर्श करता है और साकारोपासक भक्त पत्थर की प्रतिमाओं में भी ईश्वर की प्रत्यक्ष मूर्त्ति के दर्शन करता है। किन्तु, गांधीजी ने परमात्मा के दर्शन सदाचार में किये। "ईश्वर वह अपरिभाषेय पदार्थ है जिस का अनुभव तो किया जा सकता है, किन्तु, जिसे हम जान नहीं सकते। मेरे लिए ईश्वर सत्य और प्रेम है, नैतिकता और सदाचार है। वह जीवन और प्रकाश का उत्स है, किन्तु, वह इनसे भी परे है। ईश्वर आत्मा की आवाज है। वह नास्तिकों की नास्तिकता भी है। किन्तु, वाणी और तर्क की पहुंच के वह परे है। जो उसका स्पर्श चाहता है, उसके लिए वह साकार है। जो श्रद्धावान् और विश्वासी हैं उनके लिए वह केवल अस्तित्व मात्र है।"‡

भक्ति और रहस्यवाद के प्रति इस युग की श्रद्धा नहीं रह गई है। यद्यपि लोग बुद्धि को अपूर्ण कहने लगे हैं, किन्तु, वे प्रत्येक वस्तु की परीक्षा बुद्धि से ही करते हैं क्योंकि मनुष्य के पास अभी और कोई उपाय नहीं है। और बुद्धि रहस्यवाद एवं भक्ति को समझ नहीं पाती, वह उन्हें मन्द उन्माद की स्थिति कह कर छुट्टी ले लेती है। ऐसे शंकालु युग के लिए गांधीजी का संदेश है कि ईश्वर सदाचार का स्वरूप है। तुम नैतिक धर्म का पालन करो,

---

*यंग इण्डिया, २१ जनवरी, १९२६ ई.

†यंग इंडिया, २१ जुलाई, १९४६ ई.

‡यंग इंडिया, ३ मार्च, १९२५ ई.

भगवान् तुम्हें आप से आप प्राप्त हो जायगा। "जो अपने जीवन में प्रमाण खोजता है उसे अपने भीतर श्रद्धा और जीवित धर्म का पालन करना चाहिए। किन्तु, श्रद्धा और विश्वास भी बाह्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं किये जा सकते। अतएव, ऐसे व्यक्ति को सृष्टि के नैतिक शासन में विश्वास करना चाहिए, सत्य और प्रेम के नियमों में आस्था रखनी चाहिए। .... जो ईश्वर केवल बुद्धि को संतुष्ट करता है, वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर का ईश्वरत्व भक्त के हृदय पर शासन करने तथा उसे परिवर्तित करने में है। अपने भक्त के क्षुद्र से क्षुद्र कार्यों में भी उसे अपना रूप दिखलाना ही चाहिए।"

गांधीजी वैष्णव-श्रेणी के भक्त थे और नाम-कीर्तन में उनका अटल विश्वास भी था।* किन्तु, धर्म की अभिव्यक्ति वे केवल नाम-कीर्तन और ध्यान को ही नहीं मानते थे। भक्त है तो नाम-कीर्तन करेगा ही, परमात्मा का ध्यान धरेगा ही, किन्तु, ये साधन अधिक महत्व नहीं रखते। गांधी-मत में धर्म की वास्तविक अभिव्यक्ति सदाचार है। जो सदाचारी नहीं है वह गांधी-मत से धार्मिक भी नहीं माना जा सकता। "धर्म कहते हैं, जीवन के स्थान पर ईश्वर को स्वीकार करने को। ईश्वर की स्वीकृति का अर्थ है प्रेम, सत्य और विवेक को हृदय पर शासन करने देना तथा स्वार्थपरता, दुरिच्छा, अज्ञान और अविवेक तथा काम और क्रोध को दूर करना। धर्म का वास्तविक निचोड़ नैतिकता के पालन में है। धर्म और नैतिकता परस्पर अविच्छिन्न हैं। फिर भी, बोये गये बीज के लिए जल जो महत्त्व रखता है, नैतिकता के लिए धर्म का वही महत्त्व है। किन्तु, नैतिकता के विकास से भी धर्म की वृद्धि होती है। अपने भीतर में जितनी ही पवित्रता लाता हूं, ईश्वर मुझे उतना ही समीप मालूम होता है।"

सदाचार के समान ही, गांधीजी प्रार्थना में पूरे अस्तित्व से विश्वास करते थ। उनका सारा जीवन ही प्रार्थनामय था, कृष्णार्पण और आत्म-निवेदन के भावों से पूर्ण था। "प्रार्थना धर्म का निचोड़ है। प्रार्थना याचना नहीं है। यह तो आत्मा की आकांक्षा का नाम है। प्रार्थना दैनिक दुर्बलताओं की स्वीकृति है। प्रार्थना हृदय के भीतर चलने वाले अनु-संधानों का नाम है। यह आत्म-शुद्धि का आह्वान है, यह विनम्रता को निमंत्रण देना है।

---

*मनुष्य चाहे जिस रोग से भी ग्रस्त हो गया हो, हृदय के भीतर से वह राम का नाम ले तो उसके सभी रोग छूट जायेंगे।

(हरिजन, ३ मार्च, १९४६ ई.)

आप किसी सिद्धान्तवादी से बातें नहीं कर रहे हैं, किन्तु, उससे जिसने जो कुछ वह कहता है, उसका जीवन के प्रत्येक क्षण में अनुभव किया है। अब तो, स्थिति यह है कि जीवन का प्रवाह भले ही रुक जाय, प्रार्थना और जप का प्रवाह नहीं रुक सकता। यह तो आत्मा की सुनिश्चित आवश्यकता है। (हरिजन, २५ मई, १९३५ ई.)

यह मनुष्यों के दुःख में भागीदार बनने की भी तैयारी है।"*

वस्तुतः, गांधी-धर्म न तो कोई एक धर्म है, न वह विश्व भर में प्रचलित धर्मों से भिन्न है। सभी धर्म जहां से उत्पन्न होते हैं, गांधीजी उस उत्स के आमने-सामने खड़े थे। और सभी धर्म मनुष्य को जहां ले जाना चाहते हैं, गांधीजी उस मंजिल के भी पास थे। वस्तुतः, गांधी-धर्म वह धर्म है जिससे प्रत्येक धर्म की धार्मिकता में वृद्धि होती है। अच्छा गांधी-मार्गी अच्छा हिन्दू भी है तथा अच्छा मुसलमान और अच्छा क्रिस्तान भी। ईसाई धर्म-प्रचारकों को लक्ष्य करके एक बार गांधीजी ने कहा था, "तुम हमें नया धर्म सिखाने को इतने आतुर क्यों हो? हमें अच्छा हिन्दू बनाओ, अच्छे नर-नारी बनाओ, यही यथेष्ट है। नाम के परिवर्तन से हृदय तो परिवर्तित नहीं होगा। शब्दों के बदले यदि जीवन बोलना आरम्भ कर दे तो वह बहुत श्रेष्ठ है।"

गांधीजी ने जैसे बुनियादी-शिक्षा की योजना निकाली, वैसे ही, उनका धर्म भी बुनियादी धर्म था। बुनियादी धर्म में आध्यात्मिक स्वीकृति होती है, बौद्धिक समर्थन नहीं उसमें हार्दिक भक्ति के कारण एकरूपता आती है, अनुष्ठानों की एकता के कारण नहीं। बुनियादी धर्म वह है जिसमें सभी धर्मों के मूल हैं, जहां से सभी नदियों को पानी जा रहा है।

---

*प्रार्थना श्रवणों या शब्दों की कसरत नहीं है। यह अर्थहीन मंत्रों का पारायण भी नहीं है। राम-नाम का जाप चाहे जितना भी करो, यदि उससे आत्मा आन्दोलित नहीं होती, तो वह व्यर्थ है। प्रार्थना में निःशब्द हृदय का होना अच्छा है, किन्तु, हृदयहीन शब्दों का होना खराब है। भूखा मनुष्य जैसे भोजन से जी भर कर आनन्द लेता है, भूखी आत्मा, उसी प्रकार, प्रार्थना से संतोष प्राप्त करती है। (यंग इण्डिया, २३ जनवरी, १९३० ई.)

विश्वदर्शन के प्रवर्त्तक श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन

जिस सांस्कृतिक नवोत्थान के संत परमहंस रामकृष्ण, कवि रवीन्द्रनाथ और कर्मयोगी महात्मा गांधी हुए, उसके अप्रतिम दार्शनिक श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन हैं। भारत के मनीषियों का लक्षण रहा है कि वे जब भी भारतीय दर्शन को नया रूप देना अथवा उसकी नई व्याख्या करना चाहते हैं, तब वे प्रस्थानत्रयी (गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र*) की व्याख्या करते हैं। प्रस्थानत्रयी में भारतवर्ष की श्रेष्ठतम दार्शनिक अनुभूतियां संचित हैं। और ये अनुभूतियां केवल पुस्तकों में ही सीमित नहीं हैं, उनका सार भारतवासियों के रक्त में मिश्रित है, उनके स्वभाव में समाया हुआ है, उनके विचारों और भावों के मूल में प्रतिष्ठित है। धर्म यहां वह है जो संतों के जीवन में दिखलायी पड़ता है जैसा कि रामकृष्ण और गांधी के जीवन में वह अभी हाल में भी दिखलायी पड़ा था। किन्तु दर्शन हमारा गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र में है। श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने प्राचीन दर्शनाचार्यों के समान गीता और प्रमुख उपनिषदों की व्याख्या लिखी है एवं ब्रह्मसूत्र की स्वतंत्र व्याख्या, यद्यपि वे नहीं लिख पाये हैं, किन्तु, ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य की व्याख्या से उनके सभी ग्रंथ ओत-प्रोत हैं। अतएव प्रस्थानत्रयी की व्याख्या का कार्य उन्होंने एक प्रकार से पूरा कर दिया है और भारतीय विचारों के इतिहास में वे उस सरणी में सहज ही आ बैठे हैं जो शंकर और रामानुज की सरणी है।

श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जन्म सन् १८८८ ई० में दक्षिण भारत की छोटी-सी नगरी तिरूतनी में हुआ था। तिरूतनी आज भी धार्मिक तीर्थयात्रा का केन्द्र है। उनके माता-पिता धर्म-सेवी और ईश्वर-भक्त थे। राधाकृष्णन जी की सारी शिक्षा-दीक्षा ईसाई धर्म-प्रचारक स्कूलों और कालेजों में हुई। आरम्भ में वे लूथरन मिशन हाई स्कूल, तिरुपति में पढ़ते थे, फिर वे बेल्लोर के उरही कालेज में गए और अन्त में क्रिश्चियन कालेज मद्रास में उन्होंने अपनी ऊँची शिक्षा समाप्त की। अतएव, कहा जा सकता है कि उनका बचपन और

---

* "उपनिषद् भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा भिन्न-भिन्न समय में बनाये गए हैं, इसलिए, उनमें कहीं-कहीं विचार-विभिन्नता भी आ गई है। इस विचार-विरोध को मिटाने के लिए ही बादरायणाचार्य ने अपने वेदान्त सूत्रों में सब उपनिषदों की विचारैक्यता कर दी है। और इसी कारण, वेदान्त-सूत्र भी उपनिषदों के समान ही प्रमाण माने जाते हैं। इन्हीं वेदान्त-सूत्रों का दूसरा नाम ब्रह्मसूत्र अथवा शारीरिक सूत्र है।"

(गीता-रहस्य)

छात्र-जीवन ऐसे वातावरण में बीता जो धर्म का वातावरण था तथा जहां अदृश्य शक्ति के अस्तित्व की बात विवाद नहीं, विश्वास की चीज थी। इन्हीं कारणों से, श्री राधाकृष्णन को दर्शन की उपलब्धि विज्ञान या इतिहास के द्वारा नहीं होकर, धर्म के द्वारा हुई और इन्हीं कारणों से वे आधिभौतिक कोलाहल से भरे हुए काल में भी आत्मा का स्वर बनकर विश्व के समक्ष आये।

राममोहन राय, रामकृष्ण, दयानन्द, विवेकानन्द, रवीन्द्र, गांधी, तिलक और अरविन्द के समान, श्री राधाकृष्णन भी उन्नीसवीं सदी में होने वाले सांस्कृतिक महाजागरण की देन हैं। भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म को चुनौती यूरोप से आई थी, अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों से आई थी। अतएव, राममोहन से लेकर अरविन्द तक अभिनव हिन्दुत्व की ओर से जो भी तर्क दिये गए थे, उनके श्रोता मुख्यतः यूरोपीय विद्वान् अथवा अँग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासी थे। रामकृष्ण, दयानन्द और तिलक, तथा गांधी, इनके प्रधान श्रोता भारतवासी अवश्य थे, परन्तु, उनके संदेश भी विश्व भर के विचारकों के समक्ष पहुँचे। यह बड़ा कार्य था। किन्तु, शुद्ध विद्या के क्षेत्र में उससे भी बड़ा कार्य अभी अधूरा पड़ा हुआ था। यूरोप के प्राच्य-विद्या-विशारदों को भारत के अतीत के विषय में जो उत्सुकता जगी थी, उसी के परिणामस्वरूप भारत का अतीत ज्ञान प्रकाश में आया था और उसी प्रक्रिया में भारतवासी भी अपने प्राचीन ज्ञान के प्रति गौरव अनुभव करने लगे थे। किन्तु, यूरोप की भाषा में भारत की समस्त साधना का वृत्तांत अभी प्रस्तुत नहीं हो पाया था। न यूरोप वालों को यही ज्ञात हो पाया था कि यूरोपीय विचारों की कसौटी पर भारतीय धर्म और दर्शन कहां तक खरे उतरते हैं। यह कार्य श्री राधाकृष्णन ने पूरा किया और भारत की अभिनव व्याख्या करने के क्रम में उन्होंने पाश्चात्य जगत की भी विधिवत् व्याख्या कर दी। इस प्रकार, तुलनात्मक दर्शन का जन्म, श्री राधाकृष्णन के ग्रंथों में हुआ और उन्हीं के ग्रंथों से प्रत्येक देश के विचारकों में यह भाव जाग्रत हुआ कि विश्व-दर्शन की रचना असंभव नहीं, संभव कार्य है।*

* एक शताब्दी से भी कुछ कम वर्ष हुए होंगे कि पूर्व और पश्चिम के बीच व्याकरण और भाषा-विज्ञान को छोड़ कर एकता का और कोई मार्ग नहीं था। किन्तु, तबसे एक प्रमुख परिवर्तन आया है जिसकी गति दिन-दिन बढ़ती जा रही है। पूर्वी विश्व अब यह मानने लगा है कि उसके अपने मूल्यों की रक्षा के लिए भी पश्चिमी विज्ञान पर अधिकार करना आवश्यक है। यही नहीं, प्रत्युत्, विज्ञान के पीछे जो दार्शनिक मुद्रा होती है, उसे आत्मसात् करने से पूर्व की दार्शनिकता भी अधिक चमकेगी। और पश्चिमी विश्व के भीतर यह भावना जगी है कि पूर्व के पास जो आध्यात्मिक गहराइयां हैं, उन्हें ठीक से समझ लेने पर कदाचित् पश्चिमी जगत को प्रतियोगिता की आपा-धापी से त्राण मिल सकता है तथा उसे

बाह्य एवं आन्तरिक शांति प्राप्त हो सकती है जिसका वह कामी तो रहा है, किन्तु, जो उसे प्राप्त नहीं हो सकी है।.........आज तक आधा विश्व दूसरे आधे विश्व की अनुभूतियों और अन्तर्दर्शिनी शक्तियों को ग्रहण करने में असमर्थ रहने के कारण संपूर्ण विश्व की अपेक्षा दरिद्र रहा है। किन्तु अब वह अवस्था समाप्त हो रही है और लोग प्रत्येक संस्कृति की विशिष्टताओं को ग्रहण करने की ओर अग्रसर हो रहे हैं। संसार भर में इस परिस्थिति को लाने का सर्वाधिक श्रेय राधाकृष्णन् को है।

(हीरक जयंती पर अर्पित ग्रंथ राधाकृष्णन् की भूमिका से)

विचारों की जननी शंका है और दर्शन सात्त्विक संदेह से जन्म लेता है। प्रचलित मतों के विषय में जब शंका उठने लगती है, तभी विचारकों को सोचने की उत्तेजना मिलती है। दर्शन की मुद्रा में पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य में शंका करने का साहस हो। राधाकृष्णन् ईश्वर-भक्त माता-पिता के पुत्र थे और हिन्दुत्व के प्रति उनमें आरम्भ से ही श्रद्धा का भाव था। किन्तु, हिन्दुत्व पर दार्शनिक ढंग से विचार करने को वे इसलिए बाध्य हुए कि स्कूलों और कालेजों में ईसाई धर्म-प्रचारकों ने उनकी धार्मिक श्रद्धा को ठेस पहुँचायी, एवं हिंदुत्व के विषय में उनके मन में शंका डाल दी। श्री राधाकृष्णन् ने अपनी खंडित आत्म-कथा में स्वयं लिखा है कि ईसाई धर्म-प्रचारक संस्थाओं के शिक्षकों ने मुझे श्रद्धा-हीन बनाकर जिज्ञासा की उस प्राथमिक अवस्था में डाल दिया जहां से सभी दर्शनों का जन्म होता है। वे लोग दर्शन के शिक्षक, व्याख्याता और टीकाकार थे। वे रह-रहकर ईसाई विचार और जीवन-पद्धति की भी दुहाई देते थे। किन्तु, सही अर्थ में वे सत्य के प्रेमी या अन्वेषक नहीं थे। भारतीय विचारधारा की कड़ी आलोचनाएँ करके उन्होंने मेरी श्रद्धा को विचलित कर दिया और परम्परा के उन स्तम्भों को हिला दिया जिनका मैं सहारा लिये हुए था।* श्रद्धा के विचलित होते ही श्री राधाकृष्णन की शंका जाग्रत हो गई और उन्होंने देखा कि "यद्यपि हिन्दुत्व विचारों की स्वतंत्रता एवं मन के अनुशासन के सिद्धान्तों को तर्क से सिद्ध किये हुए है तथा यद्यपि उसकी अन्तर्दर्शिनी दृष्टि, मूल ध्येय और विचारों के ढांचे हमें आज भी पसन्द हैं, तथापि, उसने अपने सुदीर्घ जीवन में अनेक रूढ़ियों एवं मनगढ़ंत सिद्धांतों की रचना कर डाली है जिनसे आत्मा के जीवन का मुक्त प्रसार असम्भव हो गया है। इसके सिवा, हम एक ऐसे युग में जी रहे हैं जब संसार भर के विचार हमें उत्तराधिकार के रूप में आप से आप प्राप्त हो गये हैं। भांति-भांति के दर्शनों और धर्मों का ऐतिहासिक ज्ञान हमारे भीतर संचित हो गया है। हम देखते हैं कि हमसे पूर्व असंख्य लोगों ने सृष्टि एवं परोक्ष सत्ता के विषय में वे ही प्रश्न उठाये हैं जो हम में उठते हैं और उनमें से प्रत्येक इन प्रश्नों के उन्हीं उत्तरों को अन्तिम मानता है जो स्वयं उसे सूझे हैं। अनुमानों की इस असंख्यता को देखते

* फ्रेगमेंट्स आव् ए कनफेशन

हुए, यदि हम सच्चे हों तो हमारे लिए यह मानना कठिन हो जाता है कि सत्य केवल वही है जो हमें दिखाई देता है तथा बाकी लोग असत्य कह रहे हैं। इन अत्यन्त विरोधी अनुमानों का सामना करते ही हम या तो परम्परा से जा चिपकते हैं अथवा फिर शंकावादी बन जाते हैं। ऐसे ही विचारों ने हिन्दू धर्म का आलोचनात्मक अध्ययन करने को मुझे बाध्य कर दिया।"*

और हिन्दू धर्म का विधिवत् अध्ययन करते-करते श्री राधाकृष्णन् भी उसी निष्कर्ष पर पहुंचे जिस पर विवेकानन्द, गांधी, रवीन्द्र और अरविन्द पहुंचे थे। भारतीय धर्म गर्हित नहीं, पुनीत है। धर्म मनुष्य का शत्रु नहीं, मित्र है। धर्म को जो अपयश प्राप्त हुआ है, वह इस कारण नहीं कि धर्म में बुराई है, प्रत्युत्, इस कारण कि बुरे मनुष्यों ने धर्म का दुष्प्रयोग किया है। वस्तुतः, यूरोप की आधिभौतिकता मनुष्य के सम्पूर्ण कल्याण का मार्ग नहीं है, कल्याणमय वह तभी हो सकती है जब उसके साथ धर्म का संयोग हो। "भारतीय ज्ञान केवल भारतीय राष्ट्र के ही पुनरुत्थान के लिए आवश्यक नहीं; प्रत्युत् वह मनुष्य-जाति मात्र के पुनःशिक्षण के लिए भी जरूरी है।"†

यह राधाकृष्णन की विचारधारा का एक पक्ष है। किन्तु, वे भारतीय समाज के सुधारक मात्र नहीं हैं। सच पूछिए तो भारतीय सुधारक राममोहन, केशवचंद्र, दयानन्द, विवेकानन्द और तिलक ही हुए हैं। गांधी और अरविन्द तथा रवीन्द्रनाथ का ध्येय भारतीय समाज से अधिक मानव-जाति का सुधार अथवा रूपान्तरण था। विश्ववाद की जो भावना

---

* फ्रेगमेंट्स आव् ए कनफेशन

और भी,

मैं भी हिन्दुत्व का अभिमानी था और मेरा यह अभिमान स्वामी विवेकानन्द के कर्तृत्व और उद्गारों से और भी प्रदीप्त हो उठा था। मिशनरी स्कूलों और कालेजों में हिन्दुत्व के प्रति जो बर्ताव किया जाता था, उसमें मेरा यह अभिमान तिलमिला उठा। मैं इस बात को मानने को तैयार नहीं था कि जिन हिन्दू योगियों और उपदेष्टाओं ने भारत की प्राचीन संस्कृति को हमारे लिए जुगा रखा है और जिनकी साधना का परिणाम हमारा समस्त ज्ञान है, स्वयं वे ही अधार्मिक व्यक्ति थे।

(माई सर्च फार ट्रुथ)

†ईसाई आलोचकों की चुनौती से ही विचलित होकर मैं हिन्दुत्व का विधिवत् अध्ययन करके यह पता लगाने को प्रस्तुत हुआ हूँ कि हमारे धर्म का कितना अंश मृत और कितना आज भी जीवित है।

(माई सर्च फार ट्रुथ)

गांधीजी के कर्मयोग, अरविन्द की साधना और रवीन्द्र के काव्य में प्रतिफलित हुई, राधाकृष्णन ने उसका सम्पूर्ण दर्शन प्रस्तुत किया है। और इस दर्शन की रचना करने में उन्हें गांधी, रवीन्द्र और अरविन्द की अनुभूतियों से सहायता भी मिली है। गांधीजी के सदृश राधाकृष्णन भी जीवन के कुछ क्षेत्रों को धार्मिक और कुछ को धर्मनिरपेक्ष नहीं मानते। धर्म का प्रवेश वे जीवन के प्रत्येक कार्य में चाहते हैं। इसी प्रकार, जैसे अरविन्द का यह विश्वास था कि मनुष्य का कल्याण आत्मा के धरातल पर आसीन होने में है, मानस से परे अतिमानस की स्थिति को प्राप्त करने में है, वैसे ही राधाकृष्णन भी आत्मा के जीवन* को मनुष्य का काम्य बताते हैं एवं ज्ञान से आगे बढ़कर सम्यक् ज्ञान अथवा सहज ज्ञान के उपयोग को उसका श्रेष्ठ साधन कहते हैं। और जिस विश्ववाद के स्वप्न रवीन्द्र की रचनाओं में मंडराते मिलते हैं, उन स्वप्नों को दार्शनिक आकार देकर राधाकृष्णन ने विश्ववाद की कल्पना को स्थायी बना दिया है।

रवीन्द्रनाथ के विषय में यह प्रायः कहा जाता है कि वे केवल भारतीय संस्कृति की उपज नहीं थे, प्रत्युत्, उनकी उत्पत्ति के पीछे यूरोपीय ज्ञानधारा का भी हाथ था। किन्तु, यह उक्ति रवि बाबू पर जितनी लागू है, उससे अधिक वह श्री राधाकृष्णन पर लागू की जा सकती है। उनका आविर्भाव भारतीय विचारधारा के व्याख्याता के रूप में हुआ, किन्तु, पाश्चात्य विचारधारा का भी उन्होंने थोड़ा आख्यान नहीं किया है। वस्तुतः, उनके उद्‌भव के पीछे पूर्वी और पश्चिमी, दोनों विश्वों की दार्शनिकता का हाथ रहा है। उन्होंने भारत की व्याख्या यूरोप के सामने और यूरोप का आख्यान भारत के समक्ष किया है। किन्तु इतने से ही उनकी महत्ता की इतिश्री नहीं हो जाती। इससे आगे बढ़कर उन्होंने यूरोप और भारत अथवा पूर्व एवं पश्चिम की विचारधाराओं के बीच एक समन्वय का संधान किया है, एक सामंजस्य का पता लगाया है एवं दोनों विश्वों की विचारधारा को उन्होंने सुस्पष्ट सामाजिकता प्रदान की है। पूर्व और पश्चिम के द्वंद्व को उन्होंने आत्मा और भूत के द्वन्द्व का रूप दे दिया एवं इस प्रक्रिया में उन्होंने पश्चिम के उन गुणों की भी सहायता ली जो आत्मा के पक्षपाती एवं भूतवाद के विरुद्ध थे। साथ ही, आधिभौतिक सभ्यता की कुरूपताओं पर प्रहार करते हुए उन्होंने उन रूढ़ियों एवं पाषण्डों को भी नहीं छोड़ा जो

---

* मार्क्स और उनके अनुयायी जिन ध्येयों को प्राप्त करना चाहते हैं, जिस दुःखदायी घृणा का शमन चाहते हैं, उसके लिए भी हमें आध्यात्मिक जागरण की आवश्यकता है। अभिनव विश्व में एकता और गति भरने के लिए यह आवश्यक है कि इस विश्व की आध्यात्मिक प्रेरणा सुगंभीर हो। आध्यात्मिकता के आधार पर ही हम सामाजिक कार्यक्रमों को पूरा कर सकते हैं।"

(रिलीजन एण्ड सोसायटी)

से हुआ। कुछ लोग इस जागरण को अतीत का पुनरुज्जीवन (रिवाइवल) कहकर इसकी महत्ता को कम करते हैं। किन्तु, यह अतीत का पुनरुज्जीवन मात्र नहीं था। "देखना यह कि अतीत को खींच कर वर्तमान की भूमि पर लाने वाले लोग कौन थे ? ये वे लोग थे जिन्होंने ऊंची शिक्षा पायी थी, जो अंगरेजी के विश्वविद्यालयों से तेजस्वी होकर निकले थे। इन्हीं पाश्चात्य ढंग के पंडितों ने अतीत की नई व्याख्या करके उसे वर्तमान के अनुरूप बनाया। अतएव भारत में अतीत ने वर्तमान को अपना विरोधी नहीं माना, न उसने उसपर अपना आधिपत्य ही जमाना चाहा। सांस्कृतिक जागरण के क्रम में भारत के अतीत ने भारत के वर्तमान के साथ सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित कर लिया। वस्तुतः, अतीत और वर्तमान के बीच का यह समन्वय भारत में पूर्व और पश्चिम का ही समन्वय था। इस समन्वय की अभिव्यक्ति कला, साहित्य आदि में होती आ रही थी। किन्तु, दर्शन के स्तर पर इस समन्वय को मूर्त्तिमान रूप श्री राधाकृष्णन ने प्रदान किया।"*

राधाकृष्णन अतीत की उपेक्षा नहीं सिखाते। परम्पराएं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को बांधने वाली कड़ियां होती हैं। प्रगति उन्हीं विचारों के भीतर से जन्म लेती है जिन्हें वह कुचलती-सी जान पड़ती है। जीवन की यात्रा अतीत को त्याग कर नहीं होती। जीवन तो उसे मान कर ही चलता है। जीवन अतीत को लेकर भविष्य की चादर बुनता है और इसी बुनावट के क्रम में अतीत का पुनर्जन्म होता रहता है। मुख्य बात यह है कि हम याद भी रखें और नई रचना भी करते जायें। उपेक्षा न तो पूर्व की करनी है, न पश्चिम की, न तो वर्तमान की करनी है, न अतीत की। अतीत से विलकुल छिन्न होना किसी के लिए भी सम्भव नहीं होता, न कोई लौट कर अतीत में पहुंच ही सकता है। पूर्वी जगत् में पश्चिम का आगमन वापस जाने को नहीं, बल्कि यहां ठहरने को हुआ है। इसी प्रकार, पूर्व ने पश्चिम को जो आध्यात्मिक उत्तेजना दी है वह भी वहां की संस्कृति को अनुप्राणित करने वाली है। राधाकृष्णन का संदेश है कि मनुष्य का भावी कल्याण इसमें है कि वह अतीत और वर्तमान तथा पूर्व और पश्चिम के बीच समन्वय का पता लगाये तथा सामंजस्य स्थापित करे। जब तक एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों से नहीं मिल सकते थे तब तक देश-देश में जातीय दर्शन रचे जाने का थोड़ा-बहुत औचित्य था। किन्तु, अब जब विचारों के आदान-प्रदान में कोई बाधा नहीं रह गई है, तब राष्ट्रीय दर्शनों का क्या औचित्य हो सकता है ? मनुष्य मात्र की आध्यात्मिक आवश्यकता यदि एक है तो उसका दर्शन भी एक होना ही चाहिए। और श्री राधाकृष्णन ने अब तक जो कुछ भी लिखा है, वह इसी विश्वदर्शन का आख्यान है।

राधाकृष्णन का जन्म-काल भारत में पूर्व और पश्चिम के विवाद का काल था, किन्तु, राधाकृष्णन इस विवाद में किसी के भी पक्षपाती नहीं हुए। विश्व-मानव की समस्याओं

---

* पी० टी० राजू ('द फिलासफी आव् सर्वपल्ली राधाकृष्णन' में)

का हाल उन्होंने केवल पुस्तकों से नहीं जाना, बल्कि अपने विश्व-भ्रमण के क्रम में वे उनसे सीधा परिचय प्राप्त करते गये। अन्ततोगत्वा वे इस निष्कर्ष पर जा पहुंचे कि दोष यूरोप का नहीं, प्रत्युत्, उस दृष्टिकोण का है जिसकी अधीनता में आकर मनुष्य शरीर के सुख को अपना सर्वस्व मान बैठता है, दोष उस विचारधारा का है जिसने मनुष्य को अपनी आत्मा की भूमि से उखाड़ कर अलग कर दिया है। अतएव मनुष्य को आत्मा की ओर उन्मुख करने का कार्य उनका सब से प्रिय कार्य हो उठा। राधाकृष्णन दर्शन को केवल मानसिक व्यायाम का साधन नहीं मानते। उनका विश्वास है कि दर्शन भी मनुष्य की समकालीन आवश्यकता से जन्म लेता है और उसका उद्देश्य मनुष्यों की जिज्ञासा का समाधान देना तथा उन्हें संतुष्ट करना है। इसीलिए, राधाकृष्णन ने जो कुछ लिखा है वह केवल बुद्धि की तुष्टि के लिए ही नहीं है, प्रत्युत, उससे मानवात्मा को भी संतोष प्राप्त होता है। वे एक साथ दार्शनिक, कवि और संत एवं सुधारक हैं। इसीलिए, उनके लेखों से जीवन को गति मिलती है, मन को प्रेरणा एवं धार्मिक भावों को स्फूर्ति प्राप्त होती है। उनका दर्शन तर्क से निकल कर तर्क में ही विलीन नहीं होता, प्रत्युत, वह मनुष्य के हृदय में प्रवेश करता है। वे सोद्देश्य दार्शनिक हैं एवं उनका उद्देश्य मनुष्य मात्र को शांति प्रदान करना है। "जो लाखों लाख मनुष्य धार्मिक दृष्टि से विस्थापित हो गये हैं और शरणार्थी की भांति कला, विज्ञान, फासिस्टवाद, नाजीवाद अथवा मानवतावाद एवं साम्यवाद के अस्थायी शिविरों में आश्रय खोज रहे हैं, उनके भीतर आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आस्था जगाना मेरा सब से प्रिय कार्य रहा है। रोग-मुक्ति का प्रथम सोपान विचारों की उस विशृंखलता को ठीक से समझना है जिसमें करोड़ों मानव फंसे हुए हैं। शंका और नास्तिकता की प्रवृत्ति को सब से बड़ी उत्तेजना वैज्ञानिक दृष्टिकोण की वृद्धि से मिली है, टेकनालाजी पर आधारित सभ्यता से मिली है। मनुष्य की सामाजिक चेतना जाग्रत हो गई है और वह बाह्याचारों से ग्रसित कृत्रिम धर्म का विरोध कर रही है।"

राधाकृष्णन ने विज्ञान का अनादर नहीं किया है, किन्तु, उसके जो दोष हैं उनकी उन्होंने खुलकर भर्त्सना की है। मनुष्य का ध्यान ईश्वर, आत्मा और धर्म से हटाने में विज्ञान ने क्या अंशदान दिया है, इसे दिखलाते हुए वे कहते हैं कि बायलाजी (जीव-विज्ञान) का आ यात्मिक प्रभाव यह हुआ है कि मनुष्य किसी भी कार्य में अपने को स्वाधीन नहीं मानता। उसका विश्वास है कि प्राकृतिक नियमों की अधीनता में जैसें अन्य जीव चलते हैं, मनुष्य भी उसी प्रकार चलता है। परिस्थितियां जैसी होंगी, मनुष्य के कार्य भी वैसे ही हो जायेंगे। अग्नि से जैसे और जीव तप्त होते हैं, वैसे ही मनष्य को भी तप्त होना ही पड़ेगा। वासनाएं जैसे अन्य जीवों को अपना दास बना लेती हैं, मनुष्य के आगे भी चारा नहीं है। इसी प्रकार मनोविज्ञान ने मनुष्य को यह शिक्षा दी है कि सज्ञान अवस्था में भी वह स्वाधीन नहीं है।

ऊपर ज्ञान और चेतना की जैसी भी रौशनी फैली हुई हो, मानव-मन में पशुता के आवेग ज्यों-के-त्यों वर्तमान हैं और मनुष्य के सारे कार्य इन्हीं आवेगों से परिचालित होते ह। मनुष्य वातावरण का बन्दी है। इसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिससे वह वातावरण का अवरोध या उससे अपनी रक्षा कर सके। विज्ञान की पृष्ठभूमि पर निर्मित अभिनव नीतिशास्त्र का भी कहना है कि सनातन या नित्य कहने का कोई नैतिक मूल्य नहीं हैं। नैतिक मूल्य भी वादलों के समान क्षणभंगुर होते हैं और जो परिस्थितियां उनमें परिवर्तन लाती हैं उनपर हमारा कोई अधिकार नहीं है। तथा अभिनव तत्वज्ञान की मान्यता है कि जो वस्तु इन्द्रियों के द्वारा अथवा वैज्ञानिक साधनों के माध्यम से देखी या परखी नहीं जा सकती, वह सत्य नहीं मानी जानी चाहिए। जिस तत्वज्ञान में आत्मा और परमात्मा को लेकर विचार चलता है उसे अभिनव तत्वज्ञानी अटकल या अनुमान कहते हैं। कविता और उपन्यास की भांति धर्म और तत्वज्ञान भी विद्या के अंग अवश्य हैं, किन्तु, वे केवल भावाभिव्यक्ति के माध्यम हैं, उनसे ज्ञान की तृषा शान्त नहीं होती। मानों, इतनी निराशा काफी नहीं हो, अतएव, विज्ञान यह भी कहता है कि एक दिन विश्व की गति समाप्त हो जायगी और सब कुछ निर्जीव हो जायगा।

विज्ञान ने आधिभौतिक सुखों में तो काफी वृद्धि की, किन्तु, मनुष्य के मन को उसने विषण्ण बना डाला। आत्मा, परमात्मा, सृष्टि के ध्येय और उद्देश्य को अविचारणीय बताकर उसने मनुष्य को, मानों, यह शिक्षा दी है कि तुम्हारा काम जन्मना, बढ़ना, कमाना और खर्च करना, सन्तान उत्पादन करके वृद्ध होना और फिर इस विश्वास को लेकर मर जाना है कि मनुष्य शरीर भी प्रकृति-परिचालित यंत्र है और इस यंत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त मानव-जीवन का और कोई ध्येय नहीं है।

इतना होते हुए भी, राधाकृष्णन विश्ववादिता को विज्ञान की बहुत बड़ी देन मानते हैं। जैसे देश-देश में अनेक धर्म एक-दूसरे से आगे निकल जाने को बेचैन हैं, वैसी प्रतियोगिता विज्ञान में नहीं है। चाहे जिस किसी देश में वैज्ञानिक अनुसंधान या आविष्कार होता हो, सारे विश्व के वैज्ञानिक उसे अपने क्षेत्र की प्रगति मानते हैं। भौगोलिक दृष्टि से भी विज्ञान सार्वभौम विद्या है क्योंकि इसका प्रचार सारे विश्व में है। प्रकृति चूंकि एक है, इसलिए, विज्ञान भी एक ही हो सकता है। सार्वभौम मानव-जाति का आविर्भाव हो, यह विज्ञान की भी सामाजिक अभिलाषा है। यही नहीं, प्रत्युत्, विज्ञान की सारी शक्तियों के विषय में राधाकृष्णन बड़े ही उत्साह से बोलते हैं। "कृषि और उद्योग में वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से जीवन में अद्भुत क्रांति उपस्थित हो गई है। यदि हम चाहें तो अब संसार से क्षुधा अभाव, दरिद्रता, रोग और अशिक्षा को निकाल बाहर करना सम्भव हो गया है। किन्तु, ये दुर्गुण संसार में यदि आज भी वर्त्तमान हैं तो इसका कारण यह है कि हम अन्यायपूर्ण सामाजिक,

राजनीतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को कायम रखन के लिए वैज्ञानिक शक्तियों का दुरुपयोग कर रहे हैं। गलती विज्ञान और टेकनालाजी में नहीं, मनुष्य के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में है, गलती की असली जगह मनुष्य का औद्योगिक और उपयोगितावादी दृष्टिकोण है, उसका शक्ति, सुविधा और विलासिता का सिद्धान्त है।" राधाकृष्णन इस बात को भी नजर-अन्दाज़ नहीं करते कि आज का औसत वैज्ञानिक औसत धार्मिक व्यक्ति से अधिक ईमानदार है। यही नहीं, प्रत्युत आधुनिक विश्व में समाज की प्रगति के प्राय सारे कार्य ऐसे ही लोगों के नेतृत्व में पूरे किए गये हैं जिनकी दृष्टि धार्मिक रही है या नहीं, किन्तु, वह वैज्ञानिक अवश्य थी। किन्तु राधाकृष्णन मानते हैं कि धार्मिकता मनुष्य की बाधा नहीं है।

जैसे मनुष्य विज्ञान का दुरुपयोग कर रहा है, वैसे ही, उसने धर्म का भी दुरुपयोग ही किया है, क्योंकि आज की दुनिया में हम सब-के-सब नास्तिक हैं। हमारा ईश्वरीय सत्ता में विश्वास, हमारी पूजा और प्रार्थना, ये सब कृत्रिम आचार हैं। जब हम पूजा करते होते हैं तब भी हमारा ध्यान पूजा में नहीं होकर कहीं और होता है। हमारा प्रत्येक कर्म इस बात की साक्षी देता है कि हम ईश्वर में विश्वास नहीं करते। हम परमात्मा के सामने नहीं झुक कर संसार के सामने झुकते हैं। दुनिया में ऐसी कोई चीज नहीं है जो ईश्वर की अपेक्षा हमें अधिक पसन्द न हो। राधाकृष्णन कहते हैं कि यदि हम धार्मिक होने का दावा करते हैं तो धर्म को हमें अपने जीवन में उतारना चाहिए। यदि जीवन धर्ममय नहीं है तो फिर धर्म निर्जीव सिद्धान्तमात्र रह जाता है।

ऐसा क्यों हो रहा है? पहली बात तो यह है कि धर्म को हमने गम्भीरता से ग्रहण नहीं किया, उसकी अनिवार्यता में हमारा विश्वास नहीं है जिन्होंने धर्म को गम्भीरता से ग्रहण किया भी है उनका व्यक्तित्व फटा हुआ है और इसी विभक्त व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब वे इस समय विश्व में देखते हैं। वे संसार को दो भागों में बांटते हैं। विश्व-जीवन का एक भाग वह है जो ईश्वरमय है, जिसमें सभी जीव एक हैं, जिसके अणु-अणु में धर्म का वास है। किन्तु, जो व्यवसाय और जीविका का संसार है उसे वे ईश्वर से विमुक्त मान कर चलते हैं तथा यह समझते हैं कि इस व्यवसायी विश्व में अशान्ति और संघर्ष, विरोध और दुराव तथा छल और प्रपंच सभी क्षम्य हैं। ऐसे लोग, वस्तुतः, पलायनवादी कहे जायेंगे। वे व्यवसाय की दुनिया में जब थक जाते हैं, तभी, केवल विश्राम पाने को धर्म की दुनिया में आते हैं और अपनी वैयक्तिक साधना और अनुमान को धर्म का सम्पूर्ण रूप मान कर संतुष्ट हो जाते हैं।

राधाकृष्णन का कहना है कि जीवन का ऐसा विभाजन नहीं चल सकता। यह तो धर्म और अधर्म के बीच समझौते का उदाहरण होगा। धर्म सम्पूर्ण जीवन की पद्धति है,

वह नश्वर में अविनश्वर तथा अचिर में चिर का अनुसन्धान है। धर्म जीवन का स्वभाव है। ऐसा नहीं हो सकता कि हम कुछ कार्य तो धर्म की उपस्थिति में करें और शेष कार्यों के समय उसे भुला दें। धर्म ज्ञान और विश्वास से अधिक कर्म और आचरण में बसता है। यदि हम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं तो हमारे आचरण में इस विश्वास का प्रमाण मिलना ही चाहिए।

विज्ञान के प्रति कटु हुए विना राधाकृष्णन मनुष्य को इस योग्य बनाना चाहते हैं कि वह विज्ञान का उपयोग सर्वजन-कल्याण के लिए कर सके। किन्तु उनका मत है कि जब तक मनुष्य आत्मा को नहीं पहचानता, धार्मिक मूल्यों को अपने भीतर प्रतिष्ठित नहीं करता, तब तक उसमें विज्ञान के कल्याणकारी उपयोग की योग्यता नहीं आयेगी। विज्ञान को छोड़ें या न छोड़ें, मनुष्य के आगे यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से आदर्श व्यक्ति और आदर्श समाज का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है? राधाकृष्णन का निश्चित उत्तर है कि यह कार्य मनुष्य की अध्यात्मिक शक्तियों को जगाये विना सम्पन्न नहीं किया जा सकता। "हमारे विचारों की प्रेरणा ईश्वरीय होनी चाहिए। हमारे संकल्पों का आरम्भ ईश्वरीय इच्छा में होना चाहिए। हमारी भावनाओं को ईश्वरीय आनन्द से एकाकार होना चाहिए। सत्य, शिव और सुन्दर के जिस समन्वित व्यक्तित्व को हम ईश्वर का नाम देते आये हैं उसका अधिक से अधिक सामीप्य प्राप्त करना मानव-जीवन का उद्देश्य है। अपने आपको ईश्वरीय सत्ता के स्तर तक ले जाना, यह मनुष्य का श्रेष्ठतम ध्येय है।"

जिस प्रकार, अरविन्द ने मानव-जाति के अति-मानव-जाति में रूपान्तरण को मनुष्यों की सारी समस्याओं का समाधान माना है, उसी प्रकार, राधाकृष्णन भी वैज्ञानिक मनुष्य के भीतर धार्मिक मनुष्य को जगाकर संसार में समृद्धि, सौख्य और शांति लाना चाहते हैं। "ईश्वरीय सत्ता के समीप अथवा शान्ति और सामंजस्य की स्थिति तक विरले ही लोग पहुंचे हैं। किन्तु, ये लोग उस उच्चता के साक्षी हैं जहां तक मानवता गमन कर सकती है तथा ये ही लोग यह संकेत देते हैं कि मनुष्य को कौन रूप लेना चाहिए। ये आध्यात्मिक व्यक्ति मनुष्य की उस नई जाति का पूर्वाभास दे गये हैं जिसका उदय और अविर्भाव अवश्यम्भावी है। जो उपलब्धि कुछ एक व्यक्तियों के लिए सम्भव है, वह सब के लिए सम्भव होनी चाहिए, प्रत्युत्, यह ध्रुव है कि कभी न कभी समग्र मानव-जाति उस उपलब्धि को प्राप्त करेगी। आज तक हम व्यक्तियों को ईश्वर का अवतार मानते आये हैं। किन्तु, ईश्वरावतार की अनुभूति जब व्यक्ति में नहीं होकर, सारे समूह में होने लगेगी, तभी नई मानवता का आविर्भाव होगा, तभी आज की मानवता किसी उज्ज्वलतर मानवता में रूपान्तरित होगी, तभी मनुष्य का पुनर्जन्म होगा और तभी संसार की नवीन रचना संभव

होगी। आध्यात्मिक मनु य का आविर्भाव विश्व का अगला भाग्य है। यही आध्यात्मिक आदर्श हमारे भीतर रचनात्मक शक्तियों का क्षरण करेगा, निष्प्राण बुद्धि से हमें रक्षा और त्राण देगा तथा हमारी वासनाओं को रचनात्मक रूप देकर मन, आचरण और आत्मा से हमें एक बनाकर विश्व-बन्धुत्व को सम्भव बनायेगा।"

अरविन्द का विश्लेषण यह है कि आदि में केवल भूत या द्रव्य था। उससे जीव की उत्पत्ति हुई और जीव से मस्तिष्क उत्पन्न हुआ। मनुष्य अभी मस्तिष्क के धरातल पर है, किन्तु, यह उसके विकास का अन्तिम सोपान नहीं है। उसे मानव के स्तर से उठ कर अति-मानस की अवस्था में पहुंचना चाहिए। कुछ उसी प्रकार का विश्लेषण श्री राधाकृष्णन का भी है। वे भी कहते हैं कि "लाखों वर्ष के विकास के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह मानने का साहस नहीं होता कि मस्तिष्कधारी जीव अर्थात् चिन्तक मनुष्य के आविर्भाव के साथ विकास की प्रक्रिया समाप्त हो गई है। उपनिषदों का कथन है कि अभी और स.पान हैं जिन पर मनुष्य को अपना पांव रखना है। जानवरों में जो चालाकी की प्रवृत्ति थी वही बढ़कर मनुष्यों की पूर्वदर्शिनी दृष्टि हो गई है। अब मनुष्य की आत्मचेतना को विकसित होकर व्यापक दृष्टि अथवा ज्योतिर्मयी विशाल चेतना में रूपान्तरित होना है। बुद्धि में जो द्वन्द्व और अशान्ति है, उससे आगे बढ़कर हमें सम्पूर्ण सत्य को अधिकृत करना है। सेंटपाल के अनुसार आत्मा का श्रेष्ठतम फल आनन्द है। हम इसी आनन्द की स्थिति में पहुंचने वाले हैं। आज के बौद्धिक मनुष्य और आगामी आध्यात्मिक मनुष्य में वही भेद होगा जो पशुओं और आज के मनुष्यों में है अथवा जो भेद पौधों और पशुओं के बीच देखा जा सकता है। मनुष्य का व्यक्तित्व ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। हम जो थे उसी से हमारा आज का रूप विकसित हुआ है। पूर्वजों ने जो सोचा, जो अनुभव किया, जो संकल्प या आचरण किया, उन सब का परिणाम आज का मनुष्य है। यदि वर्तमान मनुष्य के विचार और भाव संकुचित रहते हैं तो उसके विकास में बाधा पड़ेगी। इसके विपरीत, यदि हम अपने अहं की संकीर्णता का त्याग करते हैं, अपना हृदय सब के लिए उन्मुक्त करते हैं, अपने भीतर के आनन्द और प्रेम को उमड़ कर दूसरों को भिगोने देते हैं, तो इससे हमारे विकास की प्रक्रिया तेज हो जायगी। .... आध्यात्मिक जीवन मानव-जीवन की अस्वीकृति नहीं, वरन् उसकी पूर्णता है।"*

अति-मानव की कल्पना पहले पहल नीत्से ने की थी और उसीने कहा था कि मनुष्य के सामने जैसा मर्कट दीखता है, अति-मनुष्य के सामने मनुष्य भी वैसा ही क्षुद्र होगा। किन्तु, उसका विश्वास था कि जीवों में सबसे ऊपर वही उठता है जो सबसे अधिक बलवान हो। अतएव, उसकी कल्पना का अति-मानव अधिनायक या तानाशाह हो गया। अति-

---

* फ्रैगमेंट आव् ए कनफ़ेशन।

मानव की दूसरी कल्पना श्री अरविन्द ने की है और कहा है कि अति-मानव की जाति कोई एक व्यक्ति नहीं होगा, वरन, मानवों की वर्तमान जाति ही बदल कर अति-मानवों की जाति हो जायगी। किन्तु, अति-मानव की अवतारणा का आधार उन्होंने अति-मानस के प्रकाश का मनुष्यों में अवतरित होने को माना है। राधाकृष्णन ऐसी किसी कल्पना में विश्वास नहीं करते। इस विन्दु पर वे अरविन्द से अधिक गांधीजी के समीप पड़ते हैं और यह मानते है कि षड्विकारों से बचकर धर्म की राह पर चलने की जो शिक्षा परंपरा ने दी है, मनुष्य की प्रगति और उद्धार की वही राह है। विकारों के बंधन से मुक्त होकर धर्म के मार्ग पर चलना, इसे ही वे आध्यात्मिक धर्म कहते हैं। मनुष्य को धर्म का ज्ञान नहीं है, ऐसा वे नहीं मानते। उनके विलाप का कारण यह है कि मनुष्य धर्म को समझ कर भी उसका आचरण नहीं कर रहा है। "क्या हम सदैव, इसी प्रकार, ऊंचे ध्येयों को सामने रख कर नीच कर्म करते जायंगे ? क्या हमारा यही भाग्य है कि हमारा व्यक्तित्व विभक्त रह जाय ? हम सार्वभौम मानवीय संस्कृति के आदर्श को सामने रखते हुए ऐसी गर्हित नीतियों का पालन क्यों करते हैं जिनसे सार्वभौम बर्बरता का प्रचार होता हो ? हम अपने भीतर उस साहस और स्वार्थहीनता को क्यों नहीं जगा सकते, उस व्यापक उदारता और विशाल दृष्टि को क्यों नहीं ला सकते जिससे हमारे सारे कार्य न्याय और समानता के सिद्धान्त पर आप से आप होते जायें ? हमारी पीढ़ी से पहले किसी भी पीढ़ी को उतने साधन उपलब्ध नहीं थे जितने हमें हैं। किन्तु, नानाविध रोगों से पीड़ित रहने के कारण घृणा, अहंकार, वासना, मूर्खता और स्वार्थपरता होनेके कारण हमने पृथ्वी के समस्त वरदानों को अभिशापों में परिणत कर रखा है। मनुष्य जिस प्रकार का जीवन आज व्यतीत कर रहा है, उससे तो यही दीखता है कि विनाश से वह बच नहीं सकेगा। उसके सामने केवल दो विकल्प हैं। या तो उसे परिवर्तित होना है अथवा वह विनष्ट हो जायगा। मनुष्य का वर्तमान रूप विकास की लिखावट का अन्तिम शब्द नहीं है। यदि वह परिवर्तित नहीं होता, यदि वह नये विश्व से सामंजस्य बिठाने के लिए अपनी संस्थाओं तथा अपने आप को नहीं बदलता तो वह विनष्ट हो जायगा और उसके स्थान पर किसी ऐसी जाति (योनि या स्पेसीज) के जीव उत्पन्न हो जायेंगे, जिनमें शरीर की अपेक्षा आत्मा प्रधान होगी। यदि मनुष्य वह कार्य नहीं कर सकता जिसकी उससे अपेक्षा है तो इस कार्य को करने वाले अन्य योनि के जीव उत्पन्न होंगे ही।"* उन्होंने अन्यत्र भी लिखा है, "मनुष्य अब भी रचना की प्रक्रिया में है। आज हमें जो मानव-जीवन उपलब्ध है यह कच्चा माल है। इससे मानव का भावी जीवन प्रस्तुत होना चाहिए। अकल्पित पूर्णता, अलक्षित स्वतन्त्रता और अपूर्व आनन्द मनुष्य-जाति की पहुंच के भीतर हैं, यदि हम उन्हें प्राप्त करने को तैयार हों। हमें कार्यक्रमों और घोषणाओं

---

* हिबर्ट जर्नल, १९३६ ई०।

की आवश्यकता नहीं है। हम तो आत्मा की वह शक्ति चाहते हैं जिससे वासना पर नियंत्रण होता है और लोभ तथा लोलुपता पर लगाम पड़ती है।"* "नई सभ्यता का स्वभाव वैज्ञानिक, मन मानवतावादी और दृष्टि धर्म-निरपेक्ष है। शताब्दियों के रीति-रिवाजों पर जो विश्व अवस्थित है, उसे यह सभ्यता उखाड़ती जा रही है जिससे समाज में अशान्ति और व्याकुलता वृद्धि पर है। किन्तु, जो विश्व प्रकट होने वाला है वह वासनाओं और आवश्यकताओं, अभिलाषाओं और चेष्टाओं मात्र का विश्व नहीं होगा। अतएव, मनुष्य की क्रियाओं पर आत्मा का नियन्त्रण लगना ही चाहिए। अन्धविश्वासों के त्याग और विश्वासों के छिन्न हो जाने से जो स्थान रिक्त हो गया है, उसे आध्यात्मिकता से पूर्ण करना होगा।"

आत्मा का धर्म

राधाकृष्णन के दर्शन का सारा लक्ष्य मनुष्य को यह विश्वास दिलाता है कि वह केवल शरीर नहीं, आत्मा भी है, प्रत्युत्, शरीर की सबसे बड़ी सार्थकता वे यह मानते हैं कि उसकी क्रियाओं और चेष्टाओं के द्वारा आत्मा की अभिव्यक्ति हो। अतएव, धर्म उनके दर्शन का केन्द्र-विन्दु बन गया है। किन्तु, राधाकृष्णन का उद्देश्य मनुष्य को उस धर्म की शिक्षा देना नहीं है जो धर्मग्रन्थों में आख्यात है अथवा जिसे लेकर संप्रदाय खड़ा किया जाता है अथवा जो धर्मगुरु विशेष के उद्‌गारों से सीमित होता है। वेद, कुरान, बाइबिल, जेन्दावेस्ता और त्रिपटकों में जो अलग-अलग धार्मिक पंथ बताये गये हैं, उनमें से कोई भी पंथ राधाकृष्णन का प्रतिपाद्य नहीं है। प्रत्युत, वे उस धर्म पर जोर देते हैं जो इन सभी धर्मों के मूल में निहित है, जिसे लेकर सच्चे ईसाई, सच्चे हिन्दू और सच्चे मुसलमान, परस्पर विवाद नहीं करके, धार्मिकता के एक ध्येय के सामने एक समान अवनत हो जाते हैं। थियोसाफी जिन गुणों को ऊपर उठा कर सभी धर्मों को एक करना चाहती थी, वे गुण राधाकृष्णन द्वारा आख्यात धर्म में विद्यमान हैं। रामकृष्ण और अरविन्द ने धर्मों की जिस एकता की अनुभूति की थी, वह राधाकृष्णन के दर्शन में अनेक तर्कों से भली-भांति पुष्ट होकर प्रत्यक्ष हो गई है। सच पूछिए तो राधाकृष्णन दार्शनिक से अधिक धर्म-प्रवर्तक हैं, क्योंकि दर्शनों का तो उन्होंने इतिहास ही लिखा है। उनकी अपनी उद्‌भावना एक नवीन धर्म की स्थापना है जिसे वे धर्म-ग्रन्थों का धर्म नहीं कह कर आत्मा का धर्म कहते हैं।

यह आत्मा का धर्म क्या है? प्रत्येक धर्म में सत्य का शोध करते-करते हमें जब और कुछ नहीं सूझता तब बाइबिल या कुरान अथवा गीता या वेद से एक वाक्य उठा कर हम कह बैठते हैं कि जो कहना चाहते हैं उसका प्रमाण यह है। यह ढंग प्रमाणवादी धर्म का है जिसके उज्ज्वलतम उदाहरण ईसाई मत और इस्लाम हैं। धर्मग्रन्थों से प्रमाण उद्धृत करके सत्य को जबर्दस्ती मनवाने की प्रवृत्ति हिन्दुत्व और बौद्धमत में भी है, किन्तु, हिन्दुत्व में

* ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट।

इस प्रवृत्ति का प्राबल्य नहीं है। अनेक वादों, मत-मतान्तरों एवं पंथों का जन्मदाता होने के कारण हिन्दुत्व प्रमाणों पर कम भरोसा करता है, वह मुख्यतः, मुक्त-चिंतकों का धर्म है, इसीलिए, हिन्दुत्व राधाकृष्णन के आत्मा के धर्म की कल्पना का ही पर्याय है। आत्मा के धर्म की आवश्यकता, कदाचित्, इस कारण अनुभूत हुई कि पैगम्बरों और धर्म-प्रवर्त्तकों की प्रत्येक उक्ति को स्वतः प्रमाण मान कर चलने से मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित होती है। जैसे इतिहास, विज्ञान आदि विद्याओं में कोई भी बात इसलिए सत्य नहीं मानी जाती कि किसी महाविद्वान् ने उसे कहा है, उसी प्रकार, धर्म में भी कोई बात केवल इसीलिए सत्य नहीं मानी जानी चाहिए कि वह वेद, कुरान या बाइबिल में लिखी हुई है। धर्म का भी एक पक्ष बुद्धि और विचार का विषय है तथा जो बात बुद्धि में नहीं आती हो, उसे नहीं मानना ही धर्म है। अन्धा होकर किसी प्राचीन विचार से चिपके रहने की अपेक्षा शंकालु होकर धार्मिक सत्यों का शोध करने को राधाकृष्णन अधिक श्रेष्ठ मानते हैं। उन्होंने कई स्थानों पर बुद्ध के इस वचन को दुहराया है कि मेरे वचनों को इसलिए मत मानो कि उन्हें मैंने कहा है, बल्कि, इसलिए कि वे तुम्हारी बुद्धि से भी मान्य हैं।

इससे यह प्रश्न उठता है कि तब धार्मिक संप्रदाय जो यह दावा करते हैं कि उनके धर्म ईश्वर के द्वारा आख्यात या प्रदत्त हैं, तथा उनके धर्मग्रंथ ईश्वर ने बनाये हैं, वह बात सत्य है या नहीं। राधाकृष्णन यह नहीं कहते कि धर्म ईश्वर की देन नहीं है अथवा धर्मग्रंथों का परोक्ष सत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं है। निदिध्यासन और समाधि में जाकर ही मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करता है और ऐसे ही व्यक्तियों की अनुभूतियां धर्म-ग्रंथों का आधार है। अतएव, धर्मग्रंथों के भीतर ईश्वरीय अनुभूति अवश्य है क्योंकि समाधि की अवस्था में केवल मनुष्य ही ईश्वर तक नहीं पहुँचता, वरन् ईश्वर भी मनुष्य के पास पहुँच जाता है। इन अनुभूतियों को सामने रखें तो सभी धर्म सत्य हैं, प्रत्युत, सभी धर्म एक ही धर्म हैं और इसी धर्म को राधा-कृष्णन आत्मा का धर्म कहते हैं। उसी प्रकार, इन अनुभूतियों के द्वारा जो दर्शन प्रस्तुत होता है, वही सनातन दर्शन या पिरेनियल फिलासफी है। यह दर्शन भी किसी एक धर्म की पूंजी नहीं होकर सभी धर्मों में व्याप्त है और राधाकृष्णन इसी दर्शन को ऊपर उठाना चाहते हैं। धार्मिक आचार, अनुष्ठान, व्रत और साधन तथा पूजा की पद्धतियां, ये गौण विषय हैं, इनका स्थान अनुभूति के धरातल से नीचे पड़ता है। आज विश्व के धर्मों में जो भेद है, उनके भीतर जो भयानक प्रतियोगिता चल रही है, वह इस कारण नहीं कि एक धर्म ईश्वर की रचना तथा अन्य धर्म मनुष्य के निर्माण हैं, किन्तु इसलिए कि यद्यपि, सभी धर्म मनुष्य और ईश्वर के ध्यानीय साक्षात्कार से ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु उनके संगठन भिन्न हो जाते हैं, उनके अनुष्ठानों और बाह्याचारों में भिन्नता आ जाती है। वे पूजा और प्रार्थना की पद्धतियां भी अलग-अलग बना डालते हैं। और सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात तो यह होती है कि पूजा

और प्रार्थना का विषय (अर्थात् ईश्वर) तो पीछे छूट जाता है, मुख्य बात यह हो जाती है कि हम पूर्व मुंह होकर प्रार्थना करें या पश्चिम मुंह होकर, हम गले में क्रास लटकायें या तुलसी की माला तथा हम संस्कृत में मंत्र पढ़ें या अरबी में। राधाकृष्णन धर्म के बाह्य आचारों को कोई महत्त्व नहीं देते। वे शंकर मत के प्रबल समर्थक और निराकार ब्रह्म के विश्वासी हैं। उनका कहना है कि ऊँचाई पर पहुँचने के बाद ब्रह्म निराकार ही दिखाई देता है। उससे नीचे वह साकार होता है तथा उससे भी नीचे जाने पर हम उसके अवतारों की कल्पना को भी सत्य मानने लगते हैं। किन्तु, राधाकृष्णन मनुष्य को निचले स्तरों पर रखना नहीं चाहते। वे सबको निराकार ब्रह्म में विश्वास दिलाना चाहते हैं। ब्रह्म, आचार और अनुष्ठान, ये धर्म के निचले स्तर की क्रियायें हैं। ऊँचा धर्म आचारों और अनुष्ठानों में नहीं बसता। वह मन की एकाग्रता और समाधि में जगता है। वह उस आन्तरिक एकान्त में चमकता है जहां हम ईश्वर से एकाकार होने की चेष्टा करते हैं। धर्म की भाषा औपचारिक प्रार्थना और स्तोत्र नहीं, प्रत्युत, आत्मिक अनुभूति होती है और धर्म का दर्शन भी सनातन दर्शन है जो तर्कों से अधिक अनुभूतियों पर आधारित होता है। बुद्धि का प्रत्येक क्षेत्र शंका का क्षेत्र है। बुद्धि का प्रत्येक तर्क स्वयं को काटने वाले किसी अन्य तर्क को जन्म देता है। किन्तु, प्रत्येक मनुष्य को कहीं न कहीं पहुँचकर अपने आपका विश्वास करना ही पड़ता है। हम जब भी ऊँची मानसिक स्थिति में होते हैं, हमें लगता है, मानों हम अपने आप से किसी बड़ी सत्ता के संपर्क में आ गये हों और मानों यह सत्ता ही सबसे बड़ी वास्तविकता हो। मनुष्य के इस आन्तरिक प्रसार को राधाकृष्णन धर्म का सबसे बड़ा लक्षण मानते हैं।

संसार में जितने भी धर्म या धर्मशास्त्र हैं, उनका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य को मानसिक संतुलन देना है, दुविधा, द्वंद्व, वेदना और शोक से उसे मुक्त करना है, मनुष्य के भीतर एक ऐसी शांति को उत्पन्न करना है, जिसे संदेह विचलित न कर सके, जिसे शंकाएँ हिला नहीं सकें। अपने आध्यात्मिक धर्म के द्वारा राधाकृष्णन धर्म को इसी लक्ष्य की ओर प्रेरित करना चाहते हैं। "धर्म को पकड़ कर रहो, धर्मों को जाने दो" यह शिक्षा राधाकृष्ण न ने रवीन्द्रनाथ के दर्शन से निकाली है, किन्तु, यही शिक्षा उनके अपने दर्शन से भी उद्भूत होती है।

किन्तु, धर्म के द्वारा वे मनुष्य के भीतर जो अनुभूति जगाना चाहते हैं, मनुष्य को जिस लोक में ले जाना चाहते हैं, उसका साधन बुद्धि नहीं, सहज या सम्यक् ज्ञान है। सामान्य अर्थ में दर्शन बुद्धि पर आश्रित विद्या है, अतएव राधाकृष्णन दर्शन को भी अपूर्ण मानते हैं। "दर्शन हमें गन्तव्य देश के द्वार तक ले जाता है, किन्तु, उस देश में वह हमारा प्रवेश नहीं करा सकता। उसके लिए तो आध्यात्मिक दृष्टि अथवा अनुभूति का सहारा लेना होगा। संसार के अन्धकार में हम अबोध बच्चों के समान भटक रहे हैं। हमें अपनी प्रकृति का ज्ञान नहीं है। हम मिथ्या भय और मिथ्या आशा से परिचालित हो रहे हैं। इसीलिए, उस प्रकाश

की आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है जो हमें वासनाओं के तिमिर से मुक्त कर सके, जो हमें सत्य का दर्शन करा सके।* "सत्य का वास बुद्धि के स्तर से परे, बड़ी गहराई में है। इस गहराई तक हम केवल निदिध्यासन और समाधि के द्वारा ही पहुँच सकते हैं। चिंतन हमें बहुत दूर तक ले जाने में असमर्थ है। जिसको हम शक्ति कहते हैं, वह, वस्तुतः, ज्ञान नहीं, श्रद्धा और विश्वास के अधिकार में है।" "यदि हम हृदय से विश्वास करें तो अवास्तविक और असत्य भी सत्य का रूप ले लेते हैं, यद्यपि, यह स्थिति टिकाऊ नहीं होती।"

भौतिकवादियों के यहां तर्क और बुद्धि का जितना आदर है, राधाकृष्णन सहज बुद्धि (Intuition) या सम्यक् ज्ञान के उतने ही विश्वासी हैं। किन्तु, यह सहज बुद्धि या सम्यक् ज्ञान क्या है, इसे लेकर काफी विवाद रहा है। अवश्य ही, राधाकृष्ण। इसका प्रयोग उस शक्ति के पर्याय के रूप में करते हैं, जिससे योगियों को अलौकिक बातों का ज्ञान होता है, जिससे उपनिषद् के ऋषियों को सृष्टि के गूढ़ रहस्यों का पता चला था, जिससे कवियों और कलाकारों को जड़ में छिपे हुए चेतन के सौंदर्य का साक्षात्कार होता है, जिससे विज्ञान-वेत्ता आविष्कार और द्रष्टा पुरुष महत् सत्य के दर्शन करते हैं। तर्कों का सहारा लिये बिना भी मनुष्य एक प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेता है जो सत्य है। पशु बिना सोचे-समझे आसन्न संकट को भांप जाते हैं, यह उनकी सहज प्रवृत्ति या इंसटिंक्ट है। पैगम्बरों पर सत्य अनायास प्रकट हो जाता है, जिसे दैवी प्रत्यक्षीकरण या रिवीलिशन कहते हैं। इसी प्रकार, प्रत्येक मनुष्य के भीतर एक शक्ति होती है जो उसे तर्कों के बिना सत्य का ज्ञान करा देती है। राधाकृष्णन इस सत्य के विश्वासी हैं एवं उनका विचार है कि इस शक्ति को जाग्रत किये बिना मनुष्य उन दोषों से उद्धार नहीं पा सकता, जो बुद्धि के दोष है। इस सहज ज्ञान को सुस्पष्ट करने के लिए उन्होंने बहुत लिखा है, किन्तु, वह इतना सुस्पष्ट अब भी नहीं है कि सभी बुद्धिवादी उसे स्वीकार कर लें। वस्तुतः सहज-बुद्धि सामान्य बुद्धि का अतिक्रमण करने वाली शक्ति है, अतएव उसकी व्याप्तियां बुद्धि की भाषा से ठीक से समझी भी नहीं जा सकतीं। सहज-बुद्धि में बुद्धि का विरोध नहीं है, प्रत्युत, वह बुद्धि के समस्त गुणों को लेती हुई भी बुद्धि से आगे तक जाती है।† इसलिए, राधाकृष्णन ने उसका नाम 'सम्यक् ज्ञान' रखा है। "सहज ज्ञान विचारों से मुक्त नहीं, प्रत्युत, उन पर प्रबलता से आधारित होता है। वस्तुतः, हमारे सोचने की प्रक्रिया में सम्यक् चिन्तन की प्रक्रिया सम्मिलित रहती है। यह विचारों की प्रक्रिया

---

* इंडियन फिलासफी, भाग १

† यद्यपि सहज ज्ञान बुद्धि के परे है, किन्तु, उससे बुद्धि का विरोध नहीं होता। इसका नाम सम्यक् ज्ञान या पूर्ण ज्ञान है। विचारपूर्वक प्रगति करने वाला ज्ञान तैयारी मात्र है, जिससे हमें सम्यक् अनुभूति प्राप्त करनी है।

(आयडियलिस्ट व्यू आव् लाइफ़)

के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने वाली शक्ति है, किन्तु, विचार वस्तु के बाहरी रूप तक ही पहुँच पाते हैं, जबकि सम्यक् ज्ञान की शक्ति उसके भीतर की वास्तविकता को देख लेती है। सम्यक् ज्ञान का स्फुरण बहुत काल के अध्ययन, मनन, विश्लेषण और निदिध्यासन के परिणामस्वरूप होता है, अतएव, उसका रूप संश्लिष्ट होता है तथा वह बुद्धि के उस रूप से श्रेष्ठ होता है, जिसका कार्य केवल विश्लेषण करना है। पूर्ण और अंश में जो संबंध है, वही संबंध ज्ञान और सम्यक् ज्ञान में रहता है।"* "कोई शतरंज खेल रहा हो या गणित की समस्या सुलझा रहा हो, किन्तु, जहां भी विचारों में केन्द्रित गति काम करती है, वहां विचारों का मार्ग-प्रदर्शन सम्यक् ज्ञान ही करता है।" "अनुसंधानों और आविष्कारों के काम केवल तर्क के नियम से नहीं चलते। आविष्कारकों के भीतर विचारों के इतने गहरे आन्दोलन चलते होते हैं कि वे तर्क के नियंत्रण में नहीं रखे जा सकते। हम आविष्कार तो सम्यक् ज्ञान के बल पर करते हैं, हां, इसे प्रमाणित करने के समय हमें तर्क से काम लेना पड़ता है।"†

सम्यक् ज्ञान की स्फुरणा एकाग्र चिंतन से होती है, एक ही विषय पर दिन-रात ध्यान में लगे रहने से होती है। "निदिध्यासन (Brooding) सोचने की उस प्रक्रिया का नाम है, जिसमें मनुष्य संपूर्ण मस्तिष्क तथा समग्र शरीर से सोचता होता है। सम्यक् चिंतन संश्लिष्ट चिंतन है, पूर्ण चिंतन है। यह चिंतन की वह प्रक्रिया है जिससे सभी इन्द्रियां, संपूर्ण बुद्धि, समग्र चेतना, वस्तुतः सारा अस्तित्व विचारों से स्पंदित होता रहता है। शरीर का कोई अवयव नहीं है जो मन या आत्मा के नियंत्रण से परे हो। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का सारा व्यक्तित्व एक है, उसके अवयव, मन और चित्त उस एक ही व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न पक्ष हैं। बुद्धि से जो विचार तैयार होता है, उसे मनुष्य के अन्तर्मन में डूबना चाहिए जिससे कि उसके चेतन और अचेतन दोनों ही अंश उस विचार से अनुप्राणित हो सकें। शब्द और विचार, दोनों को मनुष्य के मांस में मिल जाना है। मानव-मनोविज्ञान का परिवर्तन, उसके व्यक्तित्व का यही रूपान्तरण रचनात्मक कहाता है। रचना मनुष्य का वह एकाकी प्रभाव है जिससे वह अपनी अपरिचित एवं निगूढ़ आत्मा को जानने में समर्थ होता है।"‡

राधाकृष्णन के समस्त दर्शन का ध्येय मानव स्वभाव में आध्यात्मिकता को सर्वाधिक महत्त्व देना है। मनुष्य की रचना में हम द्रव्य, जीवन और मस्तिष्क को प्रमुख पाते हैं, किन्तु, मनुष्य इनमें से कोई भी वस्तु नहीं है। इन तीनों के योग से भी आगे की चीज है। जब तक मनुष्य के भीतर यह चेतना उत्पन्न नहीं होती कि वह और कुछ न होकर आत्मा है, तब तक, उनका विचार है, संसार की समस्याओं का सच्चा समाधान नहीं मिलेगा।

---

* स्पिरिट आव् मैन

† आयडियलिस्ट व्यू आव् लाइफ़

‡ ईस्ट एण्ड वेस्ट इन रिलीजन

राधाकृष्णन शंकर के अनुयायी हैं और सृष्टि के विषय में उनकी भी मान्यता है कि यह परमात्मा की लीला का प्रत्यक्षीकरण है। इस लीला-प्रसार के भीतर से जीव ब्रह्म के साथ एकता की अनुभूति करे, यही उनके द्वारा समर्थित धर्म का ध्येय है। किन्तु, इस ध्येय-प्राप्ति का मार्ग वे देह-दंडन, निवृत्ति या संन्यास को नहीं मानते, प्रत्युत, गांधीजी के समान ही उनका भी निश्चित मत है कि सभी मनुष्यों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना, विश्व को अधिक शिव और अधिक सुन्दर बनाने की चेष्टा करना तथा सबके प्रति निश्छल प्रेम और विश्वास का व्यवहार करना, ये ही वे मार्ग हैं जिनसे हम जीव और ब्रह्म की एकता के भाव को अपने आचरणों द्वारा अभिव्यक्त कर सकते हैं। धर्म जीवन के अनेक मार्गों में से एक नहीं, प्रत्युत, वह जीवन का एकमात्र मार्ग है। धर्म बाह्याचारों का पालन या धर्मग्रंथों की आज्ञाओं का निर्वाह नहीं है। वह इस भावना की अभिव्यक्ति है, कि सारा विश्व ईश्वरत्व से युक्त है, एवं विश्व भर के साथ हमें वही बर्ताव करना चाहिए जो ईश्वर के साथ किये जाने के योग्य है। "यदि हम यह मान लें कि विश्व का मूल ईश्वर में नहीं है, तो यह संसार निरर्थकताओं का आगार बन जायगा।" धर्म सांसारिक कर्मों से विरक्ति नहीं सिखाता। वह केवल यह शिक्षा देता है कि कर्म करते हुए उससे तटस्थ रहो। "धर्म उन कर्मों को मानता है जो ऐसे व्यक्ति के द्वारा किये जाते हैं, जिसमें स्वार्थ का लवलेश नहीं है, जो उस ईश्वरीय केन्द्र से एकाकार हो गया है, जो प्रत्येक व्यक्ति में है, जो प्रत्येक वस्तु के भीतर प्रच्छन्न है।" जिस व्यक्ति में फलाशा के प्रति आसक्ति नहीं है, उसीके कर्म प्रभावोत्पादक होते हैं। धार्मिक दृष्टि से किये गए कर्म कर्म हैं भी और नहीं भी हैं। कर्म वे इसलिए होते हैं कि उनसे ऐसा फल निकलता है, ऐसा परिणाम प्रकट होता है, जो सबके लिए कल्याणकारी है। और कर्म वे इसलिए नहीं होते कि कर्त्ता की आसक्ति उनके फलों में नहीं होती। "सच्चे धर्म का लक्षण यह है कि उसमें कर्त्ता कर्म करता हुआ भी कर्म से भिन्न होता है। उसका लक्ष्य आत्मा की शक्ति द्वारा जीवन को नियंत्रित रखना है।"

हिन्दुत्व के विषय में पाश्चात्य जगत् के विद्वान् यह कहते हैं कि उसमें निवृत्ति की प्रधानता है। किन्तु, राधाकृष्णन इस आरोप को नहीं मानते। आध्यात्मिक अनुभूतियां संसार त्याग और वैराग्य से ही नहीं हो जातीं। उन्हें प्राप्त करने का मार्ग विश्व-सेवा का भी कार्य है। "जिस जीवन में सेवा-भावना, यज्ञ और आत्म-त्याग की प्रचुरता है, उसी के माध्यम से आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है। वर्षों की एकान्त साधना के बाद बुद्ध को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, किन्तु, बुद्ध का शेष जीवन सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों में ही व्यतीत हुआ। महायान धर्म का तो सिद्धांत ही है कि मुक्त पुरुष में भी दुःखी मानवता के लिए दया का भाव शेष रहता है। गांधी जी धर्म के मनुष्य थे, किन्तु, विश्व को छोड़कर उन्होंने अपनी मुक्ति अन्यत्र नहीं खोजी ......सेवा की क्रियात्मक भावना आध्यात्मिक जीवन का

ही अंश है ।"

राधाकृष्णन ने गांधीजी के सिद्धांतों और उनके प्रयोगों की काफी प्रशंसा की है। वे गीता की भी प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या का समर्थन करते हैं। गीता सिद्धान्तों का आख्यान न करके व्यावहारिक धर्म को प्रधानता देती है । गीता के अनुसार, मनुष्य के सामाजिक और नागरिक कर्त्तव्य ही धर्म के क्रिया-क्षेत्र हैं, धर्म-कार्य के वास्तविक अवसर हैं । धर्म वह है जिससे सांसारिक अभ्युदय और आध्यात्मिक उन्नति, दोनों ही प्राप्त होते हैं। प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयस् हेतुः यः स धर्मः । गीता की शिक्षा वह रहस्यवाद नहीं है जिसका संबन्ध मनुष्य के केवल आन्तरिक जीवन से होता है । जीवन के कर्त्तव्यों और संबन्धों को माया या निस्सार मानने के बदले, गीता उन्हें ऐसे अवसरों के रूप में स्वीकार करती है जिनका उपयोग करके हम आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं । (राधाकृष्णन--कृत 'द भगवद्गीता' से)

किन्तु, कदाचित्, वे गांधीजी के सदृश यह नहीं मानते कि मुक्ति का एक मात्र मार्ग विश्व-सेवा का मार्ग है। विश्व-सेवा का महत्त्व राधाकृष्णन इसलिए स्वीकार करते हैं कि विश्व अभी दुःखी, त्रस्त, एवं शंका तथा कोलाहल से पूर्ण है और अपने वर्तमान रूप में वह आध्यात्मिक जीवन के अनुकूल नहीं है। अतएव, संपूर्ण विश्व को धर्म से एकाकार करने के लिए हमें सेवा-कार्य में संलग्न रहना चाहिए । किन्तु, यह क्षणस्थायी कार्य नहीं है । विश्व यदि ब्रह्म की लीला है तो इसे पवित्र आनन्द से समन्वित रखने के लिए धार्मिक व्यक्ति को भी कार्य-निरत रहना ही चाहिए। "यद्यपि मनुष्य का अन्तिम ध्येय ईश्वर के साथ एकत्व की अनुभूति है, फिर भी, यह सत्य है कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के कुछ ढांचे मनष्य के वैयक्तिक विकास के मार्ग में अधिक बाधायें उपस्थित करते हैं। अतएव, हमारा कर्त्तव्य है कि हम सामाजिक संगठनों को ऐसा रूप देने तथा उस रूप को कायम रखने का प्रयास करें, जिससे सच्चे अर्थों में मानवीय जीवन के विकास में कम से कम बाधा पड़ती हो । सामाजिक जीवन के जिन प्रलोभनों में आकर मनुष्य अंधा और अज्ञानी बन जाता है, दायित्वहीन और क्रूर बन जाता है, उन्हें दूर करके हम व्यक्ति की सच्ची उन्नति का द्वार खोलते हैं। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी जाति या वर्ण का हो, ईश्वर की संतान है एवं ईश्वर ने अपनी कल्पना के अनुसार उसकी रचना की है । अतएव, मनुष्य का व्यक्तित्व अत्यंत पवित्र वस्तु है । व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपना विकास अपने स्वभावानुसार करता जाय। किन्तु, उस अधिकार के साथ कर्त्तव्य भी संलग्न है। हम समाज में राजनीति और कानून की जो पद्धति चलाते हैं, उस पद्धति में व्यक्ति के अधिकार की रक्षा और कर्त्तव्य के पालन का पूरा अवकाश रहना चाहिए। हमारे समाज का ढांचा ऐसा होना चाहिए जिससे मानवीय आदर्शों की उपलब्धि में सभी व्यक्तियों को सुविधा

एवं सुयोग प्राप्त हो ।"*

राधाकृष्णन धर्म को निष्क्रियता से संबद्ध नहीं मानते । धर्म की वास्तविक शिक्षा निष्क्रियता नहीं, प्रत्युत्, विश्व को सुन्दर एवं शिव बनाने का अथक प्रयास है । धर्म के क्षेत्र में समाज में जो उपेक्षा और उदासीनता आ गई है, उसका कारण, सामान्यतः, यह समझा जाता है कि धर्म-साधना में लगे हुए, लोगों ने जीवन का अनादर कर दिया । राधाकृष्णन कहते हैं कि यह अनादर इसलिए नहीं हुआ कि लोग धर्माराधन में लगे हुए थे, प्रत्युत्, इसलिए कि वे धर्म के तत्त्व को छोड़कर उसके आचार में जा फँसे थे । "धर्म के बाह्याचारों को धर्म समझ लेने के कारण ही समाज का विवेक मूर्च्छित (अनेस्थेटाइज्ड) हो गया है । उसे फिर से जाग्रत करना होगा । वर्तमान काल में समाज में न्याय और प्रकाश लाने वाले कार्यों का नेतृत्व संतों नहीं, नास्तिकों के हाथ में अवश्य रहा है । किन्तु, धर्मों के इतिहास बतलाते हैं कि पहले ऐसे कार्य धार्मिक व्यक्ति ही किया करते थे । यद्यपि वे लोग ध्यान और समाधि में रहते थे, किन्तु, समाज में जाग्रति की लहर भी उन्हीं के व्यक्तित्त्व से उठती थी । धर्म की यह परम्परा, जिसके नवीनतम प्रतिनिधि गांधीजी थे, फिर से जाग्रत किये जाने के योग्य है ।"

व्यक्ति और समाज के बीच राधाकृष्णन ने विलक्षण सामञ्जस्य का संधान किया है । व्यक्ति का ध्येय परमात्मा से एकाकार होना है किन्तु, इस ध्येय की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को ऐसा समाज चाहिए, जिसमें इस ध्येय का उचित मूल्य समझा जा सके और जो वैयक्तिक मुक्ति खोजने वालोंको अनुकूलता प्रदान कर सके ।"प्रत्येक व्यक्ति समाज का सदस्य है और समाज में उसे अन्य व्यक्तियों से मिलकर काम करना है । किन्तु, समाज में रहता हुआ भी प्रत्येक व्यक्ति व्यक्ति है, उसकी अपनी भावनाएँ और आकांक्षाएँ होती हैं, उसकी अपनी प्रवृत्ति और अपने आदर्श होते हैं । उसके अस्तित्व के दो पक्ष होते हैं, एक वह जिससे वह समाज के साथ व्यवहार करता है, दूसरा वह जो उसके एकान्त का पक्ष है, जिसमें वह अपनी गहराइयों से बातें करता है । इसी एकान्त जीवन में ऐसे सपने होते हैं जो समाज को ज्ञात नहीं होते । ऐसे विचार होते हैं जिनकी भाषा नहीं मिलती और ऐसी शांति होती है, जिसे कोई भंग नहीं कर सकता । ··· भारतीय चिन्तकों का उपदेश है कि तुम आत्मवंत बनो । आत्मवन्त बनना अपने आप में स्थिर होने का नाम है, समूह की धारा में विलीन होने से अपने आपको बचाने का काम है, यह उन लोगों की संगति में डूबने से बचे रहना है, जो 'आत्महंता' हैं, जिन्होंने अपनी आत्माओं को निहत या आहत कर रखा है, जो विश्व के प्रपंच में आसक्त होकर अपने आपसे दूर हो गए हैं । बाहर कहीं कोई दुर्लभ पदार्थ नहीं है, कि धर्म पर चढ़ कर हम उसे प्राप्त कर लें । धर्म प्राप्त करना नहीं, केवल होना है । आध्यात्मिक जीवन कोई प्रश्न नहीं है, जिसका हमें हल सोचना है । यह तो वास्तविकता है जिसका हमें अनुभव करना है ।

---

*फ्रेगमेंट्स आव् ए कन्फेशन

प्रकाश के धरातल पर अभिनव जन्म ग्रहण करना, यही आध्यात्मिक अनुभूति है।"

राधाकृष्णन ने जिस धर्म का आख्यान किया है, वह बाह्याचारों से कोई संबंध नहीं रखता। वह एक साथ हिन्दुत्व भी है, ईसाइयत भी और इस्लाम भी। सत्य, शिव और सुन्दर, ये तीन गुण मनुष्य में नहीं, ईश्वर में ही होते हैं। संसार में तो हम यही देखते हैं कि कुनैन शिव होने पर भी सुन्दर नहीं होती, न मरीचिका सुन्दर होते हुए भी सत्य कही जा सकती है। किन्तु, ईश्वर के सभी गुण एक साथ सत्य, सुन्दर और शिव होते हैं। मनुष्य जब शुद्ध होकर ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करता है, तब उसमें भी सत्य, शिव और सुन्दर का संयोग होजाता है। राधाकृष्णन मनुष्य के इसी शुद्ध रूप के कल्पक हैं और शुद्धि का मार्ग वे यह बताते हैं कि मनुष्य अपने आप में प्रवेश करे। मनुष्य जब तक अपने आप तक नहीं पहुँचता, ईश्वर तक पहुँचने की उसकी कल्पना ही व्यर्थ है। ईश्वर सभी स्थानों पर है, किन्तु, सभी स्थान मनुष्य के भीतर नहीं हैं। मनुष्य के भीतर तो एक ही विन्दु है जहां ईश्वर उससे बात कर सकता है और यह विन्दु उसकी आत्मा के केन्द्र में अवस्थित है। इसी विन्दु पर ईश्वर हमारी प्रतीक्षा करता है, हमें अपने दर्शन देता और हमसे खुल कर बातें करता है। इस विन्दु पर अधिक से अधिक काल तक ठहरने को राधाकृष्णन ने आत्मा का धर्म कहा है। व्यक्ति अपने एकान्त, अपनी निस्संगता से जो बर्ताव करता है, वही उसका धर्म है। "यदि तुम कभी भी एकान्त या निस्संग नहीं रहते तो तुम कभी भी धार्मिक नहीं होते हो। एकान्त ही तो वह स्थान है जहां हम ईश्वरीय ज्योति जगाने को वर्तिका रचते हैं।"*

राधाकृष्णन ने जिस आध्यात्मिक धर्म को मनुष्य के लिए विहित बताया है, उसका साधन वे रहस्यवाद को मानते हैं और इस प्रक्रिया में वे बुद्धि से ऊपर सहज बुद्धि के प्रयोग को अनिवार्य कहते हैं। जीवन में धार्मिकता का उदय होने से मनन, ध्यान और निदिध्यासन के अभ्यास से बुद्धि संयोजित होकर सहज या सम्यक् बुद्धि बन जाती है और तब उसी के प्रसाद-स्वरूप मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त होता है। परमात्मा का ज्ञान केवल बुद्धि से नहीं होता। यह तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य की बुद्धि और कल्पना, हृदय और संकल्प, संक्षेप में उसका सारा अस्तित्व क्रियाशील हो उठता है। ईश्वर आन्तरिक अनुभूति में प्रत्यक्ष होता है, बाहर हम जिस शक्ति से अन्य वस्तुओं को (आबजर्वेशन) देखते हैं, उससे ईश्वर देखा नहीं जा सकता। आत्मज्ञान या ईश्वर का साक्षात्कार मनुष्य को तब होता है, जब वह अपनी इच्छा को ईश्वर की इच्छा में विलीन कर देता है, जब वह संयम और अनुशासन से अपने

* जब तक मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होता कि उसके भीतर की सबसे बड़ी वास्तविकता उसकी आत्मा है और अंधेरे में इसी आत्मा को ढूंढ़ते हुए वह व्याकुल हो रहा है, तब तक उसे शांति नहीं मिलेगी।

—राधाकृष्णन

जीवन को पूर्ण रूप से शुद्ध बना डालता है।*

रहस्यवाद

चूंकि रहस्यवादी अनुभूति का साधन ज्ञान नहीं, परम या सम्यक् ज्ञान है। इसलिए, आज के बुद्धिवादी रहस्यवाद को शंका से देखते हैं। रहस्यवादी संतों को फ्रायड ने बौद्धिक पागल (इनटैलेक्चुअल क्रिटीन) कहा है। दूसरे अनेक बुद्धिवादियों का कहना है कि रहस्यवाद सुनहले भावावेश में वस्तुओं को धूमिलता से देखने की प्रवृत्ति है, यह मानव मस्तिष्क के परस्पर विरोधी विश्वासों को सही बताने का बहाना है। यह विचारों की विश्रृंखलताओं को गौरव प्रदान करने का उपाय है। राधाकृष्णन् कहते हैं कि बुद्धिवादियों ने जो इतनी बातें कही हैं, रहस्यवाद उनमें से एक भी नहीं है। यह तो केवल इस भाव की स्वीकृति है कि सृष्टि के भीतर रहस्यात्मकता विद्यमान है। बुद्धि के साधनों से भी तो अब तक यही विदित हुआ है कि सारी सृष्टि रहस्ययुक्त है। फिर रहस्यवाद निन्दनीय कैसे हो जाता है? यदि मनुष्य उतना ही होता जितना बाहर से वह दिखाई देता है, तो रहस्य की कोई बात ही नहीं होती। यदि विश्व उतना ही होता जितना इंद्रियों और बुद्धि के साधनों से उसका पता चलता है तो रहस्य की कोई बात नहीं थी। किन्तु, स्थिति यहीं समाप्त नहीं हो जाती। विज्ञान के स्पर्श से परे और बुद्धि की पहुँच से दूर भी एक वास्तविकता है जो परिवर्तित नहीं होती। बुद्धिवादी चेतना के भीतर से हम अपने आपको नहीं देख सकते। इस चेतना से हम वहीं तक देख पाते हैं जहां तक परिवर्तन का क्रम चलता है। हम क्षण-क्षण परिवर्तित हो रहे हैं, बुद्धि इसे देख लेती है। किन्तु, हमारे समस्त परिवर्तन के नीचे एक और तत्त्व है जो सनातन है, जो परिवर्तित नहीं होता। यह अचरज का विषय है और इसमें आश्चर्यमग्न होने की शक्ति ही किसी और नाम के

---

* रिप्लाइ टू क्रिटिक्स

जब उपनिषद् यह कहती है कि मनुष्य को बौद्धिक से उठकर आध्यात्मिक चेतना में पहुँचना चाहिए तब इसका अर्थ यह होता है कि उसे अपनी चेतना का प्रसार करना चाहिए। इस प्रकार से भय, शंका, विरह और मृत्यु का नाश होता है। बौद्धिक से आध्यात्मिक में पहुँचने का अर्थ है, विच्छेद और द्वंद्व से उठकर स्वतंत्रता और प्रेम के लोक में पहुँचना, अज्ञान से ज्ञान की भूमि में जाना। यह ज्ञान केवल उन्हें प्राप्त होता है जिनका केवल हृदय ही पवित्र नहीं, अपितु, बुद्धि भी शुद्ध है। बुद्धि के शुद्ध होने से ही पूर्व ग्रह और मिथ्या धारणाओं का नाश होता है। विना किसी माध्यम के मूल वास्तविकता को जान लेना, यही ईश्वर से परिचित होना है। यह उपलब्धि तब होती है जब चेतना परिवर्तित हो जाती है, जब मनुष्य के भीतर वाला मनुष्य दुबारा जन्म लेता है। इस परिवर्तन के लक्षण हैं प्रकाशित बुद्धि, रूपान्तरित हृदय और परिवर्तित संकल्प। (फ्रेगमेंट्स आव् ए कनफेशन)

अभाव में रहस्यवादी शक्ति कहला रही है। जो इस रहस्य से अपरिचित है, रहस्यवाद को वह समझ नहीं पायेगा। इसीलिए, रहस्यवाद प्रकृतिवादी सिद्धांतों को नहीं मानता क्योंकि ये सिद्धांत ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते। इसीलिए रहस्यवाद उन मूढ़ धर्मों (डागमेटिक धर्म के अर्थ में) के विरुद्ध है, क्योंकि ये धर्म दावा करते हैं कि सृष्टि के सभी रहस्य उन्हें ज्ञात हैं। "धर्म का आरम्भ ही इस चेतना से होता है कि हमारा जीवन केवल हमारा ही नहीं है। इसे आधार देनेवाला जीवन कोई और है जो हमारे सीमित जीवन से कहीं, विस्तृत और महान् है। धर्म मनुष्य के इसी वृहत् जीवन के अनुसंधान की प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में धर्म किसी भी पंथ, किसी भी संप्रदाय या धर्म-शास्त्र को सत्य का अन्तिम उद्घोष नहीं मान सकता।"* प्रकृतिवादी विज्ञान और धर्म, दोनों ही रहस्यवादी को अग्राह्य होंगे क्योंकि दोनों ही रहस्यों का उन्मूलन कर देते हैं। और जोश में आकर वैज्ञानिक भी वैसा ही दुराग्रह दिखला सकता है, जैसा दुराग्रह धर्म वाले दिखाते हैं। जो अविश्लिष्ट है, जो अपरिचित और अज्ञात है, उसके समक्ष चकित होने की योग्यता, यदि धर्म में नहीं रही तो धर्म भी तुच्छ है। रहस्यवादी व्यक्ति धर्म के विशेषज्ञ होते हैं। क्योंकि उनका प्रयास ईश्वर को अपने सामने देखने के लिए है। परम्परा और इतिहास की दृष्टि से ईश्वरत्व का जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह रहस्यवादियों का काम नहीं है। रहस्यवादी धर्म में ईश्वर की सत्ता तर्कसिद्ध वास्तविकता का रूप नहीं लेती, प्रत्युत्, वह ऐसी विद्यमान वास्तविकता बन जाती है जिस पर सभी ज्ञान और सभी मूल्य अवस्थित होते हैं। बर्गों (Bergson) ने जिसे 'मुक्त धर्म' कहा है, वह यही रहस्यवादी धर्म है, जो ईश्वर की वैयक्तिक अनुभूति पर सबसे अधिक जोर देता है। जो रचयित्री शक्ति से सीधा सम्पर्क स्थापित करने को सबसे श्रेष्ठ धर्म बताता है। मुक्त धर्म के विपरीत, मुद्रित अथवा बद्ध धर्म वे हैं, जिनमें अनुभूति की जगह आज्ञा की प्रधानता होती है, जिनमें चिंतन के बदले प्रमाण का महत्त्व समझा जाता है। वास्तव में ऐसे धर्म, उन बच्चों के लिए हैं जो जीवन से डरे हुए हैं और जिनके प्रबोध के लिए आप्त वाक्यों की उपयोगिता है। "मानवता अपनी उन्नति के भार से ही कुचली जाकर अधमरी हो रही है, इसका त्राण उस मुक्त धर्म के वरण करने में है, जिसके सहारे हम आध्यात्म के स्रोत में प्रवेश पाकर अपनी आत्मा का अवगाहन कर सकते हैं।"

रहस्यवाद का और भी विश्लेषण करते हुए राधाकृष्णन ने लिखा है कि पैस्कल ने विश्वास के तीन साधन माने हैं।† पहला साधन अभ्यास या रिवाज (कस्टम), दूसरा

---

*ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट

†ज्ञान के कई प्रकार हैं। प्लाटिनस का कथन है कि इंद्रियों द्वारा हम जो ज्ञान ग्रहण करते हैं, वह मानवी धरातल के नीचे का ज्ञान (परसेप्चुअल) है, तर्कों द्वारा हम जो ज्ञान

साधन तर्कबुद्धि (रीज़न), और तीसरा साधन प्रेरणा (इंस्पिरेशन) है। वास्तव में, ये मन की तीन शक्तियों के नाम हैं, जिन्हें हम इंद्रिय, बुद्धि और सहज बुद्धि का नाम दे सकते हैं। बचपन की आरम्भिक अवस्था में मनुष्य इंद्रिय-जनित ज्ञान से ही परिचालित होता है, क्योंकि बुद्धि तब तक अविकसित रहती है। यौवन में हम इंद्रिय-जनित (इम्पलसिव) ज्ञान के स्तर से उठकर द्वंद्वात्मक (डायलेक्टिकल) बुद्धि के स्तर पर पहुँच जाते हैं और तर्क से परखे बिना किसी भी वस्तु को स्वीकार नहीं करते। किन्तु, परिपक्व अवस्था में पहुँचने पर, हमारा अनुभव विस्तृत हो जाता है और हम सत्य को एक ऐसी समन्वित बुद्धि से ग्रहण करते हैं जो हमारे संपूर्ण अस्तित्व से व्याप्त होती है। यह समन्वित बुद्धि बहुत कुछ सम्यक् बुद्धि का ही प्रतिरूप है। सम्यक् बुद्धि में संकल्प और भावना दोनों ही सन्निविष्ट होते हैं, किन्तु, उसकी प्राप्ति कठोर बौद्धिक प्रयास के बिना नहीं की जा सकती। धर्म भी इसी तरह, तीन प्रकार का माना जा सकता है। प्राथमिक धर्म वह है जो इंद्रियजनित ज्ञान को आधार मानता है। वैचारिक (रेफलेक्टिव) धर्म वह है जो बौद्धिक विचिकित्सा से पुष्टि पाता है। किन्तु, सबसे श्रेष्ठ धर्म रहस्यवादी धर्म है, जिसकी अनुभूति सम्यक् बुद्धि से की जाती है। रहस्य-वादी धर्म समग्र अस्तित्व के द्वारा अनुभूत धर्म है। इसी कारण, वह मनुष्य की सभी जिज्ञा-साओं को समाधान देता है। रहस्यवादी बुद्धि को संतोष, सौंदर्यबोधात्मक प्रवृत्ति को शांति और नैतिक अभिलाषाओं को पूर्णता प्रदान करने वाला धर्म है। रहस्यवाद बौद्धिकता का विरोधी नहीं, उसे अपने भीतर आत्मसात् करने वाला धर्म है। बुद्ध और शंकर रहस्यवादी थे। किन्तु, उनमें पवित्रता भी थी और पाण्डित्य भी, उनमें शौच भी था और अधिकार को चीरने वाली शक्ति भी। पैगम्बरी धर्म कठोर होते हैं, उनमें युद्धोत्तेजना होती है, वे समझौता करने को तैयार नहीं होते, न उनमें सहिष्णुता ही होती है, जो धर्म का पहला लक्षण होना चाहिए। किन्तु, रहस्यवादी धर्म त्यागमय होता है, परलोक को वह सामने रख कर चलता है तथा उसका स्वभाव शान्तिमय होता है।

जिस मानवीय विकास का अगला कदम अरविन्द अतिमानस की भूमि को मानते हैं, उसकी प्रक्रिया का अगला सोपान राधाकृष्णन के अनुसार, रहस्यवाद है। इस स्थल पर यदि गांधी, अरविन्द और राधाकृष्णन की तुलना करें तो गांधी का मत यह होगा कि मनुष्य के आचार को सुधारो कि वह विकास की दिशा में और आगे बढ़े। अरविन्द का उपदेश होगा कि मनुष्य को अति-मनुष्य में रूपान्तरित करो। और राधाकृष्णन कहेंगे कि मनुष्य को शरीर के प्रलोभन से मुक्त करके आत्मा की ओर उन्मुख करो, उसे अपनी गहराइयों

ग्रहण करते हैं, वह हमारे धरातल के साथ है। किन्तु, आध्यात्मिक स्तर मनुष्य के स्तर से ऊँचा पड़ता है।

(फ्रेगमेंट्स आव् ए कनफेशन)

के साथ एकाकार होने दो ।* यही धार्मिक अथवा सहज ज्ञानात्मक अनुभूति सम्पूर्ण विकास की चोटी है । यही अनुभूति मानव-जीवन का सब से बड़ा राज्याभिषेक है । यह अनुभूति विकास के सभी संघर्षों, सभी प्रयासों की पूर्णता है । यहीं आकर दार्शनिकों का वह संधान समाप्त होता है जो उस वास्तविकता को लक्ष्य करके किया जा रहा है जिसमें सभी विचारों को शांति मिलती है । .....यदि आत्मा की चैतन्य अवस्था बौद्धिक अनुभूति का गुण है तो आनन्द की अवस्था की विशेषता आत्म-विस्मृति होती है । विश्व के दुःखों, त्रासों और चेष्टाओं से विमुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब विमुक्त आत्मा वृहत् आत्मा में लीन हो जाए । ईश्वर के समक्ष संपूर्ण और ईश्वरीय इच्छा को अपनी इच्छा से एकाकार करने की योग्यता, ये ही वे गुण हैं जो मनुष्य को सच्ची शांति दे सकते हैं ।†

हिन्दू धर्म, स्वभावतः निवृत्तिवादी है और अन्य धर्म, स्वभावतः, प्रवृत्तिवादी हैं, इस मत को भी राधाकृष्णन नहीं मानते । उनका विचार है कि हिन्दुत्व में उतनी ही निवृत्ति है जितनी अन्य धर्मों में देखी जा सकती है । वस्तुतः सभी धर्म अति-सांसारिकता का विरोध करते आये हैं । जब तक मनुष्यों पर धर्म का प्रभाव रहा, समाज में अशिक्षा और अन्धविश्वासों के रहते हुए भी, आज की अपेक्षा अधिक शांति और सद्भाव था । किन्तु, ज्यों-ज्यों ज्ञान की वृद्धि और धर्म का अनादर बढ़ा, त्यों-त्यों समाज में अशांति की वृद्धि होती गई । हाल में, पश्चिमी जगत् ने विज्ञान और टेकनीक में जो आश्चर्यजनक उन्नति की है, समाज में सुधार और राजनीति में जो प्रगति की है उससे वहां का धर्म प्रवृत्तिमार्गी कहा जाने लगा है । किन्तु, सभ्यता है क्या ? क्या पाश्चात्य सभ्यता ही सभ्यता का एक-मात्र मानदंड है ? क्या पश्चिम की उन्नति और पूर्व का पतन धर्म के कारण हुआ है ? क्या पश्चिम और पूर्व के लोग अपने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में धर्म के पथ-प्रदर्शन में चल रहे हैं ? रागों और वासनाओं की जो लीला पश्चिम में चल रही है वह क्या धर्म की देन है ? और क्या तीन-चार सौ वर्षों पूर्व पश्चिम और पूर्व के धर्मों में वही भेद था जो आज दिखाई दे रहा है ? बात यह है कि कार्यकारी मनुष्य (एक्जैक्युटिव मैन) वैचारिक

* धार्मिक भावना वह है जो हमें ईश्वर पर निर्भर रहने, उसकी उपासना करने और उसका रोब मानने को प्रेरित करती है । किन्तु, आध्यात्मिक अनुभूति इससे भिन्न वस्तु है । यह आनन्दोन्माद की स्थिति है जिसमें हमारा सारा अस्तित्व डूब जाता है । व्यक्ति चाहे तो चेतना की बाहरी परतों में से प्रत्येक को एक के बाद एक तोड़ कर गिरा दे और सब के भीतर स्थित जीवन के केन्द्र में प्रविष्ट हो जाय । यहां अंधकार के घेरे में जो आनन्दमय प्रकाश है उसमें व्यक्ति अकेले विहार कर सकता है —(फ्रैगमेंट्स आव् ए कनफेशन)

†द रेन आव् रिलीजन इन कंटेम्परेरी फिलासाफी ।

(रेफलैक्टिव) मनुष्य से बहुत आगे निकल गया है। आवश्यकता इस बात की है कि जीवन के आध्यात्मिक मूल्य और गहनता में वृद्धि लायी जाय। संसार को आदर्श नहीं, आदर्शों को काम में लाने का उत्साह चाहिये। विश्ववाद का आदर्श काफी पुराना है। वह संसार के कार्यक्रमों (एजेण्डा) में बहुत दिनों से पड़ा हुआ है। पर, वह आत्मा कहां है जो शरीर को सजीव करे? स्वयं धर्म को पुनर्जन्म लेना है। यदि विश्व भर के मनुष्य एक होकर आगे नहीं बढ़ते तो पृथ्वी पर दूसरा तिमिराच्छन्न युग छाकर रहेगा।"*

विवेकानन्द और तिलकजी इस बात से चिंतित थे कि धर्म कहीं भारतवासियों को निष्क्रिय न बना डाले, अतएव, उन्होंने बार-बार यह बतलाने की चेष्टा की कि हिन्दुत्व निवृत्तिवादी नहीं है, न धर्म से सांसारिक कर्मों का विरोध ही होता है। यह चिंता राधाकृष्णन में भी प्रत्यक्ष है। किन्तु, वे सत्य के दूसरे पक्ष को भी नहीं भुलाते। धर्म का वास्तविक गुण यह है कि वह मनुष्य को सांसारिकता में विलीन होने से बचाता है। यदि धर्म अपने इस स्वभाव को छोड़ दे तो आधिभौतिक शक्तियां उसका गला घोंट डालेंगी। "धर्म ने संसार के साथ समझौता कर लिया, यह बुरा हुआ। धर्म बहुत अधिक प्रवृत्ति मार्गी हो गया है।† पहले जीवन का प्रत्येक क्षेत्र धर्म से सेवित था, किन्तु, आगे चलकर धर्म ने विभाजन स्वीकार कर लिया। "मैं आत्मा की मुक्ति का साधन हूं और राजनीति समाज की मुक्ति का दूत है, यह मान कर धर्म राजनीति से अलग हो गया। इस प्रकार, धर्म ने सभ्यता को उसके सब से बड़े शत्रु के हवाले कर दिया है।"‡ कल्याण का मार्ग यह है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का प्रवेश हो। राजनीति चाहे कितनी भी मलिन हो, किन्तु, आज के युग मे अधिक से अधिक मनुष्यों से सम्बन्ध बनाये रखने का काम वही कर रही है। अतएव, इस युग में राजनीति धर्म की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन बन सकती है। वस्तुतः, राजनीति के भीतर जब तक धर्म की स्थापना नहीं होगी, संसार को धार्मिक मूल्यों के लाभ दिखाई नहीं देंगे।§

---

*ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट

†भविष्य तो अज्ञात है, किन्तु, अतीत यह चेतावनी देता है कि संसार अन्त में उन्हीं की शरण जाता है जो अ-संसारी हैं, जो लोक में रह कर भी उसमें आसक्त नहीं होते।

(ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट)

‡वही

§विश्वबंधुत्व के आदर्श को मानने वाले धर्म की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लिए जितना सफल माध्यम राजनीति हो सकती है, उतना और कुछ नहीं।

(एजुकेशन, पालिटिक्स एण्ड वार)

जिस धर्म की व्याख्या श्री राधाकृष्णन ने की है वह सत्य और शान्ति के अनुसंधान का नाम है, वैयक्तिक अथवा सामाजिक अधिकार एवं समृद्धि से उसका कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु, दूसरे ही क्षण, वे कहते हैं कि जो लोग सांसारिक अधिकारों को छोड़ कर आत्मा का ध्यान करने को ही एकमात्र धर्म समझते हैं, वे भी मनुष्य के सामने दोषी हैं क्योंकि असंख्य मानवों के प्रति उनका जो कर्तव्य है उसका पालन वे नहीं कर रहे हैं। "धर्म का आरम्भ व्यष्टि से होता है, किन्तु उसकी परिणति समष्टि में होनी चाहिए।" गांधीजी का विश्वास था कि वैयक्तिक मुक्ति का परंपरागत आदर्श आज भी सत्य है और प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मोक्ष के लिए प्रयास करे। किन्तु, गांधीजी का यह भी कहना था कि वैयक्तिक मोक्ष का साधन समाज का त्याग नहीं, प्रत्युत, उसकी सेवा का कार्य है। बहुत कुछ इसी प्रकार, राधाकृष्णन भी जनकल्याण को धर्म का मार्ग मानते हैं। केवल ध्यान और समाधि यथेष्ट नहीं हैं। मनुष्य के प्रति मनुष्य का जो कर्त्तव्य है वह भी धर्म का ही अंग है।

राधाकृष्णन का उद्देश्य समाज को ऐसी अवस्था में पहुँचाना है, जहां प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक भावों से प्रेरित हो, जहां प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अन्य व्यक्ति को आत्मरूप समझ कर उसका आदर और उससे प्रेम करता हो। उन्होंने बुद्धि के रग-रेशों को ठीक से पहचान लिया है और निश्चित रूप से वे इस निष्कर्ष पर आ गये हैं कि बुद्धि काफी नहीं है। केवल भारत ही नहीं, अपितु समग्र विश्व को आज जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह अध्यात्म के संपूर्ण जागरण का काम है। जिनके पांव उखड़ गये हैं, उनके पांव आध्यात्मिक विश्वासों से दृढ़ होंगे। जो युग संक्रमण काल से गुजर रहा है, उसकी आशा अध्यात्म है। आज संसार में जो कोलाहल छा रहा है, वह असल में, मनुष्यों के भीतर छाए हुए मानसिक कोलाहल का प्रतिबिम्ब है। मनुष्य की आत्मा में विभाजन के विकार भर गये हैं। हमने मान रखा है कि मनुष्य के सारे कर्तव्य या तो बौद्धिक हैं या नैतिक। इसीलिए, लोग इस विश्वास में हैं कि विज्ञान अथवा धर्म-निरपेक्ष मानवतावाद के आधार पर विश्व की नई सृष्टि की जा सकती है। मनुष्य ने धर्म के केन्द्र से अपने को विच्छिन्न कर लिया है और अपनी ब द्धिक शक्तियों के आधार पर वह एक नये समाज की रचना के प्रयास में है। मनुष्य का सारा विश्वास इस बात पर केन्द्रित हो गया है कि सत्य वह है जो प्रमाणित किया जा सके। जो चीज थाही नहीं जा सकती, जो चीज गणित के भीतर जांची नहीं जा सकती, वह असत्य है। हमारी आत्मा की गहराई से जो अस्पष्ट आवाज आती है, उसे लोग अवैज्ञानिक कल्पना का नाम देते हैं। ..... धर्म को वे कविता की एक किस्म कहते हैं (संतायना), धर्म को वे पौराणिक अन्धविश्वास कहते हैं (क्रोसे) तथा धर्म को वे पतनशील समाज का नशा बतलाते हैं (लेनिन)। इनकी दृष्टि में आध्यात्मिक जीवन छल है, प्रवंचना और स्वप्न है......। प्रत्येक व्यक्ति अपना

पैगम्बर आप बन रहा है। परिणाम यह है कि कोई भी किसी दूसरे की बात समझ नहीं पाता। ....हम जिस दुनिया में जी रहे हैं, वह बुद्धिवादी पैगम्बरों की दुनिया है, वह स्वार्थ में डूबे हुए व्यक्तियों की दुनिया है, वह ऐसी दुनिया है जिसमें औद्योगिकत और पूंजीवाद से निकली हुई एक भयानक आर्थिक पद्धति राज कर रही है, जिसमें तकनीकी सफलताओं और बाहरी जीतों की धूम है, जिसमें शारीरिक सुविधाओं और पाशविक विलासिता की सामग्रियों की बाढ़ है, जहां सार्वजनिक जीवन में भी अनियंत्रित लिप्सा का अनन्त साम्राज्य है,जहां पाशविकता और रक्तपात का सहारा लेकर तानाशाही फैल रही है, जहां नास्तिकता, धर्म और आत्मा की उपेक्षा सबसे बड़ा आचार है, जहां कोई भी चीज स्थिर नहीं है, जहां कोई भी विचार दृढ़ता नहीं रखता और जहां मनुष्य के पास भरोसा नाम की कोई भी चीज शेष नहीं है। ....जिन्दगी कार्नीवल या सरकस का ऐसा रूप ले रही है, जिसका न तो कोई ढांचा दिखाई देता है, न कोई लय न कोई ताल। .... मनुष्य के भीतर बसने वाले ईश्वरीय रूप की उपेक्षा करने से आदमी बीमार हो गया है, उसकी आत्मा रुग्ण हो गई है। विचार और संकल्प को ताक पर रख कर अज्ञात लक्ष्य की ओर बहते जाना संतोषदायी कार्य नहीं कह जा सकता। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी मनुष्य को शांति नहीं मिल सकती। तब भी कड़वाहट उसके मन को उद्वेलित करेगी, उसकी शांति को भंग करेगी। प्रकृति इतनी पालतू तो बनाई नहीं जा सकती कि वह पग-पग पर मनुष्य की आज्ञा में चले। ...जब तक पूर्णता के दर्शन नहीं होते, जब तक सनातनता की झांकी नहीं मिलती, तब तक मन की शांति बहुत दूर की आशा रहेगी। सुखों की जननी सुरक्षा की भावना है और यह भावना प्रकृति पर मानवीय आधिपत्य से आने वाली नहीं है। इसके लिए हमें वस्तुओं पर नहीं अपने आप पर स्वामित्व पाना होगा।*

---

*द स्पिरिट आव् मैन

मुस्लिम नवोत्थान

हिन्दुत्व की तुलना में इस्लाम अन्तर्राष्ट्रीय धर्म है क्योंकि मुसलमान कुछ-कुछ सारे संसार में फैले हुए हैं और सब के बीच एक प्रकार की धार्मिक एकता का तार अनुस्यूत है। देशों के हिसाब से मुसलमानों की सब से अधिक संख्या (लगभग ७ करोड़) इन्डोनेशिया में है। पाकिस्तान में उनकी संख्या ६ करोड़ ६० लाख और भारत में ४ करोड़ ३० लाख है। इस प्रकार, विभाजन के बाद भी, भारत तीसरा देश है जहां मुसलमानों की संख्या सर्वाधिक है। टर्की में मुसलमान १ करोड़ ७० लाख, ईजिप्ट में १ करोड़ ६० लाख, ईरान में १ करोड़ ३० लाख, अफ़गानिस्तान में १ करोड़, ईराक में कोई ४५ लाख और सउदी अरब में कोई ३५ लाख हैं। किन्तु, उनकी संख्या इतनी ही नहीं है। मुसलमान चीन (२ करोड़ ५० लाख), श्याम (५ लाख), हिन्दचीन (४ लाख), श्रीलंका (५ लाख), फिलिपाइन्स (३ लाख), सुडान (२० लाख), फ्रांसीसी गिनी (२० लाख), पुर्तगाली गिनी (२ लाख), पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका (१० लाख से कुछ कम) और मदागास्कर (७ लाख), में भी हैं। इसके सिवा, यूरोप में भी उनकी संख्या नगण्य नहीं है। युगोस्लाविया में वे १५ लाख, अलबानिया में ७।। लाख, बलगेरिया में ८ लाख, रूमानिया में २ लाख, यूनान में १।। लाख, फ्रांस में १।। लाख तथा पोलेंड में १२ हजार हैं। इस प्रकार की उनकी छिटपुट आबादी संसार के और देशों में भी है।* अनुमान यह है कि सारे संसार में कोई तीस करोड़ मुसलमान बसते हैं।

अठारहवीं सदी के बाद से जैसे एशिया पर यूरोप का आतंक रहा है, कुछ वैसा ही आतंक मध्यकालीन यूरोप पर एशिया का था और यह आतंक हिन्दुओं, बौद्धों, कनफ्यूशियस-धर्मावलंबियों का नहीं, प्रत्युत, इस्लाम के धर्म-योद्धाओं का था। मंगोल जाति के इस्लाम में दीक्षित होते ही, मुसलमानों की तलवार एक बार फिर चमक उठी और वे यूरोप की ओर बढ़ने लगे। "१५वीं सदी के अन्त में पाश्चात्य सभ्यता पश्चिमी और केन्द्रीय यूरोप तक ही सीमित थी और वह तूरानी बर्बरों के साथ केवल रक्षापरक युद्ध लड़ रही थी एवं उस युद्ध का भी कोई अनुकूल परिणाम दिखाई नहीं देता था। रूस मंगोल-तातारों के पैरों के नीचे पड़ा था और तुर्क लोग दक्षिण-पूर्व से आगे बढ़कर यूरोप की छाती पर पांव रखने की तैयारी में थे। एशिया, उत्तरी अफ्रीका और पूर्वी यूरोप को अपनी अधीनता में रखे

---

* द इस्लाम टु डे—लेखक ए. जे. आरबेरी, तथा मुस्लिमस इन इंडिया (प्रकाशक सूचना विभाग, भारत सरकार)

हुए तूरानी बर्बर-समूह इतना अजेय था कि यूरोपीय सभ्यता अपनी रक्षा के लिए दीवार से पीठ लगाये जूझ रही थी।*" किन्तु, इसी समय, यूरोप में रिनासां (नवोत्थान) की लहर उठी और ईसाई विद्वान् विज्ञान की ओर अग्रसर होने लगे। यह ऐसा समय था जबकि एशियाई देशों के लोग तो रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में अधिकाधिक जकड़े जा रहे थे, किन्तु, यूरोप के लोग इन कुसंस्कारों से छूटने लगे थे। पूर्व में तो धर्म के नाम पर अन्ध-विश्वासों का अन्धकार छाया हुआ था और पश्चिमी क्षितिज पर विज्ञान का बाल-सूर्य उदय हो रहा था। स्पष्ट ही, पासा पलटने का समय आ गया था। एशिया की इस्लामी तलवार ने यूरोप को शारीरिक बल से दबोच रखा था। अब यूरोप बुद्धि के बल से अपनी पराजय का बदला चुकाने वाला था। रिनासां के फलस्वरूप यूरोप में ज्ञान की नई जाग्रति उठी और लगभग इसी समय कोलंबस ने अमरीका तथा वास्को द गामा ने भारत के समुद्री मार्ग का पता लगा लिया। यहीं से यूरोप के विश्व-नेतृत्व का श्रीगणेश होता है। विज्ञान ने यूरोप के भीतर ज्ञान के अद्भुत चक्षु खोल दिये एवं कोलंबस तथा गामा के अनुसन्धान ने उसे समुद्र का सम्राट् बना दिया। यूरोप के लोग व्यापार के लिए सारे संसार में फैलने लगे और सारे संसार का धन निचुड़ कर धीरे-धीरे यूरोप पहुंचने लगा। धन से सुविधा बढ़ती है और जीवन की सुविधाओं से ज्ञान-विज्ञान, शक्ति और संस्कार, सब की वृद्धि होती है। यूरोप में भी इन सभी गुणों की वृद्धि हुई और उसी परिमाण में एशिया के ये गुण छीजते गये। नतीजा यह हुआ कि इस्लाम की चमकती हुई तलवार भोथी पड़ गई और बड़े-बड़े वीर और सुलतान यह समझ ही नहीं सके कि यूरोप की इस बढ़ती का मुकाबिला कैसे किया जाय। जिसके आतंक से यूरोप सदियों पीड़ित रहा, उसी के हाथ की तलवार को ज्ञान और वाणिज्य के व्यूह से कुंठित करके उसने, मानों, इस सत्य को फिर से प्रमाणित कर दिया कि बल उसी के पास होता है जो बुद्धि का स्वामी है तथा जातियां जैसे संस्कारों में जीती हैं उनके कर्तव्य भी वैसे ही हो जाते हैं।

उन्नीसवीं सदी के आते-आते यूरोप और इस्लामी राज्यों का कोई मुकाबिला नहीं रह गया। कहां इस्लाम के एशियाई राज्य जो अन्धविश्वासों में डूबे हुए और आत्म-विभोर थे और कहां यूरोप का वह रूप जो औद्योगिक क्रान्ति और रिनासां के प्रभाव से पूर्णतः जागरूक और चैतन्य था, जिस के हाथ में विज्ञान ने नई-नई शक्तियां धर दी थीं, जो आविष्कारों और अनुसन्धानों के द्वारा प्रकृति के तमाम रहस्यों को उधेड़ कर देख रहा था तथा जिसके भीतर यह भावना जग रही थी कि एशिया के लोग असभ्यता की अवस्था में हैं तथा यूरोप सब से ऊंचे मानवों का देश है? परिणाम वही हुआ जिस की आशा की जा सकती थी। एक-एक कर सभी इस्लामी देश यूरोप की अधीनता में चले गये। इंग्लैण्ड

* The New World of Islam by Lothrop Stoddard.

ने भारत और ईजिप्ट को जीत लिया, रूस कौकेसस के पार जाकर मध्य एशिया का स्वामी बन बैठा, फ्रांस ने उत्तरी अफ्रीका को अधिकृत किया, हालैण्ड ने इंडोनेशिया को दास बनाया एवं इस्लाम के द्वारा अधिकृत और भी सारे भू-भाग किसी न किसी यूरोपीय शक्ति के गुलाम हो गये । इस्लाम के प्रति यूरोप का यह द्रोह-भाव प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त में होने वाली सन्धि-वार्ता में और भी प्रत्यक्ष हुआ जबकि सन्धि के शर्तनामे के अनुसार टर्की का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया गया और संसार में कोई भी ऐसा इस्लामी राज्य नहीं रह गया जो अपने को स्वाधीन कह सके ।

यूरोप के एशिया में आगमन के समय भारत में हिंदुओं का जैसा हाल था,सारे संसार में मुसलमानों की उससे अच्छी स्थिति नहीं थी । सच पूछिये तो यूरोप के उत्थान के समय, सारा एशिया सोया हुआ था । हिन्दुओं की वह गरिमा शेष हो चुकी थी जिसके कारण उन्होंने दर्शन, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, कला-कौशल और कारीगरी में उतनी उन्नति की थी । चीनियों में वह कार्यशीलता और उत्साह नहीं रह गया था जिसके कारण प्राचीन विश्व में उन्होंने अनेक वस्तुओं (कागज, बारूद, चीनी बनाने की कला आदि) का आविष्कार किया था । और इस्लाम भी अपने मूल-रूप से हट कर बहुत विकृत हो गया था । "जैसे मुसलमानों की अन्य शक्तियां छीज चुकी थीं, वैसे ही, उनका धर्म भी विकृत हो गया था । मुहम्मद के कठोर एकेश्वरवाद पर अब अन्धविश्वास एवं अकर्मण्य रहस्यवाद की मोटी परतें जम गई थीं । जनता मूढ़ हो चुकी थी । अब वह मस्जिद जाने को भी उत्सुक नहीं थी । उसकी जगह अब वह जादू, मन्तर, सगुन और इस्तखारे में ज्यादा यकीन रखने लगी थी । वह चमत्कार दिखाने वाले फकीरों को अपना धर्म-गुरु मानती थी एवं पीरों और औलियों की कब्रों की पूजा करने की ओर उसका अत्यधिक झुकाव था । कुरान के नैतिक नियम तो विद्यमान थे, किन्तु, अब या तो उनकी उपेक्षा की जा रही थी अथवा अवज्ञा । शराब और अफीम का प्रचार, प्रायः, हर एक घर में था । वेश्यावृत्ति का प्रचलन बेतरह बढ़ गया था । मक्का और मदीना जैसे पवित्र नगरों में भी दुराचार के अड्डे बन चुके थे । नबी ने जिस तीर्थयात्रा को जीवन का परम धर्म बतलाया था, वही अब पापाचार का साधन बन गई थी । संक्षेप में, इस्लाम के भीतर से उसकी रूह निकल चुकी थी; जो बच गया था वह प्राणहीन छिलका मात्र था, अंधविश्वासों और रूढ़ियों का कचरा मात्र था । ऐसे समय, यदि मुहम्मद पृथ्वी पर आये होते, तो निश्चय ही, वे अपने अनुयायियों को बुतपरस्त काफिर के सिवा कुछ और नहीं समझते ।*

किन्तु, जब अन्धकार सघन हो रहा था और इस्लामी जनता मूल-धर्म से अलग हट कर रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में जकड़ी जा रही थी, ठीक उसी समय, इस्लाम का प्राचीन

* The New World of Islam by L. Stoddard.

तेज बाहर निकला और इस्लाम के जन्मस्थान, अरब के रेगिस्तान में, एक धार्मिक आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिससे रूढ़ियों और कुरीतियों को झाड़ गिराने में इस्लाम को बहुत बड़ी सहायता मिली। इतिहास में यह आन्दोलन **वहाबी आन्दोलन** के नाम से विख्यात है।

वहाबी आन्दोलन

वहाबी आन्दोलन के प्रवर्तक **मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब** थे, जिनका जन्म सन् १७०० ई. के करीब अरब देश के **नज्द** प्रान्त में हुआ था। स्टोडार्ड ने लिखा है कि इस्लाम के इस विश्वव्यापी पतन के काल में भी, नज्द ही ऐसा प्रान्त था जहां लोग पूर्ण रूप से पतित नहीं हुए थे तथा जहां अब भी धर्म का दीपक झिलमिला रहा था। अब्दुल वहाब बचपन से ही विचारशील थे। उन्होंने बचपन में ही हज की यात्रा की थी तथा मदीने में काफी साल रह कर उन्होंने इस्लाम के मौलिक साहित्य का अध्ययन किया था। इस्लाम का गंभीर अध्ययन करते-करते उनका ध्यान तत्कालीन इस्लाम के पतन पर गया और रूढ़ियों, अन्धविश्वासों एवं कुरीतियों के विरुद्ध उनके भीतर सात्त्विक क्रोध के भाव भर गये। सन् १७४० ई. तक उन्होंने खुल कर अपने मतों का प्रचार नहीं किया, किन्तु, उसके बाद, अपने पिता की मृत्यु होते ही, उनके भीतर से सुधार की धारा फूट पड़ी। "जीवन के भीतरी और बाहरी विलासों की उन्होंने कड़े शब्दों में निन्दा आरंभ की। पीरों, औलियों तथा अन्य मानवों की पूजा एवं उनकी कब्रों की आराधना के खिलाफ उन्होंने युद्ध-घोषणा कर दी। तसव्वुफ और सूफी मत की आलोचना वे इसलिए करने लगे कि सूफी इस्लाम के नियमों का उल्लंघन करते थे। फकीरों और साधुओं की पूजा को वे घृणित पाप बताने लगे। उलमाओं के द्वारा कुरान की, की जाने वाली व्याख्याओं को उन्होंने अमान्य बताया और लोगों से यह कहा कि कुरान का अर्थ तुम्हें सुन्नत के प्रसंग में समझना चाहिए और पंडितों के मतवाद के फेरे में नहीं पड़ना चाहिए। कुरान का कल्पना से जो अर्थ लगाया जाता था, उसे उन्होंने बिल्कुल रोक दिया एवं परंपरा से जो अर्थ मान्य समझा जाता था, उसे ही उन्होंने प्रामाणिक ठहराया। बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अपने को बदल कर युगानुरूप बनने के लिए इस्लाम ने जो भी प्रयास किये थे उन्हें वहाब ने एक बारगी काट दिया और समाज को उन्होंने लौटा कर उस स्थान पर ले जाना चाहा जो इस्लाम की आरंभिक पवित्रता का स्थान था।"* टर्की के सुलतान मुराद ने तंबाकू पीने पर रोक लगा रखी थी। एक दूसरे सुलतान ने काफी पीने की मनाही कर रखी थी। ये धार्मिक नहीं, राजकीय फरमान थे। अब्दुल वहाब ने रोकों की जो धार्मिक सूची तैयार की उसमें तंबाकू और काफी ही नहीं, बल्कि **संगीत, रेशम, सोना, चांदी** और **हीरे** भी आ गये क्योंकि ये सामग्रियां भी विलासिता की थीं। बुजुर्गों की कब्रों की कौन कहे, हजरत मुहम्मद

* Modern Movements in Islam by Julius Germanus.

की कब्र पर जा कर पूजा करने को भी उन्होंने शिर्क करार दिया।* सूदखोरी इस्लाम में पाप समझी जाती थी, किन्तु, इस पाप से फायदा उठाने वाले लोगों की कमी नहीं थी। अब्दुल वहाब इस पाप पर अग्नि के वेग से टूटे और इस प्रकार, धार्मिक जनता के साथ-साथ वे निर्धन मुसलमानों के भी श्रद्धाभाजन हो उठे।

सारी गरीब जनता अब्दुल वहाब की पूजा करने लगी, किन्तु, अमीरों का वर्ग भीतर-भीतर उन से जलने लगा। उलमा और मुल्ले तो सदा धनवानों का साथ देते रहे हैं। जब उन्होंने देखा कि धनिक वर्ग वहाब के विरुद्ध है, तब उलमाओं ने वहाब को काफिर बताना शुरू किया। किन्तु, वहाब कब चूकने वाले थे ? जनता तो उनके साथ थी। उन्होंने भी उलमाओं को काफिर घोषित कर दिया और उनके विरुद्ध धर्म-युद्ध की घोषणा कर दी।

किन्तु, इन विरोधों के बावजूद उन्होंने अपने धार्मिक आचरण में कभी भी शिथिलता आने नहीं दी। वे केवल उपदेष्टा नहीं थे। वे जो कुछ बोलते थे, वही करते भी थे। कुरान की सारी आज्ञाएं उन्हें मान्य थीं। वे अपने को खुदा का बन्दा मात्र मानते थे और यह कहना कभी नहीं भूलते थे कि "मेरी बातों पर भी सोच समझ कर ही विश्वास करो। मैं भी इंसान हूं और मेरी बातें भी गलत हो सकती हैं।"

अब्दुल वहाब के आन्दोलन का उद्देश्य इस्लाम के उस रूप को वापस लाना था जिसकी रचना हजरत मुहम्मद ने और जिसका विकास आरंभ के चार खलीफों ने किया था। आरंभिक इस्लाम ईश्वर के सिवा और किसी की पूजा नहीं करता था, उसमें वैराग्य-वृत्ति का अभाव था, उसमें सामाजिक कुरीतियां नहीं थीं, न उसमें मुसलमान-मुसलमान में कोई भेद था। अब्दुल वहाब चाहते थे कि नबी और आरंभ के खलीफों के बाद से इस्लाम में जो रूढ़ियां बनती आई हैं एवं समय-समय पर इस्लाम के सिद्धान्तों की जो युगानुरूप नई-नई व्याख्याएं की गई हैं, वे सारी-की-सारी अमान्य कर दी जायं और इस्लाम का वही रूप सर्वत्र प्रचलित किया जाय जिसका प्रवर्तन नबी ने किया था। यह अतीत की ओर चलने का संकेत था, यह इस्लाम को घसीट कर फिर से सातवीं सदी में ले जाने का आग्रह था। वहाबी आन्दोलन की इस प्रवृत्ति पर खीज कर लार्ड क्रोमर ने लिखा है कि "इस्लाम सुधारों का विरोधी है; यानी सुधरा हुआ इस्लाम, इस्लाम नहीं, कोई और चीज है।"† इस्लाम के

* आगे चल कर वहाबियों ने मुहम्मद साहब की कब्र को भी तोड़ डाला और उसमें सदियों से जो चढ़ावे चढ़े थे उन्हें लूट लिया। काबे की जरी कालीन भी वे लूट ले गये और तीर्थयात्रियों को तो वे इस कदर लूटने लगे कि थोड़े दिनों के लिए हज की यात्रा ही बन्द हो गई थी। —लेखक

†"Islam cannot be reformed; that is to say reformed Islam is no longer Islam, it is something else." (Modern Egypt vii by Lord Cromer)

संबंध में फ्रांसीसी दार्शनिक रेनान (Renan) के भी, प्रायः ऐसे ही विचार हैं। किन्तु, यह दोष सिर्फ इस्लाम में ही नहीं है। और भी धर्म हैं जो इस दोष से पीड़ित हैं। बात यह है कि कला-कौशल, इतिहास, दर्शन और विज्ञान की उन्नति का मार्ग यह समझा जाता है कि लोग गलत बातों को छोड़ कर सही बातों में विश्वास करें। किन्तु, धर्म के मामले में उन्नति का मार्ग कुछ और हो जाता है। जनता की मूढ़ धारणा यह होती है कि इतिहास, दर्शन और विज्ञान में गलतियां हो सकती हैं जिन्हें छोड़ कर सही बातों को अपना लेना ठीक है। किंतु, धर्म का सच्चा रूप तो वही हो सकता है जिस का आख्यान उसके मूल प्रवर्त्तक ने किया है। परिणामतः, रिनासां, नवोत्थान या धार्मिक जागरण के समय लोग आंख मूंद कर पीछे की ओर चलने लगते हैं। हिन्दुत्व के जागरण के क्रम में भी यही हुआ। यहां भी राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द ने (विशेषतः स्वामीजी ने) जनता से कहा कि धर्म तुम्हारा वह है जिसका आख्यान वेदों ने किया है, वह नहीं जिस का वर्णन शास्त्रों और पुराणों में मिलता है। कुछ यही भाव इस्लामी सुधारकों में भी रहा है। अब्दुल वहाब से बहुत पूर्व, प्रायः, चौदहवीं सदी में अरब में **इब्ने-तिमैया** नाम के सुधारक हुए थे। उनका भी यही भाव था और सारी जिन्दगी वे लोगों को इस बात के लिए सजा दिलवाते रहे कि उन्होंने इस्लाम के परंपरागत नियमों का उल्लंघन किया था।

जब से नज्द के सऊद-खान्दान के सरदार **मोहम्मद** अब्दुल वहाब के शिष्य हुए, वहाबियों का जोर बहुत अधिक बढ़ गया और वे धर्म के साथ राजनीतिक प्रभुता का गठ-बन्धन करके सारे संसार के मुसलमानों को एक छत्र के नीचे लाने का स्वप्न देखने लगे।

अब्दुल वहाब की मृत्यु (सन् १७८७ ई.) के बाद, सऊद वहाबी संप्रदाय के नेता हुए। प्रतिष्ठा में उनका राज्य अबू-बक्र या हजरत उमर की खिलाफत की याद दिलाने लगा, क्योंकि मुसलमान उन्हें अपना धार्मिक गुरु भी मानते थे तथा राजनीतिक नेता भी। सऊद का देहान्त सन् १८१४ ई. में हुआ। किन्तु तब तक वहाब संप्रदाय शक्ति और धार्मिक प्रतिष्ठा में इतना उन्नत हो चुका था कि लोग उसे प्राचीन खिलाफत का सहज उत्तराधिकारी मानने लगे थे।

चूंकि वहाबी लोग सऊद-राज्य को खिलाफत का उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे, इसलिए, टर्की के सुलतान से उनका विरोध हो गया क्योंकि खिलाफत का ओहदा अभी टर्की के ही सुलतान के पास था। टर्की का सुलतान जानता था कि वहाबियों में जो धार्मिक उन्माद है उसके सामने कोई भी मुस्लिम देश उनके सामने घुटने टेक सकता है। अतएव, सुलतान ने अलबानिया के मोहम्मद अली से संधि की और यूरोपीय बन्दूकों के सहारे उसने वहाबियों को मिट्टी चूमने को लाचार कर दिया।

किन्तु, यह वहाबियों की सामरिक पराजय मात्र थी। आध्यात्मिक दृष्टि से तो वे

अब भी मुसलमानों के धार्मिक नेता बने हुए थे। इस्लाम को प्राचीन गरिमा पर फिर से अवस्थित करने का स्वप्न वहाबी हमेशा मुसलमानों में फैलाते रहे और मक्का में हज करने को जो भी मुसलमान आते उनके जरिये वहाबियों का यह संदेश आसानी से विश्व के कोने-कोने में पहुंचता रहा।

भारत में वहाबी आन्दोलन

मक्का जाने वाले हाजियों के द्वारा इस आन्दोलन का संदेश अरब से भारत पहुंचा। अरब, सीरिया, मिश्र और ईरान में इस्लाम जिस दुरवस्था में जा फंसा था, भारत में उसकी उससे अच्छी अवस्था नहीं थी। हिन्दू-समाज से जो लोग निकल कर इस्लाम में दीक्षित हुए थे वे अपने साथ हिन्दुओं की बहुत-सी तथाकथित कुरीतियां भी ले गये थे। सत पीर और पंज पीर की पूजा मुसलमानों में भी थी जो हिन्दुओं के सत्यनारायण-पूजन की याद दिलाती थी। मन्दिरों में हिन्दुओं के समान, भारत के मुसलमान भी कब्रों की पूजा करते थे, वहां मिन्नतें मांगते और चढ़ौआ चढ़ाते थे। गांवों में मुस्लिम जनता भी चेचक से बचने के लिए शीतला माता की पूजा करती थी एवं सुख-वृद्धि के लोभ से अनेक देवी-देवताओं को पूजती थी। हिन्दुओं का सगुन-विचार, सधवा स्त्रियों का सिन्दूर लगाना तथा नथ और शंख की चूड़ी पहनना एवं दहेज और श्राद्ध, ये सारे आचार हिन्दुओं के समान मुसलमानों में भी प्रचलित हो गये थे (तथा अब भी प्रचलित हैं)। यही नहीं, प्रत्युत हिन्दुओं की जाति-प्रथा भी मुसलमानों में घुसी और वे भी शरीफ और रजील जातों में बंट गये। संक्षेप में, उलमा और मुल्ला तथा मुट्ठी भर जागरूक मुसलमान चाहे जैसे भी रहते हों किन्तु, मुस्लिम जन-साधारण के रस्म-रिवाज, रहन-सहन और विश्वास अधिकतर वे ही थे जो उनके पड़ोसी हिन्दुओं में फैले हुए थे। यह हमारी सामाजिक संस्कृति की सामग्री थी जिसे दोनों जातियों के लोग प्यार से देखते थे। अब तक किसी भी मुसलमान को यह नहीं सूझा था कि ये कुरीतियां हैं और इनके विरुद्ध आवाज बुलन्द की जानी चाहिए। किन्तु, अरब के वहाबी आन्दोलन का संकेत पाकर भारत के भी उलमा इस्लाम को कुरीतियों से मुक्त करने के काम में लग गये। यद्यपि, इस बात का उन्हें तनिक भी ज्ञान नहीं था कि सुधारों के जरिये वे मुसलमानों को हिन्दू-समाज से अलग कर रहे हैं।*

सन् १८०४ ई. के लगभग हाजी **शरीयत उल्लाह** ने बहादुरपुर (जिला फरीदपुर, बंगाल) में किसान-आन्दोलन का आरंभ किया। उनके अनुयायी **फरायजी** कहलाते थे। इन लोगों ने इस्लाम पर पड़े हुए हिन्दू-प्रभावों को गर्हित बतलाया और जनता से कहा कि इन प्रभावों से निकल कर उस मार्ग पर आओ जो शुद्ध कुरान का मार्ग है। उन्होंने यह

---

* Lower class Islam emerged from the reform purer but more communalist.—W. C. Smith (Modern Islam in India).

भी कहा कि भारत पर अब मुसलमानों का राज्य नहीं है, अतएव, यह **दारुल-हरब** (शत्रु-देश) हो गया है। इसलिए, मुसलमानों को चाहिए कि वे इस देश में जुम्मे की नमाज पढ़ना छोड़ दें। जो लोग इस उपदेश को मानने पर आमादा हुए वे **बेजुम्मा** कहलाने लगे। शरीयत उल्लाह की मृत्यु के बाद, उनके बेटे **दुधू मियां** ने उनके उपदेश को जोर-शोर से फैलाया तथा दुधू मियां के समय में पूर्वी बंगाल में **बेजुम्मा** संप्रदाय की संख्या काफी बड़ी हो गई।

परन्तु, भारत में वहाबी आन्दोलन के सबसे प्रभावशाली नेता रायबरेली के सैयद अहमद हुए। सन् १८२२ ई. में उन्होंने मक्का की तीर्थ-यात्रा की और वहीं वे वहाबी आन्दोलन के मूल प्रवर्तकों के संपर्क में आये। वहीं उन्होंने यह प्रभाव भी ग्रहण किया कि विलासिता और आराम-तलबी इस्लाम की शिक्षा के विरुद्ध है एवं यूरोपीय जातियां इस्लाम से शत्रुता रखती हैं। सैयद अहमद ने भारत में भी सारे देश की यात्रा की और अपने धर्म-बन्धुओं को बताया कि उनका धर्म कितना रूढ़िपूर्ण हो गया है तथा कैसे वे रूढ़ियों को छोड़ कर धर्म के वास्तविक मार्ग पर आ सकते हैं। कुरान और हदीस में जिसका उल्लेख नहीं है, उस रीति-रस्म, रिवाज, आचार और विश्वास को उन्होंने इस्लाम-विरोधी माना एवं कुरान और हदीस की नई व्याख्याओं को भी उन्होंने गलत कहा। उनके भाषणों के भीतर से इस्लाम की आरंभिक पवित्रता और गरिमा दर्पण की भांति चमक उठी एवं जनता उन्हें बड़े ही आदर से देखने लगी। उनके उपदेश भी मुल्लों और अमीरों के विरुद्ध पड़ने लगे और इन दोनों वर्गों के लोगों ने सैयद अहमद का भी वैसा ही विरोध किया जैसा विरोध उन्होंने नज्द में अब्दुल वहाब का किया था। किन्तु, इन विरोधों से भारत के वहाबी नहीं दबे। ज्यों-ज्यों, अमीर-उमरा और उलमा उनका विरोध करते थे, त्यों-त्यों, जन-साधारण और अधिक उनके साथ होता जाता था। किन्तु, अन्ततोगत्वा, वहाबियों पर ब्रिटिश सरकार की शनि-दृष्टि पड़ गई। सैयद अहमद ने भी एलान किया था कि भारत पर मुसलमानी राज्य नहीं रहने के कारण यह देश **दारुल-हरब** हो गया है और यहां के मुसलमानों को भी **जिहाद** का धर्म-सिद्ध अधिकार है। किन्तु, धर्म के भीतर से यह राजनीति झांक रही थी, इसलिए, वहाबियों की अंगरेजों से ठन गई और अंगरेज उनका दमन करने लगे, यहां तक कि थोड़े ही दिनों में भारत का वहाबी आन्दोलन बिलकुल ठंडा पड़ गया।

भारत में सांप्रदायिकता के इतिहास की खोज करते-करते लोग वहाबी आन्दोलन को भी उसका एक कारण मान लेते हैं। किन्तु, वहाबी आन्दोलन ठीक-ठीक सांप्रदायिक नहीं था। यह ठीक है कि भारत को दारुल-हरब बता कर वहाबियों ने सभी मुसलमानों को संगठित होकर इस्लाम की रक्षा के लिए तैयार होने का उपदेश दिया। किन्तु, यह बात हिन्दू-विरोधी नहीं कही जा सकती। धर्म-युद्ध का औचित्य भी यह नहीं था कि भारत

में हिन्दू बसते थे, बल्कि, यह कि इस देश पर अंगरेजों का राज्य था। सिक्खों और बंगाल के जमींदारों के खिलाफ भी वहाबियों के संघर्ष का कारण आर्थिक था, धार्मिक नहीं। "कलकत्ते के पास सन् १८३१ ई. में किसानों ने जो विद्रोह किया उसमें उन्होंने पूरी निष्पक्षता के साथ हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही प्रकार के जमींदारों पर धावा किया।"* "किसी भी इलाके में वहाबियों के पहुंच जाने से ऐसे सभी वर्गों को खतरा रहता है जिनके पास संपत्ति है। पिछले पचास वर्षों से ऐसा हर एक मुल्ला वहाबियों के खिलाफ चिल्लाता रहा है जिसके पास मस्जिद की बाड़ी में दस एकड़ भी जमीन है"।* "पिछली आधी सदी में मुल्लाओं ने सैंकड़ों फतवे देकर वहाबियों की निन्दा की है।"*

धार्मिक सहानुभूति होते हुए भी अमीर मुसलमानों ने वहाबियों का विरोध किया। *सैयद अहमद का भाव चाहे जो रहा हो, किन्तु, व्यवहार में, वहाबी आन्दोलन का आर्थिक पक्ष प्रधान हो गया* एवं साम्प्रदायिकता उसमें से कपूर के समान उड़ गई। और आर्थिक संघर्ष के क्रम में भी, इस आन्दोलन ने निचले तबकों के मुसलमानों को निचले तबकों के हिन्दुओं के खिलाफ नहीं उभारा, न उन्हें एक होने को कहा। विशेष बात तो यह है कि इस आन्दोलन के संचालकों ने धर्म के नाम पर गरीब मुसलमानों को अमीर मुसलमानों से एकता स्थापित करने की भी सलाह नहीं दी। हां, यह कहा जा सकता है कि धार्मिक चिंतन की प्रक्रिया में इस आन्दोलन ने सांप्रदायिकता के उभरने के लिए राह छोड़ दी और बहुत-से मुसलमानों के मन को इसने ऐसा बना डाला जिस पर आगामी सांप्रदायिक आन्दोलनों का प्रभाव पड़ सकता था।

---

* स्मिथ-कृत 'माडर्न इस्लाम इन इण्डिया' में हंटर-लिखित 'द इण्डियन मुसलमान्स' से उद्धृत।

ईसाई धर्म और इस्लाम

इस्लाम और ईसाई धर्म में जो समानता है उसका विवरण अध्याय के आरंभ में दिया जा चुका है। धर्म में जब कुरीतियां बढ़ जाती हैं तब सुधारकों का जन्म होता है। अरब के अब्दुल वहाब ऐसे ही सुधारक थे। किन्तु, भारत में वहाबी आन्दोलन इसलिए भी लोकप्रिय हुआ कि यहां के इस्लाम में जो कुरीतियां आ गई थीं उन्हें लेकर ईसाई धर्म-प्रचारक हिन्दुत्व के साथ इस्लाम की भी खिल्ली उड़ा रहे थे। और जैसे राममोहनराय, केशवचंद्रसेन और स्वामी दयानन्द ने ईसाई धर्म-प्रचारकों का मुंह बन्द करने के लिए हिन्दुत्व के संपूर्ण नहीं, बल्कि, खंडित रूप का समर्थन किया (केवल उतने रूप का जिसकी ईसाई दृष्टि से हंसी नहीं उड़ायी जा सकती थी), उसी प्रकार मुस्लिम सुधारकों ने भी ईसाइयों से मोर्चा लेने को जिस इस्लाम का रूप प्रसिद्ध किया वह परंपरागत इस्लाम नहीं था, बल्कि, उस पर यूरोपीय बुद्धिवाद और मानवतावाद का पूरा प्रभाव था। इस्लाम की आलोचना भी ईसाई प्रचारक यही कहकर कर रहे थे कि यह धर्म मानवतावादी नहीं है, कि इस धर्म में परदे का रिवाज है, कि यह धर्म स्त्रियों का आदर नहीं करता है और एक पति को कई पत्नियां रखने का अधिकार देता है, कि यह धर्म धर्म के नाम पर युद्ध करने को जायज़ बतलाता है जो स्वयं भारी अधर्म है तथा इस धर्म में भी बहुत-सी बातें हैं जो बुद्धिवाद की कसौटी पर खरी नहीं उतरती हैं।

यह आलोचना धर्म की कोई बड़ी आलोचना नहीं थी, किन्तु, ईसाई लोग इस स्थिति में थे कि वे ऐसी आलोचना कर सकें। ईसाईयों की श्रेष्ठता हिन्दू और मुसलमान इसलिए तो मानने वाले थे ही नहीं कि इस्लाम या हिन्दुत्व ईसाइयत से हीन धर्म थे। हां, यह बात जरूर थी कि ईसाई लोग साफ-सुथरे, पढ़े-लिखे, साहसी और विचारवान् थे। साथ ही, वे शासक-जाति के सदस्य थे और इस जाति ने वैज्ञानिक साधनों के कारण अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर दी थी। कल्पना कीजिए कि जब यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई थी, उस समय यदि यूरोप के किसान ईसाइयत का प्रचार करने के लिए भारत आते तो यहां के किसानों पर उनका क्या प्रभाव पड़ता। किन्तु, अब वह बात नहीं थी। ईसाइयत खुद जैसा भी धर्म रही हो, किन्तु, उसके अनुयायी सभ्यता में बहुत बढ़े-चढ़े थे और भारतवालों से वे धन, विद्या, शक्ति और साधन में सहज ही ऊंचे हो गये थे। इसलिए, ईसाइयत का रोब और प्रताप भी बढ़ा-चढ़ा था।

भारत में ईसाइयों ने अधिकतर हिन्दुओं को ही ईसाई बनाया, मुसलमान शिकार उन्हें बहुत कम मिले। इसका एक कारण तो यह था कि इस्लाम में छोटे और निर्धन लोगों पर भी धार्मिक अत्याचार नहीं था जिससे गरीब मुसलमानों को अपना धर्म बदलने की जरूरत नहीं हुई। दूसरे, इस्लाम और ईसाइयत के बीच यूरोप में जो सुदीर्घ संघर्ष रहा था उसके संस्कार ने भी मुसलमानों को सतर्क रखा। तीसरी बात यह थी कि जैसे ब्रह्म-समाजियों ने हिन्दुत्व के भीतर से ईसाइयत से मिलते-जुलते एक नवीन धर्म की सृष्टि करके पढ़े-लिखे हिन्दुओं को ईसाई होने से बचाने की कोशिश की, उसी प्रकार, इस्लाम के सुधारकों ने पुस्तकें रचकर तथा व्याख्यानों के द्वारा यह सिद्ध कर दिखाने का प्रयत्न किया कि इस्लाम और ईसाइयत, प्रायः, एक ही धर्म हैं, उनमें कोई बड़ा भेद नहीं है। इसके सिवा, एक कारण यह भी रहा कि आरंभ में मुसलमान अंगरेजी शिक्षा से बिदके हुए थे और अंगरेजी खान-पान, पोशाक, विद्या और संस्कार, सबको वे अधार्मिक मानते थे।

अंगरेज और अंगरेजियत से प्रेम

यूरोपीय विचारधारा, अंगरेजी शासन और यूरोपीय संस्कार, इनके प्रभाव हिन्दुत्व और इस्लाम पर भिन्न-भिन्न रूपों में पड़े। अंगरेजी भाषा का स्वागत पहले हिन्दुओं ने किया, अंगरेजी संस्कार भी पहले उन्होंने ही ग्रहण किया। किन्तु, इसके बाद ही, वे अंगरेजों के विरोधी हो गये और उनकी शिक्षा-दीक्षा और सारे अंगरेजी संस्कारों से भारत में राष्ट्रीयता का आविर्भाव और विकास हुआ। मुसलमानों को, स्वभावतः ही, अंगरेज जाति, अंगरेजी शासन और यूरोपीय संस्कार से घृणा थी। अतएव, आरंभ में वे उनसे बचने की कोशिश करते रहे। मगर, जब वे अंगरेज, अंगरेजी और अंगरेजियत की ओर झुके तो फिर ऐसा झुके कि उनमें से बहुतों ने भारत को भुला ही दिया और वे अंगरेजों के परम राज-भक्त होने में ही अपना और अपने धर्म एवं समाज का कल्याण देखने लगे। यह परस्पर विरोधी बात दीखती है। किन्तु, यह घटना भी अकारण नहीं घटी।

बात यह हुई कि अंगरेजों ने भारत का शासन मुसलमानों के हाथ से छीना था, अतएव, उनकी शंका भी सबसे अधिक मुसलमानों पर ही थी। बाद में, जब वहाबी आन्दोलन उठा और सैयद अहमद के नेतृत्व में मुसलमान अंगरेजों के विरुद्ध संगठित होने तथा भारत को शत्रु-देश (दारुल-हरब) कहने लगे तब अंगरेजों की शंका और भी पुष्ट हो गई एवं उन्हें विश्वास हो गया कि इस्लाम राज्य-विरोधी धर्म है और सारे के सारे मुसलमान अंगरेजी शासन के खिलाफ हैं। दमन के चक्र द्वारा वहाबी आन्दोलन तो दबा दिया गया, किन्तु, उसके विद्रोही संस्कार मुस्लिम जनता के हृदय में बने रहे। सन् सत्तावन के गदर के पीछे कुछ वहाबी संस्कारों का भी हाथ था, ऐसा तत्कालीन अंगरेज शासकों और लेखकों का मत था। फिर गदर के मुख्य अपराधी भी मुसलमान ही माने गये और गदर के बाद कई

वर्षों तक मुसलमान सरकार की शनि-दृष्टि के शिकार बने रहे। एक तो अंगरेजी नहीं जानने के कारण यों ही मुसलमानों को नौकरियां नहीं मिलती थीं, अब उनका सारा संप्रदाय ही बागी करार दे दिया गया। अतएव, वे शासन से अलग रखे जाने लगे और सामाजिक क्षेत्रों में भी उनका प्रभाव घटने लगा।

दूसरी ओर, हिन्दू पढ़-लिखकर काफी तैयार हो चुके थे। सरकारी नौकरियों में उनकी अधिकता थी। शिक्षा-संस्थाओं में उनका प्राधान्य था। वे नये भारत के नामी लेखक, विचारक, नेता और पत्रकार थे। उनके भीतर देश को स्वाधीन करने की उमंग जग चुकी थी और सारा का सारा राष्ट्रीय आन्दोलन उनके हाथ में था। ऐसी स्थिति में, मुसलमानों की अवस्था, सचमुच, बेपनाह थी। अंगरेज उन्हें अपना दुश्मन समझते थे और कल के गुलाम हिन्दू आज प्रत्येक क्षेत्र में उनसे आगे निकले जा रहे थे। यूरोपीय विचारकों के प्रचार से अब तो यह कोई सोच ही नहीं सकता था कि राष्ट्रीय आन्दोलन सफल हुआ तो बहादुरशाह के खानदान के किसी शाहजादे को खोजकर भारतवासी उसे अपना बादशाह चुनेंगे। सबकी मांग यही थी कि भारत को प्रजातंत्र के ध्येय की ओर बढ़ना चाहिए और प्रजातंत्र में सत्ता उनके हाथ में होती है जिनका देश में बहुमत होता है। मुसलमान, दोनों ओर से अपने को समाप्त समझने लगे। यह भारत में इस्लाम के भविष्य की रक्षा की घड़ी थी। यह वह समय था जब मुसलमानों को यह चुनाव करना था कि किस राह पर पांव धरें कि हमारा भविष्य कल्याणमय रहे। इतिहास की शिक्षा यह थी कि जिसने तुम्हें अपदस्थ किया है, तुम भी उसे अपदस्थ करो। वहाबी आन्दोलन का संकेत था कि यूरोपीय संस्कारों से इस्लाम की रक्षा की जानी चाहिए (उस समय यह भाव तर्कसम्मत था, यद्यपि, आज इसमें कोई सार नहीं है)। और गदर की भी शिक्षा यही थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दू मुसलमानों को धोखा नहीं देंगे। किन्तु, इतिहास की इन शिक्षाओं के बावजूद मुसलमान अपनी हिम्मत हार बैठे और सारी संभावनाओं के विपरीत, उन्होंने यह तय किया कि अंगरेजी पढ़ कर अंगरेजों के यहां नौकरियां प्राप्त की जायं और राष्ट्रीय आन्दोलन से पीठ फेरकर अंगरेजों के प्रति राजभक्ति का सबूत दिया जाय। पहला प्रस्ताव तो समयानुसार उचित ही था क्योंकि सभी भारतवासी वही कर रहे थे। किन्तु, दूसरा प्रस्ताव भविष्य के लिए अमंगलकारी सिद्ध हुआ।

सर सैयद अहमद खां

भारत में राजभक्त मुसलमानों के परम नेता सर सैयद अहमदखां हुए जिनका जन्म दिल्ली के एक सैयद घराने में सन् १८१७ ई. में हुआ था। सच पूछिये तो जैसे राम-मोहन राय ने आरम्भ में ही हिन्दुओं को अंगरेजी पढ़ने की सलाह दी थी, वैसे ही, दिल्ली के मुसलमान भी आरम्भ में अंगरेजी की ओर काफी झुके थे। जकाउल्लाहखां दिल्ली के ही

थे जिन्होंने, आरम्भ में ही, अंगरेजी पढ़ कर गणित और विज्ञान की दरजनों पुस्तकें उर्दू में लिखीं। असल में, इस काल के मुसलमान भी अंगरेजी की महिमा को भलीभांति समझ गये थे और वे चाहते थे कि अंगरेजी में उपलब्ध नवीन ज्ञान उर्दू के द्वारा भारत में फैला दिया जाय। किन्तु, जकाउल्लाह जैसे विद्वानों का काम गदर होते ही समाप्त हो गया। उसके बाद, मुसलमानों के भीतर जिस भावना ने घर कर लिया वह अंगरेजी भाषा की विरोधिनी थी। हां, गदर के बाद भी, कई व्यक्तियों में जकाउल्लाह के तरीकों की याद बनी रही और वे मुसलमानों में अंगरेजी का प्रचार करने के लिए छोटे-मोटे उद्योग करते रहे। कलकत्ते के खानबहादुर लतीफ ऐसे ही व्यक्ति थे जिन्होंने सन् १८६३ ई. में **मोहमडन लिट्रेरी सोसायटी** की स्थापना की जिसके तत्वावधान में ऊंचे तबके के मुसलमान सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विषयों पर अंगरेजी ढंग से विचार-विनिमय किया करते थे। गदर के बाद, मुसलमानों में जो पस्ती आई उसका असर नवाब लतीफ पर स्पष्ट था क्योंकि वे समझते थे कि अंगरेजी सलतनत इतनी मजबूत है कि वह उखाड़ी नहीं जा सकती तथा अंगरेजी भाषा से इतने लाभ हैं कि उसकी उपेक्षा भी आत्मघातिनी होगी। लतीफ साहब के उद्योग से उस मदरसे में अंगरेजी का प्रवेश हुआ जिसे लार्ड हेस्टिंग्स ने खोला था। उन्हीं के उद्योग से मुसलमान लड़कों के लिए अनेक स्कूल खोले गये और मुस्लिम जनता अंगरेजी पढ़ने वाले मुसलमान छात्रों की सहायता भी करने लगी। यह आन्दोलन अत्यन्त छोटा और संकीर्ण था, किन्तु, बीज रूप में यही राज-भक्ति के उस वृहत् आन्दोलन का जनक हुआ, जो आगे चलकर सर सैयद अहमद के नेतृत्व में फैलने वाला था। इसी आन्दोलन के नेताओं ने मुल्लाओं से फतवा लेकर मुसलमानों में यह घोषणा करवायी कि भारत **दारुल-हरब** नहीं, **दारुल-इस्लाम** है और जो लोग जुम्मे के दिन सामूहिक नमाज नहीं पढ़ते वे धर्म के विरुद्ध काम करते हैं, क्योंकि अंगरेज बहादुर किसी के धर्म में कोई दखल देना नहीं चाहते।

स्पष्ट ही, जिन कारणों ने सर सैयद को राज-भक्ति की ओर प्रेरित किया, उन्हीं कारणों से लतीफ भी राज-भक्ति की ओर गये होंगे। किन्तु, लतीफ ने जिस बीज का वपन मात्र किया था, वह सर सैयद के समय बढ़कर बड़ा वृक्ष बन गया। सर सैयद बड़े ही कर्मठ पुरुष थे। बाधाएं उनका मार्ग नहीं रोक सकती थीं। उनकी लगन, उनका अध्यवसाय और उनका अडिग विश्वास बेजोड़ था। किन्तु, उनकी सफलता का रहस्य इतना ही नहीं था। मुख्य बात तो यह थी कि सारी मुस्लिम जनता ही एक प्रकार की मानसिक पस्ती में थी और जो समाधान सर सैयद को सूझा था, वह जनता को भी पसन्द था। मुसलमानों को एक ओर तो कुपित शासन से भय था, दूसरी ओर हिन्दुओं के बहुमत पर आशंका। यह भी था कि हिन्दू मुसलमानों से नाराज नहीं थे, किन्तु, अंगरेजों का मुसलमानों पर कोप स्पष्ट था।

निदान, मुसलमानों ने कुपित शासन को प्रसन्न करने का मार्ग चुना। यद्यपि, उस समय उन्हें यह अंदेशा भी नहीं था कि यह मार्ग आगे चल कर उन्हें अपने देशवासियों में बदनाम करेगा ।

२१ साल की उम्र में सर सैयद सरकारी नौकरी में दाखिल हुए। उनकी प्रवृत्ति साहित्य की ओर थी और गदर के पूर्व तक उन्होंने साहित्य लिखा भी खूब। उस समय तक उनकी रचनाओं में जो विचार व्यक्त हुए वे राज-भक्ति के विचार नहीं थे, प्रत्युत, उनकी थोड़ी-बहुत समता वहाबी विचारधारा से ही समझी जाती थी। लेकिन, गदर के बाद अंगरेजों ने मुसलमानों पर जो अत्याचार आरम्भ किया उससे वे बिलकुल घबरा गये और कहते हैं कि भारत में मुसलमानों का कोई भविष्य नहीं देखकर एक बार उनके मन में यह भाव भी जगा था कि भारत से भागकर वे मिश्र में जा बसें। किन्तु, दूसरे ही क्षण, उन्होंने अपने को संभाला और यह संकल्प करके वे भारत में रह गये कि चाहे जैसे भी हो, अपने धर्म-बन्धुओं को ऊपर उठाने में सारा जीवन लगा दूंगा।

मुसलमानों की उन्नति के उन्हें दो उपाय दिखाई पड़े। एक तो यह कि मुस्लिम जनता में अंगरेजी भाषा और अंगरेजी शासन के प्रति जो विरोध का भाव है वह बिलकुल दूर कर दिया जाय। दूसरा यह कि अंगरेजी शासन के मन से मुसलमानों पर जगी हुई शंका निर्मूल कर दी जाय। मुस्लिम जनता को यह समझते देर नहीं लगी कि अंगरेजी राज में सब से सुखी लोग वे हैं जो अंगरेजी के जानकार हैं क्योंकि ये ही लोग अब शासन के अधिकारी और कर्मचारी थे तथा वाणिज्य-व्यवसाय में भी ये ही प्रगति कर रहे थे। अंगरेजी की शंका मिटाने के लिए उन्होंने लेख और किताबें लिखीं जिन में उन्होंने यह सिद्ध किया कि गदर के मुख्य अपराधी मुसलमान नहीं थे और थे भी तो उन्होंने आवेश में आ कर गलती की थी जिसके लिए सरकार से उन्हें क्षमा मिलनी चाहिए।+ एक दूसरी किताब लिख कर उन्होंने उन मुसलमानों की गिनती गौरव से करवायी जिन्होंने गदर के समय अंगरेजों का साथ दिया था।† यही नहीं, वहाबियों की ओर से भी उन्होंने यही दलील दी कि वे अंगरेजी विरोधी नहीं, सिर्फ सिक्खों के शत्रु थे। मुसलमान विद्रोही हैं, इसका खंडन उन्होंने बार-बार किया है और बार-बार कहा है कि इस्लाम आजादी का तरफदार नहीं हो सकता। अंगरेज मुसलमानों को शंका की दृष्टि से नहीं देखें। बस, इतना उद्देश्य था जिसकी प्राप्ति के लिए वे आजीवन उद्योग करते रहे। अलीगढ़ में **मोहमडन ऐंग्लो-ओरियंटल कालेज** (जो सन् १८७५ ई. में खुला और सन् १९२० ई. में मुस्लिम यूनिवर्सिटी में परिणत हो गया) की स्थापना करते हुए उन्होंने उसके उद्देश्यों में जहां यह बात रखी

\+ असबाबे-बगावते-हिन्द, सन् १८५९ ई.

† द लायल मोहमडन्स आव इंडिया, १८६०-६१ ई.

कि "मुसलमान अपने धर्म की रक्षा करते हुए अंगरेजी पढ़ सकें", वहां उसी घोषणापत्र में वे यह कहना नहीं भूले कि "इस संस्था का उद्देश्य मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार की सुयोग्य प्रजा बनने के योग्य बनाना है।"* असल में, सर सैयद ने मध्यवर्गीय मुसलमानों की राज-भक्ति बटोर कर अंगरेजों के चरणों में डाल दी और बदले में उन्हें अंगरेजों का प्रिय पात्र बना दिया।

धर्म के क्षेत्र में भी सर सैयद बहुत बड़े सुधारक थे। जवानी में उन पर वहाबी विचारों का जो प्रभाव पड़ा था वह टिक नहीं सका और अन्त में जाकर उन्होंने यह निर्णय किया कि इस्लाम को अपनी पुरानी परतें तोड़ कर युगानुरूप बनना ही चाहिए। कुरान शरीफ की उन्होंने जो टीका लिखी है वह बहुत अंशों में बुद्धिवादी है। बुद्धिवाद और प्राकृतिकता (Reason और Nature), इन दो कसौटियों पर जो बातें खरी उतरें, उन्हें ही मानने का उनका उपदेश था। कुरान और हदीस में जो चमत्कारपूर्ण अलौकिक बातें हैं, उनके संबंध में सर सैयद का मत था कि या तो वे अलंकार की भाषा में कही गई हैं जिनका बुद्धि-गम्य अर्थ लेना चाहिए अथवा उनका अर्थ आज के मुसलमानों की समझ में नहीं आने से उन्हें निर्विवाद छोड़ देना चाहिए।

वे परदे के विरोधी और स्त्री-शिक्षा के जबर्दस्त हामी थे। स्त्री-शिक्षा में कुरान की बाधा वे नहीं मानते थे। उनका यह भी दावा था कि कुरान जिहाद (धर्म-युद्ध) और गुलामी प्रथा के औचित्य को नहीं स्वीकार करता है। वस्तुतः, इस्लाम का साक्षात्कार उन्होंने यूरोपीय विचारधारा की पृष्ठ-भूमि पर किया था और यूरोप एवं ईसाइयत में जो भी अच्छी बातें हैं उन्हें वे इस्लाम के अनुकूल बताते थे। वे सच्चे अर्थों में नवीन युग के नये मनुष्य थे और इस्लाम को प्राचीनता से संलग्न करने वाली कोई भी कड़ी उन्हें पसन्द नहीं थी। यूरोप के सामने वे मुसलमान होने के कारण दबने को तैयार नहीं थे। अतः, उन्होंने यह दावा रखा कि यूरोपीय कसौटी पर कसने से भी इस्लाम उत्तम धर्म सिद्ध होता है।

खान-पान, रहन-सहन, संगति और संस्कार में भी अंगरेजी ढंग उन्हें बहुत पसन्द ा और जो भी नवयुवक अंगरेजियत अपनाता उसकी वे प्रशंसा करते थे। संक्षेप में, सर सैयद ने केवल अंग ़ी शासन को ही स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत, वे चाहते थे कि मुसलमान खुले दिल से अंगरेजियत को भी कबूल कर लें। नई रौशनी के प्रति अपनी इस रुझान के कारण उन्हें प्राचीनता के पिष्ट-पेषकों की निन्दा भी सहनी पड़ी।† उनके दल को लोग 'नेचरी' (अंगरेजी के नेचर शब्द से) तथा उन्हें अंगरेजों का भक्त कहा करते थे।

---

* "To make the Mussalmans of India worthy and useful subjects of the British Crown."

(माडर्न इस्लाम में उद्धृत)

† सर सैयद के आलोचकों में अकबर इलाहाबादी बड़े ही प्रमुख हुए हैं। वे सर

सर सैयद धर्म में अप्राकृतिक विवरणों को नहीं मानते थे। इसलिए, ईसाइयत के एकपत्नीव्रत वाले विश्वास को उन्होंने गलत कहा और यह दलील पेश की कि चूंकि मनुष्य का स्वभाव एकाधिक-स्त्रियागामी है, इसलिए, इस्लाम यदि चार पत्नियां रखने की आज्ञा देता है तो यह कोई अप्राकृतिक बात नहीं है।

सर सैयद ने जिस इस्लाम की व्याख्या पेश की वह प्राकृतिक नियमों के अनुसार एवं वैज्ञानिक प्रगति के सर्वथा अनुकूल था तथा मानवतावाद, बुद्धिवाद एवं यूरोप की प्रगतिशील विचारधारा से उसका कोई विरोध नहीं था।

सर सैयद के राजनीतिक सिद्धान्त उनके राज-भक्ति वाले सिद्धान्त के नीचे दबे थे। अखिल भारतीय कांग्रेस का जन्म सन् १८८५ ई. में हुआ और उस समय अंगरेजों की उस पर अकृपा नहीं थी। फिर भी, आरम्भ से ही सर सैयद मुसलमानों को यह सलाह देते रहे कि कांग्रेस में उनका जाना ठीक नहीं है। सन् १८८७ ई. के २८ दिसम्बर को कांग्रेस का अधिवेशन मद्रास में हो रहा था और उस वर्ष उसके सभापति भी एक मुसलमान सज्जन थे। ठीक उसी दिन, लखनऊ में सर सैयद ने भाषण दिया कि मुसलमानों को राज-भक्ति के पथ पर आरूढ़ रह कर अधिक से अधिक सरकारी नौकरियां प्राप्त करते रहना चाहिए। मुसलमानों का कांग्रेस में सम्मिलित होना हरगिज ठीक नहीं है। "यदि तुमने अपने ऊपर शंका करने का अवसर नहीं दिया तो सरकार तुम्हारी सारी तकलीफें दूर कर देगी।" कर्नल ग्राहम को उन्होंने एक पत्र लिखा था कि "तथाकथित राष्ट्रीय कांग्रेस के खिलाफ मैंने एक भारी जिम्मेदारी उठायी है और अभी-अभी 'इंडियन युनाइटेड पैट्रियाटिक एसोसियेशन'

सैयद की अंगरेज-भक्ति के ही विरोधी नहीं, प्रत्युत, उनके सामाजिक सुधारों के भी द्रोही थे। उनके कितने ही शेर सर सैयद को लक्ष्य करके लिखित दीखते हैं। यथा,

ईमान बेचने को तो तैयार भी,
लेकिन, खरीद हो जो अलीगढ़ के भाव से।

× × ×

हजार शेख ने दाढ़ी बढ़ायी सनकी-सी,
मगर, वो बात कहां मालवी मदन की-सी?

× × ×

तालीमे-दुख्तरां से ये उम्मीद है जरूर,
नाचे दुल्हन खुशी से खुद अपनी बरात में।

× × ×

तुम अंगरेजीदां हो वो अंगरेजदां हैं।

की स्थापना की है।"* यही नहीं, जब यूनान और टर्की में युद्ध आरम्भ हुआ और "पहले इस्लाम तब और कुछ" (PAN-ISLAMISM) की भावना भारत में फैलने लगी तब सर सैयद ने प्राय मृत्यु-शय्या पर से लेख लिखकर भारत के मुसलमानों को चेतावनी दी कि बाहर की बातों का असर वे अपने मन पर मत आने दें। इसी लेख में उन्होंने यह भी कहा कि टर्की का सुलतान विश्व भर के मुसलमानों का खलीफा नहीं है, तथा कारणवश यदि अंगरेज टर्की से लड़ाई भी लड़ते हों, तब भी भारत के मुसलमानों को अंगरेजों के प्रति राज-भक्त रहना ही चाहिए।

सर सैयद में सांप्रदायिकता थी या नहीं, यह संदिग्ध विषय है। वैसे, वे उन्नीसवीं सदी के उन महापुरुष भारतीयों में थे जो इन क्षुद्र भावनाओं से बहुत ऊंचे थे, जो अपने-अपने धर्म पर आरूढ़ रहते हुए भी एक-दूसरे के प्रेमी और विश्वासी थे। राममोहनराय, केशवचंद्र, विवेकानन्द, रानाडे, गोखले या सर सैयद, इनमें से कोई भी व्यक्ति सांप्रदायिक नहीं था। ये सब लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता के हामी और विभिन्न जातियों के बीच प्रेम और सद्भाव रखने के पक्षपाती थे। असल में, तब तक भारत छोटे लोगों का देश ही नहीं था। यहां के नेता और विद्वान् पड़ोसी के धर्म या नीति की निन्दा करने में संकोच का अनुभव करते थे। और यही हाल यहां की जनता का भी था।

स्वामी दयानन्द की मृत्यु पर सर सैयद ने जो श्रद्धांजलि अर्पित की वह उनके हृदय की विशालता की द्योतक थी। अलीगढ़ कालेज स्थापित करने के समय उन्होंने हिन्दुओं से भी सहायता ग्रहण की थी। वे सामाजिक क्षेत्र में हिन्दुओं और मुसलमानों का पूरा मिलन चाहते थे। सरकारी क्षेत्रों में मुसलमानों को आगे बढ़ाने का काम वे अवश्य कर रहे थे, किन्तु, यह केवल अपने धर्मबन्धुओं की सेवा थी। उनका ध्येय यह नहीं था कि मुसलमान हिन्दुओं से बिलकुल अलग हो जायं।

किन्तु, जिस राज-भक्ति के द्वारा वे मुसलमानों का कल्याण खोज रहे थे, उसी से आगे चल कर सांप्रदायिकता की डालें फूट निकलीं। उदाहरण के लिए, यह दलील कि यदि अंगरेज भारत से हटें तो यहां हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच झगड़े शुरू हो जायंगे, सबसे पहले उन्हीं को सूझी थी। सर सैयद के प्रयत्नों से जब सरकार और मुस्लिम समाज के बीच का तनाव कुछ कम हुआ तब राष्ट्रीयता के वातावरण में मुसलमानों की भी राज-भक्ति कुछ शिथिल पड़ने लगी। ऐसे समय, राज-भक्ति के हिलते हुए पाये को मजबूत करने के लिए सर सैयद ने मुसलमानों को हिन्दू-आतंक का भी भय दिखाया। मुसलमानों का तब तक कोई अलग संगठन नहीं था और सर सैयद भी चाहते थे कि मुसलमान शिक्षा-संस्कृति से आगे बढ़ कर राजनीति में न पड़ें। किन्तु, गुलाम देश में राजनीति की प्रेरणा से कोई

* माडर्न इस्लाम इन इंडिया

विरला ही बच पाता है। आखिर को मुसलमान भी राजनीति की दिशा में इधर-उधर जाने लगे। ऐसे समय सन् १८८९ ई. में सर सैयद ने **अपर इंडिया मोहमडन डिफेंस एसोसियेशन** कायम की। अनुमान यह होता है कि यह संस्था सर सैयद ने मुसलमानों को कांग्रेस में जाने से रोकने के लिए बनायी होगी। सर सैयद गवर्नर-जनरल की काउन्सिल के भी सदस्य हुए थे। दुर्भाग्यवश, राज-भक्ति के जोश में आकर वहां भी उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए अलग-अलग निर्वाचन क्षेत्र बनाने की सलाह दी। यह, स्पष्ट ही, साम्प्रदायिक कृत्य था जिसके जहर का अन्दाजा सर सैयद को नहीं रहा होगा। और तो और, सन् १८५८ ई. में सर सैयद ने अंगरेजों को इसलिए भी फटकारा था कि सेना में अंगरेजों ने हिन्दू और मुस्लिम रेजिमेंट अलग-अलग क्यों नहीं रखे कि हिन्दू बागियों को मुस्लिम और मुस्लिम बागियों को हिन्दू सेना तबाह कर देती। क्यों उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक ही रेजिमेंट में रखकर उन्हें दोस्त बनने का मौका दिया ? अचरज की बात है कि एक भारतवासी के मुख से ऐसी बात निकली। यह तो 'बांटो और राज करो' की नीति का सुझाव था। यह ठीक उसी एकता पर चोट थी जिसे संभव बनाने को हिन्दू और मुसलमान, दोनों बेकरार रहे हैं। किन्तु, इस घबराहट का भी कारण था। यह, शायद, उन दिनों की बात है जब सर सैयद भारत छोड़ कर मिश्र चले जाने के भाव से भयभीत रहे होंगे और उस भय से बचने की राह उन्हें एक ही दिखलायी पड़ी, जो राज-भक्ति की राह थी, जो ऐसी-ऐसी विचित्र बातें बोलने की राह थी जिन्हें सुन कर अंगरेज भी दुविधा में पड़ जायं।

सर सैयद के सहयोगी

सर सैयद ने मुसलमानों के बीच जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया उसकी अनुकूल व्याख्या करके उसे आगे बढ़ाने वाले लोग कई निकल आये। चिराग अली ऐसे ही विद्वान् थे। उनके लेख सर सैयद के अखबार **तहज़ीबुल-एखलाक** में अक्सर छपते थे। विशेषतः, उनकी चोट ईसाई धर्म-प्रचारकों पर थी जो आये दिन इस्लाम की निन्दा करते रहते थे। चिराग अली के बहुत से निबंध अंगरेजी में भी हैं। उनका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि इस्लाम शान्तिप्रिय धर्म है, कि धर्म-युद्ध या जिहाद की अनुमति कुरान नहीं देता, कि स्वयं नबी ने भी जितनी लड़ाइयां लड़ीं आत्म-रक्षा के निमित्त लड़ीं और किसी को जबर्दस्ती मुसलमान बनाना उन्हें मंजूर नहीं था। एक पुस्तक* में उन्होंने यह भी दिखलाया था कि यूरोप की उन्नति का कारण यह है कि वहां के लोग समाज के मामले में धर्म की दुहाई नहीं देते। भारत में भी धर्म का संबंध सामाजिक आचारों से नहीं रहना चाहिए। यह अत्यन्त क्रान्तिकारी उद्गार था, क्योंकि इस्लाम केवल वैयक्तिक धर्म ही नहीं है। वह

* Proposed Reforms by Chiragh Ali.

अपने अनुयायियों के सारे जीवन के सामाजिक कर्त्तव्यों का दर्शन उपस्थित करता है। फिर भी चिरागअली का मत था कि "धर्म के रूप में इस्लाम सामाजिक पद्धतियों से कोई संबंध नहीं रखता। मुसलमानों की नीति और समाज-प्रणाली का उनके धर्म से कोई सरोकार नहीं है।" स्पष्ट ही, यह नवयुग का प्रभाव था। काश कि यह प्रभाव सबको स्वीकार हुआ होता। तब, शायद, भारत के टुकड़े नहीं बनते और हिन्दुओं और मुसलमानों की राष्ट्रीय नीति एक हुई होती।

इस आन्दोलन के दूसरे समर्थक मुहसिनमुल्क सैयद मेहदी अली हुए। उन्होंने सर सैयद की राज-भक्ति और उनके शिक्षा-विषयक सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार किया। इस्लाम और कुरान की जो नई व्याख्याएं प्रस्तुत की जा रही थीं, उनका उन्होंने जोरदार समर्थन किया एवं सन् १९०६ ई. में उन्होंने, अंगरेजों को खुश करने के लिए, यह घोषणा की कि टर्की का सुलतान भारतीय मुसलमानों का खलीफा नहीं है। उसी वर्ष, वे आगाखां शिष्ट-मंडल के साथ वायसराय की सेवा में इस प्रार्थना के साथ उपस्थित हुए कि भारतीय मुसलमानों के हितों की रक्षा करने के लिए **मुस्लिम लीग** की स्थापना करने की अनुमति दी जाय।

इस्लाम के नये व्याख्याताओं में प्रोफेसर **सलाह अलदीन खुदाबख्श** का भी बड़ा नाम है। उनकी दो पुस्तकें 'द स्पिरिट आव् इस्लाम' और 'थाट्स आन द प्रेजेन्ट सिचुएशन' उन दिनों (सन् १९१०-१२) बड़े ही चाव से पढ़ी गई थीं। उनका कहना था कि "जो धार्मिक और सामाजिक पद्धति हमें आज से तेरह सौ वर्ष पूर्व प्राप्त हुई थी, वह आज की अवस्था में भी बिना किसी मीन-मेष के मानी जानी चाहिए, ऐसा दावा करना छद्म का काम है। . . . . ठीक से समझने पर कुरान आध्यात्मिक मार्ग-प्रदर्शक मात्र है। वह कुछ आध्यात्मिक आदर्शों को हमारे सामने रखता है। जिन्दगी की बाकी बातों में मुसलमान अन्य लोगों के समान ही स्वतंत्र हैं।" खुदाबख्श ने यह भी लिखा है कि "एक ईश्वर में विश्वास और मुहम्मद को उसका दूत मानना" बस, इतना ही इस्लाम का सार है। बाकी सारी बातें ऐसी हैं जो बाहर से आई हैं, जिनमें से अधिकांश रूढ़ियां और परतें हैं। ईसाइयत की खुदाबख्श भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे और अक्सर यह दिखलाने की चेष्टा करते थे कि ईसाइयत और इस्लाम में कोई भेद नहीं है। यह था उनका धार्मिक पक्ष जो बहुत कुछ सर सैयद के धर्म का ही पर्याय था। और सर सैयद के समान ही,वे कट्टर राजभक्त भी थे एवं कहते थे कि "राजद्रोह और अराजकता के दलन में हमें सरकार की खुलकर सहायता करनी चाहिए।" कोई आश्चर्य नहीं कि इंग्लैण्ड वालों को खुदाबख्श की किताबें बहुत पसंद आईं और वे उन्हें इस्लाम का प्रामाणिक आचार्य समझने लगे।

सर सैयद के एक अन्य सहयोगी जौनपुर के मौलाना करामत अली थे, जिनका

बिहार, बंगाल, उड़ीसा और आसाम में बड़ा प्रभाव था। इसी प्रकार, ढाका मदरसा के मुख्याचार्य मौलाना ओबैदुल्लाह-अल-ओबेदी (सुहरावर्दी) सर सैयद के परम भक्त और सहयोगी थे। इस्लाम की नई व्याख्या के वे बड़े ही तेजस्वी समर्थक निकले और इस्लाम के जिस संशोधित रूप का सर सैयद प्रचार चाहते थे उसका ओबेदी ने खूब प्रचार किया। सर सैयद के कहने से उन्होंने भी यह फतवा दिया कि भारत दारुल-हरब नहीं हो कर दारुल-अमन या दारुल-इस्लाम है तथा हर मुसलमान को यह हक हासिल है कि धर्म-ग्रन्थों की आज्ञा के अनुसार वह अपने धर्म का पालन कर सकता है।

अंगरेजी शिक्षा से प्रेम और अंगरेजी सरकार के प्रति अटल राजभक्ति, ये सर सैयद के प्राणप्रिय सिद्धान्त थे एवं इनका प्रचार उनके सभी शिष्यों और सहयोगियों ने बड़े ही उत्साह से किया। यही नहीं, बल्कि, अलीगढ़ का मुस्लिम कालेज, ढाका विश्वविद्यालय (स्थापित १९२० ई.), कलकत्ते का इस्लामिया कालेज (स्थापित १९२१ ई.) तथा वैसी अन्य संस्थाएं सर सैयद के दर्शन का केन्द्र बन गईं और वहां से पढ़कर निकलने वाले अधिकांश नौजवान सर सैयद के सिद्धान्तों के मूर्तिमान रूप बन गये।

मौलाना हाली

सर सैयद के सहयोगियों में मौलाना अलताफ हुसेन हाली का अन्यतम स्थान है। हाली अंगरेजी कम जानते थे, किन्तु, फारसी और उर्दू के वे असाधारण विद्वान् थे। वे एक साथ कवि, इतिहासकार और सफल जीवनी-लेखक भी थे। ईसाइयों की आलोचना से चोट उन्हें भी लगी थी, अतएव, इस्लाम को युगानुकूल रूप देने का आन्दोलन उन्हें भी जी से पसन्द था। अलीगढ़ जिस इस्लामी आन्दोलन का केन्द्र बन गया था, उस आन्दोलन के हाली आजीवन समर्थक रहे एवं इस आन्दोलन को लेकर उन्होंने अनेक कविताएं भी रचीं। इन कविताओं में **मुसद्दस** नामक उनका काव्य बड़ा प्रसिद्ध हुआ। जातियों में जब नया जीवन उत्पन्न होता है तब उसकी सबसे अधिक मार्मिक अभिव्यक्ति काव्य में होती है। मुसद्दस जाग्रत इस्लाम का ऐसा ही काव्य था। सर सैयद और उनके सहयोगियों ने भारतीय मुसलमानों के भीतर जो नई जिन्दगी डाली थी, वह हाली के मुसद्दस में साकार हो उठी और जो विचार तत्कालीन मुस्लिम-विचारकों के दिमाग में उथल-पुथल मचा रहे थे उन्हें हाली ने अपने काव्य के द्वारा सभी मुसलमानों के दिलों में उतार दिया। इस्लाम नये जमाने का साथ देने को तैयार हो, यह नारा था जो हाली के पूर्वज और समकालीन सुधारक बिल्ला-चिल्ला कर लगाते आये थे, किन्तु, सारी जनता उनका साथ देने को तैयार नहीं थी। हाली ने इसी उपदेश को काव्य के भीतर से प्रदान किया, अतएव, जनता उनके रंग में आसानी से रंग गई।

किन्तु, हाली के साथ इस्लामी जागरण ने एक नई मोड़ पकड़ी। सर सैयद और अन्य सुधारकों के समान हाली ने भी कहा कि मुस्लिम समाज की अवस्था बिलकुल बिगड़ी हुई है, किन्तु, यह बात उन्होंने इस्लाम की तुलना यूरोप के साथ करके नहीं कही। बल्कि, तुलना के लिए उन्होंने इस्लाम की विगत गरिमा का बखान किया और मुसलमानों को ललकारा कि तुम कितनी ऊंचाई पर थे और अब किस गर्त में गिरे हुए हो। हिन्दू-नवोत्थान में भी ठीक यही बात हुई थी। राममोहन राय और केशवचंद्र तथा रानाडे,ये ईसाइयत और यूरोपीय बुद्धिवाद से बहुत कुछ वैसे ही भीत थे जैसे सर सैयद अहमद। और इन सभी सुधारकों ने अपने धर्म और इतिहास के खंडित अथवा संशोधित रूपों को लेकर ही आलोचकों का सामना किया। किन्तु, हाली का स्थान श्रीमती एनी बेसेंट अथवा कुछ-कुछ विवेकानन्द के समान था जिन्होंने हिन्दुत्व की महिमा हिन्दुत्व के आधार पर ही बतलायी थी। नवोत्थान के काल में मौलाना हाली पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने मुसलमानों को अपने इतिहास की याद दिलायी और बदली हुई परिस्थिति में भी उन्हें मस्तक उठा कर चलने की प्रेरणा प्रदान की।

हाली के समकालीन उपन्यास-लेखक मौलाना नजीर अहमद ने भी नवोत्थान की सेवा की। किन्तु, उनके भीतर प्रगति का किंचित् विरोध भी ध्वनित हुआ। जैसे अंगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू नौजवानों पर हिन्दुओं के यहां नास्तिकता का आरोप था, वैसे ही, अंगरेजीदां मुस्लिम नौजवान भी शंका की दृष्टि से देखे जाते थे। नजीर अहमद के उपन्यासों में इस शंकालु दृष्टि के प्रमाण मिलते हैं। असल में, नजीर अहमद के भीतर से मुस्लिम समाज का वह अंश बोल रहा था जो प्राचीनता के मोह से अभी नहीं छूटा था तथा जो अंगरेजी शिक्षा-दीक्षा और संस्कार को अभी थोड़ी-बहुत शंका से देख रहा था। उपन्यास लिखने के सिवा नजीर अहमद ने कुरान का उर्दू में सफल अनुवाद भी किया।

मौलाना शिब्ली नौमानी

हिन्दू-नवोत्थान का क्रम यह रहा कि हिन्दू पहले तो ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के सामने कांप उठे, फिर उन्होंने अपने अतीत का ध्यान करके आलोचकों से मोर्चा लिया और अन्त में वे अपनी प्राचीन गरिमा पर इतने आसक्त हो उठे कि मन-ही-मन वे यूरोप को अपने से हीन समझने लगे। इस्लामी नवोत्थान का भी बहुत कुछ यही क्रम रहा है। सर सैयद और उनके सहयोगी यूरोप के सामने सांस्कृतिक पराजय को मान कर चले थे। हाली ने इससे आगे बढ़कर मुसलमानों को अपने इतिहास का ध्यान कराया और मौलाना शिबली ने हाली के इस काम को बहुत आगे बढ़ा दिया। सच पूछिए तो हाली सर सैयद और मौलाना शिबली के बीच की कड़ी मात्र थे। वस्तुतः, दृष्टिकोण का भेद सैयद और शिबली को आमने-सामने रखकर ही समझा जा सकता है।

सर सैयद ने यूरोप को इस्लाम से श्रेष्ठ माना था और इसीलिए, उनका आग्रह था कि मुसलमान यूरोप के गुणों को स्वीकार करें और इस्लाम को वह रूप दें जो यूरोप की कसौटी पर खरा उतरता हो। मौलाना शिबली ने इस्लाम की जांच इस्लाम की दी कसौटी पर की और यह बताया कि हमें बाहर से कुछ नहीं लेना है। इस्लाम की अपनी विरासत ही इतनी बड़ी है कि उसके उद्धार से मुसलमानों का सब कुछ दुरुस्त हो जायगा। सर सैयद इस्लाम को मोड़ कर उसे नवयुग का वाहन बनाना चाहते थे। शिबली का उद्देश्य इस्लाम का संशोधन नहीं, पुनरुद्धार था। सर सैयद मुसलमानों को अपने प्राचीन इतिहास से छिन्न करके उन्हें नई कौम का रूप देना चाहते थे, जिसकी भाषा अंगरेजी और भाव यूरोपीय होते। शिबली को सर सैयद की यह पद्धति बिलकुल नापसन्द थी और उन्होंने सर सैयद पर यह आरोप लगाया कि वे इस्लाम के पूरे इतिहास से अन-भिज्ञ हैं।

शमशुल-उलमा मुहम्मद शिबली नौमानी का जन्म सन् १८५७ ई. में और मृत्यु सन् १९१४ ई. में हुई। उर्दू-साहित्य में उनका स्थान बहुत ऊंचा समझा जाता है। वे धर्म के प्रबल व्याख्याता, दर्शन के श्रेष्ठ आचार्य, इतिहास के प्रवीण लेखक और चरित-लेखन में अत्यन्त दक्ष थे। वे कवि भी उच्च कोटि के हुए हैं और उर्दू में आलोचना-साहित्य के तो वे जन्मदाता ही समझे जाते हैं। बचपन में उनका विचार कट्टरता की ओर था, इसीलिए, वहाबी आन्दोलन का उन्होंने खंडन किया था। उन्होंने मदीना जाकर इस्लाम का विधिवत अध्ययन किया था और सर सैयद के संपर्क में आने के बाद वे अलीगढ़ कालेज में अरबी और फारसी के प्राध्यापक भी बनाये गये, जिस पद पर उन्होंने कोई सोलह वर्ष तक काम किया। अलीगढ़ में ही उन्होंने यूरोप की विचारधारा का परिचय पाया और यूरोप के कितने ही गुणों का उन्होंने सत्कार भी किया। किन्तु, बुद्धि को श्रद्धा की अपेक्षा श्रेष्ठ उन्होंने कभी नहीं माना, न उन्होंने अधार्मिक ज्ञान की कभी श्रेष्ठता स्वीकार की। वे इस्लाम के खंडित या संशोधित रूप के समर्थक नहीं थे। उन्हें सारा का सारा इस्लाम हृदय से स्वीकार था।

बुद्धि उपयोगी है; यह जीवन सत्य है; संसार की उपेक्षा सिखाने वाला धर्म धर्म नहीं है; इन बातों को सर सैयद के समान शिबली भी कबूल करते थे। किन्तु, बुद्धि के फेर में पड़ कर धर्म की अलौकिक बातों का खंडन करने को वे तैयार नहीं थे। फिर भी, जिन महापुरुषों की जीवनियां उन्होंने लिखीं उनमें अमानवीय चमत्कारों को उन्होंने स्थान नहीं दिया, यहां तक कि उनकी पुस्तक के नबी भी मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं हैं। जिहाद की उन्होंने निन्दा की। परदा-प्रथा को उन्होंने जायज कहा और साथ ही, स्त्री-शिक्षा को भी उन्होंने अनिवार्य बतलाया। लोग सत्य ही कहते हैं कि शिबली वह सेतु हैं जिस पर प्राचीन इस्लाम नवीन इस्लाम से आलिंगन करता है।

अलीगढ़ वालों की तुलना में शिबली पिछड़े हुए मुसलमान थे। किन्तु, तब भी उलमाओं को वे भयानक दिखाई दिये और उलमाओं ने सदैव उनका विरोध किया। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि सर सैयद के द्वारा प्रवर्तित प्रगति को शिबली ने पीछे की ओर मोड़ा। किन्तु, कई बातों में कट्टर होते हुए भी इस्लाम के जागरण को फैलाने के श्रेय से वे वंचित नहीं किये जा सकते। हाली ने मुसलमानों के भीतर अपने प्राचीन इतिहास में अभि-रुचि जगायी थी। मौलाना शिबली ने इस्लाम के संपूर्ण इतिहास को मुसलमानों के आगे खोलकर धर दिया। हाली और शिबली ने वह जमीन तैयार की जिसमें आगे चलकर इकबाल की कविता लहलहाने लगी थी। शिबली के ग्रन्थों को पढ़ कर ही मुसलमानों को अपनी अतीत गरिमा का ज्ञान हुआ और उनके भीतर यह तृषा उत्पन्न हुई कि किसी प्रकार वह गरिमा हमें फिर से प्राप्त हो जाय। सच पूछिये तो इकबाल के काव्य उन्हीं वृक्षों के फल हैं जिन्हें हाली और शिबली ने उगाया था।

मौलाना शिबली का उद्देश्य इस्लाम की गरिमा का केवल मौखिक बखान नहीं था, प्रत्युत, इस्लाम के प्राचीन अमर सत्यों को वे दुबारे प्रचलित करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने नये लेखकों का दल तैयार किया और उन्हें प्रोत्साहन देने को आजमगढ़ में **दारुल-मुसन्निफीन** नामक एक सांस्कृतिक संस्था भी स्थापित की जिसका प्रचलित नाम अब **शिबली एकेडेमी** हो गया है।

स्वाभिमान का उदय

हाली और शिबली ने इस्लामी नवोत्थान का वह पक्ष पूर्ण कर दिया जो प्रत्येक नवोत्थान में कभी न कभी विकसित होता ही है। सर सैयद ने यह बतलाया था कि यूरोपीय संस्कृति की तुलना में इस्लाम हीन है। अतएव, उसे यूरोप के गुण ग्रहण करने चाहिएं। हाली और शिबली ने यह इजाफा किया कि यूरोप की ओर जाने की कोई खास जरूरत नहीं है, इस्लाम का अपना ही इतिहास इतना प्रोज्ज्वल है कि उसके उद्धार मात्र से मुसल-मानों की हालत बिलकुल ठीक हो जायगी। किन्तु, विज्ञान और बुद्धिवाद, ये दो यूरोपीय ताव ऐसे थे जिनकी उपयोगिता से मुँह मोड़ना कठिन था। अतएव, आगे के विचारकों ने यह कहना आरंभ किया कि इस्लाम को यूरोप से विज्ञान और बुद्धिवाद की भी शिक्षा नहीं लेनी है। ये दो ताव भी इस्लाम में पहले से ही विद्यमान हैं। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि लोग इस दृष्टि से इस्लाम के इतिहास और धर्मग्रन्थों का अवलोकन करें। यह बहुत कुछ वैसी ही बात थी जैसे आर्यसमाजियों का यह कहना कि संसार में जितनी भी विद्यायें प्रचलित हैं, वेदों में उन सबका भंडार है।

ऐसे लेखकों में **मौलाना अमीर अली** प्रमुख थे। सन् १८९१ ई. में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक **स्पिरिट आव् इस्लाम** प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने इस्लाम की नई व्याख्या की

और यह बतलाना चाहा कि इस्लाम को ईसाइयत या यूरोप से कुछ लेना नहीं है। यूरोप के पास जो भी गुण हैं, वे इस्लाम में पहले से ही मौजूद हैं। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भारतीय धर्मों की जो कस के निन्दा की थी। अब भारत के विद्वान् उसका जवाब दे रहे थे तथा हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों धर्मों की ओर से यह कहा जा रहा था कि हम तुम से भी श्रेष्ठ हैं।

सर सैयद ने नबी का जो जीवन-चरित प्रकाशित किया था उसमें उनकी चिन्ता यह थी कि कैसे नबी उन गुणों से अलग करके दिखलाये जायं जिनके कारण यूरोप वाले उनकी आलोचना करते थे। अमीर अली ने यह दिखलाया कि नबी और इस्लाम की जिन बातों की आलोचना की जाती है, वे बातें बिलकुल सीधी-सादी, स्वाभाविक और बुद्धिगम्य हैं। सर सैयद ने केवल यह सिद्ध करना चाहा था कि यूरोपीय दृष्टि से भी इस्लाम आदरणीय धर्म है। अमीर अली ने यह आशा प्रकट की कि इस्लाम को ठीक से समझ लेने पर ईसाई जनता भी इस्लाम को कबूल कर सकती है।

इस्लाम के मध्यकालीन इतिहास में हजरत मुहम्मद का रूप नबी का रूप था, उसमें उनके चमत्कारों और अलौकिक शक्तियों पर जोर दिया गया था। सर सैयद ने अलौकिक पक्ष को छोड़ कर नबी के मानवीय गुणों पर जोर दिया। किन्तु, अमीर अली ने पैगम्बर साहब को इस ढंग से चित्रित किया कि वे मनुष्य भी समझे जायें और उनके व्यक्तित्व पर वह भक्ति भी बनी रहे जो मध्यकाल में प्रचलित थी। अमीर के पैगम्बर भी मनुष्य ही हैं, किन्तु वे कोमल हैं, विचारवान् हैं, उदार और दयालु हैं तथा उनमें वे सभी गुण मौजूद हैं जो आज की दृष्टि से ऊंची मानवता के लक्षण माने जाते हैं। अमीरअली की पुस्तक में इस्लाम की शांतिप्रियता पर जोर दिया गया है। उसमें यह बताया गया है कि इस्लाम ने धर्म के नाम पर जितनी भी लड़ाइयां लड़ीं वे मुसलमानों पर जबर्दस्ती थोपी गई थीं। अमीर अली की व्याख्या के अनुसार इस्लाम असहनशील नहीं है, वह स्त्रियों का आदर करता है, उसमें प्रजातंत्र का समर्थन है, उसमें वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद है। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने कहा था कि इस्लाम में स्त्रियों की स्थिति अनादर- युक्त है। सर सैयद का जवाब था कि यह इलजाम गलत है। किन्तु, अमीर अली ने बतलाया कि कैसे इस्लाम के उदय के पूर्व अरब में औरतें पतित अवस्था में थीं और कैसे इस्लाम ने उन्हें ऊपर उठा दिया।

कुछ युगों में इस्लाम की हालत बहुत बिगड़ गई थी। इसकी टीका करते हुए अमीर अली ने बतलाया कि यह इस्लाम का दोष नहीं था। प्रत्येक धर्म में काल पाकर विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी विकृतियां ईसाइयत में भी उत्पन्न हुई थीं। और कई युगों में कई देशों के ईसाई इतने पतित हो गये थे कि उन्हें ईसाई कहना ईसाइयत का अपमान है।

अमीर अली ने इस्लाम का जो चित्र खींचा वह संसार के सर्वश्रेष्ठ धर्म का चित्र था, उसके प्रवर्तक संसार के संपूर्ण इतिहास के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष थे और मुसलमान संसार के

सर्वश्रेष्ठ मनुष्य। ईसाइयों ने इस्लाम की निन्दा करके मुसलमानों में आत्महीनता का भाव जगाना चाहा था। परन्तु, प्रतिक्रिया ऐसे जोर की हुई कि मुसलमान अपने को ईसाइयों से भी श्रेष्ठ समझने लगे और ठीक यही भाव हिन्दुओं के भीतर भी जाग्रत हुआ।

इस्लाम की प्रशंसा करते-करते लोग भारत और एशिया मात्र की प्रशंसा करने लगे और युगों बाद उन्हें यह सत्य दिखलाई पड़ा कि जब यूरोप असभ्य था तब सभ्यता की शिक्षा उसने अरब और ईरान से ही पायी थी।* इसी मनोदशा में मुसलमान चिन्तक यह भी याद करने लगे कि स्वयं भारतीय सभ्यता ने इस्लाम से बहुत कुछ सीखा है।

सर मुहम्मद इकबाल

रवीन्द्र और इकबाल, दोनों भारतीय नवोत्थान के कवि हैं, एक हिन्दू-नवोत्थान के और दूसरे मुस्लिम नवोत्थान के। शुद्ध भारतीय नवोत्थान—जैसा कोई आन्दोलन भारत में नहीं उठा जिससे अनुमान होता है कि हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियां मिलकर कभी बिल्कुल एक नहीं हुई। राजनीति के मुख से झूठ बोली जा सकती है, तर्क और दर्शन भी सच को झूठ और झूठ को सच सिद्ध कर सकते हैं, यहां तक कि इतिहास की मिथ्या व्याख्याओं से भी असत्य की पुष्टि की जा सकती है। किन्तु, कवि की लेखनी असत्य का समर्थन नहीं कर सकती। कविता कवि के हृदय की अनुभूति होती है और इस अनुभूति की सामग्री सीधे समाज के भीतर से आती है। समाज निराकार प्रतिमा है जिसकी धड़कन कवि के कलेजे में उठती है, जिसकी शंकाएं और विश्वास कवि के मुख से उद्‌गीर्ण होते हैं। अतएव, रवीन्द्र और इकबाल को सामासिक संस्कृति की उससे अधिक अनुभूति नहीं हुई जो सचमुच अस्तित्व में थी, जिसकी अनुभूति केवल राजनीतिज्ञों को ही नहीं, इस देश की जनता को भी रही है।

हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़-चीन,
शक-हूण-दल, पाठान-मोगल, एक देहे हलो लीन।

सामासिक संस्कृति के पक्ष में रवि बाबू ने इतना ही लिखा है अथवा उन्होंने यदि और कुछ लिखा हो तो उसकी भी गहराई इससे अधिक नहीं होगी। बाकी, उनकी सारी रचनाओं की पृष्ठभूमि वह सांस्कृतिक आन्दोलन है जिसके नेता राममोहनराय, केशवचंद्र सेन अथवा रामकृष्ण हुए हैं।

इसी प्रकार, 'नया शिवाला,' 'तरानए-हिन्द' और 'तस्वीरे-दर्द,' ये ही कुछ कविताएं हैं जिनमें इकबाल सामासिक संस्कृति के पक्ष में बोलते हैं। बाकी उनकी सारी

* यह दावा गलत नहीं था क्योंकि अरब में भारत और यूनान से जो ज्ञान पहुंचा था वही यूरोप को स्पेन के माध्यम से मिला जहां मुसलमानों का राज्य था और इसी ज्ञान से यूरोप में रिनासाँ की लहर उठी थी। —लेखक

रचनाएं इस्लामी जागरण से ओतप्रोत हैं।

और उसके सिवा और होता भी क्या? जब तक यूरोप वाले भारत नहीं आये थे, हिन्दू और मुसलमान कभी तो एक-दूसरे के प्रेमी और कभी एक-दूसरे से अप्रसन्न होकर जी रहे थे। किन्तु, यह शत्रुता उभरती कम थी। बादशाह मुसलमान होते थे, हिन्दू रियाया बन कर जी रहे थे। शासकों की भाषा, शासकों का रहन-सहन और लिबास हिन्दुओं ने अपना लिया था और हिन्दुओं की बहुत-सी बातें मुसलमानों में भी प्रविष्ट हो गई थीं। फिर भी, सामासिकता अभी पुष्ट नहीं हुई थी। ऐसा नहीं हो पाया था कि हिन्दू और मुसलमान अपनी-अपनी विशिष्टताओं को भूल कर किसी ऐसी विशिष्टता की ओर देख पाते जो समान रूप से दोनों की चीज थी। इतने में, ईसाई धर्म और यूरोपीय विचार भारत में आ धमके और उन्होंने हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों पर चोटें करनी शुरू कर दीं। यदि सम्राट अकबर की परंपरा टूट नहीं गई होती तो संभव था कि हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही, यूरोप को एक ही जवाब देते। किन्तु, उस परंपरा के दाने बिखर चुके थे और सामासिकता की तलवार बड़ी ही पतली और कुन्द पड़ गई थी। इस पतली सामासिक संस्कृति को लेकर यूरोप का सामना करने की हिम्मत और सूझ न तो किसी मुसलमान को हुई, न हिन्दू को। निदान, एक तो वेद और उपनिषद् ले कर दौड़ा, दूसरा कुरान और हदीस उठा कर। सन् सत्तावन के गदर के अनुकरण पर संस्कृतियों को भी एक हो कर उठना था। किन्तु, राजनीति के समान तेजी और फुर्ती संस्कृति में नहीं होती है। राजनीति में रातों-रात लोग दुश्मन या दोस्त बन जाते हैं, किन्तु, इस दोस्ती या दुश्मनी का सांस्कृतिक रूप, वर्षों नहीं, सदियों में पुष्ट होता है। निदान, यूरोप के मुकाबिले, सांस्कृतिक मोर्चे पर पहुंचते-पहुंचते हिन्दू और मुसलमान दो हो गये। विस्मय की बात है कि आक्रामक तो एक था किन्तु, जो आक्रमण के लक्ष्य थे वे दो शिविरों में बंटे हुए थे और उससे भी अधिक ग्लानि का विषय तो यह है कि इन दो शिविरों में कोई सलाह-मशविरा भी नहीं था।

इकबाल और रवीन्द्र, भारतीय संस्कृति की इन्हीं दो धाराओं के कवि हुए हैं और प्रत्येक ने उस धारा का बड़ा ही विलक्षण आख्यान किया है जिससे उनका जन्म हुआ था। हिन्दुत्व का कवि होने के कारण रवीन्द्रनाथ कोमल, अहिंसक और परलोक के प्रेमी हैं। और इस्लाम का कवि होने के कारण इकबाल दर्पशाली तथा आवेशयुक्त हैं एवं वे इहलौकिकता को बढ़ावा देते हैं। दार्शनिक और कदाचित् रहस्यवादी भी, दोनों ही कवि हैं। किन्तु, इकबाल ने गद्य और पद्य में ईरानी तसव्वुफ पर कठिन प्रहार भी किये हैं जिससे यह अनुभव होता है कि रहस्यवाद की प्रेरणा उनमें उनकी इच्छा के विरुद्ध आई होगी।

इकबाल की कविताओं से आरम्भ में भारत की सामासिक संस्कृति को बड़ा ही बल मिला था, किन्तु, आगे चल कर उन्होंने बहुत-सी ऐसी चीजें भी लिखीं जिनसे हमारी

एकता को व्याघात पहुंचा है। 'नया शिवाला' और 'तस्वीरे-दर्द' लिखने वाला कवि राष्ट्रीयता से भाग क्यों खड़ा हुआ, इस प्रश्न पर सोचते-सोचते अनेक विचारक अपना माथा थाम कर बैठ जाते हैं। किन्तु, इसमें विस्मय की कोई बात नहीं है। सन्त हो या सुधारक, कवि हो या नबी, वह उन परिस्थितियों से भाग नहीं सकता जिनमें उसका जन्म या विकास होता है। कवि अपने भाव आकाश से लाता है, ऐसा बेवकूफ लोग ही कहा करते हैं। कवि भी सामाजिक प्राणी होता है। अतएव, उसके सारे भाव समाज के भाव होते हैं, उसकी सारी शंकाएं समाज की शंकाएं होती हैं तथा उसके सभी उत्तर भी समाज को ही लक्ष्य करके दिये जाते हैं। समाज के हृदय में अनेक भाव ऊंघते रहते हैं, अनेक आशाएं कुलबुलाती रहती हैं, अनेक उमंगें अपनी राह टटोलती रहती हैं। किन्तु, समाज को इन स्वप्नों, इन आशाओं और इन उमंगों का हमेशा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं रहता और न ये भावनाएं राजनीतिज्ञों एवं समाज-शास्त्रियों को ही दिखलाई देती हैं। किन्तु, कवि इन अदृश्य भावनाओं को सुन लेता है। यही उसकी विशेषता होती है। इसीलिए, वह समाज के विकास का अनिवार्य यंत्र समझा जाता है। जिस समाज में कवि उत्पन्न नहीं होते, वह अंधों का समाज होता है, वह बहरे लोगों का समाज होता है, जो अपनी धमनी की आवाज भी नहीं सुन सकता। प्रत्येक समाज अपने कवि के आगमन की राह देखता है, क्योंकि कवि ही वह यंत्र है जिससे समय के ताप की ऊंचाई अथवा निचाई मापी जाती है। जब तक कवि जन्म नहीं लेता, तब तक समाज को यह पता ही नहीं चलता कि उसकी चेतना किस दिशा में और किस स्तर तक विकसित हुई है। सौभाग्यशाली है वह समाज जिसे ठीक समय पर अपना कवि प्राप्त हो जाता है और सौभाग्यशाली है वह कवि जिसका समाज अंधा या बहरा नहीं होता। आधुनिक मुस्लिम समाज को अपना प्रतिनिधि-कवि ठीक समय पर प्राप्त हो गया और क्योंकि वह अंधा या बहरा समाज नहीं था, इसलिए, उसने अपने कवि से लाभ भी तुरंत उठा लिये।

सर सैयद के समय से भारतीय इस्लाम के भीतर जो आन्दोलन चल रहे थे, वे इस बात की दलील थे कि इस्लाम शीघ्र ही किसी महाकवि को जन्म देने वाला है। कविता पर हाथ तो मौलाना हाली ने भी डाला, किन्तु, वे इकबाल की पृष्ठभूमि तैयार करके रह गये, यद्यपि, यह सत्य है कि हाली के हुए बिना इकबाल का होना असंभव था।*

---

* उदाहरणार्थ, इस्लाम की गरिमा का आख्यान 'मुसद्दस' में हुआ और इस बात की ओर भी कविता में पहला संकेत हाली का ही मिलता है कि भारतीय इस्लाम में हिन्दुत्व की संगति से विकृति उत्पन्न हुई है। यथा,

वो दीने-हेजाजी का बेबाक बेड़ा, निशां जिसका अक्साये-आलम में पहुंचा,
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका, न अम्मा में ठटका, न कुलजम में झिझका।

इकबाल को अपने पूर्व-पुरुषों से जो प्रेरणाएं मिलीं वे ये थीं कि इस्लाम दुरवस्था में है और उसके पुनरुद्धार के लिए बहुत बड़े प्रयास और बहुत बड़ी कुरबानी की जरूरत है। उद्धार के रास्ते दो बताये गये थे। एक तो यह कि मुसलमान यूरोप से विज्ञान और बुद्धिवाद को ग्रहण करें एवं पारलौकिक चिंताओं को छोड़ कर इसी लोक में विजयी होने के लिए साहस और शूरता से काम लें। और दूसरा यह कि इन गुणों को पाने के लिए मुसलमानों को यूरोप की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। इस्लाम का अपना इतिहास ही इतना समृद्ध है कि उसमें से ये सारी शिक्षाएं निकाली जा सकती हैं। इस पिछली बात को प्रमाणित करने के लिए मौलाना शिबली ने इस्लाम के सारे गरिमायुक्त इतिहास को उर्दू में बिखेर दिया था और जिस युग या समाज ने इकबाल को जन्म दिया वह इस इतिहास को पढ़कर भीतर ही भीतर गौरव और जोश से भरा हुआ था। इस पृष्ठभूमि पर देखने से इकबाल के सिद्धान्त काफी स्वाभाविक हो जाते हैं और तब यह भी आश्चर्य नहीं होता कि उन्होंने खुदी की अहंकारयुक्त फिलासफी क्यों निकाली और क्यों उन्होंने रहस्यवाद का तिरस्कार किया।

सर मुहम्मद इकबाल का जन्म सन् १८७३ ई. में और मृत्यु सन् १९३८ ई. में हुई। वे स्यालकोट (पंजाब) के रहने वाले थे। लाहौर से उन्होंने एम. ए. पास किया था और केम्ब्रिज में उन्होंने दर्शन का अध्ययन किया तथा म्युनिख से उन्होंने डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। उनके डाक्टरेट का विषय ईरानी रहस्यवाद था। १९०८ ई. में वे भारत लौटे और लाहौर में उन्होंने अपनी बैरिस्टरी आरंभ की। किन्तु, समय उनका कविता और

किये पै सिपर जिसने सातो समुन्दर, वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।
वो दीं' जिससे तौहीद फैला जहां में, हुआ जलवागर हक जमीं-आसमां में,
रहा शिर्क बाकी न वहमो-जमां में, वो बदला गया आके हिन्दोस्तां में।
(मुसद्दस)

हाली कहते हैं, इस्लाम का बेड़ा गंगा में आकर डूब गया, इस्लाम का रूप हिन्दुस्तान में आकर बदल गया। इसी भाव को इकबाल ने और भी मार्मिकता तथा तीखेपन से कहा है। 'जवाबे-शिकवा' में इकबाल ने ईश्वर के मुख से मुसलमानों को अनेक फटकारें सुनवायी हैं जिनमें एक यह भी है कि संस्कृति के क्षेत्र में मुसलमान हिन्दू बन गये हैं, कि भारतीय प्रतिमा (प्रेमिका) के फेर में पड़कर वे ब्राह्मण हो गये हैं।

वज़े में तुम हो निसारी तो तमद्दुन में हनूद,
ये मुसल्मां हैं, जिन्हें देख के शरमाये यहूद!
.. ..
बुते-हिन्दी की मुहब्बत में बरहमन भी हुए। (जवाबे-शिकवा)

दर्शन में ही जाता रहा। सन् १९२२ ई. में उन्हें सरकार की ओर से 'सर' का खिताब मिला एवं सन् १९३० ई. में वे मुस्लिम लीग के सभापति चुने गये। सन् १९२८-२९ ई. में मद्रास में उन्होंने इस्लाम पर छः व्याख्यान दिये थे। उन व्याख्यानों से प्रभावित होकर लार्ड इरविन ने उन्हें धर्म और दर्शन पर व्याख्यान देने को आक्सफोर्ड भिजवाया। ये व्याख्यान ही उनके गद्य-लेख हैं। बाकी उन्होंने जो कुछ कहा, कविताओं में ही कहा। इकबाल राउण्ड-टेबिल-कान्फ्रेंस में भी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने को बुलाये गये थे।

आरम्भ में इकबाल भी उर्दू के अन्य कवियों के समान गज़लें लिखा करते थे और कभी-कभी मुशायरों में भी जाते थे। इस्लाम की जागृति पर उनकी श्रद्धा अवश्य थी, किन्तु, तब तक उनके विचारों में राष्ट्रीयता भी भरपूर थी। वे हिन्दू-मुस्लिम-एकता के हामी और भारतीय स्वतंत्रता के समर्थक थे। तब तक मुसलमानों में यह भाव नहीं फैला था कि इस्लाम की उन्नति और भारत की स्वतंत्रता परस्पर-विरोधी बातें हैं। उनका 'तरानए-हिन्द' (सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा) और 'नया शिवाला' (सच कह दूं अय बिरहमन, गर तू बुरा न माने) उन्हीं दिनों की रचनाएं हैं। बल्कि, उनके 'बाँगे-दरा' की अधिकांश कविताएं उनके उन्हीं दिनों की यादगार हैं जब वे विचारों की एकांगिता में नहीं पड़े थे।*

---

* इकबाल उन दिनों भी इस्लाम के संबंध में कविताएं लिखा करते थे। इन्हीं कविताओं से आकृष्ट होकर 'अंजुमने-हिमायते-इस्लाम' नामक संस्था ने उन्हें अपने यहां बुला कर उनका सम्मान किया था। किन्तु, वहां भी इकबाल ने अपने भाषण में हिन्दू-मुस्लिम-एकता की आवश्यकता की चर्चा की।

इसी प्रकार, 'सर सैयद की लोहे-तुरबत' पर उन्होंने जो कविता लिखी उसमें उनका असांप्रदायिक दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट है।

वा न करना फिरकाबन्दी के लिए अपनी ज़ुबां,
छिपके है बैठा हुआ हंगाम-ए महशर यहां।
वस्ल के सामान पैदा हों तेरी तहरीर से,
देख, कोई दिल न दुख जाये तेरी तकरीर से।
महफिले-नौ में पुरानी दास्तानों को न छेड़,
रंग पर जो अब न आएं उन फिसानों को न छेड़।

(शेरो-शायरी से)

वा = खोलना; वस्ल = मेल-मिलाप।

बांगे-दरा के भाव हाली के मुसद्दस की अपेक्षा अधिक भारतीय हैं। हाली ने अपने पूरे काव्य में इस्लाम ही इस्लाम लिखा है। इकबाल के 'बांगे-दरा' का द्वार अधिक विशाल है। उसमें इस्लाम के साथ सिक्ख मत और हिन्दुत्व के भी भाव झलक मारते हैं। 'नानक' और 'राम' शीर्षक से लिखी हुई दो कविताएं बांगे-दरा के कवि की राष्ट्रीयता के प्रमाण हैं। वैसे, हिन्दू-मुस्लिम-एकता की दृष्टि से विचार करें, तब भी 'बांगे-दरा' राष्ट्रीय काव्य ठहरता है। उसके भीतर ऐसी-ऐसी पंक्तियां भरी पड़ी हैं जो किसी ऐसे हृदय से निकल ही नहीं सकती थीं जिसमें राष्ट्रीय एकता के लिए बेचैनी नहीं रही हो। 'तरानए-हिन्द' को बाद देकर देखें, तब भी 'नया शिवाला' के भाव बड़े ही तेजस्वी और पवित्र दीखते हैं। ये भाव उस बेचैन कवि के हैं जो हिन्दुओं और मुसलमानों से यह कहना चाहता है कि मन्दिर और मस्जिद को लेकर तुम अलग क्यों होते हो ? तुम्हारा आधार तो वह मिट्टी है जिसपर ये दोनों इमारतें खड़ी हैं। यह मिट्टी मन्दिर और मस्जिद, दोनों से बढ़कर पाक और पवित्र है।

मिट्टी की मूरतों में समझा है तू, खुदा है।
खाके-वतन का मुझ को हर जर्रा देवता है।

इकबाल के क्षेत्र में आने के समय तक, अंगरेज **'बांटो और राज्य करो'** की नीति पर अमल करने लग गये थे और यह बात प्रत्यक्ष हो गई थी कि यदि हिन्दू और मुसलमान आपस में नहीं मिले तो अंगरेज उनपर राज करते ही जायंगे। और इधर हिन्दू और मुसलमान थे जो आपस में मिलकर एक होने का नाम नहीं लेते थे। इस स्थिति से देशभक्त कवियों को जो चोट लगती थी, वह चोट इकबाल को भी लगी थी।

रुलाता है तेरा नजारा अय हिन्दोस्तां मुझको,
कि इबरतखेज है तेरा फिसाना सब फिसानों में।
दिया रोना मुझे ऐसा कि सब कुछ दे दिया गोया,
लिखा कल्के-अजल ने मुझको तेरे नोहख्वानों में।
निशाने-बर्गे-गुल तक भी न छोड़ इस बाग में गुलचीं,
तेरी किस्मत से रज्म-आराइयां हैं बागबानों में।
छिपा कर आस्तीं में बिजलियां रखी हैं गरदूं ने,
अनादिल बाग के गाफिल न बैठें आशियानों में।
वतन की फिक्र कर नादां, मुसीबत आने वाली है,
तेरी बर्बादियों के मशविरे हैं आसमानों में।

(तस्वीरे-दर्द; बांगे दरा)

इसी कविता में इकबाल आगे चल कर हिन्दू-मुस्लिम-एकता को संभव बनाने की

प्रतिज्ञा करते हैं और कहते हैं,

हुवैदा आज अपने ज़ख्मे-पिनहां करके छोड़ूंगा,
लहू रो-रो के गुलशन को परीशां करके छोड़ूंगा ।
जलाना है मुझे हर शमए-दिल को सोज़े-पिनहां से,
तेरी तारीक रातों में चिरागां करके छोड़ूंगा ।
पिरोना एक ही तस्वीह में इन बिखरे दानों को,
जो मुश्किल है तो इस मुश्किल को आसां करके छोड़ूंगा ।

काश कि इकबाल की यह प्रतिज्ञा पूरी हुई होती । काश कि जिस अंधकार में भारतीय एकता के लिए संघर्ष चल रहा था उसमें इकबाल अपनी इस लौ को तेज़ किये रहते । किन्तु, वह नहीं हुआ । क्यों नहीं हुआ, यह बात या तो इतिहास से स्पष्ट है अथवा अब तक वह लिखी नहीं गई है । यह कैसे संभव हुआ कि एक महाकवि की शिखा ने अपनी दिशा बदल दी ? यह कैसे संभव हुआ कि इकबाल इस राष्ट्रीयता को छोड़कर मुस्लिम राष्ट्रीयता के स्वप्न को आकार देने लगे ?

कारण, शायद, यह था कि राष्ट्रीयता के विरुद्ध मुस्लिम-समाज में अनेक तर्क फैले हुए थे । सर सैयद का यह उपदेश जीवित था कि मुसलमानों का कल्याण सरकार के साथ और कांग्रेस से अलग रहने में है । किन्तु, इकबाल सर सैयद की अपेक्षा कहीं बड़े मनुष्य थे । वे सरकार की भक्ति करने की ओर नहीं लपके । बल्कि, भारत से बाहर इस्लामी देशों के साथ ब्रिटेन का जो बुरा बर्ताव था, इकबाल ने उसे भी सहन नहीं किया । सर सैयद की नीति पर चलने से न तो हिन्दू स्वाधीन होते, न मुसलमान; और इकबाल स्वाधीनता के प्रेमी थे । इसीलिए, यह बात समझ में नहीं आती है कि स्वाधीनतावादी होते हुए भी उन्होंने अपनी पहली आग को बुझने क्यों दिया और क्यों वे ऐसी बातें बोलने लगे जिनसे मुसलमानों में वीरता और निर्भयता तो जरूर जगी किन्तु, उन्हें यह पता ही नहीं चला कि इस वीरता को लेकर वे क्या करें । वीरता और निर्भयता का सबसे बड़ा उपयोग आजादी की लड़ाई को तेज़ करने में था, किन्तु, आजादी की लड़ाई को सफल बनाने से मुसलमान डरते थे । संभवतः, यह भय इकबाल के भीतर भी पहुंचा और उन्होंने प्रजा-सत्ता पर एक फब्ती कस दी जिसके पीछे जर्मन दार्शनिक नीत्से की प्रतिध्वनि सुनायी देती है ।

इस राज़ को इक मर्दे-फिरंगी ने किया फाश,
हर चंद कि दाना इसे खोला नहीं करते ।
जमहूरियत इक तर्ज़े-हुकूमत है कि जिसमें,
बन्दों को गिना करते हैं तोला नहीं करते । (बाले-जिबरील)

जब इकबाल का मन भारतीय राष्ट्रीयता से बिदक गया, उनकी कल्पना एक भिन्न दिशा में मंडराने लगी। वे तन-मन से इस्लाम के उद्धार में लग गये। चूंकि भारतीय प्रजातंत्र में मुसलमानों के प्रमुख सत्ताधारी होने की संभावना नहीं थी, इकबाल ने प्रजातंत्र को नकार दिया। चूंकि मुसलमान सारे विश्व में फैले हुए थे, इसलिए, उन्होंने एक ऐसी राष्ट्रीयता की कल्पना कर ली जिसका आधार देश नहीं, धर्म था। और इससे भी आगे बढ़ कर उन्होंने इस्लाम को सर्वश्रेष्ठ धर्म, मुसलमान को सर्वश्रेष्ठ मानव और इस्लामी बन्धुत्व को राष्ट्रीयता का श्रेष्ठतम रूप मान लिया।* इकबाल के पूर्व, सर सैयद, हाली, शिबली और अमीर अली ने इस्लाम के संबंध में जो-जो कहा था उस सबका निचोड़ इकबाल की कविता में प्रविष्ट हो गया एवं पिछले समस्त आन्दोलनों का दर्शन इकबाल के काव्य से आप से आप तैयार हो गया।† इकबाल के इस मत-परिवर्तन से सभी प्रगतिशील लोग कराह उठे।‡

---

* A free and independent Muslim fraternity, having the KABA as its centre and knit together by love of ALLAH and devotion to Prophet, such is IQBAL'S ideal.

(असरारे-खुदी के अंगरेजी अनुवाद 'सिक्रेट्स आव् द सेल्फ' की भूमिका से)

'रमूजे-बेखुदी' में इकबाल ने इस भाव का पूरा विकास किया है। यथा,

The Community
A circle is, whose great circumference
Centres on Mecca's valley ; and by force
And virtue of that same relationship
Stands our Community unshakable.

('रमूजे-बेखुदी' के अंगरेजी अनुवाद—'मिस्ट्रीज आव् सेल्फलेसनेस' से)

† He supplied, more or less, respectable intellectual basis for a movement which is, in reality, more emotional than rational.

('मिस्ट्रीज आव् सेल्फलेसनेस' की भूमिका)

‡ इकबाल-जैसे परिष्कृत मस्तिष्क और विशाल हृदय वाले राष्ट्र-कवि को यकायक संप्रदायवाद के दलदल में फंसते देख लोग कराह उठे :—

हिन्दी होने पर नाज जिसे कल तक था, हिजाजी बन बैठा,
अपनी महफिल का रिन्द पुराना आज नमाजी बन बैठा।
महफिल में छुपा है कैसे-हर्जों, दीवाना कोई सहरा में नहीं,
पैगामे-जुनूं जो लाता था, इकबाल वो अब दुनिया में नहीं।
ऐ मुतरिब ! तेरे तरानों में अगली-सी अब वो बात नहीं,
वो ताजगीये-तखयील नहीं, बेसाख्तगीये-जज्बात नहीं।

—आनन्दनारायण 'मुल्ला' (शेरो-शायरी)

भारतीय इस्लाम के जागरण में इकबाल का जो योगदान है वह अतुल और अपरिमेय है। मुसलमानों की सबसे बड़ी सेवा इकबाल ने यह की कि उनके हृदय में जो भाव अस्पष्ट थे उन्हें इकबाल ने सुस्पष्ट बना दिया; मुसलमान बेचैन जरूर थे, किन्तु, उन्हें इसका पता नहीं था कि वे चाहते क्या हैं। इकबाल ने उनके दिलों में एक कामना भर दी, उन्हें एक ख्वाहिश दे दी। जब इस्लाम अपने गौरव के काल में था, तब उससे मुसलमानों को साहस और आत्मगौरव की प्रेरणा मिलती थी। इस्लाम उन्हें बाधाओं और विपत्तियों को कुचल कर आगे बढ़ने की उत्तेजना देता था। इकबाल जिस युग में जन्मे वह अपरिमित अवसरों का काल था। आज मौके बहुत ज्यादा हो गये हैं उनसे फायदा उठाने में संघर्ष भी अत्यधिक करना पड़ता है। इकबाल ने चाहा कि इस संघर्ष में पड़ने की प्रेरणा धर्म से मिलनी चाहिए और, तदनुसार, उन्होंने इस्लाम के साहसी एवं संघर्षशील रूप को ताजा कर दिया और मुसलमानों के सामने शूरत्व के आदर्श को चमका कर रख दिया।

कहते हैं, यूरोप में रहते-रहते इकबाल ने अपना जीवन-दर्शन तैयार कर लिया था और जब वे स्वदेश लौटे तब उसी दर्शन के आधार पर उन्होंने भारतीय मुसलमानों में नवजीवन भरना आरंभ किया। यूरोप में उन्होंने तीन बातें देखीं। एक तो यह कि वहां के लोग जीवनी-शक्ति से उच्छल और बड़े ही क्रियाशील हैं। भारतवासियों के समान, हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहना उनका स्वभाव नहीं है। धर्म, दर्शन, विचार, परिस्थिति, जहां भी कोई बाधा उन्हें दिखाई पड़ती है, वे उस बाधा को निर्मूल कर देते हैं। वे सतत आगे बढ़ने को उद्यत रहते हैं। और इसलिए सतत क्रियाशील भी। यूरोप में क्रियाशीलता को इकबाल ने जीवन के पर्याय के रूप में देखा। यूरोप में इकबाल को दूसरी प्रमुख बात यह दिखाई पड़ी कि वहां के लोगों के सामने अवसरों का ढेर लगा हुआ है और वे उनका उपयोग करके जीवन का ऐसा आनन्द उठा रहे हैं जिसकी कल्पना भी भारत या एशियावासी नहीं कर सकते। एक अवसर से फायदा उठा कर लोग उसके आगे बढ़ जाते हैं और फिर आगे का अवसर हथिया कर उससे भी आगे चले जाते हैं। इससे यूरोप में जीवन निरन्तर कार्य और निरन्तर प्रगति का रूप ले लेता है। तीसरी बात यूरोप के विपक्ष में थी। यूरोप में वैज्ञानिक साधन बहुत हैं और सुख-भोग के रास्ते और साधन भी अनन्त। फिर भी, वहां व्यक्ति का हृदय खोखला और उसकी आत्मा रिक्त रहती है; फिर भी, वहां व्यक्तियों और राष्ट्रों के बीच छीना-झपटी के दांव-पेंच चलते रहते हैं। यह बात इकबाल को बहुत भयानक लगी और वे इस निष्कर्ष पर पहुंच कर भारत लौटे कि आंख मूंद कर यूरोप की नकल करने से एशिया का भी विनाश होगा।

इन अनुभवों का इकबाल के काव्य पर गहरा असर पड़ा। क्रियाशीलता उनकी

कविता की सांस बन गई। वे जब तक जिये, मनुष्य को कर्मठ बनने की प्रेरणा देते रहे, उसे बाधाओं को कुचल कर असंभव लक्ष्यों को प्राप्त करने को उत्तेजित करते रहे।* उनका सिद्धान्त यह हो गया कि जीवन सतत क्रियाशीलता का नाम है।† प्रगति जीवन का सबसे बड़ा तत्त्व है, कर्म से बढ़ कर और कोई दर्शन नहीं हो सकता तथा सारी सृष्टि क्रिया और प्रक्रिया से चालित है एवं जहां अकर्मण्यता और अगति का वास है वहां मृत्यु बसती है। खतरों से घबराने को इकबाल ने सबसे बड़ी पराजय समझा और नौजवानों को उन्होंने चुन-चुन कर खतरों से खम ठोंक कर भिड़ने को उत्साहित किया।‡ जवानी, उत्साह, निर्भयता और कर्मठता को कहते हैं। बुढ़ापा, उदासी, असमर्थता और कायरता का नाम है। अतएव, इकबाल ने यौवन को वार्द्धक्य का गुरु बनाना चाहा।§ अबतक धर्म की शिक्षा यह रही थी कि मनुष्य झंझटों से दूर रह कर जीवन के पारलौकिक तत्त्वों पर विचार करे। इकबाल ने धर्म के इस पक्ष की घोर निन्दा की और वैराग्य तथा समाधि, दोनों को हीन

---

* सितारों से आगे जहां और भी हैं,
अभी इश्क के इम्तिहां और भी हैं।
कनाअत न कर आलमे-रंगो-बू पर,
चमन और भी, आशियां और भी हैं।
तू शाहीं है, परवाज़ है काम तेरा,
तेरे सामने आसमां और भी हैं।

(बाले-जिबरील)

† जुलामे-बहर में खोकर संभल जा,
तड़प जा, पेंच खा-खाकर बदल जा।
नहीं साहिल तेरी किस्मत में अय मौज,
उमड़कर जिस तरफ चाहे निकल जा।

(बाले-जिबरील)

‡ खतरपसन्द तबीयत को सोजगार नहीं,
वो गुलिस्तां कि जहां घात में न हो सैयाद।
मुझे सजा के लिए भी नहीं पसन्द वो आग
कि जिसका शोला न हो तुन्दो-सरकशो-बेबाक।

§ खिरद को गुलामी से आज़ाद कर,
जवानों को बूढ़ों का उस्ताद कर।

(बाले-जिबरील)

बताया।* इकबाल का यह प्रवृत्ति-मार्ग इस्लाम का पुराना मार्ग था। निवृत्ति या जीवन-त्याग की आदतें उसमें सूफियों ने डाली थीं। अतएव, इकबाल सूफीदर्शन के विरुद्ध हो गये। उन्होंने इस बात को बार-बार दुहराया है कि जीवन ध्यान और समाधि नहीं, बल्कि, भोग और आनन्द का विषय है। इकबाल की सबसे बड़ी देन यह है कि ऊंघते हुए भारतीयों को उन्होंने कर्मठता की ओर प्रेरित किया और वीरतापूर्वक यह उद्घोष किया कि कर्मठता से पुण्य नहीं बढ़ता है, वह स्वयं भारी पुण्य है, यहां तक कि अकर्मण्य मुसलमान से कर्मठ काफिर भी श्रेष्ठ हैं। † उन्होंने यह भी लिखा है कि मुल्ला तो काफिर उसे बताते हैं जो ईश्वर को नहीं मानता है, किन्तु, मैं काफिर उसे कहता हूं जो खुद से इन्कार करता है, जो जीवन के आनन्द से मुंह फेरता है, जो संघर्ष और कर्मठता से दूर है।

इकबाल की कविताओं का उद्देश्य मुसलमानों में प्रवृत्ति की लहर उठाना था, उन्हें झकझोर कर कर्म के पथ पर आरूढ़ करना था, उनमें निर्भयता और मर्दानगी जगानी थी। आरंभिक इस्लाम प्रवृत्ति-मार्गी धर्म था, उसमें जीवन से भाग कर ध्यान और समाधि में समा जाने की प्रेरणा नहीं थी। इस्लाम जीवन के सात्विक भोग की शिक्षा देने वाला धर्म था। ध्यान और समाधि की बढ़ती इस्लाम में सूफियों ने की। और सूफियों ने ही मुसलमानों को संन्यास एवं वैराग्य की भी शिक्षा दी। अतएव, इकबाल सूफियों की इस प्रकार की शिक्षा के विरुद्ध हो गए।‡

---

* तेरी निगाह में है मोजज़ात की दुनिया,
मेरी निगाह में है हादसात की दुनिया।

(सूफी से; बाले-जिबरील)

† A KAFIR before his idol with wakeful heart is better than the religious man asleep in the harem.

(जावेदनामा)

‡ 'असरारे-खुदी' में प्लेटो के निवृत्ति-मार्ग की निन्दा करते हुए इकबाल कहते हैं, "प्लेटो कहता है कि जीवन का एकमात्र रहस्य मृत्यु है और दीपक का सुयश इसमें है कि वह शीघ्र बुझ जाय। प्लेटो के प्यालों में जो शराब है, उसे पीकर हमें नींद आने लगती है तथा कर्म का दृश्य-जगत् हमारे हाथों से छूट जाता है। प्लेटो मनुष्य के वेश में बकरी और भेड़ है। ....उसने जिस लोक का चित्रण किया है, वह अफीम के नशे से बेहोश है, प्लेटो ने अपने पंख तो खोले और वह आकाश की ओर उड़ा भी, किन्तु, वहां से लौट कर वह अपने नीड़ में नहीं आ सका।"

'असरारे-खुदी' में ही एक कविता इस्लामी साहित्य के सुधार को लक्ष्य करके लिखी

कहते हैं, इकबाल ने अपना दर्शन नीत्से और बर्गसन की पुस्तकों के आधार पर तैयार किया था। नीत्से भी अफलातून के शांतिमय विचारों के विरुद्ध था, उसने भी बौद्ध मत और ईसाइयत की इसलिए निन्दा की है कि ये धर्म मनुष्य को अहिंसक और कमजोर बनाते हैं, कि ऐसे धर्मों से मनुष्य का पौरुष नष्ट होता है, एवं धरती पर महामानव के अवतार की संभावना दूर पड़ती है। नीत्से का कहना था कि जब कमजोर लोग मजबूत लोगों के गुलाम हो जाते हैं, तब ये कमजोर लोग ही ईसाइयत-जैसे धर्म का आविष्कार करते हैं कि उनके आविष्कार के प्रभाव में आकर शासक भी कमजोर हो जायें। नीत्से प्रजातंत्र का भी द्रोही था और कहा करता था कि दस गधों के जमा होने से भी एक घोड़े का दिमाग तैयार नहीं हो सकता। नीत्से ने युद्ध की भी प्रशंसा की है तथा प्राणियों में जो शक्तिमान् हैं, उन्हें कमजोरों को खा कर आगे बढ़ने के सिद्धांत का समर्थन किया है।

नीत्से के समान, इकबाल भी जीवदया और अहिंसा सिखाने वाले दर्शनों के विरुद्ध हो गये और इस्लाम में उन्होंने जो संशोधन किया, उससे जिहाद की कल्पना सार्थक दीखने

गई है जिसमें सूफियों और सौंदर्यवादियों पर गहरी चोट है। "यह कवि तुम्हें विचारों के समुद्र में गर्क करता है और कर्म के विश्व से तुम्हें अपरिचित बना देता है। हमारी (इस्लाम की) आग को इसी की सांसों ने बुझा दिया। इसी की बुलबुल ने गा-गाकर हमारे हृदयों में विष बोया। इसके गुलाबों के ढेर में एक सांप छिपा हुआ है। उसकी चमकती हुई शराब से सावधान रहो।" लोगों का ख्याल है कि यह चोट ईरान के सूफी कवि हाफिज पर है।

(उद्धरण असरारे-खुदी के अँगरेजी अनुवाद सिक्रेट्स ऑव् द सेल्फ से) नीत्से के प्रवृत्ति-सम्बन्धी तुलनीय विचार :—

"कोई जिये क्यों? जीना बेकार है। जीना सूखा पुआल पीटने के समान है। जीवन उस ज्वाला के समान है, जिसमें जलने पर भी जाड़ा दूर नहीं होता।" पुराने जमाने की ऐसी बकवास आज भी ज्ञान की बात समझी जाती है क्योंकि वह प्राचीन है और चूंकि वह अनिवार्यता की भाषा में कही गई है, इसलिए उसकी इज्जत और भी बढ़ जाती है। शैली भी प्रतिष्ठा देने वाली चीज होती है।"

"लेकिन, ऐसा तो बच्चे बोलते हैं। आग से उनकी उँगली जल गई, इसलिए, वे अग्निमात्र से भागते हैं। ज्ञान की जो प्राचीन पुस्तकें हैं, उनमें बचपने की बातें बहुत हैं।"

"जीवन आनन्द की खान है, लेकिन, जिसका पेट खराब है, उसके लिए सभी झरने जहर के झरने हैं।"

"वे सारे सत्य झूठ हैं, जिनके साथ आनन्द का अट्टहास नहीं है।"

(दस स्पेक जरथुस्त्र)

लगी।* उन्होंने एक बात पकड़ी और उस पर वे आग्रहपूर्वक अड़ गये। "मनुष्य में जीवन का जो केन्द्र-विन्दु है, वही उसकी खुदी या व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व मनुष्य के भीतर की, संघर्ष या तनाव की स्थिति को कहते हैं। जब तक मनुष्य के भीतर तनाव की हालत मौजूद है, जब तक संघर्ष करने की उसकी योग्यता शेष है, तभी तक उसका व्यक्तित्व भी कायम है। तनाव के ढीला होते ही शिथिलता आरम्भ हो जाती है। चूंकि तनाव की स्थिति या व्यक्तित्व मनुष्य की सबसे बड़ी प्राप्ति है, उसे चाहिए कि आखिरी दम तक अपने भीतर उस शैथिल्य को न आने दे। जो भी बातें तनाव और संघर्ष को तेज करती हैं, वे ही हमें अमरता प्रदान करने वाली हैं। इस प्रकार, व्यक्तित्व के विचार से ही जीवन के मूल्य उत्पन्न होते हैं, उसी से पाप और पुण्य का भी निर्धारण होता है। पुण्य वह है जिससे व्यक्तित्व की दृढ़ता बढ़ती है, पाप वह है जिससे उसका ह्रास होता है। कला, धर्म और आचार, सबकी परीक्षा इसी व्यक्तित्व की कसौटी पर की जानी चाहिए। अफलातून की मैंने जो आलोचना की है, वह, असल में उन सभी धर्मों और दार्शनिक सिद्धांतों की आलोचना है, जो जीवन नहीं, मत्यु को मानव-जीवन का आदर्श बतलाते हैं। जीवन की सबसे बड़ी बाधा भूत (मैटर) है और ये धर्म मैटर को जीत कर उसे आत्मसात् करने के वदले मनुष्य को उसी से भाग खड़े होने की शिक्षा देते हैं।"

"........वौद्ध धर्म, ईरानी रहस्यवाद और उनके समान अन्य सारी आचार-पद्धतियां हमारे उद्देश्य के प्रतिकूल हैं, उनसे हमारा काम नहीं चलेगा। फिर भी, उनका थोड़ा-बहुत उपयोग हो सकता है, जैसे कि काम से थके मनुष्य के लिए कभी-कभी अफीम और नशे की भी जरूरत होती है। ऐसे दर्शन, ऐसे विचार, और ऐसे कार्य जीवन की धूप में रात की अँधियाली रचते हैं।"†

इसी से मिलता-जुलता इकबाल का 'खुदी' विषयक सिद्धांत है जिसे लेकर विद्वानों में काफी माथा-पच्ची रही है, और जिसके कारण मुल्लाओं ने इकबाल का विरोध भी किया था। खुदी से कुछ लोग आत्मा या रूह का अर्थ लेते हैं। अब तक के सभी धर्मों ने आत्मा का गुण विनय और निर्मलता कहा था, किन्तु, लोग यह देख कर विस्मित रह गये कि इकबाल इसका प्रयोग अबाध वीरता और अहकार के पर्याय के रूप में करते हैं।

---

* 'रमूजे-बेखुदी' में तीर तलवार से कहता है कि "तुम में जो आग है, वह परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का तेज है। तुम्हारी छाया में स्वर्ग विजेताओं की प्रतीक्षा करता है।" उसी पुस्तक की एक दूसरी कविता में इकबाल कहते हैं,"तलवार धर्म की तेजस्विता के लिए जीती है। वह जब भी म्यान से बाहर निकलती है, केवल धर्म की रक्षा करने के लिए।"

('रमूजे-बेखुदी' के 'द मिस्ट्रीज आव् सेल्फलेसनेस' नामक अंग्रेजी अनुवाद से)

† 'सिक्रेट्स आव द सेल्फ की' भूमिका में उद्धृत इकबाल का मत।

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर के पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है?

किन्तु, इकबाल की खुदी आत्मा नहीं, मनुष्य के व्यक्तित्व का पर्याय है। इकबाल आत्मा और शरीर को दो नहीं, एक मानते हैं। अतएव, जो गुण शरीर का है, वही आत्मा का भी होना चाहिए, अथवा जो गुण आत्मा का है, वही शरीर में भी आना चाहिए। अपनी खुदी की फिलासफी की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "मनुष्य का नैतिक और धार्मिक आदर्श जीवन को स्वीकार करना है, उसे ठुकराना नहीं। और इस आदर्श की प्राप्ति वह व्यक्तित्व के विकास द्वारा करता है। व्यक्तित्व औरों से भिन्न तथा अपने अधिक अनुरूप होने को कहते हैं। सबसे अधिक भिन्न व्यक्ति ईश्वर है। इसीलिए, कुरान की आज्ञा है कि अपने भीतर उन गुणों का विकास करो, जो ईश्वरीय हैं। अतएव, मनुष्य जब ईश्वर के समान बनने की कोशिश करता है, तभी उसका व्यक्तित्व औरों के व्यक्तित्व से अधिक भिन्न होने लगता है। खुदी इसी व्यक्तित्व के विकास का चरम-विन्दु है जहां पहुँच कर मनुष्य केवल अपने समान आप रह जाता है। ईश्वर के जो अधिक से अधिक समीप हैं, मनुष्यों में वही अधिक से अधिक श्रेष्ठ और महान् हैं। और ऐसा नहीं होता कि एक दिन वह ईश्वर में समा जाता है, प्रत्युत, यह कि काल पाकर वही ईश्वर को अपने भीतर लीन कर लेता है। सच्चे मनुष्य में केवल भूत (मैटर) ही नहीं समाते, उसके भीतर ईश्वर भी विलीन हो जाता है।* जीवन का लक्षण है कि वह प्रत्येक बाधा को आत्मसात् करके आगे बढ़ता जाता है। जीवन का दूसरा लक्षण यह है कि वह रोज अपने भीतर नई-नई इच्छाएँ और नई-नई कामनाएँ उत्पन्न करता है और उन्हें प्राप्त करके फिर नई कामना लेकर नए लक्ष्य की ओर बढ़ जाता है।† जीवन की सबसे बड़ी बाधा प्रकृति है, किन्तु, प्रकृति भी बुरी नहीं कही जा सकती क्योंकि उसी की बाधा के कारण जीवन की अन्तर्हित शक्तियों को प्रत्यक्ष करने का अवसर मिलता है।"

*** काफिर कि यह पहचान कि आफाक में गुम है,**
मोमिन की यह पहचान कि गुम इसमें है आफाक।

[अफाक=दुनिया]

जँचते नहीं कुंजश्को-हमाम इसकी नजर में,
जिबरीलो-सराफील का सैयाद है मोमिन।

[जिबरील-सराफील, दो देवदूतों के नाम।]

(बाले-जिबरील)

† जीवन अन्वेषण के बीच है, उसका जन्म अज्ञात इच्छाओं के भीतर से होता है। अपने हृदय में कामनाओं को जिलाये रखो, अन्यथा तुम जिस मिट्टी से निर्मित हुए हो, वह कब्र बन जायेगी। (असरारे-खुदी)।

खुदी और प्रेम का समन्वय करते हुए इकबाल ने लिखा है कि "खुदी की दृढ़ता इश्क से आती है। इस शब्द का प्रयोग मैंने व्यापक अर्थ में किया है। यहां इसका अर्थ दूसरों को आत्मलीन या आत्मसात् करना है। इसका सबसे ऊँचा रूप मूल्यों और आदर्शों का निर्माण तथा उन्हें प्राप्त करने का प्रयास है। प्रेम के कारण प्रेमी और प्रेमिका दोनों अनूठे, दोनों औरों से भिन्न हो जाते हैं। अतएव, जो सबसे अनूठा व्यक्तित्व (अर्थात् ईश्वर) है, उसकी अनुभूति का प्रयास प्रेमी के व्यक्तित्व को भी अनूठा बना देता है। किन्तु, प्रेम यदि व्यक्तित्व को बढ़ाता है, तो सवाल (याचना) उसे कमजोर भी करता है।* जो बेटा बाप के धन पर जीना चाहता है, वह सवाली है, याचक है। ऐसे ही, वे सभी लोग हैं जो दूसरों के विचारों पर जीवित रहना चाहते हैं। अतएव, व्यक्तित्व की रक्षा और विकास का उपाय यह है कि हम याचना करना छोड़ दें।"†

इकबाल खुदी के तीन नियम मानते हैं। पहला यह है कि साधक धर्म की आज्ञा माने। दूसरा यह कि वह अपने ऊपर नियंत्रण रखे जो खुदी या आत्मचेतना का सबसे बड़ा प्रमाण है तथा तीसरा यह कि वह पृथ्वी पर भगवान् का प्रतिनिधि (नायब या वाइस-रिजेंट) बन कर रहे या राज करे।‡

---

* "ईश्वर उसे प्यार करता है जो अपनी जीविका आप कमाता है। उस व्यक्ति को धिक्कार है जो अपनी रोटी दूसरों की मेज से पाता है। ....वह मनुष्य धन्य है जो धूप में प्यास से जलने पर भी खिजर से एक प्याला पानी नहीं मांगता। ....भीख में मिला हुआ समुद्र भी ज्वालोदधि है। अपने हाथों से संचित थोड़ी-सी शबनम भी उससे श्रेष्ठ और सुस्वादु होती है।" (असरारे-खुदी)।

† 'सिक्रेट्स आव् द सेल्फ' की भूमिका से।

‡ "जो भी सूरज और सितारों पर हुक्म चलाने का अभिलाषी है, उसे पहले धर्म का हुक्म मानना चाहिए। .....तारे भी अपने लक्ष्य की ओर किसी धर्म के सामने मस्तक नत किये हुए चलते हैं।"

"जो अपने ऊपर हुक्म चलाने की योग्यता से हीन है, वह दूसरों के हुक्म में रहेगा।"

"यदि तुम अपने ऊंट को बस में रख सके तो सारा संसार तुम्हारे बस में हो जायगा।"

"पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि बनकर राज करना श्रेष्ठ है। उसी नायक के व्यक्तित्व में सामञ्जस्य भरने के लिए मुट्ठी भर धूलों की धरती ऊपर उठ रही है। इसी धूल से वह विजेता उत्पन्न होगा। ओ भाग्य पर सवारी करने वाले वीर! उठो। क्रांति की अँधियाली के प्रकाश! अब प्रकाश में आओ। जीवन का मंच अन्धकारपूर्ण है, इसमें किरणें छिटकाओ। राष्ट्रों के कोलाहल को शांत करो। उठो और मिल्लत (इस्लामी भ्रातृत्व) की वीणा में अपना सुर भरो। जो युद्ध खोज रहे हैं, उन्हें शांति का संदेश दो।" (सिक्रेट्स आव् द सेल्फ)

इकबाल जिसे ईश्वर का वाइस-रिजेंट या नायब कहते हैं, वह नीत्से के महामानव (सुपरमैन) का अरबी अनुवाद है। नीत्से ने ईश्वर का नाम नहीं लिया, इतना फर्क अवश्य दीखता है, किन्तु, बाकी बातों में नीत्से के सुपरमैन और इकबाल के वाइस-रिजेंट में कोई भेद नहीं है।* इकबाल कहते हैं, "यह नियाबते-इलाही (Divine Viceregency) पृथ्वी पर मनुष्य के विकास का तीसरा और अन्तिम सोपान है। नायब पृथ्वी पर भगवान् के प्रतिनिधि-स्वरूप है। वह खुदी की पूर्णतम प्रतिमा और मानवता की मंजिल है। हममें जो मानसिक अशांति और विरोध है, वह नायब में जाकर अपना समाधान पा लेती है। उसमें उच्च से उच्च शक्तियां उच्च से उच्च ज्ञान से मिलकर एकाकार रहती हैं। उसके जीवन, विचार और कर्म में बुद्धि और सहज प्रवृत्ति में विरोध नहीं रहता। मानवता के वृक्ष का वह अन्तिम फल होगा एवं मनुष्यता ने आज तक विकास की जो वेदनाएँ सही हैं, वे नायब के अवतार के साथ सार्थक हो जायेंगी। मनुष्यों का सच्चा शासक नायब ही होगा क्योंकि उसका शासन धरती पर परमात्मा का शासन होगा। वह विकास का अन्तिम बिन्दु होगा। विकास के

---

* नीत्से की कल्पना की भाषा यह है। "मैं तुम्हें महामानव के विषय में समझाता हूँ। मनुष्य वह चीज है जिससे मनुष्य को आगे जाना है। मनुष्यता की सीमा पार करने के लिए तुमने क्या किया है? सभी जीवों ने अपने से आगे के जीव तैयार किये और तुम भाटे के वेग में बहकर पीछे जाना चाहते हो? तुम्हें पीछे हटकर पशु बन जाना पसंद है, किन्तु, तुम मनुष्य से आगे बढ़कर महामनुष्य नहीं बनोगे? बन्दर मनुष्य के आगे क्या है? केवल हँसी की चीज, केवल ग्लानि का पात्र। जो स्थिति बन्दर की मनुष्य के आगे है, वही स्थिति मनुष्य की महामनुष्य के सामने होगी। तुम कीट से बढ़कर मनुष्य हुए हो। किन्तु, अभी भी तुममें कीटों की संख्या कम नहीं है। एक समय तुम मर्कट थे और आज भी मनुष्यों में मर्कटता मर्कटों से भी अधिक है।

"........इस पृथ्वी का सारा अर्थ महामानव है। अपने संकल्प को जगाकर तुम भी कहो कि पृथ्वी का सारा अर्थ महामानव है।

"........मनुष्य लक्ष्य नहीं, सेतु है। उसका सबसे प्यारा गुण यह है कि वह ऊपर जा रहा है और नीचे आ रहा है।.........मैं उन्हें प्यार करता हूँ, जो नीचे जा रहे हैं, जो पृथ्वी को कुर्बानी चढ़ा रहे हैं कि महामानव की पृथ्वी अस्तित्व में आये। मैं उन्हें प्यार करता हूँ जो ज्ञान के लिए जीते हैं जिससे कि महामानव का अवतार हो। महामानव के अवतार की कामना, यही उनकी अधोयात्रा है ...... मैं उसे प्यार करता हूँ जो श्रम कर रहा है, आविष्कार कर रहा है, जिससे कि महामानव का भवन तैयार हो, जिससे कि महामानव के लिए धरती, पशु और पौधे तैयार हों।"

(नीत्से कृत 'दस स्पेक जरथुस्त्र' से)

क्रम में हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों हम नायब के समीप होते जाते हैं। और उसके पास पहुँचने की कोशिश में हम अपने आपको ऊपर उठाते जाते हैं। मनुष्य के शरीर और मन का सम्यक् विकास वह शर्त है, जिसके बिना नायब का जन्म नहीं होगा। आज तो वह सिर्फ कल्पना है, विचार और आदर्श है, किन्तु, मानवता का विकास होते-होते मनुष्यों की ऐसी जाति उत्पन्न होगी, जिसके सदस्य बहुत कुछ अनूठे व्यक्तित्व वाले होंगे और ऐसे ही माता-पिता से नायब उत्पन्न होगा। इस प्रकार, पृथ्वी पर परमात्मा के राज्य का अर्थ यह है कि यहां जो प्रजातंत्र कायम होगा, उसके सदस्य अनूठे व्यक्तित्व वाले होंगे, जिनका मुखिया वह व्यक्ति होगा, जिसका व्यक्तित्व सबसे अनूठा, सबसे भिन्न होगा। इस आदर्श जाति की झांकी नीत्से ने भी देखी थी, किन्तु, नास्तिक और अमीरों का पक्षपाती होने के कारण, उसने अपनी कल्पना को कुरूप बना दिया।*

आज की भाषा में, नीत्से की कल्पना का महामानव फासिस्ट कहा जायगा, किन्तु, इकबाल की कल्पना का महामानव किसी प्रकार का प्रजातंत्री मनुष्य है। हां, इतना इजाफा हम और कर सकते हैं कि वह मुसलमान होगा, क्योंकि पाश्चात्य ढंग की प्रजा-सत्ता इकबाल को पसंद नहीं थी। उन्होंने लिखा है कि "यूरोप का प्रजातंत्र यूरोपीय समाज के आर्थिक उद्धार के क्रम में प्रकट हुआ। इसीलिए, उसके भीतर समाजवादी और अराजकतावादी आन्दोलनों का आतंक व्याप्त है। किन्तु, नीत्से इस झुण्ड-शासन से घृणा करता है और जन-साधारण के ऊपर कोई भरोसा या विश्वास नहीं रख कर समस्त उच्च संस्कृति का ध्येय महामानवों की एक खास जाति का उद्भव और विकास बताता है। किन्तु, क्या जनसाधारण, सचमुच ही, इतना अपदार्थ है? इस्लामी प्रजातंत्र का जन्म आर्थिक अवसरों के विकास से नहीं हुआ। इस्लाम में प्रजासत्ता या जमहूरियत एक आध्यात्मिक सिद्धांत है जिसका आधार यह भाव है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अनन्त संभावनाएँ छिपी हुई हैं जिनका विकास चरित्र विशेष के पालन से किया जा सकता है। इन्हीं साधारण व्यक्तियों में से इस्लाम ने अद्भुत मनुष्य तैयार किये थे, जिनका जीवन और जिनकी शक्ति अत्यंत उत्तम थी। इस दृष्टि से क्या इस्लाम का आरम्भिक प्रजातंत्र नीत्से के प्रजातंत्र-विरोधी मतों के खंडन की दलील नहीं है?"†

कवि जैसे संस्कारों में पलता है, उसकी भावना भी वैसी ही हो जाती है। इकबाल को पढ़ते हुए कदम-कदम पर यह अनुभव होने लगता है कि यूरोपीय राष्ट्रों से इस्लाम का संघर्ष, इंग्लैण्ड द्वारा टर्की की कुसेवा, और ईसाइयों द्वारा इस्लाम की आलोचना उन्हें याद थी।

---

* 'सिक्रेट्स आव् द सेल्फ' की भूमिका से।

† 'सिक्रेट्स आव् द सेल्फ' की भूमिका से

इसीलिए, वे, मौका मिलते ही, यूरोपीय सभ्यता पर डंक मार बैठते हैं।* यह भी अनुभव होता है कि सर सैयद, हाली, चिरागअली, अमीरअली और सबसे बढ़ कर, मौलाना शिबली ने मुसलमानों में अपने धर्म और इतिहास के प्रति जो गौरव जगाया था, उसका संस्कार इकबाल में अत्यंत प्रबल था। इसीलिए, वे इस्लाम के सिवा और किसी धर्म की प्रशंसा करने में असमर्थ रहे।† साथ ही, भारत में चूंकि प्रजासत्ता मुसलमानों को पूरी अनुकूल नहीं दीखती थी, इसलिए, उन्होंने राष्ट्रीयता और प्रजासत्ता, दोनों में अपना विश्वास खो दिया। खिसकते-खिसकते, वे एक ऐसी जगह जा पहुँचे, जहां देश, राज्य, इतिहास, तथा शासन की एकता और एक साथ जीने-मरने और संघर्ष करने की बातों का राष्ट्रीयता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु, राष्ट्रीय भाव इकबाल मुसलमानों में भरना जरूर चाहते थे। अतएव, उन्होंने उपदेश किया कि विश्व भर में फैले हुए मुसलमान राष्ट्रीयता के एक सूत्र में आबद्ध किये जा सकते हैं।‡ किन्तु, तफसील में आने पर यह कल्पना उन्हें भी कठिन जान पड़ी। अतएव, उन्होंने सोचा कि "अभी तो यही संभव है कि प्रत्येक मुस्लिम राष्ट्र अपने भीतर डूब

---

* **तेरी हरीफ हैं या रब, सियासते-अफरंग,**
मगर, हैं इसके पुजारी फकत अमीरो-रईस।
बनाया एक ही इबलीस आग से तू ने,
बनाये खाक से उसने दो सद हज़ार इबलीस।

× × ×

तुम्हारी तहज़ीब अपने खंजर से आप ही खुदकुशी करेगी।
जो शाखे-नाजुक पै आशियाना बनेगा नापायदार होगा।

† "मेरे बाद और कोई पैगम्बर नहीं होगा। यह ईश्वरीय आज्ञा है।"

"मुसलमान सबसे विरत होकर ईश्वर में अनुरक्त रहता है और ऐलान करता है कि मनुष्य जाति में हमसे आगे और कोई नहीं है।" (**रमूजे-बेखुदी**)

‡ "हमारा अस्तित्व किसी एक स्थान के घेरे में नहीं है। हमारी शराब की तेजी किसी एक प्याले में महदूद नहीं है। हमारी सुराही की मिट्टी चीनी भी है और हिन्दुस्तानी भी। हमारे शरीर की धूल टर्की की भी है और सीरिया की भी। मगर, हमारा दिल न तो हिन्दुस्तान में है, न सीरिया और रूम में। इस्लाम को छोडकर हम किसी भी पितृदेश में विश्वास नहीं करते।"

"जानते हो कि मुहम्मद अपनी जन्मभूमि मक्का को छोड़कर मदीना क्यों भाग गये? हिजरत मुसलमान का ईमान है; हिजरत उसके जीवन में स्थायि व भरती है। इसका अर्थ है संकीर्णता को छोड़कर विशालता में पहुँचना, शबनम को छोड़कर समुद्र पर विजय पाना।" (**रमूजे-बेखुदी**)

कर विचार करे, अपना सारा ध्यान अपने आप पर केन्द्रित करे। फिर, जब ये सबके सब सुदृढ़ और बलवान् हो जायें, तब उन्हें लेकर प्रजातंत्रों का एक सम्मिलित परिवार खड़ा किया जा सकता है। सच्ची और प्राणवती एकता किसी पर ऊपर से लादी नहीं जा सकती। इसके लिए आवश्यक होगा कि प्रत्येक प्रजातंत्र की स्वाधीनता बरकरार रहने दी जाय। उनके आपसी तनाव और आनुवंशिक (रेसियल) द्वंद्व परस्पर सामञ्जस्य में ले आये जायँ और उन सबके बीच एकता का वह भाव प्रतिष्ठित रहे जो समान आध्यात्मिक उमंगों से प्रवाहित होती है। मुझे तो ऐसा दीखता है, मानो, परमेश्वर धीरे-धीरे हम सबको यह बता रहे हैं कि इस्लाम राष्ट्रीयता नहीं है, वह साम्राज्यवाद भी नहीं है, असल में, वह राष्ट्रों का समूह है जो देशगत सीमाओं को केवल नाम और सुविधा के लिए ही अंगीकार करता है, अपने सदस्यों के सामाजिक क्षितिजों को सीमित करने को नहीं।"* यही मनोदशा थी जिसने उन्हें **बांगे-दरा** के वातावरण से बाहर निकाल दिया। यही वह मुद्रा थी जिसमें इकबाल इस्लाम को भारत से बाहर ले जाने को अपना श्रेष्ठ सुकर्म समझने लगे। और यही वह पीड़ा थी जिसने उनके भीतर पाकिस्तान की कल्पना प्रस्फुटित की। संयोग की बात थी कि जब वे सन् १९३० ई० में मुस्लिम लीग के सभापति हुए तब अखिल भारतीय मंच से पहले पहल उन्हीं के मुख से पाकिस्तान शब्द निकला और उन्होंने पाकिस्तान प्राप्त करने का दर्शन तैयार कर दिया। जिससे हिन्दुओं से अलग होकर मुसलमानी राज बसाने की मांग में मुसलमानों को जो संकोच होता था, वह जाता रहा।†

'माडर्न इस्लाम इन इण्डिया' के लेखक ने एक स्थान पर इकबाल को विफलताबोध (फ्रस्ट्रेशन) का कवि कहा है और ऊपर के संदर्भ में उनकी निराशा प्रत्यक्ष है भी। खिलाफत के टूट जाने पर भी, इकबाल इस आशा में रहे कि फिर कोई खिलाफत तैयार हो सकता है और जिसके अधीन संसार के तीस करोड़ मुसलमान एक धर्मसूत्र में आबद्ध रहेंगे। किन्तु, वह नहीं हुआ। तुर्कों का साम्राज्य खंडित हो गया। खिलाफत अदृश्य हो गया। टर्की ने अपने को धर्म-राज्य मानना छोड़ दिया और अरबी राज्य टूटकर कई स्वाधीन एवं अर्द्ध-स्वाधीन राज्यों में बँट गया। यह इस्लाम के विघटन का दृश्य था जिसे इकबाल बर्दाश्त नहीं कर सके। अतएव, इस्लाम का विश्वराज्य, स्थापित करने को छोड़ कर उन्हें, मुसलमानों की उन्नति का और कोई उपाय पसंद नहीं आया।

---

* रिकांस्ट्रक्शन आव् रिलीजियस थाट इन इस्लाम।

† पिछले युद्ध के दिनों में आरबेरी ने 'इस्लाम टु डे' नामक एक पुस्तक निकाली जिसमें सर हसन सुहरावर्दी का एक लेख है। इस लेख में भी लेखक ने कहा है कि पाकिस्तान की मांग भारत के बिभाजन की मांग नहीं है। वह विभाजन की मांग तो थी ही, मगर आरम्भ में शर्म से अच्छे लोग वैसा नहीं कहते थे।—लेखक

कोई-कोई लेखक इकबाल पर यह आरोप भी लगाते हैं कि उन्होंने लोगों की क्रिया-शक्ति को उभार कर उसे चंचल तो कर दिया, किन्तु, वे यह बताना भूल गए कि क्रिया-शक्ति का उपयोग किस ध्येय की प्राप्ति के लिए किया जाय। यही कारण है कि हर तरह के आदमी उनका नाम लेकर उछलने लगे और प्रत्येक प्रकार के कर्मठ आन्दोलन को उनसे समर्थन मिलने लगा। यहां विचारणीय यह है कि पाकिस्तान का नाम देकर इकबाल ने भारतीय मुसलमानों को किसी भ्रम में नहीं रखा, किन्तु, यह नाम उन्होंने काव्य में नहीं, राजनीति के मंच से लिया था। कवि के लिए तफमील में जाकर नक्शा बनाना संभव नहीं होता। वह तो बादल है जो बरस जाता है। यह कैसे संभव है कि बादल बरसे भी और अपने पानी को किसी खेत में जाने दे एवं बाकी खेतों में जाने से उसे रोक रक्खे ? कवि 'डायनिमो' है जो शक्ति क्षरित करता है। उस शक्ति का उपयोग किस उद्देश्य के लिए किया जाय, इसका निर्धारण करने वाले और लोग होते हैं।

इकबाल दलित जाति के कवि थे, इसलिए उनमें बेचैनी का होना स्वाभाविक था और चूंकि इस जाति के दलन का सबसे बड़ा कारण उसकी निश्चेष्टता थी, इसलिए, इकबाल ने सबसे अधिक जोर भी कर्मण्यता पर ही दिया।* सुकर्म की प्रशंसा तो सभी करते हैं। इकबाल ने अकर्मण्य की अपेक्षा उस व्यक्ति को भी श्रेष्ठ समझा जो और नहीं तो गलतियां ही करता रहता है।† धर्म के बाह्य आडम्बरों की निन्दा तो सब दिन से होती आई थी। इकबाल की विशेषता यह है कि उन्होंने आडम्बरों को पुण्य की विकृति नहीं, सीधे पाप कहा। उनका ध्यान मुसलमानों की गरीबी पर था।‡ उनका ध्यान संसार की पूंजीवादी

---

* खुदा तुझे किसी तूफां से आशना कर दे,
कि तेरे बहर की मौजों में इज्तराब नहीं।
तुझे किताब से मुमकिन नहीं फिराग कि तू,
किताबख्वां है, मगर, साहबे-किताब नहीं।
(तालबे-इल्म; बाले-जिबरील)

† तू समझता नहीं अय जाहिदे-नादां इसको,
रश्के-सद सिज्दा है एक लगजिशे शैतानिये-दिल। (बांगे-दरा)

‡ वो फाकाकश कि मौत से डरता नहीं जरा,
रूहे-मुहम्मद इसके बदन से निकाल दो। (बाले-जिबरील)

× × ×

बुतखाने के दरवाजे पै सोता है बरहमन,
तकदीर को रोता है मुसलमां तहे-मेहराब। (बाले-जिबरील)

व्यवस्था पर था, जिसके अधीन अमीर ग़रीब को लूटते रहते हैं। * ऐसी अवस्था में धर्म यदि गरीबों को संतुष्ट रहने को कहे,दु:खों को उनके अपने कर्मों का फल बताकर उन्हें निश्चेष्ट रहने का उपदेश दे तो धर्म मनुष्य की प्रगति का बाधक बन जाता है। अतएव, इक़बाल ने असंतोष और बेचैनी को पौरुष का लक्षण बताया, क्योंकि जो संतुष्ट है, उसकी क्रिया ढीली और प्रयत्न शिथिल पड़ जाते हैं।†

इकबाल ने अनवरत कर्म, निरन्तर संघर्ष और सतत निर्भय प्रयास का जो दर्शन तैयार किया, वह केवल मुसलमानों ही नहीं, हिन्दुओं तथा अन्य जातियों के लोगों के भी फायदे की चीज थी। किन्तु, चूंकि उन्होंने कर्म की दिशा का संकेत नहीं किया, न यही बताया कि हिंसा, उत्पात और व्यर्थ की हलचल कर्म नहीं, कुकर्म है।‡ इसलिए राजनीतिज्ञों

---

* उठ्ठो, मेरी दुनिया के गरीबों को जगा दो,
काखे-उमरा के दरो-दीवार हिला दो।
जिस खेत से दहक़ां को मयस्सर न हो रोज़ी,
उस खेत के हर खोसये-गन्दुम को जला दो। (बाले-जिब्रील)

× × ×

बता क्या तेरी जिन्दगी का है राज़ ?
हज़ारों बरस से है तू खाकबाज़।
उसी खाक में दब गई तेरी आग,
सहर की अज़ां हो गई, अब तो जाग।

(पंजाब के दहक़ान से; बाले-जिबरील)

गो इसकी खुदाई में महाजन का भी है हाथ,
दुनिया तो समझती है फिरंगी को खुदावन्द। (बाले-जिबरील)

† है वही तेरे जमाने का इमामे बरहक़,
जो तुझे हाज़िरो-मौजूद से बेज़ार करे।
मौत के आइने में तुझको दिखाकर रुखे-दोस्त,
जिन्दगी तेरे लिये और भी दुश्वार करे।
दे के एहसासे-ज़यां तेरा लहू गरमा दे,
फ़ख्र की शान चढ़ाकर तुझे तलवार करे। (बाले-जिबरील)

‡ उदाहरण के लिए, नीचे की पंक्तियां देखी जा सकती हैं जिनके भाव हिंसा और उत्पात के समर्थक होने के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकते।

हमामो-कबूतर का भूखा नहीं मैं,
कि है जिन्दगी बाज़ की ज़ाहिदाना।

एवं आन्दोलनकारियों को यह अवसर मिल गया कि वे इकबाल की प्रतिष्ठा और उनके दर्शन का मनमाना उपयोग करें। इसीलिए, अक्सर, इस बात पर दृष्टि चली जाती है कि, हो न हो, इकबाल के कर्मवादी दर्शन और मुस्लिम लीग की सन १९४६ ई० वाली सीधी कार्रवाई के बीच कारण-कार्य का संबंध आ बैठा।

मुसलमानों को कर्मनिष्ठ बनाने के साथ-साथ इकबाल उन्हें यह उपदेश भी देते गये कि यूरोप का अन्धानुकरण बुरा है। * यूरोप के पास सभी गुण ऐसे नहीं हैं जिनसे मुसलमानों का कल्याण हो सकता हो। अंगरेजी पढ़े-लिखे यूरोपीकृत युवकों के लिए उनके पास अच्छे शब्द नहीं थे। उनकी दृष्टि में ऐसे सभी लोग उधार ली हुई सांस पर जीने की कोशिश करने वाले थे। टर्की ने यूरोप की नकल इतनी दूर तक की कि उसके पास इस्लाम की विरासत नाम मात्र को ही रह गई। इस स्थिति की इकबाल पर प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने एक कविता में लिखा, "तुर्कों के रबाब में कोई नया सुर नहीं है। वे जिसे नया समझ रहे हैं, वह यूरोप का पुराना लिबास है।" इकबाल का विचार था कि यूरोप का एक पांव कब्र में लटक चुका है। यह आशा व्यर्थ है कि वह एशिया की रक्षा कर सकेगा।

जिन मूल्यों को लेकर यूरोप खड़ा है, उनके प्रति आलोचना के भाव गांधी, रवीन्द्र और राधाकृष्णन में भी मिलते हैं। सच पूछिए तो एशिया की आत्मा ही उन मूल्यों के विरुद्ध

झपटना, पलटना, पलटकर झपटना,
लहू गर्म रखने का है इक बहाना। (शाहीं; बाले-जिबरील)

है शबाब अपने लहू की आग में जलने का नाम,
सख्त-कोशी से है, तल्खे-जिन्दगानी अंगमी।
जो कबूतर पर झपटने में मज़ा है ऐ बशर,
वह मज़ा, शायद, कबूतर के लहू में भी नहीं।
(नसीहत; बाले-जिबरील)

सोचा भी है अय मर्दे-मुसलमां कभी तू ने,
क्या चीज है फौलाद की शमशीर जिगरदार?
इस बैत का यह मिसरये अव्वल है कि जिस में,
पोशीदा चले आते हैं तोहीद के असरार। (बाले-जिबरील)

* वह आंख कि है सुरमये-अफरंग से रौशन,
पुरकारो-सखुनसाज है, नमनाक नहीं है।

× × ×

योरप की गुलामी पै रजामन्द हुआ तू,
मुझको तो गिला तुझ से है, योरप से नहीं है। (बाले-जिबरील)

है। ताकत जितनी बड़ी चीज हो, किन्तु, वह दया और प्रेम से बढ़कर नहीं है। बुद्धि जितनी बड़ी शक्ति हो, अनुभूति से वह हीन ही होती है। और ऐसा कहने से बुद्धि या शक्ति का अनादर नहीं होता है। एशियावासी तो सिर्फ यह कह रहे हैं कि ताकत और बौद्धिकता की चकाचौंध में आदमी प्रेम और अनुभूति की महत्ता से दूर नहीं चला जाय। यह दृष्टिकोण इकबाल में भी बहुत स्पष्ट है। दया, माया, अहिंसा और सहिष्णुता को तो उन्होंने महत्त्व नहीं दिया है, किन्तु, प्रेम की महिमा से वे भलीभांति परिचित हैं तथा दिमाग के मुकाबिले वे बराबर दिल का साथ देते हैं।* इकबाल तर्क और बुद्धि की अपेक्षा प्रेम और अनुभूति को बहुत बड़ा स्थान देते हैं। यूरोप से उनकी विरक्ति और उदासी का एक कारण यह भी था कि यूरोप में ज्ञान, बुद्धि, तर्क और भौतिक शक्तियां बहुत काफी हैं, फिर भी, वहां के लोग गरीबों को लूटने में आनन्द लेते हैं, फिर भी, यूरोप में व्यक्ति-व्यक्ति और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच संशय और छल-प्रपंच का राज है। फिर भी, यूरोप का धनी और सुशिक्षित वर्ग भीतर से खोखला और अशांत है। इकबाल ने इन सबका कारण यह समझा कि यूरोप वालों ने धर्म की अवज्ञा कर दी है और अन्तरात्मा की आवाज़ को सुनना छोड़ दिया है, प्रेम और अनुभूति की महत्ता वे भूल बैठे हैं। जब तक ये गुण वापस नहीं लाये जाते, मनुष्यता का कल्याण असंभव है। पूंजीवादी व्यवस्था के वे खिलाफ थे। इकबाल व्यक्ति का उत्थान चाहते थे, किन्तु, पूंजीवाद के अन्दर व्यक्ति को बढ़ने की राह नहीं मिलती, वह मशीन के पुरजे का एक अंग बन जाता है। यूरोप की शक्ति उन्हें प्रेम-हीन होने के कारण निन्द्य लगी। यूरोप का ज्ञान उन्हें आत्मा-रहित होने के कारण छूंछा दीख पड़ा।

बाले-जिबरील में दो-एक ऐसी भी कविताएँ हैं जिनसे इकबाल का समाजवाद के प्रति अटल विश्वास प्रकट होता है। 'आस्पेक्ट्स आव् इकबाल' नामक पुस्तक की भूमिका में तासीर नामक लेखक ने इकबाल का यह उद्धरण दिया है कि "मैं यदि किसी मुस्लिम राज्य का डिक्टेटर होता तो सबसे पहला काम यह करता कि उसे समाजवादी राज्य बना डालता।" रूस के बारे में उनका ख्याल था कि वह अज्ञात रूप से परमात्मा का ही काम कर रहा है। उसकी नास्तिकता इस कारण है कि क्रांति के पहले वहां का ईसा-संगठन भ्रष्ट हो गया था। इकबाल की आशा थी कि काल पाकर धर्म रूस में वापस आयेगा और रूसी लोग मुसलमान हो जायेंगे।

किन्तु, साथ ही यह बात भी है कि **'प्यामे-मशरिक'** नामक अपने फारसी काव्य में

*** राज़े-हस्ती को तू समझती है,**
आंख से उसको देखता हूँ मैं।
(बांगे-दरा में अक्ल के प्रति दिल की उक्ति)

जो अक्ल का गुलाम हो, वो दिल न कर कबूल। (बाले-जिबरील)

उन्होंने लेनिन को कैसर के साथ नरक की अग्नि में जलते दिखाया है और बाले-जिबरील में उन्होंने लेनिन को परमात्मा के मुख से उपदेश दिलवाये हैं।

किसी ने सत्य ही कहा है कि इकबाल का समाजवाद भावात्मक था, बुद्धि से इस विषय को समझने की उन्होंने कभी कोशिश ही नहीं की। उनकी कविताओं से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि धर्म और समाज दोनों दो तत्त्व हैं और अच्छे समाज को दोनों के कुछ-कुछ अंश चाहिएं। समाजवाद में जो धार्मिकता है तथा धर्म में जो सामाजिक पक्ष है, उसपर उनकी कभी दृष्टि ही नहीं गई।

पान-इस्लामी राष्ट्रीयता

इकबाल ने जिस राष्ट्रीयता का आख्यान किया, वह भारत की राष्ट्रीयता नहीं, भारतीय मुसलमानों की भी राष्ट्रीयता नहीं, विश्व भर के मुसलमानों की राष्ट्रीयता थी। राष्ट्रीयता के इस रूप को ज्ञापित करने के लिए अंग्रेजी में पान इस्लाम (Pan-Islam) शब्द चलता है जिसका आशय यह होता है कि सारे संसार में मुसलमानों के भीतर एक प्रकार की प्रगाढ़ एकता का भाव है। यही भाव मुसलमानों को यह मानने की प्रेरणा देता है कि वह और कुछ होने के पहले मुसलमान हैं; यही भाव मुसलमानों को उन देशों में अप्रसन्न रखता है, जिन देशों में मुसलमानों का राज नहीं है अथवा जिन देशों में वे अल्पसंख्यक हैं। देशों की सीमाओं के भीतर मुसलमानों का केवल शरीर रहता है। मन से वे समस्त विश्व के मुसलमानों के साथ अपनी एकात्मता अनुभव करते हैं। इसीलिए, भारत तथा कुछ अन्य देशों में, (जैसे एक समय चीन में) बहुमत उनके प्रति क्षुब्ध रहा है।* देश और इस्लाम दोनों के प्रति सात्त्विक भक्ति का निर्वाह तभी होता है जब वह देश किसी भी इस्लामी देश के विरुद्ध नहीं हो। जहां यह विरोध उत्पन्न हुआ कि अल्पसंख्यक मुसलमानों के भीतर एक भावात्मक पीड़ा आरम्भ हो जाती है, एक प्रकार का द्वंद्व शुरू हो जाता है जिसका इलाज निकालने में मुसलमान आज तक असमर्थ रहे हैं।

फिर भी, यह पान-इस्लामी भाव कुछ इकबाल की ही अथवा भारतीय मुसलमानों की ही विशेषता नहीं रही है। यह भाव प्रायः सभी मुसलमान देशों का है और सच पूछिए तो मुहम्मद के अनुयायियों के बीच संगठन और एकता की प्रमुखता आरम्भ से ही मानी जाती रही है। मुसलमान भी आपस में झगड़ते हैं, किन्तु, जभी किसी काफिर का सामना हुआ कि उनके आपसी झगड़े अपनी जगह पर छूट जाते हैं और दुश्मन के मुकाबले में वे सबके सब अनायास एक हो जाते हैं। मुसलमान-मुसलमान में जैसी एकता होती है, वैसी एकता हिन्दू-हिन्दू अथवा ईसाई-ईसाई के बीच नहीं हो पाती। अपने अनुयायियों पर जैसा कठिन

---

* **गद्दारे वतन इसको बताते हैं बिरहमन,**
अंग्रेज समझता है मुसलमां को गदागर। (इकबाल)

नियंत्रण इस्लाम का है, वैसा और किसी धर्म का नहीं। मागी-धर्म को इस्लाम ने दुनिया से नेस्त-नाबूद कर दिया; ईसाई और हिन्दू धर्म के अनुयायियों में से भी बहुतों को उसने फोड़ कर अपना लिया। किन्तु, यही बात मुसलमानों के बारे में नहीं कही जा सकती। बहुत कम ऐसे मुसलमान होंगे जो अपना धर्म छोड़ कर अन्य धर्मों में गए होंगे।

इस्लामी धर्म में मुसलमानों के बीच में एकता रखने की जो शिक्षा है, उसके सिवा भी दो कारण और हैं जिनसे विश्व भर के मुसलमानों की एकता में वृद्धि हुई है। पहली बात तो यह है कि हजरत मुहम्मद के बाद से इस्लाम एक ही खलीफे के अन्दर, एक ही अनुशासन में रहने का अभ्यासी रहा है। पहले **खिलाफत** मक्के में थी और बादको बगदाद में। जब मंगोलों ने बगदाद को तहस-नहस कर दिया तब कुछ दिनों के लिए मुसलमानों के ऊपर से खिलाफत की छाया जाती रही। किन्तु, उसके बाद ही, टर्की के सुल्तानों ने खलीफा की उपाधि धारण कर ली और समस्त विश्व के कट्टर मुसलमान उन्हें अपना धर्म-गुरु मानने लगे, यद्यपि अरबों में टर्की के खलीफाओं के प्रति सच्ची भक्ति कभी नहीं हुई। अब तो, खैर, टर्की ने खिलाफत को उठा दिया है, किन्तु, सदियों तक खिलाफत के ज़रिये मुसलमानों में एकता का जो भाव पुष्ट होता रहा, वह आज भी जीवित है।

एकता का दूसरा प्रधान कारण **हज** है। प्रत्येक मुसलमान की यह कामना रहती है कि वह मरने के पहले, कम से कम एक बार, मक्के की यात्रा अवश्य कर ले। मक्के की यात्रा करने मात्र से व्यक्ति **हाजी** कहलाने लगता है और समाज में उसकी इज्जत बढ़ जाती है। प्रति वर्ष, प्रायः, लाखों लोग मक्के में एकत्र होते हैं। वे विश्व के प्रत्येक कोने से आते हैं और मिलने-जुलने के क्रम में, प्रत्येक देश की इस्लामी समस्याओं पर विचार करते हैं। इस तीर्थ-यात्रा से विश्व का इस्लामी सम्मेलन आप से आप संगठित हो जाता है और आप से आप लोग एक-दूसरे की कठिनाइयों से परिचित हो जाते हैं। इस यात्रा का बड़ा भारी राजनीतिक महत्त्व है, क्योंकि खिलाफत के टूट जाने के बाद, वही एक साधन है जिससे मुसलमान अपनी एकता कायम रखे हुए हैं।

भारत में, भ्रमवश, कभी-कभी लोग यह मान बैठते हैं कि मुसलमानों में जो 'पान-इस्लामी' राष्ट्रीयता है,वह उनके हिन्दुओं के प्रति द्वेष के कारण है। किन्तु, यह बात गलत है। पान-इस्लामी राष्ट्रीयता भारत से निकल कर बाहर नहीं गई है, अपितु, वह बाहर से ही भारत में आई है। हिन्दुओं की अपेक्षा यूरोप वालों की यह शंका कहीं अधिक सत्य है कि मुस्लिम देशों की आपसी एकता इस कारण और बढ़ी है कि वे सब देश यूरोपीय साम्राज्यवाद से आतंकित और पीड़ित रहे हैं। **वहाबी** आन्दोलन के उत्थान का एक कारण तो यह था कि इस्लाम में बहुत से बाहरी प्रभाव आ गए थे जो मौलिक इस्लाम की दृष्टि से इस्लाम के दोष थे और उन्हें दूर करना आवश्यक था। किन्तु, उसमें भी जबर्दस्त कारण यह था कि इस्लामी देश

यूरोप की अधीनता में चले गए थे, या जा रहे थे, अतएव यूरोप के साथ तुलना करने पर, मुसलमानों को अपने धार्मिक दोष स्पष्ट दिखाई दिये। इसी से वहाबी आन्दोलन मुस्लिम राज्यों के राजनीतिक एवं मुस्लिम शासकों के धार्मिक पतन के विरुद्ध पवित्रतावादी आन्दोलन बन कर खड़ा हुआ। जब भारत में सिपाही-विद्रोह हुआ तब तक तो अल्जीरिया पर फ्रांस का और कोकेसस पार के मुस्लिम राज्यों पर रूस का अधिकार स्थापित हो चुका था और सारे भारत पर अंगरेज छा चुके थे। इस स्थिति से संसार भर के मुसलमानों में यह आतंक फैल गया कि इस्लाम यूरोप की प्रभुता के नीचे जा रहा है। परिणाम यह हुआ कि संसार भर के मुसलमानों में एक प्रकार की एकता और पारस्परिक सहानुभूति बढ़ने लगी एवं **पान-इस्लामी** आन्दोलन का रुख यूरोप-विरोधी होने लगा। इस आन्दोलन की यह प्रवृत्ति तब से आज तक बरकरार रही है जिसके अनेक उदाहरण हम इकबाल की कविताओं में देख चुके हैं। यूरोप के प्रति घृणा और यूरोपीय आतंक के कारण, मुसलमानों में एकता ही सुदृढ़ नहीं हुई, बल्कि वे बगावत पर भी उतर आये एवं सन् १८७० ई० के आस-पास, संसार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक के मुसलमान एक साथ छुटपुट विद्रोह कर उठे। अलजीरिया में **कबायलों** ने बगावत की, उत्तरी अमरीका में **मुल्ले** जिहाद का प्रचार करने लगे, सूडान में **मेहदी** आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जो तब तक चलता रहा जब तक लार्ड किचनर ने खारतूम पर कब्जा नहीं किया, अफगानिस्तान में भी धार्मिक जोश सामरिक रूप लेने लागा और भारत में वहाबियों ने क्रांति कर दी। मध्य एशिया में भी मुसलमानों में बगावत फैल गई एवं **चीन के तुर्किस्तान और उनान**, दोनों ही प्रांतों के मुसलमान बागी हो उठे जिन्हें दबाने में चीनी सरकार को काफी कठिनाई हुई। ईस्ट इंडीज़ द्वीप समूहों में हालैण्ड के खिलाफ आन्दोलन आरम्भ हुआ जो अभी हाल में आकर समाप्त हुआ है जब कि वहां के लोग स्वाधीन हो गए। यह ठीक है कि इन विभिन्न देशीय आन्दोलनों में पारस्परिक सहयोग नहीं था, न वे किसी एक व्यक्ति या संस्था के नेतृत्व में उठे थे किन्तु, इस्लाम पर पाश्चात्य साम्राज्यवाद के भीतर से जो विपत्ति आई थी, उसका अनुभव सभी मुसलमानों ने किया और उनकी एकता एवं सहानुभूति इतनी प्रबल थी कि विना किसी विश्व-नेतृत्व के प्रत्येक देश में वे आप से आप यूरोप के द्रोही बन बैठे।

इस्लामी देशों में जब जाग्रति की पहली लहर उठी, तब सभी देशों के मुसलमान यह मानते थे कि यूरोप और ईसाइयत से छूटने का एकमात्र उपाय यही है कि मुसलमान दोनों की उदारता और बुद्धिवाद को ग्रहण करें। किन्तु, शीघ्र ही सभी देशों के मुसलमानों में यह भाव फैल गया कि इस्लाम को यूरोप से कुछ भी लेना नहीं है, विज्ञान और बुद्धिवाद की सारी अच्छाइयां इस्लाम में मौजूद हैं। यह पान-इस्लामी राष्ट्रीयता का सांस्कृतिक पक्ष था। यह आन्दोलन यूरोप और ईसाइयत का कैसा विरोधी है, यह पान-इस्लामी आन्दोलन के प्रबल

उन्नायक **जमालउद्दीन अफगानी** (ईरान, मृत्यु सन् १८९६ ई०) के निम्नलिखित विचारों से जाना जा सकता है :—

"ईसाई संसार राष्ट्रीयता और वांशिकता (Racialism) की दृष्टि से आपस में काफी बँटा हुआ है, किन्तु, पूर्वी जगत्, विशेषतः इस्लाम से शत्रुता करने में सभी एक हैं एवं वे सभी मुस्लिम राज्यों को विनष्ट कर देना चाहते हैं।

"ईसाइयों और मुसलमानों के बीच जो युद्ध (Crusade) चला था वह अभी तक जारी है। ईसाई दुनिया अभी भी अपने दिलों में इस्लाम से घृणा करती है। इसके प्रमाण अनेक हैं। ईसाइयों ने जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून चलाया है, उसमें मुस्लिम राज्यों का वही स्थान नहीं है जो ईसाई राज्यों का है।

"प्रत्येक देश की ईसाई जनता इस्लाम से नफरत करती है। और उसका नतीजा यह है कि सभी देशों में इस्लाम को मटियामेट करने के काम जिद के साथ किये जा रहे हैं।

"ईसाई संसार में मुसलमानों की हर आरजू, हर उमंग की हँसी उड़ाई जाती है। अपने देश में ईसाई जिस चीज को राष्ट्रीयता और देश-भक्ति कहते हैं, इस्लामी देशों में उसी चीज का नाम वे **धर्मोन्माद** देते हैं।

"इन सब बातों से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि अपने धर्म और सत्यता तथा अपने आपको विनाश से बचाने के लिए **संसार भर के मुसलमानों को आपस में एक होकर उठना ही चाहिए**। हां, इस अभियान में सफल होने के लिए मुसलमानों को यह भी चाहिए कि पश्चिम में जो उन्नति के तरीके तथा ताकत के जो भेद हैं, उन्हें वे (**मुसलमान**) सीख लें।*

पान-इस्लामी राष्ट्रीयता का मूलाधार धर्म है, यह बात मौलाना मुहम्मद अली के भी निम्नलिखित अवतरण से स्पष्ट हो जाती है। "पश्चिम में शासन-विज्ञान का सारा सिद्धांत यह है कि मनुष्यों के विभाजन का स्वाभाविक आधार वांशिकता और भूगोल है। किन्तु, पूर्वी देशों में ये विचार सत्य से दूर माने जाते हैं। पूर्वी देशों में मनुष्यों का विभाजन धर्म के आधार पर समझा जाता है। पूर्व में इकाई का रूप राष्ट्र या राज्य नहीं, मिल्लत (धर्मबन्धुता) है। यूरोप वाले समझते हैं कि यह मध्यकालीन प्रवृत्ति है, जिससे होकर गुजरे बिना इस्लाम को आधुनिकता की प्राप्ति नहीं होगी। ये कितने गलत विचार हैं। यूरोप वाले यह समझते ही नहीं कि मुसलमान धर्म को किस दृष्टि से देखते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि इस्लाम केवल धर्म ही नहीं, वह सामाजिक संगठन, संस्कृति और राष्ट्रीयता का भी एक रूप है। इस्लामी बन्धुत्व (जिसे आप चाहें तो पान-इस्लाम भी कह सकते हैं), देश-भक्ति के ही समान है, यद्यपि, दोनों में एक भेद है कि देशभक्ति के समान यह धर्म-बंधुता, कानून, रीति-रिवाज, वंश, देश या इतिहास की समानता से उद्भूत नहीं होती, बल्कि, जैसा कि हम

---

* 'द न्यू वर्ल्ड आव् इस्लाम'—लेखक—लाथ्राप स्टोडार्ड।

मानते हैं, वह सीधे परमेश्वर की देन है।"*

भारतीय राष्ट्रीयता और मुसलमान

नवोत्थान के क्रम में, भारतीय मुसलमानों के भीतर जो अनेक भाव उदित हुए, उनकी दिशा एक नहीं थी। नवोत्थान की एक शिक्षा यह थी कि इस्लाम पीड़ित, पतित और रुढ़िग्रस्त है, अतएव, यूरोपीय गुणों का अनुकरण करके हमें अपना उद्धार करना चाहिए। नवोत्थान की ही दूसरी शिक्षा यह थी कि अपने उद्धार के लिए हमें परमुखापेक्षी होने अथवा दूसरों का अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु, इस्लाम के इतिहास से ही हमें हर तरह की प्रेरणा मिल सकती है। नवोत्थान की शिक्षा यह थी कि यूरोप इस्लाम का शत्रु है एवं जहां-जहां यूरोपीय प्रभाव काम कर रहा हो, वहां मुसलमानों को सावधान रहना चाहिए। नवोत्थान से प्रेरित मुसलमान ऐसे प्रत्येक प्रभाव को संदेह से देखने लगे जो पहले यूनान से और अब यूरोप से आकर इस्लाम को विकृत बना रहा था और नवोत्थान से ही प्रेरित मुसलमान सामासिक संस्कृति के उन अंशों को दूर करने लगे जिन्हें वे इस्लाम पर हिन्दुत्व का प्रभाव समझते थे। नवोत्थान से प्रेरित मुसलमान विश्व-इस्लाम की रक्षा करने को आतुर होने लगे और उसी प्रेरणा से उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता-आन्दोलन का भी साथ दिया।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी और न हिन्दू नवोत्थान के ही इससे भिन्न परिणाम निकले थे। खोज करने पर यह बात आसानी से जानी जा सकती है कि जिस प्रकार, मुस्लिम राष्ट्रीयता (सांप्रदायिकता का एक पक्ष) की धारा मुस्लिम नवोत्थान से फूटी है, उसी प्रकार, हिन्दू-राष्ट्रीयता (सांप्रदायिकता का दूसरा पक्ष) की धारा हिन्दू-नवोत्थान से निःसृत हुई जिसके आरंभिक रूप स्वामी दयानन्द के धार्मिक आन्दोलन एवं बंकिम बाबू और डी. एल. राय के उपन्यासों और नाटकों में मौजूद थे। नवोत्थान जातियों का ध्यान अतीत की ओर ले जाता है। इससे दो परिणाम निकलते हैं। एक तो यह कि जातियों के जो अमर सत्य होते हैं उनका दुबारे जन्म हो जाता है ; दूसरा यह कि जातियां इतिहास के मिथ्या-संस्कारों से भी जा चिपकती हैं जो केवल प्राचीनता के मोहमात्र (रिवाइवलिज़्म) हैं। नवोत्थान के क्रम में जैसे हिन्दुत्व और इस्लाम के धार्मिक एवं दार्शनिक सत्य फिर से जी उठे, उसी प्रकार, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अपने-अपने पौराणिक संस्कारों की भी वृद्धि हुई जो उन्हें एक-दूसरे से अलग ले जाने की चेष्टा करते रहे हैं।

जब भारत के सामने, अंग्रेजों को हटा कर अपनी स्वतंत्र सरकार कायम करने का स्वप्न प्रकट हुआ, तब मुस्लिम नवोत्थान की क्षरित शक्तियां दो धाराओं में विभक्त हो गई। एक धारा वह थी जो सब कुछ से आंख बन्द कर के अंग्रेजों को भारत से बाहर निकाल देने

---

* द न्यू वर्ल्ड आव् इस्लाम—लेखक—लाथ्रप स्टोडार्ड।

को बेचैन थी। दूसरी वह धारा थी जो इस संशय से ग्रसित थी कि अंग्रेज गये तो हमारा क्या होगा? इस दूसरी धारा में केवल मुसलमान ही नहीं, बहुत से हिन्दू लोग भी थे। राष्ट्रीय आन्दोलन का एक लक्षण यह था कि उसमें निहित-स्वार्थ वाले धनी-मानी लोग नहीं पड़े। किन्तु, धनियों का सारा वर्ग निश्चेष्ट नहीं था; बहुत से ऐसे भी धनी थे जो हिन्दू-सभा के साथ थे, क्योंकि अंग्रेज हिन्दू-सभा से नहीं चिढ़ते थे, क्योंकि हिन्दू-सभा सांप्रदायिकता की सहायिका होने के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन पर लगाम लगाने के काम आ सकती थी। हां, इतना अवश्य हुआ कि राष्ट्रीयतावादी धारा में हिन्दू अधिक, मुसलमान कम आये। इसके विपरीत, जिस धारा में शंका थी, भय था, द्विविधा और संदेह था, प्रायः, अधिकांश मुसलमान उसी के किनारे बैठे रह गये और यही बड़ा दल, संकट आने पर, भारत-विरोधी हो गया और उसी के दबाव से भारत का विभाजन भी हुआ। अब तो इस दल के लोग भी अपने कृत्य पर पछताते हैं, किन्तु, उस समय उनकी आंखें अंधी हो गई थीं। कुछ तो नवोत्थानी संस्कार के चलते और कुछ अंग्रेजों की चाल से वे, सचमुच ही, हिन्दु-बहुमत से शंकालु और भीत हो उठे थे, एवं उनके तथाकथित लीगी नेताओं ने उन्हें जिस तरफ चलने को कहा, उस तरफ वे आंख मूंद कर चले गए। भारत-विभाजन से ऐसा दीखता है, मानों, शंका, द्विविधा और अंधकार की यह धारा जीत गई है। किन्तु, जीत अभी मानी नहीं जा सकती। पाकिस्तान में हिन्दू और हिन्दुस्तान में मुसलमान अभी भी मौजूद हैं और भारत की जो हिन्दू-मुस्लिम समस्या थी वह अब भी वर्तमान है यद्यपि अब वह एक नहीं, दो देशों में है। और यह भी स्पष्ट दीखता है कि आज भी इस समस्या का समाधान न तो मुस्लिम लीगी नीति से पाया जा सकता है, न उस नीति से जिस पर हिन्दू-सभा, जन-संघ अथवा अन्य हिन्दू सांप्रदायिक संस्थाएं चलती हैं। हमारे जानते हिन्दू-मुस्लिम समस्या का आज भी वही समाधान है जो कांग्रेस ने निकाला था, जो राष्ट्रीय मुसलमानों को सूझा था। यह समाधान है मुसलमानों के भीतर इस भाव को पुष्ट करना कि भारत उनका देश है और भारत के लिए उन्हें उसी प्रकार जीना और मरना चाहिए जिस प्रकार अन्य देशों के लोग अपने देश के लिए जीने और मरने में आगा-पीछा नहीं करते हैं। यह समाधान है मुसलमानों के हृदय की उस शंका को निर्मूल कर देना जिससे वे हिन्दुओं के बहुमत से भय खाते हैं। इस समाधान का, स्वभावतः ही, एक दूसरा पक्ष भी है जिसका संबंध हिन्दुओं से है। जब तक हम अपने इतिहास के दग्ध अंश को नहीं भूलते, हम मुसलमानों को सहज दृष्टि से देखने में असमर्थ रहेंगे। **गजनी, गौरी, औरंगजेब** और **जिना** के भूत जब तक जीते हैं, हिन्दुओं का हृदय साफ नहीं होगा। गजनी, गौरी, औरंगजेब और जिना ही नहीं, **अकबर, दारा शिकोह, बहादुरशाह, अजमल खां, अंसारी** और **आजाद** भी मुसलमान ही हैं। अजमल खां, अंसारी और आजाद की क्षणस्थायी पराजय के सारे कारण मुसलमान ही नहीं, हिन्दू भी हैं। जब चिराग की लौ पतली हो तब

जोर की हवा नहीं चलनी चाहिए। अंसारी और आजाद की विजय बहुमत की सहिष्णुता से होगी, हिन्दुओं की उदारता और संपूर्ण न्यायबुद्धि से होगी। भारत की धार्मिक एवं आनुवंशिक एकता की समस्या ऐसी नहीं है जिसका समाधान वीरता, जोश और निर्भयता से ढूंढ़ा जा सके। यह बड़ा ही नाजुक काम है। इसमें मौन हमारी जितनी सहायता करेगा, उतनी मुखरता नहीं; इसमें धीरज और शान्ति से देश का जितना भला होगा उतना आवेश और अशांति से नहीं। कोई एक निर्णय करके उस पर अड़ जाने से एकता का प्रश्न नहीं हल होगा। हमें कदम-कदम पर समझौते और सामंजस्य की खोज करनी है। और यह काम आनन-फानन भी नहीं होगा। पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमें अभी बहुत दिनों तक शांति बरतनी है, सद्‌भाव निभाना है, अमृत बोते जाना है जिससे हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक भिन्नता को भूल कर एक हो जायं। अस्तु।

मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखने के बहुत सारे काम अंग्रेजों ने किये। गदर के बाद, उनकी नीति यह थी कि "हम इस विश्वास से आंख नहीं मूंद सकते कि मुस्लिम जाति मूलतः हमारी शत्रु है। अतएव, हमें हिन्दुओं को खुश करके उन्हें अपने पक्ष में रखने की नीति अपनानी चाहिए।"* गदर के बाद ही, बम्बई के गवर्नर ने कहा था कि "रोमनों की नीति '**बांटो और राज करो**' की नीति थी। वही नीति अब हमें भी रखनी है।"† यह नीति काम में आई और जैसा कि **ग्राहम** ने लिखा है, "गदर के बाद मुसलमानों पर बादल छा गया। उन दिनों की सारी क्रूरताओं और सभी अत्याचारों की जवाबदेही उन्हीं पर थोप दी गई।"‡ भारत में साम्प्रदायिकता का यही आरंभ था। और राज्य ने जब एक बार उसे प्रश्रय दिया तब वह स्वयं भी बढ़ने लगी।

इसी स्थिति से घबरा कर सर सैयद ने मुसलमानों को राजभक्ति का पाठ पढ़ाना आरंभ किया और इस कार्य में उन्हें सफलता भी बहुत अधिक मिली। सन् १८७० ई. तक आते-आते अंग्रेजों को यह विश्वास हो गया कि अब मुसलमान हमारा साथ नहीं छोड़ेंगे। किन्तु, उस समय तक सरकार को यह विश्वास हो चला कि शिक्षित हिन्दू वर्ग धीरे-धीरे राष्ट्रीयता की ओर जा रहा है। अतएव, सरकार की नीति में अब दूसरा परिवर्तन हुआ और वह हिन्दुओं को छोड़ कर मुसलमानों की ओर झुकने लगी। अब अच्छे-अच्छे ओहदे मुसलमानों को दिये जाने लगे और हिन्दू अपनी योग्यता के भरोसे छोड़ दिये गये। हिन्दुओं में ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय भाव बढ़ता गया, त्यों त्यों अंग्रेज मुसलमानों की राजभक्ति को सुदृढ़

---

* लार्ड एलेनबरी द्वारा प्रेषित डिस्पैच में से। दे. परुलेकर लिखित 'द फ्यूचर आव इस्लाम इन इंडिया' जिल्द १, पृ. ८७४।

† एलफिंस्टन की मिनट ता. १४-५-१८५९ ई.

‡ 'लाइफ एण्ड वर्क आव् सर सैयद अहमद खां'।

रखने के लिए उन्हें अधिक से अधिक ओहदे देते गये कि तराजू के दोनों पलड़े ठीक रहें। **सर जान स्ट्राची** ने लिखा है कि "अगल-बगल इन दो विरोधी धर्मों का अस्तित्व भारत में हमारी राजनीतिक स्थिति के पक्ष में सबसे बड़ा कारण है। मुसलमानों में जो उच्च वर्ग के लोग हैं उनसे हमारी शक्ति बढ़ती है, दुर्बलता नहीं। यह वर्ग संख्या में तो अल्प है, किन्तु, उसके हित हमारे हितों से एकाकार हैं।"*

हिन्दू नवोत्थान के क्रम में बंगाल और महाराष्ट्र के नेता, तथा श्रीमती एनी बेसेंट एवं स्वामी दयानन्द हिन्दुत्व के संबंध में जो अद्भुत प्रचार कर रहे थे, उसका प्रभाव मुसलमानों पर आतंककारी हुआ हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। हिन्दुओं की राष्ट्रीय उन्नति देखकर सर सैयद खुश नहीं थे, इसका उल्लेख उनके प्रसंग में किया जा चुका है, यद्यपि, इसका कारण यह था कि वे राजभक्त थे और सरकार-विरोधी आन्दोलन उन्हें पसन्द नहीं था। हिन्दू-नवोत्थान-विषयक प्रचार मुसलमानों का विरोधी नहीं था, वह केवल हिन्दुत्व के पक्ष का आन्दोलन था, ठीक उसी प्रकार जैसे सन् १९२० ई. का खिलाफत आन्दोलन हिन्दू-विरोधी नहीं था। फिर भी, जैसे, खिलाफत का साथ देने के लिए हिन्दू भाइयों ने कांग्रेस का पीछे मजाक उड़ाया, उस प्रकार की प्रवृत्ति उन्नीसवीं सदी के अंत में मुसलमानों में भी उदित हुई।

तब सन् १९०५ ई. में **लार्ड कर्जन** ने बंगाल का, सांप्रदायिकता के आधार पर, विभाजन कर दिया। यह शैतानियत से भरी हुई चाल थी। पहले बंगाल और फिर सारा देश कर्जन के इस कृत्य से क्षुब्ध और आन्दोलित हो उठा एवं अंग्रेजों के मुस्लिम भक्त इस बात से प्रसन्न हो उठे कि अब अंग्रेजों और हिन्दुओं की असली खटपट शुरू हुई है। **इस आन्दोलन में मुसलमानों ने हिन्दुओं का साथ नहीं दिया, परिणामतः, इस आन्दोलन की भाव-धारा शुद्ध हिन्दू भाव-धारा होती गई।** इसी आन्दोलन के क्रम में देश ने स्वदेशी का व्रत लिया जिसकी टीका अंग्रेजों ने यह की कि स्वदेशी बनाने और बेचने वाले लोग तो हिन्दू हैं, अतएव, इस आन्दोलन से लाभ भी हिन्दुओं को ही होंगे। यह भी एक कारण हुआ कि मुसलमान प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन के आर्थिक पक्ष को सन्देह से देखने लगे।

लेकिन, स्वदेशी आन्दोलन के बाद, सरकार निश्चित रूप से सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने की राह पर आ गई और इस गर्हित कर्म में पहले उसे जो थोड़ा-बहुत संकोच होता था उसे भी उसने अब ताक पर धर दिया। सन् १९०६ ई. में वायसराय ने कुछ मुसलमानों को **मुस्लिम लीग** नामक संस्था स्थापित करने की अनुमति दी† तथा **मिंटो-मोर्ले**

---

* 'इंडिया, इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस।'

† कहते हैं, वायसराय की प्रेरणा से ही यह संस्था कायम हुई। (दे. माडर्न इस्लाम इन इंडिया)

रिफार्म में उसने मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र बनाने का एलान कर दिया। मिंटो-मोर्ले-रिफार्म की घोषणा के साथ यह बात स्पष्ट हो गई कि मुसलमान अब आसानी से राष्ट्रीयता की राह पर नहीं आयेंगे, और उनकी सहायता और सहयोग से अंग्रेज भारत में अपनी सत्ता बनाये रहेंगे।

आरंभ में, मुस्लिम लीग की नीति वही थी जो आदि अवस्था में कांग्रेस की रही थी। फर्क यह था कि कांग्रेस शुरू से ही जो मांगें करती थी वह सभी भारतवासियों के लिए, केवल हिन्दुओं या मुसलमानों के लिए नहीं। किन्तु, मुस्लिम लीग के प्रस्ताव 'नौकरियों में मुसलमानों के वाजिब हिस्सों, काउन्सिल में मुसलमानों के उचित प्रतिनिधित्व' एवं, अंत में, ब्रिटेन पर भक्ति दिखाने के लिए किये जाते थे। किन्तु, सभी मुसलमानों, विशेषतः निर्धन वर्ग को अंग्रेजों के लिए भक्ति नहीं थी, न वे हिन्दुओं से घृणा करते थे। घृणा का दर्शन तो बुद्धिजीवियों के धरातल पर तैयार किया जा रहा था। जनसाधारण को अभी तक उस दर्शन से कोई सरोकार नहीं था। परिणामतः, हम देखते हैं कि मुस्लिम लीग में उन दिनों कोई दम नहीं था। स्वतंत्रता-प्रेमी, साहसी और जागरूक मुस्लिम नौजवान लीग को अंग्रेजों की हां में हां भरने वालों की संस्था समझते थे और जिस व्यक्ति के पास दौलत या ओहदा नहीं था, वह अपने लिए लीग को व्यर्थ समझता था।

मिस्टर जिना लीग में सन् १९१३ ई. में आये। उसके पूर्व वे कांग्रेस में थे। किन्तु, उनके आने से भी कोई बात नहीं बदली। लीग में ऐसे-ऐसे दकियानूसी लोग भरे थे कि मिस्टर जिना को भी उन्होंने भयानक क्रान्तिकारी समझा एवं लीग में उनके आगमन से राजभक्तों का संप्रदाय घबरा उठा। अंग्रेज बहुत चाहते थे कि लीग के भीतर क्रान्तिकारी विचार नहीं आने पायें, किन्तु, उसका सुयश अवश्य बढ़े। अंग्रेजों की पहली आशा तो पूरी होती गई, किन्तु, दूसरी आशा पूरी हुई या नहीं, यह विधान की भाषा में नहीं कहा जा सकता। **सन् १९३१ ई० की गोल-मेज कांफ्रेंस के समय मुस्लिम लीग अंग्रेजों की दृष्टि में भी भारतीय मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था नहीं थी,** न उसका प्रतिनिधित्व करने के लिए कोई मुसलमान इंग्लैंड बुलाया गया था। मिस्टर जिना कांफ्रेंस में अपनी वैयक्तिक प्रसिद्धि के कारण बुलाये गये थे, क्योंकि दूसरी कांफ्रेंस में जब उनका नाम छूट गया तब सरकार ने इसका यही कारण विज्ञापित किया था कि मिस्टर जिना किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों में, भारत में आजादी की मांग जोर से की जाने लगी। श्रीमती एनी बेसेंट और लोकमान्य तिलक ने **होमरूल आन्दोलन** के द्वारा देश में काफी जाग्रति उत्पन्न कर दी। इस युद्ध में टर्की मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध लड़ रहा था। अतएव, इसकी प्रतिक्रिया भारतीय मुसलमानों पर अंग्रेजों के प्रतिकूल हो कर पड़ी और अंग्रेज भारत में जो चाल चल रहे थे वह तत्काल मद्धिम पड़ गई। राजभक्त रोकते रह गये; किन्तु, मुसलमान

आजादी की लड़ाई में हिन्दुओं का साथ देने को आगे बढ़ने लगे। इस भावना की फसल सन् १९२० ई. में गांधीजी ने काटी तथा खिलाफत और भारतीय स्वराज्य, इन दोनों उद्देश्यों को लेकर हिन्दू और मुसलमान एक हो गये एवं दोनों ने मिलकर सरकार से असहयोग का एलान कर दिया। सन् १८५७ ई. के गदर के बाद, यह दूसरा अवसर था, जब हिन्दू और मुसलमान, कंधे-से-कंधे भिड़ा कर, एक उद्देश्य की ओर अग्रसर हुए थे। किन्तु, असहयोग-आन्दोलन **चौरीचौरा** की दुर्घटना के कारण अचानक अवरुद्ध हो गया। आन्दोलन के सहसा अवरुद्ध हो जाने की प्रतिक्रिया हिन्दुओं में बहुत कुछ वैसी ही हुई जैसे युद्ध की ओर पांव बढ़ाते हुए सिपाही पर अचानक वापस हो जाने की आज्ञा से हो सकती है। किन्तु, सरकार और राजभक्त मुसलमानों ने बाकी मुसलमानों के कान में यह व्याख्या भर दी कि हिन्दू कभी भी मुस्लिम हितों के लिए अंग्रेज से नहीं लड़ेंगे। साधारणतः, ऐसी कानाफूसी का असर कौम पर नहीं हो सकता, किन्तु, इसके बाद देश में जो दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएं घटीं उनकी पृष्ठ-भूमि पर यह कानाफूसी भी सच मानी जाने लगी।

असहयोग आन्दोलन के बाद, देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की बाढ़ आ गई। सन् १९२४ ई. में **मोपला-विद्रोह** हुआ जिसका प्रधान कारण आर्थिक था, किन्तु, हिन्दुओं पर उस विद्रोह में जो अत्याचार हुए उनसे यह घटना हिन्दू-मुस्लिम-कलह का नमूना बन गई। हिन्दू हिन्दुओं को बचाने को दौड़े। मुसलमान यह कहते दौड़े कि मोपले भी मां-बाप-हीन नहीं हैं। स्मिथ ने सत्य ही लिखा है कि "जब बशीर अहमद को ठगता है तब अहमद सोचता है कि बशीर ठग है। किन्तु, जब मोतीलाल, अहमद को धोखा देता है तब अहमद समझने लगता है कि हिन्दू धोखेबाज हैं।"* मोपला-गदर के बाद, देश में कहीं-न-कहीं आग लगती ही रही और इस अगलगी को राजभक्त मुसलमान तथा अंग्रेज मजे से तापते रहे। धीरे-धीरे देश सांप्रदायिकता के भयानक चक्र में फंस गया। कांग्रेस की ओर से बड़ी-बड़ी कोशिशें हुई कि किसी प्रकार मुसलमानों से समझौता हो जाय। किन्तु, अंग्रेज जिन लोगों को मुस्लिम समाज के नेता बनाये हुए थे वे कब चाहते थे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्पन्न हो?

अंग्रेज भारत में राष्ट्रीयता को कमजोर करने के लिए सांप्रदायिकता का पोषण किस प्रकार करते थे, इस विषय की व्याख्या करते हुए स्मिथ ने लिखा है कि सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने का सरकारी ढंग यह है कि सरकार सभी अथवा अधिक से अधिक प्रश्नों पर सांप्रदायिक दृष्टि से विचार करती है तथा आग्रहपूर्वक यह संकेत देती है कि और लोग भी प्रश्नों पर ठीक इसी ढंग से विचार करें। सांप्रदायिकता फैलाने का मुख्य राजनीतिक साधन अलग-अलग निर्वाचन-क्षेत्रों की रचना है जिससे कि एक जनता अपने को अन्य से भिन्न समझती है तथा सांप्रदायिक भाषण सुनकर तथा सांप्रदायिक दृष्टि से प्रतिनिधियों का

* माडर्न इस्लाम इन इंडिया

निर्वाचन करते-करते वह पूर्ण रूप से सांप्रदायिक बन जाती है, फिर तो वह अधिकारों और सुधारों की मांग भी सांप्रदायिक दृष्टि से ही करने लगती है।*

सांप्रदायिकता को उभारने के कुछ और भी तरीके थे। उदाहरण के लिए, जो लोग तआसुब के प्रेमी और प्रचारक थे उन्हें सरकार प्यार करती थी, ओहदे और खिताब देती थी, तरक्की और ऊंची तनख्वाह देती थी। किन्तु, जो लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता के हामी और उसके लिए खटने वाले थे वे सरकार के शत्रु समझे जाते थे एवं उनकी वाजिब जगह जेल हुआ करती थी। राउण्ड टेबिल कांफ्रेंस में सरकार ने चुनचुन कर उन्हीं मुसलमानों को बुलाया जो सांप्रदायिकता से भरे हुए थे। उन दिनों, राष्ट्रीय मुस्लमानों में बड़े से बड़े लोग मौजूद थे। लेकिन, सरकार ने उन्हें तृणवत् नगण्य समझा।

हिन्दू सांप्रदायिकता से बरी थे, यह कहने का कोई अधिकार नहीं है। किन्तु, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रीय एकता में हृदय से विश्वास करने वाले अपार हिन्दुओं के सामने मुट्ठी भर सांप्रदायिक हिन्दुओं की कोई बिसात नहीं थी। मगर, सांप्रदायिकता सांक्रामक रोग है। जब एक जाति भयानक रूप से सांप्रदायिक हो उठती है तब दूसरी जाति भी अपने अस्तित्व का ध्यान करने लगती है और उसके भी भाव शुद्ध नहीं रह पाते। अच्छे से अच्छे हिन्दू को भी यदि वर्षों तक यह समझाया जाय कि मुसलमान तुम से घृणा करते हैं, तो इस जहरीले आघात से वह अविचलित नहीं रह सकता। हिन्दुओं में सांप्रदायिकता की वृद्धि इसी प्रकार हुई है। और जब हिन्दुओं में सांप्रदायिकता दिखाई पड़ी तब मुसलमानों की सांप्रदायिकता और भी बढ़ गई एवं दोनों जातियों के लोग परस्पर शत्रु हो उठे।

सन् १९३० ई. के सत्याग्रह-आन्दोलन में भी सांप्रदायिकता बहुत कमजोर पड़ गई थी और हिन्दुओं के साथ मिलकर मुसलमान इस जोर से उठे थे कि लगता था, क इस तूफान में सरकार और उसके पिट्ठू राजभक्त हिंदू और राजभक्त मुसलमान, दोनों, पत्तों के समान उड़ जायेंगे। किन्तु, सरकार बहादुर (?) ने इस आन्दोलन को भी दबा डाला। सत्याग्रह के बाद और सन् १९३७ ई. के बीच, देश में सांप्रदायिक दंगे कम हुए। बल्कि, १९३७ ई. के चुनाव में तो मुस्लिम जनता ने यह स्पष्ट बतला दिया कि मुस्लिम लीग मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था नहीं है।† हां, चुनाव के कुछ महीने बाद, जब कई प्रांतों में कांग्रेस की सरकारें बन गईं, तब उस मौके से मुस्लिम लीग ने बहुत लाभ उठाया, और अन्त

---

* माडर्न इस्लाम इन इण्डिया

† सन् १९३७ ई. के साधारण चुनाव में ७३,१९,४४५ मुस्लिम वोट गिराये गये थे जिनमें से मुस्लिम लीग को केवल ३,२१,७७२ वोट मिले थे जो कुल वोट का केवल ४.४ प्रतिशत था।

आजादी की लड़ाई में हिन्दुओं का साथ देने को आगे बढ़ने लगे। इस भावना की फसल सन् १९२० ई. में गांधीजी ने काटी तथा खिलाफत और भारतीय स्वराज्य, इन दोनों उद्देश्यों को लेकर हिन्दू और मुसलमान एक हो गये एवं दोनों ने मिलकर सरकार से असहयोग का एलान कर दिया। सन् १८५७ ई. के गदर के बाद, यह दूसरा अवसर था, जब हिन्दू और मुसलमान, कंधे-से-कंधे भिड़ा कर, एक उद्देश्य की ओर अग्रसर हुए थे। किन्तु, असहयोग-आन्दोलन चौरीचौरा की दुर्घटना के कारण अचानक अवरुद्ध हो गया। आन्दोलन के सहसा अवरुद्ध हो जाने की प्रतिक्रिया हिन्दुओं में बहुत कुछ वैसी ही हुई जैसे युद्ध की ओर पांव बढ़ाते हुए सिपाही पर अचानक वापस हो जाने की आज्ञा से हो सकती है। किन्तु, सरकार और राजभक्त मुसलमानों ने बाकी मुसलमानों के कान में यह व्याख्या भर दी कि हिन्दू कभी भी मुस्लिम हितों के लिए अंग्रेज से नहीं लड़ेंगे। साधारणतः, ऐसी कानाफूसी का असर कौम पर नहीं हो सकता, किन्तु, इसके बाद देश में जो दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएं घटीं उनकी पृष्ठ-भूमि पर यह कानाफूसी भी सच मानी जाने लगी।

असहयोग आन्दोलन के बाद, देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की बाढ़ आ गई। सन् १९२४ ई. में **मोपला-विद्रोह** हुआ जिसका प्रधान कारण आर्थिक था, किन्तु, हिन्दुओं पर उस विद्रोह में जो अत्याचार हुए उनसे यह घटना हिन्दू-मुस्लिम-कलह का नमूना बन गई। हिन्दू हिन्दुओं को बचाने को दौड़े। मुसलमान यह कहते दौड़े कि मोपले भी मां-बाप-हीन नहीं हैं। स्मिथ ने सत्य ही लिखा है कि "जब बशीर अहमद को ठगता है तब अहमद सोचता है कि बशीर ठग है। किन्तु, जब मोतीलाल, अहमद को धोखा देता है तब अहमद समझने लगता है कि हिन्दू धोखेबाज हैं।"* मोपला-गदर के बाद, देश में कहीं-न-कहीं आग लगती ही रही और इस अगलगी को राजभक्त मुसलमान तथा अंग्रेज मजे से तापते रहे। धीरे-धीरे देश सांप्रदायिकता के भयानक चक्र में फंस गया। कांग्रेस की ओर से बड़ी-बड़ी कोशिशें हुईं कि किसी प्रकार मुसलमानों से समझौता हो जाय। किन्तु, अंग्रेज जिन लोगों को मुस्लिम समाज के नेता बनाये हुए थे वे कब चाहते थे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्पन्न हो?

अंग्रेज भारत में राष्ट्रीयता को कमजोर करने के लिए सांप्रदायिकता का पोषण किस प्रकार करते थे, इस विषय की व्याख्या करते हुए स्मिथ ने लिखा है कि सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने का सरकारी ढंग यह है कि सरकार सभी अथवा अधिक से अधिक प्रश्नों पर सांप्रदायिक दृष्टि से विचार करती है तथा आग्रहपूर्वक यह संकेत देती है कि और लोग भी प्रश्नों पर ठीक इसी ढंग से विचार करें। सांप्रदायिकता फैलाने का मुख्य राजनीतिक साधन अलग-अलग निर्वाचन-क्षेत्रों की रचना है जिससे कि एक जनता अपने को अन्य से भिन्न समझती है तथा सांप्रदायिक भाषण सुनकर तथा सांप्रदायिक दृष्टि से प्रतिनिधियों का

* माडर्न इस्लाम इन इंडिया

निर्वाचन करते-करते वह पूर्ण रूप से सांप्रदायिक बन जाती है, फिर तो वह अधिकारों और सुधारों की मांग भी सांप्रदायिक दृष्टि से ही करने लगती है।*

सांप्रदायिकता को उभारने के कुछ और भी तरीके थे। उदाहरण के लिए, जो लोग तआसुब के प्रेमी और प्रचारक थे उन्हें सरकार प्यार करती थी, ओहदे और खिताब देती थी, तरक्की और ऊंची तनख्वाह देती थी। किन्तु, जो लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता के हामी और उसके लिए खटने वाले थे वे सरकार के शत्रु समझे जाते थे एवं उनकी वाजिब जगह जेल हुआ करती थी। राउण्ड टेबिल कांफ्रेंस में सरकार ने चुनचुन कर उन्हीं मुसलमानों को बुलाया जो सांप्रदायिकता से भरे हुए थे। उन दिनों, राष्ट्रीय मुस्लमानों में बड़े से बड़े लोग मौजूद थे। लेकिन, सरकार ने उन्हें तृणवत् नगण्य समझा।

हिन्दू सांप्रदायिकता से बरी थे, यह कहने का कोई अधिकार नहीं है। किन्तु, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रीय एकता में हृदय से विश्वास करने वाले अपार हिन्दुओं के सामने मुट्ठी भर सांप्रदायिक हिन्दुओं की कोई बिसात नहीं थी। मगर, सांप्रदायिकता सांक्रामक रोग है। जब एक जाति भयानक रूप से सांप्रदायिक हो उठती है तब दूसरी जाति भी अपने अस्तित्व का ध्यान करने लगती है और उसके भी भाव शुद्ध नहीं रह पाते। अच्छे से अच्छे हिन्दू को भी यदि वर्षों तक यह समझाया जाय कि मुसलमान तुम से घृणा करते हैं, तो इस जहरीले आघात से वह अविचलित नहीं रह सकता। हिन्दुओं में सांप्रदायिकता की वृद्धि इसी प्रकार हुई है। और जब हिन्दुओं में सांप्रदायिकता दिखाई पड़ी तब मुसलमानों की सांप्रदायिकता और भी बढ़ गई एवं दोनों जातियों के लोग परस्पर शत्रु हो उठे।

सन् १९३० ई. के सत्याग्रह-आन्दोलन में भी सांप्रदायिकता बहुत कमजोर पड़ गई थी और हिन्दुओं के साथ मिलकर मुसलमान इस जोर से उठे थे कि लगता था, क इस तूफान में सरकार और उसके पिट्ठू राजभक्त हिंदू और राजभक्त मुसलमान, दोनों, पत्तों के समान उड़ जायेंगे। किन्तु, सरकार बहादुर (?) ने इस आन्दोलन को भी दबा डाला। सत्याग्रह के बाद और सन् १९३७ ई. के बीच, देश में सांप्रदायिक दंगे कम हुए। बल्कि, १९३७ ई. के चुनाव में तो मुस्लिम जनता ने यह स्पष्ट बतला दिया कि मुस्लिम लीग मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था नहीं है।† हां, चुनाव के कुछ महीने बाद, जब कई प्रांतों में कांग्रेस की सरकारें बन गईं, तब उस मौके से मुस्लिम लीग ने बहुत लाभ उठाया, और अन्त

---

* माडर्न इस्लाम इन इण्डिया

† सन् १९३७ ई. के साधारण चुनाव में ७३,१९,४४५ मुस्लिम वोट गिराये गये थे जिनमें से मुस्लिम लीग को केवल ३,२१,७७२ वोट मिले थे जो कुल वोट का केवल ४.४ प्रतिशत था।

में, वह मुसलमानों को इस बहकावे का शिकार बनाने में समर्थ हो गई कि हिन्दुओं के बहु-मत-राज से मुसलमानों का संपूर्ण विनाश हो जायगा। द्वितीय महायुद्ध के आरंभ होने पर, जब बार-बार यह संभव दीखने लगा कि स्वराज्य अब आ रहा है, तब बार-बार अंग्रेजों ने घोषणाओं और वक्तव्यों के द्वारा हिन्दुओं पर यह प्रभाव डाला कि हम तो यहां इसलिए बने हुए हैं कि मुसलमान हमें चाहते हैं। इससे सांप्रदायिक तनाव और बढ़ गया एवं हिन्दुओं के हृदय पर इस कल्पना से चोट लगी कि मुसलमान ही हैं जो हमें गुलाम बनाये हुए हैं। अंग्रेजों ने जो विषवृक्ष लगाया था, वह बढ़कर तब तैयार हुआ जब अंग्रेजों की विदाई की घड़ी नजदीक आ गई। परिणाम यह हुआ कि स्वराज्य के आगमन के समय, भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों की लाशें बिछ गईं।

मुस्लिम लीग आरामतलब लोगों की कायर संस्था थी। उसके सदस्यों ने कभी कोई बलिदान नहीं किया, न जनता ही उससे प्रेम करती थी। फिर भी, इस संस्था ने मुसलमानों को आग में झोंकने का रास्ता निकाल लिया। यह आश्चर्य की बात है। उसके सबसे बड़े मददगार अंग्रेज थे और अंग्रेजों ने ठान लिया था कि यदि हमें जाना ही होगा तो हम हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे की जान का दुश्मन बना के जायेंगे। यह काम उन्होंने लीग वालों के मेल से कर दिखाया। लेकिन, कारण केवल इतना ही नहीं था। इसमें कुछ दोष भाग्य का भी था। प्रोफेसर हुमायूं कबीर ने लिखा है कि मुस्लिम लीग की अचानक बढ़ती का एक कारण यह भी था कि मुस्लिम समाज के अधिकांश राष्ट्रीय और उदार नेता, प्रायः, थोड़े ही दिनों में चल बसे।* मौलाना मुहम्मद अली कांग्रेस को छोड़ चुके थे, किन्तु, भारत में अंग्रेजी शासन के वे प्रबल विरोधी थे। वे यदि जीवित रहते तो मिस्टर जिन्ना को आगे आने का मौका नहीं मिलता। गोलमेज-कांफ्रेंस में मौलाना मुह-म्मद अली ने अंग्रेजों से गरज कर कहा था, "यदि तुम हमें आजादी नहीं देते तो तुम्हें मेरी कब्र के लिए जमीन इंग्लैंड में देनी पड़ेगी।" भगवान् ने उनकी बात सुन ली। अंग्रेज आजादी तो देना नहीं चाहते थे। भगवान् ने तत्क्षण मौलाना को अपने पास बुला लिया। कांग्रेस के दो मुख्य स्तंभ हकीम अजमलखां और डाक्टर अन्सारी थे। ये भी असमय ही उठ गये। उदार विचार के मुसलमानों में सर मुहम्मद शफी और सर फजली हुसेन का भी बड़ा नाम था। देश के दुर्भाग्य से वे भी जाते रहे। इस प्रकार, मैदान को खाली देख कर मिस्टर जिना इंग्लैंड से लौट आये† और धीरे-धीरे वे मुसलमानों के एकछत्र नेता बन बैठे।

हकीम अजमल खां और डाक्टर अंसारी तो चल बसे थे, किन्तु, कांग्रेस में तब भी मौलाना अबुल कलाम आजाद मौजूद थे और कांग्रेस-संगठन में उनका वह स्थान था जो

---

* मुस्लिम पालिटिक्स।

† एक समय जिना भारत से निराश होकर बैरिस्टरी करने को इंग्लैंड जा बसे थे।

केवल महात्मा गांधी के ही नीचे था । इस्लामी दर्शन और इस्लामी साहित्य की दृष्टि से देखें तो मौलाना आजाद का स्थान बिलकुल बेजोड़ है। उनके समान शुद्ध मुसलमान और और इस्लाम का प्रबल व्याख्याता बीसवीं सदी में कोई और हुआ है या नहीं, इसका निर्णय आसानी से नहीं किया जा सकता। केवल इस्लाम ही नहीं, अंग्रेजी के माध्यम से उन्होंने समस्त विश्व की संस्कृति, धर्म और इतिहास को समझा है। उनकी जिह्वा और लेखनी, दोनों में सरस्वती का वास है एवं हजारों की भीड़ को अपनी मुट्ठी में कर लेना उनके लिए सरल कार्य है । सांप्रदायिकता के तूफान के बीच, वे पर्वत के समान अचल और अडिग रहे एवं जब जिना के नेतृत्व में करीब-करीब सारा मुस्लिम-समाज कांग्रेस-विरोधी हो रहा था, तब कांग्रेस ने भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की आखिरी लड़ाई इसी महापुरुष के नेतृत्व में लड़ी। उन दिनों, महात्मा गांधी, मौलाना और जवाहरलाल, ये ही तीन व्यक्ति भारतीय राजनीति के बृहद्त्रयी समझे जाते थे और उसी प्रकार आज भी उनका स्थान सारे देश में बहुत ऊंचा माना जाता है ।

किन्तु, जानकार यह मानते हैं कि मौलाना साहब की शक्ति, प्रतिष्ठा, प्रताप और व्यक्तित्व का पूरा उपयोग मुसलमानों के बीच राष्ट्रीयता की धारा को पुष्ट बनाने के लिए नहीं किया जा सका। मौलाना, प्रधानतः, विद्या और विचार के प्रेमी हैं । पुस्तकें छोड़ कर गांव-गांव भटकने का काम उनसे कभी नहीं हुआ। हां, समिति और विचार-विमर्श के अवसरों पर उनके ठोस विचारों ने राष्ट्रीयता की अवश्य सहायता की है। मौलाना स्वयं दर्शन-पक्ष थे। उनका क्रिया-पक्ष बनने वाला मुसलमान उन्हें नहीं मिला। यही कारण है कि जब राष्ट्रीयतावादी बड़े-बड़े मुस्लिम नेता उठ गये और जिना साहब ने गेंद लेकर मैदान में प्रवेश किया, तब बहुत कुछ वह मैदान उन्हें खाली मिल गया। कांग्रेस मुस्लिम-संपर्क बढ़ाने की कोशिश में जब आगे बढ़ी, तब तक काफी देर हो चुकी थी और जिना साहब ने कांग्रेस की प्रवृत्ति का भी भयानक विरोध किया। किन्तु, फिर भी, यह कहना एकदम गलत है कि कांग्रेस ने सारी लड़ाइयां केवल हिन्दुओं को लेकर लड़ीं। कांग्रेस केवल हिन्दुओं की संस्था न तो पहले थी, न अब है। विशेषतः, जब-जब संघर्ष हुआ, कांग्रेस वालों में मुसलमानों की संख्या काफी वृद्धि पर आ गई। सन् १९२० ई. के आन्दोलन में तो मुस्लिम लीग वाले भी कांग्रेस के साथ थे । उसी प्रकार, नमक-सत्याग्रह के दिनों में बहुत काफी मुसलमान आजादी के लिए जेल गये। यही नहीं, बल्कि सन् १९४२ के विद्रोह में भी काफी विद्रोही मुसलमान थे। और जब सन् १९४६-४७ ई. में देश में भयानक सांप्रदायिक दंगे हुए तब दंगों की आग बुझाने वालों में केवल हिन्दू ही नहीं, बहुत से मुसलमान भी थे।

भारत का विभाजन हो जाने के कारण, ऐसा दीखता है, मानो, सारे के सारे हिन्दू और मुसलमान उन दिनों आपस में बंट गये थे तथा मुसलमानों में राष्ट्रीयता थी ही

नहीं। किन्तु, यह निष्कर्ष ठीक नहीं है। भारत का विभाजन क्षणस्थायी आवेगों के कारण हुआ और उससे यह सिद्ध नहीं होता है कि मुसलमानों में राष्ट्रीयता नहीं है। सच्ची बात यह है कि जैसे हमारी सामासिक संस्कृति की चादर अभी तक पतली और महीन है, वैसे ही मुसलमानों की राष्ट्रीयता और हिन्दुओं का मुस्लिम-प्रेम भी कुछ-कुछ क्षीण रहा है। किन्तु, राष्ट्रीय भाव मुसलमानों के भीतर है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता।

नवोत्थान से प्रेरित मुस्लिम-समाज में अनेक प्रकार के भाव जाग्रत हुए थे, किन्तु, इनमें से अधिक भाव ऐसे ही थे जिनसे स्वतंत्रता के संघर्ष को प्रेरणा मिलती थी। कुछ मुसलमान तो आजादी की लड़ाई में इसलिए आये कि वे धर्म को नहीं मानते थे, किन्तु, बहुत से ऐसे भी थे जिन्हें धर्म अत्यन्त प्रिय था, किन्तु, धर्म को जो राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता का बाधक नहीं समझते थे। इस्लाम समता और स्वतन्त्रता का धर्म है, इस विचार को मानने वाले **उलमाओं** ने आजादी की लड़ाई का खुल कर साथ दिया और उनकी नीति का दूसरे मुसलमानों पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा एवं वे भी आजादी की लड़ाई में धर्म से ही प्रेरित होकर आये। बहुत से मुसलमान ऐसे थे जिन्हें **पान-इस्लामी दर्शन** से प्रेम था। भारतीय स्वतंत्रता का एक पक्ष ऐसा भी था जिससे यूरोप का विरोध होता था तथा इस्लामी समाज के एक अंश (भारतीय) पर से गुलामी की जंजीर टूटती थी। मुस्लिम लीग की नीति ऐसे मुसलमानों को भी रोक नहीं सकी एवं इन लोगों ने भी खुल कर कांग्रेस का साथ दिया। फिर कुछ लोग ऐसे भी थे जो यह नहीं मानते थे कि कांग्रेस केवल हिन्दुओं की संस्था है क्योंकि उसमें काफी मुसलमान, सिक्ख और ईसाई लोग भी थे। अतः, ऐसे मुसलमान इस-लिए कांग्रेस में आ गये कि उनमें सत्कर्म की प्रेरणा थी और सत्कर्म का एकमात्र क्षेत्र कांग्रेस के हाथ में था।

साहित्य के अन्य रूपों से अधिक, कविता मानव समाज के अन्तर्द्वन्द्वों का अधिक सच्चा प्रतिबिम्ब होती है। मुस्लिम-समाज के पान-इस्लामी अन्तर्द्वन्द्व इकबाल की कवि-ताओं में खूब प्रतिफलित हुए हैं। किन्तु, भारतीय राष्ट्रीयता के संवेग भी मुस्लिम कवियों की रचनाओं में कम नहीं उतरे हैं। भेद यह है कि इकबाल के द्वारा चित्रित द्वन्द्व तीखे, धुंधले और गोल-मटोल हैं एवं उनकी शिक्षा यह है कि मुसलमानों को विश्व-इस्लाम का एक राज्य स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए। किन्तु, इस कल्पना में जो अव्यावहा-रिकता है उससे कोई भी मुसलमान अपरिचित नहीं है। अतएव, इकबाल की शिक्षा बाजों को दिल्ली से कराची पहुंचा देने के बाद खत्म हो जाती है; बाजों की आगे की उड़ान सिर्फ हवा में डैने फटकारने के समान है। इसके विपरीत, मुस्लिम राष्ट्रीय कवियों की कविताओं में जो भाव उतरे हैं, वे हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करने वाले भाव हैं, वे मुसलमानों के हृदय से बहुमत के आतंक को निकाल फेंकने वाले भाव हैं; ये भाव अत्यन्त सरल और

सुस्पष्ट हैं जो मुसलमानों से केवल यह कहते हैं कि भारतवर्ष तुम्हारा देश है तथा इसके लिए जीना और मरना तुम्हारा धर्म होना चाहिए।

मुसलमानों के भीतर भारतीय राष्ट्रीयता के जो भाव लहरा रहे थे, उर्दू-कविता में वे, विशेषतः, अकबर इलाहाबादी, चकबस्त, जोश मलीहाबादी, जमील मजहरी, सागर निजामी और सीमाब अकबरावादी की रचनाओं में व्यक्त हुए। सबसे बढ़कर जोश ने अपने खड़े होने के लिए वह जगह चुनी जो इकबाल के ठीक विरुद्ध पड़ती थी। विरुद्ध इस अर्थ में कि इकबाल ने धर्म का भय दिखाकर मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग करने की कोशिश की थी। जोश ने कहा, यदि धर्म बाधक है तो धर्म को छोड़ दो* लेकिन, आजादी की कोशिश छोड़ी नहीं जा सकती। इकबाल मुसलमानों का ध्यान भारत से हटाकर मक्के की ओर ले गये थे; जोश ने भारत को मुसलमानों का परम आराध्य बताया।† 'इस्लाम

* तेरी बातों से पड़ी जाती है कानों में खराश,
'कुफ्रो-ईमां कुफ्रो-ईमां', ताकुजा, खामोशबाश।
हुब्बे-ईमां जौके-हक़, खौफ़े-खुदा कुछ भी नहीं,
तेरा ईमां चन्द लहमों के सिवा कुछ भी नहीं।
तेरे झूठे कुफ्रो-ईमां को मिटा डालूंगा मैं,
हड्डियां इस कुफ्रो-ईमां की चबा डालूंगा मैं।
डाल दूंगा तर्जे-नौ अजमेर और प्रयाग में,
झोंक दूंगा कुफ्रो-ईमां को दहकती आग में।

† कब्र में रूहे-पिदर को शाद करने के लिए,
सर कटाना हिन्द को आज़ाद करने के लिए। (बेटे के नाम खत)
मजहबी इखलाक के जज्बे को ठुकराता है जो,
आदमी को आदमी का गोश्त खिलवाता है जो।
फर्ज भी कर लूं कि हिन्दू हिन्द की रुसवाई है,
लेकिन, इसको क्या करूं, फिर भी वो मेरा भाई है?
बाज आया मैं तो ऐसे मजहबी ताऊन से,
भाइयों का हाथ तर हो भाइयों के खून से।
तेरे लब पर है इराको-शामो-मिस्रो-रूमो-चीन,
लेकिन, अपने ही वतन के नाम से वाकिफ़ नहीं।
सबसे पहले मर्द बन हिन्दोस्तां के वास्ते,
हिन्द जाग उठे तो फिर सारे जहां के वास्ते। (हुब्बे-वतन और मुसलमान)

खतरे में' का नारा इतनी बार उठा था और धर्म की बातें भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम में इतनी बार बाधक हो कर आई थीं कि नौजवान अब धर्म से ही घबराने लगे थे। जोश ऐसे नौजवानों के सबसे बड़े प्रतिनिधि हुए। उन्होंने धर्म की खिल्ली उड़ानी शुरू की। पवित्रतावादी विचारों और पुरोहितों (शेख, वाइज़, सूफी) का मजाक तो उर्दू कविता में बहुत दिनों से उड़ाया जा रहा है, जोश की विशेषता यह है कि उन्होंने धर्म की निन्दा इसीलिए की कि आदमी को आदमी से समीप लाने के बदले धर्म उन्हें एक-दूसरे से दूर ले जाता है। उससे भी बड़ा कारण, शायद, यह था कि धर्म के नाम पर कुछ लोग मुसलमानों को बहकाए हुए थे। इस स्थिति से जोश में जो क्रोध जगा उसे उन्होंने यह कहकर उतारा कि धर्म सबसे तुच्छ वस्तु है।†

कुछ राष्ट्रीय हिन्दुओं और मुसलमानों की स्थिति यह रही कि अपने सामाजिक विचारों का धर्म से मेल नहीं देख कर, वे धर्म के आत्मिक बंधन से निकल गये। जोश ऐसे मुसलमानों और हिन्दुओं के सफल प्रतिनिधि कवि हैं। भारतीय एकता की समस्या का उनका समाधान यह है कि सभी धर्म उन्मूलित कर दिये जायं, समाज में पूरी आर्थिक समता स्थापित कर दी जाय तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी वैयक्तिक स्वाधीनता को लिये हुए समाज की सेवा करे।

स्पष्ट ही, जोश का समाधान मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित समाधान है। मार्क्स ने धर्म को अफीम कहा है, एवं रूस में धर्म तिरस्कृत हो गया है। अतएव, जो भारतवासी राष्ट्रीयता को अपना ईमान बना चुके थे उन्होंने जब यह देखा कि धर्म राष्ट्रीयता में बाधा डाल रहा है तब उन्हें भी मार्क्स का सहारा पसन्द आ गया और उन्होंने भी मन से धर्म को त्याज्य मान लिया। जोश इसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। मुस्लिम-समाज में सांप्रदायिकता की जो घटा छायी रही, वह जोश की दृष्टि को कभी भी मन्द नहीं बना सकी। उन पर पान-इस्लामी भावनाओं का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे शुद्ध अन्तःकरण से राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक और भारत के तरफदार रहे हैं। उनकी अनुभूतियों में इतना जोर है कि उन्हें हम कृत्रिम तो किसी प्रकार बता ही नहीं सकते। और ये सच्ची अनुभूतियां जोरदार इसलिए हुई हैं कि उनका मूल मुस्लिम-जनता के हृदय में गड़ा हुआ है।

---

†उंगलियां उठ्ठेंगी दुनिया में तेरी औलाद पर,
गलगला होगा वो आते हैं रज़ालत के पिसर।
आयेगा तारीख का जिस वक्त जुम्बिश में कलम,
कब्र तेरी दे उठेगी लौ, जहन्नुम की कसम। (गद्दार से खिताब)
इस तरह इन्सान और शिद्दत करे इन्सान पर,
तुफ है तेरे दीन पर, लानत तेरे ईमान पर। (मक़तले-कानपुर)

मुस्लिम सांप्रदायिकता से दुःखी रहने वाले भारतीयों के लिए जोश की कविता में बड़ा भारी आश्वासन है; भारतीय एकता के लिए संघर्ष करने वाले हिन्दुस्तानियों के लिए उनकी कविताओं में आशा और उल्लास के मंत्र हैं। जोश की कविताएं इस बात का प्रमाण हैं कि मुस्लिम समाज के भीतर राष्ट्रीयता के प्रबल भाव मौजूद हैं और परिश्रम तथा सावधानता से सींचे जाने पर ये भाव अब भी अपना चमत्कार दिखा सकते हैं।

उर्दू में जो काम जोश ने किया, बंगला में ठीक वही तो नहीं किन्तु, कुछ वैसे ही काम **काजी नजरुल इस्लाम** ने किये। नजरुल भारतीय विद्रोह की पहली वाणी होकर आये। जोश ने उत्तर भारत में जब क्रान्ति का शंख फूंका, उसके पूर्व ही, बंगाल में नजरुल की अग्नि-वीणा के स्वर प्रदाह फैला चुके थे। नजरुल ने एकता-एकता की चीख कम मचाई है। धर्मांध लोगों पर उन्होंने प्रहार भी कम ही किये हैं। ईश्वर और देवताओं का मजाक तो उन्होंने भी उड़ाया है, किन्तु, वह केवल क्रान्ति के जोश में आकर। सौम्य मुद्रा में आने पर वे धर्म से अधिक दूर नहीं दीखते। उनकी शिक्षा-दीक्षा हिन्दू-संस्कारों से पूर्ण थी, अतएव, कविताओं में वे हिन्दू आख्यानों, हिन्दू अलंकारों और चित्रों तथा हिन्दू-परंपराओं को ही लेकर चले। यह ठीक वैसा ही हुआ जैसे उर्दू के हिन्दू कवि अरब और ईरान की परंपराओं को लेकर अपनी बात कहते हैं। उर्दू में अनेक कवि हुए हैं जो भारतीय राष्ट्रीयता और इस्लाम के उत्थान में कोई विरोध नहीं देखते थे। ऐसे दो-एक भाव नजरुल में भी मिलते हैं,* किन्तु, उनसे उनकी सांप्रदायिकता नहीं टपकती, वे तो केवल मुसलमानों को अपने अतीत की याद दिला कर जगाना चाहते हैं।

सांप्रदायिक दंगों से जैसे देश की राष्ट्रीय जनता दुःखी थी, उसी प्रकार हमारे राष्ट्रीय कवि भी दुःखी रहे। यह दुःख जोश और नजरुल दोनों में प्रत्यक्ष मिलता है। फर्क यह है कि नजरुल दंगों में देश की शारीरिक जाग्रति का रूपक देखते हैं और समझते हैं कि इसके बाद देश का मन भी जगेगा।† हलाहल जब निकल चुका है, तब कभी अमृत भी बाहर आयेगा।

---

* **बाजिछे दामामा, बांध रे अमामा, सिर ऊंच करि मुसलमान।**
दावत एसेछे नया जमानार भांगा केल्लाय उड़े निशान। (नजरुल)

(दमामा बज रहा है। ओ मुसलमानों! मस्तक ऊंचा करके अमामा बांधो। नये ज़माने का निमंत्रण आ चुका है। तुम्हें अपने टूटे किले पर पताका फहरानी है।)

† **मा भैः! मा भैः! एतो दिने बूझि जागिलो भारते प्राण,**
सजीव होइया उठियाछे आज श्मशान-गोरस्थान।

× × ×

खालेद आवार धरियाछे असि, अर्जुन छोड़े बाण
जेगेछे भारत, धरियाछे लाठी हिन्दू-मुसलमान।

भगवान करे कि कवि की यह वाणी अब भी सफल हो जाय।

जमील मजहरी धर्म के बन्धन को स्वीकार करते हैं। किन्तु, उनका इस्लाम उनकी राष्ट्रीयता का बाधक नहीं है। उलटे, वे मुसलमानों को मुसलमान रहते हुए भी, दूर से आंखें फिरा कर हिमालय की उपासना का संदेश देते हैं।* उर्दू भाषा पर विदेशीपन का जो इलजाम है उसे भी जमील सत्य मानते हैं एवं उनका विचार है कि उर्दू भाषा भी भारत-माता की बेटी है, अतएव, उसके आभूषण भी भारतीय होने चाहिएं।†

सागर निजामी, वैसे तो, मस्ती और सौंदर्य के कवि हैं किन्तु, राष्ट्रीयता के भाव उनमें बड़े ही ज़ोर से लहराते हैं। जमील और जोश के समान, वे भी भारत को अपनी जन्म-भूमि एवं उसके लिए मर-मिटने को अपना कर्त्तव्य समझते हैं।‡ प्रमाण ढूंढ़ा जाय तो

उठिवे अमत, देरी नाई आर, उठियाछे हलाहल।

(नजरुल-कृत संचिता से)

(डरो मत ! डरो मत ! बहुत दिनों के बाद भारत में प्राण आया है। श्मशान और कब्र-स्थान, दोनों सजीव हो उठे हैं। खालेद ने फिर तलवार पकड़ी है, अर्जुन फिर बाण छोड़ रहा है। भारत जग उठा है और हिन्दू तथा मुसलमान लाठी लेकर खड़े हैं। ····अमृत भी आयेगा। अब विलम्ब नहीं है। हलाहल तो ऊपर आ चुका है।)

* **बिरादराने नौजवां, बढ़े चलो, बढ़े चलो।**
झुके न हिन्द का निशां, बढ़े चलो, बढ़े चलो।
जो अक्ल राह रोक दे तो दामन उसका छोड़ दो,
जो मजहब आके टोक दे तो उसकी कैद तोड़ दो।
जवां हो दर से जंग लो, सलामे-मौजे-गंग लो,
नजर फिरा लो तूर से, बुला रही हैं दूर से,
हिमालया की चोटियां, बढ़े चलो, बढ़े चलो। (जमील मजहरी)

† **कीजे न जमील उर्दू का सिंगार, अब ईरानी तलमीहों से,**
पहनेगी बिदेसी गहने क्यों यह बेटी भारत-माता की ?
(जमील मजहरी)

‡ **तेरी हस्ती हिमालय की चोटी बनी, माहो-खुर्शीद की उसपै बिन्दी लगी,**
अजमते-जिन्दगी की कसम है हमें, तेरी इज्जत पै सर तक कटा देंगे हम।
आंख उठा के जो देखा किसी ने तुझे, छावनी अपनी लाशों की छा देंगे हम।
(सागर निजामी)

अख्तर शीरानी की भी एक कविता में राष्ट्रीयता के निश्छल भाव सुस्पष्ट हैं।* वे भी अपने देश को गुलामी से आजाद करने में देशवासियों का गौरव मानते हैं।

मुस्लिम कवियों की नवीनतम पीढ़ी ऐसी आई है जिस पर मार्क्स का अधिक प्रभाव है, जो अर्थशास्त्र को कला की दृष्टि से देखना चाहती है, जिसका एकता का समाधान बिलकुल वही है जो जोश का समाधान था।† ये कवि गाय, बाजा, धर्म, ईमान इनमें से किसी की भी चर्चा नहीं करते अथवा करते भी हैं तो मनुष्यों की मध्यकालीन आदतों का मजाक उड़ाने के लिए। इनका मानसिक क्षितिज खूब विस्तीर्ण एवं हृदय बड़ा ही

---

* वतन और कौम की सौ जान से खिदमत करेगा यह,
खुदा की और खुदा के हुक्म की इज्जत करेगा यह।
वतन की जंगे-आजादी में जिसने सर कटाया है,
ये उस शैदाये-मिल्लत बाप का पुरजोश बेटा है।
वतन के नाम पर इक रोज यह तलवार उठायेगा,
वतन के दुश्मनों को कुंजे-तुरबत में सुलायेगा।
(मेरा नन्हां जवां होगा; अख्तर शीरानी)

वतन में मुझको जीना है, वतन में मुझको मरना है,
वतन पर ज़िन्दगी को एक दिन कुरबान करना है।
(सीमाब अकबराबादी)

† कलेजा फुंक रहा है और ज़ुबां कहने से आरी है,
बताऊं क्या तुम्हें, क्या चीज यह सरमायेदारी है।
यह अपने हाथ में तहज़ीब का फानूस लेती है,
मगर मजदूर के तन से लहू तक चूस लेती है।
यह अक्सर लूटकर मासूम इंसानों की राहों में,
खुदा के जमजमे गाती है छिपकर खानकाहों में।
मुबारक दोस्तो! लबरेज है अब इसका पैमाना,
उठाओ आंधियां! कमजोर है बुनियादे-काशाना (मजाज)

एक शहन्शाह ने दौलत का सहारा लेकर
हम ग़रीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक।
(ताजमहल; साहिर लुधियानवी)

मुफलिसी हिर्से-लताफत को मिटा देती है,
भूख आदाब के सांचों में नहीं ढल सकती। (साहिर)

उदार है। सौभाग्य से यह भावधारा हिन्दी में भी ज़ोर से फैली है। यह इस बात का प्रमाण है कि भारत में एक नई मानवता का जन्म हो रहा है। यह नया मनुष्य परिश्रम को परमेश्वर और परिश्रमी व्यक्ति को समाज का सरदार मानता है। वह मंदिर और मस्जिद गये बिना ही धार्मिक तथा दाढ़ी और चन्दन से विहीन होने पर भी पवित्र है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि यह पीढ़ी आधिभौतिकता की संतान है किन्तु, आधिभौतिकता के अभिशापों से भी ये भारतीय कवि अपरिचित नहीं हैं। यहां के कवियों में बार-बार यह अनुभूति बोल उठती है कि विज्ञान और बुद्धिवाद ठीक हैं, किन्तु वे ही सब कुछ नहीं हैं। कुछ सहज सहानुभूति की भी महिमा मानी जानी चाहिए। इकबाल ने दिल और दिमाग में से दिल को तरज़ीह दी थी। वह अनुभूति अब भी हमारे साथ है। यह आशा की ज्योति है। लक्षण ये दिखाई देते हैं कि भारत में धर्म भी नया रूप लेगा। वह धर्म ईश्वरहीन भले ही हो, किन्तु, वह सामाजिक न्याय एवं मनुष्य-मनुष्य के बीच समता तथा सौहार्द स्थापित करने वाला होगा। मार्क्सवादी प्रयोगों से संसार को कुछ निराशा हुई है। वह निराशा भारत में दूर हो जायगी।

परिशिष्ट

परिशिष्ट—क.

संस्कृति है क्या ?

संस्कृति ऐसी चीज है जिसे लक्षणों से तो हम जान सकते हैं, किन्तु, उसकी परिभाषा नहीं दे सकते। कुछ अंशों में वह सभ्यता से भिन्न गुण है। अंग्रेज़ी में कहावत है कि सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है। मोटर, महल, सड़क, हवाई जहाज, पोशाक और अच्छा भोजन ये तथा इनके समान सारी अन्य स्थूल वस्तुएं, संस्कृति नहीं, सभ्यता के सामान हैं। मगर, पोशाक पहनने और भोजन करने में जो कला है वह संस्कृति की चीज है। इसी प्रकार, मोटर बनाने और उसका उपयोग करने, महलों के निर्माण में रुचि का परिचय देने और सड़कों तथा हवाई जहाजों की रचना में जो ज्ञान लगता है, उसे अर्जित करने में संस्कृति अपने को व्यक्त करती है। हर सुसभ्य आदमी सुसंस्कृत ही होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अच्छी पोशाक पहनने वाला आदमी भी तबीयत से नंगा हो सकता है और तबीयत से नंगा होना संस्कृति के खिलाफ बात है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि हर सुसंस्कृत आदमी सभ्य भी होता है, क्योंकि सभ्यता की पहचान सुख-सुविधा और ठाट-बाट है। मगर, बहुत से ऐसे लोग हैं जो सड़े-गले झोंपड़ों में रहते हैं, जिनके पास काफी कपड़े भी नहीं होते और न कपड़े पहनने के अच्छे ढंग ही उन्हें मालूम होते हैं, लेकिन फिर भी उनमें विनय और सदाचार होता है, वे दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं तथा दूसरों का दुःख दूर करने के लिए वे खुद मुसीबत उठाने को भी तैयार रहते हैं।

छोटा नागपुर की आदिवासी जनता पूर्णरूप से सभ्य तो नहीं कही जा सकती; क्योंकि सभ्यता के बड़े-बड़े उपकरण उसके पास नहीं हैं, लेकिन दया-माया, सचाई और सदाचार उसमें कम नहीं है। अतएव, उसे सुसंस्कृत समझने में कोई उज्र नहीं होना चाहिए। प्राचीन भारत में ऋषिगण जंगलों में रहते थे और जंगलों में वे कोठे और महल बनाकर नहीं रहते थे। फूस की झोंपड़ियों में वास करना, जंगल के जीवों से दोस्ती और प्यार करना, किसी भी मोटे काम को अपने हाथ से करने में हिचकिचाहट नहीं दिखाना, पत्तों में खाना और मिट्टी के बर्तनों में रसोई पकाना, यही उनकी जिन्दगी थी। और ये लक्षण आज की यूरोपीय परिभाषा के अनुसार सभ्यता के लक्षण नहीं माने जाते हैं। फिर भी वे ऋषिगण सुसंस्कृत ही नहीं थे, बल्कि, वे हमारी जाति की संस्कृति का निर्माण करते थे। सभ्यता और संस्कृति में यह एक मौलिक भेद है जिसे समझे विना हमें कहीं-कहीं कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है।

मगर, यह कठिनाई कहीं-कहीं ही आती है। साधारण नियम यही है कि संस्कृति और सभ्यता की प्रगति अधिकतर, एक साथ होती है और दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव भी पड़ता रहता है। उदाहरण के लिए, हम जब कोई घर बनाने लगते हैं, तब, स्थूलरूप से यह सभ्यता का कार्य होता है। मगर, हम घर का कौन-सा नक्शा पसन्द करते हैं, इसका निर्णय हमारी सांस्कृतिक रुचि करती है। और, संस्कृति की प्रेरणा से हम जैसा घर बनाते हैं, वह फिर हमारी सभ्यता का अंग बन जाता है। इस प्रकार, सभ्यता का संस्कृति पर और संस्कृति का सभ्यता पर पड़नेवाले प्रभाव का क्रम निरन्तर चलता ही रहता है।

यहीं एक यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि संस्कृति और प्रकृति में भी भेद है। गुस्सा करना मनुष्य की प्रकृति है, लोभ में पड़ना उसका स्वभाव है; ईर्ष्या, मोह, राग, द्वेष, और कामवासना, ये सब के सब प्रकृति-दत्त गुण हैं। मगर, प्रकृति के ये गुण अगर बेरोक छोड़ दिये जाएं तो आदमी और जानवर में कोई भेद नहीं रह जाय। इसलिए, मनुष्य प्रकृति के इन आवेगों पर रोक लगाता है और कोशिश करता है कि वह गुस्से के बस में नहीं, बल्कि, गुस्सा ही उसके बस में रहे; वह लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष और कामवासना का गुलाम नहीं, बल्कि, ये दुर्गुण ही उसके गुलाम रहें। और इन दुर्गुणों पर आदमी जितना विजयी होता है, उसकी संस्कृति भी उतनी ही ऊंची समझी जाती है।

निष्कर्ष यह कि संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज़ होती है। यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगन्ध। और सभ्यता की अपेक्षा यह टिकाऊ भी अधिक है, क्योंकि सभ्यता की सामग्रियां टूट-फूटकर विनष्ट हो सकती हैं, लेकिन, संस्कृति का विनाश उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता।

एक बात और है कि सभ्यता के उपकरण जल्दी से बटोरे भी जा सकते हैं, मगर, उनके उपयोग के लिए जो उपयुक्त संस्कृति चाहिए वह तुरन्त नहीं आ सकती। जो आदमी अचानक धनी हो जाता है या एक-ब-एक किसी ऊंचे पद पर पहुंच जाता है उसे चिढ़ाने के लिए अंगरेजी में एक शब्द 'अपस्टार्ट' है। 'अपस्टार्ट' को लोग बुरा समझते हैं और इसलिए नहीं बुरा समझते हैं कि अचानक धनी हो जाना या एक-ब-एक ऊंचे पद पर पहुंच जाना कोई बुरी बात है, मगर, इसलिए कि धनियों तथा ऊंचे ओहदेवालों की जो संस्कृति है वह तुरन्त सीखी नहीं जा सकती। इसलिए, ऊंचे ओहदे पर पहुंचा हुआ व्यक्ति यदि पहले से अधिक विनयशील नहीं हो जाय तो वह चिढ़ाने लायक हो जाता है।

संस्कृति ऐसी चीज नहीं कि जिसकी रचना दस-बीस या सौ-पचास वर्षों में की जा सकती हो। अनेक शताब्दियों तक एक समाज के लोग जिस तरह खाते-पीते, रहते-सहते, पढ़ते-लिखते, सोचते-समझते और राज-काज चलाते अथवा धर्म-कर्म करते हैं, उन सभी कार्यों से उनकी संस्कृति उत्पन्न होती है। हम जो कुछ भी करते हैं उसमें हमारी संस्कृति की झलक

होती है; यहां तक कि हमारे उठने-बैठने, पहनने-ओढ़ने, घूमने-फिरने और रोने-हंसने में भी हमारी संस्कृति की पहचान होती है, यद्यपि हमारा कोई भी एक काम हमारी संस्कृति का पर्याय नहीं बन सकता। असल में, संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियां से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए, जिस समाज में हम पैदा हुए हैं, अथवा जिस समाज से मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए, संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है। यही नहीं, बल्कि, संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मान्तर तक करती है। अपने यहां एक साधारण कहावत है कि जिसका जैसा संस्कार है, उसका वैसा ही पुनर्जन्म भी होता है। जब हम किसी बालक या बालिका को बहुत तेज पाते हैं तब हम अचानक कह उठते है कि यह पूर्वजन्म का संस्कार है। संस्कार या संस्कृति, असल में, शरीर का नहीं, आत्मा का गुण है और जबकि सभ्यता की सामग्रियों से हमारा संबन्ध शरीर के साथ ही छूट जाता है, तब भी हमारी संस्कृति का प्रभाव हमारी आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है।

आदिकाल से हमारे लिए जो लोक-काव्य और दर्शन रचते आये हैं, चित्र और मूर्ति बनाते आये हैं, वे हमारी संस्कृति के रचयिता है। आदिकाल से हम जिस-जिस रूप में शासन चलाते आये हैं, पूजा करते आये हैं, मन्दिर और मकान बनाते आये हैं, नाटक और अभिनय करते आये हैं, बरतन और घर के दूसरे सामान बनाते आये हैं, कपड़े और जेवर पहनते आये हैं, शादी और श्राद्ध करते आये हैं, पर्व और त्योहार मनाते आये हैं अथवा परिवार, पड़ोसी और संसार से दोस्ती या दुश्मनी का जो भी सलूक करते आये हैं, वह सब-का-सब हमारी संस्कृति का ही अंश है। संस्कृति के उपकरण हमारे पुस्तकालय और संग्रहालय (म्यूजियम), नाटकशाला और सिनेमागृह ही नहीं, बल्कि, हमारे राजनीतिक और आर्थिक संगठन भी होते हैं, क्योंकि उनपर भी हमारी रुचि और चरित्र की छाप लगी होती है।

संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। जब कि दो देश वाणिज्य-व्यापार अथवा शत्रुता या मित्रता के कारण आपस में मिलते हैं तब उनकी संस्कृतियां एक-दूसरे को प्रभावित करने लगती हैं, ठीक उसी प्रकार, जैसे दो व्यक्तियों की संगति का प्रभाव दोनों पर पड़ता है। संसार में, शायद ही ऐसा कोई देश हो जो यह दावा कर सके कि उसपर किसी अन्य देश की संस्कृति का प्रभाव नहीं पड़ा है। इसी प्रकार, कोई जाति भी यह नहीं कह सकती कि उस पर किसी दूसरी जाति का प्रभाव नहीं है।

जो जाति केवल देना ही जानती है, लेना कुछ नहीं, उसकी संस्कृति का एक-न-एक दिन दिवाला निकल जाता है। इसके विपरीत, जिस जलाशय के पानी लाने वाले दरवाजे बराबर खुले रहते हैं, उसकी संस्कृति कभी नहीं सूखती। उसमें सदा ही स्वच्छ जल लहराता रहता है और कमल के फूल खिलते रहते हैं। कूपमण्डूकता और दुनिया से रूठ कर अलग बैठने का भाव संस्कृति को ले डूबता है। अक्सर देखा जाता है कि जब हम एक भाषा में किसी अद्भुत कला को विकसित होते देखते हैं तब तुरन्त पास-पड़ोस या सम्पर्कवाली दूसरी भाषा में हम उसके उत्स की खोज करने लगते हैं। पहले एक भाषा में 'शेली' और 'कीट्स' पैदा होते हैं, तब दूसरी भाषा में रवीन्द्र उत्पन्न होते हैं। पहले एक देश में बुद्ध पैदा होते हैं, तब दूसरे देश में ईसामसीह का जन्म होता है। अगर मुसलमान इस देश में नहीं आये होते तो उर्दू भाषा का जन्म नहीं होता, और न मोगल-कलम की चित्रकारी ही यहां पैदा हुई होती। अगर यूरोप से भारत का सम्पर्क नहीं हुआ होता तो भारत की विचारधारा पर विज्ञान का प्रभाव देर से पड़ता और राममोहनराय, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और गांधी में से कोई भी सुधारक उस समय जन्म नहीं लेते जिस समय उनका जन्म हुआ। जब भी दो जातियां मिलती हैं, उनके सम्पर्क या संघर्ष से ज़िन्दगी की एक नई धारा फूट निकलती है जिसका प्रभाव दोनों पर पड़ता है। आदान-प्रदान की प्रक्रिया संस्कृति की जान है और इसी के सहारे वह अपने को ज़िन्दा रखती है।

केवल चित्र, कविता, मूर्ति, मकान और पोशाक पर ही नहीं, सांस्कृतिक सम्पर्क का प्रभाव दर्शन और विचार पर भी पड़ता है। एक देश में जो दार्शनिक और महात्मा उत्पन्न होते हैं, उनकी आवाज दूसरे देशों में भी मिलते-जुलते दार्शनिकों और महात्माओं को जन्म देती है। एक देश में जो धर्म खड़ा होता है, वह दूसरे देशों के धर्मों को भी बहुत-कुछ बदल देता है। यही नहीं, बल्कि, प्राचीन जगत में तो बहुत से ऐसे देवी-देवता भी मिलते हैं जो कई जातियों के संस्कारों से निकल कर एक जगह जमा हुए हैं। एक जाति का धार्मिक रिवाज दूसरी जाति का रिवाज बन जाता है और एक देश की आदत दूसरे देश के लोगों की आदत में समा जाती है। अतएव, सांस्कृतिक दृष्टि से वह देश और वह जाति अधिक शक्तिशालिनी और महान् समझी जानी चाहिए जिसने विश्व के अधिक-से-अधिक देशों, अधिक-से-अधिक जातियों की संस्कृतियों को अपने भीतर जज्ब करके, उन्हें पचा करके, बड़े-से-बड़े समन्वय को उत्पन्न किया है। भारत देश और भारतीय जाति इस दृष्टि से संसार में सबसे महान् है क्योंकि यहां की सामासिक संस्कृति में अधिक-से-अधिक जातियों की संस्कृतियां पची हुई हैं।

परिशिष्ट—ख.

भारत एक है

अक्सर कहा जाता है कि भारतवर्ष की एकता उसकी विविधताओं में छिपी हुई है और यह बात ज़रा भी गलत नहीं है; क्योंकि अपने देश की एकता जितनी प्रकट है, उसकी विविधताएँ भी उतनी ही प्रत्यक्ष हैं।

भारतवर्ष के नक्शे को ध्यान से देखने पर यह साफ दिखाई पड़ता है कि इस देश के तीन भाग प्राकृतिक दृष्टि से बिल्कुल स्पष्ट हैं। सबसे पहले तो भारत का उत्तरी भाग है जो लगभग हिमालय के दक्षिण से लेकर विन्ध्याचल के उत्तर तक फैला हुआ है। उसके बाद, विन्ध्य से लेकर कृष्णा नदी के उत्तर तक का वह भाग है, जिसे हम दक्खिनी प्लेटो कहते हैं। इस प्लेटो के दक्षिण, कृष्णा नदी से लेकर, कुमारी अन्तरीप तक का जो भाग है, वह प्राय-द्वीप जैसा है। अचरज की बात है कि प्रकृति ने भारत के जो ये तीन खंड किये हैं, वे ही खंड भारतवर्ष के इतिहास के भी तीन क्रीड़ास्थल रहे हैं। पुराने समय में उत्तर भारत में जो राज्य कायम किये गए, उनमें से अधिकांश विंध्य की उत्तरी सीमा तक ही फैल कर रह गये। विंध्य को लांघ कर उत्तर भारत को दक्षिण भारत से मिलाने की कोशिशें तो बहुत की गईं, मगर, इस काम में कामयाबी किसी-किसी को ही मिली। कहते हैं, पहले-पहल अगस्त्य ऋषि ने विन्ध्याचल को पार करके दक्षिण के लोगों को अपना संदेश सुनाया था। फिर भगवान श्री रामचंद्र ने लंका पर चढ़ाई करने के सिलसिले में विन्ध्याचल को पार किया। महाभारत के जमाने में उत्तरी और दक्षिणी भारत के अंश एक राज्य के अधीन थे या नहीं, इसका कोई पक्का सबूत नहीं मिलता। लेकिन, रामचन्द्र जी ने उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच जो एकता स्थापित की, वह महाभारत-काल में भी कायम थी और दोनों भागों के लोग आपस में मिलते-जुलते रहते थे। महाराज युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में दक्षिण के राजे भी आये थे और कुरुक्षेत्र के मैदान में जो महायुद्ध हुआ था, उसमें भी दक्षिण के वीरों ने हिस्सा लिया था, इसका प्रमाण महाभारत में ही मौजूद है। इसी तरह चन्द्रगुप्त, अशोक, विक्रमादित्य और उनके बाद मोगलों ने भी इस बात के लिए बड़ी कोशिश की कि किसी तरह सारा देश एक शासन के अधीन लाया जा सके, और उन्हें इस कार्य में सफलता भी मिली। लेकिन, भारत के इतिहास की एक शिक्षा यह भी है कि इस देश को एक रखने के काम में यहां के राजाओं को जो भी सफलता मिली, वह ज्यादा टिकाऊ नहीं हो सकी। इस देश के प्राकृतिक ढांचे में ही कोई ऐसी बात थी, जो सारे देश को एक रहने देने के खिलाफ पड़ती थी। यही

कारण था कि जब भी कोई बलवान् और दूरदर्शी राजा इस काम में लगा, सफलता थोड़ी-बहुत उसे जरूर मिली, लेकिन, स्वार्थी, अदूरदर्शी और कमज़ोर राजाओं के आते ही देश की एकता टूट गई। और जो कठिनाई विन्ध्य के उत्तर को विन्ध्य के दक्षिण से मिलाने में हुई, वही कठिनाई कृष्णा नदी से उत्तर के भाग को उसके दक्षिण के भाग से मिला कर एक रखने में होती रही।

इस देश में वैर-फूट का यह भाव इतना प्रबल क्यों रहा, इसके भी कारण हैं। बड़ी-बड़ी नदियों और बड़े-बड़े पहाड़ों के गुण अनेक हैं, लेकिन उनमें एक अवगुण भी होता है कि वे जहाँ रहते हैं वहाँ देश के भीतर अलग-अलग क्षेत्र बना देते हैं और इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के भीतर एक तरह की प्रांतीयता या क्षेत्रीय जोश पैदा हो जाता है। पहाड़ों और नदियों ने भारत को भीतर से काट कर उसके अनेक क्षेत्र बना दिये और संयोग की बात है कि कई क्षेत्रों में ऐसी जनता का जमघट हो गया, जो कोई एक क्षेत्रीय भाषा बोलने वाली थी। इसके सिवा, यह देश है भी बहुत विशाल। इसके उत्तरी छोर पर काश्मीर पड़ता है जिसकी जलवायु लगभग मध्य एशिया की जलवायु के समान है। इसके विपरीत भारत के दक्षिणी छोर पर कुमारी अन्तरीप है जहां के घरों की रचना और लोगों के रंग-रूप आदि में श्रीलंका या सीलोन का नमूना शुरू हो जाता है। चेरापूंजी भी इसी देश में है जहां साल में ५०० इंच से अधिक वर्षा होती है, और थार की मरुभूमि भी यहीं है जहां वर्षा होती ही नहीं अथवा नाममात्र को होती है।

धरती की रूपरेखा और जलवायु का प्रभाव उस पर बसने वाले लोगों के शरीर और मस्तिष्क दोनों पर पड़ता है। पहाड़ और रेगिस्तान की ज़िन्दगी जरा मुश्किल होती है। यही कारण है कि उनमें बसने वाले लोग आज़ाद तबियत के होते हैं क्योंकि प्रकृति की कठिनाइयों को झेलते-झेलते उनका शरीर कड़ा और मन साहसी एवं निर्भीक हो जाता है। भारतीय इतिहास में मराठों और राजपूतों की वीरता जो इतनी प्रसिद्ध हुई, उसका एक कारण यह भी है कि बचपन से ही मराठों को पहाड़ी तथा राजपूतों को पहाड़ी और रेगिस्तानी, दोनों ही प्रकार के जीवन से संघर्ष करने का मौका हासिल था। इसके विपरीत, नदियों के पठारों में रहने वाले लोग, किसान-तबियत के हो जाते हैं; क्योंकि पठार की भूमि उपजाऊ होती है और वहां रहने वालों को जीने के लिए ज्यादा मेहनत करने की जरूरत नहीं होती। यही कारण है कि बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश के किसान वैसे तगड़े नहीं होते जैसे राजस्थान के राजपूत या उत्तर पश्चिमी भारत के औसत सिक्ख और पठान लोग होते हैं।

जलवायु एवं क्षेत्रीय सुविधा के अनुसार ही लोगों के पहनावे-ओढ़ावे और खान-पान में भी भेद हो जाता है, जो भेद भारत में बहुत ही प्रत्यक्ष है। असल में, इन भेदों को मिटा

कर अगर हम कोई एक राष्ट्रीय ढंग चलाना चाहें तो उससे अनेक लोगों को बहुत ज्यादा तकलीफ हो जायेगी। उदाहरण के लिए अगर हम रोटी और उड़द की दाल अथवा रोटी और मांस को देश का राष्ट्रीय भोजन बना दें, तो पंजाबी लोग तो मजे में रहेंगे; लेकिन बिहार और बंगाल के लोगों का हाल बुरा हो जायेगा। इसी तरह, अगर हम यह कानून बना दें कि हर हिन्दुस्तानी को चप्पल पहनना ही होगा तो काश्मीर के लोग घबरा उठेंगे, क्योंकि पहाड़ पर चलनेवालों के पाँवों में चप्पल ठीक-ठीक नहीं चल सकते। पहनावे-ओढ़ावे में भी जगह-जगह भिन्नता मिलती है और पोशाकें भी जलवायु एवं क्षेत्रीय सुविधा के अनुसार ही यहां तरह-तरह की फैली हुई हैं।

मगर, विविधता का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि हमारे देश में अनेक प्रकार की भाषाएँ फैली हुई हैं और इनके कारण हम आपस में भी अजनबी के समान हो जाते हैं। उत्तर भारत में तो गुजरात से लेकर बंगाल तक की जनता के बीच संपर्क खूब हुआ है, इसलिए वहां भाषा-भेद की कठिनाई उतनी नहीं अखरती। लेकिन, अगर कोई उत्तर-भारतवासी दक्षिण चला जाय अथवा कोई दक्षिण भारतीय उत्तर चला आये और वह अपनी मातृभाषा के सिवा अन्य कोई भाषा नहीं जानता हो तो वह, सचमुच, बड़ी मुश्किल में पड़ जायगा। भाषा-भेद की यह समस्या हमारी राष्ट्रीय एकता की सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीय एकता में पहले यह बाधा थी कि पहाड़ों और नदियों को लांघना आसान नहीं था। मगर, अब विज्ञान के अनेक सुगम साधनों के उपलब्ध हो जाने से वह बाधा दूर हो गई है। आज अगर देश के एक कोने में अकाल पड़ता है तो दूसरे कोने से अनाज वहां तुरन्त पहुँचा दिया जाता है। इसी प्रकार, पहले जब देश के एक कोने में विद्रोह होता था, तब दूसरे कोने में पड़ा हुआ राजा जल्दी से फौज भेज कर उसे दबा नहीं सकता था और विद्रोह की सफलता से देश की एकता टूट जाती थी। लेकिन आज तो देश के चाहे जिस कोने में भी विद्रोह हो हम दिल्ली से फौज भेज कर उसे तुरन्त दबा सकते हैं। प्राकृतिक बाधायें अब खत्म हो गई हैं। यही कारण है कि आज हमारी एकता इतनी विशाल हो गई है जितनी विशाल वह रामायण, महाभारत, मौर्य और मोगल जमानों में कभी नहीं हुई थी। अब भी जो क्षेत्रीय जोश या प्रांतीय मोह बाकी है, वह धीरे-धीरे कम हो जायगा, क्योंकि इस जोश को पालने वाली प्राकृतिक बाधायें अब शेष नहीं हैं। मगर, भाषा-भेद की समस्या जरा कठिन है और उसका हल तभी निकलेगा जब हिन्दी भाषी क्षेत्र में अहिन्दी भाषाओं तथा अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी भाषा का अच्छा प्रचार हो जाय। सौभाग्य की बात है कि इस दिशा में काम शुरू हो गए हैं और कुछ समय बीतते-बीतते हम इस बाधा पर भी विजय प्राप्त कर लेंगे।

यह तो हुई भारत की विविधता की कहानी। अब जरा यह देखने की कोशिश करनी चाहिये कि इस विविधता के भीतर हमारी एकता कहां छिपी हुई है। सबसे विचित्र बात

तो यह है कि यद्यपि हम अनेक भाषाएं बोलते हैं (जिनमें १४ भाषाएं तो ऐसी हैं, जिन्हें भारत सरकार ने स्वीकृति दे रखी है। ये भाषाएं हैं—हिन्दी, उर्दू, बंगला, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगु, मलायलम, कन्नडी, उड़िया, असामी, पंजाबी, काश्मीरी और संस्कृत)। किन्तु, भिन्न-भिन्न भाषाओं के भीतर बहनेवाली हमारी भावधारा एक है तथा हम, प्रायः, एक ही तरह के विचारों और कथा-वस्तुओं को लेकर अपनी-अपनी बोली में साहित्य-रचना करते हैं। रामायण और महाभारत को लेकर भारत की प्रायः सभी भाषाओं के बीच अद्भुत एकता मिलेगी; क्योंकि ये दोनों काव्य सबके उपजीव्य रहे हैं। इसके सिवा, संस्कृत और प्राकृत में भारत का जो साहित्य लिखा गया था, उसका प्रभाव भी सभी भाषाओं की जड़ में काम कर रहा है। विचारों की एकता जाति की सबसे बड़ी एकता होती है। अतएव, भारतीय जनता की एकता के असली आधार भारतीय दर्शन और साहित्य हैं जो अनेक भाषाओं में लिखे जाने पर भी, अन्त में, जाकर एक ही साबित होते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि फारसी लिपि को छोड़ दें तो भारत की अन्य सभी लिपियों की वर्णमाला एक ही है, यद्यपि, वह अलग-अलग लिपियों में लिखी जाती है। जैसे हम हिन्दी में क, ख, ग आदि अक्षर पढ़ते हैं, वैसे ही, ये अक्षर भारत की अन्य लिपियों में भी पढ़े जाते हैं, यद्यपि उनके लिखने का ढंग और है।

हमारी एकता का दूसरा प्रमाण यह है कि उत्तर या दक्षिण, चाहे जहां भी चले जायें, आपको जगह-जगह पर एक ही संस्कृति के मन्दिर दिखायी देंगे, एक ही तरह के आदमियों से मलाकात होगी जो चन्दन लगाते हैं, स्नान-पूजा करते हैं, तीर्थ-व्रत में विश्वास करते हैं अथवा जो नयी रोशनी को अपना लेने के कारण इन बातों को कुछ शंका की दृष्टि से देखते हैं। उत्तर भारत के लोगों का जो स्वभाव है, जीवन को देखने की जो उनकी दृष्टि है, वही स्वभाव और वही दृष्टि दक्षिणवालों की भी है। भाषा की दीवार के टूटते ही, उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय के बीच कोई भी भेद नहीं रह जाता और वे आपस में एक-दूसरे के बहुत करीब आ जाते हैं। असल में, भाषा की दीवार के आर-पार बैठे हुए भी वे एक ही हैं। वे एक धर्म के अनुयायी और संस्कृति की एक ही विरासत के भागीदार हैं; उन्होंने देश की आज़ादी के लिए एक होकर लड़ाई लड़ी और आज उनकी पार्लमेंट और शासन-विधान भी एक हैं।

और जो बात हिन्दुओं के बारे में कही जा रही है, वही बहुत दूर तक मुसलमानों के बारे में भी कही जा सकती है। देश के सभी कोनों में बसनेवाले मुसलमानों के भीतर जहां एक धर्म को लेकर एक तरह की आपसी एकता है, वहाँ वे संस्कृति की दृष्टि से हिन्दुओं के भी बहुत करीब हैं, क्योंकि ज्यादा मुसलमान तो ऐसे ही हैं जिनके पूर्वज हिन्दू थे और जो इस्लाम धर्म में जाने के समय अपनी हिन्दू आदतें अपने साथ ले गये हैं। इसके सिवा,

अनेक सदियों तक हिन्दू-मुसलमान साथ रहते आये हैं। और इस लंबी संगति के फलस्वरूप उनके बीच संस्कृति और तहज़ीब की बहुत-सी समान बातें पैदा हो गयी हैं जो उन्हें दिनों-दिन आपस में नजदीक लाती जा रही हैं।

धार्मिक विश्वास की एकता मनुष्यों की सांस्कृतिक एकता को जरूर पुष्ट करती है। इस दृष्टि से, एक तरह की एकता तो वह है जो हिन्दू-समाज में मिलेगी, जो मुस्लिम समाज में मिलेगी, जो पारसी या क्रिस्तानी समाज में मिलेगी। लेकिन, धर्म के केन्द्र से बाहर जो संस्कृति की विशाल परिधि है, उसके भीतर बसनेवाले सभी भारतीयों के बीच एक तरह की सांस्कृतिक एकता भी है जो उन्हें दूसरे देशों के लोगों से अलग करती है। संसार के हरएक देश पर अगर हम अलग-अलग विचार करें तो हमें पता चलेगा कि प्रत्येक देश की एक निजी सांस्कृतिक विशेषता होती है जो उस देश के प्रत्येक निवासी की चाल-ढाल, बातचीत, रहन-सहन, खान-पान, तौर-तरीके और आदतों से टपकती रहती है। चीन से आनेवाला आदमी विलायत से आनेवालों के बीच नहीं छिप सकता, और, यद्यपि अफ्रीका के लोग भी काले ही होते हैं, मगर, वे भारतवासियों के बीच नहीं खप सकते। भारतवर्ष में भी यूरोपीय पोशाकें खूब चली हुई हैं, लेकिन, यूरोपीय लिबास में सजे हुए हिन्दुस्तानियों के बीच एक अंगरेज को खड़ा कर दिया जाय, तो वह आसानी से अलग पहचान लिया जायगा। इसी तरह भारत के हिन्दू ही नहीं, बल्कि, हिन्दुस्तानी क्रिस्तान, पारसी और मुसलमान भी भारत से बाहर जाने पर आसानी से पहचान लिये जाते हैं कि वे हिन्दुस्तानी हैं। और यह बात कुछ आज पैदा नहीं हुई है, बल्कि इतिहास के किसी भी काल में भारतवासी भारतवासी ही थे तथा अन्य देशों के लोगों के बीच में वे खप नहीं सकते थे। यही वह सांस्कृतिक एकता या शक्ति है जो भारत को एक रखे हुए है। यही वह विशेषता है जो उन लोगों में पैदा होती है जो एक देश में रहते हैं, एक तरह की जिन्दगी बसर करते हैं और एक तरह के दर्शन और एक तरह की आदतों का विकास करके एक राष्ट्र के सदस्य हो जाते हैं।

ऊपर एक जगह हमने भूगोल को दोष दिया है कि उसने पहाड़ों और नदियों के द्वारा इस देश को भीतर से बाँट रखा है, जिससे इस देश में क्षेत्रीय जोश और प्रान्तीय भावनाओं के विकास के लिए मौका निकल आया है, मगर हम भूगोल का उपकार भी नहीं भूल सकते। भारत के भीतर, यद्यपि, प्रान्तीय भेदों को लिये हुए अनेक क्षेत्र मौजूद हैं, लेकिन, इन तमाम भिन्नताओं को समेटकर भारत को एक पूर्ण देश बनाने का काम भी हमारे भूगोल ने ही किया है। पहाड़ों और समुद्रों से घिरे हुए इस विशाल देश में जो मौलिक एकता का भाव है, वह हमारे भूगोल की देन है। भीतर से कुछ-कुछ बंटा हुआ और बाहर से बिलकुल एक, भारत की यह विशेषता बहुत पुरानी है। यह ठीक है कि

प्रान्तीयता के जोश में आकर कोई-कोई क्षेत्र राष्ट्र की एकता से अलग होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम करने के लिए जब-तब कोशिश करते रहे हैं, मगर, यह भी ठीक है कि सारे देश को एकच्छत्र-शासन (चक्रवर्ती-राज्य) के अन्दर लाने का सपना भी यहां बराबर मौजूद रहा है। देश की इस मौलिक एकता के भाव ने प्रान्तीयता के सामने कभी भी हार नहीं मानी। भारतीय इतिहास की सब से बड़ी शिक्षा यह है कि इस देश में राष्ट्रीयता और प्रान्तीयता के बीच बराबर संघर्ष चलता रहा है। कभी तो ऐसा हुआ कि किसी बलवान् राजा के अन्दर देश एक हो गया और कभी ऐसा हुआ कि इस एकता में कहीं पर प्रान्तीयता ने छेद कर दिया और फिर उस छेद को भरने की कोशिश की जाने लगी।

प्राचीन भारत में चक्रवर्ती सम्राट् कहलाने के लिए यहां के राजे अक्सर, बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ा करते थे। मगर, इन लड़ाइयों के भीतर सिर्फ यही भाव नहीं था कि राजे अपना प्रभुत्व फैलाना चाहते थे। कुछ यह बात भी थी कि इस देश की भौगोलिक परि-स्थिति ही सारे देश को एक देखना चाहती थी और भौगोलिक परिस्थिति की इसी प्रेरणा से देश के सभी बड़े राजे इस बात के लिए उद्योग खड़ा कर देते थे कि सारा देश उनके अधीन एक हो जाय।

भूगोल ने भारत की जो चौहद्दी बांध दी है उसके साथ दस्तंदाजी करने की कोशिश कभी भी कामयाब नहीं हुई। सीमा के बाहर की दुनिया से भारत को अलग रखकर उसे भीतरी एकता के सूत्र में बांधने की प्रेरणा यहां के भूगोल की सबसे बड़ी शिक्षा रही है। और इसी प्रेरणा के कारण वे लोग बराबर असफल रहे जो देश के भीतर के किसी भाग को, प्रान्तीयता के जोश में आकर, स्वतंत्र राज्य का रूप देना चाहते थे। भारत का कोई भी भाग समूचे भारत से अलग जाकर स्वतंत्र होने की चेष्टा करे, यह अस्वाभाविक बात है। इसी तरह, यह भी अस्वाभाविक है कि हम दुनिया के किसी ऐसे हिस्से को भारत के साथ बांध रखने की कोशिश करें जो भारत की चौहद्दी से बाहर पड़ता है और जिसे भारत का भूगोल अपने भीतर पचा नहीं सकता। दुनिया के हिस्से को काटकर उसे भारत के साथ मिला रखने का काम उतना ही अप्राकृतिक साबित हुआ है जितना कि हिन्दुस्तान के किसी अंग को काटकर उसे अलग जिंदा रखने की कोशिश। मौर्यों ने एक समय कन्धार (अफगानिस्तान) को भारत में मिला लिया था। लेकिन, कन्धार भारत में रखा नहीं जा सका। यूनानियों ने पंजाब को काटकर कन्धार में मिला लिया था, मगर, उनकी भी कोशिश बेकार हुई और पंजाब भारत में वापस आ गया। महमूद गज़नी ने काबुल में बैठकर भारत पर राज्य करना चाहा, लेकिन, इस अस्वाभाविक कार्य में उसे सफलता नहीं मिली। पठान बादशाहों ने दिल्ली में बैठकर पश्चिमोत्तर सीमा के पार की जमीन पर हुकूमत

करनी चाही, मगर, वे भी नाकामयाब रहे। सिन्ध पर जब मुसलमानों ने पहले-पहल कब्जा किया, तब वे भी चाहते थे कि सिन्ध ईरान का अंग रहे और वे ईरान से ही उस पर हुकूमत चलायें, लेकिन, यह भारत के भूगोल के खिलाफ बात थी, इसलिए, उनकी कोशिश भी बेकार हुई। असली बात यह है कि जैसे दुनिया के और भी कई देश दुनिया से अलग और अपने-आप में पूर्ण हैं, वैसे ही, प्रकृति ने भारतवर्ष को भी एक स्वतंत्र देश के रूप में सिरजा है, जो दुनिया से अलग और अपने-आप में पूर्ण है तथा जिसके भीतर बसनेवाले सब लोग भारतीय हैं।

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका